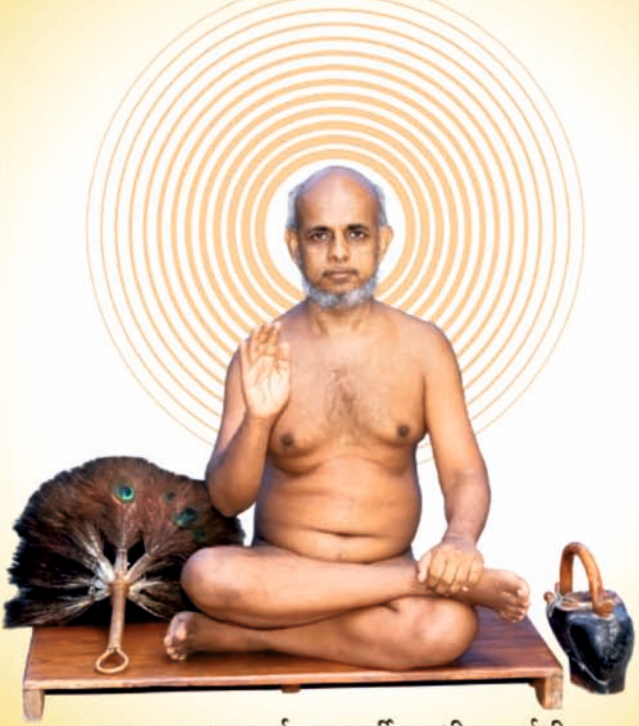

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

✲ जन्मदिवस 19–03–1971 ✲ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ✲ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

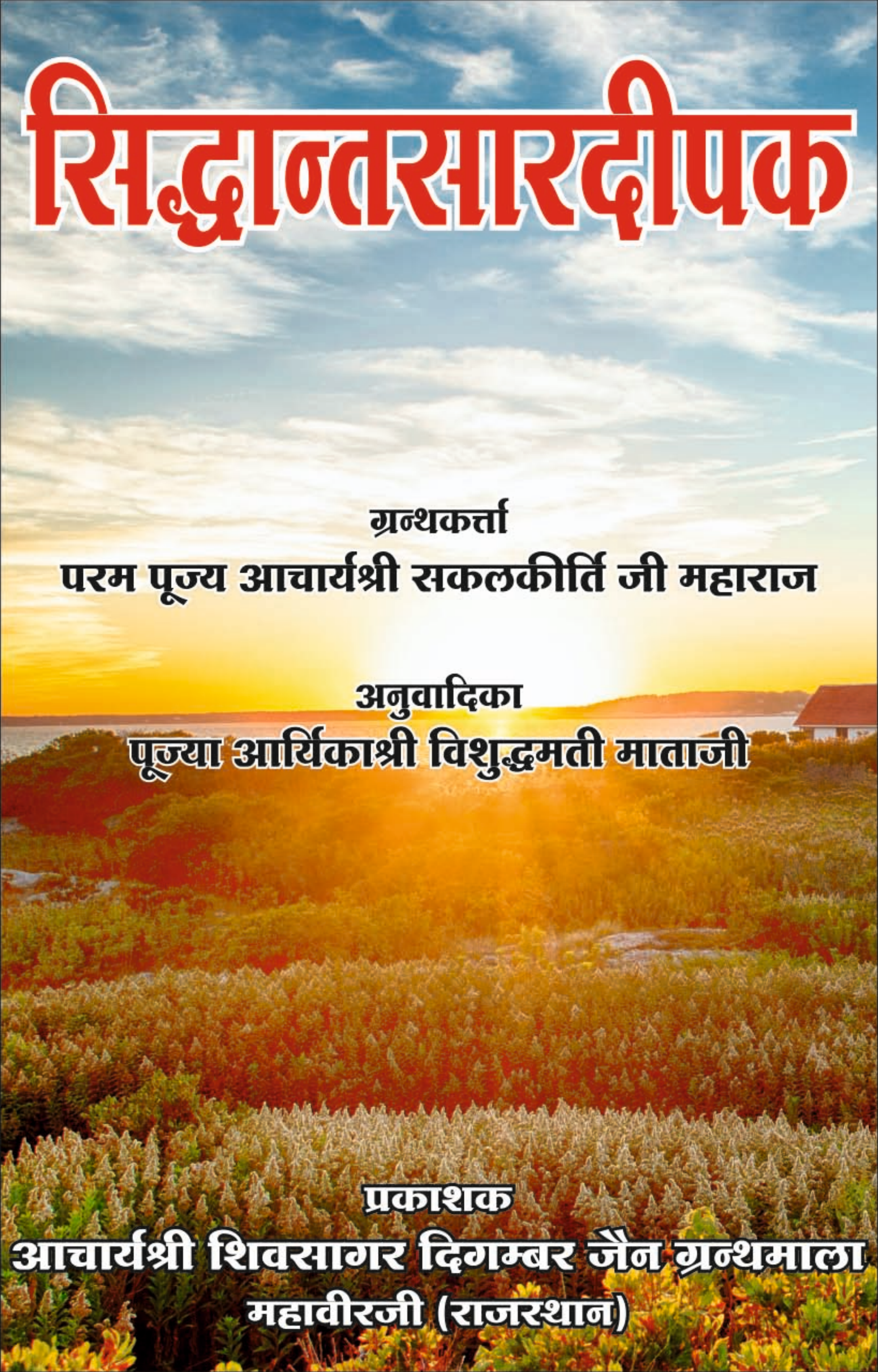

सिद्धान्तसारदीपक

ग्रन्थकर्त्ता

परम पूज्य आचार्यश्री सकलकीर्ति जी महाराज

अनुवादिका

पूज्या आर्यिकाश्री विशुद्धमती माताजी

प्रकाशक

आचार्यश्री शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

महावीरजी (राजस्थान)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

गोम्मटेश भगवान बाहुबलि सहस्राब्दि महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित

श्री शिवसागर ग्रन्थमाला : पुष्प–२७

भट्टारक सकलकीर्ति विरचित

सिद्धान्तसार दीपक

अपर नाम

त्रिलोकसार दीपक

टीकाकर्त्री :

विदुषीरत्न आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमति माताजी

सम्पादक :

डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी

जोधपुर विश्व विद्यालय, जोधपुर

प्रकाशक :

ब्र० लाडमल जैन

आचार्य श्री शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शान्तिवीरनगर

श्रीमहावीरजी (राज०)

निवेदन

भट्टारक सकलकीर्ति विरचित जैन भूगोल के ग्रन्थ 'सिद्धान्तसार दीपक' अपर नाम 'त्रिलोकसार दीपक' का प्रस्तुत संस्करण पाठकों के हाथों में पहुँचाते हुए अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। सतत स्वाध्याय शीला तथा अध्ययन-अध्यापन में ही अपने समय का सदुपयोग करने वाली पूज्य १०५ आर्यिका श्री विशुद्धमतिजी ने इसकी हिन्दी टीका की है। 'त्रिलोकसार' के प्रकाशन के कुछ समय बाद से ही पूज्य माताजी इस ग्रन्थ की टीका करने में प्रवृत्त हो गई थीं। कर्म विपाक से इन वर्षों में आपका स्वास्थ्य अनुकूल नहीं रहा है फिर भी आप अपने कर्तव्यों में सदैव संलग्न रही हैं; इसी दृढ़ता का परिणाम है कि आपने साढ़े चार हजार श्लोकों से भी अधिक संख्या वाले इस बृहत्काय ग्रन्थ की हिन्दी टीका तीन वर्ष में ही पूरी कर ली। यों यह ग्रन्थ भी शीघ्र ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था परन्तु संशोधन-परिमार्जन-प्रकाशन व्यवस्था सम्बन्धी कतिपय अपरिहार्य कारणों से इसमें विलम्ब होता ही गया, जिसका हमें बहुत खेद है।

विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों से मूल पाठ का मिलान करने के बाद विषय की जटिलता को सरल बनाने का काम स्वर्गीय पण्डित ब्रह्मचारी श्रीयुत् रतनचन्दजी सा० मुख्तार सहारनपुर वालों द्वारा सम्पन्न हुआ था। खेद है कि आज इस ग्रन्थ के प्रकाशन अवसर पर जैन जगत् की वह अद्वितीय विभूति हमारे बीच नहीं रही, इसे प्रकाशित देखकर उन्हें परम सतोष की अनुभूति हुई होती। हम स्वर्गीय पण्डितजी के अत्यधिक ऋणी हैं।

संस्कृत भाषाजन्य अस्पष्टताओं का स्पष्टीकरण व त्रुटियों का निराकरण समाज के वयोवृद्ध विद्वान श्रद्धेय पण्डितजी डा० पन्नालालजी सा० साहित्याचार्य, सागर ने किया है; साथ ही अपनी व्यस्त दिनचर्या में से समय निकालकर विस्तृत प्रस्तावना लिख कर हम पर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए हम उनके चिर कृतज्ञ हैं। पूज्य पण्डितजी की निष्ठा, विद्वत्ता और सरलता के सम्बन्ध में क्या लिखूँ, अभिभूत हूँ, उनका जीवन सबके लिए अनुकरणीय है।

श्रीयुत् कजोड़ीमलजी कामदार, जोबनेर वालों ने टीकाकर्त्री पूज्य माताजी का संक्षिप्त परिचय लिखकर भेजा है। हम आपके आभारी हैं। आप कुछ वर्षों से पूज्य माताजी के पास ही रह कर अध्ययन करते हैं। व्रती हैं। आपकी भावना अधिकाधिक उज्ज्वल बनेगी, ऐसी आशा है। इस ग्रन्थ के प्रबन्ध सम्पादन में आपका सराहनीय सहयोग प्राप्त हुआ है।

ग्रन्थ का मुद्रण-कार्य कमल प्रिण्टर्स, मदनगंज किशनगढ़ में सम्पन्न हुआ है। दूरस्थ होने के कारण प्रूफ भी मैं नहीं देख पाया हूँ, संस्कृत में समस्त पदावली को शिरोरेखा कहीं-कहीं अलग-

अलग हो गई है और कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से संयुक्त भी हो गई है; कुछ भूलें भी रह गई हैं। पाठकों से अनुरोध है कि वे स्वाध्याय से पूर्व शुद्धिपत्र के अनुसार आवश्यक संशोधन अवश्य कर लें।

गणितीय ग्रन्थों का मुद्रण वस्तुतः जटिल कार्य है। अनेक तालिकायें, अनेक आकृतियां, अनेक चित्र, जोड़-बाकी-गुणा-भाग, बटा-बटी आदि की विशिष्ट संख्यायें आदि सभी इस ग्रन्थ में हैं। विद्युत व्यवस्था की रुग्णता के बावजूद जिस धैर्य के साथ श्री पांचूलालजी ने इस ग्रन्थ का मुद्रण पूरा किया है, उसके लिए वे और उनके सुपुत्र श्री सुभाषजी अतिशय धन्यवाद के पात्र हैं।

दातार महानुभावों ने आर्थिक सहयोग प्रदान कर इसके प्रकाशन में रुचि दिखाई है; ज्ञान के प्रचार-प्रसार में उनकी यह अभिरुचि उन्हें ज्ञान-लक्ष्मी से सम्पन्न करे; यही कामना है।

वस्तुतः अपने वर्तमान रूप में जो कुछ उपलब्धि है, वह सब इन्हीं पुण्यात्माओं की है। मैं आप सबका अत्यन्त आभारी हूँ। सुधी गुणग्राही विद्वानों से अपनी भूलों के लिए क्षमा चाहता हूँ।

पूज्य माताजी का रत्नत्रय कुशल रहे और स्वास्थ्य भी अनुकूल बने ताकि वे जिनवाणी की अधिकाधिक सेवा कर सकें—यही कामना करता हूँ।

श्री पार्श्वनाथ जैन मन्दिर,
शास्त्री नगर, जोधपुर

विनीत :
चेतन प्रकाश पाटनी

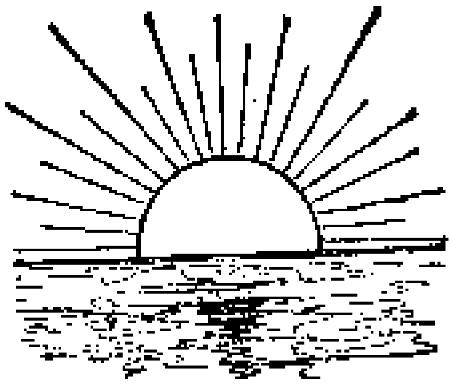

सम्पादन सामग्री

प्रतियों का परिचय

सिद्धान्तसार दीपक के प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन विशेष अनुसन्धान पूर्वक निम्नलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है—

(१) मूल प्रति

यह प्रति आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर (राजस्थान) की है। इसमें १२"×५½" के २४३ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में ९ पंक्तियां हैं और प्रति पंक्ति में ३५ से ३८ अक्षर हैं। लाल और काली स्याही का उपयोग किया गया है। बीच बीच में कहीं पर टिप्पण दिए गए हैं। पुस्तक का लेखन-काल वि० सम्वत् १७८९ आषाढ़ कृष्णा चतुर्दशी शनिवार है। प्रति की लिपि सुवाच्य है। पुस्तक दीमक का शिकार हुई है। परन्तु प्रसन्नता की बात है कि दीमक का प्रकोप आजू-बाजू में ही हुआ है। लिपि सुरक्षित है।

प्राकृत संस्करण का सम्पादन इसी प्रति के आधार पर किया गया है।

(२) 'अ' प्रति का परिचय

इसमें ११"×४¾" के १९२ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में ११ पंक्तियां हैं और प्रति पंक्ति में ३५ से ४० अक्षर हैं। काली स्याही का उपयोग किया गया है। प्रति का लेखन काल सम्वत् १५१९ श्रावण सुदी पंचमी गुरुवार है। अन्त में इसकी श्लोक संख्या ४५१६ दी हुई है। यह प्रति पड़ी मात्राओं से लिखी गई है। इसका पाठ उपलब्ध अन्य प्रतियों की तुलना में अधिक शुद्ध है।

परम पूज्य अजितसागर महाराजजी से प्राप्त होने के कारण इसका सांकेतिक नाम "अ" है।

(३) 'स' प्रति का परिचय

यह प्रति श्री दिगम्बर जैन सरस्वती भण्डार, बड़ा मन्दिर कैराना जिला मुजफ्फरनगर (यू०पी०) से स्व० श्री रतनचन्दजी मु० के द्वारा प्राप्त हुई है। इसमें १०"×४½" के २७५ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में ९ से ११ पंक्तियां हैं और प्रति पंक्ति में २८ से ३२ अक्षर हैं। लाल और काली स्याही का उपयोग किया गया है। बीच-बीच में कहीं पर हिन्दी भाषा में टिप्पण दिए गए हैं। प्रति का लेखन काल सम्वत् १८०४ चैत्र कृष्णा प्रतिपदा है।

स्व० श्री रतनचन्दजी मु० ने यह प्रति सहारनपुर से भेजी थी, अतः इसका सांकेतिक नाम 'स' है।

(४) 'न' प्रति का परिचय

यह प्रति जयपुर से श्रीमान् डा० कस्तूरचन्दजी एवं अनूपलालजी के द्वारा प्राप्त हुई है। इसमें १०''×५½'' के २२६ पत्र हैं प्रत्येक पत्र में ११ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में ३३ से ३६ अक्षर हैं। लाल और काली स्याही का उपयोग हुआ है। प्रति का लेखनकाल सम्वत् १७२६ माघ सुदी नवमी गुरुवार है। श्लोक संख्या ४५१६ दी हुई है।

इस प्रति का सांकेतिक नाम 'न' है।

(५) 'ज' प्रति का परिचय

यह प्रति जयपुर से श्रीमान डा० कस्तूरचन्दजी एवं श्री अनूपलालजी के द्वारा प्राप्त हुई है। इसमें १२''×६'' के २३४ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में १० से १२ पंक्तियाँ हैं। प्रारम्भ के १३६ पत्रों में १०, १० पंक्तियाँ हैं, शेष में १२, १२ पंक्तियाँ हैं, प्रत्येक पंक्ति में ३० से ३५ अक्षर हैं। लाल और काली स्याही का उपयोग किया गया है। प्रति का लेखनकाल सम्वत् १८२२ आषाढ़ बदी एकम् है। श्लोक संख्या ४५१६ दी हुई है।

जयपुर से प्राप्त होने के कारण इसका सांकेतिक नाम 'ज' है।

त्रिलोकाकृति

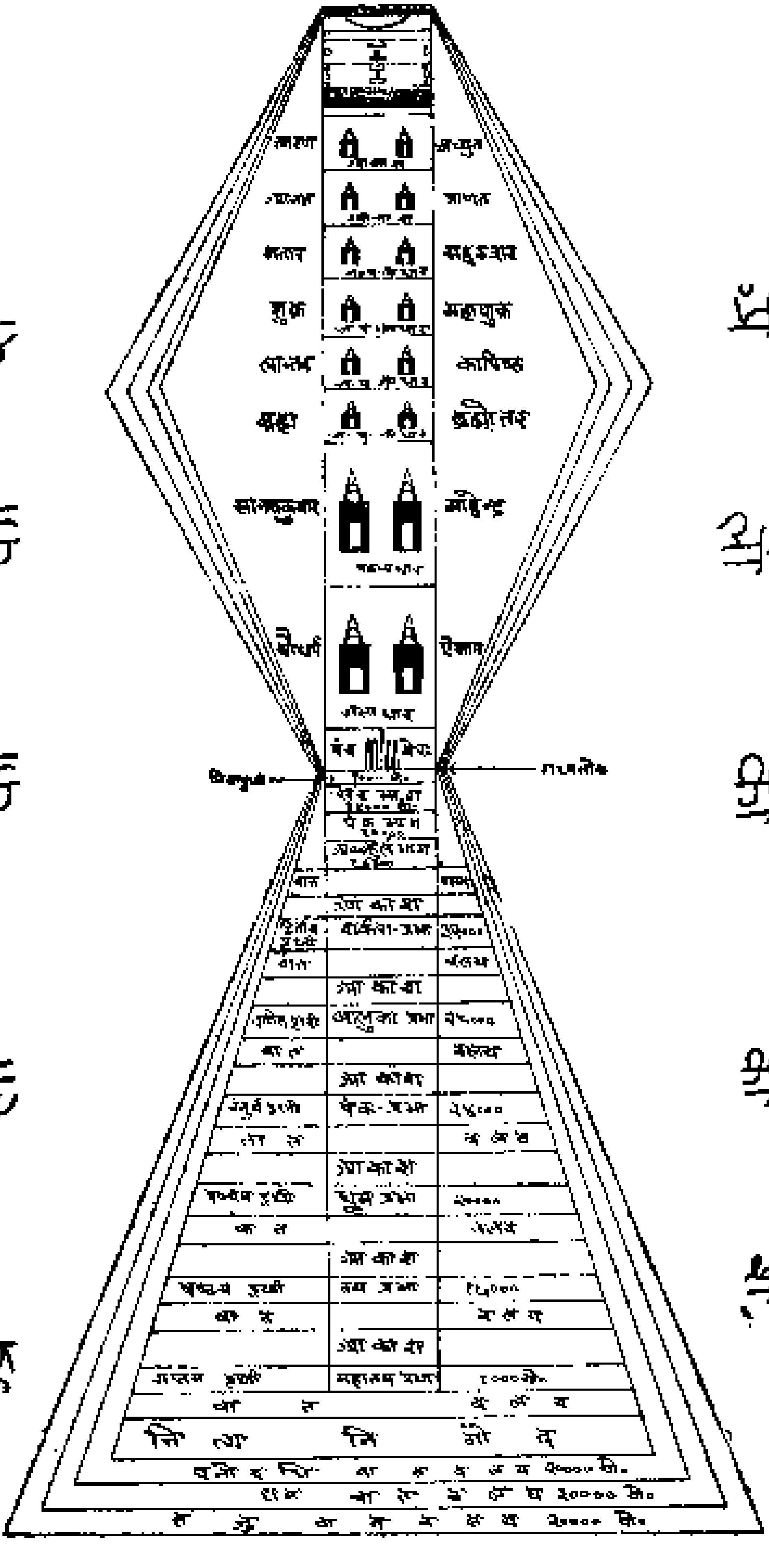

❋ आमुख ❋

अठारह दोषों से रहित, छयालीस गुणों से सहित, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहन्त-भगवन्तों के मुख-कमल से निर्गत दिव्य-वाणी का विभाजन चार अनुयोगों में हुआ है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इनके नाम हैं। जैनागम में करणानुयोग का बहुत विस्तार है। षट्खण्डागम आदि अनेक ग्रन्थ करणानुयोग के अन्तर्गत हैं। सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य विरचित त्रिलोकसार करणानुयोग का प्रसिद्ध ग्रन्थ है, इस ग्रन्थ में तीनों लोकों का विस्तृत वर्णन है, इतना अवश्य है कि गणित सम्बन्धी वासना-सिद्धि आदि के कारण इसका प्रमेय अति कठिन हो गया है, इसीलिए सकलकीर्त्याचार्य ने सिद्धान्तसार दीपक के प्रारम्भ में कहा है कि पूर्व मुनिराजों के द्वारा जो त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों की रचना की गई है, वह अति दुर्गम एवं गम्भीर (तद्-दुर्गमार्थ-गम्भीर·······॥४२॥ श्लोक) है, अतः मैं [1]बालजनों को जो सुगम पड़े ऐसे त्रैलोक्य सार (सिद्धान्त सार) दीपक की रचना करूँगा।

सिद्धान्तसार दीपक ग्रन्थ यथा नाम तथा गुण युक्त है, इसमें तीनों लोकों के विस्तृत वर्णन के साथ साथ अन्य भी सैद्धान्तिक विषयों का सांगोपांग वर्णन किया गया है। रचना अत्यन्त सरल और सरस है। छठे अधिकार में पाण्डुकवन विवेचन के अन्तर्गत चतुर्निकाय देवों का जो चित्रण किया है, उसे पढ़ते समय यह अनुभव होता है कि मानो जन्माभिषेक को जाते हुए देवों की विभूति आदि को प्रत्यक्ष देख कर लिखा हो।

ग्रन्थ में दो विषय विचारणीय हैं—

१. पृष्ठ १५६ पर जिनेन्द्र जन्माभिषेक के लिए पाण्डुक आदि शिलाओं पर स्थित तीन-तीन सिंहासनों का वर्णन करते हुए लिखा है कि मध्य का सिंहासन जिनेन्द्र की स्थिति अर्थात् बैठने का है, दक्षिण दिशागत सिंहासन सौधर्मेन्द्र के (उपवेशनाय) बैठने का तथा उत्तर दिशागत सिंहासन ऐशानेन्द्र के (संस्थितये) बैठने का है। इस कथन से यह ज्ञात होता है कि जन्माभिषेक के समय सौधर्मेशान-इन्द्र, भगवान का जन्माभिषेक बैठ कर करते हैं।

२. पृष्ठ ५६० श्लोक ८ में सिद्धभगवान का आकार पूर्व शरीर के आयाम एवं विस्तार के प्रमाण से एक त्रिभाग ($\frac{1}{3}$ भाग) कम कहा गया है, जब कि सभी जैनागम पूर्व शरीर से किञ्चिद् कम (ऊन) कहते हैं।

---

१. निज-शक्त्या मुदाभ्यस्य, त्रैलोक्यसार दीपकम्।
सुगमं बालबोधायाभ्यात् ग्रन्थानागमोद्भवात्॥

प्रेरणा-स्रोत

सं० २०२६-३० में त्रिलोकसार ग्रन्थ की टीका की थी। टीका कार्य समाप्त होते ही सिद्धान्त-भूषण स्व० रतनचंद्रजी मुख्तार एवं विद्वद् शिरोमणि पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने विचार विमर्श कर मुझसे कहा कि—सकलकीर्त्याचार्य विरचित सिद्धान्तसार दीपक ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है, अतः आप इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका करें, प० पू० आ० कल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज ने भी इस अप्रकाशित ग्रन्थकी टीका करने की प्रेरणा की, आपके शुभाशीर्वाद से ही यह बृहद् कार्य करने का साहस किया।

महाराज श्री का आशीर्वाद प्राप्त होते ही प्रतियों की खोज प्रारम्भ कर दी गई। परम पूज्य विद्यागुरु १०८ श्री अजित सागर म० के पास से एक प्रति प्राप्त हुई, जो प्रायः शुद्ध थी। श्रीमान् डा० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल और श्री अनूपलालजी न्यायतीर्थ जयपुर वालों के सौजन्य से एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर से प्राप्त हुई। टीका कार्य सम्पन्न करने में यही प्रति प्रमुख रही। आप दोनों के ही माध्यम से दो प्रतियां जयपुर के किसी शास्त्रभण्डार (शास्त्रभण्डार का नाम याद नहीं रहा) से और भी प्राप्त हुई। स्व० श्री रतनचन्दजी मुख्तार के प्रयास से एक प्रति कैराना (यू०पी०) शास्त्रभण्डार से प्राप्त हुई। इन प्रतियों को प्राप्त करने में बहुत कठिनाई हुई, तथा समय भी बहुत व्यय हुआ।

ग्रन्थ मुद्रित न होने के कारण सर्व प्रथम इसके सम्पूर्ण मूल श्लोक मात्र लिखे, जिनका संशोधन श्रीमान् पं० मूलचन्दजी शास्त्री महावीरजी वालों ने किया। सं० २०३२ के सवाई माधोपुर वर्षायोग में प० पू० १०८ श्री अजितसागरजी महाराज के सान्निध्य में वयोवृद्ध विद्वद्वर्य पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी, डा० पं० पन्नालालजी सागर, स्व० पं० रतनचन्दजी मु० सहारनपुर एवं श्री नीरजजी सतना आदि ने उपलब्ध समस्त प्रतियों का मिलान कर अनेक पाठ भेद लिए जिससे अर्थ करने में सरलता प्राप्त हुई।

चातुर्मास की समाप्ति के समय श्रीयुत पण्डित लाड़लीप्रसादजी 'नवीन' सवाई माधोपुर के सौजन्य से नथमल विलास नामक ग्रन्थ प्राप्त हुआ जिसमें सिद्धान्तसार दीपक का हिन्दी पद्यानुवाद था। अर्थ करने में यह प्रति भी सहायक हुई।

सं० २०३४ द्वि० आषाढ़ शुक्ला ५ गुरुवार दि० २१।७।१९७७ को दिन के ११½ बजे श्री दि० जैन मन्दिर रेनवाल किशनगढ़ में कन्या लग्न के उदित रहते टीका समाप्त हुई। इसी वर्षायोग में श्रीमान् स्व० पं० रतनचन्दजी मु० ने विषय की दृष्टि से सम्पूर्ण टीका का अवलोकन किया। श्रीमान् विद्वद्वर्य पं० डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्य से ग्रन्थ संशोधन कराने का मेरा हार्दिक परिणाम था,

आपका सहयोग एक वर्ष बाद अर्थात् सं० २०३५ के निवाई चातुर्मास में प्राप्त हुआ। संशोधन होने के तुरन्त बाद ग्रंथ प्रेस में दे दिया, किन्तु कुछ विशेष कारणों से श्री पांचूलालजी, मालिक–कमल प्रिन्टर्स करीब एक सवा वर्ष पर्यन्त ग्रन्थ का मुद्रण कार्य प्रारम्भ नहीं कर सके। गत वर्ष कार्य प्रारम्भ किया और अल्पकाल में ही उसे पूर्ण मनोयोग पूर्वक सम्पन्न किया।

श्रीमान् डॉ० चेतनप्रकाशजी पाटनी विश्वविद्यालय जोधपुर ने बड़ी संलग्नता पूर्वक इसका सम्पादन किया। श्री ब्र० लाडमलजी बाबाजी ने अत्यन्त समतापूर्वक प्रकाशन कार्य सम्हाला। श्रीमान् पूनमचन्दजी गंगवाल पचार (जिन्होंने श्रीयुत शान्तिकुमारजी कामदार शान्ति रोडवेज के साथ बाहुबलि सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक के शुभावसर पर एक सहस्र साधर्मी बन्धुओं को दो माह पर्यन्त अनेक पुण्य क्षेत्रों की यात्रा कराई), श्रीमान् रामचन्द्रजी कोठारी जयपुर, श्रीमान् माणिकचन्द्रजी पालीवाल कोटा आदि अनेक द्रव्य दाता महानुभावों ने अपनी चंचल लक्ष्मी का सदुपयोग कर अनुकरणीय सहयोग प्रदान किया। संघस्थ श्री कजोड़ीमलजी कामदार जोबनेर वालों का चार वर्ष से पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहा है।

इस प्रकार जिन जिन भव्यात्माओं ने इस महान ज्ञानोपकरण में अपना सराहनीय सहयोग प्रदान किया है, उन्हें परम्परया केवलज्ञान की प्राप्ति अवश्यमेव होगी, तथा यह सिद्धान्त ग्रन्थ अनेक भव्यात्माओं के कर्मोपशमन एवं ज्ञानवृद्धि में कारण होगा ऐसा मेरा विश्वास है।

३०।३।१९८१

—आ० विशुद्धमति

संक्षिप्त जीवन परिचय

परम पूज्य, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, प्रवरवक्ता, परम विदुषी रत्न, आर्यिका
१०५ श्री विशुद्धमति माताजी।

गृहस्थाश्रम का नाम	—	श्री सुमित्राबाई
जन्म स्थान	—	रीठी (जि० जबलपुर) म० प्र०
पिता	—	श्रीमान् सि० लक्ष्मणलालजी
माता	—	सौ० मथुराबाई
भाई	—	श्री नीरज जी जैन एम. ए. (गोमटेश गाथा के लेखक) और श्री निर्मलकुमारजी जैन मु० सतना (म० प्र०)
जाति	—	गोला पूर्व
जन्म तिथि	—	सं० १९८६ चैत्र शुक्ला तृतीया शुक्रवार दि० १२।४।१९२९ ई०
लौकिक शिक्षण	—	१. शिक्षकीय ट्रेनिंग (दो वर्षीय) २. साहित्य रत्न एवं विद्यालंकार।
धार्मिक शिक्षण	—	शास्त्री (धर्म विषय में)
धार्मिक शिक्षा गुरु	—	परम माननीय विद्वद्-शिरोमणि पं० डा० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर (म० प्र०)
कार्य काल	—	श्री दि० जैन महिलाश्रम (विधवाश्रम) का सुचारु-रीत्या संचालन करते हुए प्रधानाध्यापिका पद पर करीब १२ वर्ष पर्यन्त कार्य किया एवं अपने सद् प्रयत्नों से संस्था में १००८ श्री पार्श्वनाथ चैत्यालय की स्थापना कराई।
वैराग्य का कारण	—	परम पूज्य परम श्रद्धेय आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के सन् १९६२ सागर (म० प्र०) चातुर्मास में पू० १०८ श्री धर्मसागर महाराज जी की परम निरपेक्ष-वृत्ति और परम शान्तता का आकर्षण एवं संघस्थ प० पू० प्रवर-वक्ता १०८ श्री सन्मतिसागरजी महाराज के मार्मिक सम्बोधन।

आर्यिका दीक्षा गुरु — परम पूज्य कर्मठ तपस्वी, अध्यात्मवेत्ता, चारित्र शिरोमणि, दिगम्बराचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज।

शिक्षा गुरु — परम पूज्य सिद्धान्त वेत्ता आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज।

विद्या गुरु — परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी श्री १०८ श्री अजितसागरजी

— महाराज।

दीक्षा स्थान — श्री अतिशय क्षेत्र पपौराजी (म०प्र०)

दीक्षा तिथि — सं० २०२१ श्रावण शुक्ला सप्तमी
दि० १४ अगस्त १९६४ ई०

वर्षा योग — सं० २०२१ में पपौरा क्षेत्र पर दीक्षा हुई पश्चात् क्रमशः श्री अतिशय क्षेत्र महावीरजी, कोटा, उदयपुर, प्रतापगढ़, टोडारायसिंह, भिण्डर, उदयपुर, अजमेर, निवाई, रेनवाल (किशनगढ़), सवाई माधोपुर, सीकर, रेनवाल (किशनगढ़), निवाई, निवाई, टोडारायसिंह।

जिनमुखोद्भव साहित्य-सृजन (टीकाएँ)

१ श्रीमद् सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य विरचित त्रिलोकसार की सचित्र हिन्दी टीका।

२ भट्टारक सकल कीर्त्याचार्य विरचित सिद्धान्तसारदीपक अपर नाम त्रैलोक्यसारदीपक की हिन्दी टीका।

मौलिक रचनाएं :—१ श्रुत निकुंज के किंचित् प्रसून। (व्यवहार रत्नत्रय की उपयोगिता)।
२ गुरु गौरव।
३ श्रावक सोपान और बारह भावना।

संकलन — १ शिवसागर स्मारिका २ आत्म-प्रसून।

सम्पादन — १ समाधि-दीपक २ श्रमणचर्या
३ दीपावली पूजन विधि ४ श्रावक सुमन संचय आदि।

विशेष धर्म प्रभावना—आपकी प्रखर और मधुर वाणी से प्रभावित होकर श्री दि० जैन समाज जोबनेर जि० जयपुर ने श्री शान्तिवीर गुरुकुल को स्थायित्व प्रदान करने हेतु श्री दि० जैन महावीर चैत्यालय का नवीन निर्माण कराया एवं आपके सान्निध्य में ही वेदी प्रतिष्ठा कराई। जन धन एवं आवागमन आदि अन्य साधन विहीन अलयारी ग्राम स्थित जिन

मन्दिरका जीर्णोद्धार, २½ फुट ऊंची १००८ श्री चन्द्रप्रभु भगवान की नवीन प्रतिमा तथा संगमरमर की नवीन वेदी की प्राप्ति एवं वेदी प्रतिष्ठा आपके ही सद्प्रयत्नों का फल है। इसीप्रकार अनेक स्थानों पर कलशा-रोहण महा महोत्सव हुए, जैन पाठशालाएं खोली गई, श्री दि० जैन नसैंयाजी टोडारायसिंह का नवीनीकरण भी आपकी ही सद्प्रेरणा का फल है।

संयमदान — श्री ब्र० सूरजबाई मु० ड्योढ़ी जि० जयपुर को क्षुल्लिका दीक्षा, श्री ब्र० मनफूलबाई मातेश्वरी श्री गुलाबचन्दजी कपूरचन्दजी सर्राफ टोडारायसिंह को अष्टम प्रतिमा एवं श्री कजोड़ीमलजी कामदार (जोबनेर) आदि को द्वितीय प्रतिमा के व्रत आपके कर कमलों से प्रदान किये गये।

दि० ३-४-८१

कजोड़ीमल कामदार
(जोबनेर वाले)

प्रस्तावना

सिद्धान्तसारदीपक अपर नाम त्रिलोकसार दीपक ग्रन्थ लोकानुयोग का वर्णन करने वाले संस्कृत ग्रन्थों में परवर्ती होने पर भी भाषा की सरलता और प्रमेय की बहुलता से श्रेष्ठतम ग्रन्थ माना जाता है। तिलोयपण्णत्ति तथा त्रिलोकसार आदि प्राकृत भाषा के ग्रन्थ गणित की दुरूहता के कारण जब जनसाधारण के बुद्धिगम्य नहीं रहे तब भट्टारक श्री सकल कीर्ति आचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना कर जन साधारण के लिये लोक विषयक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इसमें गणित के दुरूह स्थलों को या तो छुआ नहीं गया है और छुआ गया है तो उन्हें सरलतम पद्धति से प्रस्तुत किया गया है।

सिद्धान्तसारदीपक के आधार का वर्णन करते हुए ग्रन्थान्त में लिखा है—

> **'एष ग्रन्थवरो जिनेन्द्र मुखजः सिद्धान्त सारादिक—**
> **दीपोऽनेकविधस्त्रिलोकसकलप्रद्योतने दीपकः ।**
> **नानाशास्त्रपरान् विलोक्य रचितस्त्रैलोक्यसारादिकान्**
> **भक्त्या श्रीसकलादिकीर्तिगणिना संघैर्गुणैर्नन्दतु ।।१०२।।**

यह सिद्धान्तसार दीपक नाम का ग्रन्थ अर्थ की अपेक्षा श्री जिनेन्द्र के मुख से समुद्भूत है, विविध प्रमेयों का वर्णन करने से अनेक प्रकार का है, तीन लोक की समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान है तथा त्रिलोकसार आदि अनेक उत्तम शास्त्रों का अवलोकन कर श्री सकलकीर्ति गणी के द्वारा भक्ति पूर्वक रचा गया है, अनेक गुण समूहों से यह ग्रन्थ समृद्धिमान् हो।

ग्रन्थ के आशीर्वचन में ग्रन्थकर्ता ने लिखा है—

> **'सिद्धान्तसारार्थं निरूपणाच्छ्रीसिद्धान्तसारार्थभृतो हि सार्थः ।**
> **सिद्धान्तसारादिक दीपकोऽयं ग्रन्थो धरित्र्यां जयतात् स्वसङ्घैः' ।।१०६।।**

जिनागम के सारभूत अर्थ का निरूपण करने से यह ग्रन्थ सिद्धान्त के सारभूत अर्थों से भरा हुआ है तथा 'सिद्धान्तसार दीपक' इस सार्थक नाम को धारण करनेवाला है। अपने संघों के द्वारा यह ग्रन्थ पृथिवी पर जयवन्त प्रवर्ते।

सिद्धान्तसार दीपक ग्रन्थ का परिमाण :

इस ग्रन्थ का परिमाण ग्रन्थकर्ता ने स्वयं ४५१६ अनुष्टुप् श्लोक प्रमाण लिखा है। ग्रन्थ के १६ अधिकारों में ३१५८ पद्य हैं। इन पद्यों में कुछ पद्य शार्दूल विक्रीडित तथा इन्द्रवज्रा आदि विविध छन्दों में भी विरचित हैं। शेष प्रमाण की पूर्ति गद्यभाग से होती है। किसी वस्तु का सुविस्तृत और

विशद वर्णन करने के लिये ग्रन्थकर्ता ने गद्यभाग को स्वीकृत किया है। उनकी इस शैली से जिज्ञासुजन सरलता से प्रतिपाद्य वस्तु को हृदयंगत कर लेते हैं।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय यद्यपि विषय सूची के द्वारा स्पष्ट है तथापि अधिकार क्रमसे उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन करना आवश्यक लगता है। यह ग्रन्थ १६ अधिकारों में पूर्ण हुआ है—

प्रथम अधिकार में ६५ श्लोक हैं जिनमें मङ्गलाचरण के अतिरिक्त लोक के आकार आदि का वर्णन है। द्वितीयाधिकार में १२५ श्लोक हैं जिनमें अधोलोकके अन्तर्गत श्वभ्रलोक का वर्णन है। नरकों के प्रस्तार तथा उनमें रहनेवाले नारकियों की अवगाहना और आयुका वर्णन है। तृतीयाधिकार में १२३ श्लोक हैं जिनमें नारकियों के दुःखों का लोम हर्षक वर्णन है। पढ़ते पढ़ते पाठक का चित्त द्रवीभूत हो जाता है, शरीर रोमाञ्चित हो जाता है और नेत्रोंसे अश्रु धारा प्रवाहित होने लगती है। चतुर्थाधिकार में ११६ पद्य हैं जिनमें मध्यलोक के अन्तर्गत जम्बूद्वीप के छह कुलाचलों, छह सरोवरों तथा उनमें रहनेवाली श्री आदि देव कुमारियों की विभूति का वर्णन है। पञ्चमाधिकार में १४७ श्लोक हैं जिनमें चौदह महानदियों, विजयार्धों, वृषभाचलों और नाभिगिरि पर्वतों का वर्णन है। षष्ठाधिकार में ११० श्लोक हैं जिनमें सुदर्शनमेरु, भद्रशाल आदि वन और जिन चैत्यालयों का वर्णन है। सप्तमाधिकार में २६१ श्लोक हैं जिनमें देव कुरु, उत्तर कुरु, कच्छादिदेश, चक्रवर्ती की दिग्विजय और विभूति का वर्णन है, अष्टमाधिकार में विदेह क्षेत्रस्थ समस्त देशों का वर्णन है। विदेह क्षेत्र में मोक्ष का द्वार सदा खुला रहता है अतः उसकी प्रशंसा करते हुए ग्रन्थकर्ता ने लिखा है—

पद्मोच्चैः पदसिद्धये सुकृतिनो जन्माश्रयन्तेऽमरा,
यस्मान्मुक्तिपदं प्रयान्ति तपसा केचिच्च नाकं व्रतैः।
तीर्थेशा गणनायकाश्च गणिनः श्री पाठकाः साधवः,
सङ्घाढ्या विहरन्ति सोऽत्र जयतान्नित्यो विदेहो गुणैः ॥१९०॥

जहां पर पुण्यशाली देव मोक्षपद की प्राप्ति के लिये जन्म लेते हैं, जहां से कितने ही भव्यजन तपके द्वारा मुक्ति को प्राप्त करते हैं, कितने ही व्रतों के द्वारा स्वर्ग जाते हैं और जहां तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी संघ सहित विहार करते हैं वह विदेह क्षेत्र इस जगत् में अपने गुणों के द्वारा निरन्तर जयवन्त रहे।

नवमाधिकार में ३६७ श्लोक हैं जिनमें अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के छह कालों और उनमें होनेवाले कुलकरों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों, प्रतिनारायणों, रुद्रों और नारदों का वर्णन किया गया है।

दशमाधिकार में ४२५ श्लोक हैं जिनमें मध्यलोक का सुविस्तृत वर्णन है। एकादशाधिकार में २१६ श्लोक हैं जिनमें जीवों के कुल, काय, योनि, आयु संख्या तथा अल्पबहुत्व का वर्णन है। द्वादशा-

धिकार में १७३ श्लोक हैं जिनमें भवनवासी देवों के अवान्तर भेदों, इन्द्रों, निवास तथा आयु आदि का वर्णन है। त्रयोदशाधिकार में १२२ श्लोक हैं जिनमें व्यन्तर देवों के आठ भेदों उनके इन्द्रों तथा निवास आदि का वर्णन है। चतुर्दशाधिकार में १३५ श्लोक हैं जिनमें ज्योतिर्लोकका वर्णन है। उसके अन्तर्गत सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र आदि की संख्या तथा उनकी चाल आदि का निरूपण है। पञ्चदशाधिकार में ४०३ श्लोक हैं जिनमें वैमानिक देवोंके अन्तर्गत सौधर्मादि स्वर्ग उनके पटल, इन्द्र, देवाङ्गना तथा वैभव आदि का वर्णन है। अन्तिम षोडशाधिकार में ११६ श्लोक हैं जिनमें पल्य आदि प्रमाणों का वर्णन है तथा ग्रन्थ के समारोप आदि की चर्चा है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण ग्रन्थ उत्तमोत्तम सामग्री से परिपूर्ण है। नरक गति के दुःखों का वर्णन कर वहाँ से निकलने वाले सम्यग्दृष्टि जीवों के कैसे विचार होते हैं इसका भी मार्मिक वर्णन है।

ग्रन्थ के रचयिता—

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य सकलकीर्ति हैं। आचार्य सकलकीर्ति भट्टारक होते हुए भी नग्न मुद्रा में रहते थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थावली को देखते हुए लगता है कि इन्होंने अपना पूरा जीवन सरस्वती की आराधना में ही व्यतीत किया है। चारों अनुयोगों के आप ज्ञाता थे। संस्कृत भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार था। इन्हीं के द्वारा रचित और हमारे द्वारा संपादित तथा अनुदित पार्श्वनाथचरित की प्रस्तावना में माननीय डा० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल जयपुर ने इनका जो जीवन परिचय दिया है उसे हम उन्हीं के शब्दों में यहाँ साभार समुद्धृत करते हैं—

जीवन परिचय—

भट्टारक सकलकीर्ति का जन्म संवत् १४४३ (सन् १३८६) में हुआ था। इनके पिता का नाम करमसिंह एवं माता का नाम शोभा था। ये अणहिलपुर पट्टण के रहनेवाले थे। इनकी जाति हूमड़ थी[1] "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" कहावत के अनुसार गर्भ धारण करने के पश्चात् इनकी माता ने एक सुन्दर स्वप्न देखा और उसका फल पूछने पर करमसिंह ने इसप्रकार कहा—

---

१. हरषी सुणीय सुवाणि पालइ अन्य ऊअरि सुपर।
चौऊद त्रिताल प्रमाणि पूरइ दिन पुत्र जनमीउ॥
न्याति मांहि मुहुतवंत हूंबड़ हरषि बखाणिइये।
करमसिंह वितपन्न उदयवंत इम जाणीए॥३॥
शोभित तस अरधांगि, भूलि सरीस्य सुन्दरीय।
सील स्यंगारित अंगि पेखु प्रत्यक्ष पुरंदरीय॥४॥

—सकलकीर्ति रास

तजि वयण सुणीसार, कुमर तुम्ह होइसिइए ।
निर्मल गंगानीर, चन्दन नन्दन तुम्ह तणुए ॥९॥
जलनिधि गहिर गम्भीर खीरोपम सोहामणुए ।
ते जिहि तरण प्रकाश जग उद्योतन जस किरणि ॥१०॥

बालक का नाम पूनसिंह अथवा पूर्णसिंह रखा गया । एक पट्टावलिमें इनका नाम पदर्थ भी दिया हुआ है । द्वितीया के चन्द्रमा के समान वह बालक दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा । उसका वर्ण राजहंस के समान शुभ्र था तथा शरीर बत्तीस लक्षणों से युक्त था । पांच वर्ष के होने पर पूर्णसिंह को पढ़ने बैठा दिया गया । बालक कुशाग्र-बुद्धि का था । इसलिये शीघ्र ही उसने सभी ग्रन्थोंका अध्ययन कर लिया । विद्यार्थी अवस्था में भी इनका अर्हंद्-भक्ति की ओर अधिक ध्यान रहता था । तथा वे क्षमा, सत्य, शौच एवं ब्रह्मचर्य आदि धर्मों को जीवनमें उतारने का प्रयास करते रहते थे । गार्हस्थ्य जीवन के प्रति विरक्ति देखकर माता-पिता ने उनका १४ वर्ष की अवस्था में ही विवाह कर दिया, लेकिन विवाह बन्धन में बांधने के पश्चात् भी उनका मन संसार में नहीं लगा और वे उदासीन रहने लगे । पुत्र की गति-विधियां देखकर माता-पिता ने उन्हें बहुत समझाया लेकिन उन्हें कोई सफलता नहीं मिली । पुत्र एवं माता-पिता के मध्य बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा । पूर्णसिंह के समझ में कुछ नहीं आता और वे बार बार साधु-जीवन धारण करने की उनसे स्वीकृति मांगते रहते ।

अन्त में पुत्र की विजय हुई और पूर्णसिंह ने २६वें वर्ष में अपार सम्पत्ति को तिलांजलि देकर साधु-जीवन अपना लिया । वे आत्म-कल्याण के साथ साथ जगत्कल्याण की ओर चल पड़े । "भट्टारक सकलकीर्ति नु रास" के अनुसार उनकी इस समय केवल १८ वर्ष की आयु थी । उस समय भट्टारक पद्मनंदि का मुख्य केन्द्र नेणवां (उदयपुर) था और वे आगम ग्रन्थों के पारगामी विद्वान् माने जाते थे । इसलिये ये भी नेणवां चले गये और उनके शिष्य बनकर अध्ययन करने लगे । यह उनके साधु जीवन की प्रथम पद यात्रा थी । वहां ये आठ वर्ष रहे और प्राकृत एवं संस्कृत ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया । उनके मर्म को समझा और भविष्यमें सत्साहित्य का प्रचार प्रसार ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया । ३४ वें वर्ष में उन्होंने आचार्य पदवी ग्रहण की और नाम सकलकीर्ति रखा गया ।

विहार--

सकलकीर्ति का वास्तविक साधु-जीवन सम्वत् १४७७ से प्रारम्भ होकर सम्वत् १४९९ तक रहा । इन २२ वर्षों में इन्होंने मुख्य रूप से राजस्थान के उदयपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ आदि राज्यों एवं गुजरात प्रान्त के राजस्थान के समीपस्थ प्रदेशों में खूब विहार किया ।

उस समय जन-साधारण के जीवन में धर्म के प्रति काफी शिथिलता आ गई थी । साधु-सन्तों के विहार का अभाव था । जन-साधारण को न तो स्वाध्याय के प्रति रुचि रही थी और न उन्हें सरल

भाषा में साहित्य ही उपलब्ध होता था। इसलिये सर्वप्रथम सकलकीर्ति ने उन प्रदेशों में विहार किया और सारे समाज को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने कितने ही यात्रा संघों का नेतृत्व किया। इसके पश्चात् उन्होंने अन्य तीर्थों की वन्दना की जिससे देश में धार्मिक चेतना फिर से जागृत होने लगी।

प्रतिष्ठाओं का आयोजन--

तीर्थ-यात्राओं के पश्चात् सकलकीर्ति ने नवीन मन्दिरों का निर्माण एवं प्रतिष्ठाएं करवाने का कार्य हाथ में लिया। उन्होंने अपने जीवन में १४ बिम्ब-प्रतिष्ठाओं का संचालन किया। इस कार्य में योग देने वालों में संघपति नरपाल एवं उनकी पत्नी बहुरानी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। गलियाकोट में संघपति मूलराज ने इन्हीं के उपदेश से "चतुर्विंशति-जिनबिम्ब" की स्थापना की थी। नागदा जाति के श्रावक संघपति ठाकुरसिंह ने भी कितनी ही बिम्ब प्रतिष्ठाओं में योग दिया। भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा सम्वत् १४९०, १४९२, १४९७ आदि सम्वतों में प्रतिष्ठापित मूर्तियां उदयपुर, डूंगरपुर एवं सागवाड़ा आदि स्थानों के जैन मन्दिरों में मिलती हैं। प्रतिष्ठा महोत्सवों के इन आयोजनों से तत्कालीन समाज में जो जनजागृति उत्पन्न हुई थी, उसने देश में जैन-धर्म एवं संस्कृति के प्रचार प्रसार में अपना पूरा योग दिया।

व्यक्तित्व एवं पाण्डित्य--

भट्टारक सकलकीर्ति असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे। इन्होंने जिन जिन परम्पराओं की नींव रखी। उनका बादमें खूब विकास हुआ। वे गम्भीर-अध्ययन-युक्त संत थे। प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ब्रह्म जिनदास एवं भ० भुवनकीर्ति जैसे विद्वानों का इनका शिष्य होना ही इनके प्रबल पांडित्य का सूचक है। इनकी वाणी में जादू था इसलिये जहां भी इनका विहार हो जाता था, वहीं इनके सैंकड़ों भक्त बन जाते थे। वे स्वयं तो योग्यतम विद्वान थे ही, किन्तु इन्होंने अपने शिष्यों को भी अपने ही समान विद्वान् बनाया। ब्रह्म जिनदास ने अपने ग्रन्थोंमें भट्टारक सकलकीर्ति को महाकवि, निर्ग्रन्थराज शुद्ध चरित्रधारी एवं तपोनिधि आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है।[१]

भट्टारक सकलभूषण ने अपनी उपदेश-रत्नमाला की प्रशस्ति में कहा है कि सकलकीर्ति जन

---

१. ततोऽभवत्तस्य जगत्प्रसिद्धः, पट्टे मनोज्ञे सकलादिकीर्तिः।
महाकविः शुद्धचरित्रधारी, निर्ग्रन्थराजो जगति प्रतापी॥

जम्बूस्वामी चरित्र

जन का चित्त स्वतः ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। ये पुण्यमूर्ति स्वरूप थे तथा अनेक पुराण ग्रन्थों के रचयिता थे[१]।

इसी तरह भट्टारक शुभचन्द्र ने सकलकीर्ति को पुराण एवं काव्यों का प्रसिद्ध प्रणेता कहा है। इनके अतिरिक्त इनके बाद होने वाले प्रायः सभी भट्टारकों ने सकलकीर्ति के व्यक्तित्व एवं विद्वत्ता की भारी प्रशंसा की है। ये भट्टारक थे किन्तु मुनि नाम से भी अपने आपको सम्बोधित करते थे। धन्य-कुमार चरित्र ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होंने अपने आपका मुनि सकलकीर्ति नाम से परिचय दिया है।

ये स्वयं नग्न अवस्था में रहते थे और इसलिये ये निर्ग्रन्थकार अथवा निर्ग्रन्थराज के नाम से भी अपने शिष्यों द्वारा संबोधित किये गये हैं। इन्होंने बागड़ प्रदेश में जहां भट्टारकों का कोई प्रभाव नहीं था। सम्वत् १४९२ में गलियाकोट में एक भट्टारक गादी की स्थापना की और अपने आपको सरस्वती-गच्छ एवं बलात्कारगण की परम्परा का भट्टारक घोषित किया। ये उत्कृष्ट तपस्वी थे तथा अपने जीवन में इन्होंने कितने ही व्रतों का पालन किया था।

सकलकीर्ति ने जनता को जो कुछ चरित्र सम्बन्धी उपदेश दिया था, पहिले उसे अपने जीवन में उतारा। २२ वर्ष के एक छोटे समय में ३५ से अधिक ग्रन्थों की रचना, विविध ग्रामों एवं नगरों में विहार, भारत के राजस्थान, उत्तरप्रदेश, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि प्रदेशों के तीर्थों की पद यात्रा एवं विविध व्रतों का पालन केवल सकलकीर्ति जैसे महा विद्वान् एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले साधु से ही सम्पन्न हो सकते थे। इस प्रकार ये श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र से विभूषित उत्कृष्ट एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाले साधु थे।

मृत्यु—

एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक सकलकीर्ति ५६ वर्ष तक जीवित रहे। सम्वत् १४९९ में महसाना नगर में उनका स्वर्गवास हुआ। पं० परमानन्दजी शास्त्री ने भी प्रशस्ति संग्रह में इनकी मृत्यु सम्वत् १४९९ में महसाना (गुजरात) में होना लिखा है। डा० ज्योतिप्रसाद जैन एवं डा० प्रेम-सागर भी इसी सम्वत् को सही मानते हैं। लेकिन डा० ज्योतिप्रसाद इनका पूरा जीवन ८१ वर्ष स्वी-कार करते हैं। जो अब लेखक को प्राप्त विभिन्न पट्टावलियों के अनुसार वह सही नहीं जान पड़ता।

---

१. तत्पट्ट पंकेजविकासभास्वान् बभूव निर्ग्रन्थवरः प्रतापी।
महाकवित्वादिकला-प्रवीणः तपोनिधिः श्री सकलादिकीर्ति॥
हरिवंश-पुराण।

१. तत्पट्टधारी जनचित्तहारी पुराणमुख्योत्तम-शास्त्रकारी।
भट्टारकः श्रीसकलादिकीर्तिः प्रसिद्धनामाजनि पुण्यमूर्तिः॥
उपदेशरत्नमाला—सकलभूषण

सकलकीर्ति रास में उनकी विस्तृत जीवन गाथा है, उसमें स्पष्ट रूप से सम्वत् १४४३ को जन्म एवं सम्वत् १४९९ में स्वर्गवास होने को स्वीकृत किया है।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था—

भट्टारक सकलकीर्ति के समय देश की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। समाज में सामाजिक एवं धार्मिक चेतना का अभाव था। शिक्षा की बहुत कमी थी। साधुओं का अभाव था। भट्टारकों के नग्न रहने की प्रथा थी। स्वयं भट्टारक सकलकीर्ति भी नग्न रहते थे। लोगों में धार्मिक श्रद्धा बहुत थी। तीर्थ-यात्रा बड़े बड़े संघों में होती थी। उनका नेतृत्व करने वाले साधु होते थे। तीर्थ यात्राएं बहुत लम्बी होती थीं तथा वहां से सकुशल लौटने पर बड़े-बड़े उत्सव एवं समारोह किये जाते थे। भट्टारकों ने पंच-कल्याणक प्रतिष्ठाओं एवं अन्य धार्मिक समारोह करने की अच्छी प्रथा डाल दी थी। इनके संघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक आदि सभी होते थे। साधुओं में ज्ञान-प्राप्ति की काफी अभिलाषा होती थी, तथा संघ के सभी साधुओं को पढ़ाया जाता था। ग्रन्थ रचना करने का भी खूब प्रचार हो गया था। भट्टारक गण भी खूब ग्रन्थ रचना करते थे। वे प्रायः अपने ग्रन्थ श्रावकोंके आग्रहसे निबद्ध करते रहते थे। व्रत उपवास की समाप्तिपर श्रावकों द्वारा इन ग्रन्थों की प्रतियां विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारों को भेंट स्वरूप दे दी जाती थीं। भट्टारकों के साथ हस्तलिखित ग्रंथों के बस्ते के बस्ते होते थे। समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी और न उनके पढ़ने लिखने का साधन था। व्रतोद्यापन पर उनके आग्रह से ग्रंथों की स्वाध्यायार्थ प्रतिलिपि कराई जाती थी और उन्हें साधु सन्तों को पढ़ने के लिये दे दिया जाता था।

साहित्य सेवा—

साहित्य सेवा में सकलकीर्ति का जबरदस्त योग रहा। कभी कभी तो ऐसा मालूम होने लगता है जैसे उन्होंने अपने साधु जीवन के प्रत्येक क्षणका उपयोग किया हो। संस्कृत, प्राकृत एवं राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। वे सहज रूप में ही काव्य रचना करते थे, इसलिये उनके मुख से जो भी वाक्य निकलता था वही काव्य रूप में परिवर्तित हो जाता था। साहित्य रचना की परम्परा सकलकीर्ति ने ऐसी डाली कि राजस्थान के बागड़ एवं गुजरात प्रदेश में होने वाले अनेक साधु-सन्तों ने साहित्य की खूब सेवा की तथा स्वाध्याय के प्रति जन-साधारण की भावना को जागृत किया। इन्होंने अपने अन्तिम २२ वर्ष के जीवन में २७ से अधिक संस्कृत रचनाएं एवं ८ राजस्थानी रचनाएं निबद्ध की थीं।

राजस्थान के ग्रन्थ भण्डारों की जो अभी खोज हुई है उनमें हमें अभी तक निम्न रचनाएं उपलब्ध हो सकी हैं।

संस्कृत की रचनाएं—

१. मूलाचार प्रदीप २. प्रश्नोत्तरोपासकाचार ३. आदिपुराण ४. उत्तरपुराण ५. शांतिनाथ चरित्र ६. वर्द्धमान चरित्र ७. मल्लिनाथ चरित्र ८. यशोधर चरित्र ९. धन्यकुमार चरित्र १०. सुकुमाल चरित्र ११. सुदर्शन चरित्र १२. सद्भाषितावलि १३. पार्श्वनाथ चरित्र १४. व्रतकथा कोष १५. नेमिजिन चरित्र १६. कर्मविपाक १७. तत्वार्थसार-दीपक १८ सिद्धान्तसार-दीपक १९. आगमसार २०. परमात्मराज-स्तोत्र २१. सारचतुर्विंशतिका २२ श्रीपाल चरित्र २३. जम्बूस्वामी चरित्र २४. द्वादशानुप्रेक्षा ।

पूजा ग्रन्थ—

२५. अष्टाह्निका पूजा २६. सोलहकारण पूजा २७. गणधरवलय पूजा ।

राजस्थानी कृतियां—

१. आराधना प्रतिबोधसार २. नेमीश्वर गीत ३. मुक्तावलि गीत ४. णमोकार फल गीत ५. सोलहकारण रास ६. सारसिखामणि रास ७. शांतिनाथ फागु ।

उक्त कृतियों के अतिरिक्त अभी और भी रचनाएं हो सकती हैं जिनकी अभी खोज होना बाकी है । भट्टारक सकलकीर्ति की संस्कृत भाषा के समान राजस्थानी भाषा में भी कोई बड़ी रचना मिलनी चाहिये, क्योंकि इनके प्रमुख शिष्य ब्र० जिनदास ने इन्हीं की प्रेरणा एवं उपदेशसे राजस्थानी भाषा में ५० से भी अधिक रचनाएं निबद्ध की हैं ।

उक्त संस्कृत कृतियों के अतिरिक्त पंचपरमेष्ठि पूजा, द्वादशानुप्रेक्षा एवं सारचतुर्विंशतिका आदि और भी कृतियां हैं । जो राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध होती हैं । ये सभी कृतियां जैन समाज में लोकप्रिय रही हैं तथा उनका पठन-पाठन भी खूब रहा है ।

भट्टारक सकलकीर्ति की उक्त संस्कृत रचनाओं में कवि का पाण्डित्य स्पष्ट रूपसे झलकता है । उनके काव्यों में उसी तरह की शैली, अलंकार, रस एवं छन्दों की परियोजना उपलब्ध होती है जो अन्य भारतीय संस्कृत काव्यों में मिलती है । उनके चरित काव्यों को पढ़ने से अच्छा रसास्वादन मिलता है । चरित काव्यों के नायक त्रैसठशलाका के लोकोत्तर महापुरुष हैं जो अतिशय पुण्यवान् हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन अत्यधिक पावन है । सभी काव्य शांतरस पर्यवसानी हैं ।

काव्य ज्ञान के समान भट्टारक सकलकीर्ति जैन सिद्धान्त के महान् वेत्ता थे । उनका मूलाचार प्रदीप, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सिद्धान्तसार-दीपक एवं तत्वार्थसार-दीपक तथा कर्मविपाक जैसी रचनाएं उनके अगाध ज्ञानके परिचायक हैं । इसमें जैन सिद्धान्त, आचार-शास्त्र एवं तत्वचर्चा के उन गूढ़ रहस्यों का निचोड़ है जो एक महान् विद्वान् अपनी रचनाओं में भर सकता है ।

इसी तरह् सद्भाषितावलि उनके सर्वांगज्ञान का प्रतीक है। जिसमें सकलकीर्ति ने जगत के प्राणियों को सुन्दर शिक्षाएं भी प्रदान की हैं, जिससे वे अपना आत्म-कल्याण करने की ओर अग्रसर हो सके। वास्तव में वे सभी विषयों के पारगामी विद्वान् थे। ऐसे सन्त विद्वान् को पाकर कौन देश गौरवान्वित नहीं होगा ?

राजस्थानी रचनाएं—

सकलकीर्ति ने हिन्दी में बहुत ही कम रचना निबद्ध की है। इसका प्रमुख कारण संभवतः इनका संस्कृत भाषा की ओर अत्यधिक प्रेम था। इसके अतिरिक्त जो भी इनकी हिन्दी रचनाएं मिली हैं वे सभी लघु रचनाएं हैं जो केवल अध्ययन की दृष्टि से ही उल्लेखनीय कही जा सकती हैं। सकलकीर्ति का अधिकांश जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ था। इनकी रचनाओं में राजस्थानी भाषा की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है।

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत भाषा में ३० ग्रन्थों की रचना करके मां भारती की अपूर्व सेवा की और देश में संस्कृत के पठन-पाठन का जबरदस्त प्रचार किया।

आचार्य सकलकीर्ति विरचित संस्कृत ग्रन्थावली में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं और मूलाचार प्रदीप जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित होनेपर भी इस समय अनुपलब्ध हो रहे हैं। अच्छा हो शांतिवीर ग्रन्थमाला महावीरजी या अन्य कोई प्रकाशन संस्था इन सब ग्रंथों को सुसंपादित कराकर हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कराने की योजना बनावे। भाषाकी सरलता और प्रतिपाद्य विषयों की उपयोगिता को देखते हुए आशा है कि इनके ग्रंथ लोकप्रिय सिद्ध होंगे।

सिद्धांतसार-दीपक का यह सटीक संस्करण—

त्रिलोकसार की टीका करने के बाद पूज्य आर्यिका श्री १०५ विशुद्धमतिजी ने मुझसे पूछा कि अब मुझे बतलाइये किस ग्रन्थ पर काम करूं ? क्योंकि टीका करने में स्वाध्याय और ध्यान दोनों की सिद्धि होती है। विचार-विमर्श के बाद स्थिर हुआ कि 'सिद्धान्तसार दीपक' की टीका की जाय। इसका विषय त्रिलोकसार से मिलता जुलता है तथा जन साधारण के स्वाध्याय के योग्य है। फलतः हस्तलिखित प्रतियां एकत्र कर उनके पाठ भेद लेना शुरू किया गया। सवाई माधवपुर के चातुर्मास में इसके पाठभेद लेने का कार्य सम्पन्न हुआ था उसमें श्री पं० जगन्मोहनलालजी और मैंने भी सहयोग किया था। टीका के लिये जो मूल प्रति चुनी गई थी वह १७८९ विक्रम सम्वत् की लिखी हुई थी। जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्ति से स्पष्ट है।

ग्रन्थ पर्यायन्त्र समेत ४५१६, सम्वत् १७८९ वर्षे आषाढ मासे कृष्णपक्षे तिथौ चतुर्दशी शनिवासरे, लिखितं मानमहात्मा चाटसु मध्ये श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये

भट्टारकजी श्री जगत्कीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री················द्रकीर्तिजी आचार्यजी श्री कनककीर्तिजी तत् शिष्य पं० रायमल तत् शिष्य पं०················दजी तत् शिष्य पं० वृन्दावनेन सुपठनार्थं लिखापितम् । लिखि················जी ।

माताजी की अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना और उसके फल स्वरूप प्रकट हुए क्षयोपशम के विषय में क्या लिखूं ? अल्पवय में प्राप्त वैधव्य का अपार दुःख सहन करते हुए भी इन्होंने जो वैदुष्य प्राप्त किया है वह साधारण महिला के साहस की बात नहीं है । वैधव्य प्राप्त होते ही तत्काल जो साधन जुटाये जा सके उनका इन्होंने पूर्ण उपयोग किया । ये सागर के महिलाश्रम में पढ़ती थीं मैं धर्म शास्त्र और संस्कृत का अध्ययन कराने प्रातःकाल ५ बजे जाता था । एक दिन गृह प्रबन्धिका ने मुझसे कहा कि रात में निश्चित समय के बाद आश्रम की ओर से मिलने वाली लाईट की सुविधा जब बन्द हो जाती है तब ये खाने के घृत का दीपक जलाकर चुपचाप पढ़ती रहती हैं और भोजन घृत हीन कर लेती हैं । गृह प्रबन्धिका के मुख से इनके अध्ययन शीलता की प्रशंसा सुन जहां प्रसन्नता हुई वहां अपार वेदना भी हुई । प्रस्तावना की यह पंक्तियां लिखते समय वह प्रकरण स्मृति में आ गया और नेत्र सजल हो गये । लगा, कि जिसकी इतनी अभिरुचि है अध्ययन में, वह अवश्य ही होनहार है । आश्रममें रहकर इन्होंने शास्त्री कक्षा तक पाठ्यक्रम पूरा किया और हिन्दी साहित्य सम्मेलन से साहित्य रत्न की उपाधि प्राप्त की । जबलपुर से प्रशिक्षित (ट्रेण्ड) होकर महिलाश्रम में अध्यापन शुरू किया तथा साधारण अध्यापिका के बाद प्रधानाध्यापिका और तदनन्तर कार्य छोड़कर अधिष्ठात्री पद को प्राप्त किया ।

संभवतः सन् १९६२ में सागर में आचार्य श्री धर्मसागरजी, सन्मतिसागरजी और पदमसागरजी का चातुर्मास हुआ । श्री सन्मतिसागरजी के सम्बोधन से इनका हृदय विरक्ति की ओर आकृष्ट हुआ । फलस्वरूप इन्होंने सप्तम प्रतिमा धारण की और आगे चल कर पपौरा के चातुर्मास में आचार्य शिवसागरजी के पादमूल में आर्यिका दीक्षा ली । संघस्थ आचार्यकल्प श्रुतसागरजी ने इनका करणानुयोग में प्रवेश कराया और श्री अजितसागरजी महाराज ने संस्कृत भाषा का परिज्ञान कराया । निर्द्वन्द्व होकर इन्होंने धवलसिद्धान्त के सब भागों का स्वाध्याय कर जब मुझे कोटा के चातुर्मास में स्वनिर्मित अनेक संदृष्टियां और चार्ट दिखलाये तब मुझे इनके ज्ञान विकास पर बड़ा आश्चर्य हुआ । यही नहीं त्रिलोकसार की टीका लिखकर प्रस्तावना लेख के लिये जब मेरे पास मुद्रित फार्म भेजे तब मुझे लगा कि यह इनके तपश्चरण का ही प्रभाव है कि इनके ज्ञान में आश्चर्यजनक वृद्धि हो रही है । वस्तुतः परमार्थ भी यही है कि द्वादशाङ्ग का जितना विस्तार हम सुनते हैं वह सब गुरु मुख से नहीं पढ़ा जा सकता । तपश्चर्या के प्रभाव से स्वयं ही ज्ञानावरण का ऐसा विशाल क्षयोपशम हो जाता है कि जिससे अङ्ग पूर्व का भी विस्तृत ज्ञान अपने आप प्रकट हो जाता है । श्रुतकेवली बनने के लिये निर्ग्रन्थ मुद्रा के साथ विशिष्ट तपश्चरण का होना भी आवश्यक रहता है ।

त्रिलोकसारादि ग्रन्थों का गणित विधिवत् सम्पन्न कराने में इनके सहायक रहे श्री ब्र० रतनचन्द्रजी मुख्त्यार सहारनपुर। ये पूर्वभव के संस्कारी जीव थे जिन्होंने किसी संस्था या व्यक्ति के पास संस्कृत प्राकृत तथा हिन्दी का विशिष्ट अध्ययन किये बिना ही स्वकीय पुरुषार्थ से करणानुयोग में प्रशंसनीय प्रवेश प्राप्त किया। आचार्य शिवसागरजी तथा आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज के कितने ही चातुर्मासों में मुझे इनके साथ जाने का अवसर मिला है उस समय इनकी ज्ञानाराधना और विषय को स्पष्ट करने की रीति देखकर बड़ी प्रसन्नता होती थी। अब वे नहीं हैं उनकी स्मृति ही शेष है।

सिद्धान्तसार दीपक का सम्पादन—

त्रिलोकसार की तरह सिद्धान्तसार दीपक का सम्पादन भी डा० श्री चेतनप्रकाशजी पाटनी प्राध्यापक, जोधपुर विश्वविद्यालय जोधपुर ने किया है। ये दिवंगत मुनि श्री १०८ समतासागरजी के सुपुत्र हैं। समता और भद्रता इन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली हुई है। संस्कृत के एम० ए० होने के साथ साथ ये जैनागम के भी पारगामी हैं, कटी छटी और विविध टिप्पणों से अलकृत पाण्डुलिपि को आप अपनी सम्पादन कला से व्यवस्थित करने में सिद्ध हस्त हैं। कार्य के बोझ से कभी कतराते नहीं हैं किन्तु समता भावसे उसे वहन करते हैं। सिद्धान्तसार दीपक के संपादन में इन्होंने पर्याप्त श्रम किया है। विषय सूची आदि कष्टसाध्य परिशिष्टों से इन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ को सुशोभित किया है। शरीर के दुबले-पतले होने पर भी आप विशिष्ट क्षयोपशम के धनी हैं।

जैन भूगोल—

बारहवें दृष्टिवाद अङ्ग के पांच भेदों में पूर्वगत भेदोंके अन्तर्गत एक लोकबिन्दुसार पूर्व है। उस पूर्व में तीन लोक सम्बन्धी विस्तृत वर्णन है। वह इस समय उपलब्ध नहीं है किन्तु उसके आधार पर तीन लोक का वर्णन करने वाले अनेक शास्त्र-तिलोयपण्णत्ति, जंबूदीवपण्णत्ति, त्रिलोकसार लोकविभाग हरिवंशपुराण तथा सिद्धान्तसार दीपक आदि दिगम्बर ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आजका प्रत्यक्षवादी मानव, इन ग्रन्थों में प्रतिपादित जैन भूगोल को सुनकर झट से बोल उठता है कि कहां हैं ये स्थान? उपलब्ध दुनियां में जहां तक आज के मानव की गति है वहां तक इनका सद्भाव न देख वह इन्हें कल्पित मानने लगता है। मनुष्य अपनी हीन शक्ति का विचार किये बिना ही वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी को अपने ग्रन्थों के द्वारा प्रतिपादित करनेवाले निःस्पृह आचार्यों के वचनों को संशय की दृष्टि से देखने लगता है। मध्यलोक एक राजूप्रमाण क्षेत्र में विस्तृत है जिसमें असंख्यात द्वीप समुद्रों का समावेश है। आजका मानव जम्बूद्वीप भरत क्षेत्र के संपूर्ण आर्यखण्ड में भी नहीं जा सका है। फिर संपूर्ण भरत क्षेत्र और जम्बूद्वीप की तो बात ही क्या है? लोग पूछते हैं कि सुमेरु पर्वत कहां है? मैं कह देता हूं कि जहां सूर्योदय और सूर्यास्त होता है उस निषध पर्वत के आगे विदेह क्षेत्र में सुमेरु पर्वत है। जब सूर्य निषध पर्वत के पूर्व कोण और पश्चिम कोण पर प्रातः और सायंकाल पहुंचता है तब

उसकी किरणों संतप्त सुवर्णाभ निषध पर्वत पर पड़ने से प्रातः पूर्व में और सायं पश्चिम में लालिमा प्रकट होती है ज्यों ही सूर्य निषध पर्वत से दूर हो जाता है त्यों ही लालिमा समाप्त हो जाती है। अतः इस निषध पर्वत का अस्तित्व सिद्ध है उसके आगे जाने पर सुमेरु पर्वत के दर्शन हो सकते हैं। जिस मनुष्य की शक्ति कूपमण्डूक के समान अत्यन्त सीमित है वह अपनी गति से बाहर पाये जाने वाले पदार्थों के अस्तित्व के प्रति संशय का भाव रक्खे, यह आश्चर्य की बात है। मेरा तो विश्वास है कि जिस प्रकार जैन शास्त्र में प्रतिपादित तत्त्व आज विज्ञान की कसौटी पर खरे उतर रहे हैं उसीप्रकार जैन भूगोल के सिद्धांत भी विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरेंगे। असमञ्जसता वहां हो जाती है जहां जिन्हें जैन भूगोल का ज्ञान है उन्हें विज्ञान सिद्ध आधुनिक भूगोल का ज्ञान नहीं है और जिन्हें आधुनिक भूगोल का ज्ञान है उन्हें जैन भूगोल का ज्ञान नहीं है। काश, कोई दोनों भूगोलों का ज्ञाता हो और वह पक्षपात रहित होकर अनुसन्धान करे तो यथार्थता का निर्णय हो सकता है। फिर एक बात यह भी है कि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का निर्णय आगम प्रमाण से ही हो सकता है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं। जहां प्रत्यक्ष अनुमान और शाब्द प्रमाण की गति कुण्ठित हो जाती है वहां आगम प्रमाण का ही आश्रय लेना पड़ता है। आगम की प्रामाणिकता वक्ता की प्रामाणिकता पर निर्भर रहती है। जैन भूगोल के उपदेष्टा आचार्य विशिष्ट ज्ञानी तथा माया ममता से रहित थे अतः उनकी प्रामाणिकता में संशय का अवकाश नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में पड़कर आगम की श्रद्धा से विचलित नहीं होना चाहिये।

सिद्धान्तसार दीपक का प्रकाशन—

मैंने देखा है कि आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज के हृदय में जिनवाणी प्रकाशन के प्रति अनुपम अभिरुचि है। उन्हीं की प्रेरणा से सम्बोधन पाकर भक्तजन जिनवाणी के प्रकाशन के लिये विशाल अर्थ राशि प्रदान करते हैं। उन्हीं का सम्बोधन पाकर शांतिवीर नगर महावीरजी में शिवसागर ग्रन्थमाला से पं० लालारामजी कृत हिन्दी टीका सहित आदिपुराण, पं० गजाधरलालजी कृत टीका सहित हरिवंशपुराण, पं० दौलतरामजी कृत टीका वाला पद्मपुराण और श्री १०५ आर्यिका आदिमतीजी द्वारा रचित विस्तृत हिन्दी टीका सहित कर्मकाण्ड का प्रकाशन हुआ है। सम्प्रति, सिद्धांतसार दीपक का प्रकाशन भी उन्हीं का सम्बोधन प्राप्त कर श्रीमान् पूनमचन्दजी गंगवाल, श्रीमान् रामचन्द्रजी कोठारी जयपुर, श्रीमान् माणिकचन्दजी कोटा आदि दाताओं के द्वारा प्रदत्त अर्थ राशि से हो रहा है। श्रुतसागरजी महाराज का कहना है कि समाज में सब प्रकार के श्रोता हैं, जो जिस प्रकार का श्रोता है उसके लिये उस प्रकार का ग्रन्थ स्वाध्याय के लिये अल्प मूल्य में मिलना चाहिए। त्रिलोकसार, सिद्धांतसार दीपक और कर्मकाण्ड आदि गहन ग्रन्थ विशिष्ट श्रोताओं के लिये हैं तो आदिपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण तथा धन्यकुमार चरित आदि कथा ग्रन्थ साधारण श्रोताओं के लिये हैं।

आर्यिका विशुद्धमतीजी के ऊपर उनका उतना ही स्नेह मैंने देखा है जितना कि एक पिता का पुत्री के ऊपर रहता है। जब वे उनके साथ संघ में रहती थीं तब पितृ स्नेह का प्रकट रूप दिखाई देता ही था पर अब कारण वश अलग रहने पर भी उनका स्नेह ज्यों का त्यों बना हुआ है। वे विशुद्धमति जी के द्वारा लिखित शास्त्रों को प्रकाशित करा कर उन्हें बराबर प्रोत्साहित करते रहते हैं। जब भी इनके पास जाता हूं तब बातचीत के प्रसंग में वे विशुद्धमतिजी की साहित्यिक आराधना की प्रशंसा करते रहते हैं।

ब्र० लाडमलजी बाबाजी अधिकांश आचार्यकल्प श्रुतसागरजी के साथ रहते हैं वे ग्रंथ प्रकाशन आदि में पूर्ण सहयोग किया करते हैं। तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिनका जिस प्रकार का सहयोग उपलब्ध हुआ है वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। उन सबके ज्ञानावरण का क्षयोपशम वृद्धि को प्राप्त हो यह कामना है।

यह संस्करण—

सिद्धान्तसार दीपक के मुद्रण का कार्य कमल प्रिन्टर्स मदनगंज (किशनगढ़) में सम्पन्न हुआ है। उसके संचालक श्रीमान् पाँचूलालजी ने छपाई सफाई का ध्यान रखते हुए इसे शुद्धता पूर्वक छापा है। चार्ट और चित्रों को यथास्थान लगाया है इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

माताजी का मुझपर स्नेह है अतः वे अपनी छोटी-मोटी सभी रचनाओं पर कुछ पंक्तियां लिखने का आग्रह करती हैं उसी आग्रहवश इस संस्करण में प्रस्तावना लेख के रूपमें मैंने कुछ लिखने का प्रयास किया है। इच्छा थी कि ग्रन्थ सम्बन्धी कुछ विषयों पर विशेष प्रकाश डाला जाय परन्तु माताजी के साथ रहने वाले ब्र० कजोड़ीमलजी का आग्रह रहा कि प्रस्तावना लेख शीघ्र ही लिखकर १-२ दिन में मुद्रित फार्म वापिस भेज दें। 'माताजी ने ग्रन्थ में विशेषार्थों के माध्यम से सब विषय स्पष्ट किये ही हैं' इसलिये इच्छाको सीमित कर एक दिन में ही प्रस्तावना लेख समाप्त कर वापिस भेज रहा हूं।

माताजी इसी तरह जिनवाणी की सेवा करती रहें इस भावना के साथ उनके प्रति आभार प्रकट करता हूं।

सागर
२४-३-८१

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य

विषय सूची

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
	प्रथम अधिकार/लोकनाड़ी का स्वरूप	
१	मङ्गलाचरण श्री अरहन्त स्तवन	१
२	श्री ऋषभदेव भगवान का स्तवन	१
३	श्री चन्द्रप्रभ भगवान का स्तवन	२
४	श्री शांतिनाथ भगवान का स्तवन	२
५	श्री नेमिनाथ भगवान का स्तवन	२
६	श्री पार्श्वजिनेन्द्र स्तवन	३
७	श्री वर्धमानजिनेन्द्र स्तवन	३
८	शेष तीर्थंकरों का स्तवन	४
९	विदेहक्षेत्रस्थ विद्यमान सीमन्धर आदि तीर्थंकरों का स्तवन	४
१०	तीन काल संबंधी चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन	४
११	श्री सिद्ध परमेष्ठी का स्तवन	५
१२	श्री आचार्य परमेष्ठी का स्तवन	५
१३	श्री उपाध्याय परमेष्ठी का स्तवन	५
१४	श्री साधुपरमेष्ठी का स्तवन	६
१५	श्री वृषभसेन आदि गणधरों का स्तवन	६
१६	श्री स्याद्वादवाणीरूप सरस्वती का स्तवन	६
१७	श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों का स्मरण	७
१८	त्रिलोकवर्ती कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालयों तथा उनमें विद्यमान जिनबिम्बों का स्तवन	७
१९	ग्रन्थकर्त्ता द्वारा ग्रन्थरचना की प्रतिज्ञा	७
२०	जिनागम-महिमा	८
२१	ग्रंथकर्त्ता द्वारा लघुता-प्रदर्शन	८
२२	लोकस्वरूप-कथन की प्रतिज्ञा	९
२३	लोकाकाश और अलोकाकाश की स्थिति व लक्षण	९
२४	लोक के विषय में मतान्तरों का खण्डन	१०
२५	लोक का स्वरूप	१०
२६	लोक के भेद एवं उनका प्रमाण	१३
२७	अधोलोक का क्षेत्रफल एवं घनफल	१४
२८	ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल एवं घनफल	१५
२९	सम्पूर्ण लोक का घनफल	१६
३०	लोक की परिधि का निरूपण	१६
३१	तीन वातवलयों का स्वरूप	१७
३२	त्रसनाली का स्वरूप	१९
३३	अधिकारगत अन्तिम मंगलाचरण	२०
	द्वितीय अधिकार/अधोलोक में श्वभ्र स्वरूप	
१	मंगलाचरण	२१
२	अधोलोक के वर्णन का हेतु और प्रतिज्ञा	२१
३	अधोलोक की सात पृथ्वियों की स्थिति और नाम	२१
४	सातों नरकों के नाम	२२
५	निगोद स्थान का कथन	२२
६	प्रथम पृथ्वी के भेद-प्रभेद	२२
७	खर आदि भागों में रहने वाले देवों का विवेचन	२३
८	प्रथम पृथ्वी के तीन भागों की मोटाई	२४
९	शेष छह पृथ्वियों का निरूपण	२४
१०	सातों पृथ्वियों में स्थित पटल	२४
११	सातों पृथ्वियों में बिलों की संख्या	२५

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१२	सातों नरक-पटलों की संख्या और उनके नाम	२५
१३	सातों नरकों के इन्द्रादिक बिल	२७
१४	पृथक्-पृथक् श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या	२८
१५	पृथक्-पृथक् प्रकीर्णक बिलों की संख्या	२९
१६	सम्पूर्ण बिलों का व्यास	३०
१७	प्रत्येक नरकके संख्यातयोजनविस्तारवाले और असंख्यात योजन विस्तारवाले बिलों की संख्या	३२
१८	इंद्रकादि तीनों प्रकारके बिलों का प्रमाण	३५
१९	सातों पृथ्वियों के बिल व्याप्त क्षेत्र का प्रमाण	३६
२०	बिलों का तिर्यग् अन्तर	३९
२१	प्रत्येक पटल की जघन्य और उत्कृष्ट आयु	४०
२२	प्रत्येक पटल के नारकियों के शरीर का उत्सेध	४२
२३	नारकियों के उपपाद स्थानों का आकार, व्यास एवं दीर्घता	४७
२४	नरकप्राप्ति के कारणभूत परिणाम एवं आचरण	४८
२५	नारकियों की स्थिति, निपतन और उत्पतन	४९
२६	नरकों में सम्भव लेश्याएं.....................	५०
२७	कितने संहननों से युक्त जीव किस पृथ्वी तक उत्पन्न होता है ?	५१
२८	कौन जीव किस पृथ्वी तक जन्म ले सकते हैं ?	५१
२९	कौन जीव किस नरक में कितनी बार उत्पन्न हो सकता है ?	५२
३०	नरक से निकलने वाले जीवों की उत्पत्ति का नियम	५३
३१	नरकस्थ दुर्गन्धित मिट्टी की भीषणता	५३
३२	नारकियों के अवधिक्षेत्र का प्रमाण	५६
३३	पृथ्वियों में उत्कृष्ट रूप से जन्म-मरण का अन्तर	५६
३४	पृथ्वियों में उष्ण और शीत बाधा	५६
३५	नरक में भावी तीर्थंकर जीवों की विशेष व्यवस्था	५७
३६	रत्नत्रय धर्मके आचरण करने की प्रेरणा	५७
३७	अन्त मङ्गल	५८

तृतीय अधिकार/नरक दुःख वर्णन

१	मंगलाचरण	५९
२	वर्णन का हेतु और प्रतिज्ञा	५९
३	नरक-बिलों का स्वरूप	५९
४	नरकभूमियों के स्पर्श एवं दुर्गंध का कथन	६०
५	नरक स्थित नदी, वन, वृक्ष एवं पवन	६०
६	विक्रियाजन्य पशुपक्षियों का स्वरूप	६०
७	संवेगोत्पादक अन्य भयंकर स्वरूप का वर्णन	६१
८	नरकों में रोगजन्य वेदना	६२
९	नरकों में क्षुधातृषाजन्य वेदना	६२
१०	नरक गत शीत-उष्ण वेदना	६३
११	नरक के अन्य दुःखों का विवेचन	६४
१२	पूर्वजन्मके पापोंका चिंतन एवं पश्चात्ताप	६५
१३	अभक्ष्यभक्षण और पांच पापों का चिंतन	६६
१४	धर्माचरणरहित एवं कुधर्मसेवनपूर्वक पूर्वभव व्यतीत करने का पश्चात्ताप	६६
१५	पश्चात्तापरूप भीषण संताप का विवेचन	६७
१६	अन्य नारकियों द्वारा प्रदत्त भयंकर दुःखों का वर्णन	६९

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१७	जीवों के नेत्र फोड़ने का और अंगोपांग-छेदने का फल	६९
१८	दूसरों के प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले पाप का फल	६९
१९	मद्यादि अपेय पदार्थ पीने का फल	७०
२०	परस्त्री सेवन का फल	७०
२१	जीवों को छेदन-भेदन आदि के दुःख देने का फल	७०
२२	मांसभक्षण का फल	७१
२३	भिन्न भिन्न दुःखों का कथन	७१
२४	गर्व करने का फल	७२
२५	अयोग्य स्थान में शयन करने का फल	७३
२६	सप्त व्यसन सेवन का फल	७३
२७	वैरविरोध रखने का फल	७४
२८	असुरकुमारों द्वारा दिये जाने वाले दुःख	७४
२९	दुःखों के प्रकार एवं उनकी अवधि का वर्णन	७४
३०	नारकियों द्वारा चिन्तित विषयोंका वर्णन	७५
३१	नारकी-शरीरों के रस, गन्ध और स्पर्श का वर्णन	७७
३२	अपृथक् विक्रिया का कथन	७८
३३	उपसंहार	७८
३४	पापाचारी जीवों को शिक्षा	७८
३५	धर्म को महिमा	७९
३६	चारित्र धारण करने की प्रेरणा	७९
३७	अन्तिम मंगलाचरण	७९

चतुर्थ अधिकार/मध्यलोक वर्णन

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१	मंगलाचरण	८१
२	मध्यलोक वर्णन की प्रतिज्ञा एवं उसका प्रमाण	८२
३	आदि के सोलह द्वीपों के नाम	८३
४	द्वीपसमुद्रों की स्थिति व आकृति	८३
५	द्वीपसमुद्रों की संख्या का प्रमाण	८४
६	द्वीपसमुद्रों का व्यास	८४
७	सूची व्यास का लक्षण	८५
८	अढ़ाई द्वीप पर्यंत के द्वीपसमुद्रों का सूची व्यास	८५
९	स्थूल और सूक्ष्म परिधि	८६
१०	बादरसूक्ष्म क्षेत्रफल प्राप्त करने की विधि	८७
११	वलयाकार क्षेत्र का स्थूल सूक्ष्म क्षेत्रफल	८७
१२	जम्बूद्वीपस्थ क्षेत्रों एवं कुलाचलों के नाम	८८
१३	कुलाचलों का वर्ण	८८
१४	भरतक्षेत्र के व्यास का प्रमाण	८९
१५	क्षेत्र एवं कुलाचलों का विस्तार	९०
१६	कुलाचलों का व्यास	९१
१७	कुलाचलों की ऊँचाई	९२
१८	जीवा, धनुपृष्ठ, चूलिका और पार्श्वभुजा के लक्षण	९२
१९	कुलाचलों के गाध का एवं उनपर स्थित कूटों का प्रमाण	९८
२०	महाकूटों के नाम और स्वामी	९८
२१	कूट स्थित जिनालयों का वर्णन	१००
२२	कुलाचलों के पार्श्व भागों में वन खंडों की स्थिति एवं प्रमाण	१०१
२३	वन वेदियों की स्थिति एवं उनके प्रमाण	१०१
२४	पद्मवेदिका एवं देवों के प्रासादों का वर्णन	१०२
२५	कूटों का अन्तर एवं विस्तार	१०२
२६	कुलाचलस्थ सरोवरों के नाम व उनका विस्तार	१०४

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
२७	सरोवरों में स्थित कमलों का विस्तार	१०५
२८	श्री आदिदेवियों के भवनों का प्रमाण	१०७
२९	देवियों के निवास, आयु और स्वामी	१०८
३०	श्रीदेवी के परिवार कमलों का अवस्थान व प्रमाण	१०८
३१	श्रीदेवी के सम्पूर्ण परिवार कमलों का प्रमाण	११०
३२	परिवार कमलों का और उनके भवनों का व्यास	१११
३३	सम्पूर्ण पद्मगृहों में जिनालय	११३
३४	सात प्रकार की सेनाएँ ···· ···	११४
३५	उत्तम चारित्र द्वारा पुण्यार्जनकी प्रेरणा	११५

पंचम अधिकार/महानदी, गिरि वर्णन

१	मंगलाचरण एवं प्रतिज्ञा	११७
२	चतुर्दश महानदियों के नाम	११७
३	नदियों के गिरने का स्थान	११७
४	नदियों के निर्गमद्वार	११८
५	गंगानदी की उत्पत्ति और उसका गमन	११९
६	प्रणालिका की आकृति और प्रमाण	१२०
७	गिरती हुई गंगानदी का विस्तार	१२०
८	उम्नगा और निम्नगा नदियों का वर्णन	१२३
९	मागधद्वार का व्यास, तोरणद्वार	१२४
१०	निर्गमद्वार आदि का व्यास	१२५
११	तोरणद्वारों का विशेष वर्णन	१२५
१२	जम्बूद्वीपस्थ समस्त कुण्ड आदि का व्यास	१२६
१३	अवशेष नदियों के निर्गम आदि का कथन	१२७
१४	महानदियों की परिवारनदियां	१४०
१५	समस्त नदियों की वेदिकाएं	१४२

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१६	विजयार्धपर्वत की स्थिति और व्यास	१४२
१७	विद्याधरों के नगरों के नाम व वर्णन	१४४
१८	विजयार्ध की द्वितीय श्रेणी का वर्णन	१४८
१९	सिद्धायतन कूट का वर्णन	१४६
२०	अवशेष कूटों के स्वामी	१५०
२१	विजयार्ध सम्बन्धी वनों का विवेचन	१५०
२२	भरतक्षेत्र के छह खण्ड और आर्यों का स्वरूप	१५१
२३	म्लेच्छ खण्डों की अवस्थिति एवं म्लेच्छों का स्वरूप	१५१
२४	अयोध्यानगरी की स्थिति	१५१
२५	वृषभाचल का स्वरूप निरूपण	१५२
२६	जघन्य भोगभूमि का स्वरूप	१५२
२७	नाभिपर्वतों के नाम, प्रमाण, स्थान व स्वामी	१५३
२८	अधिकारान्त मंगलाचरण	१५५

षष्ठ अधिकार/विदेह क्षेत्र वर्णन

१	मंगलाचरण एवं प्रतिज्ञा	१५६
२	सुदर्शन मेरु वर्णन	१५६
३	ऐरावत हाथी का वर्णन	१७०
४	ऐशान आदि अन्य इन्द्रों, अहमिन्द्रों की स्थिति	१७२
५	तीर्थंकर जन्माभिषेक क्रिया	१७३
६	भद्रशाल वनस्थित जिनालयों का प्रमाण	१७४
७	त्रैलोक्यतिलक जिनालय का वर्णन	१७४
	द्वार वर्णन	१७४
	मालाओं, धूपघटों, स्वर्णघटों का प्रमाण	१७५
	पीठ, सोपान, जिनप्रतिमा वर्णन	१७६

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
	मङ्गलद्रव्यों का वर्णन	१७८
	गर्भगृह का वर्णन	१७८
	ध्वजाओं, मुखमण्डपों और प्राकारों का निर्धारण	१७८
	प्रेक्षागृहों एवं सभागृहों का वर्णन	१७९
	नवस्तूप और मानस्तम्भ का वर्णन	१८०
	चैत्यवृक्ष का वर्णन	१८१
	ध्वजापीठ, स्तम्भ, वापियों का वर्णन	१८१
	क्रीड़ाप्रासादों व तोरणों का वर्णन	१८२
	प्रासादों, ध्वजाओं व वनखण्डों का निर्देश	१८३
८	अन्य जिनालयों का वर्णन	१८३
९	देवों, विद्याधरों एवं अन्य भव्यों द्वारा की जाने वाली भक्ति	१८४
१०	मध्यम जिनालयों का वर्णन	१८५
११	जघन्यजिनालयों का वर्णन	१८६
१२	तीनों प्रकार के जिनालयों की अवस्थिति	१८६
१३	अष्ट प्रातिहार्यों का कथन	१८७
१४	लोकस्थ समस्त अकृत्रिम चैत्यालयों को नमन	१८८
१५	अधिकारान्त मंगलाचरण	१८८

सप्तम अधिकार ।

देवकुरु, उत्तरकुरु, कच्छादेश तथा चक्रवर्ती की दिग्विजय एवं विभूति वर्णन

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१	मंगलाचरण	१९०
२	गजदन्तों का अवस्थान एवं वर्ण	१९०
३	गजदन्तों पर स्थित कूटों के नाम	१९१
४	कूटों के स्वामी एवं उदय	१९२
५	भद्रशालवनों एवं उत्तमभोगभूमियों की अवस्थिति	१९५
६	उत्कृष्ट भोगभूमियों के धनुः पृष्ठ का प्रमाण	१९५
७	देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमि की जीवा का प्रमाण	१९६
८	देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमियों के बाण का प्रमाण	१९६
९	भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले जीवों का वर्णन	१९७
१०	जम्बूवृक्ष का स्थानादिक परिकर	१९८
११	परिवार वृक्षों की संख्या, प्रमाण एवं स्वामियों का निदर्शन	१९९
१२	शाल्मलि वृक्ष का वर्णन	२००
१३	यमक गिरि का स्वरूप	२०१
१४	विचित्र-चित्र नामक यमक पर्वतों का विवेचन	२०२
१५	सीता नदी स्थित पञ्चद्रहों का वर्णन	२०२
१६	सीतोदा नदी स्थित पंचद्रहों का वर्णन	२०३
१७	अन्य दस द्रहों की अवस्थिति	२०४
१८	कमलों, उनके भवनों व नागकुमारियों का वर्णन	२०५
१९	काञ्चन पर्वत का वर्णन	२०६
२०	दिग्गजपर्वतों का स्वरूप	२०७
२१	विदेह नाम की सार्थकता	२०८
२२	भद्रशाल आदि की वेदियों का प्रमाण	२०९
२३	विदेहस्थ कच्छा देश की अवस्थिति	२०९
२४	विजयार्ध वर्णन	२१०
२५	कूटोंके नाम, स्वामी, प्रमाण एवं परिधि	२११
२६	तमिस्र एवं प्रपात गुफा	२१२

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
२७	चौंसठ कुण्डों का वर्णन	२१३
२८	विदेहस्थ रक्ता-रक्तोदा का स्वरूप	२१३
२९	सीता सीतोदाके तोरण द्वारों का वर्णन	२१४
३०	आर्यखण्ड और म्लेच्छ खण्ड	२१५
३१	क्षेमपुरी की अवस्थिति एवं प्रमाण	२१६
३२	राजाधिराजा के लक्षण	२१८
३३	चक्रवर्ती की दक्षिण दिग्विजय	२१९
३४	उत्तर दिग्विजय में विजयार्धकी गुफा से निस्तीर्ण होने का विधान	२२१
३५	मध्यम म्लेच्छखण्ड में चक्रवर्ती का प्रवेश एवं उस पर आये हुए उपसर्ग	२२३
३६	चक्रवर्तीके मद एवं निर्मद होनेका कारण	२२४
३७	वृषभाचल वर्णन	२२४
३८	चक्रवर्ती के नगर प्रवेश का क्रम	२२५
३९	चक्रवर्तीके ग्राम, पुर और मटम्बों आदि का वर्णन	२२६
४०	चक्रवर्ती के बल, रूप और वैभव का वर्णन	२२७
४१	चक्रवर्ती की नवनिधियों के नाम, कार्य एवं उनके आकार का वर्णन	२२८
४२	चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के नाम और उनके उत्पत्ति स्थान	२३०
४३	चक्रवर्ती के अन्य भोग्य पदार्थ	२३१
४४	चक्रवर्ती के हथियारों एवं चौदह रत्नों के नाम	२३२
४५	चक्रवर्ती के भोज्य एवं पेय पदार्थ	२३४
४६	धर्म का फल	२३५
४७	धर्म प्रशंसा	२३६

अष्टम अधिकार
(विदेह क्षेत्रस्थ देशों का वर्णन)

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१	मंगलाचरण	२३७
२	चित्रकूट नाम के प्रथम वक्षार पर्वत का वर्णन	२३७
३	वक्षार पर्वतस्थ कूटों के नाम, स्थान और स्वामी	२३८
४	सुकच्छादेश और क्षेमपुरी का वर्णन	२३८
५	विभंगा नदी का निर्गम स्थान, परिवार नदियां	२३९
६	महाकच्छदेश स्थित अरिष्टानगरी	२४०
७	पद्मकूट वक्षार पर्वत की अवस्थिति	२४०
८	कच्छकावती देश, द्रहवती विभङ्गा, आवर्तदेश और नलिनकूट वक्षार की अवस्थिति	२४१
९	आगे के देशों, विभंगा नदी और वक्षार पर्वतों का कथन	२४१
१०	देवारण्य वन का वर्णन	२४३
११	देवारण्यस्थ प्रासादों का वर्णन	२४३
१२	देवारण्य का विस्तार	२४४
१३	अन्य वेदी, देश, वक्षार एवं विभंगा आदि की अवस्थिति	२४४
१४	पूर्व विदेह क्षेत्र के अवशेष देशों, पर्वतों एवं विभंगानदियों की अवस्थिति	२४६
१५	सुदर्शन मेरु पर्वत देशों, वक्षारों एवं नदियों का अवस्थान	२४७
१६	पश्चिम विदेह गत देशों, वक्षारों एवं नदियों का अवस्थान	२४८
१७	पद्मकावती देश के आगे अन्य २ देशों, विभंगानदियों एवं पर्वतोंकी अवस्थिति	२५०
१८	अवशेष देशों का अवस्थान	२५२
१९	पूर्वविदेहगत वक्षार पर्वतों आदि की अवस्थिति	२५३

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
२०	भद्रशाल की वेदी पर्यंत देशों, वक्षारों एवं विभंगा नदियों का अवस्थान	२५५
२१	वनों, वेदियों, वक्षार पर्वतों और देशों का आयाम	२५६
२२	विभंगा नदियों का आयाम	२५७
२३	विदेहस्थ रक्तादि ६४ नदियोंका आयाम	२५७
२४	विदेह का विस्तृत वर्णन	२५८
२५	जम्बूद्वीपस्थ समस्त पर्वतोंकी एकत्र संख्या	२६२
२६	अवशेष द्वीपों के पर्वतों की संख्या	२६२
२७	जम्बूद्वीपस्थ वन, वृक्ष, सरोवर एवं महादेशों की संख्या	२६२
२८	जम्बूद्वीपस्थ समस्त नदियों का विवेचन	२६३
२९	कुण्डों का प्रमाण एवं शेष द्वीपों के भद्रशाल आदि का प्रमाण	२६४
३०	विदेहक्षेत्र के प्रति आशीर्वचन	२६४
३१	अधिकारान्त मंगलाचरण	२६४

नवम अधिकार
(छह कालों का प्ररूपण)

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१	मंगलाचरण	२६६
२	छह कालों का सामान्य वर्णन	२६७
३	प्रथम काल का सामान्य वर्णन	२६७
४	दश प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन	२६७
५	भोगभूमि का अवशिष्ट वर्णन	२६९
६	भोगभूमिज जीवों की उत्पत्ति एवं वृद्धि का वर्णन	२६९
७	भोगभूमिज जीवों की अन्य विशेषताएँ	२७०
८	दाता और पात्रदान के भेदसे फलमें भेद	२७१
९	भोगभूमिज जीवोंकी मृत्यु का कारण और गतिबंध	२७१
१०	द्वितीय और तृतीय काल का वर्णन	२७१
११	कुलकरों का उत्पत्ति समय, प्रथम दो कुलकरों का वर्णन	२७३
१२	क्षेमंकर आदि तीन कुलकरों का वर्णन	२७४
१३	सीमंधर आदि चार कुलकरों का स्वरूप वर्णन	२७६
१४	अभिचंद्र और चंद्राभ कुलकरों का वर्णन	२७८
१५	मरुदेव, प्रसेनजित और नाभिराय कुलकरों का वर्णन	२८०
१६	ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती की दण्डनीति, ऋषभदेव का मोक्ष गमन	२८३
१७	चतुर्थ काल का वर्णन	२८४
१८	चौबीस तीर्थंकरों का वर्णन	२८५
१९	तीर्थंकरों का अन्तरकाल	२८६
२०	जिनधर्म का उच्छेदकाल	२९१
२१	हुण्डावसर्पिणी काल की विशेषताएँ	२९२
२२	बारह चक्रवर्तियों के नाम, उत्सेध व आयु	२९३
२३	चक्रवर्तियों का वर्तनाकाल	२९५
२४	चक्रवर्तियों की गति विशेष	२९५
२५	नव बलदेवोंके नाम, उत्सेध और आयु	२९६
२६	अन्य सम्पदा, शरीर वर्ण गति आदि का कथन	२९७
२७	बलभद्रों का वर्तना काल	२९७
२८	नव नारायण, नाम, स्वभाव, शरीर वर्ण और उत्सेध	२९८
२९	नारायणों की आयु का कथन	२९८
३०	नारायणों की विभूति का वर्णन	२९
३१	नारायणों की गति विशेष का वर्णन	२९
३२	प्रतिवासुदेवों के नाम, उत्सेध, वर्ण एवं स्वभाव	३०

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
३३	प्रतिवासुदेवों की आयु और गति	३००
३४	रुद्रों के नाम, उत्सेध एवं आयु	३०१
३५	रुद्रों का वर्तनाकाल	३०३
३६	रुद्रों द्वारा प्राप्त नरकगतिके मूल कारण	३०४
३७	नव नारदों का वर्णन	३०५
३८	पंचम काल का वर्णन	३०६
३९	शक राजा तथा प्रथम कल्की	३०६
४०	प्रथम कल्की एवं उसके पुत्र के कार्य	३०६
४१	अंतिम कल्की का स्वरूप एवं कार्य	३०७
४२	अतिदु:खमा काल का दिग्दर्शन	३०९
४३	दुर्वृष्टियोंके नाम एवं फल	३१०
४४	उत्सर्पिणी कालके प्रथम कालका वर्णन	३११
४५	,, ,, द्वितीय दुखमा कालका वर्णन	३१२
४६	तृतीय कालकी स्थिति एवं २४ तीर्थंकर	३१३
४७	आगामी १२ चक्रवर्ती	३१४
४८	भविष्यत् काल के बलभद्र, वासुदेव, प्रतिवासुदेव	३१५
४९	अवशेष तीन कालोंमें भोगभूमिकी रचना	३१६
५०	काल और अन्य क्षेत्र	३१६
५१	कालचक्रके परिभ्रमण से छूटनेका उपाय	३१८
५२	अधिकारान्त मंगलाचरण	३१८

दशम अधिकार
(मध्यलोक वर्णन)

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१	मङ्गलाचरण एवं प्रतिज्ञा	३२०
२	जम्बूद्वीप की परिधि और प्राकार का परिमाण	३२०
३	प्राकार स्थित वेदिका का निरूपण	३२०
४	चारों दिशाओं में स्थित द्वारों के नाम, प्रमाण व उन पर स्थित जिनप्रतिमाओं का निरूपण	३२१
५	गोपुरद्वारों के अधिनायक व नगरों का वर्णन	३२१
६	चारों द्वारों का अन्तर व बाह्याभ्यन्तर स्थित वनों का निरूपण	३२२
७	लवण समुद्र की अवस्थिति व स्वामी	३२३
८	लवणसमुद्रान्तर्गत पातालों के नाम, उनका अवस्थान व संख्या	३२३
९	पातालों का अवगाह	३२४
१०	पातालोंके अभ्यन्तरवर्ती जल और वायु के प्रवर्तन का क्रम	३२५
११	अमावस्या एवं पूर्णिमा को हानिवृद्धि-रूप होनेवाले जलके भून्यास आदि का प्रमाण	३२६
१२	पातालोंके पारस्परिक अन्तरका प्रमाण	३२७
१३	लवणसमुद्र के प्रतिपालक नागकुमार आदि देवों के विमानों की संख्या	३२६
१४	बत्तीस पर्वतों के नाम, प्रमाण एवं आकार का निरूपण	३२९
१५	पर्वतों पर स्थित द्वीपों का व पर्वत के स्वामियों का कथन	३३१
१६	वायव्य दिशा स्थित गौतम द्वीप का विस्तृत वर्णन	३३१
१७	२४ अन्तरद्वीपों का विस्तृत वर्णन	३३२
१८	कुभोगभूमिज मनुष्यों की आकृति, आयु, वर्ण, आहार व उनके रहने के स्थान आदि का वर्णन	३३३
१९	कुभोगभूमिमें कौन जीव उत्पन्न होते हैं ?	३३५
२०	लवणसमुद्र के अन्य चौबीस द्वीप	३३६
२१	कालोदधि समुद्र के २४ द्वीप	३३७

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
२२	लवणसमुद्र का अवगाह और उसकी सूक्ष्मपरिधि का प्रमाण	३३७
२३	धातकीखण्डस्थ मेरुपर्वतों का अवस्थान	३३६
२४	धातकी खण्डके पर्वत अवरुद्ध क्षेत्र का प्रमाण	३४१
२५	धातकी खण्डस्थित क्षेत्रों एवं पर्वतों का विष्कम्भ	३४१
२६	ह्रद, कुण्ड और नदियोंके विस्तार का निरूपण	३४४
२७	धातकी खण्डस्थ सरोवरों का व्यास	३४४
२८	„ „ कुण्डों का व्यास	३४५
२९	„ „ गंगादि नदियों का पर्वतों पर ऋजु प्रवाह का प्रमाण	३४५
३०	गंगा, सिन्धु आदि नदियों के निर्गम स्थानों का व्यास	३४५
३१	धातकीखण्डस्थ पूर्वविदेह के मेरुपर्वत का प्रमाण	३४६
३२	विजयमेरु पर्वत के सम्पूर्ण विष्कम्भ एवं परिधियों का प्रमाण	३४६
३३	भद्रशाल वन, गजदन्त और देवकुरु उत्तरकुरु का आयाम	३४८
३४	धातकी वृक्षों की अवस्थिति, विदेहक्षेत्र के विभाग व नाम	३४९
३५	देशों के खण्ड एवं कच्छादि देशों का विस्तार	३४९
३६	धातकी खण्ड विदेहस्थ वक्षार पर्वतों का आयाम	३५०
३७	देवारण्य-भूतारण्य वनों का आयाम	३५१
३८	विभंगा नदियों का आयाम	३५१
३९	कुण्डों, विजयार्ध पर्वतों, गंगादि ६४ नदियों का विस्तार	३५२

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
४०	पश्चिम धातकी खण्ड की व्यवस्था	३५३
४१	धातकीखण्डस्थ यमकगिरि आदि पर्वतों की संख्या	३५३
४२	धातकीखंडस्थ भोगभूमियों, कर्मभूमियों, पर्वतों, नदियों एवं ह्रदादिकों की संख्या व अधिपति देव	३५४
४३	कालोदधि समुद्रका विस्तृत वर्णन	३५५
४४	पुष्कर द्वीप का विस्तृत वर्णन	३५६
४५	पुष्करार्धद्वीप का सूची व्यास, परिधि और पर्वत अवरुद्ध क्षेत्र का प्रमाण	३५७
४६	पुष्करार्ध स्थित १२ कुलाचलोंके व्यास आदि का प्रमाण	३५८
४७	पुष्करार्ध स्थित क्षेत्रोंका आकार व व्यास	३५९
४८	पुष्करार्ध स्थित सरोवरों, नदियों, कुण्डों, वनों व गजदन्तों का व्यास	३६१
४९	देवकुरु-उत्तरकुरु के बाण तथा उभय विदेह, वक्षार पर्वत, विभंगा नदी और देवारण्य-भूतारण्य के व्यास का प्रमाण	३६३
५०	वक्षार, देश, देवारण्य आदि वन तथा विभंगा नदियों के आयाम व उसमें हानिवृद्धि का प्रमाण	३६३
५१	पुष्करार्धस्थ समस्त विजयार्धों के व्यास आदि का प्रमाण	३६४
५२	गंगादि क्षुल्लक नदियों के और कुण्डों के व्यास का प्रमाण	३६४
५३	पुष्करार्धद्वीपस्थ वृक्ष, पर्वत, वेदी कुण्ड और द्वीप के रक्षकदेव	३६६
५४	अढ़ाई द्वीपस्थ पर्वतों और नदियों की एकत्र संख्या	३६६
५५	सभी विदेहस्थ आर्यखंडोंकी विशेषताएँ	३६८
५६	मानुषोत्तर पर्वत का विस्तृत वर्णन	३७०

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
५७	ढाई द्वीपके आगे मनुष्य नहीं; केवल तिर्यञ्च हैं।	३७१
५८	पुष्करवर द्वीप के आगे के द्वीप समुद्रों के नाम व स्वामी	३७२
५९	नन्दीश्वर नाम के अष्टम द्वीप की अवस्थिति	३७३
६०	अंजनगिरि पर्वत और वापिकाओं का अवस्थान	३७४
६१	सोलह वापिकाओं के नाम और उनके स्वामी	३७५
६२	दधिमुख पर्वतों की संख्या, अवस्थान, वर्ण और व्यास	३७६
६३	रतिकर पर्वतों एवं सब जिनालयों का वर्णन	३७७
६४	अशोक आदि वन एवं चैत्यवृक्ष	३७८
६५	वन स्थित प्रासादों व अष्टाह्निकी पूजा का वर्णन	३७९
६६	इन्द्रों द्वारा एक ही दिन में चारों दिशाओं की पूजन का विधान	३७९
६७	नन्दीश्वर द्वीप के स्वामी	३८१
६८	नन्दीश्वर समुद्र की एवं दो द्वीपों की अवस्थिति	३८२
६९	कुण्डलद्वीपस्थ कुण्डलगिरि के व्यास का प्रमाण	३८२
७०	कुण्डलगिरिस्थ कूटोंका अवस्थान, संख्या व व्यास	३८२
७१	शंखवरद्वीप और रुचकद्वीपकी अवस्थिति	३८३
७२	रुचकगिरि पर स्थित कूटोंका अवस्थान, संख्या और स्वामी	३८४
७३	कुछ द्वीप समुद्रों के नाम एवं उनकी अकृत्रिमता	३८६
७४	अन्तिम द्वीप एवं समुद्र का नाम, अवस्थान तथा व्यास	३८७
७५	नागेन्द्र पर्वत, तिर्यग्लोकके अन्तमें अवस्थित कर्मभूमि और उसमें रहने वाले तिर्यंचों का कथन	३८७
७६	बाह्य पुष्करार्धके रक्षकदेव और मानुषोत्तर पर्वत की परिधि का प्रमाण	३८८
७७	महामत्स्यों का व्यास	३८९
७८	एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों के शरीर का आयाम	३९०
७९	समुद्रों के जलों का स्वाद	३९१
८०	स्वयम्भूरमण समुद्र का व्यास	३९२
८१	उपसंहार	३९२
८२	अधिकारान्त मंगलाचरण	३९२

एकादश अधिकार
(जीवों के भेद-प्रभेदों का वर्णन)

१	मंगलाचरण	३९४
२	जीव के भेद और सिद्ध जीव का स्वरूप	३९४
३	स्थावर जीवों के भेद	३९४
४	जीवों की कुल योनियां	३९५
५	पृथ्वी के चार भेद और उनके लक्षण	३९५
६	जल, अग्नि और वायु के चार-चार भेद	३९६
७	वनस्पति के भेद और लक्षण	३९७
८	पंच स्थावरों के चेतन/अचेतन भेद	३९७
९	मृदु पृथ्वीकायिक जीवों के भेदों का निरूपण	३९८
१०	खर पृथ्वी के भेदों का निरूपण	३९८
११	पृथ्वीकायिक पृथ्वी से बने हुए पर्वत एवं प्रासादों का कथन	३९९

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१२	जलकायिक जीवोंके भेदों का प्रतिपादन	३९९
१३	अग्निकायिक जीवों का प्रतिपादन	४००
१४	वायुकायिक जीवों के स्थानों का वर्णन	४०१
१५	वनस्पतिकायिक जीवों के भेद	४०१
१६	साधारण वनस्पतिकायिक जीवों के लक्षण	४०३
१७	स्कन्ध, अण्डर आदि का प्रतिपादन	४०४
१८	बादर अनन्तकाय जीव	४०५
१९	साधारण, प्रत्येक, सूक्ष्म एवं बादर जीवोंके लक्षण और उनके निवास क्षेत्र	४०५
२०	त्रस जीवों के भेद	४०६
२१	जीवों की कुलकोटियां	४०७
२२	योनियों के भेद-प्रभेद, आकार और स्वामी	४०८
२३	जीवों के शरीरों की अवगाहना	४१०
२४	जीवों के संस्थानों का कथन	४११
२५	जीवों के संहननों का विवेचन	४११
२६	जीवों के वेदों का कथन	४१३
२७	जीवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु	४१३
२८	स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियों की आकृति	४१४
२९	इन्द्रियों के भेद-प्रभेद	४१५
३०	पांचों इन्द्रियों के विषयों का स्पर्श	४१५
३१	एकेन्द्रियादि जीवोंकी संख्या का प्रमाण	४१७
३२	जीवों के प्रमाण का अल्पबहुत्व	४१९
३३	नरकगति अपेक्षा अल्पबहुत्व	४२०
३४	तिर्यञ्चगति अपेक्षा अल्पबहुत्व	४२१
३५	मनुष्यगति अपेक्षा अल्पबहुत्व	४२२
३६	देवगति अपेक्षा अल्पबहुत्व	४२३
३७	जीवों की पर्याप्ति और प्राणों का कथन	४२५
३८	जीवों की गति-आगति का प्रतिपादन	४२६
३९	धर्म-प्राप्ति के लिये जीवरक्षा का उपदेश	४२८
४०	अधिकारान्त मंगल	४२८

द्वादश अधिकार/चतुर्निकाय के देवों का वर्णन भवनवासी देव

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१	मंगलाचरण	४३०
२	देवों के मूल चार भेद और उनके स्थान	४३०
३	भवनवासी देवों के स्थान	४३१
४	उनका प्रमाण	४३२
५	उनकी दश जातियां और उनकी कुमार संज्ञा की सार्थकता	४३२
६	असुरकुमारादि देवों के वर्ण और चिह्न	४३२
७	भवनवासी देवोंके भवनोंकी पृथक् पृथक् संख्या	४३३
८	दस कुल सम्बन्धी २० इन्द्रों के नाम, उनका दिशागत अवस्थान और प्रतीन्द्रों की संख्या	४३३
९	दक्षिणेन्द्रों और उत्तरेन्द्रों के भवनों की संख्या	४३५
१०	भवनों का प्रमाण तथा कल्पवृक्षों का वर्णन	४३६
११	मानस्तम्भों का वर्णन	४३७
१२	इन्द्रादिक के भेद	४३७
१३	इन्द्रादिक पदवियों के दृष्टान्त	४३८
१४	लोकपालों का अवस्थान	४३८
१५	प्रत्येक इन्द्र के त्रायस्त्रिंश, सामानिक और अंगरक्षक देवों की संख्या	४३९
१६	पारिषद देवों की संख्या	४४०
१७	अनीक देवों के भेद और चमरेन्द्र के महिषियों की संख्या	४४१

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१८	चमरेन्द्र के अनीकों की सम्पूर्ण संख्या और वैरोचन के महिषों की संख्या	४४३
१९	भूतानन्द की सातों अनीकों व धरणानन्द की प्रथम अनीक की संख्या	४४५
२०	प्रत्येक इन्द्र की अनीकों का एकत्र योग	४४६
२१	असुरकुमारादि देवोंकी देवांगनाओं का प्रमाण	४४६
२२	चमरेन्द्रादि इन्द्रों के पारिषद, अंगरक्षक और अनीक आदि देवांगनाओंका प्रमाण	४४७
२३	असुरेन्द्र आदि दसों इन्द्रों की आयु का कथन	४४९
२४	इन्द्रादिकों की और उत्तरेन्द्रों की आयु का निरूपण	४४९
२५	चमरेन्द्र आदि इन्द्रों की देवांगनाओं की आयु	४५०
२६	चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के अंगरक्षकों, सेना महत्तरों व अनीक देवों की आयु	४५०
२७	चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के पारिषद् देवों की आयु	४५१
२८	असुर कुमार आदि इन्द्रों के शरीर की ऊँचाई, उच्छ्वास एवं आहार का क्रम	४५२
२९	भवनवासी देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र	४५३
३०	इन्द्रों की परस्पर स्पर्धा	४५४
३१	सिद्धान्तसार रूप श्रुतको पढ़नेकी प्रेरणा	४५४
३२	अधिकारान्त मंगल	४५४

त्रयोदश अधिकार/व्यन्तरदेवों का वर्णन

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१	मंगलाचरण एवं प्रतिज्ञा	४५६
२	व्यन्तर देवों के आठ भेद	४५६
३	व्यन्तर देवों के शरीर का वर्ण	४५७
४	उनके मुख्य आठ कुलों के अवान्तर भेद	४५७
५	किन्नर और किम्पुरुष कुलों के अवान्तर भेद	४५७
६	अन्य देवों के अवान्तर नाम	४५८
७	प्रत्येक कुल के इन्द्र, प्रतीन्द्र और वल्लभिकाएँ	४५९
८	व्यन्तर देवों के निवास स्थान और उनके पुर	४६०
९	प्राकार, द्वार, प्रासाद, सभामण्डप एवं चैत्यवृक्ष	४६२
१०	चैत्यवृक्षों में स्थित प्रतिबिम्ब और मानस्तम्भ	४६३
११	वनों एवं नगरों का कथन	४६४
१२	किन्नर आदि सोलह इन्द्रों की ३२ गणिका महत्तरों के नाम	४६४
१३	व्यन्तर देवोंके नगरों एवं कूटोंका प्रमाण	४६५
१४	व्यन्तर देवोंके निवासस्थानों का विभाग	४६६
१५	व्यन्तरेन्द्रों के परिवार देवों का विवेचन	४६७
१६	नित्योपपादादि वानव्यन्तर देवों का निवास क्षेत्र	४६९
१७	व्यन्तर देवों की जघन्योत्कृष्ट आयु, अवगाहना, आहार, श्वासोच्छ्वास और अवधिज्ञान के विषय का प्रमाण	४७०
१८	करणानुयोग पठन की प्रेरणा	४७१
१९	अधिकारान्त मंगल	४७१

चतुर्दश अधिकार/ज्योतिषी देवों का वर्णन

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
१	मंगलाचरण	४७३
२	ज्योतिषी देवों के भेदों का प्ररूपण	४७३
३	ज्योतिर्देवों के स्थान का निर्देश	४७३
४	ज्योतिर्विमानों का स्वरूप	४७५
५	उनके व्यास का प्रमाण	४७५

क्रम सं०	पृष्ठ सं०
६ सूर्यचन्द्र आदि ग्रहों की किरणों का प्रमाण	४७७
७ तारागणों का तिर्यगन्तर, चन्द्र सूर्य ग्रहण का कारण एवं चन्द्रकलाओं में हानि-वृद्धि का कारण	४७८
८ चन्द्रादिक ज्योतिषी देवों के विमान वाहक देवों का आकार और संख्या	४७९
९ मनुष्यलोकमें स्थित चन्द्र-सूर्यों की संख्या	४८१
१० एक चन्द्र के परिवार का निरूपण	४८२
११ जम्बूद्वीपस्थ भरतादि क्षेत्रों और कुला-चलों की ताराओं का विभाजन	४८२
१२ अढ़ाई द्वीपस्थ प्रत्येक द्वीप के ज्योति-विमानों की पृथक्-पृथक् संख्या	४८४
१३ चन्द्रमा के अवशेष परिवार देवोंके नाम नृलोक में ज्योतिर्देवोंका गमन क्रम और मानुषोत्तर के आगे ज्योतिर्देवों की अव-स्थिति	४८५
१४ मनुष्यलोक की ध्रुवताराओंका प्रमाण	४८६
१५ मेरुसे ज्योतिष्क देवोंकी दूरी का प्रमाण उनके गमन का क्रम, एक सूर्य से दूसरे सूर्य का एवं सूर्य से वेदी के अन्तर का प्रमाण	४८६
१६ मानुषोत्तर पर्वत के बाह्यभाग में सूर्य-चंद्र आदि ग्रहोंके अवस्थानका निर्धारण	४८८
१७ प्रत्येक द्वीप-समुद्र में वलयों का प्रमाण	४९१
१८ सूर्यचन्द्रक चार क्षेत्रोंका प्रमाण, उनका विभाग एवं उनकी वीथियों का प्रमाण	४९१
१९ सूर्य चन्द्र के गमन का प्रकार	४९४
२० अट्ठाईस नक्षत्रों के नाम	४९५
२१ प्रत्येक नक्षत्र के ताराओं की संख्या तथा परिवार ताराओं का प्रमाण प्राप्त करने की विधि	४९५
२२ जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट नक्षत्रों के नाम व संख्या	४९७
२३ ताराओं के आकार विशेष	४९७
२४ ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु	४९९
२५ सूर्यचन्द्र की पट्ट देवियां, परिवार देवियां एवं उनकी आयु का प्रमाण	४९९
२६ ज्योतिष्क देवोंके अवधिक्षेत्र और भवन-त्रिक देवों के गमनक्षेत्र का कथन	५००
२७ ज्योतिष्क देवों के शरीर का उत्सेध, निःकृष्ट देवों की देवांगनाओं का प्रमाण और भवनत्रय में जन्म लेनेवाले जीवों का आचरण	५०१
२८ करणानुयोग के शास्त्रों के अध्ययन की प्रेरणा	५०१
२९ अधिकारान्त मंगलाचरण	५०२

पञ्चदश अधिकार/ऊर्ध्वलोक वर्णन

१ मंगलाचरण	५०३
२ सोलह स्वर्गों के नाम और उनका अवस्थान	५०३
३ इन्द्रों का प्रमाण	५०४
४ इन्द्रों के नाम और उनकी दक्षिणेन्द्र संज्ञा का विवेचन	५०४
५ कल्प-कल्पातीत विमानों का और सिद्ध-शिला का अवस्थान	५०४
६ मेरुतल से कल्प और कल्पातीत विमानों का अवस्थान	५०५
७ पटलों का प्रमाण	५०६
८ सौधर्मादि स्वर्गों के विमानों का प्रमाण	५०७
९ सोलह स्वर्गों के इन्द्रक विमानों के नाम	५०८

क्रम सं०	पृष्ठ सं०
१० ऋतु इन्द्रक की अवस्थिति एवं इन्द्रों के स्वामित्व की सीमा	५११
११ इन्द्रक विमानों का प्रमाण	५११
१२ श्रेणीबद्ध विमानों के अवस्थान का स्वरूप	५१३
१३ प्रकीर्णक विमानों का स्वरूप और अवस्थान	५१४
१४ इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानों के प्रमाण का कथन	५१७
१५ विमानों के आधार स्थान का निरूपण	५२०
१६ स्वर्गस्थ विमानों का वर्ण	५२०
१७ प्रथम इन्द्रकके एक दिशा संबंधी श्रेणीबद्ध विमानों का अवस्थान	५२१
१८ दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र के विमानों का विभाग	५२२
१९ इन्द्र स्थित श्रेणीबद्ध विमानों का कथन	५२३
२० सौधर्मादि देवोंके मुकुट चिह्न	५२४
२१ इन्द्रों के वाहनों का निरूपण	५२५
२२ प्रमुख विमानों की चारों दिशाओं में स्थितविमानोंके नामों का निरूपण	५२६
२३ विमानों के तल बाहुल्य का निरूपण	५२७
२४ सौधर्मादि इन्द्रों के नगरों का विस्तार	५२८
२५ नगरों के प्राकारों की ऊँचाई	५२९
२६ प्राकारों की नींव और व्यासका प्रमाण	५२९
२७ सौधर्मादि बारह स्थानोंमें ग्रहोंकी स्थिति	५३१
२८ इन्द्र के नगर सम्बन्धी प्राकारों की संख्या और उनके पारस्परिक अंतरका प्रमाण	५३३
२९ कोटों के अन्तरालोंमें स्थित देवों के भेद	५३४
३० सामानिक, तनुरक्षक और अनीक देवों का प्रमाण	५३४
३१ दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्रके अनीक नायकों के नाम	५३५
३२ नव स्थानों में तीनों परिषदों का पृथक्-पृथक् प्रमाण	५३६
३३ वनों के नाम तथा उनका प्रमाण, चैत्य-वृक्षों का स्वरूप	५४०
३४ लोकपालों के नाम, उनके नगरों का स्वरूप एवं प्रमाण	५४०
३५ गणिका महत्तरियों के नाम एवं उनके आवासों के प्रमाण	५४१
३६ इन्द्रों की वल्लभाओंका प्रमाण एवं उनके प्रासादों की ऊँचाई आदि का प्रमाण	५४२
३७ प्रत्येक इन्द्र की आठ-आठ महादेवियाँ उनकी विक्रियागत देवांगनाएँ व परिवार देवांगनाएँ	५४४
३८ समस्त महादेवियोंके प्रासादों की ऊँचाई आदि का प्रमाण	५४६
३९ इन्द्र के आस्थान मण्डप का अवस्थान एवं प्रमाण	५४७
४० आस्थान मण्डप के द्वार, उनका प्रमाण एवं इन्द्र के सिंहासन का अवस्थान	५४७
४१ महादेवियों के, लोकपालों के और अन्य देवों के सिंहासनों का अवस्थान	५४८
४२ आस्थान मण्डप के आगे स्थित मान-स्तम्भ का स्वरूप व प्रमाण	५४९
४३ इन्द्रों की उत्पत्ति गृहका अवस्थान	५५२
४४ कल्पवासी देवांगनाओं के उत्पत्तिस्थान	५५२
४५ कल्पवासी देवों के प्रवीचार का कथन	५५३
४६ वैमानिक देवों के अवधिज्ञान का विषय, क्षेत्र एवं विक्रिया शक्ति में प्रमाण का कथन	५५४

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
४७	वैमानिक देवों के जन्ममरण के अन्तर का निरूपण	५५५
४८	इन्द्रादिकोंके जन्ममरण का उत्कृष्ट अंतर	५५६
४९	देव विशेषों के अन्तिम उत्पत्ति स्थानों का प्रतिपादन	५५७
५०	प्रथमादि युगलों में स्थित देवों की स्थिति विशेष	५५७
५१	देवों में आयु की हानि एवं वृद्धि के कारण तथा आयु का प्रमाण	५६१
५२	कल्पवासी देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण	५६२
५३	देवांगनाओं की (अन्य शास्त्रोक्त) उत्कृष्ट आयु	५६३
५४	देवों के शरीर का उत्सेध	५६४
५५	वैमानिक देवों के आहार एवं उच्छ्‌वास के समय का निर्धारण	५६५
५६	लौकान्तिक देवों के अवस्थान का स्थान एवं उनकी संख्या का प्रतिपादन	५६७
५७	लौकान्तिक देवों के विशेष स्वरूप का एवं उनकी आयु का प्रतिपादन	५६९
५८	किस-किस संहनन वाले जीव कहां तक उत्पन्न होते हैं ?	५७१
५९	वैमानिक देवों की लेश्या का विभाग	५७१
६०	वैमानिक देवों के संस्थान एवं शरीर की विशेषता	५७२
६१	देवों की ऋद्धि आदि का वर्णन	५७३
६२	वैमानिक देवों का विशेष स्वरूप एवं उनके सुख का कथन	५७३
६३	उत्पन्न होने के बाद देवगण क्या-क्या विचार करते हैं,	५७४
६४	पूर्वभव में किये हुए धार्मिक अनुष्ठान आदि का तथा धर्म के फल का चिंतन	५७५

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
६५	इन्द्रादि देवों द्वारा की जाने वाली जिनेन्द्र पूजा	५७७
६६	मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की पूजन के अभिप्राय में अन्तर तथा सम्यक्त्व प्राप्ति का हेतु	५७८
६७	अकृत्रिम-कृत्रिम जिनबिम्बों के पूजन-अर्चन का वर्णन	५७९
६८	इन्द्रादि देवोंके इन्द्रियजन्य सुखोंका वर्णन	५८०
६९	किन क्रियाओं द्वारा स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति होती है ?	५८१
७०	कौन-कौन से जीव किन-किन स्वर्गों तक उत्पन्न होते हैं ?	५८२
७१	स्वर्गों से च्युत होने वाले देवों को प्राप्त गति का निर्धारण	५८३
७२	स्वर्गस्थित मिथ्यादृष्टि देवोंके मरणचिह्न; उन्हें देखकर होने वाला आर्तध्यान और उसका फल	५८४
७३	मरणचिह्नों को देखकर सम्यग्दृष्टि देवों का चिन्तन	५८५
७४	धर्म के फल का कथन तथा व्रत-तप आदि करने की प्रेरणा	५८७
७५	धर्म की महिमा	५८७
७६	अधिकारान्त मंगलाचरण	५८७

षोडश अधिकार/पल्यादि मान वर्णन

१	मङ्गलाचरण	५८९
२	अष्टम पृथ्वी की अवस्थिति और उसका प्रमाण	५८९
३	सिद्ध शिला की अवस्थिति, आकार एवं प्रमाण	५८९
४	सिद्ध भगवान् का स्वरूप	५९०
५	सिद्धों के सुखों का वर्णन	५९०

क्रम सं०		पृष्ठ सं०
६	अधोलोकजन्य प्रत्येक भूमिका भिन्न-भिन्न घनफल	५९१
७	प्रत्येक स्वर्ग का भिन्न-भिन्न घनफल	५९२
८	लोक और लोकोत्तर मानों का वर्णन	५९३
९	द्रव्यमान के भेद-प्रभेद	५९४
१०	उपमा मान के आठ भेद	५९९
११	व्यवहार पल्य और उसके रोमों की संख्या	५९९
१२	उद्धार पल्य और द्वीप समुद्रोंका प्रमाण	६००
१३	आधार (अद्धा) पल्य एवं आधार सागर का प्रमाण	६०१
१४	सूच्यंगुलसे लेकर लोक पर्यंतका प्रमाण	६०२
१५	अणु का लक्षण व अंगुल पर्यन्त मापों का प्रमाण	६०३
१६	अंगुलों के भेद और उनका प्रमाण	६०४
१७	किन अंगुलों से किन-किन पदार्थों का माप होता है ?	६०५
१८	क्षेत्रमान का ज्ञापन कराने के लिये मान का प्रमाण	६०५
१९	काल मान के प्रमाण का दिग्दर्शन	६०५
२०	व्यवहार काल के भेदों में से पूर्वांग आदि के लक्षण	६०६
२१	भाव मान का वर्णन	६०९
२२	ग्रन्थ रचना का आधार	६०९
२३	ग्रन्थ के प्रति आशीर्वचन	६१०
२४	ग्रन्थ के स्वाध्याय से फल प्राप्ति	६११
२५	शास्त्र श्रवण करने का फल	६११
२६	शास्त्र लेखन का फल	६१२
२७	शास्त्र लिखवाने का फल	६१२
२८	शास्त्र अध्ययन कराने का फल	६१३
२९	इस ग्रन्थ की रचना करके आचार्य श्री क्या चाहते हैं ?	६१३
३०	आचार्यश्री की मंगल याचना	६१४
३१	सिद्धान्तग्रन्थ की वृद्धि की वाञ्छा	६१४
३२	कुल श्लोक संख्या की सूचना	६१४

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१६	सममघापि	सममद्यापि
१७	४	कारणों	करणों
२३	१२	(पडत) आत्मक	(पडतात्मक)
२५	१६	आकार	आकर
२६	१४	तमिश्र:	तमिस्र:
२६	१	पथ्वियों	पृथ्वियों
३५	३	क्रोशार्धार्धधिकं	क्रोशार्धार्धाधिकं
३६	८	मघा	मेघा
३६	६,१६	व्यास क्षेत्र	व्यास क्षेत्र
४५	मघवी पृथ्वी	३–१८$\frac{3}{5}$	२०$\frac{3}{5}$
५३	१६	वाला	वाली
५६	७	भवप्रयय	भवप्रत्यय
५७	२४	स्तद्विहान्य	स्तद्विहान्यै
५७	२४	शिवाप्त्य	शिवाप्त्यै
६०	२६	बह्वय:	बह्वच:
६२	३	उद्धत	उद्यत
६२	१८	हाते	होते
६४	१५	भार	भाड़
६६	१३	भर्त्स्ना	भर्त्सना
७२	१	स्वयमागत्यसीवोष्णा····	स्वयमागत्य तीव्रोष्णा···
७५	२१	····ऽबरात्	····ऽम्बरात्
८८	१४	ततो	ततो
६१	तालिका/भरत	२१०५२६३$\frac{3}{5}$	२१०५२६३$\frac{3}{5}$
६१	१६	पूने	ने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९१	१८	और वें	और पूर्व
९७	३ उत्तरभरत	१४४७१$\frac{६}{६}$	१४४७१$\frac{६}{१९}$
१०४	१ हिमवन्	१७$\frac{३}{४}$ यो०	१८$\frac{३}{४}$ यो०
११२	तालिका, श्रीदेवी	$\frac{१}{२}$ कोस	$\frac{१}{२}$ कोस
१२५	६	व्यास	व्यास
१२६	१०	गंगानदियों	गंगादिनदियों
१४७	१२	शालाट्टलक पंक्त्य:	शालाट्टालकपंक्त्य:
१५१	२३	विषयाशक्त	विषयासक्त
१७१	२०	वादियों	वादित्रों
१७२	१	२०००	२००००
१७२	२१	आदि को	को आदि
१७७	४	सद्धहस्ता	सद्धस्ता
१७९	१७	छोटा	छोटी
१८८	९	चैत्यालयों	चैत्यालयों को
१९३	२६	कूटों का	कूट को
१९७	२०	निहार	नीहार
२००	११	बाह्य परिषद	बाह्यपरिषद
२०२	२	शोभायमान उन्नत	शोभायमान
२१३	६	चतु:षष्ठि	चतु: षष्ठि
२२१	१	नाम को	नाम के
२२२	१७	प्रदेश	प्रवेश
२३१	२५	परांह्नि	पराङ्घ्रि
२३८	१३	की क्रमश:	की ऊँचाई क्रमश:
२४८	५	ततोत्पर	ततोऽपर
२५२	२३	विरहन्ति	विहरन्ति
२६३	९	विभाङ्गाख्या	विभङ्गाख्या
२६६	५	के ज्ञान	को ज्ञान
२६९	२७	बुद्धि	वृद्धि
२७५	१	सहस्रसंखयया	सहस्रसंख्यया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८१	२८	किया गया था	किया था
२९१	१०	पद्यप्रभु	पद्मप्रभु
२९२	६	वक्तृश्रोतृपत्पाद्य	वक्तृश्रोतृग्रस्याद्य
३००	१७	स्याज्जरासंघो	स्याज्जरासिन्धो
३०१	१६	विषयाशक्ति	विषयासक्ति
३०३	२३	अर्थ:—× × ×	ऋषभनाथ के काल में पृथ्वीपर भीम और बलि ये दो रुद्र हुए
३१७	१०	नराकाङ्क्षिनाम्	नरकाङ्क्षिनाम्
३२६	६,७	५३६	ड३६
३२४	२७	भोगकुभूमिज	कुभोगभूमिज
३३७	२६	कहा गई	कहा गया
३४८	२३	दो-दो	दो
३५२	२	५२९९०९३४६	५२९०९९३४६
३६४	२८	पूर्वोक्तप्रमाण ( )	पूर्वोक्त प्रमाण (१० यो.)
३७३	२०	सहेस्रे	सहस्रे
३८०	३	जिनचार्नां	जिनार्चानां
३९१	२३	घलवारिधौ	घृतवारिधौ
३९२	२४	× × ×	तथा अपने मन वचनको शुद्ध करके पढ़ें।
४०१	१	अनिलयोनियों	अनलयोनियों
४०३	२	वल्जी	वल्ली
४१९	२३	× × ×	भवनवासियों
४२३	१९	देवगति	देवगति की
४२७	६	पर्याप्तपर्याप्ता	पर्याप्तापर्याप्त
४२७	९	पर्याप्तापर्याप्त	पर्याप्तपर्याप्ता
४२८	२५	विरच्यते	विरचिते
४३६	२९	वेतयोवृक्षोऽथप्रिसङ्गुः	वेतसोवृक्षोऽथप्रियङ्गुः
४४१	२०	आद्याइच	आद्याश्च
४५१	१९	कहते	करते

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६३	६	१२½ योजन चौड़े	१२½ योजन लम्बे
४६३	१६	अष्टांह्रिपा	अष्टांघ्रिपा
४६५	२४	तिस्रस्त्रिस्त्रस्तु	तिस्रस्तिस्रस्तु
५०१	१,१४	संशक्ता	संसक्ता
५०४	२१	भवातारी	भवावतारी
५१७	२५	र'शि	विमानराशि
५२६	१२	योजनां	योजनानां
५३१	७	योजनां	योजनानां
५३५	५	आदिचार	आदि के चार
५५४	६	विक्रिया शक्ति में	विक्रिया शक्ति के
५६४	३	मध्येऽनोय	मध्येऽनये
५७४	१७	पूर्वोजित	पूर्वाजित
५७६	१८	विभूति अष्ट	विभूति सहित अष्ट
५८६	२२	किसी पुण्य रूप	पुण्यरूप किसी
६१३	१७	सते वें	ते सर्वे

मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ! ॐ नमः सिद्धेभ्यः !! ॐ नमः सिद्धेभ्यः !!!

ॐ कारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलंकाः ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्य गुरवे नमः । सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्द्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं "श्री सिद्धान्तसार दीपक" नामधेयं, एतन्मूलग्रन्थकर्त्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारतामासाद्य पूज्य भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचितम् इदं शास्त्रं । वक्तारः श्रोतारश्च सावधानतया शृण्वन्तु ।

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम् ॥

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

भट्टारक सकलकीर्ति विरचित

सिद्धान्तसार दीपक

(अपर नाम–त्रिलोकसार दीपक)

सर्व प्रथम ग्रन्थ की आदि में भट्टारक सकलकीर्त्याचार्य मङ्गलाचरण करते हुये कहते हैं कि—

श्रीमन्तं त्रिजगन्नाथं सर्वज्ञं सर्वदर्शिनम् ।
सर्वयोगीन्द्रवन्द्याङ्घ्रिं वन्दे विश्वार्थदीपकम् ।।१।।

अर्थः— जो अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्ग और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरंग लक्ष्मी से युक्त हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, समस्त योगिराजों के द्वारा जिनके चरण वन्दनीय हैं तथा जो विश्व के पदार्थों को प्रकाशित करने के लिये दीपक हैं ऐसे तीनलोक के नाथ जिनेन्द्रभगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१।।

अब आदि जिनेन्द्र श्री ऋषभदेव का स्तवन करते हैं—

दिव्येन ध्वनिना येन कालादौ धर्मवृत्तये ।
लोकालोकपदार्थौघा विश्वतत्त्वादिभिः समम् ।।२।।

प्रोक्ता आर्यगणेशादीनग्रजं तं जिनेशिनाम्[1] ।
विश्वार्च्यं विश्वकर्तारं धर्मचक्राधिपं स्तुवे ।।३।।

अर्थः—जिन्होंने युग के प्रारम्भ में (तृतीयकाल के अन्त में) धर्म की प्रवृत्ति चलाने के लिये दिव्यध्वनि के द्वारा आर्यगणधरादिकों को समस्त तत्त्वों के साथ लोक अलोक के पदार्थ समूहका

---

१ गणेशिनाम् अ०

उपदेश दिया था, जो अन्य तेईस तीर्थङ्करों के अग्रज थे, विश्व के द्वारा पूजनीय थे, कर्मभूमिकी व्यवस्था करने से विश्व के कर्ता और धर्म चक्रके अधिपति थे उन प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेवकी स्तुति करता हूँ ।।२–३।।

आगे अष्टम तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ भगवान की स्तुति करते हैं—

प्रीणयित्वा जगद्भव्यान् यो ज्ञानामृतवर्षणैः ।
विश्वमुद्योतयामास कृत्स्नाङ्गपूर्वभाषणैः ।।४।।

जगदानन्दकर्त्तारं धर्मामृतपयोधरम् ।
नौमि चन्द्रप्रभं तं च योगिज्योतिर्गणावृतम् ।।५।।

अर्थः—जिन्होंने ज्ञानरूप अमृतकी वर्षासे जगत्के भव्यजीवोंको सन्तुष्ट किया, सम्पूर्ण अङ्ग और पूर्व के व्याख्यानों द्वारा जगत् को प्रकाशित किया, जो सर्व प्रकार से जगत् में आनन्दके कर्त्ता एवं धर्मामृत को बरसाने के लिये मेघ स्वरूप हैं, तथा जो योगिराजरूप ज्योतिष्क देवों से सदा घिरे रहते हैं ऐसे उन चन्द्रप्रभ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ।।४–५।।

अब कामदेव-तीर्थंकर और चक्रवर्ती पद के धारक श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र की स्तुति करते हैं—

यो दिव्यध्वनिनोच्छिद्य मोहस्मराक्षतस्करान् ।
कषायशत्रुभिः सार्द्धं व्यधाच्छान्ति जगत्सताम् ।।६।।

तं कामचक्रितीर्थेश–पदत्रितयभागिनम् ।
अनन्तर्द्धिगुणाम्भोधिं स्तौमि कर्मारिशान्तये ।।७।।

अर्थः—जिन्होंने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा जगत् के भव्यजीवोंके कषायरूप शत्रुओंके साथ साथ काम, मोह और इन्द्रियरूप चोरोंका विनाश किया और उन्हें शान्ति प्रदान की, तथा जो कामदेव, चक्रवर्ती एवं तीर्थङ्कर इन तीन पदों के भोक्ता हुये हैं, जो अनन्तऋद्धियों एवं गुणों के समुद्र हैं ऐसे उन सोलहवें तीर्थङ्कर श्री शान्तिनाथ भगवान् को मैं अपने ज्ञानावरणादि रूप कर्मशत्रुओं का विनाश करने के लिये नमस्कार करता हूँ ।।६–७।।

अब मोह तथा कामादि शत्रुओं को जीतने वाले श्री नेमिनाथ भगवान को नमस्कार करते हैं—

मोहकामाक्षशत्रूणां भङ्क्त्वा बाल्येऽपि यो सुखम् ।
वैराग्यज्ञानमुत्पाद्य दुर्लभां संयमश्रियम् ।।८।।

गृहीत्वाहत्य कर्मारीन् शुक्लध्यानासिनाकरोत् ।
मुक्तिस्त्रीं स्ववशे नौमि नेमिनाथं तमूर्जितम् ।।६।।

अर्थः—बाल्य अवस्था में ही जिन्होंने मोह, काम और इन्द्रिय रूप शत्रुओं का मुख तोड़ कर वैराग्य और ज्ञान के बल पर दुर्लभसंयमरूपी लक्ष्मीको धारण किया, शुक्लध्यानरूप तलवार से जिन्होंने कर्म शत्रुओंका सर्वथा विनाश कर मुक्तिरूपी स्त्रीको अपने स्वाधीन बना लिया है उन विशिष्ट बलशाली नेमिनाथ भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ ।।८-६।।

आगे सर्व विघ्नों को नष्ट करने वाले श्री पार्श्वजिनेन्द्र की स्तुति करते हैं—

जित्वा यो ध्यानयोगेन वैरिदेवकृतान् परान् ।
घोरोपसर्गजालांश्च महावाताम्बुवर्षणैः ।।१०।।

चकार केवलज्ञानं व्यक्तं विश्वप्रदीपकम् ।
स विश्वविघ्नहन्ता मे पार्श्वोऽस्तु विघ्नहानये ।।११।।

अर्थः—जिन्होंने अपने वैरी देव (कमठ के जीव) द्वारा प्रचण्डवायु और वर्षाजन्य किये गये भयङ्कर उपसर्गों को अपने ध्यान के प्रभाव से जीतकर तीनकालकी पर्यायों से युक्त समस्त द्रव्यों को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान को व्यक्त-प्राप्त किया है, जिनके प्रभाव से संसार के समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं ऐसे पार्श्वनाथ भगवान् मेरे विघ्नों की शान्ति करने वाले हों अर्थात् इस ग्रंथके निर्माण (या टीका) करने में आने वाले मेरे सम्पूर्ण विघ्नों को नष्ट करें ।।१०-११।।

अब धर्मतीर्थ नायक श्री वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार करते हैं—

येनोदितो द्विधा धर्मो यतिश्रावकसज्जनैः ।
विश्वतत्त्वार्थसिद्धान्तैः सममद्यापि वर्तते ।।१२।।

स्थास्यत्यग्रे च कालान्तं स्वमुक्तिश्रीसुखप्रदम् ।
वर्धमानं तमीडेऽहं वर्धमानगुणार्णवम् ।।१३।।

अर्थः—जिन वर्धमान जिनेन्द्र ने श्रावक और मुनिधर्म के भेद से दो प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन किया था वह सात तत्त्व और नव पदार्थ रूप सिद्धान्त के साथ आज भी विद्यमान है और आगे भी इस काल के अन्त पर्यन्त विद्यमान रहेगा, ऐसे स्वर्ग और मोक्ष के सुख प्रदान करने वाले उन वर्धमान गुणशाली श्री वर्धमान प्रभु की मैं स्तुति करता हूँ ।।१२-१३।।

आगे अजितनाथ आदि शेष तीर्थंकरों की स्तुति करते हैं—

शेषा ये तीर्थकर्तारो महान्तो धर्मचक्रिणः ।
विश्वाचर्या धर्मराजा वा त्रिजगद्धितकारिणः ॥१४॥

लोकोत्तमाः शरण्याश्च विश्वमाङ्गल्यदायिनः ।
तेषां पादाम्बुजान्[1] स्तौमि जगद्वन्द्यांस्तदृद्धये ॥१५॥

अर्थः—शेष जो और तीर्थंकर हैं वे भी अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी के अधिपति होने से महान् हैं, धर्मचक्र के प्रवर्तक हैं, विश्वपूज्य एवं धर्म के सञ्चालक हैं, जो लोक में उत्तम एवं शरणभूत हैं, विश्व के पापहर्ता और सुख के दाता हैं ऐसे तीनलोकों के हितकारक उन समस्त तीर्थंकरों के जगद्वन्दनीय चरणों की मैं उनकी ऋद्धि प्राप्ति के निमित्त स्तुति करता हूँ ॥१४-१५॥

अब विदेह क्षेत्र के विद्यमान सीमन्धर आदि तीर्थंकरों का स्तवन करते हैं—

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु ये श्रीसीमन्धरादयः[2] ।
गणैर्वृताजिनाधीशा मुक्तिमार्गं च निस्तुषम् ॥१६॥

प्रवर्तयन्ति सद्धर्मं सर्वाङ्गार्थादिभाषणैः ।
वर्तमानाः सुराच्यास्ते स्तुता मे सन्तु सिद्धये ॥१७॥

अर्थः—इस समय अढाई द्वीप में गणधरादिकों के द्वारा पूजनीय विद्यमान सीमन्धर आदि तीर्थंकर हैं जो कि निष्कलङ्क मुक्ति मार्ग का प्रवर्तन कर रहे हैं, सम्पूर्ण (१२) अंगों एवं सात तत्व नौ पदार्थ आदि के उपदेशों द्वारा सद्धर्म का प्रचार कर रहे हैं तथा देव जिनकी पूजा करते रहते हैं, मैं सिद्धि प्राप्ति की कामना से उनकी स्तुति करता हूँ ॥१६-१७॥

आगे तीन काल सम्बन्धी चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करते हैं—

अन्ये तीर्थकृतो वा ये कालत्रितय सम्भवाः ।
ते मया संस्तुता वन्द्या मे प्रदद्युनिजान् गुणान् ॥१८॥

अर्थः—इसी प्रकार त्रिकालवर्ती और भी जो तीर्थंकर हैं मैं उन सबकी वन्दना करता हूँ। स्तुति करता हूँ। वे मुझे अपने सम्यग्दर्शनादि सद्‌गुणों को प्रदान करें। अर्थात् जो गुण उनमें प्रगट हो चुके हैं वे गुण मेरे में भी प्रगट हो जावें ऐसी भावना से मैं उनकी वन्दना और स्तुति करता हूँ ॥१८॥

---

१. वन्दे ब०

२. सीमंधरः, युग्मंधरः, बाहुः सुबाहुः जम्बूद्वीपे । सुजातः, स्वयंप्रभः, वृषभाननः, अनन्तवीर्यः, सौरिप्रभः, सुविशालः, वज्रधरः, चन्द्राननः, एवं धातकी खण्डे । चन्द्रबाहुः, भुजंगनाथः, ईश्वरः, नेमिप्रभः, वीरसेनः, महाभद्रः, देवयशाः, अतिवीर्यः, पुष्करार्धद्वीपे-एवं २० ।

आगे सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के स्वामी सिद्ध परमेष्ठी का स्तवन करते हैं—

अष्टकर्मारिकायादीन् ये महाध्यानयोगतः ।
त्यक्त्वानन्तसुखोपेतं त्रैलोक्यशिखरं ययुः ।।१९।।
तानन्तान् महासिद्धां-स्त्रिजगन्नाथवन्दितान् ।
ध्येयानष्टगुणाधीशान् स्मरामि हृदि सिद्धये ।।२०।।

अर्थः—जो परमशुक्लध्यान के प्रभाव से अष्टकर्मरूपी शत्रुओं का विनाश और परमौदारिक शरीर का परित्याग कर अनन्त सुख सम्पन्न त्रैलोक्य शिखर पर जाकर विराजमान हो गये हैं, जिन्हें त्रिकालवर्ती समस्त तीर्थंकर देव नमस्कार करते हैं एवं जो ध्यान करने योग्य हैं, अष्टकर्मों के विनाशसे जिन्हें क्षायिक-सम्यक्त्वादि आठ गुण प्राप्त हो चुके हैं ऐसे उन अनन्त और महान् सिद्ध परमेष्ठियों का सिद्धि प्राप्ति की भावना से मैं अपने हृदय में ध्यान करता हूँ ।।१९–२०।।

अब छत्तीस गुणों के धारक आचार्य परमेष्ठी की स्तुति करते हैं—

पञ्चाचारान्जगत्ख्यातान् स्वमुक्तिश्रीवशीकरान् ।
स्वयं चरन्ति ये मुक्त्यै चारयन्ति च योगिनः ।।२१।।
[1]षट्त्रिंशत्सद्गुणैः पूर्णाः सूरयो विश्वबान्धवाः ।
तेषां पादाम्बुजान्नौमि शिरसाचारसिद्धये ।।२२।।

अर्थः—मुक्ति प्राप्ति की कामना से जगत्प्रसिद्ध पांच प्रकार के (आचारों दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तप आचार, वीर्याचार) का जो स्वयं पालन करते हैं और अन्य मुनिजनों को पालन करवाते हैं, जो स्वर्ग एवं मोक्ष लक्ष्मी को अपने स्वाधीन करने वाले हैं तथा जो छत्तीस गुणों से परिपूर्ण हैं ऐसे विश्वबन्धु रूप उन आचार्यों के चरण कमलों को मैं पांच आचारों की प्राप्ति के लिये मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ ।।२१–२२।।

आगे अंग और पूर्वों के ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठी की स्तुति करते हैं—

येऽङ्गपूर्वप्रकीर्णाब्धींस्तरन्ति शिवसिद्धये ।
स्वयं सद्बुद्धिपोतेन तारयन्ति च सन्मुनीन् ।।२३।।
रत्नत्रयतपोभूषा अज्ञानध्वान्तनाशिनः ।
तेषां [2]पाठकपूज्यानां स्तौमि क्रमाम्बुजांश्चिरे ।।२४।।

---

१. बारह तप छावासा पंचाचारा तहेव दह धम्मो । गुत्तितिए संजुत्ता छत्तीस गुणा मुणेयव्वा ।
२. ग्यारह अंग वियाणइ चउदह पुव्वाइ णिरवसेसाइ । पणवीसं गुणजुत्ता णाणाए तस उवज्झाया ।

अर्थ:—मुक्ति प्राप्ति के उद्देश्य से अपनी सद्बुद्धि रूपी जहाज के द्वारा जो स्वयं अंग, पूर्व और प्रकीर्णक रूप समुद्र को पार कर देते हैं तथा अन्य मुनिजनों को भी पार कराते हैं, जो रत्नत्रय से विभूषित और अज्ञानान्धकार के विनाशक हैं ऐसे उन पूज्य पाठकों (उपाध्यायों) के चरणकमलों को मैं ज्ञानप्राप्ति के निमित्त नमस्कार करता हूं उनकी स्तुति करता हूं ।।२३-२४।।

अब आत्म साधना में लीन साधु परमेष्ठी का स्तवन करते हैं—

त्रिकाले दुष्करं योगं वृष्टिशीतोष्णसंकुले ।
[1]साधयन्ति स्वसिद्धयर्थं ये महान्तं भीरुभीतिदम् ।।२५।।

साधवस्ते मया वन्द्या महाघोरतपोन्विताः ।
वनाद्यौ ध्यानसंलीना मे भवन्तु स्वशक्तये ।।२६।।

अर्थ:—जो वर्षा, शीत और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं में वर्षा, ठण्ड और गर्मी की बाधाओं को सहन करते हुए निर्जन वनादि में स्थित होकर आत्मसिद्धि के उद्देश्य से दुष्कर योग की साधना करते हैं ऐसे उन घोर तपस्वी साधुओं को मैं नमस्कार करता हूँ, वे मुझे आत्मशक्ति की प्राप्ति में निमित्त-कारण बनें ।।२५-२६।।

आगे चौबीस तीर्थंकरों के वृषभसेन आदि गणधरों की स्तुति करते हैं—

श्रीमद्वृषभसेनाद्या गौतमप्रमुखाश्च ये ।
समस्तर्द्धिचतुर्ज्ञान-भूषितागणनायकाः ।।२७।।

महाकविगुणैः पूर्णाः पूर्वांगरचने क्षमाः ।
मया वन्द्या स्तुता दद्युस्ते मे स्वगुणसन्मतीः ।।२८।।

अर्थ:—वृषभसेन आदि और गौतम आदि समस्त गणधर जो कि सब प्रकार की ऋद्धियों एवं चार ज्ञानों से विभूषित हुये हैं, महाकवियों के श्रेष्ठ गुण वाले एवं अंगों और पूर्वों-आगमों की रचना करने में निपुण हुये हैं मैं उनकी वन्दना एवं स्तुति करता हूँ, वे मुझे आत्मगुणों की प्राप्ति में कारणभूत सन्मति-उत्तम बुद्धि प्रदान करें ।।२७-२८।।

अब जिनमुखोद्भूत स्याद्वाद वाणी रूप सरस्वती का स्तवन करते हैं—

यस्याः प्रसादतो मेऽभूद् सद्बुद्धिः श्रुतभूषिता ।
रागातिगा पदार्थज्ञा सद्ग्रन्थकरणेक्षमा ।।२९।।

---

१. बहु दंसणस्स भेया पंचेव य हुंति णाणस्स । तेरह विहस्स चरणं अट्ठवीसा हुंति साहूणं ।।

सा मया त्रिजगद्भव्यैर्मान्या वन्द्या स्तुता सदा ।
शारदाऽर्हन्मुखोत्पन्नास्तु विश्वार्थदर्शिनी ॥३०॥

अर्थः—जिसकी कृपा से मेरी बुद्धि श्रुतज्ञान से विभूषित हुई, रागद्वेष आदि से रहित हुई, पदार्थों के स्वरूप को जानने एवं समझने में समर्थ हुई और निर्दोष ग्रन्थों की रचना करने में पटु हुई तथा जिसकी प्रतिष्ठा तीनों जगत् के भव्यजीवों ने की है ऐसी वह जिनेन्द्रमुख से निर्गत हुई भारती–शारदा मेरे द्वारा सदा वन्दनीय एवं स्तवनीय है। वह मुझे इस ग्रन्थ के निर्माण कार्य में एवं पूर्ण रूपसे अर्थ के प्रदर्शन करने में सहायक होवे ॥२९–३०॥

आगे रत्नत्रय से विभूषित कुन्दकुन्दादि आचार्यों का स्मरण करते हैं—

अन्ये ये गुरवो ज्येष्ठा दृक्-चिद्-वृत्तादिसद्गुणैः ।
सर्वसिद्धांतवेत्तारः कुंदकुंदादिसूरयः ॥३१॥

बाह्याभ्यन्तरग्रन्थनिर्मुक्ता युक्ताः सद्गुणभूतिभिः ।
कवयो वन्दनीयाश्च सतां मे सन्तु शुद्धये ॥३२॥

अर्थः—सर्व सिद्धांत के ज्ञाता, बाह्य और अंतरंग परिग्रह से सर्वथा रहित, उत्तम–क्षमा आदि सद्गुणों से विभूषित, उत्तमोत्तम निर्दोष काव्यों की रचना करने में समर्थ मति वाले एवं सज्जनों द्वारा वंदनीय ऐसे कुंदकुंदादि आचार्यवर्य तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि सद्गुणों से विभूषित अन्य गुरुजन मुझे आत्मशुद्धि में निमित्त भूत बनें ॥३१–३२॥

अब त्रिलोकवर्ती कृत्रिम–अकृत्रिम चैत्यालय तथा उनमें विद्यमान जिनप्रतिमाओं की स्तुति करते हैं—

त्रैलोक्यसौधमध्ये ये कृत्रिमाः श्रीजिनालयाः ।
अकृत्रिमा जिनेन्द्राणां प्रतिमाः कृत्रिमेतराः ॥३३॥

या हेम–रत्न–धात्वश्मा–दि मया यानि सन्ति च ।
पुण्यनिर्वाणक्षेत्राणि तांस्तास्तानि स्तुवेऽर्चये ॥३४॥

अर्थः—तीन लोक रूपी भवन के बीच में जो कृत्रिम अकृत्रिम श्री जिनालय हैं तथा उनमें जो हेम, रत्न, धातु एवं पाषाण आदि की बनी हुई कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाएँ हैं एवं जो पवित्र निर्वाण क्षेत्र हैं मैं उन सबकी स्तुति करता हूँ और पूजा करता हूं ॥३३–३४॥

इस प्रकार मंगलाचरण कर ग्रंथकर्ता सिद्धान्तसार दीपक ग्रंथ के करने की प्रतिज्ञा करते हैं—

नत्वेति जिनतन्मूर्ति-सिद्धसिद्धान्तसद्गुरून् ।
विश्वविघ्नहरान् स्वेष्टान् जगन्मांगल्यकारिणः ।।३५।।

विघ्नहान्यै च मांगल्याप्त्यै स्वान्यहितसिद्धये ।
वक्ष्ये ग्रंथं जगन्नेत्रं सिद्धान्तसारदीपकम् ।।३६।।

अर्थः—इस ग्रंथ निर्माण में आने वाले समस्त विघ्नों की शान्ति एवं जगत में मंगल प्राप्ति के उद्देश्य से मैं जिनेन्द्र, जिनेन्द्रप्रतिमा सिद्ध, सिद्धान्त एवं सद्गुरु इन सबको नमस्कार करके जगत् के नेत्र स्वरूप इस सिद्धांतसार दीपक ग्रंथ की स्वपर के उपकारार्थ रचना करूंगा ।।३५–३६।।

आगे जिनागम की महिमा प्रकट करते हैं—

श्रुतेन येन भव्यानां करस्थामलकोपमम् ।
त्रैलोक्यं निस्तुषं भाति ज्ञानं च वर्धतेतराम् ।।३७।।

संवेगादिगुणैः सार्धं रागोऽज्ञानं प्रणश्यति ।
तदागमं जगच्चक्षु-र्ज्ञेयमत्रोदितं बुधैः ।।३८।।

यतः प्रोक्तं सुसाधूनां जिनैर्विश्वार्थदर्शने ।
सदागममहाचक्षु-र्धर्मतत्त्वार्थदीपकम् ।।३९।।

तेनागमसुनेत्रेण विनान्धा इव देहिनः ।
सचक्षुषोऽपि जानन्ति न किञ्चिच्च हिताहितम् ।।४०।।

अर्थः—इस सिद्धांतसार ग्रंथके सुनने-पढ़नेसे भव्यात्माओं को यह त्रिलोक हथेली में रखे हुये आंवले की तरह प्रतीत होने लगता है और उनके तत्सम्बन्धी ज्ञानकी वृद्धि भी हो जाती है, तथा संवेगादिक गुणोंकी प्राप्ति हो जाने से उनके अज्ञान एवं रागद्वेषादिरूप विकारों का भी विनाश हो जाता है, इसी कारण बुद्धिमानों ने आगम को "जगत्चक्षु" कहा है और इसीलिये जिनेन्द्र देवने साधुओं को ऐसा उपदेश दिया है कि यदि तुम्हें सम्पूर्ण पदार्थों को जानना है तो सर्व प्रथम जीवादिक तत्त्वों, छह द्रव्यों और नौ पदार्थों को प्रकाशित करने वाले इस निर्दोष आगम रूप महाचक्षु का अवलम्बन करो, क्योंकि यही एक अति उत्तम नेत्र है। जिन प्राणियों के पास यह आगम रूप चक्षु नहीं है वे उसके बिना नेत्रों के रहते हुए भी, अन्धे के समान हैं, क्योंकि इसके अभाव में हिताहित का थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं हो सकता है ।।३७–४०।।

आगे ग्रंथकर्ता अपनी लघुता प्रकट करते हैं—

यत्प्राक् पूर्वमुनीन्द्राद्यै-र्विश्वसिद्धान्तवेदिभिः ।
सद्बुद्धिभिर्जगत्सारं प्रोक्तं सिद्धान्तमञ्जसा ॥४१॥
तद्दुर्गमार्थगम्भीर-मागमं विश्वगोचरम् ।
कथं स्वल्पधिया वक्तुं मया शक्यं मनोहरम् ॥४२॥
अथवा प्राग्मुनीन्द्राणां प्रणामार्जितपुण्यतः ।
स्तोकं सारं प्रवक्ष्यामि सिद्धान्तं विश्वसूचकम् ॥४३॥
निजशक्त्या मुदाभ्यस्य त्रैलोक्यसार दीपकम् ।
सुगमं बालबोधायान्यान् ग्रन्थानागमोद्भवान् ॥४४॥

अर्थ:—समस्त सिद्धान्त शास्त्रों के ज्ञाता एवं विशिष्ट ज्ञानी पूर्व मुनिराजों ने पहिले त्रिलोकसार नामक सिद्धान्तग्रन्थ की रचना की है सो वह ग्रन्थ अति दुर्गम अर्थवाला एवं गम्भीर है अतः मुझ अल्पज्ञ द्वारा वह जैसे का तैसा कैसे जाना जा सकता है—कहा जा सकता है ? परन्तु फिर भी पूर्व मुनिराजों को किये गये नमस्कार जन्य पुण्य के प्रभाव से (उसका) थोड़ा सा सार लेकर विश्वसूचक सिद्धान्त का कथन करूंगा। पहिले मैं आगमों से जिनका सम्बन्ध है ऐसे उन ग्रंथों का अपनी शक्ति के अनुसार प्रफुल्लित मन से अभ्यास करूंगा बाद में जिस प्रकार बालजनों को सुगम पड़े उस रूप से "त्रैलोक्यसारदीपक" का कथन करूंगा ॥४१-४४॥

अब लोक के स्वरूप को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—

तस्यादौ कीर्तयिष्यामि त्रैलोक्यस्थितिमूर्जिताम् ।
तदाकारं समासेन भव्याः ! शृणुत सिद्धये ॥४६॥

अर्थ:—सर्व प्रथम अर्थात् सिद्धान्तसार दीपक की आदि में मैं तीनों लोकों की वास्तविक स्थिति का और फिर संक्षेप से उनके आकारों का वर्णन करूंगा, अतः हे भव्यजनो ! सिद्धि के लिये तुम पहिले उसे सावधान होकर सुनो ॥४५॥

लोकाकाश और अलोकाकाश की स्थिति एवं लक्षण कहते हैं :—

सर्वोऽनन्तप्रदेशोऽस्त्याकाशः सर्वज्ञगोचरः ।
नित्यस्तन्मध्यभागे स्याल्लोकाकाशस्त्रिधात्मकः ॥४६॥
[1]असंख्यातप्रदेशोऽसौ वातत्रितयवेष्टितः ।
उडुवद्भाति खे पूर्णः षड्द्रव्यैश्चेतनेतरैः ॥४७॥

---

१. 'सुहुमेव होइ कालो तत्तो सुहुमो य होइ खित्तो य ।
अंगुल सेढी मित्तोऽवसप्पिणी असंखिज्जा' ॥

अर्थः—सर्वज्ञदेव के ज्ञान का विषयभूत सम्पूर्ण आकाश अनन्तप्रदेशी और शाश्वत है। उसके मध्यभाग में तीन प्रकार के भेदों से युक्त लोकाकाश है। जो असंख्यात प्रदेशी, तीन वातवलयों से वेष्टित और चेतन अचेतन छह द्रव्यों से भरा हुआ है तथा अलोकाकाश में नक्षत्र के समान शोभायमान होता है ॥४६-४७॥

जीवाश्च पुद्गला धर्माधर्मकालाः स्थिताः सदा ।
खे यावति विलोक्यन्ते लोकाकाशः स कथ्यते ॥४८॥
एतस्माच्च बहिर्भागे शाश्वतो द्रव्यवर्जितः ।
सर्वज्ञगोचरोऽनन्तोऽलोकाकाशो जिनैर्मतः ॥४९॥

अर्थः—आकाश के जितने भाग में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य शाश्वत स्थित रहते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं, और इसके (लोकाकाश के) बाह्य भाग में जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ पांच द्रव्यों से रहित, सर्वज्ञगोचर, शाश्वत और अनन्तविस्तार वाला अलोकाकाश है ॥४८-४९॥

लोक के विषय में मतान्तरों का खण्डन करते हैं :—

केनचिन्न कृतो लोको ब्रह्मादिनाथवा धृतः ।
न च विष्ण्वादिना जातु न हृतश्चेश्वरादिना ॥५०॥

अर्थः—यह लोक न किन्हीं ब्रह्मा आदि के द्वारा बनाया हुआ है, न किन्हीं विष्णु आदि के द्वारा धारण-रक्षण किया हुआ है और न किन्हीं महादेव आदि के द्वारा विनाश को प्राप्त होता है ॥५०॥

विशेषार्थः—यह लोक अकृत्रिम है, अतः ईश्वर आदि कोई इसके कर्ता नहीं है। अनादिनिधन है अतः कोई संहारक नहीं है और स्वभाव निर्वृत्त होने से इसका कोई रक्षक भी नहीं है।

अब सात श्लोकों द्वारा लोक का स्वरूप आदि कहते हैं :—

किन्तु त्वचावृतो वृक्ष इव वातत्रयावृतः ।
अनादिनिधनो लोको नानाकारस्त्रिधात्मकः ॥५१॥

अर्थः—किन्तु यह लोक त्वचा (छाल) से वेष्टित वृक्ष के सदृश तीनवातवलयों से वेष्टित, अनादिनिधन अर्थात् आदि अन्त से रहित, अनेक संस्थानों (आकारों) से युक्त और ऊर्ध्व, मध्य एवं अधोलोक के भेद से तीन भेद वाला है ॥५१॥

स्थापितस्याप्यधोभागे मुरजार्धस्य मस्तके ।
धृतेऽत्र मुरजे पूर्णे ह्याकारो यादृशो भवेत् ॥५२॥

तादृशाकारलोकोऽयं सार्धैकमुरजाकृतिः ।
किन्तु स्यान्मुरजो वृत्तो लोकः कोणचतुर्मयः ।।५३।।

अर्थः—अर्धमुरजाकार अधोलोक के मस्तक पर पूर्ण मुरज को स्थापित करने से जैसा आकार बनता है वैसा ही अर्थात् डेढमुरज के आकार वाला यह लोक है। मुरज (मृदङ्ग) गोल होती है किन्तु लोक चार कोणों से युक्त है ।।५२-५३।।

विशेषार्थ:—श्लोक में लोक का आकार डेढमृदङ्गाकार कहा है, उसका भाव यह है कि जैसे अर्धमुरज नीचे चौड़ी और ऊपर सकरी होती है, उसी प्रकार अधोलोक नीचे सातराजू चौड़ा और क्रम से घटता हुआ मध्य लोक में एक राजू चौड़ा रह गया है। इसके ऊपर एक मुरजाकार ऊर्ध्वलोक कहा गया है, इसका भाव भी यह है कि जैसे मुरज नीचे ऊपर सकरी और बीच में चौड़ी होती है उसी प्रकार ऊर्ध्वलोक भी नीचे मध्यलोक में एक राजू चौड़ा है इसके ऊपर क्रम से बढ़ता हुआ बीच में पांच राजू चौड़ा हो जाता है और पुनः क्रम से घटता हुआ अन्त में एक राजू चौड़ा रह जाता है।

यहां लोक को मृदङ्गाकार कहा है उसका अर्थ यह नहीं है कि लोक मृदङ्ग के सदृश बीच में पोला भी है, किन्तु वह तो ध्वजाओं के समूह सदृश भरा हुआ है। (त्रिलोकसार गा० ६) लोकाकाश मृदङ्ग के सदृश गोल नहीं है किन्तु नीचे सात राजू लम्बा और सात राजू चौड़ा है, तथा बीच में मध्यलोक पर पूर्व-पश्चिम एक राजू, उत्तर-दक्षिण सात राजू है, ऊर्ध्वलोक भी मध्य में पूर्व-पश्चिम पांच राजू, उत्तर-दक्षिण सात राजू तथा अन्त में एक राजू और सात राजू है।

मृदंगाकार कहने का यह भी भाव नहीं है कि लोक मृदंग के सदृश गोल है। यदि लोक को मृदंग समान गोल माना जाय तो उसकी आकृति निम्न प्रकार होगी तथा उसका सम्पूर्ण घनफल $\left(१०६\frac{२६१}{१३५६} \text{ घनराजू अधोलोक का } + ५८\frac{६७}{१३५६} \text{ घनराजू ऊर्ध्वलोक का} \right) = १६४\frac{३२८}{१३५६}$ घनराजू प्रमाण प्राप्त होगा जो ३४३ घनराजू के संख्यात भाग प्रमाण होता है। (ध.पु. ४ पृ. १२-२२)

जिनेन्द्र भगवान ने लोक का आकार चौकोर कहा है क्योंकि चौकोर लोक का घनफल ७ राजू (श्रेणी) के घनस्वरूप ३४३ घनराजू प्रमाण है। चतुरस्राकार लोक की आकृति :—

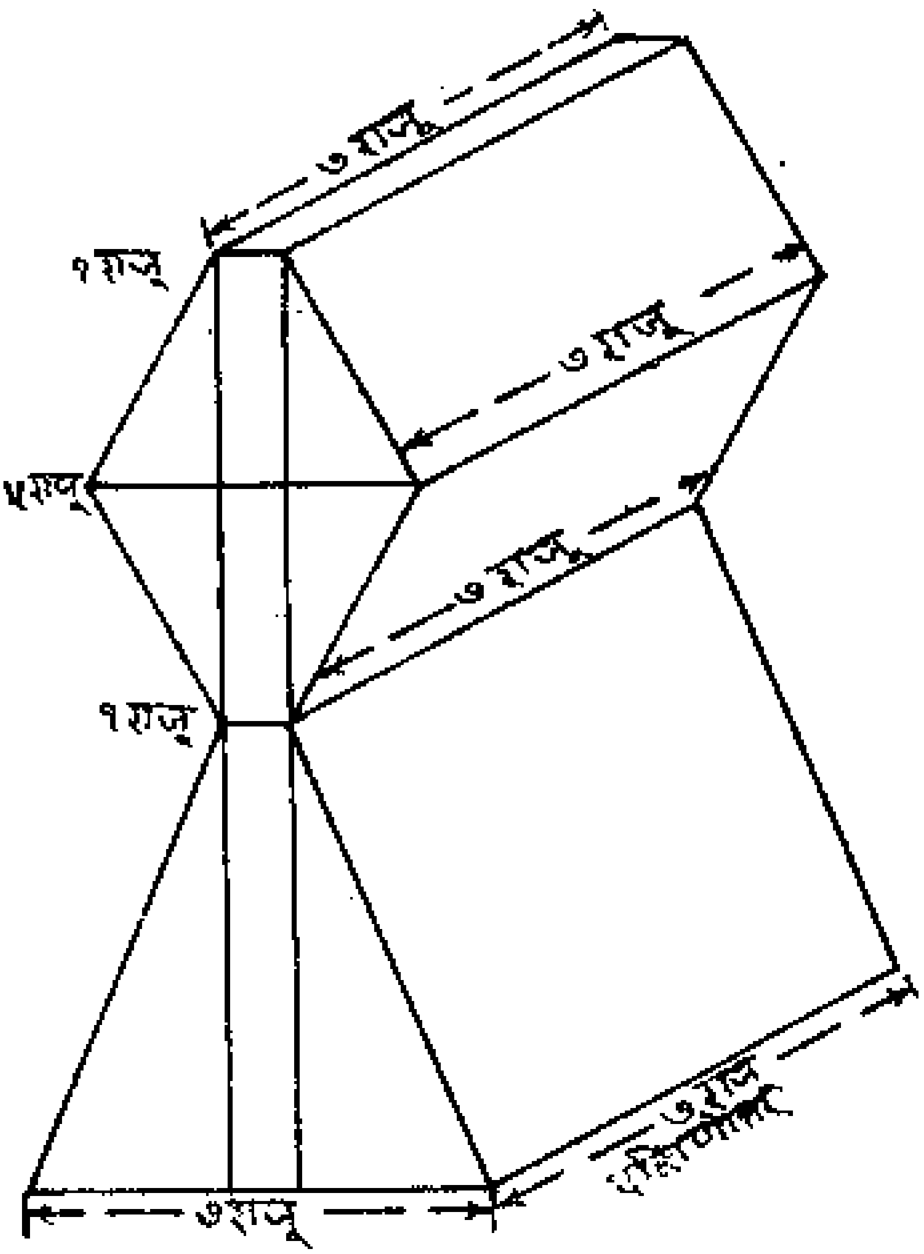

उपर्युक्त चित्रण में अधोलोक के अन्त में चार कोण, मध्य लोक के समीप चार कोण ब्रह्मलोक के समीप चार कोण और लोकान्त में चार कोण बनते हैं।

'था प्रसारितपादस्य कटीधृतकरस्य च ।
स्थितस्य पुरुषस्यैवाग्राकारो यादृशो भवेत् ॥५४॥

लोकोऽयं तादृशाकारः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ।
अधोमध्योर्ध्वभेदेन त्रिविधः शाश्वतः स्थितः ॥५५॥

---

१. विगय सिरो कडिहत्थो ताडियजंघोजुर्ड णरो उड्ढो ।
तेण सारेण ट्ठिउ त्तिविहो लोओ मुणेयव्वो ॥

अर्थः—अथवा पैर फैलाकर, कमर पर (दोनों) हाथ रखकर उत्तरमुख स्थित पुरुष का जैसा आकार बनता है वैसे ही आकार को धारण करने वाला यह लोक (षड्द्रव्यों की अपेक्षा) उत्पाद, व्यय और ध्रुव स्वभाव की त्रिविधता से युक्त, अथवा ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक के भेद की त्रिविधता से युक्त नित्य ही स्थित है ।।५४-५५।।

अधोवेत्रासनाकारो मध्येऽयं झल्लरीसमः ।
मृदङ्गसदृशश्चोर्ध्वे त्रिधेति तस्य संस्थितिः ।।५६।।

अर्थः—अधोलोक का आकार वेत्रासन सदृश, मध्यलोक का झल्लरी सदृश और ऊर्ध्वलोक का आकार मृदंग के सदृश है, इस प्रकार लोक की संस्थिति (आकार) तीन प्रकार कहा गया है ।।५६।।

आमूलादूर्ध्वपर्यन्तं लोकोऽयमुन्नतो मतः ।
विचित्राकार आप्तज्ञैः स्याच्चतुर्दशरज्जुभिः ।।५७।।

अर्थः—आप्त को जानने वालों के द्वारा नाना प्रकार के आकारों को धारण करने वाले इस लोक की नीचे से ऊर्ध्वलोक पर्यन्त की ऊँचाई चौदह राजू कही गई है ।।५७।।

अब सात श्लोकों द्वारा लोक के भेद एवं उनका प्रमाण कहा जाता है :—

आमूलान्मध्यलोकान्तमाम्नाता योन्नतिर्जिनैः ।
सप्तरज्जुप्रमाणास्या धोलोकस्य जिनागमे ।।५८।।

अर्थः—जिनेन्द्र भगवानके द्वारा जिनागम में आदि-मूल से मध्यलोक के अन्त तक की जो सात राजू प्रमाण आकाशोन्नति कही गई है वही अधोलोक की ऊँचाई है। अर्थात् अधोलोक की ऊँचाई सात राजू प्रमाण है ।।५८।।

मध्यलोकाद् बुधैर्ज्ञेया ब्रह्मकल्पान्तमुच्छ्रितिः ।
अस्योर्ध्वलोकभागस्य सार्धरज्जुत्रयप्रमा ।।५९।।

अर्थः—विद्वानों के द्वारा मध्यलोक से ब्रह्मकल्प के अन्त तक की जो साढ़े तीन राजू प्रमाण ऊँचाई ज्ञात की गई है वही इस ऊर्ध्वलोक के एक भाग की ऊँचाई है। अर्थात् मध्यलोक से ब्रह्मलोक तक के ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई ३½ राजू प्रमाण है ।।५९।।

ब्रह्मलोकास्ततोऽप्यूर्ध्वं यावल्लोकाग्रमस्तकम् ।
उत्सेधोऽस्यागमे प्रोक्तः सार्धत्रिरज्जुसम्मितः ।।६०।।

अर्थ:—ब्रह्मलोक से ऊपर लोक के मस्तक पर्यन्त जितना उत्सेध आगम में कहा है वह साढ़े तीन राजू प्रमाण है। अर्थात् ब्रह्मलोक से लोक के अन्त पर्यन्त ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई ३½ राजू प्रमाण है ।।६०।।

अस्यायामोऽस्ति सर्वत्र दक्षिणोत्तरभागयोः ।
सप्तरज्जुप्रमाणः किलामूलमस्तकान्तयोः ।।६१।।

अर्थ:—इस लोक के दक्षिणोत्तर भाग का आदि से अन्त पर्यन्त अर्थात् नीचे से ऊपर तक का आयाम (दीर्घता) सर्वत्र सात राजू प्रमाण है। अर्थात् लोक दक्षिणोत्तर भाग में सर्वत्र सात राजू प्रमाण है। ६१।।

पूर्वापरेणलोकस्य ह्रासवृद्धीस्मृते बुधैः ।
मूलेऽस्य विस्तृति र्ज्ञेया सप्तरज्जुप्रमाखिला ।।६२।।

क्रमहान्या ततोऽप्यस्य मध्यलोके जिनागमे ।
रज्ज्वेको व्यास आम्नातो गणाधीशैर्गणान् प्रति ।।६३।।

ततश्च क्रमवृद्धयास्य ब्रह्मलोकेऽस्ति विस्तृतिः ।
पञ्चरज्जुप्रमामूर्ध्नि रज्ज्वेका क्रमहानितः ।।६४।।

अर्थ:—ज्ञानियों के द्वारा लोक के पूर्व-पश्चिम भाग का विस्तार हानिवृद्धि रूप माना गया है। लोक के मूल में पूर्व पश्चिम विस्तार सात राजू प्रमाण है। इसके बाद क्रम से हानि होते होते मध्यलोक पर पूर्वपश्चिम विस्तार जिनागम में जिनेन्द्रों के द्वारा मुनिसमूह के लिए एक राजू प्रमाण कहा है। मध्यलोक के ऊपर क्रम से वृद्धि होते होते ब्रह्मलोक पर लोक का विस्तार पांच राजू और वहां से क्रमशः हानि होते होते लोक के मस्तक का विस्तार एक राजू प्रमाण है।।६२, ६३, ६४।।

अब चार श्लोकों द्वारा अधोलोक का क्षेत्रफल एवं घनफल कहते हैं :—

अधोभागेऽस्य लोकस्य व्यासेन सप्तरज्जवः ।
रज्ज्वेकामध्यभागे च तयोः पिण्डीकृते सति ।।६५।।

जायन्ते रज्जवोऽप्यष्टौ तासामर्धा कृते पुनः ।
चतस्रो रज्जवः स्युस्ता गुणिताः सप्तरज्जुभिः ।।६६।।

अष्टाविंशतिसंख्याश्चोत्पद्यन्ते रज्जवः पुनः ।
अष्टाविंशतिसंख्यास्ता वर्गिताः सप्तरज्जुभिः ।।६७।।

[illegible] भवन्ति रज्जवोऽखिलाः ।
पिण्डीकृता घनाकारेणाधोलोकस्य निश्चितम् ॥६८॥

अर्थः—इस लोक के अधोभाग में व्यास सात राजू और मध्यभाग (मध्यलोक) पर व्यास एक राजू प्रमाण है। इन दोनों को जोड़ देने से (७+१) आठ राजू होता है और इसे आधा करने पर (८÷२) चार राजू प्राप्त होते हैं। (अधोलोक से मध्यलोक तक की ऊँचाई सात राजू है अतः) इन चार को सात से गुणित करने पर (४×७)=२८ वर्गराजू अधोलोक का क्षेत्रफल उत्पन्न हो जाता है और इस २८ वर्ग राजू क्षेत्रफल को (दक्षिणोत्तर मोटाई) सात राजू से गुणित कर देने पर सम्पूर्ण अधोलोक का घनफल (२८×७)=१९६ घनराजू प्रमाण प्राप्त होता है। अर्थात् अधोलोक का क्षेत्रफल २८ वर्गराजू और घनफल १९६ घनराजू प्रमाण है ॥६५–६८॥

ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल एवं घनफल आठ श्लोकों द्वारा कहते हैं :—

ब्रह्मकल्पेऽस्य विस्तारः पञ्चरज्जुप्रमाणकः ।
मध्यभागे च रज्ज्वेकस्तयोर्मेलापके कृते ॥६९॥

षड्रज्जवो भवेयुश्च तासामर्धो कृते सति ।
गृह्यन्ते रज्जवस्तिस्रः सप्तभिर्गुणिताश्च ताः ॥७०॥

एकविंशतिसंख्याता जायन्ते रज्जवः पुनः ।
ताः सर्वा वर्गिताः सार्धत्रिकैर्भवन्ति पिण्डिताः ॥७१॥

रज्जवोऽप्यूर्ध्वभागेऽस्य ब्रह्मलोकान्तमञ्जसा ।
घनाकारेण सर्वत्र सार्धत्रिसप्तति प्रमाः ॥७२॥

अर्थः—इस लोक का विस्तार ब्रह्मकल्प पर पांच राजू और मध्यलोक पर एक राजू प्रमित है। इन दोनों को जोड़ देने से (५+१)=६ राजू होते हैं और उन्हें आधा करने पर (६÷२)=३ राजू प्राप्त होते हैं। मध्यलोक से ब्रह्मलोक की ऊँचाई ३½ राजू है अतः तीन को ३½ राजू ऊँचाई से गुणित करने पर ($\frac{३}{१}$×$\frac{७}{२}$)=$\frac{२१}{२}$ वर्गराजू मध्यलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त अर्थात् अर्ध ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल प्राप्त हुआ। इसके उत्तरदक्षिण सात राजू मोटाई से गुणित कर देने पर ब्रह्मलोक पर्यन्त ऊर्ध्वलोक का घनफल ($\frac{२१}{२}$×$\frac{७}{१}$)=$\frac{१४७}{२}$ अर्थात् ७३½ घनराजू प्रमाण प्राप्त होता है ॥६९–७२॥

नोट—श्लोक में तीन को पहिले सात से गुणित करके २१ प्राप्त किये गये हैं, फिर ३½ राजू ऊँचाई से गुणित किया गया है, इस प्रक्रिया से घनफल तो प्राप्त हो जाता है किन्तु क्षेत्रफल प्राप्त नहीं होता क्योंकि क्षेत्रफल निकालने का नियम है "मुखभूमिजोगदलेपदहदे" अर्थात् मुख और भूमि के योगफल को आधा करके ऊँचाई से गुणित करने पर क्षेत्रफल प्राप्त होता है। इसी नियम को

दृष्टि में रखते हुए उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ किया गया है और आगे श्लोक नं० ७४, ७५ का भी
किया जायगा।

व्यासोऽस्य ब्रह्मकल्पान्ते रज्जुपञ्चप्रमः क्रमात् ।
हीयमानश्च रज्ज्वेको मस्तकाग्रे तयोः प्रति ॥७३॥
पिण्डीकृते प्रजायन्ते षड्रज्जवोऽखिलास्ततः ।
द्विभागीसंकृते तासां तिस्रः स्यू रज्जवश्च ताः ॥७४॥
सप्तभिर्गुणिता जायन्ते ह्येकविंश रज्जवः ।
पुनस्ता वर्गिताः सार्धत्रिभिः सार्धत्रिसप्ततिः ॥७५॥
पिण्डीकृता भवन्त्यूर्ध्वलोकस्य रज्जवोऽखिलाः ।
घनाकारेण लोकाग्रपर्यन्तं ब्रह्मकल्पतः ॥७६॥

अर्थः—ब्रह्मकल्प पर लोक का व्यास पांच राजू प्रमाण है, और क्रम से हीन होते होते लोक
अग्रभाग का व्यास एक राजू प्रमित रह जाता है। इन दोनों को जोड़ देने से (५ + १)=६ राजू हो
हैं। इन्हें आधा करने पर (६ ÷ २)=३ राजू प्राप्त होते हैं। इन तीन को ३$\frac{१}{२}$ ऊँचाई से गुणित कर
पर अर्ध ऊर्ध्वलोकका क्षेत्रफल (३ × $\frac{७}{२}$)=$\frac{२१}{२}$ अर्थात् १०$\frac{१}{२}$ वर्ग राजू प्राप्त होता है। इसको सात रा
मोटाई से गुणित कर देने पर ($\frac{२१}{२}$ × $\frac{७}{१}$)=$\frac{१४७}{२}$ अर्थात् ७३$\frac{१}{२}$ घनराजू प्रमाण घनफल अर्ध ऊर्ध्वलो
का अर्थात् ब्रह्मलोक से लोकाग्र पर्यन्त का जानना चाहिये। लोकके दोनों अर्ध ऊर्ध्व भागों का घनफ
मिला देनेसे सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोकका घनफल (७३$\frac{१}{२}$ + ७३$\frac{१}{२}$)=१४७ घनराजू प्रमाण होता है ॥७३-७६

अब सम्पूर्ण लोक का घनफल कहते हैं :—

इति लोकत्रयस्यास्य सघनाकारेण रज्जवः ।
शतत्रयत्रिचत्वारिंशदग्रप्रमिता मताः ॥७७॥

अर्थः—इस प्रकार तीनों लोकों का सम्पूर्ण घनफल (अधोलोक का १९६ घनराजू औ
ऊर्ध्वलोक का १४७ घनराजू, १९६+१४७)=३४३ घनराजू प्रमाण जानना चाहिये। अर्था
सम्पूर्ण लोकाकाश के यदि एक राजू लम्बे, एक राजू चौड़े और एक राजू मोटे टुकड़े किये जायें त
सम्पूर्ण टुकड़ों की संख्या ३४३ प्राप्त होगी ॥७७॥

अब दो श्लोकों द्वारा लोक की परिधि का निरूपण किया जाता है :—

लोकस्य परिधिर्ज्ञेया पूर्वपश्चिमभागयोः ।
रज्जूनां साधिकैकोन चत्वारिंशत्प्रमाखिलाः ॥७८॥

अर्थः— लोक की पूर्व पश्चिम भाग की सम्पूर्ण परिधि कुछ अधिक ३९ राजू प्रमाण जानना चाहिये ।।७८।।

विशेषार्थ:—लोक को पूर्व पश्चिम दिशा से देखने पर उसमें त्रस नाली के द्वारा बनाये गये दो त्रिभुज अधोलोक में और चार त्रिभुज ऊर्ध्व लोक में दिखाई देते हैं, जिनके कारणों की परिधि क्रमशः १५$\frac{३}{७०}$ राजू और १६$\frac{६}{३६}$ राजू है। लोक के ऊपर की चौड़ाई १ राजू और नीचे की चौड़ाई ७ राजू प्रमाण है, इस प्रकार पूर्व पश्चिम अपेक्षा लोक की सम्पूर्ण परिधि (१५$\frac{३}{७०}$ + १६$\frac{६}{३६}$ + १ + ७) = ३९$\frac{४३}{५३०}$ राजू प्रमाण है। यह परिधि साधिक ३९ राजू कैसे है? इसका उत्तर ज्ञात करने के लिये त्रिलोकसार की गा० १२२ दृष्टव्य है।

स्यातास्य परिधिर्दक्षैर्दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः ।
मूलाग्रयोश्च रज्जुद्विचत्वारिंशन्मिता स्मृता ।।७९।।

अर्थः—लोक की दक्षिणोत्तर दिशा में दोनों पार्श्वभागों की तथा मूल और अग्रभाग की सम्पूर्ण परिधि दक्ष -ज्ञानी जनों के द्वारा ४२ राजू प्रमाण कही गई है ।।७९।।

विशेषार्थ :—लोक की ऊँचाई चौदह राजू प्रमाण है और दक्षिणोत्तर लोक सर्वत्र सात राजू चौड़ा है, अतः लोक के ऊपर की ७ राजू चौड़ाई, नीचे की सात राजू चौड़ाई और दोनों पार्श्व भागों की १४, १४ राजू ऊँचाई जोड़ देने से (७ + ७ + १४ + १४) = ४२ राजू दक्षिणोत्तर लोक की परिधि होती है। इसका चित्रण त्रिलोकसार गा० १२१ में देखना चाहिये।

लोक को परिवेष्टित करने वाले तीन वातवलयों का निरूपण ग्यारह श्लोकों द्वारा करते हैं—

घनोदधिर्घनाख्यश्च तनुवात इमे त्रयः ।
सर्वतो लोकमावेष्ट्य नित्यास्तिष्ठन्ति वायवः ।।८०।।
आद्यो गोमूत्रवर्णोयं मुद्गवर्णो द्वितीयकः ।
पञ्चवर्णस्तृतीयः स्याद् बहिर्वलयमारुतः ।।८१।।

अर्थः —सम्पूर्ण लोक को परिवेष्टित करते हुये घनोदधि, घन और तनु ये तीन पवन नित्य ही स्थित रहते हैं। इनमें आद्य अर्थात् घनोदधि वातवलय का वर्ण गोमूत्र के सदृश, दूसरे घनवातवलय का वर्ण मूँग (अन्न) के सदृश और तीसरे तनुवातवलय का वर्ण पञ्चवर्णों के सदृश है ।८०,८१।।

विशेषार्थः—जिस प्रकार वृक्ष छाल से वेष्टित रहता है उसी प्रकार यह लोक सर्वत्र तीन तहों या परतों के सदृश तीन पवनों से वेष्टित है। इसकी प्रथम तह लोक को स्पर्शित करने वाली एवं गोमूत्र वर्ण वाली घनोदधि नामक पवन की है। दूसरी तह मध्य में है, जिसका नाम घनवात है और वर्ण मूँग के सदृश है। तीसरी तह बाह्य में है जो पंच वर्ण वाली है और तनुवात के नाम से विख्यात है।

लोकस्याधस्तले भागे महातमःप्रभाश्रिते ।
पार्श्वयोरेकरज्ज्वन्तमन्तरेष्वपि सप्तसु ॥८२॥
सप्तनारक पृथ्वीनां स्थूलत्वं मरुतां मतम् ।
प्रत्येकं योजनानां च सहस्रविंशतिप्रमम् ॥८३॥
दण्डाकारा[1] भवन्त्येते लोकाधोभूतलान्तरे ।
दण्डाकारा घनीभूता लोकान्ते वायवस्त्रयः ॥८४॥

अर्थः— लोकाकाश के अधोभाग में, सातवें नरक से नीचे नीचे अर्थात् दोनों पार्श्व भागों में नीचे से ऊपर की ओर एक राजू की ऊँचाई (निगोद स्थान) पर्यन्त, लोक के अभ्यन्तर भाग में सातों नरक पृथिवियों के नीचे सातों नरकों की जो सात पृथिवियां हैं (और ८वीं ईषत्प्राग्भार पृथ्वी के नीचे) उनमें दण्डाकार (रज्जू आकार) प्रत्येक पवन बीस बीस हजार योजन की मोटाई को लिये हुए हैं। इस प्रकार ये तीनों पवन अधोलोक में सातों पृथिवियों के नीचे, लोक के अन्त में अर्थात् लोक के ऊपर प्राग्भार पृथ्वी के नीचे अर्थात् आठों पृथिवियों के नीचे सघन और दण्ड के आकार को धारण करने वाली हैं ॥ ८२–८४ ॥

महातमः प्रभापार्श्वे वातानां स्थौल्यमञ्जसा ।
सप्तैव पञ्चचत्वारि प्रत्येकं योजनान्यपि ॥८५॥
नृलोके क्रमहान्यात्र पञ्चचत्वारि त्रीणि च ।
स्थौल्यं वातत्रयाणां हि योजनानि पृथक् पृथक् ॥८६॥
बाहुल्यं ब्रह्मलोकान्ते वायूनां योजनानि च ।
सप्तपञ्चैव चत्वारि प्रत्येकं क्रमवृद्धितः ॥८७॥
क्रमहान्योर्ध्वलोकान्तेऽमीषां स्थूलत्वमञ्जसा ।
प्रत्येकं पञ्च चत्वारि त्रीणि सद्योजनानि च ॥८८॥

अर्थः— सप्तम नरक के दोनों पार्श्व भागों में घनोदधिवातवलय सात योजन, घनवातवलय पांच योजन और तनुवातवलय चार योजन मोटाई वाले हैं। इसके ऊपर क्रम से घटते हुये मनुष्य (मध्य) लोक के समीप तीनों वातवलय क्रम से पृथक् पृथक् पांच योजन चार योजन और तीन योजन बाहुल्य वाले प्राप्त होते हैं, तथा यहाँ से ब्रह्मलोक पर्यन्त क्रमशः बढ़ते हुये सात योजन, पांच योजन और चार योजन मोटाई वाले हो जाते हैं और ब्रह्मलोक से क्रमानुसार हीन होते हुये तीनों पवन लोक के अन्त में अर्थात् ऊर्ध्वलोक के निकट क्रमशः पांच योजन, चार योजन और तीन योजन बाहुल्य वाले हो जाते हैं ॥ ८५–८८ ॥

---

१ एष श्लोकः अ० ज० न० प्रतिषु नास्ति ।

घनोदधौ च लोकाग्रे स्थौल्यं क्रोशद्वयं मतम् ।
क्रोशैकं घनवाते च तनुवाते धनूंषि वै ॥८९॥

पञ्चसप्तति युक्तानि शतपञ्चदशेत्ययम् ।
सर्वतोप्यावृतो लोकः सर्वो वातत्रयैर्भवेत् ॥९०॥

अर्थः—लोक के अग्रभाग पर घनोदधिवातवलय की मोटाई २ कोश, घनवातवलय की एक कोश और तनुवातवलय की मोटाई १५७५ धनुष प्रमाण है। इस प्रकार यह लोक सभी ओर से तीन वातवलयों के द्वारा वेष्टित है ॥८९–९०॥

अब चार श्लोकों द्वारा त्रसनाली के स्वरूप आदि का विवेचन करते हैं:—

उदूखलस्य मध्याधोभागे छिद्रे कृते यथा ।
वंशादिनालिका क्षिप्ता चतुष्कोणा तथास्य च ॥९१॥

अर्थः—ऊखली के मध्य बीचों बीच अधोभाग पर्यन्त छिद्र करके उसमें बांस आदि की चतुष्कोण नाली डाल देने पर जैसा आकार बनता है वैसा ही आकार लोक नाली का है ॥९१॥

लोकस्य मध्यभागेऽस्ति त्रसनाडी त्रसान्विता ।
चतुर्दशमहारज्जूत्सेधा रज्ज्वेक विस्तृता ॥९२॥

त्रसनाड्या बहिर्भागे त्रसाः सन्ति न जातुचित् ।
समुद्घातो विना केवलिमारणान्तिकात्मनो ॥९३॥

अर्थः—लोक के मध्यभाग में त्रस जीवों से समन्वित, चौदह राजू ऊँची और एक राजू चौड़ी त्रसनाड़ी (नाली) है। इस त्रस नाड़ी के बाह्य भाग में केवलि समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात (और उपपाद) के बिना कभी भी अर्थात् अन्य किसी भी अवस्थाओं में त्रस जीव नहीं पाये जाते ॥९२,९३॥

विशेषार्थः—लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है। उसमें त्रसनाड़ी का घनफल (१४ × १ × १) १४ घनराजू प्रमाण है और इतने ही क्षेत्र में त्रसजीवोंका सद्भाव पाया जाता है, शेष (३४३–१४ घनराजू) = ३२९ घनराजू क्षेत्र त्रसनाड़ी से बाह्य क्षेत्र कहलाता है। इस बाह्य क्षेत्र में मात्र स्थावर जीव ही पाये जाते हैं, त्रस नहीं। अर्थात् त्रसपर्याय समन्वित जीव नहीं पाये जाते किन्तु उपपाद, मारणान्तिक और केवलिसमुद्घात वाले त्रस जीवों के आत्मप्रदेशों का सत्त्व वहाँ अवश्य पाया जाता है।

जीव का अपनी पूर्व पर्याय को छोड़ने पर नवीन आयु के प्रथम समय को उपपाद कहते हैं। पर्याय के अन्त में मरण के निकट होने पर बद्धायु के अनुसार जहाँ पर उत्पन्न होना है, वहाँ के क्षेत्र

को स्पर्श करने के लिए जो आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना है वह मारणान्तिक समुद्घात है। १३ वें गुणस्थान के अन्त में आयु कर्म के अतिरिक्त शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति क्षय के लिए केवली के (दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण आकार से) आत्म प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना केवली समुद्घात है।

इति बहुविधरूपां लोकनाडीं समग्रां,
जिनगणधरदेवैः प्रोदितामङ्गपूर्वे।
शिवगतिसुखकामाद्भावबुद्ध्याश्रयध्वं,
सकलचरणयोगैर्लोकमूर्ध्वस्थमोक्षम् ।।९४।।

अर्थः—हे मोक्ष सुख के इच्छुक ! श्रेष्ठ गणधरदेवों के द्वारा अङ्गपूर्व में कही गई अनेक स्वरूप वाली सम्पूर्ण लोकनाड़ी को जान कर सकल चारित्र के योग द्वारा लोक के अग्रभाग में स्थित मोक्ष का आश्रय करो ।।९४।।

अधिकार गत अन्तिम मङ्गलाचरण :—

तन्निर्वाणमनन्तसौख्यजनकं ये सिद्धनाथाः श्रिता—
स्तीर्थेशाश्च तपोवरैः सुचरणैर्गन्तुं द्रुतं प्रोद्यताः।
पञ्चाचार परायणाश्च गणिनो ये पाठकाः साधव—
स्तेषां पादसरोरुहान् स्वशिरसा तद्भूतये नौम्यहम् ।।९५।।

अर्थः—जो सिद्ध परमेष्ठी और तीर्थङ्कर देव अनन्त सुख को उत्पन्न करने वाले निर्वाण का आश्रय ले चुके हैं, तथा उत्कट तप और सम्यक्‌चारित्र के द्वारा पञ्चाचार परायण आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय एवं साधुगण शीघ्र ही मोक्ष में जाने के लिये उद्यमवान् हो रहे हैं ऐसे उन पञ्चपरमेष्ठियों के चरण कमलों को मैं मोक्ष की विभूति के लिये शिर से नमस्कार करता हूँ ।।९५।।

इस प्रकार श्री सकलकीर्ति भट्टारक द्वारा विरचित महाग्रन्थ सिद्धान्तसारदीपक में लोकनाडी का वर्णन करने वाला प्रथम अधिकार सम्पूर्ण हुआ।

दूसरा अधिकार

अधिकार की आदि में मङ्गलाचरण करते हैं :—

लोकनाडिगतान् पञ्च महतः परमेष्ठिनः ।
स्वर्गमुक्तिकरान् वन्दे सतां श्वभ्रनिवारकान् ।।१।।

अर्थ:—लोकनाड़ी में स्थित, स्वर्ग और मुक्ति सुखों को करने-देने वाले तथा सज्जन पुरुषों का नरकगति से निवारण करने वाले परमोत्कृष्ट पञ्चपरमेष्ठियों को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१।।

वक्ष्यमाण अधोलोक के वर्णन का हेतु और प्रतिज्ञा :—

अथ वैराग्यसंसिद्ध्यै पाप्यङ्गिभीतिहेतवे ।
अधोलोकं प्रवक्ष्येऽहं लोकस्य श्वभ्रवर्णनैः ।।२।।

अर्थ:—वैराग्य की प्राप्ति के लिए और लोकके पापी जीवों को भय उत्पन्न कराने के लिए अब मैं नरकों के वर्णन द्वारा अधोलोक को कहूँगा । अर्थात् नरकों के दुःखों को सुनकर-पढ़कर वैराग्य की प्राप्ति हो और पापों से भय हो इसलिये नरकों के कथन द्वारा आचार्य अधोलोक का विस्तृत वर्णन करेंगे ।

अधोलोक में सातों पृथिवियों की स्थिति एवं नाम तीन श्लोकों द्वारा कहते हैं:—

महामेरोरधोभागे रज्ज्वैकैकान्तरस्थिताः ।
स्पृशन्त्यः सर्वलोकान्तं सप्तेमाः श्वभ्रभूमयः ।।३।।

आद्या रत्नप्रभाशर्कराप्रभावालुकाप्रभा ।
पङ्कधूमप्रभाभिख्ये तमोमहातमःप्रभे ।।४।।

इतिप्रभोत्थनामानि पृथ्वीनां श्रीजिना विदुः ।
तथा पर्यायनामानीमानि ज्ञेयानि कोविदैः ।।५।।

अर्थ:—सुदर्शनमेरु के अधोभाग में सात नरक भूमियाँ लोक के अन्त को स्पर्श करती हुईं एक एक राजू के अन्तराल से स्थित हैं। इनमें १ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ वालुका प्रभा, ४ पङ्कप्रभा ५ धूमप्रभा, ६ तमःप्रभा और ७ महातमःप्रभा नाम वाली पृथिवियाँ हैं, अपनी अपनी प्रभा से

उत्पन्न होने वाले ये पृथिवियों के नाम जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं। तथा विद्वानों के द्वारा जाने गये इन्हीं पृथिवियों के पर्यायवाची नाम आगे कहे जावेंगे ॥ ३-५ ॥

विशेषार्थ:—अधोभाग में स्थित सात नरक भूमियों में से रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा ये दोनों मेरु के नीचे एक राजू में हैं और शेष पाँच भूमियाँ एक एक राजू के अन्तर से हैं, इस प्रकार छह राजू में सात नरक हैं और इनके नीचे एक राजू में मात्र पंचस्थावर स्थान है। ये रत्नप्रभा आदि सातों पृथिवियाँ सार्थक नाम वाली हैं क्योंकि इनमें क्रम से रत्न, शक्कर, रेत, कीचड़, धुंआ, अन्धकार और महा अन्धकार के सदृश प्रभा पाई जाती है।

अब सातों नरकों के नाम कहते हैं:--

घर्मावंशाह्वयामेघाञ्जनारिष्टाभिधाततः ।
मघवीमाघवी चैता अधोऽधः सप्तभूमयः ॥६॥

अर्थ:—(१) घर्मा, (२) वंशा, (३) मेघा, (४) अञ्जना, (५) अरिष्टा, (६) मघवी और (७) माघवी ये सात पृथिवियाँ नीचे नीचे अर्थात् क्रमशः एक के नीचे एक हैं ॥६॥

सातवें नरक के नीचे निगोद स्थान का कथन करते हैं:—

सप्तानां श्वभ्रपृथ्वीनामधो भागेऽस्ति केवलम् ।
एक रज्जुप्रमं क्षेत्रं पृथिवीरहितं भृतम् ॥७॥

नानाभेदैर्निकोतादिपञ्चस्थावरदेहिभिः ।
रत्नप्रभाधरायाश्च त्रयो भेदा इमे स्मृताः ॥८॥

अर्थ:—सातों नरक पृथ्वियों के नीचे एक राजू प्रमाण क्षेत्र नरक पृथ्वी से रहित है, उसमें केवल पञ्चस्थावरों के शरीर को धारण करने वाले नाना प्रकार के निगोद आदि स्थावर जीव रहते हैं। रत्नप्रभा पृथिवी के आगे कहे जाने वाले तीन भेद जानना चाहिये ॥ ७-८ ॥

चार श्लोकों द्वारा प्रथम पृथिवी के भेद प्रभेदों को कहते हैं:—

खरभागोऽथ पङ्कांशस्ततोऽप्यब्बहुलांशकः ।
खरभागे भवन्त्यस्याः इमे षोडशभूमयः ॥९॥

चित्रावज्राथ वैडूर्या लोहिता च मसारिका ।
गोमेदा हि प्रवालाख्याः ज्योतिरसाञ्जनाह्वया ॥१०॥

अञ्जनाभाभिधा मूला स्फटिकाख्याथ चन्दना ।
सपर्वावकुलाशैला खरे पृथ्व्यो हि षोडश ।।११।।
एकैकस्याः[1] सुबाहुल्यं सहस्रगुणयोजनम् ।
भूमेश्चैव तदात्मासौ खरभागो मतो बुधैः ।।१२।।

अर्थः—प्रथम रत्नप्रभा पृथिवी खरभाग, पङ्कभाग और अब्बहुल भाग के भेद से तीन प्रकार की है, जिसमें खरभाग में नीचे कही जाने वाली सोलह भूमि पडत हैं। १ चित्रा, २ वज्रा, ३ वैडूर्या, ४ लोहिता, ५ मसारिका, ६ गोमेदा, ७ प्रवाला, ८ ज्योतिरसा, ९ अञ्जना, १० अञ्जनाभा, ११ मूला, १२ स्फटिका, १३ चन्दना, १४ सपर्वा, १५ वकुला और १६ शैला ये खर भाग में सोलह पृथ्वियों के पडत हैं। इनमें प्रत्येक पृथिवी (पडत) का बाहुल्य (मोटाई) एक एक हजार योजन प्रमाण है। इन सोलह पृथिवी पडतात्मक भूमि ही विद्वानों के द्वारा खरभाग माना गया है। अर्थात् खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है जिसमें एक एक हजार योजन मोटी सोलह पृथ्वियाँ (पडत) हैं अतः सोलह पृथिवी (पडत) आत्मक ही खर भाग है ऐसा कहा गया है ।।९,१२।।

नोटः—त्रि० सा० गा० १४८ में ११ वीं पृथिवी का नाम अङ्का और १४ वीं का सर्वार्थका कहा गया है।

खर आदि भागों में रहने वाले देवों का विवेचन दो श्लोकों द्वारा करते हैं:—

खरभागे वसन्त्यत्र सप्तधा व्यन्तरामराः ।
राक्षसानां कुलं मुक्त्वा नवभेदाश्च भावनाः ।।१३।।
असुराणां कुलं त्यक्त्वा पङ्कभागेऽसुरव्रजाः ।
राक्षसाश्च वसन्त्येव तृतीयांशे च नारकाः ।।१४।।

अर्थः—राक्षस कुलको छोड़कर शेष सात प्रकार के व्यन्तर देव और असुरकुमार देवों को छोड़ कर शेष नौ प्रकार के भवनवासी देव खरभाग में व राक्षस और असुरकुमार पङ्क भाग में रहते हैं, तथा तृतीय अब्बहुल भाग में नारकी जीवों का वास है ।।१३,१४।।

विशेषार्थः—व्यन्तर देवों के आठ कुल हैं-किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। इनमें से राक्षस कुल को छोड़कर शेष सात कुलों के व्यन्तरवासी देव खरभाग में रहते हैं। इसीप्रकार भवनवासी देवों के दस कुल हैं—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, विद्युत्कुमार, स्तनितकुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार। इनमें से असुरकुमार के कुलको छोड़कर शेष कुलों के भवनवासी देव भी खर भागमें रहते हैं, तथा राक्षस और असुरकुमार (द्वितीय) पङ्क भाग में रहते हैं और तृतीय अब्बहुल भागमें प्रथम नरकके नारकी रहते हैं।

---

१ एष श्लोकः अ० प्रतौ नास्ति ।

प्रथम पृथिवी के तीन भागों की मोटाई तीन श्लोकों द्वारा कहते हैं:—

रत्नप्रभात्रिपृथिवीनामिदं स्थौल्यं त्रिधा मतम् ।
योजनानि खरांशस्य स्युः सहस्राणि षोडश ॥१५॥
योजनानां सहस्राणि ह्यशीतिश्चतुरुत्तरा ।
स्थूलत्वं पङ्कभागस्य तृतीयांशस्य निश्चितम् ॥१६॥
अशीतिसहस्राणि त्रिभूमीनां पिण्डितानि च ।
लक्षाशीतिसहस्राणि सर्वाणि योजनान्यपि ॥१७॥

अर्थ:—इस (कहे जाने वाले) रत्नप्रभा पृथिवी के तीनों भेदों का बाहुल्य भी तीन प्रकार का माना गया है। यथा–प्रथम खरभाग की मोटाई १६००० योजन, द्वितीय पङ्क भागकी मोटाई ८४००० योजन और तृतीय अब्बहुल भाग की मोटाई ८०००० योजन की है। इन तीनों पृथिवियों के बाहुल्य को जोड़ने से (१६०००+८४०००+८००००)=१८०००० एक लाख अस्सीहजार योजन प्राप्त होते हैं, अतः रत्नप्रभा पृथिवी की मोटाई १८०००० मानी गई है ॥१५–१७॥

अब शेष छह पृथिवियों का निरूपण चार श्लोकों द्वारा किया जाता है:-

शेषषट् श्वभ्रभूमीनां बाहुल्यं कथ्यतेऽधुना ।
स्युर्द्वात्रिंशत्सहस्राणि स्थूलत्वं शर्कराक्षितेः ॥१८॥
अष्टाविंशतिमानानि सहस्रयोजनानि च ।
बाहुल्यं बालुका पृथ्व्याः सन्ति पङ्कप्रभावनेः ॥१९॥
योजनानां चतुर्विंशति सहस्राणि शाश्वतम् ।
स्थौल्यं धूमक्षितेर्विंशति सहस्राणि सम्मतम् ॥२०॥
तमःप्रभावनेः स्थौल्यं सहस्राणि च षोडश ।
योजनाष्टसहस्राणि महातमः प्रभाक्षितेः ॥२१॥

अर्थ:—अब अवशेष छह नरक पृथिवियों का बाहुल्य (मोटाई) कहते हैं। शर्करा पृथिवी की मोटाई ३२००० योजन, बालुका प्रभा पृथिवी की २८००० योजन, पङ्कप्रभा की २४००० योजन, धूमप्रभा पृथिवी की २०००० योजन, तमः प्रभा पृथिवी की १६००० योजन और महातमः पृथिवी की मोटाई ८००० योजन है ॥१८–२१॥

दो श्लोकों द्वारा उन सातों पृथिवियों में स्थित पटलों के स्थान का निरूपण करते हैं:—

धर्मादिषड्धराणां प्रत्येकमूर्ध्वेऽप्यधस्तले ॥
सहस्रयोजनान्मुक्त्वा भवेयुः पटलानि च ॥२२॥

पटलं मध्यभागेऽस्ति महातमः प्रभाक्षितेः ।
इदानीं सप्तभूमीनां बिलसंख्योच्यते क्रमात् ।।२३।।

अर्थः—प्रथम पृथिवी के अब्बहुल भाग में और वंशा आदि शेष पांच अर्थात् घर्मा आदि छह पृथिवियों में ऊपर नीचे एक एक हजार योजन की मोटाई छोड़ कर पटलों की स्थिति है और सातवीं महातमः प्रभा पृथिवी के मध्य भाग में एक ही पटल है। अब सातों पृथिवियों के बिलों की संख्या क्रम से कहते हैं ।।२२-२३।।

प्रथमादि पृथिवियों में बिलों का निरूपणः—

आदिमे नरके त्रिंशल्लक्षाणि स्युर्बिलानि च ।
पञ्चविंशतिलक्षाणि द्वितीये दुःकराण्यपि ।।२४।।

तृतीये नरके पञ्चदशलक्ष बिलानि च ।
चतुर्थे दशलक्षाणि लक्षत्रयाणि पञ्चमे ।।२५।।

षष्ठे बिलानि पञ्चोनैक लक्षमितानि च ।
सप्तमे नरके सन्ति बिलानि पञ्च केवलम् ।।२६।।

पिण्डीकृतानि सर्वाणि बिलानि सप्तभूमिषु ।
लक्षाश्चतुरशीतिः स्युर्विश्वदुःखाकराण्यपि ।।२७।।

अर्थः—प्रथम नरक में ३०००००० (तीस लाख) बिल हैं। दूसरे नरक में २५००००० (पच्चीस लाख), तीसरे में १५००००० (पन्द्रह लाख), चौथे में १०००००० (दश लाख), पांचवें में ३००००० (तीन लाख), छठवें में पांच कम एक लाख (९९९९५) और सातवें नरक में मात्र ५ (पांच) बिल हैं। सम्पूर्ण दुःखों के आकार (खानि) स्वरूप इन सातों नरकों के सम्पूर्ण बिलों को जोड़ देने से योगफल (३० लाख + २५ लाख + १५ लाख + १० लाख + ३ लाख + ९९९९५ + ५) = ८४००००० (चौरासी लाख) प्रमाण होता है। अर्थात् सातों नरकों में ८४ लाख बिल हैं ।।२४-२७।।

अब ग्यारह श्लोकों द्वारा सातों नरक पटलों की संख्या एवं उनके नामों का दिग्दर्शन कराते हैं:—

आदिमे नरके सन्ति प्रतराणि त्रयोदश ।
एकादश द्वितीये तृतीये नव चतुर्थके ।।२८।।
सप्ताथ पञ्चमे पञ्च षष्ठे त्रीणि च सप्तमे ।
एकमेकोन पञ्चाशत्सर्वाणि प्रतराणि च ।।२९।।

आद्यः सीमन्तकाभिख्यो नारकाख्यश्च रौरवः ।
भ्रान्तोद्भ्रान्तौ हि सम्भ्रांतोऽथासम्भ्रान्तश्च सप्तमः ॥३०॥
विभ्रान्ताख्योऽष्टमो ज्ञेयस्त्रसस्त्रसित संज्ञकः ।
वक्रान्तः स्यादवक्रान्तो विक्रान्तः प्रथमावनौ ॥३१॥
ततकस्तवको नाम्ना वनको मनकाह्वयः ।
खटकः खटिकाभिख्यो जिह्वाख्यो जिह्विकाभिधः ॥३२॥
लोलो लोलुपसंज्ञोऽथ तनलोलुपनामकः ।
अमी एकादश प्रोक्ता वंशायां प्रतरा जिनैः ॥३३॥
तप्ताख्यस्तपिताभिख्यस्तपनस्तपनाह्वयः ।
निदाघसंज्ञकोऽथोज्ज्वलितः प्रज्वलिताख्यकः ॥३४॥
ततः संज्वलितः संप्रज्वलितो वालुकाक्षितौ ।
आरस्ताराभिधो मारश्चञ्चाख्यस्तपनीयकः ॥३५॥
घटः संघटनामैते चतुर्थ्यां प्रतरा मताः ।
तमो भ्रमः शङ्खाख्योऽन्धस्तमिश्रः पञ्चमोक्षितौ ॥३६॥
हिमाख्यो मर्दलो लल्लकः षष्ठ्यां प्रतरास्त्रयः ।
अवधिस्थाननामैको महातमःप्रभावनौ ॥३७॥
सर्वेष्वेकोनपञ्चाशत्प्रतरेषु भवन्ति च ।
तत्समा इन्द्रकाः श्रेणीबद्धाः प्रकीर्णका बिलाः ॥३८॥

अर्थः—प्रथम नरक में तेरह (१३) पटल हैं। दूसरे में ग्यारह (११), तीसरे में नव (९), चौथे में सात (७), पांचवें में पांच (५), छठवें में तीन और सातवें नरक में एक पटल है। इस प्रकार सातों नरकों के सम्पूर्ण पटल ४९ हैं। पटलों के नाम—सीमन्त, २ नारक, ३ रौरव, ४ भ्रान्त, ५ उद्भ्रान्त, ६ सम्भ्रान्त, ७ असम्भ्रान्त, ८ विभ्रान्त, ९ त्रस, १० त्रसित, ११ वक्रान्त, १२ अवक्रान्त और १३ विक्रांत, ये तेरह पटल प्रथम पृथिवी अर्थात् अब्बहुल भाग में हैं। १ ततक, २ स्तवक, ३ वनक, ४ मनक, ५ खटक, ६ खटिका, ७ जिह्वा, ८ जिह्विका, ९ लोलो, १० लोलुप और ११ तनलोलुप नाम के ये ११ पटल द्वितीय शर्करा प्रभा पृथ्वी में हैं। १ तप्त, २ तपित, ३ तपन, ४ तापन, ५ निदाघ, ६ उज्ज्वलित, ७ प्रज्वलित, ८ सञ्ज्वलित और ९ सम्प्रज्वलित नाम के ९ पटल तृतीय वालुका प्रभा पृथिवी में हैं। १ आर, २ तार, ३ मार, ४ चञ्चा, ५ तपनीय, ६ घट और ७ सङ्घाटन नाम वाले ये सात पटल चतुर्थ पङ्कप्रभा पृथिवी में हैं। १ तम, २ भ्रम, ३ शङ्ख, ४ अन्ध

और ५ तमिश्र नामक ये पांच पटल पञ्चम धूमप्रभा पृथिवी में हैं। (१) हिम, (२) मर्दक और (३) लल्लक ये तीन पटल तमः प्रभा पृथिवी में हैं तथा अवधिस्थान नाम का एक पटल सप्तम महातमः पृथिवी में है। ये सम्पूर्ण पटल ४६ हैं और इनसे सम्बन्धित इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिल भी होते हैं ॥२८-३८॥

अब सात श्लोकों द्वारा सातों नरकों के इन्द्रादिक बिलों का निरूपण करते हैं:—

सर्वेषां प्रतराणां स्युर्मध्यभागेषु चेन्द्रकाः ।
श्रेणीबद्धाः क्रमात् पङ्क्त्याकारेणैव दिगष्टसु ॥३९॥

श्रेणीबद्धाश्चतुर्दिक्षु प्रथमे पटले पृथक् ।
भवन्त्येकोनपञ्चाशत् प्रत्येकं चतुरस्रकाः ॥४०॥

अस्यादि पटलस्यापि चतुर्विदिक्षुसंस्थिताः ।
श्रेणीबद्धाश्च सन्त्यष्टचत्वारिंशत् पृथक् पृथक् ॥४१॥

ततः क्रमाद् द्वितीयादि पटलानां दिगष्टसु ।
अष्टावेकैक रूपेण श्रेणीबद्धाः पृथक् पृथक् ॥४२॥

हीयन्ते तावदेवान्तिमे यावत् पटले स्फुटम् ।
श्रेणीबद्धा हि चत्वारस्तिष्ठन्ति तुर्यदिग्गताः ॥४३॥

सन्ति प्रकीर्णकाः सर्वे श्रेणीबद्धान्तरालसु ।
इन्द्रकश्रेणिसम्बन्धहीनाः पृथक् पृथक् स्थिताः ॥४४॥

प्रकीर्णका न सप्तम्यां श्रेणीबद्धा महत्तराः ।
स्युश्चतुर्दिक्षु चत्वारो मध्ये चैकेन्द्रको भवेत् ॥४५॥

अर्थ:—सम्पूर्ण पटलों के मध्यभाग में एक एक इन्द्रक बिल होता है, और इस इन्द्रक की आठों दिशाओं में क्रम से पंक्ति के आकार श्रेणीबद्ध बिल होते हैं। प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल (सीमन्त नामक इन्द्रक बिल) की चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में चतुष्कोण आकार को धारण करने वाले ४९, ४९ श्रेणीबद्ध बिल हैं और इसी पटल के इसी इन्द्रक की चारों विदिशाओं में से प्रत्येक विदिशा में पृथक् पृथक् ४८, ४८ श्रेणीबद्ध बिल हैं। इसी प्रकार क्रम से द्वितीयादि पटलों की आठों दिशा विदिशाओं में से प्रत्येक दिशा विदिशा में ये एक एक कम होते हुए एक पटल में एक साथ आठ श्रेणीबद्ध घट जाते हैं, और ये इस प्रकार तब तक घटते जाते हैं जब तक कि अवधिस्थान नाम के अन्तिम इन्द्रक की चारों दिशाओं में चार श्रेणीबद्ध बिल रह जाते हैं। [छह नरकों में] श्रेणीबद्ध बिलों के आठ अन्तरालों में इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों के सम्बन्ध से रहित

प्रकीर्णक बिल पृथक् पृथक् अर्थात् पुष्पों की भाँति यत्र तत्र स्थित हैं। सातवें नरक में चार दिशाओं में चार महान श्रेणीबद्ध बिल हैं और इनके मध्य में एक इन्द्रक है। यहाँ प्रकीर्णक नहीं होते ॥३९–४५॥

अथ रत्नप्रभादिसप्तपृथ्वीनाम् विस्तारेण पृथक् पृथक् श्रेणीबद्धानां संख्या प्रोच्यते :—

रत्नप्रभायाः प्रथमे पटले श्रेणीबद्धा अष्टाशीत्यधिक त्रिशतानि। द्वितीये अशीत्यधिक त्रिशतानि। तृतीये द्वासप्तत्यधिक त्रिशतानि। चतुर्थे चतुःषष्ट्यधिक त्रिशतानि। पञ्चमे षट्पञ्चाशदधिक त्रिशतानि। षष्ठे अष्टचत्वारिंशदधिक त्रिशतानि। सप्तमे चत्वारिंशदधिक त्रिशतानि। अष्टमे द्वात्रिंशदधिक त्रिशतानि। नवमे चतुर्विंशत्यधिक त्रिशतानि। दशमे षोडशाधिक त्रिशतानि। एकादशे अष्टाधिक त्रिशतानि। द्वादशे त्रिशतानि। त्रयोदशे पटले श्रेणीबद्धा द्विनवत्यधिकशतद्वय प्रमाणा भवन्ति। शर्करा प्रभेति—शर्करायां प्रथमे पटले श्रेणीबद्धाः चतुरशीत्यधिक शतद्वयं। द्वितीये षट्सप्तत्यधिकशतद्वयं। तृतीये अष्टषष्ट्यधिकशतद्वयं। चतुर्थे षष्ट्यधिकशतद्वयं। पञ्चमे द्विपञ्चाशदधिकशतद्वयं। षष्ठे चतुश्चत्वारिंशदधिकशतद्वयं। सप्तमे षट्त्रिंशदधिकशतद्वयं। अष्टमे अष्टाविंशत्यधिकशतद्वयं। नवमे विंशत्यधिकशतद्वयं। दशमे द्वादशाधिकशतद्वयं। एकादशे प्रतरे श्रेणीबद्धाः चतुरधिक द्विशतप्रमा भवेयुः। बालुकाप्रभेति—बालुकायां आदिमे प्रतरे श्रेणीबद्धाः षण्णवत्यधिकशत प्रमाः। द्वितीये अष्टाशीत्यधिकशतप्रमाः। तृतीये अशीत्यधिक शतप्रमाः। चतुर्थे द्वासप्तत्यधिकशतप्रमाः। पञ्चमे चतुःषष्ट्यधिकशतप्रमाः। षष्ठे षट्पञ्चाशदधिकशतप्रमाः। सप्तमे अष्टचत्वारिंशदधिक शतप्रमाः। अष्टमे चत्वारिंशदधिकशतप्रमाः। नवमे प्रतरे सर्वे च श्रेणीबद्धाः द्वात्रिंशदधिकशतप्रमाणा विज्ञेयाः। पङ्कप्रभेति–पङ्कप्रभायां प्रथमे पटले श्रेणीबद्ध बिलानि चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यानि। द्वितीये षोडशाधिकशतसंख्यानि। तृतीये अष्टाधिकशतसंख्यानि। चतुर्थे शतसंख्यानि। पञ्चमे द्विनवतिसंख्यानि। षष्ठे चतुरशीति संख्यानि। सप्तमे श्रेणीबद्धबिलानि षट्सप्तति संख्यानि स्युः। धूमप्रभेति—धूमप्रभायां आद्ये पटले अष्टषष्टिः श्रेणीबद्धाः। द्वितीये षष्टिश्च। तृतीये द्विपञ्चाशत्। चतुर्थे चतुश्चत्वारिंशत्। पञ्चमे षड्त्रिंशत् श्रेणीबद्धा ज्ञातव्याः। तमःप्रभेति—तमः प्रभायां श्रेणीबद्धबिलानि प्रथमे प्रतरे अष्टाविंशतिः। द्वितीये विंशतिः। तृतीये द्वादश। महातमःप्रभेति—महातमः प्रभायां पटले चत्वारः श्रेणीबद्धाः स्युः।

अर्थः—उपर्युक्त गद्य में सातों नरकों में स्थित ४९ पटलों में से प्रत्येक पटल के श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या पृथक् पृथक् दर्शाई गई है, जिसका अर्थ निम्नांकित तालिका के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

रत्नादि सातों पृथ्वियों के प्रत्येक पटलों में श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या :—

रत्नप्रभा		शर्कराप्रभा		बालुकाप्रभा		पङ्कप्रभा		धूमप्रभा		तम: प्रभा		महातम: प्रभा	
पटल संख्या	श्रेणी की संख्या	पटल संख्या	श्रेणी. की संख्या	पटल संख्या	श्रेणी की संख्या	पटल संख्या	श्रेणी. की संख्या	पटल संख्या	श्रेणी. की संख्या	पटल संख्या	श्रेणी. की संख्या	पटल संख्या	श्रेणी. की संख्या
१	३८८	१	२८४	१	१९६	१	१२४	१	६८	१	२८	१	४
२	३८०	२	२७६	२	१८८	२	११६	२	६०	२	२०		
३	३७२	३	२६८	३	१८०	३	१०८	३	५२	३	१२		
४	३६४	४	२६०	४	१७२	४	१००	४	४४				
५	३५६	५	२५२	५	१६४	५	९२	५	३६				
६	३४८	६	२४४	६	१५६	६	८४						
७	३४०	७	२३६	७	१४८	७	७६						
८	३३२	८	२२८	८	१४०								
९	३२४	९	२२०	९	१३२								
१०	३१६	१०	२१२										
११	३०८	११	२०४										
१२	३००												
१३	२९२												
	४४२०		२६८४		१४७६		७००		२६०		६०		४

अथ सप्तमहीनां प्रत्येकं इन्द्रकश्रेणीबद्धप्रकीर्णकानां गणना कथ्यते :—

घर्मायामिन्द्रकास्त्रयोदश, श्रेणीबद्धा विंशत्यधिक चतुश्चत्वारिंशच्छतानि, प्रकीर्णकाः एकोन त्रिंशल्लक्ष–पञ्चनवतिसहस्र–पञ्चशत–सप्तषष्टिसंख्याश्च भवन्ति । वंशायां एकादशेन्द्रकाः । चतुर शीत्यधिकषड्विंशतिशतप्रमाः श्रेणीबद्धाः । चतुर्विंशतिलक्ष–सप्तनवतिसहस्र–त्रिशतपञ्चोत्तर प्रमाणाः प्रकीर्णकाः । मेघायां नवेन्द्रकाः । षड्सप्तत्यधिकचतुर्दशशतसंख्याः श्रेणीबद्धाः । चतुर्दशलक्षाष्टनवति सहस्रपञ्चशतपञ्चदशप्रमाः । प्रकीर्णकाः । अञ्जनायां इन्द्रकाः सप्त । सप्तशत श्रेणीबद्धाः । नवलक्ष–

नवनवतिसहस्र–द्विशत–त्रिनवति प्रमाणाः प्रकीर्णकाः । अरिष्टायां इन्द्रकाः पञ्च । श्रेणीबद्धाः षष्ट्यधिकद्विशतप्रमाः प्रकीर्णकाः द्विलक्ष–नवनवतिसहस्र–सप्तशत–पञ्चत्रिंशत्यसंख्याः स्युः । मघव्यां इन्द्रकाः त्रयः । श्रेणीबद्धाः षष्टिश्च । प्रकीर्णकाः नवनवतिसहस्रनवशतद्वात्रिंशत्प्रमाः भवन्ति । माघव्यां इन्द्रकः एकोऽस्ति ।

अर्थः—सातों पृथिवियों में से प्रत्येक पृथ्वी के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों को पृथक् पृथक् संख्या :—

क्रमांक	नाम पृथिवी	इन्द्रक बिल	श्रेणीबद्ध बिल	प्रकीर्णक बिल
१	घर्मा	१३	४४२०	२९९५५६७
२	वंशा	११	२६८४	२४९७३०५
३	मेघा	९	१४७६	१४९८५१५
४	अञ्जना	७	७००	९९९२९३
५	अरिष्टा	५	२६०	२९९७३५
६	मघवी	३	६०	९९९३२
७	माघवी	१	४	०

अब आठ श्लोकों द्वारा सम्पूर्ण बिलों के व्यास का विवेचन करते हैं :—

बिलानि सप्तभूमीनां चतुर्भागाश्रितानि च ।
असंख्ययोजन व्यासानि प्रोक्तानि जिनागमे ।।४६।।
तेषां पञ्चमभागस्थ–बिलानि दुष्कराणि च ।
संख्ययोजनविस्ताराणि बीभत्साशुभान्यपि ।।४७।।

अर्थः—जिनागम में सातों नरकों में से अपने अपने नरक बिलों की संख्या का $\frac{4}{5}$ भाग असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का प्रमाण कहा गया है, और उन्हीं अपने सम्पूर्ण बिलों का $\frac{1}{5}$ भाग बीभत्स, अशुभ और दुःखोत्पादक संख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का प्रमाण कहा है ।।४६–४७।।

विशेषार्थः—यथा—प्रथम पृथ्वी के कुल बिलों की संख्या तीस लाख है, इसका $\frac{4}{5}$ भाग अर्थात् ३००००००×$\frac{4}{5}$=२४००००० (चौबीस लाख) बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं और

३००००००×$\frac{1}{5}$=६००००० (छह लाख) बिल संख्यात योजन व्यास वाले हैं। (२४ लाख+६ लाख=३० लाख)। इसी प्रकार द्वितीयादि पृथ्वियों में भी जानना चाहिए।

योजनानां च संख्यातविस्तारा इन्द्रका मताः ।
श्रेणीबद्धा असंख्यातविस्तृता दुःखभाजनाः ॥४८॥
केचित् प्रकीर्णका ज्ञेयाः संख्ययोजनविस्तराः ।
असंख्ययोजनव्यासाः केचित्पुष्पप्रकीर्णकाः ॥४९॥

अर्थ:—दुःख के भाजनस्वरूप सम्पूर्ण इन्द्रक बिल संख्यात योजन विस्तार वाले और सम्पूर्ण श्रेणीबद्ध असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। पुष्पों के सदृश यत्र तत्र स्थित प्रकीर्णक बिलों में कुछ प्रकीर्णक बिल संख्यात योजन विस्तार वाले और कुछ असंख्यात योजन विस्तार वाले जानना चाहिये ॥४८-४९॥

योजनैः पञ्चचत्वारिंशल्लक्षैर्विस्तरान्वितः ।
सीमन्तकेन्द्रकश्चाद्यः प्रथमे पटलेमतः ॥५०॥
वृत्ताकारोऽन्तिमेश्वभ्रेऽवधिस्थानेन्द्रकोऽन्तिमः ।
लक्षैकयोजनव्यासो निकृष्टो दुःखपूरितः ॥५१॥

अर्थ:—प्रथम पृथिवी के प्रथम पटल में स्थित सीमन्त नामक प्रथम इन्द्रक बिल (गोलाकार) ४५००००० (४५ लाख) योजन विस्तार वाला है और अन्तिम (सप्तम) नरक का गोलाकार, निकृष्ट और जीवों को दुःखों से पूरित करने वाला अवधिस्थान नाम का अन्तिम इन्द्रक बिल १००००० योजन विस्तार वाला है ॥५०-५१॥

सहस्रैकानवत्याषट्शतैः षट्षष्टि संयुतैः ।
योजनानां द्वित्रिभागाभ्यां शेषाः सर्वेन्द्रका मताः ॥५२॥
व्यासेन क्रमतो हीयमानाश्च पटलं प्रति ।
जम्बूद्वीपप्रमो यावत् स्यादेकश्चरमेन्द्रकः ॥५३॥

अर्थ:—$\frac{2}{3}$ भाग से संयुक्त ९१६६६ योजन व्यास प्रत्येक पटल के प्रत्येक इन्द्रक के व्यास में से तब तक हीन करते जाना चाहिये जब तक कि अन्तिम इन्द्रक का व्यास जम्बूद्वीप अर्थात् १००००० योजन का प्राप्त होता है ॥५२-५३॥

विशेषार्थ:—प्रथम इन्द्रक बिल के विस्तार में से अन्तिम इन्द्रक का विस्तार घटा कर अवशेष में एक कम इन्द्रकों के प्रमाण का भाग देने पर हानि चय का प्रमाण प्राप्त होता है। यथा—प्रथम

इन्द्रक का विस्तार मनुष्य क्षेत्र सदृश (४५०००००० योजन) है और अन्तिम इन्द्रक का विस्तार जम्बूद्वीप सदृश (एक लाख योजन) है। इन दोनों का शोधन (घटाने) करने पर (४५०००००—१०००००)=४४००००० योजन अवशेष रहते हैं, इनको एक कम (४९—१=४८) इन्द्रकों के प्रमाण से भाजित करने पर (४४००००० ÷ ४८)=९१६६६⅔ योजन प्रत्येक इन्द्रक का हानि चय होता है। इस हानि चय को उत्तरोत्तर घटाते हुए भिन्न भिन्न इन्द्रक बिलों का विस्तार प्राप्त कर लेना चाहिए।

अथ सप्तनरकेषु संख्यातासंख्यातयोजनविस्तृतबिलानां पृथग् रूपेण संख्या प्रोच्यते :—

रत्नप्रभायां बिलानि षट्लक्षाणि संख्येययोजन विस्ताराणि, चतुर्विंशतिलक्षाणि असंख्येय-योजनविस्ताराणि। शर्कराप्रृथिव्यां पञ्चलक्षाणि संख्या व्यासानि, विंशतिलक्षाणि असंख्यात विस्ताराणि च। बालुकायां त्रिलक्षाणि संख्ययोजन विस्ताराणि, द्वादशलक्षाणि असंख्ययोजन-विस्ताराणि। पङ्कप्रभायां द्विलक्षसंख्य व्यासानि, अष्टलक्षाण्यसंख्यातयोजन व्यासानि। धूमप्रभायां षष्टि सहस्राणि संख्य विस्तृतबिलानि, द्विलक्षचत्वारिंशत्सहस्राणि असंख्य विस्तृतबिलानि। तमःप्रभायां एकोनविंशतिसहस्रनवशतनवनवति प्रमाणानि संख्य व्यासबिलानि, एकोनाशीतिसहस्रनवशत षण्णवति प्रमाणि असंख्यव्यासबिलानि। महातमः प्रभायां एकं बिलं संख्येय योजनविस्तृतं, चत्वारि बिलानि असंख्ययोजन विस्तृतानि। एवं सर्वाण्येकत्रीकृतानि बिलानि सप्तभूमिषु षोडशलक्षशीति सहस्राणि संख्यात विस्ताराणि भवन्ति, सप्तषष्टिलक्षविंशतिसहस्राणि—असंख्यातविस्तराणि भवन्ति च।

विशेष।—उपर्युक्त गद्य भाग में प्रत्येक नरक के संख्यात योजन विस्तार वाले और असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों की संख्या भिन्न भिन्न दर्शाई गई है, जिसका सम्पूर्ण अर्थ निम्नाङ्कित तालिका में निहित किया जा रहा है। इन संख्यात असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों की संख्या प्राप्त करने का विधान इसी अध्याय के ४६-४७ श्लोक में बतलाया गया है।

सातों नरकों के संख्यात असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का भिन्न भिन्न दिग्दर्शन:—

क्रमांक	पृथिवी–नाम	संख्यात यो० वि० वाले बिलों की संख्या	असंख्यात यो० वि० वाले बिलों की संख्या
१	रत्नप्रभा	६०००००० (छह लाख)	२४००००० (२४ लाख)
२	शर्कराप्रभा	५००००० (५ लाख)	२०००००० (२० लाख)
३	बालुका	३००००० (३ लाख)	१२००००० (१२ लाख)
४	पङ्कप्रभा	२००००० (२ लाख)	८००००० (८ लाख)
५	धूमप्रभा	६०००० (६० हजार)	२४०००० (२ लाख ४० हजार)
६	तम:प्रभा	१९९९९	७९९९६
७	महातम:प्रभा	१	४
योग		१६८०००० (१६ लाख ८० हजार)	६७२०००० (६७ लाख २० हजार)

इस प्रकार सातों नरकों के एकत्र किये हुये संख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का प्रमाण सोलह लाख अस्सी हजार और असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का प्रमाण ६७ लाख बीस हजार है. इन दोनों को एकत्रित कर देने पर सातों नरकों के सम्पूर्ण बिलों का प्रमाण (१६८००००+६७२००००)=८४००००० अर्थात् चौरासी लाख होता है।

इदानीं सप्तपृथ्वीषु एकोनपञ्चाशदिन्द्रकाणां पृथक् पृथक् विस्तार: कथ्यते:—

घर्मायां प्रथमे इन्द्रके व्यास: योजनानां पञ्चचत्वारिंशल्लक्षाणि। तत: एक नवति सहस्र-षट्-शत–षट्षष्टि योजनैर्योजनस्य द्विभागाभ्यां प्रत्येकं हीयमान क्रमेण व्यासो। द्वितीये चतुश्चत्वारिंशल्लक्षाष्टसहस्र त्रिशतत्रयस्त्रिंशद्योजनानि योजनस्य त्रिभागानामेको भाग:। तृतीये त्रिचत्वारिंशल्लक्ष षोडशसहस्र षट्शत षट्षष्ठिप्रम: द्वौ भागौ। चतुर्थे द्विचत्वारिंशल्लक्ष पञ्चविंशति सहस्राणि। पञ्चमे एक चत्वारिंशल्लक्षत्रयस्त्रिंशत् सहस्र त्रिशतत्रयस्त्रिंशच्च एको भाग:। षष्ठे चत्वारिंशल्लक्षैकचत्वारिंशत्सहस्र षट्शतषट्षष्टिश्च द्वौ भागौ। सप्तमे एकोन चत्वारिंशल्लक्षपञ्चाशत्सहस्राणि अष्टमे अष्टत्रिंशल्लक्षाष्ट पञ्चाशत्सहस्र त्रिशतत्रयस्त्रिंशत् एको भाग:। नवमे सप्तत्रिंशल्लक्षषट्षष्टिसहस्रषट्षष्टिश्च द्वौ भागौ। दशमे षट्त्रिंशल्लक्षपञ्चसप्ततिसहस्राणि। एकादशे पञ्चत्रिंशल्लक्षत्र्यशीतिसहस्रत्रिशत

त्रयस्त्रिंशच्चैको भागः। द्वादशे चतुस्त्रिंशल्लक्षैकानवतिसहस्रषट्शत षट्षष्टिश्च द्वौ भागौ। त्रयोदशे पटले इन्द्रकस्य विस्तारः चतुस्त्रिंशल्लक्षाणि। वंशायां आद्ये इन्द्रके विस्तारः त्रयस्त्रिंशल्लक्षाष्टसहस्र-त्रिशतत्रयस्त्रिंशच्चैको भागः। द्वितीये द्वात्रिंशल्लक्ष षोडशसहस्र षट्शतषट्षष्टिर्द्वौ भागौ। तृतीये एक-त्रिंशल्लक्ष पञ्चविंशतिसहस्राणि चतुर्थे त्रिंशल्लक्षत्रयस्त्रिंशत्सहस्र त्रिशतत्रयस्त्रिंशदेको भागः। पञ्चमे एकोन त्रिंशल्लक्षैकचत्वारिंशत्सहस्र षट्शतषट्षष्टिर्द्वौ भागौ। षष्ठे अष्टाविंशतिलक्षपञ्चाशत्सहस्राणि। सप्तमे सप्तविंशति लक्षाष्टपञ्चाशत्सहस्रत्रिशतत्रयस्त्रिंशच्चैको भागः। अष्टमे षड्विंशतिलक्षषट्षष्टि-सहस्र षट्शतषट्षष्टिर्द्वौ भागौ। नवमे पञ्चविंशतिलक्षपञ्चसप्ततिसहस्राणि। दशमे चतुर्विंशतिलक्ष-त्र्यशीतिसहस्रत्रिशतत्रयस्त्रिंशदेको भागः। एकादशे इन्द्रके विस्तारः योजनानां त्रयोविंशतिलक्षैक-नवति सहस्रषट्शतषट्षष्टिश्च त्रिभागीकृते योजनस्य द्वौ भागौ। मेघायामादिमे इन्द्रके व्यासः योजनानां त्रयोविंशतिलक्षाणि। द्वितीये द्वाविंशतिलक्षाष्टसहस्रत्रिशतत्रयस्त्रिंशदेको भागः। तृतीये एकविंशति-लक्षषोडशसहस्रषट्शतषट्षष्टिर्द्वौ भागौ। चतुर्थे विंशतिलक्षपञ्चविंशतिसहस्राणि। पञ्चमे एकोनविंश-तिलक्षत्रयस्त्रिंशत् सहस्रत्रिशतत्रयस्त्रिंशच्चैको भागः। षष्ठे अष्टादशलक्षैकचत्वारिंशत् सहस्रषट्शतषट्-षष्टिर्द्वौ भागौ। सप्तमे सप्तदशलक्षपञ्चाशत्सहस्राणि। अष्टमे षोडशलक्षाष्टपञ्चाशत् सहस्रत्रिशत-त्रयस्त्रिंशदेको भागः। नवमे इन्द्रके पञ्चदशलक्षषट्षष्टिसहस्रषट्शत षट्षष्टिर्योजनत्रिभागीकृत-स्य द्वौ भागौ। अञ्जनायां प्रथमे इन्द्रके विस्तृतिः योजनानां चतुर्दशलक्ष पञ्चसप्ततिसहस्राणि। द्वितीये त्रयोदशलक्षत्र्यशीतिसहस्रत्रिशतत्रयस्त्रिंशदेको भागः। तृतीये द्वादशलक्षैकनवतिसहस्रषट्शत-षट्षष्टिर्द्वौभागौ। चतुर्थे द्वादशलक्षाः। पञ्चमे एकादशलक्षाष्टसहस्रत्रिशतत्रयस्त्रिंशदेको भागः। षष्ठे दशलक्षषोडशसहस्रषट्शतषट्षष्टिर्द्वौ भागौ। सप्तमे नवलक्षपञ्चविंशति सहस्राणि। अरि-ष्टायां आदिमे इन्द्रके अष्टलक्ष त्रयस्त्रिंशत्सहस्रत्रिशतत्रयस्त्रिंशच्चैको भागः। द्वितीये सप्तलक्षैकचत्वा-रिंशत्सहस्रषट्शतषट्षष्टिर्द्वौ भागौ। तृतीये षट्लक्षपञ्चाशत्सहस्राणि। चतुर्थे पञ्चलक्षाष्टपञ्चाशत् सहस्रत्रिशतत्रयस्त्रिंशदेको भागः। पञ्चमे इन्द्रके व्यासो योजनानां चतुर्लक्षषट्षष्टिसहस्रषट्शत षट्षष्टिर्द्वौ भागौ। मघव्यां प्रथमे इन्द्रके विस्तृतिः योजनानां त्रिलक्षपञ्चसप्ततिसहस्राणि। द्वितीये द्विलक्षत्र्यशीतिसहस्रत्रिशतत्रयस्त्रिंशत् योजनस्य त्रिभागानां मध्ये चैको भागः। तृतीये एकलक्षैकनवतिसहस्रषट्शत षट्षष्टिर्द्वौ भागौ। माघव्यां इन्द्रके विस्तारः लक्षयोजन प्रमाणः।

अर्थः—घर्मा पृथ्वी के प्रथम सीमन्त नामक इन्द्रक बिल का व्यास ४५ लाख योजन है, इसमें से ९१६६६⅔ योजन घटाते जाने पर उसी पृथ्वी के द्वितीयादि इन्द्रकों का विस्तार प्राप्त होता जाता है क्योंकि हानि चय का प्रमाण सर्वत्र ९१६६६⅔ योजन ही है। इस हानि चय आदि के निकालने की विधि इसी अधिकार के नं० ५२–५३ श्लोकों के विशेषार्थ में देखना चाहिये।

उपर्युक्त सम्पूर्ण गद्यभाग का अर्थ निम्नांकित तालिका में अन्तर्निहित कर दिया गया है।

[उपर्युक्त गद्य भाग की तालिका पृष्ठ सं० ३६–३७ पर देखें]

इन्द्रकादि तीनों प्रकार के बिलों का प्रमाण चार श्लोकों द्वारा कहते हैं:—

आद्यश्वभ्रेन्द्रकाणांस्यात्स्थौल्यं क्रोशैकसम्मितम् ।
शेषश्वभ्रेन्द्रकाणां च क्रोशार्धार्धधिकं क्रमात् ॥५४॥

अर्थ:—प्रथम पृथिवी के इन्द्रक बिलों का बाहुल्य एक कोश प्रमाण है और अन्य शेष पृथ्वियों के बिलों का बाहुल्य क्रमशः आधा आधा कोश अधिक अधिक है। अर्थात् प्रत्येक पृथ्वियों के इन्द्रकों का बाहुल्य क्रमशः १ कोश, १½, २, २½, ३, ३½ और ४ कोश प्रमाण है ॥५४॥

स्थूलत्वं प्रथमे श्वभ्रे श्रेणीबद्धेषुकीर्तितम् ।
क्रोशैकं ज्ञानिभिः क्रोशतृतीयभागसंयुतम् ॥५५॥
ततः षट्श्वभ्रभूमीनां श्रेणीबद्धेषुनिश्चितम् ।
स्थौल्यं क्रोशद्विभागाभ्यां प्रत्येकमधिकं क्रमात् ॥५६॥

अर्थ:—प्रथम पृथिवी के श्रेणीबद्ध बिलों का बाहुल्य ज्ञानियों के द्वारा १⅓ कोश माना गया है, और शेष छह पृथ्वियों में से प्रत्येक भूमि के श्रेणीबद्धों का प्रमाण ⅔ भाग अधिक अधिक माना गया है। अर्थात् प्रत्येक पृथिवी के श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण क्रमशः १⅓ कोश, २ को०, २⅔ कोश, ३⅓ कोश, ४ कोश, ४⅔ कोश और ५⅓ कोश है ॥५५–५६॥

पिण्डितं यच्च बाहुल्यमिन्द्रकश्रेणिबद्धयोः ।
पृथक् षट्पृथिवीनां तत् प्रकीर्णकेषु सम्मतम् ॥५७॥

अर्थ:—प्रथम आदि छह पृथ्वियों के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों के बाहुल्य का जो प्रमाण है उसे पृथक् पृथक् पृथ्वी का जोड़ने पर जो प्रमाण प्राप्त होता है वही उस पृथ्वी के प्रकीर्णक बिलों के बाहुल्य का प्रमाण माना गया है। अर्थात् १ (१ + १⅓) = २⅓ कोश, २ (१½ + २) = ३½ कोश। ३ (२ + २⅔) = ४⅔ कोश। ४ (२½ + ३⅓) = ५⅚ कोश। ५ (३ + ४) = ७ कोश। ६ (३½ + ४⅔) = ८⅙ कोश, सातवीं पृथ्वी में प्रकीर्णक बिलों का अभाव है ॥५७॥

अतोऽमीषां सुखबोधाय पृथग् व्याख्यानं क्रियते:—

रत्नप्रभायामिन्द्रकाणां स्थूलत्वं क्रोशः स्यात्। श्रेणीबद्धानां क्रोशत्रिभागीकृतस्यैकभागाधिक-क्रोशः। प्रकीर्णकानां क्रोशतृतीयभागाधिकौ द्वौ क्रोशौ। शर्करायां चेन्द्रकानां स्थौल्यं सार्धक्रोशः। श्रेणीबद्धानां द्वौ क्रोशौ। प्रकीर्णकानां सार्धत्रिकोशाः। बालुकायां इन्द्रकाणां बाहुल्यं द्वौ क्रोशौ। श्रेणीबद्धानां द्वौ क्रोशौ क्रोशत्रिभागानां द्वौ भागौ। प्रकीर्णकानां चत्वारः क्रोशाः क्रोश त्रिभागानां द्वौ भागौ। पङ्कप्रभायां इन्द्रकाणां सार्धद्विक्रोशौ। श्रेणीबद्धानां क्रोशास्त्रयः क्रोशतृतीयभागः।

सातों नरकों में स्थित ४९ इन्द्र

धर्मा पृथिवी			वंशा पृथिवी			मेघा पृथिवी		
क्रमांक	नाम इन्द्रक	विस्तार योजनों में	क्रमांक	नाम इन्द्रक	विस्तार योजनों में	क्रमांक	नाम इन्द्रक	विस्तार योजनों
१	सीमन्त	४५०००००	१	ततक	३३०८३३३ $\frac{१}{३}$	१	तप्त	२३०००००
२	नारक	४४०८३३३ $\frac{१}{३}$	२	स्तनक	३२१६६६६ $\frac{२}{३}$	२	तपित	२२०८३३३ $\frac{१}{३}$
३	रौरव	४३१६६६६ $\frac{२}{३}$	३	वनक	३१२५०००	३	तपन	२११६६६६ $\frac{२}{३}$
४	भ्रान्त	४२२५०००	४	मनक	३०३३३३३ $\frac{१}{३}$	४	तापन	२०२५०००
५	उद्भ्रान्त	४१३३३३३ $\frac{१}{३}$	५	खटक	२९४१६६६ $\frac{२}{३}$	५	निदाघ	१९३३३३३ $\frac{१}{३}$
६	सम्भ्रान्त	४०४१६६६ $\frac{२}{३}$	६	खटिका	२८५००००	६	उज्ज्व०	१८४१६६६ $\frac{२}{३}$
७	असम्भ्रा.	३९५००००	७	जिह्वा	२७५८३३३ $\frac{१}{३}$	७	प्रज्व०	१७५००००
८	विभ्रान्त	३८५८३३३ $\frac{१}{३}$	८	जिह्विका	२६६६६६६ $\frac{२}{३}$	८	संज्व०	१६५८३३३ $\frac{१}{३}$
९	त्रस	३७६६६६६ $\frac{२}{३}$	९	लोलो	२५७५०००	९	सम्प्रज्व	१५६६६६६ $\frac{२}{३}$
१०	त्रसित	३६७५०००	१०	लोलुप	२४८३३३३ $\frac{१}{३}$			
११	वक्रान्त	३५८३३३३ $\frac{१}{३}$	११	तनलोलुप	२३९१६६६ $\frac{२}{३}$			
१२	अवक्रान्त	३४९१६६६ $\frac{२}{३}$						
१३	विक्रान्त	३४०००००						

बिलों का पृथक् पृथक् विस्तार

अञ्जना पृथिवी			अरिष्टा पृथ्वी			मघवी पृथ्वी			माघवी पृथ्वी		
क्रमांक	नाम इन्द्रक	विस्तार योजनों में	क्रमांक	नाम इन्द्रक	विस्तार योजनों में	क्रमांक	नाम इन्द्रक	विस्तार योजनों में	क्रमांक	नाम इन्द्रक	विस्तार योजनों में
१	आरा	१४७५०००	१	तम	८३३३३३ १/३	१	हिम	३७५०००	१	अवधि स्थान	१०००००
२	तारा	१३८३३३३ १/३	२	भ्रम	७४१६६६ २/३	२	मर्दल	२८३३३३ १/३			
३	मारा	१२९१६६६ २/३	३	झष	६५००००	३	लल्लक	१९१६६६ २/३			
४	वर्चा	१२०००००	४	अन्ध	५५८३३३ १/३						
५	तपनीय	११०८३३३ १/३	५	तमिश्र	४६६६६६ २/३						
६	घाट	१०१६६६६ २/३									
७	घटघाट	९२५०००									

प्रकीर्णकानां स्थौल्यं क्रोशा: पञ्च, क्रोशषड्भागानां मध्ये पञ्चभागा:। धूमप्रभायां स्थूलत्वमिन्द्रकाणां त्रय: क्रोशा:। श्रेणीबद्धानां चत्वार: क्रोशा:। प्रकीर्णकानां च सप्तक्रोशा: । तम: प्रभायां इन्द्रकाणां बाहुल्यं सार्धत्रय: क्रोशा:। श्रेणीबद्धानां चत्वार: क्रोशा: क्रोशत्रिभागानां द्वौ भागौ। प्रकीर्णकानां अष्टौक्रोशा: क्रोशस्य षड्भागानामेको भाग: । महातम: प्रभायां इन्द्रकस्य चत्वार: क्रोशा: । श्रेणीबद्धानां पञ्चक्रोशा: क्रोशस्यतृतीयो भाग: । सप्तमे प्रकीर्णका न सन्ति ।

उपर्युक्त गद्य में सातों पृथ्वियों के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों का पृथक् पृथक् बाहुल्य बताया गया है जिसका सम्पूर्ण अर्थ निम्नांकित तालिका के माध्यम से दर्शाया जा रहा है।

सातों नरकों के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों की मोटाई:—

क्रमांक	नाम पृथिवी	इन्द्रक बिलों का बाहुल्य	श्रेणीबद्धों का बाहुल्य	प्रकीर्णकों का बाहुल्य
१	रत्नप्रभा	१ कोश बाहुल्य	१ १/३ कोश बाहुल्य	२ १/३ कोश बाहुल्य
२	शर्करा	१ १/२ ,, ,,	२ ,, ,,	३ १/२ ,, ,,
३	बालुका	२ ,, ,,	२ २/३ ,, ,,	४ २/३ ,, ,,
४	पङ्कप्रभा	२ १/२ ,, ,,	३ १/३ ,, ,,	५ ५/६ ,, ,,
५	धूमप्रभा	३ ,, ,,	४ ,, ,,	७ ,, ,,
६	तम:प्रभा	३ १/२ ,, ,,	४ २/३ ,, ,,	८ १/६ ,, ,,
७	महातम:प्रभा	४ ,, ,,	५ १/३ ,, ,,	—

पृथ्वीनां पटलव्याप्तक्षेत्रं प्रतरसंख्यकै: ।
समभागैर्विभक्तं युक्त्योर्ध्वाधश्चान्तरं मतम् ।।५८।।

अर्थ:—पृथिवी के पटल व्याप्त क्षेत्र को एक कम प्रतर संख्या से (श्लोक में समभागै: पद है इससे ज्ञात होता है कि पटलों के अन्तरालों का ग्रहण किया है क्योंकि सभी नरकों में पटलों की संख्या विषम और अन्तरालों की संख्या पटल संख्या से एक कम अर्थात् सम रूप है) भाग देने पर ऊपर के पटल से उसके नीचे के पटल का अन्तर प्राप्त होता है। जैसे प्रथम पृथिवी में पटल व्याप्त क्षेत्र ७८००० योजन है। पटल संख्या १३ है, १३ पटलों में (१३−१) बारह अन्तराल हुए, अत: ७८०००

योजन को १२ से भाग देने पर (७८००० ÷ १२) = ६५०० योजन प्रति पटल अन्तर का प्रमाण प्राप्त होता है। इसी प्रकार द्वितीया आदि पृथिवियों में जानना चाहिये ॥५८॥

सातों पृथ्वियों के बिल व्याप्त क्षेत्र का प्रमाण:—

घर्मायां बिलव्याप्तक्षेत्रं योजनानामष्टसप्ततिसहस्राणि। वंशायां च त्रिंशत्सहस्राणि। मेघायां षड्विंशतिसहस्राणि। अञ्जनायां द्वाविंशतिसहस्राणि। अरिष्टायां अष्टादशसहस्राणि। मघव्यां चतुर्दशसहस्राणि। माघव्यां बिलव्याप्तक्षेत्रं पञ्चक्रोशाः क्रोशत्रिभागानामेको भागः।

अर्थ:—घर्मा पृथ्वी में बिल व्याप्त क्षेत्र का प्रमाण ७८००० योजन, वंशा में ३०००० योजन, मघा में २६००० योजन, अञ्जना में २२००० योजन, अरिष्टा में १८००० योजन, मघवी में १४००० योजन और माघवी पृथ्वी में बिल व्याप्त क्षेत्र का प्रमाण ५$\frac{1}{3}$ कोश (महाकोश) है।

विशेषार्थ:—रत्नप्रभा आदि छह पृथ्वियों में नीचे ऊपर की एक एक हजार योजन भूमि छोड़ कर बिल स्थित हैं अतः अपनी अपनी पृथ्वी की मोटाई में से दो हजार कम कर देने पर बिल व्याप्त भूमि का प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

जैसे:—अब्बहुल भाग ८०००० (अस्सी हजार) मोटाई वाला है उसमें से ऊपर नीचे के दो हजार घटा देने पर बिल व्याप्त क्षेत्र का प्रमाण ७८हजार योजन प्राप्त हो जाता है। ऐसा ही अन्यत्र जानना। केवल ७ वीं माघवी पृथ्वी के ठीक मध्य भाग में एक इन्द्रक और चार श्रेणीबद्ध बिल हैं जिनसे व्याप्त क्षेत्र का प्रमाण ५$\frac{1}{3}$ कोश मात्र है।

अब बिलों का तिर्यग् अन्तर चार श्लोकों द्वारा निरूपित किया जाता है:—

क्रमेणैवेन्द्रकश्रेणी–बद्धप्रकीर्णकेष्वपि।
संख्यातयोजनव्यास, बिलानामन्तरं स्मृतम् ॥५९॥
तिर्यगन्तं जघन्येन, सार्धयोजनमागमे।
योजनत्रिकमुत्कृष्ट, मध्यमं बहुधा च तत् ॥६०॥
असंख्ययोजनव्यास, बिलानां तिर्यगन्तरम्।
जघन्यं योजनानां स्यात्, सप्तसहस्रसम्मितम् ॥६१॥
सर्वोत्कृष्टमसंख्यातयोजनान्यन्तरं स्मृतम्।
जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमं बहुभेदभाक् ॥६२॥

अर्थ:—जिनागम में इन्द्रक श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों में से संख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का तिर्यग् अन्तर जघन्य १$\frac{1}{2}$ योजन, उत्कृष्ट ३ योजन और मध्यम अन्तर अनेक भेद वाला कहा

गया है, तथा असंख्यात योजन व्यास वाले बिलों का तिर्यग् अन्तर जघन्य सात हजार योजन, उत्कृष्ट असंख्यात योजन और जघन्य उत्कृष्ट के मध्य में रहने वाले मध्यम भेदों का तिर्यग् अन्तर अनेक प्रकार का कहा गया है ।।५९–६२।।

विशेषार्थः—इन्द्रक बिल संख्यात योजन और श्रेणीबद्ध असंख्यात योजन विस्तार वाले ही होते हैं। प्रकीर्णक में दोनों प्रकार के हैं।

अब प्रत्येक पटल की जघन्य और उत्कृष्ट आयु का दिग्दर्शन कराते हैं :—

प्रथमे पटले सीमन्तके चायुर्लघुस्थितिः ।
दशवर्ष सहस्राणि, प्रोत्कृष्टेनायुरूर्जितम् ।।६३।।
नवतिश्च सहस्राणि, द्वितीये स्थितिरुत्तमा ।
लक्षाश्च नवतिश्चासंख्य पूर्वकोटि सम्मिता ।।६४।।
तृतीयेऽन्येषु सर्वेषु, पटलं प्रतिवर्धते ।
समुद्रदशभागानामेको भागोऽप्यनुक्रमात् ।।६५।।

अर्थः– प्रथम पृथ्वी के प्रथम सीमन्त पटल के नारकी जीवों की जघन्य आयु दश हजार (१००००) वर्ष और उत्कृष्ट आयु नब्बे हजार (९००००) वर्ष है। दूसरे पटल की उत्कृष्ट आयु नब्बे लाख वर्ष, तीसरे पटल की असंख्यात पूर्वकोटि और चौथे पटल की उत्कृष्ट आयु एक सागर के दशवें भाग अर्थात् $\frac{1}{10}$ सागर प्रमाण है। इसके आगे सम्पूर्ण पटलों की उत्कृष्ट आयु का वृद्धि चय $\frac{1}{10}$ सागर है अर्थात् पूर्व पूर्व पटलों की उत्कृष्ट आयु में $\frac{1}{10}$ सागर जोड़ने से आगे आगे के पटलों की उत्कृष्ट आयु प्राप्त होती जाती है ।।६३–६५।।

प्रथमे पटले ज्येष्ठं, यश्चायुस्तद्द्वितीयके ।
जघन्यं समयेनाधिकं सर्वत्रेति संस्थितिः ।।६६।।
अन्तिमे प्रतरेऽस्यायुरुत्कृष्टं सागरोपमम् ।
द्वितीयादिक्षितिज्येष्ठमायुः स्यात्पटलेऽन्तिमे ।।६७।।
सागराश्च त्रयः सप्त–दशसप्तदशक्रमात् ।
द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंश–दित्युत्कृष्टायुषः स्थितिः ।।६८।।
विभक्तं समभागेनायुर्भागैः प्रतरप्रमैः ।
श्वभ्राणां पटलेषु स्यात् क्रमवृद्ध्या पृथक् पृथक् ।।६९।।

अर्थः—प्रथम (ऊपर के) पटल की जो उत्कृष्ट आयु है उसमें एक समय अधिक कर देने पर वही द्वितीय (नीचे के) पटल की जघन्य आयु बन जाती है यह विधि सर्वत्र जानना चाहिये ।।६६।।

प्रथम पृथिवी के अन्तिम पटल की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण है। इसी प्रकार द्वितीयादि पृथिवियों के अन्तिम पटलों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः ३, ७, १०, १७, २२, और ३३ सागरोपम प्रमाण है ॥६७-६८॥ प्रत्येक नरक की उत्कृष्ट आयु में से जघन्य आयु को घटाकर शेष को पटल संख्या से भाग देने पर नरकों के प्रत्येक पटल की आयु वृद्धि का प्रमाण प्राप्त होता है। जैसे द्वितीय नरक की जघन्यायु एक सागर, उत्कृष्टायु तीन सागर है, अतः वृद्धि का प्रमाण (३-१)=२ सागर है, पटल संख्या ११ से दो सागर वृद्धि को भाग देने पर $\frac{२}{११}$ सागर प्रति पटल वृद्धि का प्रमाण प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥

अथ सर्वनरकपटलानां प्रत्येकं जघन्योत्कृष्ट भेदाभ्यामायुरुच्यते:—

रत्नप्रभायां प्रथमे पटले जघन्यायुर्दशसहस्रवर्षाणि। उत्कृष्टायुर्नवतिसहस्रवर्षाणि। द्वितीये च जघन्यायुर्वर्षाणां नवतिसहस्राणि ज्येष्ठायुर्नवति लक्षाश्च। तृतीये निःकृष्टायुर्नवतिलक्षा। उत्कृष्टायुरसंख्यकोटि पूर्वाणि। चतुर्थे जघन्यायुरसंख्यकोटि पूर्वाणि। ज्येष्ठायुरेककोटीकोटि पल्यानि। पञ्चमे जघन्यायुरेककोटीकोटि पल्यानि। उत्कृष्टायुर्द्विकोटीकोटि पल्यानि। षष्ठे निकृष्टायुर्द्विकोटीकोटि पल्याश्च। ज्येष्ठायुस्त्रि कोटीकोटिपल्यानि। सप्तमे जघन्यायुः स्थितिः त्रिकोटीकोटि पल्योपमानि। ज्येष्ठायुश्च तुः कोटीकोटि पल्यानि। अष्टमे जघन्यायुश्चतुःकोटीकोटि पल्योपमानि। उत्कृष्टायुरर्धसागरः। नवमे निःकृष्टायुरर्धसागरः। ज्येष्ठायुः षट्कोटीकोटि पल्यानि। दशमे जघन्यायुःस्थितिः षट्-कोटीकोटि पल्यानि। उत्कृष्टा च सप्तकोटीकोटि पल्यानि। एकादशे निःकृष्टायुः सप्तकोटीकोटि पल्यानि ज्येष्ठायुरष्टकोटीकोटि पल्यानि। द्वादशे जघन्यायुरष्टकोटीकोटि पल्यानि। ज्येष्ठायुर्नवकोटीकोटि पल्यानि। त्रयोदशेपटले नारकाणां जघन्यायुर्नवकोटीकोटि पल्यानि। परमास्थितिः एकः सागरः ॥ शर्कराप्रभाया आदिमे प्रतरे जघन्यायुरेकसागरः। उत्कृष्टायुरेकसागरः सागरैकादश भागानां द्वौ भागौ। द्वितीये जघन्यायुरेकसागरः द्वौ भागौ। ज्येष्ठायुरेकोऽब्धिश्चत्वारो भागाः। तृतीये निःकृष्टायुरेकसागरः भागाश्चत्वारः। ज्येष्ठायुरेकसमुद्रः भागाः षट् च। चतुर्थे निःकृष्टस्थितिरेकोऽब्धिः षड् भागाः। उत्तमा स्थितिरेकोऽब्धिरष्टौ भागाः। पञ्चमे जघन्यायुरेकोजलधिरष्टौ भागाः। उत्कृष्टायुरेकसागरः भागादश षष्ठे निःकृष्टायुरेकोऽब्धिर्भागादश। ज्येष्ठायु द्वौ सागरौ सागरैकादशभागानां एकोभागः। सप्तमे जघन्यास्थितिः द्वौ सागरौ एकोभागश्च। उत्तमा स्थितिः द्वौ सागरौ भागास्त्रयः। अष्टमे जघन्यायुर्द्वौ समुद्रौ भागास्त्रयः। उत्कृष्टायुर्द्वौ सागरौ भागाः पञ्च॥ नवमे निःकृष्टायुर्द्वौ सागरौ भागाः पंच। ज्येष्ठायुर्द्वौ सागरौ भागाः सप्त। दशमे जघन्यायुर्द्वौ जलधिभागाः सप्त। उत्कृष्टायुर्द्वौ समुद्रौ सागरैकादशभागानां नवभागा। एकादशे नारकाणां जघन्यायुर्द्वौ सागरौ नवभागाः। उत्कृष्टायुस्त्रयः सागरः। वालुकायाः प्रथमे प्रतरे जघन्यायुस्त्रयः सागराः। उत्कृष्टायुस्त्रयः सागराः सागरनवभागानां चत्वारोभागाः। द्वितीये निःकृष्टायुस्त्रयः समुद्राः भागाश्चत्वारश्च। ज्येष्ठायुः सागरास्त्रयः भागा अष्टौ।

तृतीये जघन्यायुः समुद्रास्त्रयभागा अष्टौ । उत्कृष्टायुः सागराश्चत्वारः सागरस्यनवभागानां त्रयोभागाः । चतुर्थे जघन्यायुः समुद्राश्चत्वारः भागास्त्रयश्च । ज्येष्ठायुः सागराश्चत्वारः भागाः सप्त । पञ्चमे जघन्या स्थितिश्चत्वारोऽम्बुधयः भागाः सप्त । उत्तमा स्थितिः समुद्राः पञ्च भागौ द्वौ । षष्ठे जघन्यायुः सागराः पञ्च भागौ द्वौ द्वौ । उत्कृष्टायुः पञ्चाब्धयः भागाः षट् । सप्तमे निःकृष्टायुः पञ्च समुद्राः भागाः षट् ज्येष्ठायुः सागराः षट् भाग एकः । अष्टमे जघन्यायुः समुद्राः षट् भाग एकः । उत्कृष्टायुः सागराः षट् । सागरस्य नवभागानां पञ्च भागाः । नवमे पटले नारकाणां जघन्यायुः षट् समुद्राः भागाः पञ्च । उत्कृष्टायुः सप्त सागराः ।। पङ्कप्रभायाः आदिमे प्रतरे जघन्यायुः सप्ताम्बुधयः । उत्कृष्टायुः सप्तसागराः सागरसप्तभागानां त्रयो भागा. । द्वितीये निकृष्टायुः सप्ताम्बुधयः त्रयोभागाः । ज्येष्ठायुः सप्तसागराः भागाः षट् । तृतीये लघुस्थितिः समुद्राः सप्त भागाः षट् । बृहत्स्थितिः अष्टौसागराः द्वौ भागौ । चतुर्थे जघन्यायुरष्टौ समुद्रा. द्वौ भागौ । उत्कृष्टायुरष्टौ सागराः पञ्चभागाश्च । पञ्चमे निकृष्टायुरष्टौ जलधयः भागाः पञ्च । ज्येष्ठायु. सागरा नव एको भागः । षष्ठे जघन्यायुर्नवसागराः एको भागः । ज्येष्ठायुर्नव समुद्राश्चत्वारो भागाः । सप्तमे नारकाणां जघन्या स्थितिर्नवाम्बुधयः भागाश्चत्वारः । परमा स्थितिः सागराः दश । धूमप्रभायाः प्रथमे प्रतरे जघन्यायुर्दशसागराः । उत्कृष्टायुरेकादश समुद्राः सागर पञ्च भागानां द्वौ भागौ । द्वितीये निकृष्टायुरेकादशाब्धय. द्वौ भागौ च । ज्येष्ठायुर्द्वादशसागराभागाश्चत्वारः । तृतीये जघन्या स्थितिर्द्वादशसमुद्राश्चत्वारोभागाः । ज्येष्ठायुर्चतुर्दशसागराः एको भागः । चतुर्थे निःकृष्टायुश्चतुर्दश समुद्राः एको भागः । उत्कृष्टायुः पञ्चदशाब्धयस्त्रयो भागाः । पञ्चमे जघन्या स्थितिः पञ्चदशाब्धयः त्रयो भागाः । परमायुः सप्तदशसागराः । तमःप्रभायाः आदिमे पटले जघन्यायुः सप्तदशजलधयः । उत्कृष्टायुरष्टादश सागराः सागरस्य त्रिभागानां द्वौ भागौ । द्वितीये निःकृष्टायुरष्टादशाब्धयः द्वौ भागौ । ज्येष्ठायुर्विंशति सागराः सागरस्य तृतीयो भागः । तृतीये जघन्यायुर्विंशति सागराः सागरस्य तृतीयो भागः । परमायुर्द्वाविंशतिसागरोपमम् । महातमः प्रभायाः पटले नारकाणां जघन्यायुः सागराः द्वाविंशतिः । उत्कृष्टायुस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमम् ।

विशेष —गद्य भाग में सातों पृथ्वियों के ४९ पटलों की जघन्य उत्कृष्ट आयु का भिन्न भिन्न विवेचन किया गया है जिसका सम्पूर्ण अर्थ तालिका के माध्यम से दर्शाया गया है ।

[तालिका पृष्ठ ४४ व ४५ पर देखें]

अब प्रत्येक पटल के नारकियों के शरीर का उत्सेध कहते हैं :—

सप्तदण्डास्त्रयोहस्ताः षडंगुलास्तनून्नतिः ।
उत्कृष्टानारकाणां च घर्मायाः पटलेऽन्तिमे ।।७०।।
जघन्येन त्रयो हस्ताः आदिमे प्रतरे ततः ।
शेषषड्नरकेषु स्याद् द्विगुणा द्विगुणोच्छ्रितिः ।।७१।।

भागैः पटलसंख्यानैः भूमीनां पटलेषु च ।
पृथग् विभक्त उत्सेधः क्रमाद् वृद्धियुतो मतः ।।७२।।

अर्थः—घर्मा नामक प्रथम पृथ्वी के अन्तिम पटल में स्थित नारकियों के शरीर का उत्कृष्ट उत्सेध ७ धनुष, ३ हाथ और छह अंगुल है ।।७०।। शेष छह नरकों के अन्तिम पटलों में स्थित नारकियों के शरीर का उत्कृष्ट उत्सेध इससे दूना दूना होता गया है । प्रथम नरक के प्रथम पटल का जघन्य उत्सेध तीन हाथ प्रमाण है ।।७१।। वृद्धि के प्रमाण को पटल संख्या से विभाजित करने पर जो प्रति पटल वृद्धि का प्रमाण आवे, उसको जोड़ देने से प्रत्येक पटल में शरीर का उत्सेध प्राप्त होता है ।।७२।।

विशेषार्थ:—प्रथम नरक के प्रथम पटल में शरीर का उत्सेध ३ हाथ है तथा अन्तिम पटल में उत्सेध ७ धनुष, ३ हाथ ६ अंगुल है । ७ ध. ३ हाथ ६ अंगुल में से ३ हाथ घटा देने पर ७ धनुष ६ अंगुल शेष रहे । यह वृद्धि १२ पटलों में हुई है, अत: सात धनुष ६ अंगुल को १२ से विभाजित करने पर दो हाथ ८$\frac{१}{२}$ अंगुल प्राप्त होते हैं । यह प्रथम नरक के प्रत्येक पटल में वृद्धि का प्रमाण है । दूसरे नरक के अन्तिम पटल में शरीर उत्सेध ७ ध. ३ हाथ ६ अं का दूना है । अर्थात् ७ ध. ३ हाथ ६ अं० की वृद्धि हुई । पटल संख्या ११ है, अत: ७ ध० ३ हाथ ६ अं को ११ से विभक्त करने पर २ हाथ २०$\frac{२}{११}$ अंगुल प्राप्त होते हैं । यही दूसरे नरक में प्रति पटल वृद्धि का प्रमाण है । इसी प्रकार तीसरे नरक के अन्तिम पटल में शरीर उत्सेध १५ ध. २ हा. १२ अं. का दुगना है; अर्थात् १५ ध. २ हा. १२ अं० की वृद्धि है । पटल संख्या ९ है, अत: १५ ध. २ हा. १२ अं. को ९ से भाजित करने पर एक ध. २ हा. २२$\frac{२}{३}$ अं. प्राप्त होता है । यही तीसरे नरक के प्रत्येक पटल में शरीर उत्सेधकी वृद्धि का प्रमाण है । इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये ।

अथ विस्तरेण सर्वनरक प्रतरेषु नारकाणां देहोत्सेधः पृथक् पृथक् निगद्यते:—

घर्मायाः प्रथमे पटले नारकाणां कायोत्सेधस्त्रयो हस्ताः ततः क्रमाद् द्विहस्तसार्धाष्टांगुलवृद्धया । द्वितीये च धनुरेकं एको हस्तः सार्धाष्टांगुलाः । तृतीये एकं धनुः हस्तास्त्रय अंगुलाः सप्तदश । चतुर्थे द्वे धनुषी द्वौ करौ सार्धांगुलः । पञ्चमे धनूंषि त्रीणि अंगुलादश । षष्ठे त्रीणि धनूंषि द्वौ करौ सार्धाष्टा दशांगुलाः सप्तमे चत्वारि चापानि एको हस्तः त्रयोंऽगुलाः । अष्टमे चत्वारि धनूंषि त्रयो हस्ताः सार्धैका दशांगुलाः । नवमे पञ्च दण्डा एको हस्तः विंशतिरंगुलाः । दशमे षट् चापानिसार्धचत्वारोंऽगुलाः । एकादशे षड्धनूंषि द्वौ करौ त्रयोदशांगुलाः । द्वादशे सप्त धनूंषि सार्धैकविंशति रंगुलाः । त्रयोदशे पटले नारकाणां देहोत्सेधः सप्त चापानि त्रयो हस्ताः षडंगुलाश्च । वंशायां आदिमे पटले नारकशरीरोच्छ्रितिः अष्टौदण्डाः द्वौ करौ द्वौ अंगुलौ, अंगुलैकादश भागानां द्वौ भागौ । ततो द्विकरविंशत्यंगुलैरंगुलैकादश भागानां द्विभागाभ्यां क्रमवृद्धया ।। द्वितीये नव चापानि द्वाविंशत्यं-

सातों नरकों के प्रत्येक पटल की

पटल संख्या	घर्मा पृथिवी जघन्य आयु	घर्मा पृथिवी उत्कृष्ट आयु	पटल संख्या	वंशा पृथिवी जघन्यायु	वंशा पृथिवी उत्कृष्ट०
१	१०००० (दश ह०) वर्ष	९०००० (९० हजार) वर्ष	१	१ सागर	१ २/११ सागर
२	९०००० (९० ह०) वर्ष	९०००००० (९० लाख) वर्ष	२	१ २/११ सागर	१ ४/११ सागर
३	९०००००० (९० लाख) वर्ष	असंख्यात पूर्व कोटियाँ	३	१ ४/११ सागर	१ ६/११ सागर
४	असंख्यात पूर्व कोटियाँ	एक कोटाकोटी पल्य (१/१० सागर)	४	१ ६/११ सागर	१ ८/११ सागर
५	एक कोटाकोटी पल्य	दो कोटाकोटी पल्य (२/१० सागर)	५	१ ८/११ सागर	१ १०/११ सागर
६	दो कोटाकोटी पल्य	तीन कोटाकोटी पल्य (३/१० सागर)	६	१ १०/११ सागर	२ १/११ सागर
७	तीन कोटाकोटी पल्य	चार कोटाकोटी पल्य (४/१० सागर)	७	२ १/११ सागर	२ ३/११ सागर
८	चार कोटाकोटी पल्य	आधा (१/२) सागर	८	२ ३/११ सागर	२ ५/११ सागर
९	आधा सागर	छह कोटा कोटी पल्य (३/५ सा०)	९	२ ५/११ सागर	२ ७/११ सागर
१०	छह कोटाकोटी पल्य	सात कोटाकोटी पल्य (७/१० सा०)	१०	२ ७/११ सागर	२ ९/११ सागर
११	सात कोटाकोटी पल्य	आठ कोटाकोटी पल्य (४/५ सा०)	११	२ ९/११ सागर	३ सागर
१२	आठ कोटाकोटी पल्य	नौ कोटाकोटी पल्य (९/१० सा०)			
१३	नौ कोटाकोटी पल्य	एक सागरोपम			

जघन्य उत्कृष्ट आयु का विवरण

मेघा पृथिवी			अञ्जना पृथिवी			अरिष्टा पृथ्वी			मघवी पृथ्वी			माघवी पृथ्वी		
पटल संख्या	जघन्यायु	उत्कृष्टायु	पटल सं०	जघन्यायु	उत्कृष्टायु	पटल सं०	जघन्यायु	उत्कृष्टायु	पटल सं०	जघन्यायु	उत्कृष्टायु	पटल सं०	जघन्यायु	उत्कृष्टायु
१	३ सागर	३ ४/९ सागर	१	७ सागर	७ ३/७ साग	१	१० सागर	११ २/५ साग	१	१७ सागर	१८ २/३ साग	१	२२ सा	३३ सा
२	३ ४/९ सा.	३ ८/९ ,,	२	७ ३/७ ,,	७ ६/७ ,,	२	११ २/५ ,,	१२ ४/५ ,,	२	१८ २/३ ,,	२० १/३ ,,			
३	३ ८/९ ,,	४ ३/९ ,,	३	७ ६/७ ,,	८ २/७ ,,	३	१२ ४/५ ,,	१४ १/५ ,,	३	१८ १/३ ,,	२२ सागर			
४	४ ३/९ ,,	४ ७/९ ,,	४	८ २/७ ,,	८ ५/७ ,,	४	१४ १/५ ,,	१५ ३/५ ,,						
५	४ ७/९ ,,	५ २/९ ,,	५	८ ५/७ ,,	९ १/७ ,,	५	१५ ३/५ ,,	१७ सागर						
६	५ २/९ ,,	५ ६/९ ,,	६	९ १/७ ,,	९ ४/७ ,,									
७	५ ६/९ ,,	६ १/९ ,,	७	९ ४/७ ,,	१० सागर									
८	६ १/९ ,,	६ ५/९ ,,												
९	६ ५/९ ,,	७ सागर												

नोट:—यह जघन्य उत्कृष्ट आयु का प्रमाण सातों पृथ्वियों के इन्द्रक बिलों का कहा गया है, यही प्रमाण प्रत्येक पृथ्वियों के श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों में रहने वाले नारकियों का जानना चाहिये।

(ति० प० २/२१५)

गुलाश्चत्वारो भागाः । तृतीये नवधनूंषि त्रयो हस्ता अष्टादशांगुलाः षड्भागाः । चतुर्थे दशचापानि द्वौ हस्तौ चतुर्दशांगुलाः भागा अष्टौ । पञ्चमे एकादश दण्डाः एकोहस्त दशांगुलाः दशभागाः । षष्ठे द्वादश चापानि अंगुलाः सप्त भाग एकः । सप्तमे द्वादश धनूंषि त्रयः कराः त्रयोंगुलास्त्रयोभागाः । अष्टमे त्रयोदश चापानि एकः करः त्रयोविंशतिरंगुलाः भागाः पञ्च । नवमे चतुर्दशदण्डाः एकोनविंशतिरंगुलाः सप्तभागाः । दशमे चतुर्दश चापानि त्रयोहस्ताः पञ्चदशांगुलाः भागा नव । एकादशे प्रतरे नारककायोन्नतिः पञ्चदश दण्डाः द्वौ करौ द्वादशांगुलाः ॥ मेघायाः प्रथमे पटले नारकाणां देहोत्सेधः सप्तदश धनूंषि एको हस्तः दशांगुलाः अंगुलत्रिभागानां द्वौ भागौ । ततः एक धनुः द्विकर द्वाविंशत्यंगुलैश्चांगुलत्रिभागानां, द्विभागाभ्यां क्रमवृद्धया । द्वितीये पटले एकोनविंशति धनूंषि नवांगुलाः अंगुलतृतीयभागः । तृतीये विंशति चापानि त्रयो हस्ताः अष्टांगुलाः । चतुर्थे द्वाविंशति दण्डा द्वौ करौ षडंगुलाः द्वौ भागौ । पञ्चमे चतुर्विंशति चापानि एकः करः पञ्चांगुला अंगुलतृतीयभागः । षष्ठे षड्विंशति धनूंषि चत्वारोऽगुलाः । सप्तमे सप्तविंशति चापानि त्रयो हस्ताः द्वात्र्यंगुलौ अंगुलस्य द्वौ भागौ । अष्टमे एकोनत्रिंशद्धनूंषि द्वौ करौ एकांगुलः अंगुलतृतीय भागः । नवमे एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः । अञ्जनाया आदिमे प्रतरे नारकाङ्गोत्सेधः पञ्चत्रिंशच्चापानि द्वौ करौ विंशतिरंगुलाः अंगुलसप्तभागानां चत्वारो भागाः । ततश्चतुर्द्धनुरेक हस्तविंशत्यंगुलैश्चांगुलसप्तभागानां चतुर्भागैः क्रमवृद्धितः । द्वितीये चत्वारिंशद्धनूंषि सप्तदशांगुलाः एको भागः । तृतीये चतुश्चत्वारिंशद्धनूंषि द्वौ करौ त्रयोदशांगुलाः अंगुलसप्तभागाः पञ्चगृह्यन्ते । चतुर्थे एकोनपञ्चाशद्दण्डाः दशांगुलाः द्वौ भागौ । पञ्चमे त्रिपञ्चाशच्चापानि द्वौ हस्तौ षडंगुलाः भागाः षट् । षष्ठे अष्टपञ्चाशच्चापानि त्रयोऽगुलाः अंगुलसप्तभागानां त्रयोभागाः । सप्तमे द्विषष्टि चापानि द्वौ करौ । अरिष्टायाः प्रथमे पटले नारकाणोच्छ्रितिः पञ्चसप्तति धनूंषि ततः द्वादशधनूंद्वि करैः क्रमवृद्धया । द्वितीये च सप्ताशीति चापानि द्वौ करौ । तृतीये शतधनूंषि । चतुर्थे द्वादशाधिकशतदण्डाः द्वौ हस्तौ । पञ्चमे पञ्चविंशत्यधिकशतधनूंषि । मघव्या आदिमे प्रतरे नारकदेहोत्सेधः षष्ट्याधिकशत चापानि द्वौ हस्तौ षोडशांगुला । ततः एकचत्वारिंशद्धनुः द्विकर षोडशांगुलैः क्रमवृद्धया । द्वितीये अष्टाधिकद्विशत चापानि एक हस्तः अष्टांगुलाः । तृतीये सार्धद्विशतचापानि । माघव्याः प्रतरे नारकाणां देहोत्सेधः पञ्चशतचापानि ।

अब विस्तार से सातों नरकों के सम्पूर्ण पटलों में स्थित नारकी जीवों के शरीरका उत्सेध पृथक् पृथक् कहते हैं :—

घर्मा पृथ्वी के प्रथम पटल में स्थित नारकी जीवोंके शरीरका उत्सेध ३ हस्त प्रमाण है और इस पृथ्वी के वृद्धि का प्रमाण २ हाथ, ८½ अंगुल है । अर्थात् प्रथम पटल के उत्सेध में इस वृद्धि चयको जोड़ देने से आगे आगे के पटलों के नारकियों के शरीरों का उत्सेध प्राप्त होता जाता है । जैसेः— ३ ह० + २ ह० ८½ अं० = १ धनुष १ हाथ ८½ अं० दूसरे पटल का उत्सेध होता है। इसी प्रकार (३) १ ध० ३ ह० १७

अं० । (४) २ ध० २ ह० १ १/२ अं० । (५) ३ ध० १० अं० । (६) ३ ध० २ ह० १८ १/२ अं० । (७) ४ ध० १ ह० ३ अं० । (८) ४ ध० ३ ह० ११ १/२ अं० (९) ५ ध० १ ह० २० अं० । (१०) ६ ध० ४ १/२ अं० । (११) ६ ध० २ ह० १३ अं० । (१२) ७ ध० २१ १/२ अं. और (१३) पटल में नारकियों के शरीर का उत्सेध ७ ध० ३ ह० ६ अं. होता है।

वंशा पृथ्वी के प्रथम पटल में नारकी जीवों के शरीर का उत्सेध ८ ध० २ ह० २ २/११ अं० है। यहाँ क्रम वृद्धि का प्रमाण २ ह० २० ४/११ अं० है। उत्तरोत्तर इसी को जोड़ते हुये (२) ९ ध० २२ ४/११ अं. (३) ९ ध० ३ ह० १८ ६/११ अं० । (४) १० ध० २ ह० १४ ८/११ अं० (५) ११ ध० १ ह० १० १०/११ अं० (६) १२ ध. ७ १/११ अं० (७) १२ ध. ३ ह० ३ ३/११ अं. । (८) १३ ध १ ह० २३ ५/११ अं० । (९) १४ ध. १९ ७/११ अं. (१०) १४ ध. ३ ह० १५ ९/११ अं० और (११) १५ ध० २ ह० १२ अं. प्रमाण उत्सेध है। मेघा पृथ्वी के प्रथम पटल में नारकियों के शरीर का उत्सेध १७ ध १ ह० १० २/३ अं० है। और यहाँ क्रम वृद्धि का प्रमाण १ ध. २ ह० २२ २/३ अं० है। उत्तरोत्तर इसी चय को जोड़ते जाने से शरीर उत्सेध (२) १९ ध. ९ १/३ अं (३) २० ध. ३ ह० ८ अं० । (४) २२ ध. २ ह० ६ २/३ अं. । (५) २४ ध. १ ह० ५ १/३ अं. । (६) २६ ध. ४ अं० । (७) २७ ध. ३ ह० २ २/३ अं. । (८) २९ ध २ ह० १ १/३ अं० प्रमाण है। (९) ३१ ध. १ हाथ अंजना पृथ्वी के प्रथम पटल में नारकियों के शरीर का उत्सेध ३५ ध. २ ह. २० ४/७ अं. प्रमाण है और वहां के क्रम वृद्धि चय का प्रमाण ४ ध. १ ह. २० ४/७ अंगुल है। (२) ४० ध. १७ १/७ अं. । (३) ४४ ध. २ ह. १३ ५/७ अं. । (४) ४९ ध. १० २/७ अं. । (५) ५३ ध. २ ह. ६ ६/७ अं (६) ५८ ध. ३ ३/७ अं. और (७ ६२ ध २ हस्त प्रमाण उत्सेध है।

अरिष्टा पृथ्वी के प्रथम पटल में नारकियों के शरीर की ऊँचाई ७५ ध० है और यहां क्रमशः वृद्धि चय का प्रमाण १२ ध० २ हस्त है, अतः (२) ८७ ध० २ ह. (३) १०० ध. (४) ११२ ध० २ ह० और (५) १२५ धनुष प्रमाण उत्सेध होगा। मघवी पृथ्वी के प्रथम पटल में नारकी जीवों के शरीर का उत्सेध १६६ ध० २ ह० १६ अं० है और यहां क्रमशः वृद्धि चय का प्रमाण ४१ ध० २ ह० १६ अंगुल है, अतः (२) २०८ ध० १ ह० ८ अं. और (३) २५० धनुष प्रमाण उत्सेध है माघवी पृथ्वी के अवधि स्थान नामक अन्तिम पटल में नारकी जीवों के शरीर का उत्सेध ५०० धनुष प्रमाण है।

अब ६ श्लोकों द्वारा नारकियों के उपपाद स्थानों के आकार, व्यास एवं दीर्घता का निरूपण करते हैं :—

खरशूकरमार्जार-कपिश्वानादि गोमुखाः ।
मधुकृतजालसादृश्या घण्टाधोमुखसन्निभाः ।।७३।।
वृत्तास्त्र्यस्राश्चतुःकोणा-दुःस्पर्शा दुःखखानयः ।
वज्राभा अति बीभत्सा दुर्गन्धाश्च घृणास्पदाः ।।७४।।

तमश्चयावृता निन्द्याः समस्त श्वभ्रभूमिषु ।
इन्द्रकाद्येषु कृत्स्नेषु योनयः सन्ति दुष्कराः ॥७५॥
क्रोशैको द्वौ त्रयः क्रोशाः योजनैकं द्वयं त्रयम् ।
योजनानां शतं चेति व्यासः प्रोक्तोऽप्यनुक्रमात् ॥७६॥
सप्तानां श्वभ्रयोनीनां क्रोशाः पञ्चततो दश—
तथा पञ्चदश क्रोशाः पञ्चैव योजनानि च ॥७७॥
दश पञ्चदशा ते योजनानां शतपञ्चकम् ।
इति दैर्घ्यं क्रमात्प्रोक्तं सर्वासु श्वभ्रयोनिषु ॥७८॥

अर्थः—सातों नरक भूमियों में इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों से सम्बन्धित योनियाँ-जन्म भूमियाँ गधा, सूकर, बिल्ली, बन्दर, कुत्ता और गाय आदि के मुख सदृश (ऊपर सकरी भीतर चौड़ी), मधुकृत जाल सदृश, घण्टाकार और अधोमुख हैं, उनके आकार गोल, त्रिकोण और चतुष्कोण हैं; तथा वे जन्मभूमियाँ दुःस्पर्श अर्थात् तीक्ष्ण, रूक्ष एवं घन स्पर्श से सहित, दुःखों की खान (आकर), वज्राभा अर्थात् वज्र सदृश कठोर तलभाग एवं दीवालों से युक्त, अत्यन्त ग्लानि एवं दुर्गन्ध उत्पादक, घृणास्पद, अन्धकार से व्याप्त, निन्द्यनीय और दुष्कर अर्थात् भयङ्कर हैं। उन सातों नरक भूमियों से सम्बंधित सम्पूर्ण जन्म योनियों का व्यास क्रमशः १ कोश, २ कोश, ३ कोश, १ योजन, २ योजन, ३ योजन, और १०० योजन प्रमाण कहा गया है। इसी प्रकार उनकी दीर्घता भी क्रमशः ५ कोश, १० कोश, १५ कोश, ५ योजन, १० योजन, १५ योजन और ५०० योजन प्रमाण कही गई है ॥७३-७८॥

अब नरक प्राप्ति के कारणभूत परिणामों एवं आचरणों का दिग्दर्शन ६ श्लोकों द्वारा किया जा रहा है:—

ये सप्तव्यसनासक्ता बह्वारम्भकृतोद्यमाः ।
अत्यसन्तोषिणो नीच—सङ्गश्रीसंग्रहोद्यताः ॥७९॥
अतृप्ताः कामसेवाद्यैं विषयामिषलम्पटाः।
अखाद्यखादका निन्द्या अपेयपानपायिनः ॥८०॥
अत्यन्तनिर्दयाः क्रूराः क्रूरकर्मविधायिनः ।
रौद्रध्यानरता रौद्राः कृष्णलेश्या मदोद्धताः ॥८१॥
जिनमार्ग बहिर्भूतास्तीव्रमिथ्यात्व वासिताः ।
कुशास्त्राध्ययनोद्युक्ता मिथ्यैकान्तमताश्रिताः ॥८२॥

पापकर्मरतानित्यं धर्मकर्मातिगाः शठाः ।
पात्रदानजिनेन्द्रार्चा व्रतशीलादिदूरगाः ॥८३॥
हिंसादिपञ्चपापाढ्या नास्तिका धर्मदूषकाः ।
धर्मविघ्नकराः मिथ्या पापमार्गप्रवर्तकाः ॥८४॥
जिनशासनजैनानां श्रावकाणां च धर्मिणाम् ।
मुनीनां तीर्थकर्त्तॄणां शास्त्राणां निन्दकाः खलाः ॥८५॥
इत्यादि निन्द्यदुष्कर्म कारिणः पापपण्डिताः ।
नरा याश्चस्त्रियो दुष्टा-स्तिर्यञ्चो रौद्रमानसाः ॥८६॥
रौद्रध्यानेन मृत्वान्ते ते ता यान्ति च पापिनः ।
पापोदयेन स्वयोग्याः सप्तैताः श्वभ्रदुर्गतीः ॥८७॥

अर्थः—दुष्ट चित्त वाले जो स्त्री और पुरुष निरन्तर सप्तव्यसनों में आसक्त, बहु आरम्भ परिग्रह में उद्यमशील, अत्यन्त असन्तोषी, नीच लक्ष्मी के संग्रह में सदा प्रयत्नशील, अतृप्त, कामसेवन आदि विषयों के और मांस भक्षण के लम्पटी, अभक्षभक्षण में रत, निन्द्य कार्य करने वाले, अपेय अर्थात् शराब आदि का सेवन करने वाले, अत्यन्त निर्दय, क्रूर परिणामी, क्रूरकर्म करने में संलग्न, रौद्रध्यान रत, रौद्रता एवं कृष्णलेश्या से अनुरञ्जित, मद से उद्धत, जिनमार्ग से बहिर्भूत, तीव्र मिथ्यात्व से युक्त-कुशास्त्रों के अध्ययन में उद्यत, एकान्त आदि मिथ्यात्व को आश्रयदाता, पापकर्म रत, धर्म कर्म से निरन्तर दूर रहने वाले, शठ, पात्रदान जिनेन्द्र पूजन और व्रतशील आदि सत्कर्मों से अति दूर, हिंसादि पांच पापों से युक्त, नास्तिक, समीचीन धर्म को दूषण लगाने वाले, धार्मिक कार्यों में विघ्न डालने वाले-मिथ्या और पापमार्ग के प्रवर्तक, जिनशासन, जैनधर्मानुयायी, श्रावक श्राविकाओं, धर्मात्माओं मुनिराजों, तीर्थंकरों और शास्त्रों की निन्दा करने वाले, दुष्ट स्वभावी निन्द्य और दुष्कर्म करने वाले तथा जो पाप के पण्डित हैं वे मनुष्य एवं स्त्री तथा रौद्र परिणाम वाले दुष्ट पशु (तिर्यञ्च) अपनी आयु के अन्त में रौद्रध्यान से मरकर वे पापी पापोदय से अपने अपने परिणामों की योग्यतानुसार रत्नप्रभा आदि सातों नरक भूमियों में दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥७९-८७॥

चार श्लोकों द्वारा वहां उत्पन्न होने वाले नारकियों की स्थिति एवं उनके निपतन और उत्पतन का निर्देश करते हैं :—

अन्तर्मुहूर्त कालेन ते तासु श्वभ्रयोनिषु ।
षट् पर्याप्तीरघात्प्राप्य स्वोर्ध्वपादाह्यधोमुखाः ॥८८॥

परं रावं प्रकुर्वाणाः पतन्त्यधोमहीतले ।
वज्रकण्टकशस्त्राग्रे ततोऽतिदुःखविह्वलाः ॥८६॥
इव सूत्रावृताः पिण्डाः स्वयमेवोत्पतन्ति च ।
क्रोशत्रयं चतुर्भागाधिकं योजनसप्तकम् ॥९०॥
घर्मायां शेष पृथ्वीषु द्विगुणं द्विगुणं ततः ।
क्रमादुत्पतनं ज्ञेयं नारकाणां सुदुष्करम् ॥९१॥

अर्थः—उन नारक भूमियों में अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा छह पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ऊपर पैर और नीचे हैं मुख जिनके तथा जो भयङ्कर शब्द कर रहे हैं ऐसे वे नारकी नीचे भूमितल पर गिरते हैं, और वज्र एवं कण्टक के सदृश कठोर तथा शस्त्रों के अग्रभाग के सदृश तीक्ष्ण भूमिके स्पर्श जन्य अत्यन्त दुःख से विह्वल होते हुये गेंद के समान स्वयं ऊपर उछलते हैं। उन नारकी जीवों का अत्यन्त दुष्कर उत्पतन घर्मापृथ्वी में सात योजन, तीन कोश और एक कोश का चतुर्थ भाग (५०० धनुष) (¼ कोस अधिक ३ कोस) प्रमाण और अन्य शेष छह पृथ्वियों में इससे दूना दूना जानना चाहिये ॥८८-९१॥ (सातवीं पृथ्वी में ५०० योजन प्रमाण ऊपर उछलते हैं)

अथामीषामुत्पतनं प्रत्येकं सप्तनरकेषु प्रोच्यते :—

घर्मायां नारकाः धरायां निपत्य तत्क्षणं ततः सपादत्रिक्रोशाधिक सप्तयोजनानि उत्पतन्ति । वंशायां सार्धद्विक्रोशाधिक पञ्चदश योजनानि । मेघायां क्रोशाधिकैक त्रिंशद्योजनानि । अञ्जनायां सार्धद्विषष्टि योजनानि च । अरिष्टायां पञ्चविंशत्यधिक शत योजनानि । मघव्यां सार्धद्विशतयोजनानि । माघव्यां नारकाः भूमेः पंचशतयोजनानि चोत्पतन्ति ।

अब प्रत्येक नरकों में नारकियों का उत्पतन कहते हैं :—

अर्थः—घर्मा पृथ्वी के नारकी भूमिपर गिरने के तत्क्षण ही पृथ्वी से सात योजन ३¼ कोश ऊपर उछलते हैं । वंशा पृथ्वी के १५ योजन २½ कोश, मेघा पृथ्वी के ३१ योजन एक कोश, अञ्जना पृथ्वी के ६२ योजन २ कोश, अरिष्टा पृथ्वी के १२५ योजन, मघवी पृथ्वी के २५० योजन और माघवी पृथ्वी के नारकी जीव ५०० योजन ऊपर उछलते हैं ।

अब चार श्लोकों द्वारा नारक पृथ्वियों में सम्भव लेश्या का निरूपण करते हैं :—

घर्मायां स्याज्जघन्या कु-लेश्या कापोतसंज्ञिका ।
वंशायां मध्यमा कापो–तारव्या नारकजन्मिनाम् ॥९२॥

मेघायां सा खिलोत्कृष्टा, जघन्या नीलनामिका ।
अञ्जनायां च लेश्यास्ति, नीलाख्यामध्यमाशुभा ॥९३॥
अरिष्टायां भवेन्नीलोत्कृष्टा कृष्णा जघन्यका ।
मघव्यां मध्यमा कृष्णा, लेश्या स्यात्सुदु निन्दिता ॥९४॥
माघव्यां सकलोत्कृष्टा, कृष्णलेश्याऽशुभाकरा ।
इमास्तिस्त्रोऽशुभालेश्या दुःखाद्याक्लेशमातरः ॥९५॥

अर्थः—जो दुःखों को देने वालीं हैं और क्लेश की माता हैं नरकों में ऐसी तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। उनमें से घर्मा पृथ्वी में स्थित नारकी जीवों के परिणाम जघन्य कापोत लेश्या से युक्त, वंशा में मध्यम कापोत, मेघा में उत्कृष्ट कापोत और जघन्य नील, अञ्जना में मध्यम नील, अरिष्टा में उत्कृष्ट नील और जघन्य कृष्ण, मघवी में मध्यम कृष्ण और माघवी पृथ्वी में उत्पन्न नारकी जीवों के परिणाम निन्दनीय उत्कृष्ट कृष्णलेश्या से अनुरञ्जित होते हैं ॥९२–९५॥

कितने संहननों से युक्त जीव किस पृथ्वी तक उत्पन्न होता है इसका निर्देश :—

आद्यान् श्वभ्रयान् यान्ति, षट्संहनन संयुताः ।
पञ्चमश्वभ्रपर्यन्तं, पञ्चसंहननान्विताः ॥९६॥
षट् पृथ्व्यन्तं च गच्छन्ति, चतुः संहननाङ्किताः ।
पापिनः सप्तपृथ्व्यन्तमाद्य संहननाङ्गिनः ॥९७॥

अर्थः—आदि के तीन नरकों तक छह संहननों से युक्त जीव जन्म लेते हैं, पाचवें नरक पर्यन्त सृपाटिका को छोड़ कर शेष पांच संहनन वाले, छठवें नरक पर्यन्त सृपाटिका और कीलक को छोड़कर शेष चार संहनन वाले तथा सातवें नरक में (७ वें नरक पर्यन्त) एक वज्रवृषभनाराचसंहनन से युक्त पापी जीव ही जन्म लेते हैं ॥९६–९७॥

कौन जीव किस किस पृथ्वी तक जन्म ले सकते हैं ? इसका निदर्शन करते हैं :—

असंज्ञिनोऽपि पापेन व्रजन्ति प्रथमां क्षितिम् ।
सरीसर्पा द्वितीयान्तं यान्त्युत्कृष्टकुपापतः ॥९८॥
मांसाशिपक्षिणः क्रूरास्तृतीयान्तं व्रजन्ति च ।
भुजङ्गमाश्चतुर्थ्यन्तमत्यन्तक्रूरकर्मभिः ॥९९॥
दंष्ट्रिणः सिंहव्याघ्राद्याः पञ्चम्यन्तं प्रयान्ति च ।
निःशीला अतिपापाढ्याः षष्ठ्यन्तं योषिताः[1] क्रमात् ॥१००॥

१: योषितोऽशुभात् अ० ।

सप्तमीक्षितिपर्यन्तं महामत्स्याश्चिरायुषः ।
महापापभराक्रान्ता नराश्च यान्ति कुधियः ॥१०१॥

अर्थः—अत्यन्त पाप के कारण असंज्ञी जीव प्रथम पृथ्वी तक ही जाते हैं। उत्कृष्ट पाप प्रवृत्ति से सरिसर्प दूसरी पृथ्वी (१ ली+२ री) पर्यन्त जाते हैं। मांसभक्षी पक्षी क्रूर परिणामों के कारण तीसरी पृथ्वी पर्यन्त (१ ली से ३ री तक) जन्म लेते हैं।

अत्यन्त क्रूर कर्म रत होने से सर्प चौथी पृथ्वी (१ ली से ४ थी) पर्यन्त जन्म लेते हैं। दाढ वाले सिंह व्याघ्र आदि पाँचवीं पृथ्वी पर्यन्त ही जाते हैं। शील रहित एवं बहुत पाप से युक्त स्त्री छठवीं पृथ्वी पर्यन्त तथा दीर्घ आयु को धारण करने वाले महामत्स्य और महापाप के भार से आक्रान्त और खोटी बुद्धि को धारण करने वाले मनुष्य सातवीं पृथ्वी (१ ली से ७ वीं) पर्यन्त जाते हैं ॥९८-१०१॥

विशेषः—कर्मभूमि के मनुष्य एवं पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ही नरकों में उत्पन्न होते हैं।

कौन जीव किस नरक में कितनी बार उत्पन्न हो सकता है, इसका विवेचन तीन श्लोकों द्वारा करते हैं :—

उत्कृष्टेन स्वसन्तत्या सोऽसंज्ञी प्रथमावनौ ।
अष्टवारान् क्रमाद् गच्छेत् सरिसर्पोऽति पापतः ॥१०२॥
सप्तवारान् द्वितीयायां तृतीयायां खगो व्रजेत् ।
षड् वारांश्च चतुर्थ्यां हि पञ्चवारान् भुजङ्गमाः ॥१०३॥
पञ्चम्यां च चतुर्वारान् याति सिंहो निरन्तरम् ।
षष्ठ्यां योषित् त्रिवारां सप्तम्यां वारद्वयं पुमान् ॥१०४॥

अर्थः—पाप के कारण यदि कोई असंज्ञी जीव उत्कृष्ट रूप से प्रथम पृथ्वी में उत्पन्न हो तो आठ बार, सरीसर्प यदि वंशा में निरन्तर उत्पन्न हो तो सात बार, पक्षी यदि मेघा में निरन्तर उत्पन्न हो तो छह बार, सर्प यदि अञ्जना में निरन्तर उत्पन्न हो तो पांच बार, सिंह यदि अरिष्टा में निरन्तर हो तो चार बार, स्त्री यदि मघवी पृथ्वी में निरन्तर उत्पन्न हो तो तीन बार और यदि कोई मत्स्य एवं मनुष्य माघवी पृथ्वी में उत्पन्न हो तो दो बार उत्पन्न हो सकते हैं ॥१०२-१०४॥

विशेषः—नरक से निकला हुआ कोई भी जीव असंज्ञी और सम्मूर्च्छन जन्म वाला नहीं होता तथा सातवें नरक से निकला हुआ कोई भी जीव मनुष्य नहीं होता। वहां से निकले हुये जीव को असंज्ञी, मत्स्य और मानव पर्याय के पूर्व एक बार बीच में क्रमशः संज्ञी तथा गर्भज तिर्यञ्च पर्याय धारण करनी ही पड़ती है। इसी कारण इन जीवों के बीच में एक एक पर्याय का अन्तर होता है,

किन्तु सरीसृप, पक्षी, सर्प, सिंह और स्त्री के लिये ऐसा नियम नहीं है, वे बीच में अन्य किसी पर्याय का अन्तर डाले बिना ही उत्पन्न हो सकते हैं।

नरक से निकलने वाले जीवों की उत्पत्ति का नियम कहते हैं :—

श्वभ्रेभ्यो निर्गता ये ते तिर्यग् नरगतिद्वये ।
कर्मभूमिषु जायन्ते गर्भजाः संज्ञिनः स्फुटम् ॥१०५॥
अवश्यं नारकाः क्रूरा निर्गताः सप्तमीक्षितेः ।
क्रूरजातिषु तिर्यक्त्वं लभन्ते श्वभ्रसाधकम् ॥१०६॥
निर्गत्य नरकाज्जीवाश्चक्रिबलकेशवाः ।
तच्छत्रवो न जायन्ते यायान्त्येते च्युता दिवः ॥१०७॥
चतुर्थनरकादेत्य न स्युस्तीर्थंकरा भुवि ।
निर्गत्य पञ्चमश्वभ्राच्चरमाङ्गा भवन्ति न ॥१०८॥
जीवाः षष्ठात् किलागत्य जायन्ते यतयो न च ।
सप्तमश्वभ्रतः सासादना मिश्राद्दृगङ्किताः ॥१०९॥

अर्थः—प्रथम पृथ्वी से षष्ठ पृथ्वी तक के नारकी जीव नरक से निकलकर मनुष्य और तिर्यञ्च इन दो गतियों में कर्मभूमिज, गर्भज (पर्याप्तक) और संज्ञी होते हैं, तथा सातवीं पृथ्वी से निकले हुये क्रूर स्वभावी नारकी जीव पुनः नरक के साधन भूत क्रूर स्वभाव वाला जाति में तिर्यञ्चपने को प्राप्त करते हैं अर्थात् सातवीं पृथ्वी से निकले हुये नारकी जीव नियम से कर्मभूमिज, गर्भज, पर्याप्तक और संज्ञी तिर्यञ्च होते हैं ॥१०५-१०६॥

विशेषः—नरकों से निकले हुये जीव देव, नारकी, भोगभूमिज, असंज्ञी, लब्ध्यपर्याप्तक और सम्मूर्च्छन नहीं होते।

नरक से निकले हुये जीव चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण और प्रतिनारायण नहीं होते। ये उपर्युक्त पदवीधारी जीव तो स्वर्ग से च्युत होकर ही आते हैं। चतुर्थ नरक से निकला हुआ जीव तीर्थङ्कर नहीं होता। पञ्चम नरक से निकले हुये चरमशरीरी नहीं होते। षष्ठ पृथ्वी से निकले हुये सकलसंयमी नहीं होते और सप्तम पृथ्वी से निकले हुये नारकी जीव सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि नहीं होते ॥१०७-१०९॥

नरकस्थ दुर्गन्धित मिट्टी की भीषणता का विवेचन करते हैं:—

प्रथमे पटले निन्द्यः पूतिगन्धोऽस्ति दुस्सहः ।
मृत्तिकाया भ्रमेद् व्यापन् क्रोशार्धं प्राणदुःखदः ॥११०॥

ततोऽधोधः समस्तान्य पटलेष्वप्यनुक्रमात् ।
अन्तिमं पटलं यावत् क्रोशार्धं स प्रवर्धते ॥१११॥

अर्थः—प्रथम पटल में निन्दनीय, खोटी दुर्गन्ध युक्त, अति दुस्सह और घ्राण इन्द्रिय को दुःख देने वाली मिट्टी अर्ध कोश पर्यन्त फैलती है, और उससे नीचे नीचे के सम्पूर्ण अन्य पटलों में अनुक्रम से अर्ध अर्ध कोश वृद्धिङ्गत होते हुये अन्तिम पटल में उसका फैलाव २४½ कोस हो जाता है ॥११०-१११॥

अस्यैव विस्तरं ब्रुवे:—

घर्मायाः प्रथमे प्रतरे मृत्तिकादुर्गन्धः क्रोशार्धं प्रसरति । द्वितीये क्रोशं च । तृतीये सार्धक्रोशं । चतुर्थे द्वौ क्रोशौ । पञ्चमे सार्धक्रोशद्वयं । षष्ठे क्रोशत्रयं । सप्तमे सार्ध क्रोशत्रयं । अष्टमे चतुःक्रोशांश्च । नवमे सार्धं चतुःक्रोशान् । दशमे पञ्च क्रोशान् । एकादशे सार्ध पञ्च क्रोशान् । द्वादशे षट् क्रोशान् । त्रयोदशे मृत्तिका दुर्गन्धः सार्धषट्क्रोशान् व्याप्नोति ॥ वंशाया आदिमे प्रतरे मृत्तिका दुर्गन्धः सप्त क्रोशान् प्रसरेत् । द्वितीये सार्धसप्तक्रोशांश्च । तृतीये अष्टक्रोशांश्च । चतुर्थे सार्धाष्टक्रोशान् । पञ्चमे नवक्रोशान् । षष्ठे सार्ध नवक्रोशान् । सप्तमे दशक्रोशान् । अष्टमे सार्धदशक्रोशान् । नवमे एकादशक्रोशान् । दशमे सार्धैकादशक्रोशान् । एकादशे द्वादश क्रोशान् मृतिकादुर्गन्धो भ्रमेत् । मेघायाः प्रथमे पटले मृत्तिकादुर्गन्धः सार्धद्वादशक्रोशान् व्रजति । द्वितीये त्रयोदशक्रोशांश्च । तृतीये सार्धत्रयोदशक्रोशान् । चतुर्थे चतुर्दशक्रोशान् । पञ्चमे सार्धचतुर्दशक्रोशान् । षष्ठे पञ्चदशक्रोशान् । सप्तमे सार्धपञ्चदशक्रोशान् । अष्टमे षोडशक्रोशान् । नवमे सार्धषोडशक्रोशांश्च । अञ्जनाया आदिमे प्रतरे मृत्तिकादुर्गन्धः सप्तदशक्रोशान् गच्छेत् । द्वितीये सार्धसप्तदशक्रोशान् । तृतीये अष्टादशक्रोशान् । चतुर्थे सार्धाष्टादशक्रोशान् ।

पञ्चमे एकोनविंशति क्रोशान् । षष्ठे सार्द्धैकोन विंशतिक्रोशान् । सप्तमे विंशति क्रोशांश्च । अरिष्टायाः प्रथमे पटले मृत्तिकादुर्गन्धः सार्धविंशतिक्रोशान् भ्रमति । द्वितीये एकविंशतिक्रोशांश्च । तृतीये सार्धैकविंशतिक्रोशान् । चतुर्थे द्वाविंशतिक्रोशान् पञ्चमे सार्धद्वाविंशतिक्रोशांश्च । मघव्या आदिमे प्रतरे मृत्तिकादुर्गन्धः त्रयोविंशतिक्रोशान् गच्छेत् । द्वितीये सार्धत्रयोविंशति क्रोशान् । तृतीये चतुर्विंशति क्रोशांश्च । माघव्याः पटले मृत्तिकादुर्गन्धः सार्धचतुर्विंशति क्रोशान् प्रसरति ।

नारकी जीव मिट्टी का आहार करते हैं । प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल के आहार की वह मिट्टी यदि मनुष्य लोक में आ जावे तो वह अपनी दुर्गन्ध के द्वारा अर्ध कोस के भीतर स्थित प्राणियों का संहार कर सकती है । आगे वह पटल क्रम से उत्तरोत्तर अर्ध अर्ध कोस अधिक क्षेत्र में स्थित जीवों का विघात कर सकती है । उपर्युक्त गद्य में उस मिट्टी की दुर्गन्ध के इसी प्रसार क्रम का वर्णन किया है जिसका सम्पूर्ण अर्थ निम्नांकित तालिका में निहित है ।

प्रत्येक पटल गत मिट्टी की दुर्गन्धता के प्रसार का प्रमाण

घर्मा		वंशा		मेघा		अञ्जना		अरिष्टा		मघवी		माधवी	
पटल संख्या	प्रसार का प्रमाण	पटल संख्या	प्रमाण	पटल संख्या	प्रमाण	पटल सं०	प्रमाण	पटल सं०	प्रमाण	पटल सं०	प्रमाण	पटल सं०	प्रमाण
१	½ कोस	१	७ कोस	१	१२½ ,,	१	१७ कोस	१	२०½ कोस	१	२३ कोस	१	२४½ कोस
२	१ ,,	२	७½ ,,	२	१३ ,,	२	१७½ ,,	२	२१ ,,	२	२३½ ,,		
३	१½ ,,	३	८ ,,	३	१३½ ,,	३	१८ ,,	३	२१½ ,,	३	२४ ,,		
४	२ ,,	४	८½ ,,	४	१४ ,,	४	१८½ ,,	४	२२ ,,				
५	२½ ,,	५	९ ,,	५	१४½ ,,	५	१९ ,,	५	२२½ ,,				
६	३ ,,	६	९½ ,,	६	१५ ,,	६	१९½ ,,						
७	३½ ,,	७	१० ,,	७	१५½ ,,	७	२० ,,						
८	४ ,,	८	१०½ ,,	८	१६ ,,								
९	४½ ,,	९	११ ,,	९	१६½ ,,								
१०	५ ,,	१०	११½ ,,										
११	५½ ,,	११	१२ ,,										
१२	६ ,,												
१३	६½ ,,												

नारकियों के अवधि क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं :—

एक योजनपर्यन्तं घर्मायामवधिर्मतः ।
सार्धक्रोशत्रयं स्याच्च वंशायां नारकांगिनां ॥११२॥
मेघायां च त्रिगव्यूतिरञ्जनायां भवोद्भवः ।
सार्धक्रोशद्वयान्तं चारिष्टायां क्रोशयुग्मकम् ॥११३॥
मघव्यां सार्धगव्यूतिरवधिर्वैर सूचकः ।
भवप्रत्यय एवाहो माघव्यां क्रोशसम्मितः ॥११४॥

अर्थः—घर्मा पृथ्वी के नारकी जीव वैर भाव का सूचक अपने भवप्रत्यय अवधिज्ञान से एक योजन पर्यन्त, वंशा पृथ्वी के नारकी जीव ३½ कोश, मेघा के ३ कोश, अञ्जना के २½ कोस, अरिष्ठा के २ कोस, मघवी के १½ कोस और माघवी पृथ्वी के नारकी जीव मात्र १ कोस पर्यन्त जान सकते हैं, (इसके आगे नहीं) ॥११२–११४॥

प्रथमादि पृथ्वियों में उत्कृष्ट रूप से जन्म मरण का अन्तर कहते हैं :—

प्रथमे नरके ज्येष्ठ–मुत्पत्तौ मरणेऽन्तरम् ।
चतुर्विंशतिसंख्याता मुहूर्ता द्वितीयेंगिनाम् ॥११५॥
दिनानि सप्त च श्वभ्रे, तृतीये पक्ष संख्यकम् ।
चतुर्थे चैक मासो हि पञ्चमे मास युग्मकम् ॥११६॥
षष्ठे मास चतुष्कं च सप्तमे नरकात्मनाम् ।
षण्मासा अन्तरं निःस–रण प्रवेशयोर्महत् ॥११७॥

अर्थः—यदि कोई भी जीव प्रथम पृथ्वी में जन्म या मरण न करे तो अधिक से अधिक २४ मुहूर्त तक, द्वितीय में ७ दिन तक, तृतीय में १ पक्ष तक, चतुर्थ में १ माह तक, पञ्चम में २ माह तक, षष्ठ में ४ माह तक और सप्तम पृथ्वी में उत्कृष्टतः ६ माह तक न करे ॥११५–११७॥

अब नारक पृथ्वियों में अति उष्ण और अति शीत का विभाग करते हैं :—

पृथिवीषु चतुराद्यासु तीव्रमुष्णं च केवलं ।
पञ्चम्यां हि चतुर्भागानां त्रिभागेषु दुस्सहम् ॥११८॥
पञ्चम्याश्च चतुर्थे हि, भागे षष्ठ्यां दुराश्रयम् ।
सप्तम्यां शैत्यमत्यन्तं, सर्वांगदाहकं महत् ॥११९॥

द्व्यशीतिलक्षसंख्यानि, बिलान्युष्णानि केवलम् ।
पञ्चविंशसहस्राधिकानि दुःखाकराणि च ॥१२०॥
लक्षैकानि भवेयुः सह–स्राणि पञ्चसप्ततिः ।
विश्वदुःख निधानानि, ह्यतिशीतबिलानि च ॥१२१॥

अर्थः—रत्नप्रभा आदि चार पृथ्वियों में और पञ्चम पृथ्वी के $\frac{३}{४}$ भाग पर्यन्त स्थित बिलों में अत्यन्त उष्ण वेदना है, तथा पञ्चम पृथ्वी के अवशेष $\frac{१}{४}$ भाग से सप्तम पृथ्वी पर्यन्त स्थित बिलों में सम्पूर्ण अङ्गों को दाह करने वाली अत्यन्त शीत वेदना है। इस प्रकार ३०००००० + २५००००० + १५००००० + १०००००० + ($\frac{३०००००}{४}$ × ३) २२५००० = ८२२५००० (ब्यासी लाख पच्चीस हजार) बिलों में भयङ्कर दुःख उत्पन्न करने वाली मात्र उष्ण वेदना है और ($\frac{३०००००}{४}$ × १) = ७५००० + ९९९९५ + ५ = १७५००० (एक लाख पचहत्तर हजार) बिलों में सम्पूर्ण दुःखों के स्थान स्वरूप शीत वेदना है ॥११८–१२१॥

नरक वेदना का वेदन करने वाले भावी तीर्थङ्कर जीवों की विशेष व्यवस्था का वर्णन करते हैं:—

आगामितीर्थकर्तॄणां नारकासातभागिनाम् ।
शेषोद्धरित षण्मासि[1] चापि दुःकर्मभोगिनाम् ॥१२२॥
यदा तदासुरा एत्य नरकत्रयभूमिषु ।
निवारयन्ति तद् भक्त्योपसर्गांश्च कदर्थनाम् ॥१२३॥

अर्थः—जो भविष्य में तीर्थङ्कर होने वाले हैं, नरक जन्य असाता और दुःखों का वेदन कर रहे हैं ऐसे रत्नप्रभा से तृतीय पृथ्वी पर्यन्त स्थित तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध व सत्त्व वाले नारकी जीवों की आयु में जब ६ माह अवशेष रहते हैं तब असुर कुमार जाति के देव (भावी तीर्थंकर की) भक्ति से प्रेरित होकर उनके उपसर्ग एवं पीड़ाओं का निवारण कर देते हैं ॥१२२–१२३॥

रत्नत्रय धर्म के आचरण करने की प्रेरणा :—

इति बहुविधरूपाऽ-धःस्थ लोकं विदित्वा,
जिनवरगणिनोक्तं विश्वदुःखैकवार्धिम् ।
दृगवगमचरित्रै-स्तद्विहान्यै शिवाप्त्यै,
चरत कुनरकघ्नं दुःखभीताः सुधर्म्मम् ॥१२४॥

अर्थः—इस प्रकार जिनेन्द्र एवं गणधर देवों द्वारा नाना प्रकार से कथित, सम्पूर्ण दुःखों का समुद्र ऐसे अधोलोक का स्वरूप जानकर सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के द्वारा उन

---

१ षण्मासायुषि अ० ज० न०

दुःखों के निवारण (विनाश) हेतु और मोक्ष सुख की प्राप्ति हेतु दुःखों से भयभीत भव्यजन कुगति को नाश करने वाले रत्नत्रय स्वरूप धर्म का आचरण करें ॥१२४॥

अधिकारान्त मङ्गल ।—

धर्मः स्वर्गगृहाङ्गणः सुखनिधि–[1]र्धर्मोथकर्मौघहा,
धर्मः श्वभ्र निवारकोऽसुखहरो, धर्मोगुणैकार्णवः ।
धर्मोमुक्ति निबन्धनो निरुपमः, सर्वार्थसिद्धिप्रदो,
यः सोऽश्राचरितो मया सुचरणं-मेंऽस्तु स्तुतः सिद्धये ॥१२५॥

इति श्री सिद्धान्तसारदीपके महाग्रन्थे भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते अधोलोके श्वभ्रस्वरूप वर्णनोनाम द्वितीयोधिकारः ॥२॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है लक्षण जिसका ऐसा धर्म स्वर्गरूप गृह का आंगन है, सुख का खजाना है, कर्म समूह को नाश करने वाला है, नरकों का निवारक है। ऐसा धर्म ही गुणों का अद्वितीय समुद्र है, मुक्ति का निबन्धक है, उपमातीत है, सर्व अर्थों (प्रयोजनों) की सिद्धि करने वाला है, तथा जो चारित्रवानों के द्वारा आचरित और मेरे द्वारा स्तुत्य है ऐसा वह रत्नत्रय धर्म मेरी सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये हो ॥१२५॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा रचित सिद्धान्तसार दीपक नाम महाग्रन्थ के अन्तर्गत अधोलोक में श्वभ्रस्वरूप का वर्णन करने वाला दूसरा अधिकार समाप्त हुआ।

✱

---

१. अ ब स प्रती धर्मोघहन्तामहान् ।

तृतीयोधिकारः

मङ्गलाचरण :—

अधोगत्येनसां हन्तॄन् स्वर्भुक्तिमुक्तिकारकान् ।
जगद्धितान् जिनान् वन्दे तद्गत्यै धर्मचक्रिणः ॥१॥

अर्थः—अधोगति के जनक पापाचरणों को नाश करने वाले, स्वर्ग एवं मोक्ष सम्पदा प्राप्त कराने वाले, जगत् हितकारक, धर्मचक्रवर्ती जिनेन्द्र भगवान् को मैं उनकी गति –मोक्ष की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अधिकार लिखने की प्रतिज्ञा एवं उसका कारण :—

अथ वक्ष्ये स्वरूपादीन् दुःखौघाण्यशुभानि च ।
श्वभ्रेषु नारकाणां कुपापिनां भीतिहेतवे ॥२॥

अर्थः—अब मैं पापी जीवों को भय उत्पत्ति के हेतु नरक बिलों में रहने वाले नारकी जीवों का दुःखसमूह से युक्त और महा अशुभ स्वरूप आदि कहूँगा ॥२॥

वहाँ के बिलों का स्वरूप :—

घनवज्राऽशुभा भित्तिभागा व्रणसमानकाः ।
वृतत्रिचतुरस्रादिनानाकाराः शुभाऽतिगाः ॥३॥
बन्दीगेहाधिकातीवबीभत्सास्तासु भूमिषु ।
विश्वदुःखाकरीभूता बिलौघाः सन्ति भीतिदाः ॥४॥

अर्थः—शरीर में उत्पन्न हुये व्रण (घाव या फोड़े) के सदृश (मुख सकरा भीतर चौड़ा) वहां के बिलों की भूमियां एवं दीवालें वज्र के समान कठोर और अशुभ हैं, जो गोल त्रिकोण एवं चतुष्कोण आदि नाना प्रकार के आकार वाली हैं। तथा वहां के बिल यहां के कारागृहों से भी अति अधिक ग्लानि युक्त सम्पूर्ण दुःखों के स्थान और भय उत्पन्न कराने वाले हैं ॥३-४॥

नरक भूमियों का स्पर्श एवं दुर्गन्ध का कथन :—

सहस्रवृश्चिकेभ्योऽपि दष्टेभ्योधिक वेदना ।
वज्रकण्टकसङ्कीर्ण श्वभ्रभूस्पर्शनाद् भवेद् ॥५॥
मार्जारश्वानगोमायु द्वीपि खगादिदेहिनाम् ।
तस्मात्यऽशुभदुर्गन्धाः स्युः कलेवरराशयः ॥६॥

अर्थ:—एक साथ हजारों बिच्छुओं के काटने पर जो वेदना होती है उससे भी अधिक वेदना वज्रमय कांटों से व्याप्त नरक भूमि के स्पर्श मात्र से होती है।

बिल्ली, कुत्ता, शृगाल, व्याघ्र, हाथी और पक्षियों के मृतक शरीरों की राशि समूह से जो दुर्गन्ध निकलती है उससे भी अति अशुभ और भयङ्कर दुर्गन्ध वहां निरन्तर व्याप्त रहती है ॥५-६॥

नरक स्थित नदी, वन, वृक्ष एवं पवन का विवेचन :—

क्षारश्रोणितदुर्गन्धवारि वीचिचयाकुलाः ।
वहन्ति वैतरण्याख्या नद्योऽत्र मांसकर्दमाः ॥७॥
असिपत्रनिभैः पत्रैराकीर्णानि ह्यनेकशः ।
दुराश्रयाणि सन्त्यासु चासिपत्रवनानि वै ॥८॥
अधोमध्याग्रभागेषु सर्वत्र तीक्ष्णकण्टकैः ।
चिताः शाल्मलिवृक्षौघाः भवन्ति ते दुःखस्पृशाः ॥९॥
किरन्तोऽग्निकणाभानि रजांसि वायवोऽशुभाः ।
तेषु वान्त्यऽतिदुःस्पर्शाः सर्वाङ्गदुःखहेतवः ॥१०॥

अर्थ:—उन नरक भूमियों में मांसरूप कीचड़ और क्षार एवं दुर्गन्धित रक्त रूप जल की कल्लोलों से व्याप्त वैतरणी नाम की नदियाँ बहती हैं। उन नरकों में असिपत्र के सदृश हैं पत्ते जिनमें ऐसे वृक्षों से युक्त अनेक असिपत्र नाम के वन हैं जो नारकी जीवों को दुःखसमूह की उत्पत्ति के कारणभूत हैं जिनका स्पर्श अति दुखद है और जो जड़ भाग से मस्तक पर्यन्त तीक्ष्ण कांटों से युक्त हैं ऐसे शाल्मलि नाम के वृक्ष समूहों से वे नरकभूमियाँ व्याप्त हैं। जिसका स्पर्श सम्पूर्ण शरीर को भयङ्कर दुःख का कारण है, जो असुहावनी है और जिसमें खिरने वाले अग्नि कणों के सदृश रज का मिश्रण है ऐसी वायु वहाँ नित्य ही बहती रहती है ॥७-१०॥

विक्रियाजन्य पशुपक्षियों का स्वरूप :—

भीमा गिरिगुहा बह्व्यः सिंहव्याघ्रादिभिर्भृताः ।
क्रूरैर्मांसाशिभिर्नागैर्भवन्ति नरकेषु च ॥११॥

वज्रचञ्चुपुटाः क्रूराः पक्षिणोऽतिभयङ्कराः ।
उत्पतन्ति वनेष्वत्र नारकाङ्गादिभक्षकाः ।।१२।।

अर्थः—नरकों में पर्वतों की भयङ्कर गुफाएँ हैं, जो सदा नागों, सिंहों और व्याघ्र आदि मांसभक्षी एवं क्रूर परिणामी पशुओं से व्याप्त रहती हैं, तथा वहाँ के वनों में वज्र के सदृश कठोर चोंच वाले क्रुद्ध और भयङ्कर पक्षी उड़ते रहते हैं जो नारकियों के शरीर का भक्षण करके उन्हें दुःख पहुँचाते हैं ।।११-१२।।

विशेषः—नारकी जीवों के वैक्रियक शरीर होता है जो सप्तधातुओं से रहित होता है और अपृथक् विक्रिया के प्रभाव से नारकी जीव स्वयं पशु पक्षियों का रूप धारण कर लेते हैं अतः वहाँ मांस भक्षण आदि की मात्र क्रिया ही होती है अर्थात् उस प्रकार की क्रियाओं के द्वारा वे एक दूसरों को दुःख देते हैं । यथार्थ में मांस भक्षण आदि नहीं करते ।

संवेग उत्पादक अन्य भयङ्कर स्वरूप का वर्णन :—

करपत्रसमातीव कर्कशाङ्गाः कुरूपिणः ।
कुत्सिता हुण्डसंस्थाना रक्तनेत्रा भयानकाः ।।१३।।
रौद्ररूपाश्च दुःप्रेक्षा दुःखदानैक पण्डिताः ।
विकरालमुखाः क्रूरा रौद्रध्यानपरायणाः ।।१४।।
प्रचण्डा कालरूपाढ्या–स्तीव्ररोषाः कषायिणः ।
निर्दया नारका निन्द्या निन्द्यकर्मकराः खलाः ।।१५।।
संख्यातिगा वसन्त्येषु, नपुंसकाः कलिप्रियाः ।
विश्वदुःखाब्धि मध्यस्था–निःकारणरणोद्धता ।।१६।।
व्याघ्रसिंहादिरूपाद्यं-र्नाना प्रहरणादिभिः ।
स्वेच्छया विक्रियन्ते ते, रणायविक्रियांगताः ।।१७।।
विभङ्गावधि कुज्ञानं, प्राग्वैरभवसूचकम् ।
सहजं नारकाणां स्या–त्स्वान्येषां दुःखकारणम् ।।१८।।

अर्थः—नरक भूमियों में जो नारकी जीव रहते हैं, उनके शरीर असिपत्र के सदृश अत्यन्त कठोर और तीक्ष्ण होते हैं । उनका रूप ग्लानि उत्पादक, रौद्र, कुत्सित और दुष्प्रेक्ष्य (अदर्शनीय) होता है । भयानक और लाल लाल नेत्रों वाले उन जीवों का संस्थान हुण्डक, मुख विकराल और परिणाम अति रौद्र एवं क्रूर होता है । वे एक दूसरे को दुःख देने में अत्यन्त चतुर होते हैं । प्रचण्ड काल

के सदृश वर्ण वाले, तीव्र क्रोध के साथ साथ सम्पूर्ण कषायों के वशीभूत, निर्दय निन्द्य तथा निरन्तर निन्द्य कार्यों में ही रत, दुष्ट स्वभावी, कलह प्रिय, नपुंसक वेद से युक्त और सम्पूर्ण दुःखों के समुद्र वे नारकी जीव निष्कारण युद्ध करने के लिये उद्यत रहते हैं। युद्ध के लिये भयंकर सिंह व्याघ्र आदि के रूप एवं नाना प्रकार के शस्त्र आदि बना लेने में वे स्वच्छन्दता पूर्वक विक्रिया करते रहते हैं उन नारकी जीवों को पूर्व भव के बैर की सूचना आदि देने की शक्ति से समर्थ विभङ्गावधि खोटा ज्ञान सहज ही होता है जिससे वे परस्पर में एक दूसरे को दुःख देते हुये स्वयं भी दुःखी होते हैं ॥१३-१८॥

नरकों में रोग जन्य वेदना का कथन :—

कुष्ठोदरव्यथाशूलादयो ये दुस्सहा भुवि ।
रोगास्ते नारकाङ्गेषु सर्वे सन्ति निसर्गतः ॥१९॥

अर्थः – भुवि-मध्यलोक में कुष्ट एवं उदरशूल आदि जितने भी दुस्सह दुःख देने वाले रोग हैं वे सम्पूर्ण रोग स्वभाव से ही नारकियों के शरीर में एक साथ होते हैं ॥१९॥

विशेषार्थः—नरकों में होने वाली रोग जनित पीड़ा का दिग्दर्शन मध्यलोक के कुष्टादि रोगों से कराया गया है। मूलप्रति के टिप्पण में मध्यलोक के ३½ हाथ की ऊँचाई वाले शरीर के रोगों का प्रमाण निकाल कर उसे सप्तम नरक के रोगों का प्रमाण बनाया है और शेष नरकों में उसका अर्ध अर्ध प्रमाण ग्रहण किया है।

यथाः—शरीर के उत्सेध का प्रमाण ३ हाथ १२ अंगुल है। इसके सम्पूर्ण अंगुल {(३×२४)+१२} =८४ होते हैं। इन ८४ अंगुलों के (८४×८४×८४) =५९२७०४ घनांगुल हुये। जबकि एक (१×१×१) घनांगुल में ९६ रोग होते हैं तब ५९२७०४ घनांगुलों में कितने रोग होंगे? ऐसा त्रैराशिक करने पर सम्पूर्ण रोगों की संख्या का प्रमाण (५९२७०४×९६) =५६८९९५८४ प्राप्त होती है और टिप्पणकार के द्वारा सप्तम नरक के रोगों का यही प्रमाण माना गया है। इसका अर्धभाग अर्थात् (५६८९९५८४/२) =२८४४९७९२ छठवें नरक के रोगों का प्रमाण है। इसका अर्धभाग अर्थात् २८४४९७९२/२ =१४२२४८९६ पाँचवें नरक के, ७११२४४८ चौथे नरक के, ३५५६२२४ तीसरे नरक के, १७७८११२ दूसरे नरक के और ८८९०५६ प्रथम नरक के रोगों का प्रमाण है। इन सबका योग करने पर ५६८९९५८४+२८४४९७९२+१४२२४८९६+७११२४४८+३५५६२२४+१७७८११२+८८९०५६ =११२९१०११२ अर्थात् ११ करोड़ २९ लाख १० हजार एक सौ बारह प्रकार के रोग (नरकों में) प्राप्त होते हैं।

नरकों की क्षुधातृषाजन्य वेदना का वर्णन :—

कृत्स्नान्न भक्षणासाध्या, सर्वाङ्गोद्वेगकारिणी ।
नारकाणां क्षुधातीव्रा, जायतेऽन्तःप्रदाहिनी ॥२०॥

तया बाह्यान्तरङ्गेषु, तरां सन्तापिताश्च ते ।
अशितुं तिलतुल्यान्नं, लभन्ते जातु नाशुभात् ॥२१॥

समुद्रनीरपानाद्यै-रशाम्या तृट् कुवेदना ।
विश्वाङ्गशोषिका तीव्रो-त्पद्यते श्वभ्रजन्मिनाम् ॥२२॥

तयातिदग्धकायास्ते, नारका दुःखविह्वलाः ।
बिन्दुमात्रं जलं पातुं, प्राप्नुवन्ति न पापतः ॥२३॥

अर्थ :—नारकी जीवों के हृदय को दग्ध कर देने वाली, सम्पूर्ण अङ्गों में उद्वेग उत्पन्न करने वाली तथा (तीन लोक के) सम्पूर्ण अन्न का भक्षण करने पर भी जो शमन को प्राप्त न हो ऐसी तीव्र क्षुधा वेदना उत्पन्न होती है। उससे बाह्य और अंतरंग में अत्यन्त सन्ताप उत्पन्न होता है किन्तु अशुभ कर्म के योग से उन्हें तिल के बराबर भी अन्न कभी खाने को नहीं मिलता ॥२०–२१॥

समुद्र के सम्पूर्ण जलपान द्वारा भी जो शमन को प्राप्त न हो ऐसी सर्वाङ्गों को शोषित करने वाली तीव्र तृषा वेदना उन नारकी जीवों के उत्पन्न होती है, जिससे शरीर अति दग्ध हो जाता है और वे नारकी जीव निरन्तर अति विह्वल होते रहते हैं, फिर भी पाप कर्म के उदय से उन्हें कभी बिन्दु मात्र भी जल पीने को प्राप्त नहीं होता ॥२२–२३॥

नरक गत शीत उष्ण वेदना का कथन :—

ज्वलन्ति नारकावासाः सदान्तर्दुस्सहोष्मभिः ।
अन्धकाराकुला निन्द्याः पूर्णा नारकपापिभिः ॥२४॥

लक्षयोजनमानोऽयः पिण्ड क्षिप्तोष्ण तत्क्षणम् ।
बहूष्मानलतापाद्यैः शतखण्डं प्रयाति भोः ॥२५॥

शीतश्वभ्रेषु निक्षिप्तोऽयः पिण्डो मेरुमानकः ।
सद्यो विलीयते तीव्रतुषाराद्यैर्न संशयः ॥२६॥

अर्थः—निरन्तर दुस्सह अन्तर्दाह में जलने वाले पापी जीवों से जो परिपूर्ण हैं, अन्धकार से व्याप्त हैं और निन्द्यनीय हैं, ऐसे नारकावास सतत् उष्ण रहते हैं। भो भव्यजनो ! ऐसे उन गरम नारकावासों में यदि एक लाख योजन का (सुमेरु सदृश) गोला भी डाल दिया जाय तो वह भी वहाँ की भयङ्कर अग्निताप के द्वारा सेकड़ों खण्डों को प्राप्त हो जाता है। शीत बिलों में यदि मेरुपर्वत के

समान लोह का पिण्ड डाल दिया जाय तो वह तीव्र तुषार के कारण शीघ्र ही विलीन हो जाता है इसमें संशय नहीं है ।।२४-२६।।

विभिन्न प्रकार के दुःखों का विवेचनः—

यत् किञ्चिद् दुःखदं द्रव्यं पञ्चाक्षाङ्गमनोऽप्रियम् ।
तत् सर्वं तेषु तेषां स्यात् पिण्डितं पापकर्मभिः ।।२७।।

अर्थः—पञ्चेन्द्रियों के विषय सम्बन्धी जितने भी दुःख उत्पादक, अप्रिय एवं अभोग्य पदार्थ हैं, वे सब पापकर्म के उदय से नरकों में उन नारकी जीवों के लिये एकत्रित हैं ।।२७।।

इत्यशर्मनिधानेषु पापिनः पापपाकतः ।
अधोमुखाः पतन्त्येषु पापिनामुन्नतिः कुतः ।।२८।।

अर्थः—इस प्रकार दुःखों के निदान स्वरूप इन नरकों में पापी जीव पापोदय से अधोमुख गिरते हैं, क्योंकि पापियों की ऊर्ध्वगति कहाँ ? अर्थात् पाप के भारसे युक्त जीव ऊपर कैसे जा सकते हैं ।।२८।।

तस्मात्युष्णाग्निसन्तप्ता वराकाः पतिताश्च ते ।
निपतन्त्युत्पतन्त्याशु तप्तभ्राष्ट्रतिला इव ।।२९।।

अर्थः—जिस प्रकार तप्त भार में डाले गये तिल (या चना आदि अन्य धान्य) तुरन्त ही ऊपर उचट कर फिर नीचे गिरते हैं, उसी प्रकार वे बेचारे दीन नारकी जीव अग्नि से सन्तप्त अति उष्ण भूमि में पड़ने के बाद शीघ्र ही (अनेकों बार) ऊपर उछल उछल कर नीचे गिरते हैं ।।२९।।

ततोऽति वेदनाक्रान्तास्ते तत्क्षेत्रं भयानकम् ।
प्रचण्डान्नारकान् वीक्ष्येतिचित्ते चिन्तयन्ति च ।।३०।।
अहो ! निन्द्यमिदं क्षेत्रं किमापदां किलाकरम् ।
केऽमी च नारका रौद्रा मारणैकपरायणाः ।।३१।।
नचात्र स्वजनः स्वामी भृत्यो वा जातु दृश्यते ।
निमेषार्धं सुखं सारं सुखकृत् वस्तु नो परम् ।।३२।।

अर्थः—इस प्रकार उस क्षेत्र सम्बन्धी भयङ्कर वेदना से आक्रान्त जब वे नारकी जीव अन्य भयावह नारकियों को देखते हैं, तब विचार करते हैं कि हाय ! आपदाओं की खान स्वरूप यह निन्द्य क्षेत्र कौन है ? मारकाट में परायण ये दुष्ट नारकी कौन हैं ? यहाँ कहीं भी मेरे कोई कुटुम्बी

जन, स्वामी और नौकर आदि दिखाई नहीं देते, तथा न अर्धनिमेष मात्र सुख और न सुख उत्पन्न करने वाली अन्य कोई वस्तुएँ ही दिखाई देतीं हैं ॥३०-३२॥

अयं केन विहानीता रौद्रस्थाने कुकर्मणा ।
कृत्स्न दुःखाकरीभूते पापारिकवलीकृताः ॥३३॥

अर्थः—खोटे कर्मों में रत और पापी शत्रुओं द्वारा भक्षण किये जाने वाले हम सब इस सम्पूर्ण दुःखों के खान स्वरूप रौद्र स्थान में किस पापकर्म के द्वारा लाये गये हैं ॥३३॥

पूर्व जन्म में किये हुये पापों का चिन्तन एवं पश्चाताप:—

इत्यादि चिन्तनात्तेषां प्रादुर्भवति दुःखदः ।
विभङ्गावधिरेव स्व प्राग्जन्म वैरसूचकः ॥३४॥
तेन विज्ञायते सर्वं भवानाचारमञ्जसा ।
पश्चात्तापाग्नि सन्तप्ताः शोचन्तीति स्वदुर्विधीन् ॥३५॥
अहो ! दुष्कर्मकोटीभिरस्माभिः स्वात्मनाशकम् ।
यन्निन्द्यमर्जितं पापं महत् पञ्चाक्षवञ्चितैः ॥३६॥
तेनास्माकं निरौपम्या दुःखक्लेशादि कोटयः ।
प्रादुरासन् जगन्निन्द्या अस्मिन् क्षेत्रे सुखातिगे ॥३७॥

अर्थ:—इस प्रकार के चिन्तन मात्र से उन नारकी जीवों को अपने पूर्व जन्म के वैर का सूचक और दुःख उत्पत्ति का कारण कुअवधिज्ञान (जातिस्मरणज्ञान) स्वयं प्रगट हो जाता है । जिसके द्वारा वे अपने पूर्व भव के अनाचारों को और अपनी सम्पूर्ण दुष्ट क्रियाओं को शीघ्र ही जान लेते हैं, अतः पश्चाताप की अग्नि से सन्तप्त होते हुये इस प्रकार विचार करते हैं कि अहो ! पञ्चेन्द्रियों के विषयों से ठगे हुये एवं करोड़ों दुष्कर्मों के द्वारा हमने अपनी आत्मा के नाशक अत्यन्त निन्द्य जो महान पाप अर्जित किये हैं, उनके द्वारा ही इस दुःखदाई क्षेत्र में निन्दनीय और उपमा रहित करोड़ों दुःख एवं क्लेश प्रगट हो रहे हैं ॥३४-३७॥

हा ! सर्षपाक्षसौख्यार्थं लम्पटैस्तदघं कृतम् ।
अस्माभिः प्राग् भवे येनाभूद् दुःखं मेरुसम्मितम् ॥३८॥

अर्थ:—हा ! पूर्व जन्म में इन्द्रिय लम्पट होकर मैंने सरसों बराबर इन्द्रिय सुखों के लिये जो पाप किये थे उनसे ये मेरु सदृश दुःख मुझे प्राप्त हो रहे हैं ॥३८॥

---

१ पूर्व अ०

अभक्ष भक्षण और पांच पापों का चिन्तन :—

यतोऽस्ति विषयासक्त्या, खादितानि बहूनि च ।
अखाद्यान्यशुभाढ्येया–नि पीतानि स्वशर्मणे ।।३९।।
अस्माभिर्निर्दयैः पूर्वं, जीवराशिर्हतो बलात् ।
असत्यकटुकादीनि, दुर्वचांस्युदितानि च ।।४०।।
हृतानि परवस्तूनि, मायाकौटिल्यकोटिभिः ।
सेविताः पररामाद्या दौष्ट्याद् रागान्धमानसैः ।।४१।।
भूयान् परिग्रहो लोभान्, मेलितः स्वाक्षशर्मणे ।
बह्वारम्भः कृतो नित्यम् श्रीस्त्रीकुटुम्बहेतवे ।।४२।।

अर्थः—अपने इन्द्रिय सुख के लिये विषयासक्त मेरे द्वारा बहुत से अखाद्य (मांस, अण्डा, आलू मूली आदि कन्दमूल एवं अभक्ष) पदार्थ खाये गये हैं और अपेय (शराब एवं बाजार की चाय दूध आदि) पदार्थ पिये गये हैं ।।३९।।

पूर्व भव में मुझ निर्दयी ने जबरदस्ती (संकल्प पूर्वक) अनन्त जीव राशि मारी है । असत्य, कटुक एवं निन्दा आदि के दुर्वचन कहे हैं । करोड़ों प्रकार की वञ्चना एवं कुटिलता द्वारा पर वस्तुओं का हरण किया है । राग से अन्धे होते हुये मैंने दुष्टता पूर्वक परस्त्री का सेवन किया है । अपने इन्द्रिय सुखों के लिये लोभ से ग्रसित होकर मैंने महान् परिग्रह एकत्रित किया है, और लक्ष्मी (धन संचय), स्त्री एवं कुटुम्ब आदि के लिये नित्य ही बहुत भारी आरम्भ किया है ।।४०-४२।।

धर्माचरण रहित एवं कुधर्म सेवन पूर्वक पूर्वभव व्यतीत करने का पश्चात्तापः—

निःशीलैर्विषयान्धैश्च, पञ्चाक्षाणि निरन्तरम् ।
सेवितानि पुरास्माभिः सौख्याय नष्टबुद्धिभिः ।।४३।।
श्रेयसेऽनुष्ठितं मौढ्यात् मिथ्यात्वं केवलं महत् ।
कुदेव[1]कुगुरुशास्त्र–कुत्सिताचार कोटिभिः ।।४४।।
अतीवव्यसनासक्तैः पालितं न मनाग्व्रतम् ।
शीलं वा न कृतं पुण्यं दानपूजार्चनादिभिः ।।४५।।
धर्मिणो धर्ममत्यर्थं, दिशंतोपि पुरा मुहुः ।
श्वभ्रगामिभिरस्माभिः कटुवाक्यैरमानिताः ।।४६।।

---

1. कुदेवकुगुरुकुज्ञान ज. न.

इत्याद्यन्यैर्दुराचारैर्-दुष्कर्माण्यर्जितानि च ।
तानि पूर्वमिहायातान्यैर्नो दुःखादिराशयः ॥४७॥

अर्थः—नष्ट बुद्धि, विषयान्ध और व्रतशील आदि से रहित मैंने पूर्व भव में अल्प सुख के लिये निरन्तर पंचेन्द्रियों के विषयों का सेवन किया है ॥४३॥

मैंने अज्ञानता से पुण्यार्जन के लिये करोड़ों खोटे आचरणों (३ मूढ़ता, ६ अनायतनों के द्वारा एवं बलि आदि के) द्वारा महान् मिथ्यात्व और मिथ्या देव, शास्त्र, गुरुओं का सेवन किया है ॥४४॥

सप्त व्यसनों में अत्यन्त आसक्ति होने के कारण मैंने किञ्चित् भी व्रतों का पालन नहीं किया, और न शील, दान, पूजा एवं अर्चना आदि के द्वारा किञ्चित् भी पुण्य उपार्जन किया। पूर्व भव में धर्मात्मा पुरुषों ने धर्म धारण करने के लिये मुझे बार बार उपदेश दिया किन्तु कठोर और कटु वचन बोलने वाले मुझ नरक गामी ने उनके उपदेश नहीं माने। इस प्रकार के तथा और भी अन्य प्रकार के दुराचारों द्वारा जो दुष्कर्म उत्पन्न किये थे वही पाप यहाँ पर दुःख की राशि रूप से उपस्थित हुये हैं ॥४५–४७॥

पश्चाताप रूप तीव्र उत्ताप का विवेचन :—

कैश्चित्पुण्यजनैः शक्त्या, नृभवे साधितो महान् ।
स्वर्गो मोक्षोविचारज्ञैः सत्तपश्चरणादिभिः ॥४८॥

दुर्लभे नृभवे प्राप्ते, धर्मस्वर्मुक्तिसाधके ।
अस्माभिरर्जितं श्वभ्रं, दुराचारैः स्वघातकम् ॥४९॥

अर्थः—मनुष्य भव में समीचीन तपश्चरण आदि को धारण करने वाले विचारवान् पुण्य पुरुषों के द्वारा अपनी शक्ति के अनुरूप स्वर्ग मोक्ष का महान साधन किया जाता है, किन्तु स्वर्गमुक्ति का साधक दुर्लभ मनुष्य भव प्राप्त होने पर भी मैंने धर्म पालन तो नहीं किया परन्तु दुराचारों के सेवन द्वारा स्व आत्मा का घात करने वाले नरक का अर्जन किया है, अर्थात् इतना घोर पाप उपार्जन किया जिससे नरक आना पड़ा ॥४८–४९॥

येषां स्त्रीपुत्रबन्धूनां भूत्यर्थं पापमञ्जसा ।
कृतं ते तत्फलं भोक्तुं नात्रामास्माभिरागताः ॥५०॥

पोषिता येऽङ्गपञ्चाक्षा नानाभोगैः पुराः खलाः ।
तेऽत्रस्मान्[1] पातयित्वात्र श्वभ्रे गता इवारयः ॥५१॥

---

१. तेऽप्यस्मात् ज० न० ।

अतो मन्यामहेऽत्रैवं स्वजनाः पापहेतवः ।
शत्रवः स्युश्च पञ्चाक्षाः काला नागा न चापरे ।।५२।।

अर्थः—जिन स्त्री, पुत्र, बन्धु बान्धवों के वैभव या उन्नति के लिये यथार्थ में मैंने बहुत पाप किये थे वे कुटुम्बी जन उस पाप का फल भोगने के लिये मेरे साथ अभी यहाँ नहीं आये। पूर्व भव में नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों द्वारा मैंने जिनके शरीर और पञ्चेन्द्रियों का पोषण किया था, वे दुष्ट शत्रु सदृश बन्धुजन मुझको यहाँ नरक में पटककर चले गये, इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि पाप के कारणभूत स्वजन तो शत्रु हैं और पञ्चेन्द्रियों के विषय काले नाग हैं, इससे अधिक कुछ नहीं ।।५०-५२।।

यदुक्तं सूरिभिः पूर्वं, सहगामि शुभाशुभम् ।
प्रत्यक्षतामगाद्योऽद्य, तदत्र पाकसूचकम् ।।५३।।
पुराकृतानि पापानि मनसापि स्मृतानि च ।
अन्तर्मर्माणि कृतन्त्यधुना नः क्रकचानि वा ।।५४।।

अर्थः—पूर्व में आचार्यों के द्वारा जो कुछ कहा गया था वह पापोदय का सूचक सहगामी शुभाशुभ आज यहाँ मेरी प्रत्यक्षता को प्राप्त हो रहा है ।।५३।।

पूर्व जन्म में किये गये पाप आज मन से स्मृति करने पर मेरे अन्तःस्थल के मर्म को करोंत के समान छेद रहे हैं ।।५४।।

अत्र प्राक्कृत पापोत्थ–दुःखौघग्रसिता वयम् ।
क्व यामः कं च पृच्छामः, किं कुर्मोऽत्र ब्रूम एव किम् ।।५५।।
व्रजामः शरणं कस्या–त्रास्माद्दुःखौघ सन्ततेः ।
सोढव्याः कथमस्माभि-र्महत्यः श्वभ्रवेदनाः ।।५६।।
पूर्वदुष्कर्मपाकोत्थ–मिमं दुःखार्णवं परम् ।
दुस्तरं चोत्तरिष्यामः, कथमायुः क्षयं विना ।।५७।।
यतोऽत्र मरणं न स्यान् नारकाणां कदाचन ।
सत्यायुषि निजेऽल्पेऽपि, तिलतुल्याङ्ग खण्डनैः ।।५८।।
इति प्राक्कृतदुष्कर्मज पश्चात्तापवह्निभिः ।
दह्यमानान्तरङ्गाणां, नारकाणां दुरात्मनाम् ।।५९।।

अर्थः—पूर्व जन्म में किये हुये पापों से उत्पन्न होने वाला यह दुःखों का समूह यहाँ हमें खा रहा है। अब हम कहाँ जाएँ? किससे पूछें? क्या करें? और क्या कहें? किसकी शरण जाएँ? यहाँ दुःख समूह से निरन्तर होने वाली यह महान् नरक वेदना सहन करने में हम कैसे समर्थ होवें ॥५५-५६॥

पूर्व दुष्कर्मों के पाक से उत्पन्न होने वाला यह दुस्तर महान् दुःखरूपी समुद्र आयु क्षय बिना कैसे पार करें, क्योंकि अपनी भुज्यमान आयु के पूर्ण हुये बिना शरीर के तिल बराबर खण्ड खण्ड कर देने पर भी यहाँ नारकी जीवों का असमय में मरण नहीं होता ॥५७-५८॥

इस प्रकार दुरात्मा नारकी जीवों के अन्तःकरण पूर्व जन्म में किये गये पापों से उत्पन्न होने वाली पश्चाताप रूपी अग्नि से निरन्तर जलते रहते हैं ॥५९॥

अन्य नारकी जीवों द्वारा दिये हुये भयङ्कर दुःखों का दिग्दर्शनः—

शतचूर्णां प्रकुर्वन्ति, सर्वगात्राणि नारकाः ।
मुद्गरादिप्रहारौघं निर्भर्त्स्य कटुकाक्षरैः ॥६०॥

अर्थः—नारकी जीव भर्त्सना पूर्वक कटुक वचनों द्वारा एवं मुद्गर आदि प्रहार समूहों द्वारा सम्पूर्ण शरीर के सैकड़ों टुकड़े कर देते हैं ॥६०॥

जीवों के नेत्र फोड़ने का और अङ्गोपाङ्ग छेदन का फलः—

उत्पाटयन्ति नेत्राणि चक्षुर्विकारजाशुभैः ।
अङ्गोपाङ्गानिकृन्तन्ति चाङ्गोपाङ्गकृताघतः ॥६१॥

अर्थः—पूर्व जन्म में अन्य जीवों के नेत्र फोड़ देने से एवं अङ्गोपाङ्गों का छेदन भेदन आदि कर देने से जो पाप एवं अशुभ कर्म संचय हुआ है उसीके कारण नारकी नेत्र उखाड़ लेते हैं, और अङ्गोपाङ्ग काट लेते हैं ॥६१॥

दूसरों के प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले पाप का फलः—

चित्तोत्थपापपाकेन विदार्य जठरं बलात् ।
केचित् क्रुद्धाश्च केषाञ्चित् त्रोटयन्त्यन्त्रमालिकाम् ॥६२॥

अर्थः—अन्य जीवों के बुरे चिन्तन आदि से चित्त में जो विकार उत्पन्न होता है उस पापोदय के फल स्वरूप कोई नारकी क्रोधित होते हुये बल पूर्वक पेट विदीर्ण कर देते हैं और कोई यन्त्रादिकों में पीस देते हैं ॥६२॥

मद्य आदि अपेय पदार्थ पीने का फल:—

मुखं विदार्य संदंशैर्ज्वलत्ताम्ररसं बलात् ।
क्षिप्यते नारकैस्तेषां मद्यपानोत्थ पापतः ॥६३॥

अर्थ:—मद्य आदि अनेक प्रकार के अपेय पदार्थ पीने से जो पाप संचय हुआ था उससे ये नारकी जीव सण्डासी से मुख फाड़ कर बलपूर्वक उसमें जलता हुआ ताम्ररस डाल रहे हैं ॥६३॥

परस्त्री सेवन का फल:—

दृढमालिङ्गनं केचित् कारयन्ति बलाद् गले ।
तप्तलोहांगनाभिश्च परस्त्रीसंगजाघतः ॥६४॥

अर्थ:—परस्त्री सेवन से उत्पन्न पाप के फल स्वरूप वे नारकी जीव बल पूर्वक गले में तप्त लोहे की स्त्री से दृढ आलिङ्गन करा रहे हैं ॥६४॥

जीवों को छेदन भेदन आदि के दुःख देने का फल:—

विधाय नारकांगानां, सूक्ष्मखण्डानि कर्त्तनैः ।
निःपीडयन्ति यन्त्रेषु, दलन्त्यश्मपुटादिभिः ॥६५॥
क्वाथयन्ति च कुम्भीषु, निर्दयाः नारकाः परे ।
चूर्णयन्त्यस्थिजालं च, ताडयन्तिपरस्परम् ॥६६॥
गृध्रास्ताम्रमयास्तत्र, लोहतुण्डाश्च वायसाः ।
मर्माणि दारयन्त्येषां, चञ्चुभिर्नखरैः खरैः ॥६७॥
छिन्नभिन्नानि गात्राणि, सम्बन्धं यान्ति तत्क्षणम् ।
दण्डाहतानि वारीणी–व तेषां दुर्विधेर्वशात् ॥६८॥

अर्थ:—[मनुष्य पर्याय में जो धनान्ध तेल आदि के मील खोल कर और बड़ी बड़ी चक्कियां लगा कर बिना शोधन किये अनाज आदि पिसवा कर महान पाप संचय करते हैं] उन नारकी जीवों के शरीरों के कैंची द्वारा छोटे छोटे टुकड़े करके यन्त्रों में (घानी में) पेलते हैं और पत्थर की चक्कियों द्वारा उन्हें पीसते हैं ॥६५॥

वे दुष्ट और निर्दयी नारकी दूसरों को हाण्डियों में पकाते हैं, हड्डियों का चूर्ण कर देते हैं और आपस में एक दूसरे को मारते हैं ॥६६॥

वहाँ (नरकों में) ताम्रमय गृद्धपक्षी और लोहे के मुख वाले कौए अपनी तीक्ष्ण चोंचों एवं नखों से (मनुष्य पर्याय में जो पशुओं के मर्म स्थानों का छेदन भेदन करते हैं तथा उनके शरीर में हो जाने वाले घावों की पक्षियों से रक्षा नहीं करते) उन नारकियों के मर्म स्थानों का छेदन करते हैं ।।६७।।

खोटे कर्मोदय के वशसे उन नारकी जीवों के छिन्न भिन्न किये हुये शरीर डण्डे से ताडित जल के समान तत्क्षण सम्बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं ।।६८।।

मांस भक्षण का फल :—

खादन्ति नारकास्तेषां मांसं भक्षणपापतः ।
शूलपक्वानि मांसानि पुरा ये मांसभक्षिणः ।।६९।।

अर्थः—जिन्होंने पहिले मांस भक्षण किया था, पाप से उन मांस भक्षी जीवों के मांस को अन्य नारकी शूलसे (मांस पकाने का कांटा) पका कर खाते हैं ।।६९।।

भिन्न भिन्न प्रकार के दुःखों का कथन :—

काञ्चिल्लोहाङ्गनालिङ्गनाच्च मूर्च्छामुपागतान् ।
लोहारदण्डकैरन्यैः खलास्तुदन्ति मर्मसु ।।७०।।

अर्थः—लोहे की (तप्त) स्त्री के आलिङ्गन से मूर्च्छा को प्राप्त होने वाले नारकी के मर्म स्थानों पर अन्य दुष्ट नारकी लोह दण्ड के द्वारा चोटें मारते हैं ।।७०।।

सर्वाङ्गकण्टकाकीर्णेषु शाल्मलिद्रुमेषु च ।
भस्त्राग्निदीपितेष्वन्यानारोपयन्ति नारकाः ।।७१।।

अर्थः—सर्वाङ्ग में तीक्ष्ण कांटों से व्याप्त शाल्मलि वृक्षों पर और अग्नि से देदीप्यमान भट्टों पर उन नारकी जीवों को चढ़ाते हैं ।।७१।।

निघर्षन्त्यपरे तेषु सर्वाङ्गेषु द्रुमेषु तान् ।
गृहीत्वान्ये च पादेषु घ्नन्त्याहत्य धरातले ।।७२।।

अर्थः—अन्य कोई नारकी उन कण्टकाकीर्ण सम्पूर्ण वृक्षों पर उन्हें घसीटते हैं, और अन्य कोई उन बेचारों को जमीन पर पटककर तथा पैरों में फंसा कर मारते हैं ।।७२।।

नित्यस्नानोत्थ पापेन, वैतरण्यम्बु वीचिषु ।
यान्त्यपयन्ताकुलीभावं, केचित्कैश्चित्प्रमज्जिताः ।।७३।।

केचिच्च स्वयमागत्यतीव्रोष्णाग्निकरालिताः ।
क्षारपूतिजलेतस्या, मज्जन्ति तापशान्तये ॥७४॥

तेन दुःस्पर्शनीरेण, नितरां ते कदर्थिताः ।
असिपत्रवनान्याशु, विश्रामाय श्रयन्ति भोः ॥७५॥

तेषु तीव्रो मरुद्वाति, विस्फुलिङ्गकणान् किरन् ।
तेन पत्राणि पात्यन्ते, खड्गधारासमानि च ॥७६॥

तेषां गात्राणि छिद्यन्ते, भिद्यन्ते चाखिलानि तैः ।
ततस्ते भेदनाक्रान्ताः, पूत्कुर्वन्ति पराक्रमाः ॥७७॥

तस्मात्ते च गलद्रक्त-धारातीव कुरूपिणः ।
प्रविशन्ति स्वयं स्थित्यै, गत्वाशु पर्वतान्तरम् ॥७८॥

तत्रापि नारका एतान् खादन्ति दारयन्ति च ।
व्याघ्रसिंहाहि पक्ष्यादिरूपैः स्वविक्रियोद्भवैः ॥७९॥

केचित्तान् नारकान् दीनान् धृत्वा पादेष्वधो मुखान् ।
पर्वताग्रादधो भागं पातयन्ति महीतलम् ॥८०॥

तद् घातात् खण्डखण्डाङ्ग-भूतांस्तान् शरणार्थिनः ।
वज्रमुष्टिप्रहाराद्यैर्घ्नन्त्यन्ये रौद्ररूपिणः ॥८१॥

व्रणजर्जरितान् कांश्चिद्तीव्रवेदनाकुलान् ।
भद्रं कुर्वेवमित्युक्त्वा सिंचन्ति क्षारवारिभिः ॥८२॥

अर्थः—नित्य ही अगालित एवं अप्रमाण जल से स्नान करने के कारण जो पाप उत्पन्न हुये थे उन्हींके फल स्वरूप कोई जीव वैतरणी नदी को कल्लोल मालाओं के बीच आकुलीभाव को प्राप्त होते हैं, कोई जीव अन्य नारकियों द्वारा उसमें डुबोये जाते हैं और कोई असह्य तीव्र उष्ण अग्नि की ताप के कारण आक्रन्दन करते हुये उस नदी पर आकर ताप शान्ति के लिये नदी के क्षार एवं दुर्गन्धित जल में स्वयं डूब जाते हैं। किन्तु भो भव्य जनो ! उस जल के दुःस्पर्श से अत्यन्त पीड़ित होते हुये वे नारकी विश्रान्ति के लिये शीघ्र ही असिपत्र वनों का आश्रय लेते हैं। जिनमें (अग्नि के) विस्फुलिंग कणों को फैलाती हुई वायु बहती है जिससे असिधारा के समान पत्ते नीचे गिरते हैं, जो उन नारकियों के सम्पूर्ण शरीर को छेद देते हैं और भेद देते हैं, इसलिये वे बेचारे असहाय वेदना से आक्रान्त होते हुये चीत्कार (हा हा कार) करते हैं। शरीर भेदन के कारण बहती हुई रक्त धारा से जो अत्यन्त कुरूप हो रहे हैं ऐसे वे नारकी सुख से स्थित होने के लिये शीघ्र ही पर्वत के ऊपर जाकर स्वयं ही

उनकी गुफाओं में प्रवेश करते हैं, किन्तु वहाँ भी अपनी विक्रिया (अपृथक् विक्रिया) से उत्पन्न हुये व्याघ्र, सिंह, सर्प आदि हिंसक पशु अपने शरीरों के द्वारा उन नारकियों को विदारण कर देते हैं और खा लेते हैं ॥७३-७९॥

कोई दुष्ट नारकी अधोमुख उन बेचारे दीन नारकियों को अपने पैरों पर रख कर पर्वत के ऊपर से नीचे पृथ्वी पर पटक देते हैं, जिसके घात से खण्ड खण्ड हो गये हैं शरीर जिनके ऐसे शरण के इच्छुक उन नारकियों को अन्य कोई दुष्ट नारकी वज्रमुष्टियों के प्रहारों से मारते हैं। तुम्हारे इन गहरे घावों से होने वाली तीव्र वेदना को मैं शीघ्र ही ठीक करता हूँ ऐसा कहकर अन्य कोई नारकी उन घावों को क्षार जल से सींचते हैं ॥८०-८२॥

गर्व करने का फल :—

पुरार्जितानि पापानि गर्वौघैश्च मदोत्करैः ।
तप्तलोहासनेष्वत्र तानासयन्ति नारकाः ॥८३॥

अर्थः—पूर्व जन्म में नाना प्रकार के बढ़ते हुये मद समूह से सञ्चित पाप के फल स्वरूप उन नारकी जीवों को अन्य नारकी तप्तायमान लोहे के आसनों पर बैठाते हैं ॥८३॥

अयोग्य स्थान में शयन करने का फलः—

परस्त्रीनिकटातीवमृदुशय्योत्थपापतः ।
शाययन्ति परे कांश्चिच्छिताय:कण्टकान्तरे ॥८४॥

अर्थः—पूर्व भव में परस्त्री के साथ अति मृदुल शैय्या पर सोने से जो पाप बंध किया था उससे अन्य कोई नारकी उन्हें लोहे के तीक्ष्ण कांटो के ऊपर सुलाते हैं ॥८४॥

सप्त व्यसन सेवन का फलः—

सप्तव्यसन सेवोत्था-घौघयाविह नारकान् ।
केचित् निशात शूलाग्रे-ष्वारोपयन्त्यशर्मणे ॥८५॥
बद्ध्वा शृङ्खलया स्तम्भे, कांश्चिच्च क्रकचैः खलाः ।
दारयन्त्यखिलांगेषु, स्वाक्रन्दं कुर्वतो बलात् ॥८६॥

अर्थः—पूर्व भव में सप्त व्यसनों का सेवन करके जो पाप उपार्जन किया, उसके उदय से नरक में उन नारकी जीवों को कोई नारकी भयङ्कर दुःख देने के लिये तीक्ष्ण शूल के अग्रभाग पर चढ़ा देते हैं और कोई दुष्ट आक्रन्दन करते (दुःख से चिल्लाते) हुये उन जीवों के सम्पूर्ण शरीर को जबरदस्ती सांकल द्वारा खम्भे पर बांधकर करोंत से चीरते हैं ॥८५-८६॥

वैरविरोध रखने का फल:—

केचित् प्राग्जन्मवैरादीन्, स्मारयित्वा निरूप्य च।
मुहुर्निर्भर्त्स्य दुर्वाक्यैः, स्थित्वा रणांगणे क्रुधा ॥८७॥
स्वविक्रियांग सञ्जातै—र्नानाशितायुधव्रजैः।
छेदयन्त्यखिलांगानि, घ्नन्ति क्रुद्धाः परस्परम् ॥८८॥

अर्थ:—कोई कोई नारकी जीव पूर्व भव के वैर का स्मरण करके और बार बार भर्त्सना युक्त खोटे वाक्यों द्वारा उस वैर भाव को कह कर क्रोधित होते हुये रणाङ्गण में स्थित होकर अपने शरीर की अपृथक् विक्रिया से उत्पन्न हुये नाना प्रकार के तीक्ष्ण शस्त्र समूह के द्वारा उनके सम्पूर्ण शरीर को छेद देते हैं तथा क्रोधित होते हुये परस्पर में एक दूसरे को मारते हैं ॥८७–८८॥

असुरकुमारों द्वारा दिये जाने वाले दुःखों का कथन:—

उद्विग्नांस्तान् क्वचिद्दीनान् युद्धादेर्नारकान् स्थितान्।
रौद्राशयाः सुरा एत्य स्मारयित्वा पुरातनम् ॥८९॥
आगतं वैरमन्योन्यं योधयन्ति रणांगणे।
स्थित्वा स्वशर्मणे हिंसानन्दं कुर्वन्त उल्वणम् ॥९०॥
विस्फुलिंगमयीं शय्यां ज्वलन्तीं शायिताः परे।
शेरते शुष्कसर्वांगा दीर्घनिद्रासुखाशये ॥९१॥

अर्थ:—युद्ध आदि से हतोत्साह होकर खड़े हुये किन्हीं दीन नारकियों को दुष्ट अभिप्राय वाले असुरकुमार देव आकर पूर्व भव को याद दिलाते हुये उसी पूर्व वैर के कारण आपस में एक दूसरे नारकियों को युद्ध में लड़ाते हैं और स्वयं की सुख प्राप्ति के लिये महा हिंसानन्दी रौद्रध्यान करते हैं। अन्य कोई अग्निकणिकामय जलती हुई शय्या पर उन्हें सुला देते हैं, तथा शुष्क हो गया है शरीर जिनका ऐसे कोई नारकी मृत्यु द्वारा सुख प्राप्त करने की इच्छा से उस पर स्वयं सो जाते हैं ॥८९–९१॥

दुःखों के प्रकार एवं उनकी अवधि का वर्णन:—

शारीरं मानसं क्षेत्रोद्भवं परस्परप्रजम्।
असुरोदीरितं पञ्चप्रकारमिति दुस्सहम् ॥९२॥
क्षणक्षणभवं तीव्रं, कविवाचामगोचरम्।
सहन्ते नारकानित्यं, महद्दुःखं च्युतोपमम् ॥९३॥

चतुर्थश्वभ्रतः पूर्वं, ह्यसुरोदीरितासुखम् ।
भवेच्छेषचतुःश्वभ्रे-षु च दुःखं प्रवर्द्धितम् ॥९४॥

एषां दुःखाब्धिमग्नानां, पापारिग्रसितात्मनाम् ।
अक्षुरुन्मेषमात्रं न, सुखं श्वभ्रेषु जातुचित् ॥९५॥

इत्यसह्य तरां तीव्रां, वेदनां प्राप्य नारकीम् ।
उद्विग्नानां मनस्येषां चिन्तेयं जायते तराम् ॥९६॥

अर्थः—नरकों में शारीरिक, मानसिक, क्षेत्र जन्य, परस्पर-एक दूसरे के द्वारा उत्पन्न और असुर कुमारों द्वारा दिया हुआ-ये पांच प्रकार के दुस्सह दुःख होते हैं ॥९२॥

क्षणक्षण में उत्पन्न होने वाले, तीव्र-असाता के तीव्र अनुभाग से युक्त, कवियों के वचन अगोचर अर्थात् कवि जिसका वर्णन करने में असमर्थ, उपमारहित महान दुःखों को नारकी जीव नित्य ही सहन करते हैं ॥९३॥

चतुर्थ पृथिवी से पूर्व अर्थात् तृतीय मेघा पृथिवी पर्यन्त ही असुर कुमारों द्वारा दिया हुआ दुःख है। शेष चार नरक भूमियों में शेष चार प्रकार के ही दुःख होते हैं। पाप रूपी शत्रुओं से ग्रसित है आत्मा जिनकी ऐसे दुःखरूपी समुद्र में डूबे हुये नारकियों को नरकों में कदाचित् भी नेत्रके उन्मेष मात्र सुख नहीं है। इस प्रकार असह्य तीव्र वेदना को प्राप्त कर उद्विग्न मन वाले इन नारकियों के हृदय में यह बहुत भारी चिन्ता उत्पन्न हो रही है ॥९४-९६॥

नारकियों द्वारा चिन्तित विषयों का वर्णन :—

अहो ! दुराश्रया भूमिः प्रज्वलन्ती-यमस्पृशा ।
दुःस्पर्शा मरुतो यान्ति स्फुलिङ्गकणवाहिनः ॥९७॥

एता दीप्ता दिशोऽप्रेक्ष्या एतत् क्षेत्रं भयास्पदम् ।
सन्तप्तपांशु दुर्वं हि वर्षन्त्यम्बुमुचोऽम्बरात् ॥९८॥

विषारण्यमिदं विष्वग् विषवल्लीद्रुमैश्चितम् ।
असिपत्रवनं चैतदसिपत्रैर्भयङ्करम् ॥९९॥

उद्दीपयन्ति कामाग्नि कृपेमा लोहपुत्रिकाः ।
योधयन्ति बलादस्मान् केचित्क्रूरा इमे खलाः ॥१००॥

खरोष्ट्रमनलोद्गारि ज्वलज्ज्वालाकरालितम् ।
खरा-रटितमुखोर्ध्वं गिलितुं नोऽभिधावति ॥१०१॥

नारका भीषणा एते कृपाणाङ्कितपाणयः ।
निष्ठुरास्तर्जयन्त्यस्मान् निष्कारणरणोद्यताः ॥१०२॥

पक्षिणः पक्षवापाता इते नोऽभिद्रवन्त्यलम् ।
सारमेयाश्च श्वासः भीक्ष्यन्तोऽप्यभीतवत् ॥१०३॥

इतः स्फुरन्ति दुर्ध्यानान् नारकाणां प्रधावताम् ।
इतश्च करुणाक्रन्दस्वराः कर्थयितात्मनाम् ॥१०४॥

अन्धकूपसमा एते प्रज्वलन्त्यन्तरूष्मणा ।
दुर्गन्धा नारकावासा विश्वक्लेशाशुभाकराः ॥१०५॥

दुस्सहा वेदनाह्येषा दुनिवाराश्च नारकाः ।
अकाले दुस्त्यजाः प्राणाः कृत्स्नमत्रासुखावहम् ॥१०६॥

अतः प्रागर्जिता श्रेयसा वयं कवलीकृताः ।
क्व यामः क्व च तिष्ठामः कोऽपि त्राता न जातु नः ॥१०७॥

तरिष्यामः कदात्रेमम—पारं दुःखवारिधिम् ।
नो यास्यति कथं कालो बहुसागर–जीवितम् ॥१०८॥

इत्थं चिन्तयतां तेषां शोकिनां क्लेश भोगिनाम् ।
अन्तर्बाह्याङ्गदाहिन्यो जायन्ते व्याधयस्त्रयः ॥१०९॥

महत्यः शोकसन्तापदुःखक्लेशादिखानयः ।
ताः को वर्णयितुं शक्तो विद्वांस्तेषां च्युतोपमाः ॥११०॥

अर्थः—अहो ! मृत्यु से स्पर्शित दुःखों के आश्रयभूत यह भूमि जल रही है । दुखद है स्पर्श जिसका ऐसी अग्नि कणों को फैलाने वाली वायु बह रही है । दिशाओं का आभोग दीप्त हो रहा है, यह क्षेत्र अति भयास्पद है और यहाँ मेघों से नित्य ही सन्तप्त रेत की दुर्वृष्टि हो रही है ॥९७–९८॥

ये विष वन चारों ओर विष लताओं से युक्त वृक्षों द्वारा व्याप्त हैं । ये भयङ्कर असिपत्र वन असिपत्रों द्वारा व्याप्त हैं ॥९९॥

ये लोहमय स्त्रियाँ वृथा ही कामाग्नि को बढ़ा रही हैं । ये क्रूर और दुष्ट असुर कुमार देव हम लोगों को जबरदस्ती लड़ा रहे हैं ॥१००॥

ऊपर उठाये हैं थुथने (मुख का अग्रभाग) जिनने और जो जलती हुई ज्वाला से युक्त आग उगल रहे हैं ऐसे ये गधे और ऊँट हमें निगलने के लिये पीछे पीछे दौड़ रहे हैं । हाथ में है तलवार

जिनके ऐसे ये निष्कारण युद्ध करने वाले निर्दय और भयङ्कर नारकी हम लोगों को ताड़ना दे रहे हैं ।।१०१-१०२।।

पक्षियों के कठोर आक्रमण से हम लोग अत्यन्त दुखी किये जा रहे हैं, और कुत्ते हम लोगों को खा रहे हैं तथा भय उत्पन्न कर रहे हैं ।।१०३।।

आर्त्त रौद्र आदि दुर्ध्यान से युक्त यहाँ वहाँ दौड़ने वाले दुखी नारकियों के करुणा उत्पादक स्वर व्याप्त रहे हैं। अन्धकूप के समान दुर्गन्धित, सम्पूर्ण क्लेशों और अशुभ सामग्रियों की खान तथा अन्तःस्थल में अति उष्ण ये नरक के आवास जला रहे हैं ।। १०४-१०५ ।।

यह दुस्सह वेदना, ये दुर्निवार नारकी और अकाल में प्राणों का नहीं छूटना इस प्रकार यहाँ दुःख देने वाले सम्पूर्ण साधन हैं। ये पूर्व जन्म में उपार्जित पाप ही हमें खा रहे हैं। हम कहां जायें ? कहाँ बैठें ? यहां कोई भी हमारा रक्षक नहीं है। हम यहाँ यह दुःख रूपी समुद्र कैसे पार करें तथा बहुत सागर जीवित रहने का यह काल कैसे पूरा करें ।।१०६-१०८।।

इस प्रकार की चिन्ता करने वाले शोकाकुल और क्लेश भोगी उन नारकी जीवों के अन्तरङ्ग और बाह्य अङ्गों में मानसिक, वाचनिक और कायिक ये तीन पीड़ाएँ दाह उत्पन्न करती हैं। उपमा रहित, महान शोक, सन्ताप, दुःख एवं क्लेश आदि के खान स्वरूप उन नारकी जीवों का वर्णन करने के लिये कौन विद्वान समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।।१०९-११०।।

नारकी शरीरों के रस, गन्ध और स्पर्श आदि का वर्णन :—

> कटुकालाबुकाञ्जीराणां यादृशो रसः कटुः ।
> अनिष्टश्चाधिकस्तस्मात् तद्गात्रेषु रसोऽशुभः ।।१११।।
> श्वमार्जारखरोष्ट्रादि कुणपेभ्योऽतिदुःसहः ।
> नारकाङ्गेषु दुर्गन्धः सविशेषो घृणाकरः ।।११२।।
> यादृशः करपत्रेषु गोक्षुरेषु च दुःस्पृशः ।
> तादृशः कर्कशस्पर्शस्तेषां गात्रेषु विद्यते ।।११३।।

अर्थः—उन नारकी जीवों के शरीरों में कड़वी तूमड़ी और काञ्जीर (   ) से भी अधिक कटु, अशुभ और अनिष्ट कारक रस होता है ।।१११।।

कुत्ता, बिल्ली, गधा, ऊँट और सर्प आदि जानवरों के मरे हुये शरीरों में जो दुर्गन्ध आती है, उससे भी कहीं अधिक, दुःसह और घृणास्पद दुर्गन्ध उन नारकी जीवों के शरीरों में आती है ॥११२॥

करौंत और गोखुरू आदि पदार्थों में जैसा दुःस्पर्श होता है, वैसा ही स्पर्श उन नारकी जीवों के शरीरों में होता है ॥११३॥

अपृथक् विक्रिया का वर्णन :—

अपृथग्विक्रियास्त्येषां परपीड़ाविधायिनी ।
निन्द्याशुभतराङ्गेभ्यः स्वावधिर्दुरितोदयात् ॥११४॥

अर्थः—उन नारकी जीवों के पाप कर्म के उदय से अपृथक् विक्रिया होती है और पर पीड़ा का सम्पादन करने वाला, निन्द्य कुअवधिज्ञान अशुभतर अङ्गों से उत्पन्न होता है ॥११४॥

उपसंहार :—

इत्याद्यन्यजगन्निन्द्य-मनिष्टं दुःखकारणम् ।
यद्द्रव्यं तत्समस्तं स्यात्, नारकाङ्गेषु पिण्डितम् ॥११५॥
किमत्र बहुनोक्तेन, विविधा दुःखसन्ततीः ।
अधोधः सप्तपृथ्वीष्व-संख्यातगुण वर्धिता ॥११६॥
महतीश्च निरौपम्या मुक्त्वा केवलिनं जिनम् ।
नान्यो वर्णयितुं शक्तो, मन्येऽहमिति निश्चितम् ॥११७॥

अर्थः—इस प्रकार और भी जो अन्य द्रव्य जगत् निन्द्य, अनिष्ट और दुःख कारक हैं, वे सब नारकियों के शरीरों में एकत्रित होते हैं। यहां अधिक कहने से क्या ? नाना प्रकार के दुःखोंकी परम्परा नीचे नीचे सातों नरकों में असंख्यात गुण, असंख्यात गुण वृद्धि को लिये हुये हैं। निश्चय से मैं ऐसा मानता हूँ कि केवली और जिन के द्वारा कही हुई उस महान् और उपमा रहित वेदना का वर्णन करने के लिये अन्य कोई समर्थ नहीं है ॥ ११५-११७ ॥

पापाचारी जीवों को शिक्षा :—

एतन्नरकदुःखाब्धि भीरूणां सुखकांक्षिणाम् ।
पापारिं सर्वथा हत्वा कार्यो धर्मः प्रयत्नतः ॥११८॥

अर्थः—इस प्रकार उन नरकों के दुःखों से भयभीत और सुख की इच्छा करने वाले जीवों का कर्त्तव्य है कि वे पाप रूप शत्रु को सर्वथा नष्ट करके प्रयत्न पूर्वक धर्म कार्य करें ।।११८।।

धर्म की महिमा :—

यतो नरक पातालाद् धर्म उद्धर्तु मङ्गिनः ।
क्षमः स्थापयितुं मोक्षे कल्पे वानुत्तरादिषु ।।११९।।
धर्मादूर्ध्वगतीः सारा: पापान्निन्द्या अधोगतीः ।
लभन्ते प्राणिनो लोके द्वयाश्च मध्यमा गतीः ।।१२०।।
पापं शत्रुरिहामुत्र धर्मो बन्धुर्न चापरः ।
सहगामी जिनेन्द्रोक्तो मुक्तिमार्गप्रसाधकः ।।१२१।।

अर्थः—जीवों को नरक रूप गड्ढे से निकालने में और मोक्ष, कल्पवासी एवं अनुत्तर आदि उत्तम स्थानोंमें पहुँचाने के लिये एक धर्म ही समर्थ है।

इस लोक में जीव धर्म से सारभूत ऊर्ध्व गति, पाप से निन्दनीय अधोगति और पाप पुण्य दोनों से मध्यम गति (मनुष्य, तिर्यञ्च गति) प्राप्त करते हैं। इस लोक और पर लोक में जीवों को जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुये मोक्षमार्ग का साधनभूत धर्म के समान अन्य कोई बन्धु नहीं है और पाप के समान कोई शत्रु नहीं है ।।११९-१२१।।

चारित्र धारण करने की प्रेरणा :—

मत्वेति भो ! बुधजनाः सकलं निहत्य,
पापारिमाशु नरकादिकुदुःखमूलम् ।
स्वर्मुक्तिशर्मजनकं परमार्थभूतम्
धर्मं कुरुध्वमनिशं व्रतसंयमाद्यैः ।।१२२।।

अर्थः—ऐसा मानकर हे भव्यजनो ! नरकादि गतियों में होने वाले भयङ्कर दुःखों का जो मूल है ऐसे पाप रूप शत्रु को शीघ्र ही नष्ट करके व्रत, संयम आदि चारित्र के द्वारा स्वर्ग और मोक्ष सुख का जनक परमार्थभूत धर्म करो ।।१२२।।

अन्तिम मङ्गलाचरण :—

धर्मः श्वभ्रगृहार्गलोऽसुखहरो, धर्मः शिवश्रीप्रदो,
धर्मो नाकनरामरेन्द्रपददो धर्मो गुणानां निधिः ।

धर्मस्तीर्थकृतादि वैभवपिता सर्वार्थसिद्धि करो,
धर्मो मेऽस्तु शिवाय संस्तुत इहालंसेवितस्तद्गुणैः ।।१२३।।

इति श्री सिद्धान्तसार दीपक महाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्ति
विरचिते नरक दुःख वर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः ।।३।।

अर्थ :—धर्म ही नरकरूपगृह का आगल है, सुख देने वाला है, धर्म ही मोक्ष लक्ष्मी का प्रदाता है, धर्म ही इन्द्र, धरणेन्द्र एवं चक्रवर्ती आदि पदों पर प्रतिष्ठित करने वाला है, धर्म ही गुणों का खजाना है, धर्म ही तीर्थंकर आदि वैभवों को उत्पन्न करने वाला पिता है और धर्म ही सर्व प्रयोजनों को सिद्धि करने वाला है, अतः यह तद् तद् गुणों के द्वारा पूर्णरूप से सेवन किया गया तथा स्तवन किया धर्म मुझे मोक्ष के लिये हो ।

इस प्रकार भट्टारकसकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसार दीपक
नाम के महाग्रन्थ में नरकों के दुःखों का वर्णन करने
वाला तीसरा अधिकार समाप्त ।।

चतुर्थोधिकार:

मङ्गलाचरण:—

नमामि मध्यलोकस्थान् सर्वांश्च परमेष्ठिनः ।
जिनालयान् जिनार्चादीन् मोक्षाय कृत्रिमेतरान् ॥१॥

अर्थ:—मध्यलोक में स्थित सम्पूर्ण पञ्चपरमेष्ठियों को, कृत्रिम अकृत्रिम जिनमन्दिरों को और कृत्रिम अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं को मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥

विशेषार्थ:—मध्यलोक में स्थित अकृत्रिम जिन चैत्यालय ४५८ हैं । जिनका विवरण:— नन्दीश्वर द्वीप के ५२ चैत्यालय, कुण्डल गिरि के ४, रुचकगिरि के ४ इस प्रकार (५२+४+४) =६० चैत्यालय तिर्यग्लोक में हैं, और पाँच मेरु के ८०, बीस गजदन्तों के २०, अस्सी वक्षार पर्वतों के ८०, तीस कुलाचलों के ३०, चार इष्वाकार पर्वतों के ४, एक मानुषोत्तर पर्वत के ४, एक सौ सत्तर विजयार्धों के १७०, और दश जम्बू शाल्मलि वृक्षों के १० अकृत्रिम चैत्यालय हैं । इस प्रकार मनुष्य लोक में कुल (८०+२०+८०+३०+४+४+१७०+१०)=३९८ अकृत्रिम जिनमन्दिर हैं । तिर्यग्लोक के ६० और मनुष्य लोक के ३९८ इन दोनों को जोड़ देने से मध्यलोक में कुल अकृत्रिम चैत्यालय (३९८+६०)=४५८ होते हैं । इन एक एक चैत्यालय में एक सौ आठ, एक सौ आठ प्रतिमाएँ हैं अतः ४५८ को १०८ से गुणित कर देने पर (४५८×१०८)=४९४६४ मध्यलोक के अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं का प्रमाण प्राप्त हो जाता है । अर्थात् मङ्गलाचरण में ४५८ अकृत्रिम चैत्यालय और ४९४६४ अकृत्रिम प्रतिमाओं को नमस्कार किया है । टिप्पण कर्ता ने इसका गुणा निम्न प्रकार से किया है:—

गुणन प्रक्रिया—जितने अंकों में गुणा करना हो चौड़ाई (आड़े) में उतने खण्ड बनाना और जितने अंकों का गुणा करना हो लम्बाई (खड़े) में उतने खण्ड बना कर दहाई और इकाई के अंक रखने के लिये प्रत्येक खण्ड के दो दो खण्ड करना चाहिये । यहाँ तीन अंकों (४५८) में तीन ही अंकों (१०८) का गुणा करना है अतः लम्बाई और चौड़ाई में तीन तीन खण्ड करके पीछे दहाई और इकाई के लिये प्रत्येक खण्ड के दो दो भाग किये । सर्व प्रथम ४५८ को १ से गुणा करने पर दहाई में ० और इकाई स्थान में ४, ५, और आठ ही लिखे जावेंगे । ४५८ को ० से गुणा करने पर दहाई और इकाई दोनों स्थानों पर शून्य शून्य ही आवेंगे, इसी प्रकार ४५८ के आठ के अंकों को १०८ के आठ से गुणा

करने पर ६४ प्राप्त हुए जो दहाई में ६ और इकाई में ४ रखे गये आगे ४० और ३२ को भी इसी प्रकार रख कर चक्र के दाहिने भाग में नीचे से जोड़ना—जैसे प्रथम पंक्ति में मात्र ४ हैं अतः सर्व प्रथम ४ का अंक रखना, दूसरी पंक्ति में शून्य, छह और शून्य है अतः ६ का अंक रखना, तीसरी पंक्ति में २, ४, ०, ० और ८ हैं इनका योग १४ होता है अतः तृतीय स्थान में ४ लिखना और दहाई का एक अंक अगली (चौथी) पंक्ति में जोड़ना, इस प्रकार अगली (चौथी) पंक्ति में (१), ३, ०, ०, ५ और ० हुए, इनका योग ९ आया जो चतुर्थ स्थान में रखना। पञ्चम पंक्ति में ०, ४ और ० है, इनका योग ४ हुआ अतः अन्तिम स्थान में ४ रख देना। छठवीं पंक्ति में मात्र ० है, अतः कुछ नहीं रखा जायगा। इस प्रकार योग की कुल संख्याएँ ४९ हजार ४ सौ १४ प्राप्त हुईं जो ४५८ × १०८ के गुणन फल स्वरूप हैं।

मध्यलोक के वर्णन करने की प्रतिज्ञा एवं उसका प्रमाण:—

अथ वक्ष्ये समासेन मध्यलोकं जिनागमात् ।
एकरज्जुप्रमव्यासासंख्यद्वीपाब्धिपूरितम् ॥२॥
लक्षैकयोजनोत्सेधो मध्यलोकोऽभिधीयते ।
चित्राभूमितलान्मेरुशिरःपर्यन्त ऊर्जितः ॥३॥

अर्थ:—अब मैं जिनागम से अर्थात् जिनागम के अनुसार संक्षेप से मध्यलोक का वर्णन करूँगा। इस मध्यलोक का व्यास एक राजू प्रमाण है, जो असंख्यात द्वीप समुद्रों से व्याप्त है। चित्रा पृथ्वी के तलभाग से लेकर सुमेरुपर्वत के शिखर पर्यन्त अर्थात् एक लाख योजन इस लोक की ऊँचाई है ॥२–३॥

विशेषार्थ:—मध्यलोक का व्यास एक राजू और ऊँचाई एक लाख योजन अर्थात् ४००००००० चालीस करोड़ मील है।

शंका—राजू किसे कहते हैं ?

समाधान—जगच्छ्रेणी के सातवें भाग को राजू कहते हैं। जैसे जगच्छ्रेणी का प्रमाण बादाल से गुणित एकट्ठी ($६५५३६^४ \times ६५५३६^२$) है। इसमें सात का भाग $\left(\frac{६५५३६^४ \times ६५५३६^२}{७}\right)$ देने पर जो एक भाग प्राप्त हो वही राजू का प्रमाण है।

आदि के सोलह द्वीपों के नाम:—

आद्यो द्वीपोऽत्र जम्ब्वाख्यो धातकीखण्डसंज्ञकः ।
पुष्करादिवरश्चान्यस्तृतीयो वारुणीवरः ॥४॥
ततः क्षीरवरो द्वीपो नाम्ना घृतवरो परः ।
द्वीपः क्षौद्रवरो नन्दीश्वरोऽष्टमोऽरुणाभिधः ॥५॥
द्वीपोऽथारुणभासाख्यः कुण्डलादिवरस्ततः ।
द्वीपः शङ्खवराभिख्यो रुचकादिवराह्वयः ॥६॥
भुजगादिवरो द्वीपस्तथा कुशवराख्यकः ।
द्वीपः क्रौञ्चवरो नामेत्याद्यन्यैर्नामभिर्युताः ॥७॥

अर्थः—मध्यलोक में सर्व प्रथम द्वीप का नाम जम्बूद्वीप (२) धातकी खण्ड (३) पुष्करवर (४) वारुणीवर (५) क्षीरवर (६) घृतवर (७) क्षौद्रवर (८) नन्दीश्वर (९) अरुणवर (१०) अरुणाभासवर (११) कुण्डलवर (१२) शङ्खवर (१३) रुचकवर (१४) भुजगवर (१५) कुशवर और (१६) क्रौञ्चवर है ये आदि के १६ द्वीप हैं। इसके बाद असंख्यात द्वीप समुद्रों को छोड़कर अन्त के १६ द्वीपों के नाम भी हैं ॥५-७॥

विशेषार्थः—ऊपर तीन श्लोकों में मध्यलोक के अभ्यन्तर १६ द्वीपों के नाम कहे हैं, इनके आगे असंख्यात द्वीप समुद्रों को छोड़कर अन्त के सोलह द्वीपों के नाम निम्नप्रकार हैं:—(१) मनःशिला द्वीप (२) हरितालवर (३) सिन्दूरवर (४) श्यामवर (५) अञ्जनवर (६) हिंगुलवर (७) रूप्यवर (८) सुवर्णवर (९) वज्रवर (१०) वैडूर्यवर (११) नागवर (१२) भूतवर (१३) यक्षवर (१४) देववर (१५) अहीन्द्रवर और (१६) स्वयम्भूरमण द्वीप है। इस प्रकार ये आदि अन्त के ३२ द्वीप और ३२ ही समुद्र हैं, इनके बीच असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। ये सब एक राजू के मध्य में ही स्थित हैं।

नोटः—यह विशेषार्थ टिप्पण के आधार पर लिखा है।

द्वीप समुद्रों की स्थिति एवं आकृतिः—

शुभैः संख्यातिगा द्वीपसमुद्राः परिवेष्ट्य च ।
परस्परं हि तिष्ठन्ति वलयाकृतिधारिणः ॥८॥

अर्थः—शुभ नाम वाले असंख्यात द्वीप समुद्र वलयाकृति और परस्पर में एक दूसरे को परिवेष्टित करते हुये (घेरे हुये) स्थित हैं ॥८॥

समुद्रों की स्थिति एवं नामों का कथन करते हैं:—

जम्बूद्वीपे समुद्रः स्यात्, लवणाभिध आदिमः ।
द्वीपे च धातकीखण्डे, कालोदधिसमाह्वयः ।।९।।
शेषासंख्यसमुद्राणां, नामानि विविधानि च ।
स्वस्वद्वीपसमानानि, ज्ञातव्यानि शुभान्यपि ।।१०।।

अर्थः—जम्बूद्वीप में अर्थात् जम्बूद्वीप को वेष्टित किये हुये लवणसमुद्र नाम का प्रथम समुद्र है, [illegible] अनेकों शुभ नामों को धारण करने वाले असंख्यात समुद्र जानना चाहिये । ये सब भी बलयाकृति और अपने अपने द्वीपों को वेष्टित किये हुये हैं ।।९–१०।।

द्वीपसमुद्रों की संख्या का प्रमाणः—

अर्धाधिकद्वयोधाराब्धीनां रोमाणि सन्ति यैः ।
यावन्ति तत्प्रमा ज्ञेया, असंख्यद्वीप वार्द्धयः ।।११।।

अर्थः—अढ़ाई आधार–उद्धार सागर के रोमों का जितना प्रमाण होता है, उतना ही प्रमाण असंख्यात द्वीप समुद्रों का जानना चाहिये ।।११।।

विशेषार्थः—व्यवहार पल्य के रोमों का जो प्रमाण है उनमें से प्रत्येक रोम के उतने खण्ड करना चाहिये जितने कि असंख्यात वर्षों के समयों का प्रमाण है । इन समस्त रोमखण्डों को एकत्रित करने पर जो प्रमाण प्राप्त हो वही एक उद्धार पल्य के समयों का प्रमाण है, और इसी प्रमाण वाले पच्चीस कोडाकोडी उद्धार पल्यों के समयों का जितना प्रमाण है उतना ही प्रमाण सम्पूर्ण द्वीप समुद्रों का है । २५ कोडाकोटि उद्धार पल्यों का ढाई उद्धार सागर होता है ।

अब द्वीप समुद्रों का व्यास (विस्तार) कहते हैं:—

अमीषां मध्यभागेऽस्ति, जम्बूद्वीपोऽखिलादिमः ।
लक्षयोजनविस्तीर्णो, वृत्तो जम्बूद्रुमाङ्कितः ।।१२।।
ततो द्विगुणविस्तारो, लवणार्णवशाश्वतः ।
अस्माच्च द्विगुणव्यासो, धातकीखण्डइत्यपि ।।१३।।
द्विगुणद्विगुणव्यासाः, सर्वे ते द्वीपसागराः ।
स्वयम्भूरमणाब्ध्यन्ता, अकृत्रिमाः क्षयोज्झिताः ।।१४।।

अर्थः—सम्पूर्ण द्वीप समुद्रों के मध्यभाग में जम्बूद्वीप नाम का प्रथम द्वीप है, जो गोल है, एक लाख योजन व्यास वाला और जम्बू वृक्ष से अलंकृत है। जम्बूद्वीप से दूने विस्तार वाला लवण समुद्र है, जो शाश्वत है और लवण समुद्र से भी दूने विस्तार वाला धातकी खण्ड है। इसी प्रकार अन्तिम स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त सर्व द्वीप समुद्र दूने दूने विस्तार वाले, अकृत्रिम और क्षय से रहित हैं ।।१२-१४।।

अब सूची व्यास का लक्षण कहते हैं:—

द्वीपाब्धीनां हि संलग्ना गणनायोजनैश्च या ।
ऋज्वीतटद्वयान्ता सा सूची बुधैर्निगद्यते ।।१५।।

अर्थः—योजनों द्वारा द्वीप या समुद्र के मध्य के माप का अथवा द्वीप या समुद्र के एक तट से दूसरे तट पर्यन्त तक के सीधे माप का जो प्रमाण है वह विद्वानों के द्वारा सूची नाम से कहा गया है ।।१५।।

विशेषार्थः—सीधी रेखा द्वारा द्वीप समुद्र या समुद्र के एक तट से दूसरे तट पर्यन्त तक जो माप किया जाता है, उसे सूची कहते हैं।

अढ़ाई द्वीप पर्यन्त के द्वीप समुद्रों की सूची का प्रमाण कहते हैं:—

योजनानां च लक्षैकं, सूचीद्वीपादिमस्य वै ।
लवणाब्धेर्भवेत्पञ्च, लक्षयोजनसम्मिता ।।१६।।
सूची च धातकीखण्ड-स्य लक्षाणित्रयोदश ।
योजनानां तथैकोनत्रिंशत्कालोदधेस्ततः ।।१७।।
सूची स्यात्पञ्चचत्वारिं-शल्लक्षयोजनप्रमा ।
पुष्करार्धस्यसाज्ञेया-न्येषामेवं श्रुते बुधैः ।।१८।।

अर्थ—आगम में जम्बूद्वीप के सूची व्यास का प्रमाण एकलाख योजन, लवण समुद्र के सूची व्यास का प्रमाण पांच लाख योजन, धातकी खण्ड के तेरह लाख योजन, कालोदधि समुद्र के उन्तीस लाख योजन और पुष्करार्ध द्वीप के सूची व्यास का प्रमाण गणधरादि ज्ञानियों के द्वारा ४५ लाख योजन कहा गया है ।।१६-१८।।

विशेषार्थः—अभ्यन्तर सूची, मध्य सूची और बाह्य सूची के भेद से सूची व्यास तीन प्रकार का होता है, किन्तु यहाँ केवल बाह्य सूची व्यास का ही प्रमाण दर्शाया गया है।

यथा:—

लवण समुद्र का बाह्य सूची व्यास 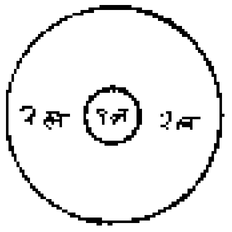 ५ लाख योजन और

पुष्करार्ध द्वीप का बाह्य सूची व्यास 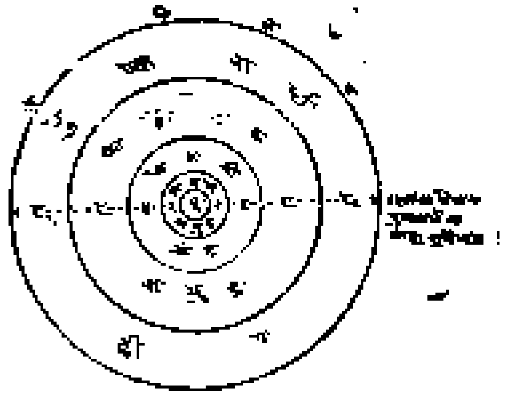 ४५ लाख योजन प्रमाण है।

अब स्थूल और सूक्ष्म परिधि का विवेचन करते हैं:—

व्यासात्त्रिगुण: स्थूल: परिधि: प्रोच्यते जिनैः ।
दशघ्नव्यासवर्गस्य मूलं सूक्ष्मश्च वर्ण्यते ।।१६।।

अर्थ:—बादर परिधि, व्यास की तिगुनी होती है, और व्यास का वर्ग कर दश से गुणित करना, तथा गुणनफल का वर्गमूल निकालना जो लब्ध प्राप्त हो वही सूक्ष्म परिधि का प्रमाण होता है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ।।१६।।

अस्य विस्तर: कथ्यते:—जम्बूद्वीपस्य स्थूलपरिधि: त्रिलक्षयोजनानि । सूक्ष्मपरिधि: त्रिलक्षषोडशसहस्रद्विशतसप्तविंशतियोजनानि, त्रिगव्यूतानि, अष्टाविंशत्यधिकशतधनूंषि त्रयोदशांगुला: साधिकार्धांगुल: । लवणाब्धेः स्थूलपरिधि: योजनानां पञ्चदशलक्षाणि । धातकीखण्डस्य चैकोनचत्वारिंशल्लक्षाणि । कालोदधेः सप्ताशीतिलक्षाणि । पुष्करार्धस्य द्वीपस्य स्थूलपरिधि: एकाकोटीपञ्चत्रिंशल्लक्षाणि ।

अब इसी का सविस्तर कथन करते हैं:—

जम्बूद्वीप की स्थूल परिधि का प्रमाण ३ लाख योजन और सूक्ष्मपरिधि का प्रमाण ३१६२२७ योजन, ३ कोस १२८ धनुष और साधिक १३½ अंगुल है। लवणसमुद्र की स्थूल परिधि का प्रमाण १५ लाख योजन है (और सूक्ष्मपरिधि का प्रमाण १५८११३८ योजन, ३ कोस, ६४०

धनुष, २ हाथ और १६$\frac{1}{2}$ अंगुल है)। धातकी खण्ड की स्थूल परिधि ३६ लाख योजन (और सूक्ष्म परिधि का प्रमाण ४११०६६० योजन, ३ कोस, १६६५ धनुष, ३ हाथ, ७$\frac{1}{2}$ अंगुल) है। कालोदधि समुद्र की स्थूल परिधि का प्रमाण ८७ लाख योजन और पुष्करार्धद्वीप की स्थूल परिधि का प्रमाण १३५००००० एक करोड़ ३५ लाख योजन है।

जम्बूद्वीप का बादर सूक्ष्म क्षेत्रफल प्राप्त करने के लिये नियम निर्धारित करते हैं:—

परिवेषहताद् व्यासाच्चतुर्भि—र्भाजितात्फलम् ।
स्थूलं सूक्ष्मं तदेवोक्तं वृत्तक्षेत्रफलं स्फुटम् ॥२०॥

अर्थः—स्थूलपरिधि को व्यास से गुणित कर चार से भाजित करने पर गोलक्षेत्र का स्थूलक्षेत्रफल प्राप्त होता है और सूक्ष्म परिधि को व्यास से गुणित कर ४ से भाजित करने पर सूक्ष्मक्षेत्रफल प्राप्त होता है ॥२०॥

विशेषार्थ:—जम्बू द्वीप थाली के सदृश गोल है, इसका व्यास एक लाख योजन और स्थूल परिधि ३ लाख योजन है, अतः इसका स्थूल क्षेत्र फल $\frac{\text{स्थूल प० × व्यास}}{४}$ और सूक्ष्म क्षेत्रफल $\frac{\text{सूक्ष्मपरिधि × व्यास}}{४}$ के नियमानुसार निकलेगा।

वलयाकार क्षेत्र का स्थूल सूक्ष्म क्षेत्रफल प्राप्त करने का नियमः—

सूच्योर्योगस्य विस्तारदलघ्नस्य कृतिर्द्विधा ।
त्रिघ्नदशघ्नयोर्मूले स्थूलान्ये वलये फले ॥२१॥

अर्थः—अन्तसूची और आदि सूची को जोड़ कर अर्ध विस्तार (अर्धरुन्द्रव्यास) से गुणित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसे दो जगह स्थापित कर एक स्थान के प्रमाण को तिगुना करने से बादरक्षेत्रफल और दूसरे स्थान के प्रमाण का वर्ग कर जो लब्ध प्राप्त हो उसको दश से गुणित कर गुणनफल का वर्गमूल निकालने पर जो लब्ध प्राप्त होता है वह वलयाकार क्षेत्र के सूक्ष्मक्षेत्रफल का प्रमाण होता है ॥२१॥

विशेषार्थः—लवणसमुद्र चूड़ी के सदृश वलयाकार है। इसका अन्त अर्थात् बाह्यसूची व्यास ५ लाख योजन और आदि अर्थात् अभ्यन्तर सूची व्यास एक लाख योजन है। इन दोनों का योग (५+१) =६ लाख योजन हुआ। लवण समुद्र का अर्धविस्तार १ लाख योजन है अतः ६ ला. × १ ला =६ लाख × लाख प्राप्त हुये। इसे ६ ला × ला, ६ ला × ला इस प्रकार दो जगह स्थापित कर एक जगह के प्रमाण को तिगुना करने से (६ ला × ला × ३) =१८ ला ला अर्थात् १८

हजार करोड़ योजन लवण समुद्र का बादर क्षेत्रफल हुआ, और दूसरी जगह स्थापित ६ ला ला का वर्ग करने पर ६ ला ला × ६ ला ला हुये। इनको दश से गुणित करने पर ६ ला ला × ६ ला ला × १० अर्थात् ३६ कोड़ाकोड़ी करोड़ योजन प्राप्त हुये। इनका वर्गमूल निकालने पर १८९७३६६५९६१० योजन अर्थात् अठारह हजार नौ सौ तिहत्तर करोड़ छ्यासठ लाख, उनसठ हजार छह सौ दश योजन लवणसमुद्रके सूक्ष्मक्षेत्रफल का प्रमाण प्राप्त होता है।

अस्यार्थः प्रोच्यते:—जम्बूद्वीपस्य स्थूलं वृत्तक्षेत्रफलं सप्तशतपञ्चाशत् कोटि योजनानि। सूक्ष्मं च सप्तशतनवतिकोटिषट्पञ्चाशल्लक्षचतुर्नवतिसहस्रैकशतपञ्चाशद्योजनानि। पादाधिकक्रोशश्च।

इसी अर्थ को कहते हैं:—जम्बूद्वीप के स्थूलक्षेत्रफल का प्रमाण $\frac{\text{३ ला० × १ ला}}{\text{४}}$ = सात सौ पचास करोड़ अर्थात् सात अरब पचास करोड़ वर्ग योजन है, और सूक्ष्म क्षेत्रफल का प्रमाण $\frac{\text{सूक्ष्मपरिधि × १ ला०}}{\text{४}}$ =७९०५६९४१५० योजन, १ कोस, १५१५ धनुष, २ हाथ और १२ अंगुल है।

जम्बूद्वीपस्थ क्षेत्र एवं कुलाचलों के नाम:—

अथ जम्बूमति द्वीपे महामेरोः सुदर्शनात्।
दक्षिणं भागमारभ्येमानि क्षेत्राणि सप्तवै ॥२२॥

आदिमं भारतं क्षेत्रं ततो हैमवताह्वयम्।
हरिसंज्ञं विदेहाख्यं जम्बूद्वीपे च रम्यकम् ॥२३॥

हैरण्यवतनामाद्यं–रावतं क्षेत्रमन्तिमम्।
सप्तैतानि सुवर्षाण्यन्तरितानि कुलाचलैः ॥२४॥

प्रथमो हिमवच्छैलस्ततोमहाहिमाचलः।
निषधः पर्वतो नीलो रुक्मी च शिखरीति षड् ॥२५॥

अर्थ:—जम्बूद्वीप के मध्य भागमें सुदर्शन नाम का महामेरु है, इस सुदर्शन मेरु के दक्षिणभाग से प्रारम्भ कर सात क्षेत्र हैं॥ सर्व प्रथम भरत क्षेत्र, (२) हैमवत, (३) हरिक्षेत्र, (४) विदेह, (५) रम्यकक्षेत्र, (६) हैरण्यवत क्षेत्र और अन्तिम (७) ऐरावत नाम का क्षेत्र है। इन सातों क्षेत्रों को अन्तरित करने वाले छह कुलाचल पर्वत हैं, जिसमें प्रथमादि कुलाचलों के नाम हिमवन्, (२) महाहिमवन्, (३) निषध, (४) नील पर्वत, (५) रुक्मी और (६) शिखरिन् हैं ॥२२–२५॥

अब कुलाचलों का वर्णन कहते हैं:—

कनकार्जुनहेमाभास्त्रयो दक्षिणभूधराः ।
वैडूर्यरजतस्वर्ण–मयाः कुलाद्रयस्त्रयः ॥२६॥

अर्थः—दक्षिण दिशा के तीन कुलाचलों का वर्ण क्रमशः कनक, अर्जुन और हेम के सदृश है तथा उत्तर दिशा के तीन कुलाचलों का वर्ण क्रमशः वैडूर्य, रजत और स्वर्णमय है ॥२६॥

विशेषार्थः—हिमवन् पर्वत का वर्ण स्वर्ण सदृश, महाहिमवन् का अर्जुन अर्थात् चाँदी सदृश, निषधपर्वत का हेम अर्थात् तपाये हुये स्वर्ण सदृश, नील पर्वत का वैडूर्य (पन्ना) अर्थात् मयूर खण्ड सदृश, रुक्मी पर्वत का रजत अर्थात् चाँदी सदृश और शिखरिन् पर्वत का स्वर्ण सदृश वर्ण है।

भरतक्षेत्र के व्यास का प्रमाण कहते हैं:—

नवत्यग्रशतैर्भागै–र्जम्बूद्वीपस्य विस्तरः ।
विभक्तो भरतस्यैको भागो व्यासोमतोजिनैः ॥२७॥

अर्थः—जम्बूद्वीप के विस्तार (१ लाख यो०) को १९० भागों से भाजित करने पर जो एक भाग प्राप्त होता है वही भरत क्षेत्र का व्यास जिनेन्द्र भगवान् द्वारा माना गया है ॥२७॥

विशेषार्थः—जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है। इसको १९० से भाजित करने पर ($\frac{१०००००}{१९०}$) = ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन प्राप्त होता है यही एक भाग भरतक्षेत्र का विस्तार माना गया है। ७ क्षेत्र और ६ पर्वतों की १९० शलाका होती है, अतः १९० से भाजित किया है। शलाका का प्रमाण १+२+४+८+१६+३२+६४+३२+१६+८+४+२+१=१९० है।

अस्यव्याख्यानमिदम्:—जम्बूद्वीपस्य नवत्यधिकशतभागकृतानामेको भागो भरतस्य विष्कम्भः। हिमवतो द्वौभागौ च। हैमवतस्य चत्वारो भागाः। महाहिमवतोऽष्टौ भागाः। हरिक्षेत्रस्य षोडशभागाः। निषधाद्रे द्वात्रिंशत्भागाः॥ विदेहस्य चतुःषष्टिभागाः। नीलस्य द्वात्रिंशत् भागाः। रम्यकस्य षोडश–भागाः। रुक्मिणोऽष्टौ भागाः। हैरण्यवतस्य चत्वारो भागाः। शिखरिणो द्वौ भागौ। ऐरावतस्यैको भागः। इत्यमी सर्वे पिण्डीकृताः कृत्स्नक्षेत्राद्रीणां नवतिशतभागाः भवन्ति।

इसीका विशेष विवेचन करते हैं:—जम्बूद्वीप के (१००००० योजन विस्तार के) १९० भाग करने पर १ भाग प्रमाण भरत का विस्तार, २ भाग हिमवन्, ४ भाग हैमवत, ८ भाग महाहिमवन्, १६ भाग हरिक्षेत्र, ३२ भाग निषधपर्वत, ६४ भाग विदेह, ३२ भाग नील पर्वत, १६ भाग रम्यक क्षेत्र, ८ भाग रुक्मी पर्वत, ४ भाग हैरण्यवत क्षेत्र, २ भाग शिखरिन् पर्वत और १ भाग प्रमाण ऐरावत क्षेत्र

का विस्तार है। इन सबको जोड़ लेने पर सम्पूर्ण क्षेत्र और सम्पूर्ण कुलाचलों की सम्पूर्ण शलाकाओं का प्रमाण (१+२+४+८+१६+३२+६४+३२+१६+८+४+२+१) =१९० होता है।

अब क्षेत्र एवं कुलाचलों का विस्तार कहते हैं:—

योजनानां च षड्विंशत्यग्रपञ्चशतान्यपि ।
एकोनविंशभागानां कृतानां योजनस्य वै ।।२८।।
षड्भागा इति विष्कम्भो भरतस्य भवेत्ततः ।
द्विगुणः पर्वतस्येति द्विगुणो द्विगुणोऽपरः ।।२९।।
व्यासो विदेहपर्यन्तं ततो नीलादिषु क्रमात् ।
पूर्वोक्त विधि हान्यैरावतान्तं विस्तरो मतः ।।३०।।
क्षेत्राच्चतुर्गुणं क्षेत्रमद्रेरद्रिश्चतुर्गुणम् ।
भरतादि विदेहान्तं नीलादौ चतुराहृतम् ।।३१।।

अर्थः—भरतक्षेत्र का विष्कम्भ ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन प्रमाण है। हिमवन् पर्वत का इससे दुगुणा है, इस प्रकार विदेह क्षेत्र पर्यन्त प्रत्येक क्षेत्र एवं पर्वत का विष्कम्भ क्रमशः दुगुणा दुगुणा होता गया है, और नील पर्वत से ऐरावत क्षेत्र पर्यन्त इसी क्रम से हानि होती गई है। भरतक्षेत्र से विदेह क्षेत्र पर्यन्त प्रत्येक क्षेत्र से क्षेत्र का विष्कम्भ चौगुना है और प्रत्येक पर्वत से पर्वत का चौगुना है। इसके आगे नीलादि पर्वतों एवं रम्यक आदि क्षेत्रों का पूर्वोक्त क्रम से ही चौगुना चौगुना हीन होता गया है ।।२८-३१।।

अस्यविशेषव्याख्यानमुच्यते:—भरतस्य विष्कम्भः योजनानां षड्विंशत्यग्रपञ्चशतानि योजनस्यैकोनविंशतिभागीकृतस्य कलाः षट् । हिमवतश्च द्विपञ्चाशदधिकदशशतानि कला द्वादश । हैमवतस्य पञ्चाधिकैकविंशतिशतानि कलाः पञ्च । महाहिमवतः दशाधिकद्विचत्वारिंशच्छतानि कला दश । हरिवर्षस्याष्टसहस्रचतुःशतैकविंशतिरेका कला । निषधस्य षोडशसहस्राष्टशतद्विचत्वारिंशद् द्वे कले । विदेहस्य व्यासः त्रयस्त्रिंशत्सहस्रषट्शतचतुरशीति योजनानि चतस्रः कलाः । नीलस्य षोडशसहस्राष्टशतद्विचत्वारिंशत् द्वे कले । रम्यकस्याष्टसहस्रचतुःशतैकविंशतिरेका कला । रुक्मिणः चतुःसहस्रद्विशतदशयोजनानि कला दश । हैरण्यवतस्य पञ्चाग्रैकविंशतिशतानि कलाः पञ्च । शिखरिणः द्विपञ्चाशदधिकदशशतानि कला द्वादश । ऐरावतस्य विस्तारः षड्विंशत्यधिकपञ्चशतयोजनानि, योजनैकोनविंशतिभागानां षट्कलाश्च । एवमेकत्रीकृते जम्बूद्वीपस्य व्यासः योजनानां लक्षैकं स्यात् ।

उपर्युक्त गद्यभाग का सम्पूर्ण अर्थ निम्नाङ्कित तालिका में निहित है।

समस्त क्षेत्र एवं कुलाचलों के विस्तार का प्रमाण :—

क्रमांक	नाम	क्षेत्रों का विस्तार		क्रमांक	नाम	कुलाचलों का विस्तार	
		योजनों में	मीलों में			योजनों में	मीलों में
१	भरत	५२६ ६/१९	२१०५२६३ ३/१९	१	हिमवन्	१०५२ १२/१९	४२१०५२६ ६/१९
२	हैमवत	२१०५ ५/१९	८४२१०५२ १२/१९	२	महाहिमवन	४२१० १०/१९	१६८४२१०५ ५/१९
३	हरि	८४२१ १/१९	३३६८४२१० १०/१९	३	निषध	१६८४२ २/१९	६७३६८४२१ १/१९
४	विदेह	३३६८४ ४/१९	१३४७३६८४२ २/१९	४	नील	१६८४२ २/१९	६७३६८४२१ १/१९
५	रम्यक	८४२१ १/१९	३३६८४२१० १०/१९	५	रुक्मी	४२१० १०/१९	१६८४२१०५ ५/१९
६	हैरण्यवत	२१०५ ५/१९	८४२१०५२ १२/१९	६	शिखरी	१०५२ १२/१९	४२१०५२६ ६/१९
७	ऐरावत	५२६ ६/१९	२१०५२६३ ३/१९				

कुलाचलों के व्यास आदि का वर्णन:—

एते कुलाद्रयो रम्याः क्षेत्रैरन्तरिता हि षट् ।
पूर्वापराब्धिसंलग्ना वनवेद्याद्यलंकृताः ॥३२॥
मूलोपरिसमव्यासाः शाश्वतास्तुङ्गमूर्तयः ।
नानामणिविचित्रोभयपार्श्वाः श्रीजिनैर्मताः ॥३३॥

अर्थ:—क्षेत्रों के द्वारा अन्तरित ये रमणीक छह कुलाचल पर्वत पूर्व पश्चिम समुद्र को स्पर्श करने वाले, वनवेदी आदि से अलंकृत, मूल से अग्रभाग पर्यन्त समव्यास वाले, शाश्वत, दीवाल के सदृश ऊँचे और नाना प्रकार की मणियों से खचित दोनों पार्श्व भागों से युक्त हैं ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥३२–३३॥

विशेषार्थ:—इन कुलाचलों के दोनों पार्श्वभाग नाना प्रकार की मणियों से खचित हैं और पूर्व पश्चिम समुद्रों को स्पर्श करने वाले हैं। इनमें जम्बूद्वीपस्थ कुलाचलों के दोनों पार्श्वभाग लवण समुद्र को स्पर्श करते हैं। धातकीखण्डस्थ कुलाचल लवणोदधि और कालोदधि को स्पर्श करते हैं, तथा पुष्करार्धद्वीपस्थ कुलाचल कालोदधि और मानुषोत्तर पर्वत को स्पर्श करते हैं।

कुलाचलों की ऊँचाई का वर्णनः—

शतैक योजनोत्तुङ्गो हिमवान् द्विशतप्रमैः ।
महादिहिमवांस्तुङ्गो योजनैश्चचतुःशतैः ॥३४॥
निषधस्तत्समो नीलो रुक्मी शतद्वयोन्नतः ।
योजनानां शतोच्छ्रायः शिखरीति जिनोदितः ॥३५॥

अर्थः—हिमवान् पर्वत की ऊँचाई १०० योजन (४००००० मील), महाहिमवान् की २०० योजन (८००००० मील), निषध पर्वत की ४०० योजन (१६०००००० मील) नील पर्वत की ४०० योजन, रुक्मी की २०० योजन और शिखरिन् पर्वत की ऊँचाई १०० योजन प्रमाण है ॥३४-३५॥

अब जीवा, धनुपृष्ठ, चूलिका और पार्श्वभुजा के लक्षण कहते हैं:—

नवत्यग्रशतांशेन वृत्तद्वीपस्य विस्तृतिः ।
बाणस्तद् द्विगुणाः शेषास्तेषां जीवा धनुः प्रथम् ॥३६॥
पूर्वापराब्धिपर्यन्तं दक्षिणोत्तरभागयोः ।
क्षेत्राद्रीणां य आयामः सा जीवा कथ्यते बुधैः ॥३७॥
यच्चापाकारवर्षाद्रीणां पृष्ठभागमञ्जसा ।
पृष्ठं शरासनस्येव तद् धनुः पृष्ठमुच्यते ॥३८॥
लघ्व्या गुर्व्याश्च जीवा या आयामस्य यदन्तरम् ।
वर्षाद्रीणां च तस्यार्धं यत् सोक्ता चूलिकागमे ॥३९॥
लघुज्येष्ठधनुः पृष्ठयोर्दीर्घस्य यदन्तरम् ।
क्षेत्राद्रीणां च तस्यार्धं यत् सा पार्श्वभुजा मता ॥४०॥

अर्थः—गोलाकार जम्बूद्वीप के विस्तार (१ ला० योजन) का एक सौ नब्बे वाँ भाग भरतक्षेत्र का बाण है। उससे आगे के पर्वतों तथा क्षेत्रों का बाण उससे दुगुणा दुगुणा होता गया है। उनके जीवा एवं धनुपृष्ठ पृथक् पृथक् हैं ॥३६॥ क्षेत्र या पर्वत के दक्षिण की ओर या उत्तर की ओर जो समुद्र पर्यन्त क्षेत्र या पर्वत की पूर्व-पश्चिम लम्बाई है, वह दक्षिण जीवा व उत्तर जीवा है, ऐसा ज्ञानियों ने कहा है ॥३७॥ क्षेत्र या पर्वत का जो चाप के आकार पृष्ठभाग है, तथा जो पृष्ठ तीर के आसन के समान है, वह धनुः पृष्ठ कहलाता है ॥३८॥ क्षेत्र व पर्वतों की लघु जीवा की लम्बाई और गुरु (बड़ी) जीवा की लम्बाई का जो अन्तर है, उसका आधा चूलिका है ॥३९॥ क्षेत्र एवं पर्वतों के

छोटे धनुपृष्ठ व बड़े धनुपृष्ठ का जो अन्तर है, उसका अर्धप्रमाण पार्श्व भुजा कहलाती है, ऐसा जानना चाहिए ॥४०॥

अमीषां विस्तरव्याख्यानमुच्यते:—विजयार्धस्याभ्यन्तरबाणः योजनानां अष्टत्रिंशदधिकशतद्वयं तिस्रः कलाः। विजयार्धस्य बाह्यबाणः अष्टाशीत्यधिकशतद्वयं कलास्तिस्रश्च। समस्तभरतस्य बाणः षड्विंशत्यधिकपञ्चशतानिषट्कलाश्च। हिमवतोबाणः योजनानां अष्टसप्तत्यधिकपञ्चदशशतानि कला अष्टादश। हैमवतक्षेत्रस्य बाणः त्रिसहस्रषट्शतचतुरशीति योजनानि कलाश्चतस्रः। महाहिमवतोबाणः सप्तसहस्राष्टशत-चतुर्नवति योजनानि कलाश्चतुर्दश। हरिवर्षस्य बाणः षोडश सहस्रत्रिशतपञ्चदश योजनानि कलाः पञ्चदश। निषधपर्वतस्य बाणः त्रयस्त्रिंशत्सहस्रैकशत-सप्तपञ्चाशद्योजनानि कलाः सप्तदश। विदेहस्य मध्यस्थबाणः योजनानां पञ्चाशत्सहस्राणि।

इति यथा दक्षिणदिग्भागे क्षेत्रकुलाद्रीणां बाणो व्याख्यातः तथोत्तरदिग्भागेऽपि ज्ञातव्यः।

बाण, जीवा, धनु: और चूलिका आदि का सविस्तार वर्णन करते हुये सर्व प्रथम बाण का प्रमाण कहते हैं:—

विजयार्ध पर्वत के अभ्यन्तर	बाण	का	प्रमाण	२३८$\frac{३}{१९}$	योजन	है।
,, ,, ,, बाह्य	,,	,,	,,	२८८$\frac{३}{१९}$	,,	है।
सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के	,,	का	,,	५२६$\frac{६}{१९}$	,,	,,।
हिमवन् पर्वत	,,	,,	,,	१५७८$\frac{१८}{१९}$	,,	,,।
हैमवत क्षेत्र	,,	,,	,,	३६८४$\frac{४}{१९}$	,,	,,।
महाहिमवन् पर्वत	,,	,,	,,	७८९४$\frac{१४}{१९}$	,,	,,।
हरिवर्ष क्षेत्र	,,	,,	,,	१६३१५$\frac{१५}{१९}$	,,	,,।
निषध पर्वत	,,	,,	,,	३३१५७$\frac{१७}{१९}$	,,	,,।
विदेहक्षेत्र के मध्य	,,	,,	,,	५००००	योजन	है।

जैसे जम्बूद्वीप के दक्षिणभागस्थ क्षेत्र और कुलाचलों के बाण का प्रमाण कहा है, उसी प्रकार उत्तर भाग में स्थित ऐरावत आदि क्षेत्र एवं नील आदि पर्वतों के बाण का प्रमाण भी जानना चाहिये।

भरतैरावतविजयार्धयोरभ्यन्तरजीवा नवसहस्र-सप्तशताष्टचत्वारिंशद्योजनानि, सविशेषा द्वादशकलाः। बाह्यजीवादशसहस्र-सप्तशत विंशति योजनानि किञ्चिदूनाद्वादशकलाः। चूलिका षडशीत्यधिक चतुःशतयोजनानि।

लघुधनुः पृष्ठं नवसहस्र-सप्तशत-षट्षष्टियोजनानि साधिक कलैका। बृहद्धनुःपृष्ठं दशसहस्र-सप्तशत-त्रिचत्वारिंशद्योजनानि। योजनैकोनविंशतिकृतभागानां साधिकाः पञ्चदशभागाः। पार्श्व-भुजाः चतुःशताष्टाशीतियोजनानि सार्धषोडशकलाश्च। हिमवतो दक्षिणदिशिलघुजीवाचतुर्दशसहस्र-चतुःशतैकसप्ततियोजनानि कलाः पञ्च। उत्तरभागे बृहज्जीवा चतुर्विंशतिसहस्र-नवशत-द्वात्रिंशद्योज-नानि। चूलिका च पञ्चसहस्र-द्विशतत्रिंशद्योजनानि कलाः सप्त। कनिष्ठधनुः पृष्ठं चतुर्दश सहस्रपञ्च-शताष्टाविंशति योजनानि, कला एकादश। ज्येष्ठधनुः पृष्ठं पञ्चविंशतिसहस्रद्विशत-त्रिंशत्योजनानि चतस्रः कलाः। पार्श्वभुजा पञ्चसहस्र-त्रिशतपञ्चाशद्योजनानि सार्धं पञ्चदशकलाः। हिमवतो दक्षिणभागे यौ जीवाधनुः पृष्ठौ व्याख्यातौ तावेवोत्तरे भरतक्षेत्रस्य विज्ञेयौ। यथा भरतहिमवतो जीवाधनुः पृष्ठ-चूलिकापार्श्वभुजा निर्दिष्टाः तथाऽन्यस्मिन् भागे ऐरावतशिखरिणोर्ज्ञातव्या।

महाहिमवतः कनिष्ठपार्श्वे पूर्वापरायामः सप्तत्रिंशत्सहस्र-षट्शत-चतुःसप्तति योजनानि कलाः षोडश। ज्येष्ठपार्श्वेचायामः त्रिपञ्चाशत्सहस्रनवशतैकत्रिंशद्योजनानि कलाः षट्। चूलिका अष्टसहस्रै-कशताष्टाविंशतियोजनानि भागाः सार्धचत्वारः। महाहिमवतो लघुधनुः पृष्ठं योजनानामष्टत्रिंशत्सहस्र-सप्तशतचत्वारिंशत् कला दश। बृहद्धनुः पृष्ठं सप्तपञ्चाशत्सहस्र-द्विशत-त्रिनवति योजनानि कला दश। पार्श्वभुजा नवसहस्र-द्विशत-षट्सप्ततियोजनानि कलाः सार्धं नव। महाहिमवतो लघुजीवाधनुः पृष्ठौ यौ प्रोक्तौ तावेव हैमवतस्य ज्येष्ठौ मन्तव्यौ यथा हैमवतक्षेत्रमहाहिमवतोः जीवाचूलिकाधनुः पृष्ठपार्श्वभुजा उक्ताः तथा हैरण्यवतरुक्मिणोरपि विज्ञेयाः।

निषधपर्वतस्य जघन्यायामो योजनानां त्रिसप्ततसहस्र-नवशतैकोत्तराणि योजनस्यैकोनविंशति-भागानां सप्तदश भागाः। उत्कृष्टायामः चतुर्नवतिसहस्रैकशतषट्पञ्चाशद्योजनानि द्वे कले। चूलिका च दशसहस्रैकशतसप्तविंशति योजनानि भागौ द्वौ। कनिष्ठधनुःपृष्ठं योजनानि षोडशाधिकचतुरशीति-सहस्राणिकलाश्चतस्रः। ज्येष्ठधनुःपृष्ठं एकलक्ष-चतुर्विंशतिसहस्र-त्रिशत-षट्चत्वारिंशत् नवकलाः। पार्श्वभुजा विंशतिसहस्रैकशत-पञ्चषष्टिः सार्धे द्वे कले च। निषधाद्रे-र्योजघन्यायाम धनुः पृष्ठौ कथितौ तावेव हरिवर्षस्योत्कृष्टौ भवतः। हरिनिषधयोरायाम चूलिकाधनुः पृष्ठपार्श्वभुजा ये वर्णिताः ते सर्वेरम्यकनीलयोर्भवन्ति। विदेहस्य मध्यजीवा योजनानां लक्षैकं स्यात् धनुः पृष्ठं एकलक्षाष्टपञ्चा-शत्सहस्रैकशतत्रयोदशयोजनानि कलाः षोडश। ※ विदेहस्य[1] अर्धचूलिका एकोनत्रिंशच्छतानि एकत्रिंशत्यधिकानि अष्टादश कलाः। पार्श्वभुजा षोडशसहस्रअष्टशतत्र्यशीतिः कला, अष्टाविंशतिः कला इति हरिवंशोक्तिः। ※

---

१ ※ तारका मध्यगताः पङ्क्तयः अ प्रतौ न सन्ति।

सम्पूर्ण क्षेत्र एवं कुलाचलों की जीवा, चूलिका, धनुष और पार्श्वभुजा का वर्णन:—

भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र के दो विजयार्धों की अभ्यन्तर जीवा का प्रमाण ९७४८ १२/१९ योजन (१२ कला से कुछ अधिक) है। बाह्य जीवा अर्थात् विजयार्ध की बाह्य जीवा का प्रमाण १०७२० ११/१९ योजन (१२ कला में कुछ कम) है। इसी विजयार्ध को चूलिका ४८८ योजन है। इसी का लघुधनुपृष्ठ ९७६६ १/१९ योजन है। विजयार्ध का वृहद् धनु:पृष्ठ १०७४३ १५/१९ योजन और पार्श्वभुजा ४८८ १६½/१९ योजन है। हिमवन् पर्वत की दक्षिण दिशा वाली लघुजीवा अर्थात् भरत की उत्तर जीवा का प्रमाण १४४७१ ५/१९ योजन है। इसी हिमवन् के उत्तर भाग में वृहद जीवा अर्थात् हैमवत क्षेत्र की दक्षिण जीवा का प्रमाण २४९३२ योजन है। हिमवन् पर्वत की चूलिका ५२३० १५/१९ योजन प्रमाण है। इसी पर्वत का लघुधनु-पृष्ठ अर्थात् भारत का उत्तर धनुपृष्ठ १४५२८ ११/१९ योजन और ज्येष्ठ धनु:पृष्ठ अर्थात् हैमवत क्षेत्र का लघुधनु: पृष्ठ २५२३० ४/१९ योजन है। हिमवन् पर्वत की पार्श्व भुजा ५३५० १५½/१९ योजन प्रमाण है।

हिमवन् पर्वत के दक्षिण भागमें जो जीवा और धनुपृष्ठ का प्रमाण कहा है वही प्रमाण भरत क्षेत्र के उत्तर का जानना चाहिये।

जिस प्रकार भरत क्षेत्र और हिमवान् पर्वत की जीवा, धनुपृष्ठ, चूलिका और पार्श्व भुजा के प्रमाण का व्याख्यान किया है, उसी प्रकार जम्बूद्वीप के उत्तर भाग में ऐरावत क्षेत्र और शिखरिन् पर्वत का जानना चाहिये।

महाहिमवन् पर्वत से कनिष्ठ (छोटे) पार्श्व भाग का पूर्व पश्चिम आयाम अर्थात् हैमवत क्षेत्र की उत्तरी जीवा का प्रमाण ३७६७४ १६/१९ योजन है, और ज्येष्ठ (बड़े) पार्श्व भाग का आयाम अर्थात् महाहिमवन् पर्वत की ज्येष्ठ जीवा अर्थात् हरिक्षेत्र की दक्षिण जीवा का प्रमाण ५३९३१ ६/१९ योजन है। इसकी चूलिका का प्रमाण ८१२८ ४½/१९ योजन है। महाहिमवन् के लघुधनु:पृष्ठ अर्थात् हैमवतक्षेत्र के ज्येष्ठ धनुष का प्रमाण ३८७४० १०/१९ योजन, इसके वृहद् धनुपृष्ठ अर्थात् महाहिमवन् पर्वत के वृहद् धनुष का अर्थात् हरिक्षेत्र के लघु धनुपृष्ठ का प्रमाण ५७२९३ १०/१९ योजन और इसी पर्वत की पार्श्व भुजा का प्रमाण ९२७६ ९/१९ योजन है।

महाहिमवन् पर्वत की लघु जीवा और लघुधनु: पृष्ठ का जो प्रमाण कहा गया है वही प्रमाण हैमवत क्षेत्र की उत्तरी जीवा एवं धनुष का जानना चाहिये। [हैमवत क्षेत्र की चूलिका ६३७१ १५/१९ योजन तथा पार्श्व भुजा का प्रमाण ६७५५ ३/१९ योजन है]

जिस प्रकार हैमवत क्षेत्र और महाहिमवन् पर्वत की जीवा, चूलिका धनुष और पार्श्वभुजा के प्रमाण का कथन किया है हैरण्यवत क्षेत्र और रुक्मी पर्वत के जीवा धनुष आदि का प्रमाण भी उसी प्रकार जानना चाहिये।

निषधपर्वत का जघन्य आयाम अर्थात् हरिक्षेत्र की उत्तरी जीवा का प्रमाण ७३९०१ $\frac{१७}{१९}$ योजन है। इसी पर्वत का उत्कृष्ट आयाम अर्थात् जीवा का अथवा विदेह क्षेत्र की दक्षिण जीवा का प्रमाण ९४१५६ $\frac{२}{१९}$ योजन और चूलिका का प्रमाण १०१२७ $\frac{२}{१९}$ योजन है। निषध के कनिष्ठ धनुः पृष्ठ अर्थात् हरिक्षेत्र के ज्येष्ठ धनुष का प्रमाण ८४०१६ $\frac{४}{१९}$ योजन और ज्येष्ठ धनुः पृष्ठ अर्थात् निषधके धनुष का प्रमाण १२४३४६ $\frac{९}{१९}$ योजन है. तथा निषध की पार्श्वभुजा का प्रमाण २०१६५ $\frac{२\frac{१}{२}}{१९}$ योजन है।

निषध पर्वत का जो जघन्य आयाम एवं लघुधनुः पृष्ठ के प्रमाण का कथन किया है वही हरि क्षेत्र की उत्तरी जीवा एवं ज्येष्ठ धनुष का प्रमाण होता है।

हरिक्षेत्र और निषध पर्वत के आयाम, चूलिका, धनुष और पार्श्व भाग आदि के प्रमाण का जो निदर्शन किया है वही प्रमाण रम्यकक्षेत्र और नील पर्वत की जीवा आदि का जानना चाहिये।

विदेह की मध्य जीवा का प्रमाण एक लाख योजन, धनुः पृष्ठ का प्रमाण १५८११३ $\frac{१६}{१९}$ योजन है। विदेह की अर्धचूलिका का प्रमाण २९२१ $\frac{१८}{१९}$ योजन और पार्श्वभुजा का प्रमाण १६८८३ $\frac{१३\frac{१}{२}}{१९}$ योजन है। (यह सब वर्णन हरिवंश पुराण के अनुसार किया है)

दक्षिण भरत से उत्तर ऐरावत क्षेत्र पर्यन्त सम्पूर्ण क्षेत्र एवं कुलाचलों का व्यास, बाण, जीवा, चूलिका, धनुष और पार्श्वभुजा का एकत्रित प्रमाण (योजनों में) निम्नप्रकार है:—

[तालिका अगले पृष्ठ पर देखिये]

क्रमांक	नाम	व्यास	बाण	जीवा	चूलिका	धनुष	पार्श्वभुजा
१	दक्षिण भरत	२३८ $\frac{३}{१९}$	२३८ $\frac{३}{१९}$	९७४८ $\frac{१२}{१९}$	×	९७६६ $\frac{१}{१९}$	×
२	विजयार्ध	५० योजन	२८८ $\frac{३}{१९}$	१०७२० $\frac{११}{१९}$	४८५ $\frac{१५}{३८}$	१०७४३ $\frac{१५}{१९}$	४८८ $\frac{१६}{३८}$
३	उत्तर भरत	२३८ $\frac{३}{१९}$	५२६ $\frac{६}{१९}$	१४४७१ $\frac{५}{१९}$	१८७५ $\frac{१६}{३८}$	१४५२८ $\frac{११}{१९}$	१८९२ $\frac{१५}{३८}$
४	हिमवान् पर्वत	१०५२ $\frac{१२}{१९}$	१५७८ $\frac{१८}{१९}$	२४९३२ $\frac{१}{१९}$	५२३० $\frac{१५}{३८}$	२५२३० $\frac{४}{१९}$	५३५० $\frac{३१}{३८}$
५	हैमवत	२१०५ $\frac{५}{१९}$	३६८४ $\frac{४}{१९}$	३७६७४ $\frac{१६}{१९}$	६३७१ $\frac{५}{३८}$	३८७४० $\frac{१०}{१९}$	६७५५ $\frac{३}{१९}$
६	महा हि०	४२१० $\frac{१०}{१९}$	७८९४ $\frac{१४}{१९}$	५३९३१ $\frac{६}{१९}$	८१२८ $\frac{४}{३८}$	५७२९३ $\frac{१०}{१९}$	९२७६ $\frac{१}{२}$
७	हरिक्षेत्र	८४२१ $\frac{१}{१९}$	१६३१५ $\frac{१५}{१९}$	७३९०१ $\frac{१७}{१९}$	९९८५ $\frac{३}{३८}$	८४०१६ $\frac{४}{१९}$	१३३६१ $\frac{१३}{३८}$
८	निषध	१६८४२ $\frac{२}{१९}$	३३१५७ $\frac{१७}{१९}$	९४१५६ $\frac{२}{१९}$	१०१२७ $\frac{२}{१९}$	१२४३४६ $\frac{९}{१९}$	२०१६५ $\frac{५}{३८}$
९	दक्षिण विदेह	१६८४२ $\frac{२}{१९}$	५००००	१०००००	२९२१ $\frac{६}{१९}$	१५८११४	१६८८३ $\frac{१३}{३८}$
१०	उत्तर वि०	१६८४२ $\frac{२}{१९}$	५००००	१०००००	२९२१ $\frac{६}{१९}$	१५८११४	१६८८३ $\frac{१३}{३८}$
११	नील	१६८४२ $\frac{२}{१९}$	३३१५७ $\frac{१७}{१९}$	९४१५६ $\frac{२}{१९}$	१०१२७ $\frac{२}{१९}$	१२४३४६ $\frac{९}{१९}$	२०१६५ $\frac{५}{३८}$
१२	रम्यक	८४२१ $\frac{१}{१९}$	१६३१५ $\frac{१५}{१९}$	७३९०१ $\frac{१७}{१९}$	९९८५ $\frac{३}{३८}$	८४०१६ $\frac{४}{१९}$	१३३६१ $\frac{१३}{३८}$
१३	रुक्मी	४२१० $\frac{१०}{१९}$	७८९४ $\frac{१४}{१९}$	५३९३१ $\frac{६}{१९}$	८१२८ $\frac{४}{३८}$	५७२९३ $\frac{१०}{१९}$	९२७६ $\frac{१}{२}$
१४	हैरण्यवत	२१०५ $\frac{५}{१९}$	३६८४ $\frac{४}{१९}$	३७६७४ $\frac{१६}{१९}$	६३७१ $\frac{५}{३८}$	३८७४० $\frac{१०}{१९}$	६७५५ $\frac{३}{१९}$
१५	शिखरिन्	१०५२ $\frac{१२}{१९}$	१५७८ $\frac{१८}{१९}$	२४९३२ $\frac{१}{१९}$	५२३० $\frac{१५}{३८}$	२५२३० $\frac{४}{१९}$	५३५० $\frac{३१}{३८}$
१६	द० ऐरावत	२३८ $\frac{३}{१९}$	५२६ $\frac{६}{१९}$	१४४७१ $\frac{५}{१९}$	१८७५ $\frac{१६}{३८}$	१४५२८ $\frac{११}{१९}$	१८९२ $\frac{१५}{३८}$
१७	विजयार्ध	५० यो०	२८८ $\frac{३}{१९}$	१०७२० $\frac{११}{१९}$	४८५ $\frac{१५}{३८}$	१०७४३ $\frac{१५}{१९}$	४८८ $\frac{१६}{३८}$
१८	उ० ऐरावत	२३८ $\frac{३}{१९}$	२३८ $\frac{३}{१९}$	९७४८ $\frac{१२}{१९}$	×	९७६६ $\frac{१}{१९}$	×

कुलाचलों के गाध (नींव) का एवं उनके ऊपर स्थितकूटों का प्रमाणः—

एकादशमहाकूटैः शिखरेऽलंकृतो महान् ।
हिमवान् राजतेऽगाधः पञ्चविंशतियोजनैः ॥४१॥
अष्टकूटैर्युतो मूर्ध्नि पञ्चाशद्योजनैर्वरः ।
भूमध्ये भाति तेजोभिर्महादि हिमवान् गिरिः ॥४२॥
नवकूटाङ्कितो मूर्ध्नि शतयोजनकन्दयुक् ।
निषधश्च तथा नीलः कन्दकूटैर्हि तत्समः ॥४३॥
पञ्चाशद्योजनागाधो रुक्मी कूटाष्टभूषितः ।
शिखरीकन्दकूटाभ्यां भवेद् हिमवता समः ॥४४॥

अर्थः—हिमवान् पर्वत की गाध (नींव) २५ योजन प्रमाण है, और इसका शिखर ग्यारह महाकूटों द्वारा अलंकृत है। महाहिमवान् पर्वत की नींव ५० योजन प्रमाण है और इसका ऊर्ध्व भाग (शिखर) देदीप्यमान आठ कूटों से शोभायमान है। निषध और नील पर्वतों की नींव समान अर्थात् सौ सौ (१००) योजन प्रमाण है, और इनके अग्रभाग भी ९-९ महाकूटों से अलंकृत हैं। रुक्मी कुलाचल की नींव ५० योजन है, और उसका शिखर आठ कूटों से सुशोभित है। इसी प्रकार शिखरिन् कुलाचल की नींव २५ योजन प्रमाण है, और उसका ऊर्ध्व भाग ११ महाकूटों से अलंकृत है ॥४१-४४॥

छह कुलाचलस्थ ५६ महाकूटों के नाम और स्वामीः—

सिद्धायतननामाढ्यं हिमवत्कूटमूर्जितम् ।
अपरं भरताभिख्यमिलाकूटं चतुर्थकम् ॥४५॥
गङ्गाकूटं श्रियःकूटं रोहितासिन्धुसंज्ञके ।
सुराहैमवते कूटे कूटं वैश्रवणान्तिमम् ॥४६॥
इत्येकादशकूटानि मूर्ध्नि स्युः हिमवद्गिरेः ।
सिद्धायतन कूटाख्यं महाहिमवताह्वयम् ॥४७॥
कूटं हैमवतं रोहित्कूटं ह्रीकूटनामकं ।
कूटं च हरिकान्ताख्यं हरिवर्षाभिधं ततः ॥४८॥
वैडूर्यमष्टकूटानीति स्युर्महाहिमाचले ।
सिद्धाख्यं निषधाभिख्यं हरिकूटं विदेहकम् ॥४९॥

ह्रीकूटं धृतिकूटाख्यं सीतोदाकूटसंज्ञकं ।
विदेहं भुजगाख्यं स्युः कूटानि निषधे नव ।।५०।।

सिद्धं नीलाह्वयं कूटं विदेह कूटनामकं ।
सीताख्यं कीर्तिकूटं च नरकान्तासमाह्वयम् ।।५१।।

ततोऽपरविदेहाख्यं कूटरम्यक संज्ञकं ।
आदर्शकमिमानि स्यु नीले कूटानि वै नव ।।५२।।

सिद्धाख्यं रुक्मि कूटं च कूटं रम्यकनामकं ।
नारीकूटं हि बुध्याख्यं रूप्यकूलाभिधं ततः ।।५३।।

हैरण्यवतकूटाख्यं माणिभद्रसमाह्वयं ।
स्युरेतान्यष्टकूटानि रुक्मिणः शिखरे परे ।।५४।।

सिद्धं शिखरि कूटाख्यं हैरण्यवतसंज्ञकं ।
सुरदेवाख्यकं कूटं ततो रक्ताभिधानकम् ।।५५।।

लक्ष्मीकूटं सुवर्णाख्यं रक्तवत्याख्यकं ततः ।
कूटं गन्धवती संज्ञं कूटमैरावताभिधम् ।।५६।।

मणिकाञ्चनकूटं स्युरिमान्येकादश स्फुटं ।
कूटानिशिखरे रम्याण्यद्रेः शिखरिणः क्रमात् ।।५७।।

सिद्धायतनकूटेषु सर्वेषु श्री जिनालयाः[1] ।
खगेशदेववन्द्यार्या राजन्ते रत्नरश्मिभिः ।।५८।।

अर्थः—१ सिद्धायतन, २ हिमवत् कूट, ३ भरत, ४ इला, ५ गङ्गाकूट, ६ श्रीकूट, ७ रोहितास्या, ८ सिन्धु, ९ सुराकूट, १० हैमवत, और ११ वैश्रवण ये ११ कूट हिमवान् कुलाचल के शिखर पर क्रम से स्थित हैं।

१ सिद्धायतन कूट, २ महाहिमवन्, ३ हैमवत, ४ रोहिता, ५ ह्री कूट, ६ हरिकान्ता, ७ हरिवर्ष और ८ वैडूर्य नाम के ये ८ कूट महाहिमवन् पर्वत के शिखर पर हैं। १ सिद्ध कूट, २ निषध,

१. अत्र विशेषाः ये शाश्वता जिनालया वर्तन्ते । अथवा विमानेषु ये देवप्रासादा वर्तन्ते ते सर्वेपि यद्यपि अकृत्रिमा वर्तन्ते तथापि तेषां मानं मानवयोजन क्रोशादि कृतं ज्ञातव्यं । अन्यानि शाश्वतानि प्रमाणयोजनादिभि-र्ज्ञातव्यानि इति ।

३ हरि (वर्ष) कूट, ४ (पूर्व) विदेह कूट, ५ ह्री (हरि) कूट, ६ धृति कूट, ७ सीतोदा, ८ (अपर) विदेह कूट, और ९ भुजग नामक कूट हैं। ये ९ ही कूट क्रमशः निषध कुलाचल के ऊपर हैं ॥४५–५०॥

१ सिद्धकूट, २ नील कूट, ३ (पूर्व) विदेह, ४ सीता कूट, ५ कीर्ति कूट, ६ नरकान्ता, ७ (अपर) विदेह, ८ रम्यक और ९ आदर्शक नाम के ये ९ कूट नील कुलाचल के अग्रभाग पर स्थित हैं ॥५१–५२॥

१ सिद्ध कूट, २ रुक्मी, ३ रम्यक, ४ नारी कूट, ५ बुद्धि कूट, ६ रूप्यकूला, ७ हैरण्यवत और ८ मणिभद्र नाम के ये ८ कूट रुक्मी कुलाचल पर स्थित हैं ॥ ५३–५४ ॥

१ सिद्ध कूट, २ शिखरी, ३ हैरण्यवत, ४ सुरदेव, ५ रक्ता, ६ लक्ष्मी कूट, ७ सुवर्ण, ८ रक्तवती, ९ गन्धवती, १० ऐरावत, और ११ मणिकाञ्चन नाम के ११ रमणीक कूट क्रमशः शिखरिन् पर्वत के ऊपर स्थित हैं ॥५५–५७॥

सम्पूर्ण सिद्धायतन कूटों के ऊपर खगेन्द्र और देवसमूह से अर्चनीय श्री जिनमन्दिर विद्यमान हैं, जो रत्न किरणों से सुशोभित होते हैं ॥ ५८ ॥

नोटः— इन उपर्युक्त ५६ कूटों का पारस्परिक अन्तर, प्रत्येक कूट के उत्सेध एवं विस्तार आदि का वर्णन आगे ७३ आदि श्लोकों में किया जायगा।

अब कूटों के ऊपर स्थित जिनालय आदि का विस्तारादि कहते हैं:—

योजनानां च सार्धद्विक्रोशपञ्चदशप्रमैः ।
समानायामविस्तारा रत्नस्वर्णमया गृहाः ॥५९॥
तुङ्गाः क्रोशाधिकैक त्रिंशद्योजनैर्मनोहराः ।
कूटानां शिखरेषु स्युः क्रोशागाधाः स्फुरद्रुचः ॥६०॥

अर्थः—कुलाचलस्थ कूटों के शिखरों पर पन्द्रह योजन अढ़ाई कोस लम्बे, १५ योजन २½ कोस चौड़े इकतीस (३१) योजन एक कोस ऊँचे और एक कोस गाध (नींव) से युक्त, फैल रहीं हैं किरणें जिनमें से ऐसे रत्न और स्वर्ण मय मनोहर गृह (भवन) बने हैं ॥५९–६०॥

विशेषार्थः—टिप्पणकार ने यहाँ एक विशेष बात दर्शाई है कि कूटोंके ऊपर स्थित ये जिनालय एवं देवप्रासाद यद्यपि अकृत्रिम हैं तथापि इनका माप मानव योजन (लघु योजन, और क्रोश आदि से ही किया गया है, ऐसा जानना चाहिये । अन्य और जो शाश्वत वस्तुएँ हैं उनका माप अलौकिक प्रमाण से है।

अब भवनस्थ तोरणद्वारों का विस्तार आदि कहते हैं:—

योजनाष्टसमुत्तुङ्गाश्चतुर्योजन विस्तृताः ।
गृहेषु तोरणद्वारा राजन्ते मणितेजसा ॥६१॥

अर्थः—उन भवनों में मणियों की दीप्ति से शोभायमान आठ योजन ऊँचे और चार योजन विस्तार वाले तोरणद्वार हैं ॥६१॥

कूटस्थ भवनों में निवास करने वालों का दिग्दर्शन कराते हैं :—

शैलेषु यानि कूटानि नदीनामयुतान्यपि
देव्यो गङ्गादयस्तेषां वसन्ति मणिसद्मसु ॥६२॥
शेषकूटेषु रम्येषु यानि नामानि धामसु ।
तैर्नामभिर्युताः पुण्याद् वसन्ति व्यन्तरामराः ॥६३॥

अर्थः—६ कुलाचलों पर जैसे ये ५६ कूट हैं वैसे नदियों (की वेदियों) पर भी कूट हैं। इन कूटों में से [स्त्री लिंग (इला, गंगा, रोहितास्या सुरा आदि) नामधारी] कुछ कूटों पर स्थित मणिमय गृहों में व्यन्तर देवाङ्गनाएँ निवास करती हैं। अवशेष कूटस्थ रमणीक भवनों में पूर्व पुण्य वशात् अपने अपने कूटनामधारी व्यन्तरदेव निवास करते हैं ॥६२-६३॥

कुलाचलों के पार्श्वभागों में वनखण्डों की स्थिति एवं प्रमाण :—

अद्र्यायामसमायामे क्रोशद्वयसुविस्तृते ।
भवतो द्वे वने रम्ये शैलानामुभयोर्दिशोः ॥६४॥

अर्थः—कुलाचलों के दोनों पार्श्वभागों में पर्वतों की लम्बाई बराबर लम्बे और दो कोस चौड़े अत्यन्त रमणीक दो दो वन हैं ॥६४॥

वन वेदियों की स्थिति एवं उनके प्रमाण आदि का कथन करते हैं :—

वनपर्यन्त भागेषु सर्वतो वनवेदिका ।
हेमरत्नमया रम्याकृत्रिमास्ति मनोहरा ॥६५॥
क्रोशद्वयसमुत्सेधा क्रोशस्य पादविस्तृता ।
चतुर्दिक्षु महादीप्ता द्वारतोरणभूषिता ॥६६॥

अर्थः—वनको सब ओर से वेष्टित किये हुये, स्वर्ण एवं रत्नमय, अत्यन्त रमणीक, मनको हरण करने वाली और अकृत्रिम वेदियाँ हैं। जो दो कोस ऊँची, पाव कोस चौड़ी और चारों दिशाओं में महादेदीप्यमान तोरण द्वारों से विभूषित हैं ॥६५-६६॥

पद्मवेदिका एवं देवों के प्रासादों का वर्णन करते हैं :—

पर्वतोपरि सर्वत्र विज्ञेया पद्मवेदिका ।
नानारत्नमया दिव्या चतुर्गोपुर शोभिता ॥६७॥
सप्ताष्टदशभूम्याद्यनेक भूमण्डितोन्नतैः ।
नानारत्नमयैर्दिव्यैः सहस्रस्तम्भ शोभितैः ॥६८॥
चतुरस्राद्यनेकाकार संस्थानैर्मनोहरैः ।
प्रासादै र्भूषितान्युच्चैर्जिनसिद्धालयोर्जितैः ॥६९॥
वनोपवनवापीभिः प्राकारगोपुरादिभिः ।
अलङ्कृतानि देवानां पुराणि सन्त्यनेकशः ॥७०॥
गिरिकूटेषु सर्वेषु तथाद्रि शिखरेषु च ।
शैलपार्श्व वनेषूच्चै र्भासमानानि सर्वदा ॥७१॥

अर्थः—पर्वतों के ऊपर अनेक प्रकार के रत्नमय, दिव्य और चार गोपुर द्वारों से युक्त, पद्म वेदिकाएँ स्थित हैं ॥६७॥

श्लोक ७० में कहे गये वे नगर नाना प्रकार के रत्नमय, दिव्य, हजार खम्भों से सुशोभित, कोई सात, कोई आठ, कोई दश और कोई अनेक भूमियों अर्थात् तल या खण्डों से भूषित, उन्नत, मनोहर, जिन भवनों एवं सिद्धभवनों के समूह से युक्त, चतुष्कोण और कोई अनेक आकारों से परिणत ऐसे अनुपम प्रासादों अर्थात् भवनवासी देवों के भवनों से अत्यन्त शोभायमान हैं ॥६८-६९॥

सम्पूर्ण पर्वतों के कूटों पर, पर्वत शिखरों पर तथा पर्वतों के पार्श्वभागों में स्थित वनों में भी देवों के वनों, उपवनों, वापियों, प्राकारों (कोट) एवं गोपुर द्वारों से अलंकृत अत्यन्त प्रकाशमान अनेक नगर हैं ॥ ७०-७१ ॥

अब कूटों का पारस्परिक अन्तर कहते हैं :—

कूटव्यासोनितं दैर्घ्यं निजाद्रेः कूटसंख्यया ।
विभक्तमन्तरं ज्ञेयं कूटानां श्रीजिनागमे ॥७२॥

अर्थ :—अपनी अपनी लम्बाई में से कूटों के व्यासों को घटाकर शेष को कूट संख्या से विभाजित करने पर कूटों का अन्तर प्राप्त होता है, ऐसा जिनागम में कहा गया है ॥७२॥

अब कूटों के विस्तार आदि का वर्णन करते हैं :—

पर्वतस्य चतुर्थांशः कूटानामुदयो भवेत् ।
तत्समो विस्तरो मूले मूलार्धं शिखरे तथा ।।७३।।

मूलमस्तकयोर्व्यासयोरैक्यार्धो कूटस्य च ।
अर्धं मध्येऽस्ति विष्कम्भोऽथास्यैव विस्तरं शृणु ।।७४।।

अर्थः—सर्व कूटों की ऊँचाई अपने अपने पर्वतों की ऊँचाई का चतुर्थ भाग है। मूल में अर्थात् भू व्यास का प्रमाण भी ऊँचाई के प्रमाण सदृश ही है। शिखर पर अर्थात् मुखव्यास, भूव्यास के अर्ध भाग प्रमाण है और मूल एवं मस्तक (भूव्यास + मुखव्यास) के विस्तार को जोड़ कर आधा करने पर कूट के मध्यभाग के विस्तार का प्रमाण प्राप्त होता है। इसीको विस्तार पूर्वक कहते हैं, सुनो ! ।।७३–७४।।

हिमवच्छिखरिणोः कूटानामुत्सेधः पञ्चविंशतियोजनानि। मूले विस्तारः पञ्चविंशतियोजनानि मध्ये च त्रिक्रोशाधिकाष्टादशयोजनानि शिखरे च सार्धद्वादशयोजनानि।

महाहिमवद्रुक्मिणोः कूटानामुदयो योजनानि पञ्चाशत्। मूले व्यासश्च पञ्चाशत्। मध्ये सार्धसप्तत्रिंशद्योजनानि। मस्तके पञ्चविंशतिश्च। निषधनीलयोः कूटानामुन्नतिर्योजनानां शतं स्यात्। मूले विस्तृतिश्च शतं भवेत्। मध्ये च पञ्चसप्ततिः शिखरे पञ्चाशदेव।

अर्थः—हिमवन् और शिखरिन् कुलाचलों पर स्थित कूटों की ऊँचाई २५ योजन मूल का विस्तार २५ योजन, मध्यविस्तार १८$\frac{3}{4}$ योजन और शिखर पर अर्थात् मुखव्यास १२$\frac{1}{2}$ योजन प्रमाण है। महाहिमवन् और रुक्मी पर्वतस्थ कूटों की ऊँचाई ५० योजन, मूल में विस्तार ५० योजन, मध्य-विस्तार ३७$\frac{1}{2}$ योजन और शिखर पर २५ योजन विस्तार है। इसी प्रकार निषध और नील पर्वतस्थ कूटों की ऊँचाई १०० योजन, मूल में विस्तार १०० योजन, मध्यविस्तार ७५ योजन और शिखर का विस्तार ५० योजन प्रमाण है।

विशेषार्थः—(श्लोक ७३–७४ से सम्बन्धित) कूटों की ऊँचाई अपने अपने पर्वतों का चतुर्थांश कहा है। जैसे हिमवन् पर्वत १०० योजन ऊँचा है अतः इसके ऊपर स्थित कूटों की ऊँचाई ($\frac{100}{4}$) = २५ योजन होगी। जमीन पर चौड़ाई २५ योजन, ऊपर की चौड़ाई भूव्यास का अर्धभाग ($\frac{25}{2}$) = १२$\frac{1}{2}$ योजन होगी और मध्य विस्तार, मूलमस्तक की चौड़ाई के योग का अर्धभाग अर्थात् २५ + १२$\frac{1}{2}$ = ३७$\frac{1}{2}$ ÷ २ = १८$\frac{3}{4}$ योजन होगा। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। यथा:—

क्रमांक	कुलाचल	मुख व्यास	मध्य व्यास	भू व्यास	ऊँचाई
१	हिमवन्	१२½ यो०	१७¾ यो०	२५ यो०	२५ यो०
२	महाहिमवन	२५ यो०	३७½ यो०	५० यो०	५० यो०
३	निषध	५० यो०	७५ यो०	१०० यो०	१०० यो०
४	नील	५० यो०	७५ यो०	१०० यो०	१०० यो०
५	रुक्मी	२५ यो०	३७½ यो०	५० यो०	५० यो०
६	शिखरिन्	१२½ यो०	१८¾ यो०	२५ यो०	२५ यो०

अब कुलाचलस्थ सरोवरों के नाम एवं उनका विस्तार आदि कहते हैं:—

आद्यः पद्मो महापद्मस्तिगिञ्छः केसरी ततः ।
महादिपुण्डरीकः पुण्डरीकः षडिमे ह्रदाः ॥७५॥
सहस्रयोजनायामौ तदर्धविस्तरान्वितौ ।
स्तः पद्मपुण्डरीकौ द्वौ ह्यगाधौ दशयोजनैः ॥७६॥
योजनद्विसहस्रायामौ सहस्रैक विस्तृतौ ।
योजनानां च विंशत्यागाधौ स्यातां ह्रदौ समौ ॥७७॥
महापद्म महापुण्डरीकाख्यकौ ततो परौ ।
आयामौ योजनैं र्ज्ञेयौ चतुःसहस्रसम्मितौ ॥७८॥
द्विसहस्रप्रमै र्व्यासौ चत्वारिंशत्प्रमाणकैः ।
अवगाहौ तिगिञ्छाभिधकेसरिसमाह्वयौ ॥७९॥
एते नित्या ह्रदा षट्स्युः पूर्वापरसमायताः ।
शैलानां मध्यभागेषु तोयास्वादु जलैर्भृताः ॥८०॥

अर्थः—पूर्व कहे हुये छह कुलाचलों के ऊपर, मध्य भाग में क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के छह सरोवर हैं। इनमें से पद्म और पुण्डरीक ये दो

सरोवर १००० योजन लम्बे, ५०० योजन चौड़े और १० योजन गहरे हैं। महापद्म और महापुण्डरीक नाम के सरोवर २००० योजन लम्बे, १००० योजन चौड़े और २० योजन गहरे हैं तथा तिगिञ्छ और केसरी नाम के दो सरोवर ४००० योजन लम्बे, २००० योजन चौड़े और ४० योजन प्रमाण गहरे हैं। इस प्रकार ये छह सरोवर पूर्व–पश्चिम लम्बे, जल के स्वाद के सदृश जल से भरे हुये और शाश्वत हैं ॥७५–८०॥

विशेषार्थः—कुलाचलों का उदय एवं सरोवरों के व्यास आदि का प्रमाणः—

क्रमांक	कुलाचल	ऊंचाई		सरोवर	लम्बाई		चौड़ाई		गहराई	
		योजन	मीलों में		यो०में	मीलों में	योजनोंमें	मीलों में	योजनोंमें	मीलों में
१	हिम०	१००	४०००००	पद्म	१०००	४००००००	५००	२००००००	१०	४००००
२	महा०	२००	८०००००	महापद्म	२०००	८००००००	१०००	४००००००	२०	८००००
३	निषध	४००	१६०००००	तिगिञ्छ	४०००	१६००००००	२०००	८००००००	४०	१६००००
४	नील	४००	१६०००००	केशरी	४०००	१६००००००	२०००	८००००००	४०	१६००००
५	रुक्मी	२००	८०००००	महा-पुण्डरीक	२०००	८००००००	१०००	४००००००	२०	८००००
६	शिखरिन्	१००	४०००००	पुण्डरीक	१०००	४००००००	५००	२००००००	१०	४००००

सरोवरों में स्थित कमलों के विस्तार आदि का प्रमाण कहते हैं:—

पद्मह्रदान्तरे नित्योऽम्बुजो योजनविस्तृतः ।
क्रोशैककर्णिकायुक्तः प्रफुल्लं स्यात् सुगन्धवान् ॥८१॥

सार्धक्रोशायतान्याद्ये पद्मे पत्राणि सर्वतः ।
एकादशसहस्राणि शाश्वतानि भवन्ति च ॥८२॥

सर्वत्र क्रोशबाहुल्यं जलात् क्रोशद्वयोच्छ्रितम् ।
अम्बुजेऽम्बुजं नालं स्यात् वैडूर्यरत्नतन्मयम् ॥८३॥

ततः पद्मादिविस्तारो द्विगुणद्विगुणो मतः ।
वृद्धो ह्रदत्रये ह्रासः क्रमाच्चान्यह्रदत्रिषु ॥८४॥

अर्थः—पद्म सरोवर के मध्य में एक योजन विस्तार (चौड़ा) वाला, एक कोस की कर्णिका से युक्त, नवविकसित सुगन्धवान् और शाश्वत कमल है। इस कमल के एक पत्ते की लम्बाई १½ कोस है ऐसे इसमें ११००० पत्ते शाश्वत होते हैं। कमल में कमल की नाल नीचे से ऊपर तक एक कोस मोटी है, और जल से दो कोस (½ योजन) ऊपर रहती है तथा वैडूर्य मणियों से निर्मित है। पद्म आदि सरोवरों का विस्तार पूर्व की अपेक्षा दूना दूना है, अतः कमल आदि का विस्तार आदि भी तीन सरोवरों तक जिस क्रम से वृद्धिङ्गत होगा आगे के तीन सरोवरों में उसी क्रम से दुगुण हानि को प्राप्त होगा ॥८१–८४॥

विशेष:—(१) पद्मद्रह की गहराई १० योजन (४० कोस) कही है, और यहाँ कमल नाल जल से २ कोस ऊपर है ऐसा कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि कमल नाल की कुल लम्बाई ४२ कोस (१०½ योजन) है।

(२) कमल एवं कमलनाल आदि यद्यपि अकृत्रिम हैं और शाश्वत हैं किन्तु इनका माप मानवयोजन (लघु योजन) से ही जानना चाहिये और अन्य शाश्वत पदार्थों का माप प्रमाण (बड़े) योजन से जानना चाहिये।

तदेवाह:—पद्मह्रदे कमलस्य व्यासः एकयोजनं, कर्णिका व्यासः एकः क्रोशः पत्रदीर्घता सार्धक्रोशः। महापद्मे कमलस्य विस्तृतिर्द्वे योजने कर्णिका विस्तारः द्वौ क्रोशौ पत्रायामस्त्रय क्रोशाः। तिगिञ्छे केसरिणि च पद्मस्य व्यासः चत्वारियोजनानि कर्णिका व्यासः योजनैकं स्यात्। पत्रायामः सार्द्धं योजनं च। महापुण्डरीकेऽम्बुजस्य विस्तारः द्वे योजने कर्णिकाविस्तारः द्वौ क्रोशौ पत्रायामस्त्रयः क्रोशाः। पुण्डरीके पद्मस्य विष्कम्भः योजनैकं स्यात्। कर्णिकाविष्कम्भः एकक्रोशः पत्रायामः सार्धक्रोशः।

विशेषार्थः—श्लोक नं. ८१ से ८४ तक का विशेषार्थ और उपर्युक्त गद्यभाग का सर्व अर्थ निम्नाङ्कित तालिका में गर्भित है।

[तालिका अगले पृष्ठ पर देखिये]

कमल, कमल नाल, कमल कर्णिका का उत्सेधादि एवं कमल पत्र की लम्बाई:—

क्रमांक	सरोवरों के कमल	कमलों का		नाल		कर्णिका का		कमल पत्र की लम्बाई
		उत्सेध	व्यास	जलमग्न	जल के ऊपर	उत्सेध	व्यास	
१	पद्म द्रह का कमल	१ योजन	१ यो०	१० यो०	½ यो०	१ कोश	१ कोश	१½ कोस
२	महा पद्म द्रह का ,,	२ ,,	२ ,,	२० ,,	१ ,,	२ ,,	२ ,,	३ ,,
३	तिगिन्छ ,, ,, ,,	४ ,,	४ ,,	४० ,,	२ ,,	४ ,,	४ ,,	६ ,,
४	केसरी ,, ,, ,,	४ ,,	४ ,,	४० ,,	२ ,,	४ ,,	४ ,,	६ ,,
५	महापुण्डरीक ,, ,, ,,	२ ,,	२ ,,	२० ,,	१ ,,	२ कोश	२ ,,	३ ,,
६	पुण्डरीक ,, ,, ,,	१ ,,	१ ,,	१० ,,	½ ,,	१ ,,	१ ,,	१½ ,,

श्री आदि देवियों के भवनों का प्रमाण कहते हैं।—

आद्याब्जकर्णिकायां स्याद् वैडूर्यरत्नभास्वरम् ।
श्रीगृहं सन्मणिद्वारतोरणादिविभूषितम् ॥८५॥

मुक्तालम्बूषभूषाढ्यं क्रोशायाममनोहरं ।
क्रोशार्धविस्तरं पादोनं क्रोशकोन्नतं शुभम् ॥८६॥

ततोऽम्बुजद्वये सन्ति द्विगुणद्विगुणाः क्रमात् ।
गेहव्यासादयोऽन्येषु त्रिषु पद्मेषु हानितः ॥८७॥

अर्थः—प्रथम सरोवर को पद्मकर्णिका पर वैडूर्य मणियों की दीप्ति से दीप्तमान्, उत्तम मणियों के तोरणद्वार आदि से विभूषित, लटकती हुई मुक्ता मालाओं (मोतियों के फानूसों) से अलंकृत और मन को हरण करने वाला एक कोश लम्बा, आधा कोस चौड़ा एवं पौन कोस ऊँचा श्री देवी का भवन है। इसके आगे दो कमलों पर क्रम से दूने दूने विस्तार वाले और उससे आगे तीन कमलों पर क्रम से दुगनी हानि को लिये हुये व्यास आदि से युक्त भवन हैं ॥८५-८७॥

अस्य व्याख्यानं:—श्रीलक्ष्मीगृहयोरायामः क्रोशैकोऽस्ति, व्यासः अर्धक्रोशाश्च, उत्सेधः पादोनक्रोशः स्यात् । ह्री बुद्धि प्रासादयोर्दैर्घ्यं द्वौ क्रोशौ, विस्तृतिरेकक्रोश, उन्नतिः सार्धक्रोशः । धृतिकीर्ति सौधयोर्दीर्घता चत्वारः क्रोशाः, विस्तारः द्वौ क्रोशौ, उच्छ्रायः त्रयः क्रोशाः ।

इसी का विशेष व्याख्यान करते हैं:—श्री और लक्ष्मी के भवनों की लम्बाई एककोस, चौड़ाई आधा कोस और ऊँचाई पौन कोस है । ह्री और बुद्धि के भवनों की लम्बाई दो कोस, चौड़ाई एक कोस और ऊँचाई डेढ़ कोस है । तथा धृति और कीर्ति के भवनों की लम्बाई चार कोस, चौड़ाई दो कोस और ऊँचाई तीन कोस प्रमाण है ।

नोटः— यहाँ एक कोस २००० धनुष प्रमाण है ।

अब श्री आदि देवियों के निवास, आयु और स्वामी का विवेचन करते हैं:—

श्रीर्ह्रीर्धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिर्लक्ष्मीरिमा हि षट् ।
वसन्ति क्रमतो देव्यः आसु षड्द्रह पंक्तिषु ॥८८॥
स्यादासां सर्वदेवीनामायुः पल्यैकसम्मितम् ।
परिवारामराः सन्ति नानापरिषदादयः ॥८९॥
श्री ह्री धृत्याख्यदेवीनां स्वामीसौधर्मनायकः ।
ऐशानइन्द्रोत्तरस्त्रीणां सर्वत्रैवं व्यवस्थितिः ॥९०॥

अर्थः—श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियाँ क्रम से पंक्तिबद्ध छह सरोवरों में रहती हैं । इन सर्व देवियों की आयु एक पल्य की होती है, तथा इनके पारिषद आदि नाना प्रकार के परिवार देव १४०११५ हैं । श्री, ह्री और धृति देवियों का नायक (स्वामी) सौधर्मेन्द्र है, और कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये तीन देवियाँ ऐशानेन्द्र के आधीन हैं । सर्वत्र अर्थात् अन्य सरोवरों में स्थित देवियों की भी ऐसी ही व्यवस्था है ॥८८-९०॥

अब श्री देवी के परिवार कमलों का अवस्थान एवं प्रमाण कहते हैं:—

स्युर्द्वात्रिंशत्सहस्राण्यन्तः परिषत्सुधाभुजाम् ।
श्री गेहादब्जगेहानि ह्याग्नेयदिशि निश्चितम् ॥९१॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि दक्षिणाख्यदिशिस्फुटम् ।
स्युर्मध्य परिषद्देवानां पद्मस्थ गृहाणि च ॥९२॥

भवेयुरष्टचत्वारिंशत्सहस्राब्जसद्गृहाः ।
नैऋत्यदिग्विभागे बाह्यपरिषत्सुधाशिनाम् ।।९३।।
आद्यायाः पतिरेव स्यात्सूर्यः परिषदोऽमरः ।
चन्द्रमा मध्यमायास्तु बाह्यायाः यदुपो महान् ।।९४।।
चतुःसहस्रपद्मा वायुकोणेशान कोणयोः ।
सामान्यकाख्य देवानां सन्तिपद्मालयाः शुभाः ।।९५।।
सप्तानीकामराणां स्युः पश्चिमायांदिशि स्थिताः ।
प्रत्येकं सप्तभेदानां सप्ताम्भोजगृहाः शुभाः ।।९६।।
कमलान्यङ्गरक्षाणां सहस्राणि तु षोडश ।
श्रियोऽम्भोजसमीपानि पूर्वादिदिक्चतुष्टये ।।९७।।
श्रीपद्मंपरितोऽष्टासु दिग्विदिक्ष्वम्बुजालयाः ।
प्रतीहारोत्तमानां स्युरष्टोत्तरशतप्रमाः ।। ९८।।

अर्थः—श्री देवी के मूल कमल की आग्नेय दिशा में आभ्यन्तर परिषद् देवों के ३२००० भवन ३२००० कमलों पर स्थित हैं इनके प्रमुख देव (स्वामी) का नाम सूर्य है इसी प्रकार चन्द्र नाम का देव है स्वामी जिनका ऐसे मध्यपरिषद् के ४०००० कमलस्थ भवन (मूल कमल की) दक्षिण दिशा में स्थित हैं, तथा यदुप नाम का देव है स्वामी जिनका ऐसे बाह्य परिषद् देवोंके ४८००० भवन ४८००० कमलों पर (श्री देवी के मूल कमल को) नैऋत्य दिशा में स्थित हैं। श्री देवी के मूल कमल को ऐशान और वायव्य दिशामें ४००० भवन ४००० कमलों पर स्थित हैं।

मूल कमल की पश्चिम दिशा में सात प्रकार के अनीक देवों के सात भवन सात कमलों पर स्थित हैं। ये प्रत्येक अनीक सात सात कक्षाओं से युक्त हैं श्री देवी के मूल कमल की चारों दिशाओं में चार चार हजार अर्थात् १६००० तनुरक्षक देवों के कमलस्थ भवन हैं। इसी प्रकार श्री देवी के मूल कमल के चारों ओर अर्थात् चार दिशाओं में (१४, १४) और चारों विदिशाओं में (१३-१३) प्रतिहार महत्तरों के कमलस्थ भवन १०८ हैं ।।९१-९८।।

विशेषार्थः श्री देवी के और उनके परिवार कमलों के अवस्थान का चित्रण निम्न-प्रकार है :—

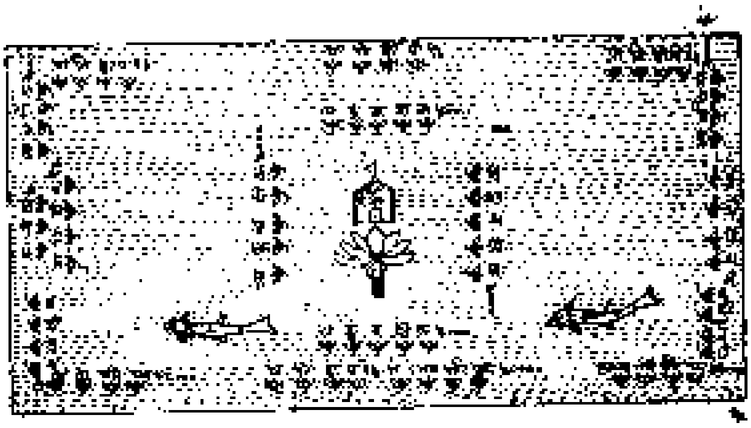

अब श्री देवी के सम्पूर्ण परिवार कमलों का प्रमाण कहते हैं :—

लक्षैकाग्रसहस्राणि चत्वारिंशत्तथाशतम् ।
एकं पञ्चदशांस्येषां सर्वाब्जगणना मताः ॥६६॥

अर्थः—श्री देवी के सम्पूर्ण परिवार कमलों का प्रमाण एक लाख चालीस हजार एक सौ पन्द्रह है ॥६६॥

विशेषार्थः—श्री देवी के सम्पूर्ण परिवार कमलों का प्रमाण निम्न प्रकार है—अङ्गरक्षक १६००० + सामानिक ४००० + अभ्यन्तर पारिषद् ३२००० + मध्यम पारिषद् ४०००० + बाह्य पारिषद् ४८००० + प्रातिहार १०८ और + ७ अनीक = १४०११५ परिवार कमल हैं।

हिमवान् से लेकर निषध पर्वत पर्यन्त कमलों का विष्कम्भ और उत्सेध आदि दूने दूने प्रमाण वाला है। परिवार कमलों का प्रमाण भी दूना दूना है। इसके आगे क्रमशः हीन हीन है।

देवकुमारियों के भवनों का व्यास आदि एवं परिवार कमलों का प्रमाण :—

[तालिका अगले पृष्ठ पर देखिये]

क्रमांक	देवकुमारियाँ	भवनों की लम्बाई	भवनों की चौड़ाई	भवनों की ऊँचाई	ईशान वायव्य कोण में सामानिक देव	चतुर्दिश तनु रक्षक	तीनों पारिषद देव: आग्नेय में अभ्यन्तर पारिषद	दक्षिण में मध्य पारिषद	नैऋत्य में बाह्य पारिषद	पश्चिम में अनीक देव	आठों दिशाओं में प्रतिहार	कुल योग
१	श्री	१ को.	½ को.	¾ को.	४०००	१६०००	३२०००	४००००	४८०००	७	१०८	१४०११५
२	ह्री	२ को.	१ को	१½ को.	८०००	३२०००	६४०००	८००००	९६०००	१४	२१६	२८०२३०
३	धृति	४ को.	२ को	३ को	१६०००	६४०००	१२८०००	१६००००	१९२०००	२८	४३२	५६०४६०
४	कीर्ति	४	२	३	१६०००	६४०००	१२८०००	१६००००	१९२०००	२८	४३२	५६०४६०
५	बुद्धि	२	१	१½	८०००	३२०००	६४०००	८००००	९६०००	१४	२१६	२८०२३०
६	लक्ष्मी	१	½	¾	४०००	१६०००	३२०००	४००००	४८०००	७	१०८	१४०११५

अब परिवार कमलों का और उनके भवनों का व्यास आदि कहते हैं :—

जलान्ते समनालानि नानामणिमयानि च ।
परिवारामराब्जानि श्र्यादिषट्देव योषिताम् ॥१००॥
कमलेभ्योऽर्धमानानि व्यासायामादिभिस्तथा ।
गृहेभ्यः परिवाराणां गृहाण्यर्धमितानि च ॥१०१॥

अर्थः—श्री आदि छह देवकुमारियों के परिवार कमल जल के मध्यमें नाना प्रकार की मणियों से रचित और समान ऊँचाई पर (अर्थात् जल के बाहर जिनकी नाल समान निकली हुई है) स्थित हैं। श्री आदि देवी के मूल कमलों से परिवार कमलों का व्यास आदि अर्ध प्रमाण है, इसीप्रकार उनके मूल भवन से परिवार देवों के भवनों का व्यास आदि भी अर्ध प्रमाण है ॥१००-१०१॥

अमीषां पद्मगेहानां प्रत्येकं व्यासादीन्युच्यन्ते :—श्रीलक्ष्मी परिवार देव कमलानां व्यासः द्वौ क्रोशौ। कर्णिका व्यासः अर्धक्रोशः स्यात्। पत्रायामः पादोनक्रोशश्च। ह्रीबुद्धिपरिवारामर पद्मानां विष्कम्भः योजनैकं भवेत्। कर्णिका विष्कम्भः एकक्रोशः पत्रदीर्घतासार्धक्रोशश्च। धृतिकीर्तिपरिवारदेवाम्भोजानां विस्तारो द्वे योजने। कर्णिकाविस्तारः द्वौ क्रोशौ। पत्रायामस्त्रयः क्रोशाः। श्री-

लक्ष्मोपरिवारसुरपद्मस्थगृहाणां आयामोऽर्धक्रोशोऽस्ति। व्यासः क्रोशचतुर्थांशः। उत्सेधः क्रोशाष्ट भागानां त्रयोभागाः। ह्री बुद्धि परिवारदेवाब्जस्थगृहाणां दीर्घता एकक्रोशः। विष्कम्भोऽर्धक्रोशश्च। उन्नतिः पादोनक्रोशः स्यात्। धृतिकीर्तिपरिवारामराम्बुजस्थसौधानामायामः द्वौ क्रोशौ, विस्तारः एकः क्रोशः, उत्सेधः सार्धक्रोशश्च ॥

विशेषार्थः—उपर्युक्त गद्यभाग में श्री आदि छह देवकुमारियों के परिवार देवों के कमल, कर्णिका और कमल पत्रों का तथा उन कमलों पर स्थित उनके भवनों के व्यास आदि का प्रमाण दर्शाया गया है, जिसके सम्पूर्ण अर्थ का समावेश निम्नांकित तालिका में है :—

परिवार कमल आदि के एवं भवनों के व्यास आदि का प्रमाण :—

क्रमांक	देव कुमारियों के नाम	कमल का व्यास	कर्णिका का व्यास	कमल पत्र का आयाम	परिवार भवनों की		
					लम्बाई	चौड़ाई	ऊँचाई
१	श्री देवी	दो कोस	$\frac{१}{२}$ कोस	$\frac{३}{४}$ कोस	$\frac{१}{२}$ कोस	$\frac{१}{४}$ कोस	$\frac{३}{८}$ कोस
२	ह्री देवी	१ योजन	१ ,,	१$\frac{१}{२}$,,	१ ,,	$\frac{१}{२}$,,	$\frac{३}{४}$,,
३	धृति देवी	२ योजन	२ ,,	३ ,,	२ ,,	१ ,,	१$\frac{१}{२}$,,
४	कीर्ति देवी	२ ,,	२ ,,	३ ,,	२ ,,	१ ,,	१$\frac{१}{२}$,,
५	बुद्धि देवी	१ ,,	१ ,,	१$\frac{१}{२}$,,	१ ,,	$\frac{१}{२}$,,	$\frac{३}{४}$,,
६	लक्ष्मी देवी	$\frac{१}{२}$,,	$\frac{१}{२}$,,	पौन ,,	$\frac{१}{२}$,,	$\frac{१}{४}$,,	$\frac{३}{८}$,,

दीर्घ एवं लघु भवनों की मुखदिशा का वर्णन :—

एते महागृहारम्या उक्तसंख्या बुधैः स्मृताः।
एतेभ्यो बहवोऽन्येऽत्र ज्ञातव्याः क्षुल्लकालयाः ॥१०२॥
सर्वे स्युरुत्तमा गेहाः पूर्वाभिमुख शाश्वताः।
तेषामभिमुखा अन्ये सन्ति जघन्य सद्गृहाः ॥१०३॥

अर्थः—इस प्रकार विद्वानों के द्वारा श्री देवी के परिवार महागृहों की संख्या १४०११५ कही गई है। इन महागृहों से भिन्न और लघुगृह भी अनेक हैं, ऐसा जानना चाहिये। ये सर्व महागृह शाश्वत

और पूर्वाभिमुख हैं अर्थात् सम्पूर्ण महागृहों का मुख पूर्व दिशा की ओर है, तथा अन्य सभी लघु गृहों के मुख महागृहों की ओर हैं। अर्थात् पश्चिम दिशा की ओर हैं ॥१०२–१०३॥

सम्पूर्ण पद्मगृहों में जिनालयों का व्याख्यान करते हैं :—

विश्वेषु पद्मगेहेषु शाश्वताः श्रीजिनालयाः ।
अब्जालय प्रमा ज्ञेया देवदेवीगणार्चिताः ॥१०४॥
दिव्याष्ट मङ्गलद्रव्यैः प्रातिहार्याष्टभूतिभिः ।
भासमानाः स्वतेजोभिर्रत्नार्हत्प्रतिमाभृताः ॥१०५॥

अर्थः—सम्पूर्ण पद्म भवनों में देव देवियों के समूह से अर्चित, दिव्य अष्टमङ्गलद्रव्यों (भृङ्गार, ताल, कलश, ध्वज, सुप्रतीक, श्वेतातपत्र, दर्पण और चामर) और अष्टप्रातिहार्यों से युक्त एवं अपने तेज से देदीप्यमान ऐसे रत्नमय अर्हन्त प्रतिमाओं से समन्वित शाश्वत श्री जिन मन्दिर हैं। इनका प्रमाण पद्मालयों के प्रमाण बराबर ही है। अर्थात् कमलों की जितनी संख्या है, उतने ही (कमलों के ऊपर) भवन हैं और प्रत्येक भवन में एक एक अकृत्रिम श्रीजिनालय है अतः कमल भवनों के प्रमाण ही जिनमन्दिरों का प्रमाण है ॥१०४–१०५॥

अब उन्हीं कमल भवनों का विशेष व्याख्यान करते हैं:—

उपपादगृहा रम्या अभिषेकगृहाः शुभाः ।
मण्डनाख्यगृहा दीप्ताः सभास्थानगृहा वराः ॥१०६॥
रम्याः क्रीडनसद्गेहा विचित्रा नाटकालयाः ।
रतिगेहाः परेदोलागृहाः सङ्गीतसद्गृहाः ॥१०७॥
विस्फुरन्तो भवन्त्यत्र विचित्रमणिदीप्तिभिः ।
मृदङ्गतूर्यनादाद्यैः धूपामोदैश्च वासिताः ॥१०८॥
न वनस्पतयोनैते निर्मिता व्यन्तरामरैः ।
पृथ्वी सारमयाः किन्तु नित्याः पद्मादयोऽखिलाः ॥१०९॥
सर्वेषां कमलानां चोपरिज्येष्ठालयोन्नताः ।
स्फुरन्मणिमया भान्ति प्राकारद्वारतोरणैः ॥११०॥

अर्थः—उन उपर्युक्त पद्मभवनों में नाना मणियों के प्रकाशमान किरणों से युक्त दोलागृह, मृदङ्ग एवं तूर्य के शब्दों से गम्भीर उत्तम सङ्गीतगृह, धूप की सुगन्ध से वासित सम्भोगगृह, रमणीक

उपपाद (जन्म) गृह, शुभ अभिषेक गृह प्रकाशमान मण्डनगृह, उत्कृष्ट सभास्थान, शोभनीक क्रीड़ागृह और नाना प्रकार के नाटकगृह आदि होते हैं ॥१०६–१०८॥

ये पद्म, पद्मभवन एवं जिनमन्दिर आदि न तो वनस्पतिकाय हैं और न किन्हीं व्यन्तर देवों के द्वारा रचित हैं, किन्तु ये सभी पृथिवी के विकार स्वरूप हैं। अर्थात् पृथ्वीकाय और अकृत्रिम हैं ॥१०९॥

इस प्रकार सम्पूर्ण कमलों के ऊपर नाना प्रकार के तोरण द्वारों आदि से युक्त, मणिमय और उन्नत उत्तम गृह हैं ॥११०॥

अब सात प्रकारकी अनीकों के नाम कहते हैं:—

गजा अश्वारथास्तुंगा वृषागन्धर्व निर्जराः ।
नर्त्तक्यो भृत्यपादातयोऽमूनिप्रस्फुरन्ति च ॥१११॥
सप्तानीकानि युक्तानि कक्षाभिः सप्तसप्तभिः ।
प्रत्येकं श्रीगृहद्वारे भूत्येवं ह्र्याादियोषिताम् ॥११२॥

अर्थः—श्रीदेवी के गृह द्वार पर गज, अश्व, ऊँचे ऊँचे रथ, बैल, गन्धर्वदेव, नृत्यकी और दास अर्थात् पदाति ये सात–सात कक्षाओं से युक्त सप्त सेनाएँ शोभायमान होती हैं, इसी प्रकार ह्री आदि प्रत्येक देवकुमारियों के भी जानना चाहिये ॥१११–११२॥

अब प्रत्येक कक्षा की संख्या का अवधारण करते हैं:—

प्रथमे या गजानीके गजसंख्या च सा ततः ।
द्वितीये द्विगुणाश्चैव सप्तसु द्विगुणोत्तराः ॥११३॥
तथान्याश्वाद्यनीकानां गणनाश्वादिसंख्यया ।
प्रत्येकं सप्तकक्षासु द्विगुणा द्विगुणा मता ॥११४॥

अर्थः – गज अनीक की प्रथम कक्षा में गजों की जो संख्या है द्वितीय कक्षा में वह संख्या दुगुणी है। इस प्रकार गज अनीक की सातों कक्षाओं में क्रम से दुगुणी दुगुणी संख्या है। इसी प्रकार अश्व आदि सातों अनीकों की प्रथम कक्षा की अश्व आदि की संख्या से द्वितीय कक्षा की अश्व आदि की संख्या उत्तरोत्तर दुगुणी मानी गई है ॥११३–११४॥

विशेषार्थः—गज, अश्व आदि सात अनीकें (सेनाएँ) हैं। प्रत्येक सेना में सात सात कक्ष हैं। प्रथम कक्ष के हाथी, घोड़े, रथ आदि की संख्या (त्रिलोकसार गा० ५७४ की टीकानुसार) सामानिक देवों की संख्या के प्रमाण (४०००) मानी गई है, आगे आगे की कक्षाओं में यह संख्या

उत्तरोत्तर दूनी दूनी होती गई है । इस प्रकार ह्री देवी की प्रथम अनीक की प्रथम कक्षा की संख्या ८००० से प्रारम्भ होकर दुगुणी होगी और धृति देवी की १६००० से प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर सातों कक्षाओं में दूनी दूनी होगी ।

श्री देवी की ७ अनीकों की सात कक्षों का सम्पूर्ण प्रमाण

कक्ष	गजानीक	अश्वानीक	रथाऽनीक	वृषभानीक	गन्धर्वानीक	नृत्यानीक	पदाति
१ला कक्ष	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००
२रा कक्ष	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
३रा कक्ष	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००
४था कक्ष	३२०००	३२०००	३२०००	३२०००	३२०००	३२०००	३२०००
५वां कक्ष	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००
६वां कक्ष	१२८०००	१२८०००	१२८०००	१२८०००	१२८०००	१२८०००	१२८०००
७वां कक्ष	२५६०००	२५६०००	२५६०००	२५६०००	२५६०००	२५६०००	२५६०००
योग	५०८०००	५०८०००	५०८०००	५०८०००	५०८०००	५०८०००	५०८०००
सम्पूर्ण योग							=३५५६०००

उत्तम चारित्र के द्वारा पुण्यार्जन करने की प्रेरणाः—

एता दिव्यविभूतयः सुखकराः, सत्सौधसैन्यादिकाः ।
प्राप्ताः श्र्यादि सुदेवताभिरखिला, मान्यप्रभुत्वादयः ।
अन्ये चावधि विक्रियर्धि सुगुणाः, प्रागर्जितश्रेयसा ।
मत्वेतीह जनाः कुरुध्वमनिशं, श्रेयोऽर्जनं सद्व्रतैः ॥११५॥

अर्थः—इस प्रकार श्री ह्री आदि देव कुमारियों को जो दिव्य विभूतियाँ, सुखों का समूह, उत्तम भवन, उत्तम सैन्य आदि का वैभव तथा प्रभुत्व आदि का ऐश्वर्य एवं और भी जो अवधिज्ञान,

विक्रिया आदि ऋद्धियाँ एवं अन्य उत्तमगुण प्राप्त हुये हैं, वे सब पूर्व उपार्जित पुण्य कर्म से ही प्राप्त हुये हैं ऐसा मान कर हे भव्यजनो ! इस लोकमें अर्थात् मनुष्यपर्याय में उत्तम चारित्र के द्वारा निरन्तर पुण्य उपार्जन करो ॥११५॥

अधिकार के अन्त में आचार्यवर्य रत्नत्रय धारण करने का प्रोत्साहन देते हैं:—

श्रेयः[1] श्रेयनिबन्धनोऽसुखहरः श्रेयं श्रयन्त्युत्तमाः
श्रेयेनात्र च लभ्यतेऽखिलसुखं श्रेयाय शुद्धा क्रियाः ।
श्रेयाच्छ्रेयकरोऽपरो न च महान् श्रेयस्य मूलं सुदृक्
श्रेये यत्नमनारतं बुधजनाः कुर्वन्तु दृग्वित्तवृत्तैः ॥११६॥

इति श्री सिद्धान्तसारदीपकमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते
कुलाचल, ह्रद श्र्यादिदेवी विभूति वर्णनो नाम
चतुर्थोऽधिकारः ॥४॥

अर्थ:—पुण्य कल्याण का निबन्धक अर्थात् कल्याण प्राप्त कराने वाला और दुःखों का हरण करने वाला है, इसलिये सज्जन पुरुष पुण्य का आश्रय लेते हैं अर्थात् पुण्य अर्जन करते हैं। पुण्य से ही सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति होती है, अतः पुण्य अर्जन के लिये शुद्ध क्रियाएँ (कुल एवं पद के योग्य क्रियाएँ) करना चाहिये। पुण्य से अधिक कल्याणकारी और कोई महान् नहीं है। पुण्य की जड़ सम्यग्दर्शन है इसलिये बुद्धिमानों को रत्नत्रय धर्म के द्वारा पुण्य में अर्थात् पुण्यार्जन के लिये अनवरत प्रयत्न करना चाहिये ॥११६॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसार दीपक नाम के महाग्रन्थ में छह
कुलाचल, छह सरोवर एवं श्री आदि देवकुमारियों की विभूति का वर्णन
करने वाला चतुर्थ अधिकार समाप्त।

१ अपितु योग्यः श्रेयः सेवनीयः धर्मः इत्यर्थः । नायं श्रेयस् शब्दः ।

पञ्चमोऽधिकारः

मङ्गलाचरण एवं प्रतिज्ञा :—

अथ नत्वा जिनेन्द्रादींस्तदर्चाश्च जिनालयान् ।
नदीगंङ्गादिका वक्ष्ये निर्गमस्थानविस्तरैः ॥१॥

अर्थः—अब मैं जिनेन्द्र आदि पञ्च परमेष्ठियों को, जिन प्रतिमाओं को और जिनालयों को नमस्कार करके गङ्गा आदि नदियों के निर्गम स्थान आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन करूँगा ॥१॥

चतुर्दश महा नदियों के नाम :—

गङ्गासिन्धुनदीरोहिद्रोहितास्या हरित्सरित् ।
हरिकान्ता च सीताख्या सीतोदावाहिनी ततः ॥२॥

नारी च नरकान्ता सुवर्णकूलाह्वया नदी ।
रूप्यकूलाभिधा रक्ता रक्तोदेताश्चतुर्दश ॥३॥

अर्थः—गङ्गा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह नदियाँ हैं ॥२-३॥

इन नदियों के गिरने का स्थान कहते हैं :—

पूर्वोक्ताः सप्तगङ्गाद्या नद्यः पूर्वाब्धिगा मताः ।
शेषाः सिन्ध्वादयः सप्त चापराम्बुधि मध्यगाः ॥४॥

अर्थः—उपर्युक्त १४ नदियों में से पूर्व कथित गङ्गा आदि सात नदियां पूर्व समुद्र में और शेष सिन्धु आदि सात नदियाँ पश्चिम समुद्र में गिरतीं हैं ॥४॥

विशेषार्थः—उपर्युक्त १४ महा नदियाँ लवण समुद्र में गिरती हैं। इनमें से गङ्गा, रोहित, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नदियां पूर्व लवण समुद्र में और सिन्धु, रोहितास्या,

हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला और रक्तोदा ये सात नदियां पश्चिम लवण समुद्र में गिरती हैं।

अब द्रहों की वेदिकाओं का प्रमाण कहते हैं :—

तेषां च षड्द्रहाणां स्यात् सर्वत्र रत्नवेदिका।
तटे क्रोशद्वयोत्तुङ्गा क्रोशैकपादविस्तृता ॥५॥

अर्थः—उन पद्म आदि छह द्रहों के तट पर चारों ओर रत्नवेदिका है, जो दो कोस ऊँची और सवा कोस चौड़ी है ॥५॥

अब गङ्गा आदि के निर्गमद्वारों का सविशेष वर्णन करते हैं :—

पद्मद्रहस्य पूर्वस्मिन् दिग्भागे तोरणान्वितम्।
वज्रद्वारं भवेत्क्रोशाग्रषड्योजनविस्तृतम् ॥६॥
उन्नतं सार्धगव्यूति संयुक्तनव योजनैः।
द्वारस्य तोरणं ज्ञेयं जिनबिम्बाद्यलङ्कृतम् ॥७॥
पूर्ववत्पश्चिमद्वारं ह्रदस्यास्य समानकम्।
शेषह्रिहिमवीनां सीतोदान्तानां भवन्ति च ॥८॥
ह्रदस्थनिर्गमद्वार व्यासाद्यं द्विगुणोत्तराः।
नार्यादिवाहिनीनां स्युः क्रमह्रासास्ततोऽखिलाः ॥९॥

अर्थः—पद्मसरोवर की पूर्व दिशा में गङ्गा नदी को निकलने के लिये तोरण से संयुक्त एक वज्रमय द्वार है, जो ६ योजन एक कोश अर्थात् सवा छह (६¼) योजन चौड़ा और ९ योजन १½ कोस ऊँचा है। इस द्वार का तोरण जिनबिम्ब और दिक्कन्याओं के आवासों से अलंकृत है ॥६–७॥

पद्मसरोवर की पूर्व दिशा के समान पश्चिम दिशा में भी एक निर्गमद्वार है जिससे सिन्धु नदी निकलती है। इसप्रकार अन्य सरोवरों में भी सीतोदा नदी पर्यन्त दो दो निर्गम द्वार हैं, जिनका व्यास आदि उत्तरोत्तर दूना दूना होता गया है। इसके आगे अवशेष तीन सरोवरों से निकलने वाली नारी नरकान्ता आदि नदियों के निर्गम द्वारों का व्यास आदि क्रम से द्विगुण हीन होता गया है ॥८–९॥

विशेषार्थ:—छह सरोवरों से १४ महानदियां निकलीं हैं—पद्मद्रह से गङ्गा, सिन्धु और रोहितास्या, महापद्म से रोहित् और हरिकान्ता, तिगिञ्छ सरोवर से हरित् और सीतोदा केसरी ह्रद से सीता और नरकान्ता, महापुण्डरीक से नारी और रूप्यकूला तथा पुण्डरीक सरोवर से सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियां निकलीं हैं।

गङ्गा नदी की उत्पत्ति और उसके गमन का प्रकार ४ श्लोकों द्वारा कहते हैं:—

तस्मात्पद्मह्रद्वाराद्गङ्गा निर्गत्य विस्तृता।
क्रोशाग्रयोजनैः षड्भिर्हिमवद्गिरि मस्तके ॥१०॥
अर्धक्रोशावगाहाढ्या याता पञ्च शतानि च।
योजनानि चलद्वेगा गङ्गाकूटस्य सन्मुखा ॥११॥
गङ्गाकूटं ततस्त्यक्त्वा योजनार्धेन दूरतः।
दक्षिणाभिमुखीभूय शतपञ्चक योजनात् ॥१२॥
संयुतान् साधिकार्धक्रोश त्रयोविंशयोजनैः।
सा गिरेस्तटमायाता तत्रास्ति गोमुखाकृतिः ॥१३॥

अर्थः—६ १/४ योजन चौड़ी और १/२ कोस गहरी गङ्गा नदी पद्मसरोवर की पूर्व दिशा में स्थित वज्रद्वार से निकलकर हिमवान् पर्वत के ऊपर ५०० योजन (हिमवान् पर्वत पर स्थित) गङ्गाकूट के सम्मुख अर्थात् पूर्व दिशा की ओर जाकर गङ्गाकूट को अर्धयोजन दूर से ही छोड़ती हुई दक्षिण दिशा में मुड़ जाती है, तथा उसी दक्षिण दिशा की ओर साधिक अर्धकोस से अधिक ५२३ योजन आगे जाकर वह गङ्गा हिमवान् पर्वत के तटभाग पर स्थित गोमुखाकृति प्रणालिका (नाली) को प्राप्त हो जाती है ॥१०-१३॥

विशेषार्थ :— हिमवान् पर्वत के ऊपर गङ्गा नदी का दक्षिण दिशा में साधिक अर्धकोस से अधिक ५२३ योजन जाने का कारण यह है कि गङ्गा नदी हिमवान् पर्वत के ठीक मध्य में से बहती है क्योंकि पर्वत के ठीक मध्य में पद्म सरोवर है और सरोवर के ठीक मध्य से ६ १/४ योजन की चौड़ाई को लिये हुये गंगा निकली है, अतः पर्वत के व्यास (१०५२ १२/१९ में से नदी का व्यास (६ १/४ योजन) घटाकर १०५२ १२/१९−६ १/४=१०४६ २९/७६) अवशेष भाग का आधा (१०४६ २९/७६÷२) करने पर आधा भाग उत्तर में और आधा (५२३ २९/१५२ योजन) दक्षिण में रहा, अतः दक्षिण के उस अर्धभाग को पार करने के बाद ही गंगा को हिमवान् पर्वत का तट प्राप्त हो जाता है।

अब प्रणालिका की आकृति और उसके प्रमाण आदि का निर्धारण तीन श्लोकों द्वारा करते हैं:—

द्विक्रोशदीर्घता युक्ता द्वि क्रोशस्थूलता युता ।
प्रणालीयोजनैः षड्भि क्रोशार्धं विस्तरान्विता ॥१४॥
नित्याद्य जलाभेद्या सिंहश्रुति जिह्विका ।
ज्ञेयास्या दीर्घ विस्तारैः समासिन्धुप्रणालिका ॥१५॥
शेषाः प्रणालिका व्यासाद्यै विदेहान्त मञ्जसा ।
द्विगुणाद्विगुणाः स्युश्च तथालघ्वास्ततोऽपराः ॥१६॥

अर्थः—[हिमवान् पर्वत के तट पर स्थित वह] जिह्विका नाम की प्रणालिका (नाली) दो कोस लम्बी, दो कोस मोटी और ६ योजन एक कोश अर्थात् ६½ योजन चौड़ी है। यह प्रणालिका शाश्वत और जल से अभेद्य अर्थात् नष्ट भ्रष्ट होने के स्वभाव से रहित है। इसकी मुखाकृति गाय के सदृश है। किन्तु इसके कान सिंह के कान सदृश हैं। [गंगा नदी इसी नाली में जाकर हिमवान् पर्वत से नीचे गिरती है।] सिन्धु नदी की प्रणालिका की लम्बाई चौड़ाई भी इसी के समान है। इसके बाद विदेह पर्यन्त की शेष प्रणालिकाओं का व्यास आदि उत्तरोत्तर दूना दूना और उसके आगे क्रमशः हीन हीन होता गया है ॥१४-१६॥

गिरती हुई गंगा नदी के विस्तार आदि का वर्णन :—

काहलाकारमाश्रित्य पतिता भरतावनौ ।
दशयोजनविस्तीर्णा धारा तस्या अखण्डिता ॥१७॥
धारापर्वतयोर्मध्ये ह्यन्तरं पञ्चविंशतिः ।
योजनानि ततोऽन्येषां द्विगुणद्विगुणं क्रमात् ॥१८॥
धाराया उन्नतिश्चात्र शतैकयोजनप्रमा ।
द्विगुणा द्विगुणान्याद्विद्येऽर्धाऽर्धाऽचलत्रये ॥१९॥

अर्थः—(हिमवान् पर्वत को छोड़कर) काहला (एक प्रकार के बाजा) के आकार को धारण करने वाली, दश योजन विस्तार वाली तथा अखण्ड धारा से युक्त गंगा नदी भरत भूमि पर गिरती है। जहाँ धारा गिरती है उस स्थान के और पर्वत के मध्य में पच्चीस योजनों का अन्तराल है। अर्थात् गंगा नदी हिमवान् पर्वत से पच्चीस योजन दूरी पर गिरती है। विदेह पर्यन्त यह अन्तर क्रमशः दूना और उससे आगे क्रमशः हीन होता गया है। इस स्थान पर गंगा की धारा की ऊँचाई सौ योजन प्रमाण है। विदेह पर्यन्त धारा की ऊँचाई क्रम से दूनी दूनी प्राप्त होती है और उसके आगे तीन कुलाचलों पर यह ऊँचाई क्रमशः अर्ध अर्ध प्राप्त होती है ॥१७-१९॥

अब गिरी हुई नदी और उसके गिरने का स्वरूप ११ श्लोकों द्वारा कहते हैं :—

तन्नाद्रि पार्श्वभूभागे कुण्डवज्रमयं भवेत् ।
वृत्तं नित्यं सुविस्तीर्णं सार्धं द्विषष्टियोजनैः ॥२०॥

वेष्टितं रत्नवेद्या चावगाहं दशयोजनैः ।
तस्य मध्य प्रदेशेऽस्ति सद्वीपः सलदाह्वया ॥२१॥

अष्ट योजन विस्तीर्णो जलात् क्रोशद्वयोच्छ्रितः ।
तन्मध्ये स्याद्गिरिर्वज्रमयस्तुङ्गश्चयोजनैः ॥२२॥

दशभिर्विस्तृतो मूले चतुर्भिर्मध्य विस्तरः ।
द्वाभ्यां च योजनाभ्यां मूर्ध्न्येक योजन विस्तृतः ॥२३॥

तस्याद्रेः श्रीगृहं मूर्ध्नि दिव्यं क्रोश समुन्नतम् ।
भूतले सार्धगव्यूति दीर्घमायाम संयुतम् ॥२४॥

क्रोशेनैकेन मध्येऽग्रे क्रोशार्ध दीर्घताश्रितम् ।
स्फुरद्रत्नमयं सार्धं शतद्विचाप विस्तृतम् ॥२५॥

चतुर्गोपुरयुक्तस्य वेदिका वेष्टितस्य च ।
गङ्गा कूटाभिधस्यास्य द्वारं मणिमयं भवेत् ॥२६॥

चत्वारिंशद्धनुर्व्यासं चापाशीत्युच्छ्रितं शुभं ॥
गंगादेवीवसेदत्र प्रासादे वनभूषिते ॥२७॥

प्रासादमस्तकेऽत्रास्ति शाश्वतं कमलोर्जितं ।
तत्कर्णिकोपरिस्फीतं रत्नसिंहासनोन्नतम् ॥२८॥

तस्योपरिस्फुरद्रत्नमयी नित्या मनोहरा ।
जिनेन्द्र प्रतिमा तुङ्गा तेजो मूर्ति रिवास्ति च ॥२९॥

तस्याः शिरसि सर्वाङ्गे पतन्त्यचलमस्तकात् ।
महाभिषेक धारेवगङ्गासरिद्रवाकुला ॥३०॥

अर्थः—हिमवान् पर्वत के पार्श्व भाग (मूल) में पृथ्वी पर एक वज्रमय अकृत्रिम गोल कुण्ड है, जो ६२½ योजन व्यास अर्थात् चौड़ा और १० योजन गहरा तथा रत्नों की वेदी से वेष्टित है। इस कुण्ड के मध्य में सलद (जलद) नाम का एक उत्तम द्वीप (टापू) है, जो आठ योजन विस्तृत और जल से दो कोस (½ योजन) ऊँचा है। उस द्वीप के मध्य में वज्रमय दशयोजन ऊँचा एक पर्वत है। उस

पर्वत का व्यास मूल में चार योजन, मध्य में दो योजन और शिखर पर एक योजन प्रमाण है। उस पर्वत के शिखर पर शोभायुक्त गृह है जो एक कोस ऊँचा, रत्नमय दिव्य भवन है, जो भूतल पर १½ कोस (३००० धनुष) लम्बा (व्यास) मध्यमें एक कोस (२००० धनुष) तथा अग्रभाग में ½ कोस (१००० धनुष) लम्बा (व्यास) है। इस गृह (गंगा कूट) का अभ्यन्तर व्यास २५० धनुष है। गंगा कूट है नाम जिसका ऐसा यह गंगा देवी का गृह चार गोपुरों से युक्त और वेदिका से वेष्ठित है। इसके द्वार अर्थात् दोनों किवाड़ अत्यन्त शुभ और रत्नमय हैं, जिनकी चौड़ाई ४० धनुष और ऊँचाई ८० धनुष है। वन से विभूषित इस महल में गंगा नाम की देवी रहती है इस महलके मस्तक-अग्रभाग पर एक शाश्वत और उन्नत कमल है, जिसकी कर्णिका के ऊपर देदीप्यमान रत्नमय उन्नत-विशाल सिंहासन है। उस सिंहासन पर तेजकी मूर्ति ही हो मानो इस प्रकार की अत्यन्त भास्वर, मनोहर और अकृत्रिम, रत्नमय उत्तुंग जिनेन्द्र प्रतिमा अवस्थित है नदी के कल कल शब्दों से युक्त, महा अभिषेक की धारा के समान गंगा नदी हिमवान् पर्वत के मस्तक से उन प्रतिमा के सिर पर से सम्पूर्ण शरीर पर गिरती है ॥२०-३०॥

गंगा गिरने का सामान्य चित्रण निम्नप्रकार है :—

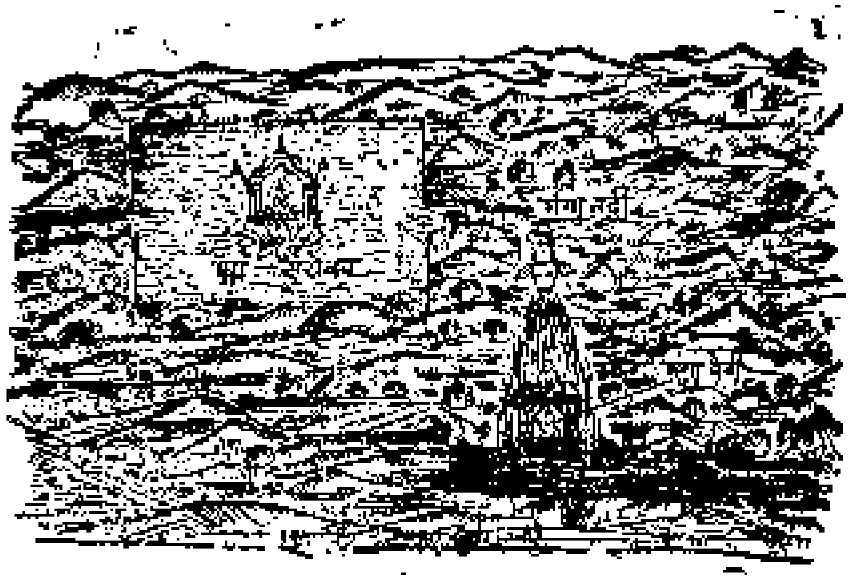

कुण्ड से निकल कर जाती हुई गंगा का एवं उसके स्थान का स्वरूप चार श्लोकों द्वारा निरूपित करते हैं:—

तत् कुण्ड देहली द्वाराग्निर्गत्य सा सतोरणात् ।
ततः खण्डप्रपाताख्या गुहासन्मुखमागता ॥३१॥
रूप्याचल तले तस्या गुहाया योजनानि च ।
द्वादशव्यासमप्यायामः पञ्चाशद्योजनान्यपि ॥३२॥

उन्नतिर्योजनान्यष्टौ द्वौ स्तो वज्रकपाटकौ ।
षट्षड्योजनविस्तारौ ह्यष्टाष्टयोजनोन्नतौ ॥३३॥

देहल्या विजयार्धस्य प्रविष्टैवाप्यधस्तले ।
अष्टयोजनविस्तीर्णा सर्वत्रात्र गुहान्तरे ॥३४॥

अर्थः—गंगा नदी कुण्ड के तोरण सहित दक्षिण द्वार से निकलकर [दक्षिण की ओर बहती हुई विजयार्धपर्वत की] खण्डप्रपात नाम की गुफा की ओर जाती है और गुफा के तोरण सहित (दक्षिण) द्वार की देहली के नीचे से निकलकर [गुफा की ५० योजन लम्बाई को पार करती हुई] आठ योजन विस्तार वाली गंगा उसी गुफा के उत्तर द्वार की देहली के नीचे से निकल जाती है विजयार्धपर्वत के नीचे स्थित गुफा और गुफा द्वार दोनों बारह बारह योजन चौड़े और आठ आठ योजन ऊँचे हैं। गुफा की लम्बाई ५० योजन है (क्योंकि विजयार्ध ५० यो० ही चौड़ा है) । गुफा के (दक्षिण उत्तर) दोनों द्वारों पर प्रत्येक छह छह योजन चौड़े और आठ आठ योजन ऊँचे वज्रमय कपाट लगे हैं ॥३१-३४॥

विशेषार्थः—एक कपाट की चौड़ाई ६ योजन है, अतः दोनों कपाट १२ योजन चौड़े हुये क्योंकि गुफा का द्वार भी १२ योजन चौड़ा है। जब कपाटों की चौड़ाई १२ योजन है तब देहली की लम्बाई भी १२ योजन होगी, अतः उसके नीचे से आठ योजन चौड़ी गङ्गा का निकल जाना स्वाभाविक ही है।

उन्मगा और निम्नगा नदियों का वर्णनः—

उन्मगानिम्नगा संज्ञे द्विद्वियोजन विस्तृते ।
द्विद्वियोजन दीर्घे द्वे नद्यौ विनिर्गते घने ॥३५॥

पूर्वापरगुहाभित्ति भूकुण्डाभ्यां क्षयोज्झिते ।
गुहामध्ये प्रविष्टे स्तः प्रवाहेऽस्याद्विपार्श्वयोः ॥३६॥

अर्थः—[विजयार्ध की खण्डप्रपात गुफा ५० योजन लम्बी है। २५ योजन पर अर्थात्] गुफा के ठीक मध्य में पूर्व पश्चिम दोनों दीवालों के निकट भूमि पर दो कुण्ड हैं इन कुण्डों से दो दो योजन चौड़ी और दो दो योजन लम्बी उन्मगा और निम्नगा नाम की दो नदियाँ निकलतीं हैं, तथा विनाश रहित और मेघसदृश ये दोनों नदियाँ दोनों पार्श्वभागों से गङ्गा के प्रवाह में प्रविष्ट हो जातीं हैं ॥३५-३६॥

विशेषार्थः—खण्डप्रपात गुफा की चौड़ाई १२ योजन प्रमाण है। इस गुफा के ठीक मध्य में से ८ योजन चौड़ी गङ्गा बहती है, अतः दोनों पार्श्वभागों में गुफा की भित्ति से गङ्गा नदी तक मात्र

दो दो योजन ही अवशेष रहते हैं, इसीलिये उन्मग्ना और निम्नगा नदियों की लम्बाई दो दो योजन कही गई है।

गङ्गा के पतन का और पतन समय उसके व्यास आदि का वर्णन:—

ततस्त्यक्त्वाद्रिमायाय्य दक्षिणाभिमुखा सरित् ।
दक्षिणभरतस्यार्धं भूतलं प्राग्मुखी ततः ।।३७।।

वलित्वा विस्तृता सार्धद्विषष्टियोजनैःपरा ।
पञ्चक्रोशावगाहा सा प्रविष्टा पूर्वसागरम् ।।३८।।

अर्थ:—इस प्रकार विजयार्ध पर्वत को छोड़ कर दक्षिणाभिमुख बहती हुई गंगा दक्षिणभारत के अर्धभाग (११९$\frac{3}{19}$ योजन) पर्यन्त सीधी आती है। पश्चात् पूर्व दिशा के सम्मुख मुड़ती हुई, ६२$\frac{1}{2}$ योजन चौड़ी और ५ कोस गहरी वह गंगा महानदी अन्ततः (मागध द्वार से) पूर्व समुद्र में प्रवेश कर जाती है ।।२७–२८।।

विशेषार्थ:– ११९$\frac{3}{19}$ योजन अर्थात् अर्धदक्षिण भारत को पार करती हुई गंगा जब पूर्वाभिमुख होती है तब वह ढाई म्लेच्छ खण्डों को प्राप्त करती है और वहाँ से १४००० प्रमाण परिवार नदियों को लेकर लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अकृत्रिम वस्तुओं की अवस्थिति म्लेच्छ खण्ड पर्यन्त ही प्राप्त हो सकती है आर्य खण्ड में नहीं क्योंकि आर्यखण्डों में प्रलय पड़ता है।

अब मागधद्वार के व्यास आदि का वर्णन करते हैं :—

तन्मागधामरद्वारं गङ्गाप्रवेश कारणम् ।
क्रोशद्वयावगाहं द्विक्रोशबाहुल्य संयुतम् ।।३९।।
गङ्गाव्याससमव्यासं रत्नतोरण भूषितम् ।
योजनत्रिनवत्यामा त्रिक्रोशैनोच्छ्रितं भवेत् ।।४०।।

अर्थ:—पूर्व लवण समुद्र में गङ्गा के प्रवेश का कारणभूत मागध नामका द्वार है। अर्थात् मागधद्वार से भीतर जाकर गंगा समुद्रमें प्रवेश करती है। इस द्वार के रक्षक देव का नाम मागध है। यह द्वार रत्नों के तोरण से विभूषित है द्वार की नींव दो कोस, मोटाई दो कोस, ऊँचाई तीन कोस अधिक ९३ योजन और चौड़ाई गङ्गा के व्यास सदृश अर्थात् ६२$\frac{1}{2}$ योजन प्रमाण है ।।३९–४०।।

मागध द्वार के ऊपर स्थित तोरण द्वार का वर्णन करते हैं :—

स्युस्तत्रतोरणाद्वारे जिनबिम्बान्यनेकशः ।
मङ्गलद्रव्यभूषाणि दीप्तरत्नमयानि च ॥४१॥
तोरणोपरिचोत्तुङ्गा मणिप्रासादपंक्तयः ।
दिक्कुमारीप्रजापूर्णा नित्याः सन्ति मनोहराः ॥४२॥

अर्थः—मागधद्वार के ऊपर जो तोरणद्वार है, उसके ऊपर दिक्कुमारियों के समूह से व्याप्त, मन को हरण करने वाले, अनादिनिधन, उत्तुङ्ग और पंक्तिबद्ध मणिमय भवन हैं। और इन भवनों के ऊपर मङ्गल द्रव्यों से विभूषित, दैदीप्यमान रत्नमय अनेक जिनबिम्ब अवस्थित हैं ॥४१-४२॥

निर्गमद्वार आदि के व्यास का कथन :—

ह्रदस्य निर्गमद्वारं कुण्डस्य च महाम्बुधेः ।
प्रवेशद्वारमस्त्येव व्यासेन समविस्तृतम् ॥४३॥

अर्थः— पद्मसरोवर गङ्गा के निर्गम द्वार की चौड़ाई गङ्गा के निर्गम व्यास के सदृश अर्थात् ६¼ योजन है। कुण्ड का व्यास और लवण समुद्र के गङ्गा प्रवेश द्वार का व्यास गङ्गा के प्रवेश व्यास के सदृश अर्थात् ६२½ योजन प्रमाण है ॥४३॥

गङ्गाया द्वारविस्तारास्सर्वे ते द्वारतोरणाः ।
अर्धाधिकेन तद्व्यासेनोन्नता निखिला मताः ॥४४॥
ह्रदकुण्डसमुद्राणां निर्गमद्वारपंक्तिषु ।
प्रवेशद्वारसर्वेषु गंगाविस्तरितां भवेत् ॥४५॥

अर्थः—गंगा के समस्त तोरणद्वारों का जितना जितना विस्तार है, अपने अपने उन व्यासों (विस्तारों) का डेढ़ गुणा उन तोरण द्वारों की ऊँचाई है ॥४४॥ गंगा आदि सभी नदियों के तालाब, कुण्ड और समुद्र सम्बन्धी निर्गम द्वार व प्रवेश द्वार होते हैं ॥४५॥

तोरणद्वारों का विशेष वर्णन :—

क्रोशद्वयावगाहत्वं तोरणानि महान्ति च ।
तोरणेषु जिनेन्द्राणां प्रतिमा दिव्यमूर्तयः ॥४६॥
तोरणोपरिभागेषु दिक्कन्यावास पंक्तयः ।
भवन्ति शाश्वता रम्या विश्वेषु मणितेजसः ॥४७॥

अर्थः—दो कोस है नींव जिनकी ऐसे महान तोरण द्वारों के उपरिम भाग में दिक्कन्याओं के अकृत्रिम, रमणीक और पंक्तिबद्ध आवास भवन हैं, और उन समस्त तोरणभवनों पर जिनेन्द्र भगवान् की दैदीप्यमान् मणिमय दिव्य प्रतिमाएँ हैं ॥४६–४७॥

जम्बूद्वीपस्थ समस्त कुण्ड आदि के व्यास आदि का वर्णन :—

कुण्डतद्द्वीपशैलानां तद्गृहाणां च वारिधेः ।
गंगादिक प्रवेशद्वाराणां व्यासादयोऽखिलाः ॥४८॥
द्विगुण द्विगुणा ज्ञेयाः सीतोदान्तास्ततोऽपरे ।
अर्धार्धाश्च भवेयुस्त्रि क्षेत्रेषु रम्यकादिषु ॥४९॥

अर्थः—सीतोदा नदी अर्थात् विदेह पर्यन्त स्थित नदी पतन के कुण्ड, कुण्ड सम्बन्धी उपद्वीप (टापू), इनके ऊपर स्थित पर्वत और पर्वतों के ऊपर स्थित गृह तथा समुद्र में गंगानदियों के प्रवेश द्वारों की चौड़ाई एवं ऊँचाई का प्रमाण उत्तरोत्तर दूना दूना और इसके आगे रम्यक आदि तीन क्षेत्र सम्बन्धी नारी नरकान्ता आदि नदियों के पतन सम्बन्धी कुण्ड आदि का प्रमाण क्रमशः अर्ध अर्ध हीन जानना चाहिये ॥४८–४९॥

अब पद्म आदि सरोवरों से निकलने वाली नदियों के प्रवेश व्यास आदि को प्राप्त करने के लिये नियम निर्धारित करते हैं :—

गंगादिसरितामादौ स्वह्रदान्निर्गमे च यः ।
स्वव्यासो योऽवगाहः स भवेद् दशगुणो हि सः ॥५०॥

अर्थः—अपने अपने सरोवरों से निकलने वाली गंगा आदि नदियों के अपने अपने निर्गम व्यास और अवगाह से अपना अपना प्रवेश व्यास और अवगाह दश गुणित होता है ॥५०॥

विशेषार्थः—जैसे पद्म सरोवर से निकलने वाली गंगा सिन्धु का निर्गम व्यास ६$\frac{1}{4}$ योजन (२५ कोस), और निर्गम गहराई $\frac{1}{2}$ कोस है, अतः इन नदियों का समुद्र में प्रवेश करते समय व्यास (६$\frac{1}{4}$ × १०) = ६२$\frac{1}{2}$ योजन और अवगाह ($\frac{1}{2}$ कोस × १०) = ५ कोस प्रमाण होगा। यही नियम सर्वत्र जानना चाहिये।

गंगा के सदृश सिन्धु का कथनः—

अब्धेः प्रवेशसद्द्वारेषु गंगायाः समानका ।
ऋजुव्यासावगाहाद्यैः सिन्धुर्गतापरार्णवम् ॥५१॥

अर्थः—पश्चिम समुद्र में जाने वाली सिन्धु नदी के समुद्र प्रवेश द्वार आदि में व्यास, अवगाह एवं सीधे प्रवाह आदि का प्रमाण गंगा के सदृश है ॥५१॥

अब अवशेष नदियों के निर्गम आदि का संक्षिप्त कथन करते हैं:—

रोहिन्महादिपद्मस्य दक्षिणद्वार निर्गता ।
क्षेत्रं हैमवतं प्राप्य गता पूर्वाख्यसागरम् ॥५२॥
पद्मस्यास्योत्तरद्वाराद्रोहितास्या विनिर्गता ।
जघन्यभोगभूमध्येन पश्चिमाम्बुधिं गता ॥५३॥
इत्येवं सरितस्तिस्रः पद्मद्रहाद् विनिर्गताः ।
पुण्डरीकहृदात्तिस्रो नद्यः शेषेभ्य एव च ॥५४॥
हृदेभ्यो निर्गते द्वे द्वे नद्यौ ह्यन्योन्य मिश्रिते ।
विस्तरं सुखबोधाय संवक्ष्येऽतः पृथक् पृथक् ॥५५॥

अर्थः—रोहित् नदी महापद्म सरोवर के दक्षिणद्वार से निकलकर हैमवत क्षेत्र अर्थात् जघन्य भोगभूमि को प्राप्त करती हुई पूर्व समुद्र में गिरी है। रोहितास्या नदी पद्मसरोवर के उत्तर द्वार से निकलकर जघन्य भोगभूमि अर्थात् हैमवत क्षेत्र के मध्य में से बहती हुई पश्चिम समुद्र को प्राप्त हुई है। इसप्रकार पद्मद्रह से गंगा, सिन्धु और रोहितास्या ये तीन नदियाँ निकलीं हैं, और पुण्डरीक सरोवर से सुवर्ण कूला, रक्ता और रक्तोदा ये तीन नदियाँ निकलीं हैं शेष सरोवरों से एक दूसरे से मिश्रित होतीं हुईं दो दो नदियां निकलीं हैं। अर्थात् महापद्म से रोहित् और हरिकान्ता, तिगिञ्छ से हरित् और सीतोदा, केसरी से सीता और नरकान्ता तथा महापुण्डरीक से नारी और रूप्यकूला ये दो दो नदियां निकलीं हैं। (महापद्म से रोहित् और हरिकान्ता तथा तिगिञ्छ से हरित् और सीतोदा आदि का निकलना ही अन्योन्य मिश्रण है)। सरलता पूर्वक ज्ञान प्राप्त कराने के अभिप्राय से अब इन नदियों का पृथक् पृथक् वर्णन किया जा रहा है ॥५२-५५॥

अथ पद्मद्रहस्य पश्चिमदिग्भागे द्वि क्रोशावगाहं क्रोशाधिक षड्योजन विस्तृतं सार्धक्रोशाधिक नवयोजनोन्नतं जिनेन्द्रबिम्बदिक्कन्यावासाद्यऽलंकृतं तोरणद्वारमस्ति। तस्मात्तोरणद्वारात् सिन्धुनदी अर्धक्रोशावगाहा, क्रोशाग्रषड्योजनव्यासा निर्गत्य पर्वतस्योपरि ऋज्वी पश्चिमदिशि पञ्चशतयोजनानि गत्वा गव्यूतित्रयेण सिन्धुकूटं विहाय दक्षिणाभिमुखी भूय किञ्चिदधिकार्धक्रोशाग्रपञ्चशतत्रयोविंशतियोजनान्येत्यक्रोशाधिकषड्योजनव्यासया द्वि क्रोशाय तया द्वि क्रोशस्थूलया वज्रप्रणाल्या गिरेस्तटाद्भूमौ पतति।

तत्र सार्धद्विषष्टियोजनविस्तीर्णं, दशयोजनावगाहं, रत्नवेदीद्वारतोरणाद्यलंकृतं, शाश्वतं कुण्डं विद्यते। कुण्डमध्ये जलाद् द्विक्रोशोच्छ्रितोऽष्टयोजनविस्तीर्णः सलदाख्यो द्वीपोऽस्ति। द्वीपे मध्ये दशयोजनोत्तुंगः मूले चतुर्योजन विस्तृतो, मध्ये द्वियोजनव्यासः, शिखरे योजनैकविस्तारः वज्रमयो गिरिरस्ति। तस्याद्रेर्मूर्ध्नि क्रोशैकोन्नतं भूतले, सार्धक्रोशदीर्घं मध्ये, क्रोशैकायतम् शिखरे अर्धक्रोशायामं सार्धद्विशतधनुर्व्यासं। पद्मकर्णिका सिंहासनस्थ जिनबिम्बालंकृतं। चत्वारिंशद्धनुर्व्यासाशीति, चापोन्नतद्वाराङ्कितं, चतुर्गोपुरवेदिका वनखण्डादिवेष्टितं दिव्यं गृहमस्ति। दशयोजनविस्तीर्णा सा सिन्धुधारा शतयोजनोत्सेधा। पञ्चविंशतियोजनान्यचलं मुक्त्वा स्नानधारेवतदग्रस्थश्रीजिनबिम्बांगे वहति। ततः कुण्डस्यदक्षिणद्वारेणनिर्गत्य विजयार्धस्य तिमिश्रगुहाद्वारे देहलीतलं प्रविश्याष्टयोजनविस्तीर्णा दक्षिणभरतार्धं भूतलमागत्य पश्चिमाभिमुखीभूय सार्धद्विषष्टि योजन विस्तृत त्रिकोशाधिक त्रिनवतियोजनोत्तुङ्ग तोरणस्थश्रीजिनबिम्ब, दिक्कन्यावासाद्यलंकृत प्रभासामरद्वारेण सार्द्ध द्विषष्टि योजनविस्तारा पञ्चक्रोशावगाहा सिन्धुनदी पश्चिमाम्बुधिं प्रविष्टा। महापद्मद्रहस्य दक्षिणदिग्भागे सार्धद्वादशयोजनविस्तारं, त्रिक्रोशाधिकाष्टादशयोजनोच्छ्रितं। द्विक्रोशावगाहं जिनबिम्बदिक्कन्याप्रासादादिभूषितं सतोरणं वज्रद्वारं स्यात्। तद् द्वारात्सार्धद्वादशयोजनविस्तीर्णा क्रोशैकावगाहा-रोहिन्नदी निर्गत्य दक्षिणदिशिद्रहव्यासोनाचलव्यासार्धं भूतलमागत्य गिरेस्तटात्सार्ध द्वादशयोजनविस्तृता योजनैकस्थूला योजनैकदीर्घा गोमुखाकृतिवज्रप्रणाल्याधो भूतले पतति। तत्रपञ्चविंशत्यग्रशतयोजन विस्तृतं विंशतियोजनावगाहं मणिवेदिका द्वारतोरणादि मण्डितं कुण्डं स्यात्। तन्मध्ये जलाद्वियति षोडश योजन विस्तीर्णो द्वीपोऽस्ति। तस्य मध्ये विंशतियोजनोत्तुंगो मूलेऽष्टयोजन व्यासो, मध्ये चतुर्योजनविस्तारो, मस्तके द्वियोजन विस्तृतो वज्रमयोऽचलोऽस्ति। तस्य मूर्ध्नि द्विक्रोशोच्छ्रितं, भूतले त्रिकोशायामं, मध्ये द्विक्रोशायतं, शिखरे क्रोशैकदीर्घं पञ्चशतचापव्यासं कमलकर्णिकासिंहासनस्थ जिन प्रतिमाद्यलंकृतं। अशीतिचापविस्तृतं षष्ट्यधिकशतशरासनोत्सेधद्वारान्वितं चतुर्गोपुरवन-वेदिकादि भूषितं दिव्यं प्रासादं भवति। विंशतियोजनविस्तृता द्विशतयोजनदीर्घा पञ्चाशद् योजनान्यद्रिं विहाय जिनमभिषेक्तु कामेव गृहाग्रस्थ जिनप्रतिमांगे वहति सा रोहित् नदी। ततः कुण्डस्य दक्षिणद्वारान्निर्गत्य हैमवतक्षेत्रमध्ये समागत्य तत्रस्थ नाभिगिरिं योजनार्धेनास्पर्शन्ती तस्यैवार्धं प्रदक्षिणां कृत्वा पञ्चविंशतियुक्तशतयोजनविस्तारा सार्धद्वियोजनावगाहा पञ्चविंशत्यग्रशतयोजन विस्तृता—

सार्धसप्ताशीतियुतशतयोजनोत्तुंग द्विक्रोशावगाहार्धयोजन बाहुल्य तोरणस्थार्हत्प्रतिमादिक्कन्यावासाद्यलंकृत रोहित्प्रवेशद्वारेणरोहित्सरित् पूर्वसमुद्रं प्रविष्टा। हिमवत्पर्वते पद्मह्रदस्य व्यासोत्सेधार्धं महापद्मद्रहस्य दक्षिणद्वार सममुत्तरदिशि द्वारमस्ति। तद्द्वाराद् विस्तारावगाहादिभिः रोहित्सदृशी रोहितास्या निर्गत्योत्तराभिमुखा द्रह व्यासोनार्धाचलतटमागत्य प्रागुक्त व्यासादि सम प्रणालिकया विंशतियोजन व्यासा शतयोजन दीर्घा आगमोक्त योजनैरद्रिं मुक्त्वाधो भूतलं पतति। तत्र

व्यासार्धैः रोहित्समाः कुण्डद्वीपाचलगृहादयो विज्ञेयाः। ततः कुण्डस्योत्तर द्वारेण निर्गत्य हैमवत् क्षेत्रमध्यस्य नाभिगिरिं योजनार्धेन विहाय तस्यार्धं प्रदक्षिणां कृत्वा व्यासार्धैः रोहितसमानारोहितास्या प्रागुक्त विस्तारादिभिः पूर्वद्वारसमापरद्वारेण पश्चिमार्णवं प्रविष्टा। निषधपर्वतस्थ तिगिञ्छाख्य ह्रदस्य दक्षिणदिग्भागे पञ्चविंशति योजन विस्तृतं सार्धसप्तत्रिंशद्योजनोन्नतं द्वि क्रोशावगाहं तोरणार्हत्प्रतिमा दिक्कन्यावासाद्यलंकृतं वज्रद्वारमस्ति। तद्द्वारात्पञ्चविंशति योजन विस्तारा द्वि क्रोशावगाहा हरिन्नदी निर्गत्य द्रहव्यासोनाद्रि व्यासार्धमागत्य शैलस्य तटात् पञ्चविंशति योजन व्यास द्वि योजन बाहुल्य द्वि योजनायत गोमुखप्रणालिकया चत्वारिंशद्योजन विस्तीर्णा चतुःशतयोजन दीर्घा, शतयोजनान्यद्रिं मुक्त्वाधो भू भागे पतति स्म। तत्रसार्धं द्विशतयोजन विस्तीर्णं चत्वारिंशद्योजनावगाहं रत्नवेदीद्वारतोरणाद्यलंकृतं कुण्डं विद्यते। तन्मध्ये जलादाकाशे द्वात्रिंशद्योजनव्यासो द्वीपः स्यात्। द्वीपमध्ये चत्वारिंशद्योजनोन्नतः, मूले षोडशयोजनविष्कम्भः, मध्येऽष्टयोजन विस्तारोऽग्रे चतुर्योजनव्यासोऽचलोऽस्ति तस्य शिरसि योजनोच्छ्रितं, भूतले सार्धयोजनदीर्घं मध्ये योजनायतं, मूर्ध्नि द्वि क्रोशायामं, अर्धक्रोश व्यासं—

पञ्चाग्रशतधनुः विस्तीर्णं विंशत्यधिक त्रिशतचापोच्च द्वाराङ्कितं, चतुर्गोपुर वनवेदिकादि शोभितं, पद्मकर्णिका सिंह विष्टरार्हद् बिम्बाद्यलंकृतं, दिव्यं भवनं स्यात्। तज्जिनबिम्बाङ्गे प्रवहन्ती सा हरित्कुण्डस्य दक्षिणद्वारेण निर्गत्य हरिक्षेत्र मध्य भूभागमागत्य तत्रस्थ नाभिगिरिं योजनार्धेन मुक्त्वा तस्यार्धं प्रदक्षिणां कृत्वा सार्ध द्विशत योजन व्यासा पञ्चयोजनावगाहा स्वप्रवेशद्वारेण पूर्वाब्धि गता। सार्धद्विशतयोजन विस्तीर्णं पञ्चसप्तत्यधिकत्रिशतयोजनोत्तुङ्गं द्विक्रोशावगाहं अर्धयोजनस्थूलं, तोरणार्हन्मूर्ति दिक्कन्यावासादि भूषितं तद्धरित् नदी प्रवेशद्वारं ज्ञातव्यं।

महाहिमवत्पर्वतस्थं महापद्मद्रहस्योत्तरदिशि व्यासाद्यैः प्रागुक्त तिगिञ्छदक्षिणद्वारसमं द्वारमस्ति। तदुत्तरद्वारान्निर्गत्य हरित्समव्यासावगाहा हरिकान्ता सरित् ह्रदविस्तारोनाचलव्यासार्धमेत्य व्यासाद्यैर्हरित्प्रणालीसमप्रणालिकया चत्वारिंशद्योजनविस्तीर्णा द्विशतयोजनोत्सेधा श्रुतोक्तयोजनैरचलान्तरं कृत्वाद्रेर्मस्तकाद्भूतलं पतति। तत्र विस्ताराद्यैः प्रागुक्तहरित्पात समानाः कुण्ड द्वीपाद्रिगृहादयः सन्ति। ततः कुण्डोत्तर द्वारान्निर्गत्य हरिक्षेत्रमध्यभागं गत्वा तत्रस्थ नाभिगिरिं योजनार्धेन विमुच्य तस्यार्धप्रदक्षिणां कृत्वा हरित्सम विस्तारावगाहा हरिकान्ता नदी व्यासादिभिः प्रागुक्तपूर्वाब्धिद्वारसम स्वप्रवेशद्वारेण पश्चिम समुद्रं प्रविष्टा।

अथ नीलपर्वतस्थितकेसरिद्रहस्य दक्षिणदिग्भागे पञ्चाशद्योजन विस्तीर्णं पञ्चसप्तति योजनोत्सेधं द्विक्रोशावगाहं तोरणार्हद्बिम्ब दिक्कन्यावासादि मण्डितं वज्रद्वारं स्यात्। तद् द्वारात्पञ्चाशद्योजनव्यासा योजनावगाहा सीतानदी निर्गत्य गिरिशिरसि द्रहव्यासोनाचलव्यासार्धं शैलतटं चागता तस्मिन्नद्रौ पञ्चाशद्योजन विस्तारा चतुर्योजनायता चतुर्योजनस्थूला गोमुखाकारा प्रणाली भवति। अचलाधो भूतले

पञ्चशतयोजन विस्तीर्णं अशीतियोजनावगाहं रत्नवेदीद्वारतोरणादि मण्डितं कुण्डं स्यात् । तन्मध्ये तोयात् खे चतुःषष्टियोजन विष्कम्भो द्वीपोऽस्ति । तन्मध्यभागे अशीति योजनोच्छ्रितः, मूले द्वात्रिंशद्योजन विस्तारः, मध्ये षोडशयोजनविष्कम्भः, शिखरे अष्टयोजनव्यासः गिरिरस्ति । तस्य मूर्ध्नि द्वियोजनोन्नतं, महीतले त्रियोजन दीर्घं मध्ये द्वियोजनायामं, मस्तके योजनायतं, क्रोशव्यासं, विंशत्यधिक त्रिशतविस्तृतं, चत्वारिंशदधिक षट्शतचापोत्तुङ्ग द्वारान्वितं, चतुर्गोपुर वेदी वनाद्यलंकृतं दिव्यं गृहं स्यात् । तन्मूर्ध्नि पद्मकर्णिकान्तः सिंहासनस्थं शाश्वतं जिनबिम्बं विद्यते । सा सीता जिनबिम्बमस्तके प्रवहन्ती अशीति योजन विस्तीर्णा, चतुःशतयोजनोत्सेधा, द्विशतयोजनैरद्रिमस्पर्शन्ती कुण्डद्वारेण निर्गत्योत्तरकुरुसंज्ञोत्कृष्ट भोग भूमध्येन गत्वा मेरुसमीपे माल्यवन्तं गजदन्तपर्वतं भित्त्वा प्रदक्षिणेन योजनार्धेन महामेरुं विहाय पूर्वभद्रशालवनपूर्वविदेहक्षेत्रमध्येन, पञ्चशतयोजनविष्कम्भा, दशयोजनावगाहा स्वप्रवेश द्वारेण पूर्वाब्धिं प्रविष्टा । पञ्चशतयोजन व्यासं सार्धसप्तशतयोजनोन्नतं द्वि क्रोशावगाहं अर्धयोजनस्थूलं तोरणार्हद्बिम्बदिक्कन्याधासादि संयुतं तत्प्रवेशद्वारं विज्ञेयं ।

निषधाद्रिस्थ तिगिञ्छह्रदस्य व्यासादिभिः सीतानिर्गम द्वारसमोत्तरद्वारेण सीतातुल्यव्यासावगाहा सीतोदा निर्गत्याचलतटमागत्य विस्ताराद्यैर्नीलगिरिप्रणालीसमप्रणालिकयाधो भूभागे पतति । तत्र विष्कम्भाद्यैः सीतापातसमानाः कुण्डद्वीपाद्रिगेहादयः स्युः । अशीतियोजनविस्तारा, चतुः शतयोजन दीर्घा, द्विशतयोजनैः शैलं मुक्त्वा जिनार्चां प्रवहन्ती सीतोदा नदी कुण्डस्योत्तर द्वारेण निर्गत्य देवकुरुनामोत्तमभोगभूमिक्षेत्रमध्येन गत्वा मेरुसमीपे गजदन्ताचलं भित्त्वा प्रदक्षिणेन क्रोशद्वयेन मेरुं विमुच्य पश्चिम भद्रशाल वनस्य मध्येनापरविदेहान्तर्भागेनैत्य सीतानिभ, व्यासावगाहा, व्यासाद्यैः सीताप्रवेशपूर्वाब्धिद्वारसमपश्चिमद्वारेणापराम्बुधिं गता ।

रुक्मिपर्वतस्थमहापुण्डरीकह्रदस्य दक्षिणद्वारेण निर्गत्य नारी सरित् शैलतटप्रणाल्या द्विशतयोजनोत्सेधाधोभूस्थ कुण्डमध्ये पतित्वा तद्दक्षिण द्वारेण निर्गत्य रम्यकक्षेत्रमध्ये गत्वा तत्रस्थ नाभिगिरिं क्रोशद्वयेन विहाय तस्यैवार्धप्रदक्षिणां कृत्वा पूर्वसमुद्रं प्रविष्टा ।

नीलपर्वतस्थकेसरीह्रदस्योत्तरद्वारेण नरकान्तानदी निर्गत्याद्रि तटमागत्य तत्प्रणालिकया चतुः शतयोजनोच्छ्रिताधोधरातले पतित्वा तत् कुण्डद्वारेण चलित्वा रम्यकक्षेत्रमध्य भूतलमभ्येत्य तत्रस्थं नाभिगिरिं योजनार्धेन त्यक्त्वा तस्यार्ध प्रदक्षिणां विधाय पश्चिमार्णवं गता अस्मिन् रम्यकाख्य मध्यमभोगभूमिक्षेत्रे ह्रदद्वयनिर्गमद्वार व्यासोन्नति नद्यादि द्वि नदी व्यासावगाहप्रणालीद्वयविस्तारादिपर्वतनद्यन्तरधाराविस्तारकुण्डद्वीपाचलगृहादिपूर्वापराब्धिद्वारव्यासोच्छ्रित्यादि सरिदन्तविष्कम्भादयोऽखिलाः योजनाद्यैः हरिक्षेत्र समाना मंतव्याः ।

शिखरिस्थपुण्डरीकह्रदस्यदक्षिणद्वारेण निर्गत्य स्वर्णकूलाख्यानदी पर्वतान्त प्रणालिकया

शतयोजनदीर्घधारा कुण्डे निपत्य तद्दक्षिणद्वारेण चलित्वा हैरण्यवतक्षेत्र मध्ये गत्वा तत्रस्थ नाभिगिरिं गव्यूतिद्वयेन मुक्त्वा तस्यार्ध प्रदक्षिणां कृत्वा पूर्वसमुद्रं गता।

रुक्मिशैलस्थित महापुण्डरीक ह्रदस्योत्तर द्वारेण निर्गत्य रूप्यकूलाह्वया सरित् द्विशतयोजनोत्सेधा गिरिः प्रणाल्या कुण्डेऽवतीर्य-तदुत्तर द्वारेण निर्गत्य हैरण्यवताख्यजघन्यभोगभूमिक्षेत्रमध्ये गत्वा तत्रस्थ नाभिगिरिं योजनार्धेन विहाय तस्यार्धप्रदक्षिणां विधाय पश्चिमाब्धिं प्रविष्टा। अस्मिन् हैरण्यवतक्षेत्रे प्रागुक्ता द्वहनदीनिर्गमद्वाराद्याः सरित्प्रवेशाब्धिद्वारान्ताः सर्वे व्यासादिभिः हैमवतक्षेत्र-सादृश्या ज्ञातव्याः।

शिखरिशैलस्थपुण्डरीकह्रदस्य पूर्वद्वारेण निर्गत्य पञ्चशतयोजनानि गत्वा योजनार्धेन रक्ताकूटं विहायदक्षिणाभिमुखीभूय किञ्चिदधिकार्धक्रोशाग्रपञ्चशतयोजनानि गत्वाऽचल प्रणालिकया कुण्ड मध्ये पतित्वा तदुत्तर द्वारेण निर्गत्य विजयार्ध गुहा देहली तले प्रविश्योत्तरैरावत क्षेत्रार्धभूभागं गत्वा प्राग्मुखीभूय रक्तानदी स्वप्रवेशद्वारेण पूर्व समुद्रं गता।

तस्यैव पुण्डरीकद्रहस्य पश्चिमद्वारेण निर्गत्य रक्तोदा सरित् पञ्चशतयोजनानि गत्वा क्रोश द्वयेन रक्तोदा कूटं त्यक्त्वा गिरेस्तटमागत्य तत्प्रणाल्याधोभूस्थकुण्डे निपत्य तदुत्तरद्वारेण चलित्वा विजयार्ध गुहाद्वार देहलीतले प्रविश्योत्तरैरावतार्धभूतलं गत्वा पश्चिमाभिमुखी भूयापर सागरं प्रविष्टा। अनयोर्नद्योर्ह्रद निर्गमद्वारव्यासादिप्रणालीविस्तरादिनदीपर्वतान्तरधारोच्छितिविस्तृतिकुण्ड द्वीपाद्रि गुहादिसमुद्र प्रवेशद्वार विष्कम्भादयः समस्ताः गङ्गासिन्धुनदी समानाः ज्ञातव्या।

सिन्धु नदी का सविस्तार वर्णनः—

पद्मसरोवर की पश्चिम दिशा में दो कोस नींव वाला, ६¼ योजन चौड़ा और ९ योजन १½ कोस ऊँचा जिनबिम्ब एवं दिक्कन्याओं के आवासों (भवनों) से अलंकृत एक तोरणद्वार है। अर्ध कोस गहरी और ६¼ योजन चौड़ी सिन्धुनदी उस तोरण द्वार से निकल कर हिमवान् पर्वत के ऊपर पश्चिम दिशा में अर्थात् सिन्धु कूट के सम्मुख सीधी ५०० योजन जाकर सिन्धु कूट को दो कोस (½ यो०) दूर से ही छोड़ती हुई दक्षिणाभिमुख होती है, और साधिक अर्ध कोस से अधिक ५२३ योजन आगे जाकर हिमवान् पर्वत के तट पर स्थित ६¼ योजन चौड़ी, दो कोस लम्बी और दो कोस मोटी वज्रमय प्रणाली से (पर्वत के तट से) भरत भूमि पर गिरती है। वहाँ ६२½ योजन चौड़ा और दश योजन गहरा, रत्नवेदी से वेष्टित तथा तोरणद्वार आदि से अलंकृत एक शाश्वत कुण्ड है। उस कुण्ड के मध्य में जल से दो कोस ऊँचा और आठ योजन चौड़ा एक सजल नाम का द्वीप (टापू) है। उस द्वीप के मध्य में दश योजन ऊँचा, मूल में चार योजन चौड़ा, मध्य में दो योजन और शिखर पर

एक योजन चौड़ा वज्रमय एक पर्वत है। उस पर्वत के शिखर पर एक कोस ऊँचा, भूतलपर १$\frac{१}{२}$ कोस लम्बा, मध्य में एक कोस लम्बा और शिखर पर अर्धकोस लम्बा गृह है। इस गृह (सिन्धुकूट) का अभ्यन्तर व्यास २५० धनुष है। इसके द्वार अर्थात् दोनों किवाड़ ४० धनुष चौड़े और ८० धनुष ऊँचे हैं। यह सिन्धु देवी का गृह चार गोपुर द्वारों से युक्त और वेदिका एवं वनखण्ड आदि से वेष्टित है। इस महल के अग्रभाग पर पद्मकर्णिकास्थ सिंहासन जिनबिम्ब से अलंकृत है। दश योजन चौड़ी और (१००) सौ योजन ऊँची सिन्धुनदी की यह जलधारा हिमवान् पर्वत को छोड़ कर अभिषेक की धारा के समान हिमवान् पर्वत से पच्चीस योजन दूरी पर भवन के अग्र भाग पर स्थित जिनदेव के शरीर पर गिरती है। इसके बाद उस कुण्ड के दक्षिण द्वार से निकलकर [दक्षिण की ओर बहती हुई] विजयार्ध की तिमिश्रगुफा के द्वार की देहली के नीचे प्रवेश करती हुई आठ योजन विस्तृत (सिन्धुनदी) अर्धदक्षिणभरतक्षेत्र की भूमि पर आकर पश्चिमाभिमुख होती हुई ६२$\frac{१}{२}$ योजन चौड़ी और पाँच कोस गहरी वह सिन्धुनदी ६२$\frac{१}{२}$ योजन चौड़े, ९३ योजन ३ कोस ऊँचे तोरणस्थ जिनबिम्ब और दिक्कुमारियों के भवनों से अलंकृत, तथा प्रभास देव है अधिपति जिसका ऐसे प्रभास द्वार से पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट हो जाती है।

रोहित् नदी का विवेचन:—

महापद्म सरोवर की दक्षिण दिशा में १२$\frac{१}{२}$ योजन चौड़ा, १८ योजन ३ कोश ऊँचा, दो कोस नींव वाला, जिनबिम्ब एवं दिक्कन्याओं के भवनों से विभूषित तथा तोरण सहित वज्रमय एक द्वार है। १२$\frac{१}{२}$ योजन चौड़ी और एक कोश गहरी रोहित् नदी उस द्वार से निकल कर द्रह व्यास से कम कुलाचल के अर्ध व्यास प्रमाण अर्थात् (४२१०$\frac{१०}{१९}$ — १००० = ३२१०$\frac{१०}{१९}$ ÷ २) = १६०५$\frac{५}{१९}$ योजन भूतलपर (महाहिमवान् पर्वत पर) आगे आकर कुलाचल के तट से १२$\frac{१}{२}$ योजन चौड़ी, एक योजन मोटी और एक योजन लम्बी गोमुखाकृति वज्रमय प्रणाली से नीचे भूतल पर (हैमवत क्षेत्र में) गिरती है। जहाँ यह रोहित् नदी गिरती है वहाँ १२५ योजन चौड़ा और २० योजन गहरा, मणिमय वेदिका, द्वार एवं तोरणादि से मण्डित एक कुण्ड है। उस कुण्ड के मध्य में जलमें आकाश में [एक योजन ऊँचा और] सोलह योजन चौड़ा द्वीप है। उस द्वीप के मध्य में बीस योजन ऊँचा मूलमें आठ योजन चौड़ा, मध्य में चार योजन और शिखर पर दो योजन चौड़ा वज्रमय एक पर्वत है। उस पर्वत के शिखर पर दो कोस ऊँचा, भूतल पर तीन कोस लम्बा, मध्य में दो कोस लम्बा और मस्तक पर एक कोस लम्बा, ५०० धनुष चौड़ा, कमलकर्णिका के ऊपर स्थित सिंहासनस्थ जिन प्रतिमा आदि से अलंकृत, ८० धनुष चौड़े और १६० धनुष ऊँचे द्वार से युक्त, चार गोपुर, वन एवं वेदिका आदि से विभूषित एक दिव्य महल (रोहित् कूट) है। बीस योजन चौड़ी वह रोहित् नदी २०० योजन ऊँची जलधारा के साथ महाहिमवान् पर्वत को छोड़ कर ५० योजन दूरी पर जिनेन्द्र

भगवान् का अभिषेक करने की इच्छा से ही मानो भवन के अग्र भाग पर स्थित जिनेन्द्र प्रतिमा के शरीर पर गिरती है। इसके बाद उस कुण्ड के दक्षिणद्वार से निकलकर हैमवत क्षेत्र (जघन्य भोगभूमि) को प्राप्तकर वहाँ स्थित (श्रद्धावान्) नाभिगिरि को अर्धयोजन दूर से ही छोड़ती हुई तथा उसी नाभिगिरि की अर्धप्रदक्षिणा करती हुई अर्थात् पूर्वाभिमुख होकर पश्चात् फिर दक्षिणाभिमुख होती हुई १२५ योजन चौड़ी और २½ योजन गहरी वह रोहित् नदी १२५ योजन चौड़े, १८७½ योजन ऊँचे, ½ (अर्ध) योजन मोटे, दो कोस अवगाह (नींव) वाले, तोरणस्थ अर्हन्त प्रतिमाओं एवं दिक्कन्याओं के आवासों से अलंकृत रोहित् देव है अधिपति जहां का ऐसे रोहित् द्वार से पूर्व समुद्र में प्रविष्ट करती है।

रोहितास्या नदी का वर्णन:—

हिमवान्पर्वतस्थ पद्मसरोवर की उत्तर दिशा में एक द्वार है, जिसके व्यास आदि का प्रमाण महापद्मसरोवर की दक्षिणदिशा में स्थित द्वार के समान है। रोहित् नदी के व्यास और अवगाह के समान जिसका व्यास और अवगाह है ऐसी रोहितास्या नदी उस पद्मसरोवर के उत्तर द्वार से निकल कर उत्तराभिमुख होती हुई द्रह के व्यास से हीन हिमवान् पर्वत के अर्धव्यास प्रमाण अर्थात् (१०५२$\frac{१२}{१९}$—५००=५५२$\frac{१२}{१९}$÷२) =२७६$\frac{६}{१९}$ योजन आगे तट पर आकर पहिले कही हुई रोहित् की प्रणालिका के व्यासादि के सदृश प्रणालिका से बीस योजन चौड़ी और १०० योजन ऊँची रोहितास्या नदी आगमोक्त योजनों द्वारा पर्वत को छोड़ती हुई हैमवत क्षेत्र के भूतल पर गिरती है। जहां यह नदी गिरती है वहां स्थित कुण्ड, द्वीप, पर्वत और गृह आदि के व्यास आदि का प्रमाण रोहित् नदी सम्बन्धी कुण्ड आदि के व्यासादि के समान जानना चाहिये। उस कुण्ड के उत्तर द्वार से निकलकर हैमवत क्षेत्र के मध्य में स्थित (श्रद्धावान्) नाभिगिरि को अर्धयोजन दूर से छोड़कर उसकी अर्ध प्रदक्षिणा करती हुई अर्थात् पश्चिम दिशा में जाकर पश्चात् उत्तराभिमुख होती हुई रोहित् नदी के समान व्यास और अवगाह से युक्त रोहितास्या नदी पूर्वोक्त पूर्वद्वार के व्यासादि के सदृश व्यास वाले पश्चिमद्वार से पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट होती है।

हरित् नदी का सविस्तार वर्णन:—

निषध पर्वत के ऊपर स्थित तिगिञ्छ नाम के सरोवर की दक्षिण दिशा में २५ योजन चौड़ा, ३७½ योजन ऊँचा, दो कोस गहरा (नींव), तोरणस्थ जिनप्रतिमा और दिक्कन्याओं के आवास (भवनों) आदि से मण्डित एक वज्रमय द्वार है। २५ योजन चौड़ी और दो कोस गहरी हरित् नदी उस द्वार से निकल कर सरोवर के व्यास से हीन पर्वत के अर्धव्यास प्रमाण अर्थात् (१६८४२$\frac{२}{१९}$—२०००=१४८४२$\frac{२}{१९}$÷२) =७४२१$\frac{१}{१९}$ योजन आगे जाकर निषधकुलाचल के तट से २५ योजन चौड़ी, दो योजन मोटी और दो योजन लम्बी गोमुखप्रणालिका द्वारा ४० योजन चौड़ी और ४००

योजन ऊँची धारा वाली वह हरित् नदी निषध कुलाचल को छोड़कर १०० योजन दूरी पर (हरिक्षेत्र–मध्यभोगभूमि) की पृथ्वी पर गिरती है। जहां यह नदी गिरती है वहां २५० योजन चौड़ा और ४० योजन गहरा, रत्नों की वेदी, रत्नों का द्वार और रत्नमय तोरण आदि से अलंकृत एक कुण्ड है। उस कुण्ड के मध्य में जलसे आकाश में [दो योजन ऊँचा और] ३२ योजन चौड़ा एक द्वीप (टापू) है। उस द्वीप के मध्य में ४० योजन ऊँचा, मूल में १६ योजन चौड़ा, मध्य में आठ योजन चौड़ा और शिखर पर ४ योजन चौड़ा एक पर्वत है। उस पर्वत के शिखर पर एक योजन ऊँचा, भूतलपर १½ योजन लम्बा, मध्य में एक योजन और अग्रभाग पर अर्ध योजन लम्बा, अर्ध कोस अभ्यन्तर व्यास, १६० धनुष चौड़े और ३२० धनुष ऊँचे द्वार से युक्त, चार गोपुर, वन एवं वेदिका से सुशोभित तथा पद्मकर्णिका पर स्थित सिंहासनस्थ अर्हन्त प्रतिमाओं एवं दिक्कन्याओं के भवनों आदि से अलंकृत एक दिव्य भवन है। उस भवन के अग्रभाग पर स्थित जिनबिम्ब के शरीर पर से बहती हुई वह हरित् नदी कुण्ड के दक्षिणद्वार से निकल कर तथा हरिक्षेत्र (मध्यम भोगभूमि) के मध्य भूभाग में आकर वहां स्थित (विजयवान्) नाभिगिरि को अर्धयोजन दूर से ही छोड़कर उसकी अर्धप्रदक्षिणा करती हुई अर्थात् पूर्वाभिमुख जाकर पश्चात् दक्षिणाभिमुख होती हुई २५० योजन चौड़ी और पांच योजन गहरी वह नदी अपने प्रवेशद्वारसे पूर्वसमुद्र में प्रविष्ट करती है। उस हरित् नदी का समुद्र प्रवेश द्वार २५० योजन चौड़ा, ३७५ योजन ऊंचा, दो कोस गहरा (नींव), अर्ध योजन (दो कोस) मोटा तथा अर्हन्त प्रतिमाओं एवं दिक्कन्याओं के भवनों आदि से अलंकृत तोरणों से युक्त जानना चाहिये।

हरिकान्ता नदी का वर्णनः—

महाहिमवान्पर्वतस्थ महापद्म सरोवर की उत्तर दिशा में पूर्व कहे हुये तिगिञ्छ सरोवर के दक्षिणद्वार के व्यास आदि के समान प्रमाण वाला एक द्वार है। हरित् नदी समान व्यास और अवगाह से युक्त हरिकान्ता नदी उस उत्तर द्वार से निकल कर सरोवर के विस्तार से हीन पर्वत के अर्ध व्यास प्रमाण अर्थात् (१०५२$\frac{१२}{१९}$—५००=५५२$\frac{१२}{१९}$÷२) =२७६$\frac{६}{१९}$ योजन प्रमाण — हिमवान् पर्वत के तट पर्यन्त उत्तर दिशा में जाकर हरित् नदी की प्रणालिका के व्यास आदि के प्रमाण समान प्रणालिका से ४० योजन चौड़ी और २०० योजन ऊंची हरिकान्ता नदी श्रुत (शास्त्र) में कहे हुये योजनों प्रमाण अर्थात् १०० योजनों के द्वारा पर्वत को अन्तरित करती हुई पर्वत के मस्तक से हरिक्षेत्र के भूतल पर गिरती है। जहां यह नदी गिरती है वहां हरित् नदी के पतन योग्य कुण्ड आदि के विस्तार आदि के समान कुण्ड, द्वीप, पर्वत और गृह आदि हैं। इस प्रकार उस कुण्ड के उत्तर द्वार से निकलकर हरिक्षेत्र–मध्यम भोगभूमि के मध्यभाग पर्यन्त जाकर वहां स्थित (विजटा(विजय) वान्) नाभिगिरि को अर्धयोजन दूर से छोड़ती हुई उसकी अर्धप्रदक्षिणा करके अर्थात् पश्चिमाभिमुख होकर पश्चात् उत्तर दिशा में जाती हुई हरित् नदी के समान विस्तार और अवगाह के प्रमाण वाली

हरिकान्ता नदी पूर्व कहे हुये पूर्व समुद्र के द्वार के व्यासादिक के प्रमाण के समान प्रमाण वाले अपने प्रवेश द्वार से पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट कर जाती है।

सीता नदी का वर्णन:—

नीलपर्वत पर स्थित केसरी सरोवर की दक्षिण दिशा में ५० योजन चौड़ा और ७५ योजन ऊँचा तथा तोरणस्थ अर्हन्त प्रतिमा और दिक् कन्याओं के भवनों से मण्डित एक वज्रमय द्वार है। ५० योजन चौड़ी और एक योजन गहरी सीता नदी उस द्वार से निकलकर पर्वत के शिखर पर द्रह व्यास से हीन पर्वत के अर्ध व्यास प्रमाण अर्थात् ($१६८४२\frac{२}{१९}$ — २००० = $१४८४२\frac{२}{१९} \div २$) = $७४२१\frac{१}{१९}$ योजन आगे कुलाचल के तट पर्यन्त आती है। उस पर्वत पर ५० योजन चौड़ी, चार योजन लम्बी और चार योजन मोटी एक गोमुखाकार प्रणाली स्थित है। पर्वत के नीचे जमीन पर ५० योजन चौड़ा, ८० योजन गहरा तथा रत्नवेदी, रत्नद्वार एवं रत्नों के तोरणों आदि से मण्डित एक कुण्ड है। उस कुण्ड के मध्य में जल से [चार योजन ऊंचा और] ६४ योजन चौड़ा द्वीप है। उस द्वीप के मध्य-भाग में ८० योजन ऊंचा, मूल में ३२ योजन चौड़ा, मध्य में १६ योजन और शिखर पर आठ योजन चौड़ा एक पर्वत है। उस पर्वत के अग्र भागपर दो योजन ऊंचा, पृथ्वीतल पर तीन योजन लम्बा, मध्य में दो योजन लम्बा और शिखर पर एक योजन लम्बा तथा एक कोस चौड़े अभ्यन्तर व्यास वाला एक दिव्य गृह है। जिसका द्वार ३२० योजन चौड़ा और ६४० योजन ऊंचा है, तथा जो चार गोपुर, वेदी एवं वन आदि से अलंकृत है। उस गृह के ऊर्ध्वभाग में पद्मकर्णिका पर सिंहासन स्थित है जिसमें शाश्वत जिनप्रतिमा विद्यमान रहती है। ८० योजन चौड़ी और ४०० योजन ऊंची वह सीता नदी जिनबिम्ब के मस्तक पर से बहती हुई २०० योजनों द्वारा पर्वत को अन्तरित करती है। अर्थात् पर्वत के तट पर स्थित उपर्युक्त प्रणालिका द्वारा नील पर्वत से २०० योजन दूरी पर नीचे गिरती है। इसके बाद सीता कुण्ड के दक्षिण द्वार से निकल कर दक्षिणाभिमुख होती हुई उत्तरकुरु है नाम जिसका ऐसी उत्तमभोगभूमि के मध्य से आकर मेरु पर्वत के समीप माल्यवान गजदन्त पर्वत को भेद कर अर्थात् माल्यवान् गजदन्त पर्वत की दक्षिण दिशा सम्बन्धी गुफा में प्रवेश कर प्रदक्षिणा रूप से सुमेरु पर्वत को अर्ध योजन दूर से ही छोड़कर पूर्व भद्रशालवन एवं पूर्व विदेह क्षेत्र के मध्य से बहती हुई ५०० योजन चौड़ी और १० योजन गहरी सीता नदी अपने प्रवेश द्वार से पूर्व समुद्र में प्रविष्ट होती है। वह समुद्र प्रवेश द्वार ५०० योजन चौड़ा, ७५० योजन ऊंचा, दो कोस गहरा (नींव) और अर्ध-योजन मोटा तथा तोरणस्थ अर्हन्त बिम्ब एवं दिक्कन्याओं के आवासों से मण्डित जानना चाहिये।

सीतोदा नदी का विवेचन:—

निषधपर्वतस्थ तिगिञ्छ सरोवर के उत्तरद्वार का व्यास आदि सीता निर्गम द्वार के व्यासादि के समान है। सीता सदृश व्यास और अवगाह वाली सीतोदा नदी तिगिञ्छ सरोवर के उस उत्तर द्वार

से निकल कर तथा पर्वत के तट पर पहुँच कर नील पर्वतस्थ प्रणाली के व्यास आदि के समान प्रमाणवाली प्रणालिका द्वारा नीचे पृथ्वी तल पर (विदेह क्षेत्रस्थ सीतोदा कुण्ड में) गिरती है। जहाँ सीतोदा गिरती है वहाँ सीतापतन कुण्ड के व्यासादि के सदृश व्यास आदि से युक्त कुण्ड, द्वीप, पर्वत, और गृह आदि हैं। ८० योजन चौड़ी और ४०० योजन ऊँची धारा वाली सीतोदा नदी २०० योजनों द्वारा पर्वत को अन्तरित करती हुई जिनेन्द्र भगवान के शरीर पर से बहती है। पश्चात् सीतोदा कुण्ड के उत्तर द्वार से निकल कर देवकुरु नाम वाली उत्तम भोगभूमि क्षेत्र के मध्य से जाकर मेरु पर्वत के समीप (विद्युतप्रभ) गजदन्त पर्वत को भेदकर अर्थात् विद्युतप्रभ गजदन्त पर्वत की उत्तर दिशा सम्बन्धी गुफा में प्रवेश कर प्रदक्षिणा रूप से सुमेरु पर्वत को दो कोस (अर्ध यो०) दूर से ही छोड़ कर पश्चिमभद्रशाल वन एवं पश्चिम विदेह क्षेत्र के मध्य से बहती हुई सीता के समान व्यास और अवगाह से युक्त सीतोदा नदी अपने पश्चिम प्रवेश द्वार से पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। इसके समुद्र द्वार के व्यास आदि का प्रमाण पूर्व समुद्र के सीता प्रवेशद्वार के व्यास आदि के सदृश ही है।

नारी नदी का वर्णन:—

नारी नदी रुक्मी पर्वतस्थ महापुण्डरीक सरोवर के दक्षिणद्वार से निकल कर १६०५$\frac{5}{19}$ योजन आगे बहती हुई रुक्मी पर्वत के तट भाग पर स्थित प्रणालिका द्वारा २०० योजन ऊपर से नीचे (भूमि पर) स्थित नारी कुण्ड में गिरती है। पश्चात् कुण्ड के दक्षिण द्वार से निकल कर रम्यक क्षेत्र के मध्यभाग तक बहती हुई वहाँ स्थित (पद्मवान्) नाभिगिरि को अर्ध योजन दूर से ही छोड़कर उसी नाभिगिरि की अर्धप्रदक्षिणा करती हुई पूर्व समुद्र में प्रविष्ट हो जाती है।

नरकान्ता नदी का विवेचन:—

नरकान्ता नदी नीलपर्वतस्थ केसरी सरोवर के उत्तर द्वार से निकल कर नील पर्वत के तट पर्यन्त आकर उसकी प्रणालिका द्वारा ४०० योजन ऊँचे से रम्यकक्षेत्र में स्थित नरकान्त कुण्ड में गिरती है। पश्चात् उस कुण्ड के उत्तर द्वार से निकल कर रम्यकक्षेत्र के मध्यभाग तक आकर वहाँ स्थित (पद्मवान्) नाभिगिरि को अर्ध योजन दूर से ही छोड़कर उसकी अर्ध प्रदक्षिणा करती हुई पश्चिम समुद्र को प्राप्त हो जाती है।

इस रम्यक क्षेत्र नाम वाली मध्यमभोगभूमि क्षेत्र सम्बन्धी सरोवर के दोनों निर्गम द्वारों का व्यास एवं उदय, नारी–नरकान्ता दोनों नदियों का निर्गम व्यास एवं अवगाहना, दोनों प्रणालियों का व्यास आदि, पर्वत और नदी पतन का अन्तर, धारा का विस्तार, कुण्ड, द्वीप, पर्वत और गृह आदि तथा पूर्वसमुद्र और पश्चिम समुद्र के प्रवेश द्वारों के व्यास एवं उदय आदि तथा समुद्र प्रवेश के समय नदियों के व्यास आदि का समस्त प्रमाण हरिक्षेत्र के समान जानना चाहिये।

सुवर्णकूला नदी का वर्णन :–

सुवर्णकूला नाम की नदी शिखरिन् पर्वतस्थ पुण्डरीक सरोवर के दक्षिण द्वार से निकल कर पर्वत के तट पर स्थित प्रणालिका द्वारा १०० योजन मोटी धारा से सुवर्णकुण्ड में गिरती है, पश्चात् उस कुण्ड के दक्षिणद्वार से निकल कर हैरण्यवत् क्षेत्र के मध्य में जाकर वहाँ स्थित (गन्धवान्) नाभिगिरि को अर्धयोजन दूर से ही छोड़ती हुई उसकी अर्ध प्रदक्षिणा करके पूर्वसमुद्र में प्रविष्ट हो जाती है।

रूप्यकूला नदी :–

रूप्यकूला नाम की नदी रुक्मि पर्वतस्थ महापुण्डरीक सरोवर के उत्तरद्वार से निकलकर २०० योजन ऊँची पर्वत के तट पर स्थित प्रणालिका द्वारा रूप्य कुण्ड में गिरती है। पश्चात् उस कुण्ड के उत्तर द्वार से निकल कर हैरण्यवत नाम की जघन्य भोगभूमि क्षेत्र के मध्य में जाकर वहां स्थित (विजयार्ध) नाभिगिरि को अर्धयोजन दूर से ही छोड़कर उसकी अर्धप्रदक्षिणा करती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। इस हैरण्यवत् क्षेत्र में पूर्व में कहे हुये सरोवर के नदी निर्गमद्वार को आदि लेकर समुद्र के नदी प्रवेशद्वार पर्यन्त समस्त व्यास आदि हैमवत् क्षेत्र के समान जानना चाहिये।

रक्ता नदी :–

शिखरिन् पर्वतस्थ पुण्डरीक सरोवर क पूर्वद्वार से निकल कर शिखरी पर्वत पर पूर्वाभिमुख ५०० योजन जाकर रक्ता कूट को अर्ध योजन दूर से ही छोड़कर दक्षिण दिशा में उसी पर्वत पर अर्धकोस अधिक ५०० योजन आगे जाकर पर्वत के तट पर स्थित प्रणालिका द्वारा रक्ता कुण्ड में गिरती है। पश्चात् उस कुण्ड के दक्षिण द्वार से निकल कर विजयार्ध के गुफा द्वार के देहली के नीचे प्रवेश करती हुई दक्षिण ऐरावत क्षेत्र के अर्धभाग पर्यन्त दक्षिण में ही जाती है, पश्चात् पूर्व की ओर मुड़ कर अपने प्रवेश द्वार से पूर्व समुद्र में प्रवेश कर जाती है।

रक्तोदा नदी :–

रक्तोदा नदी उसी शिखरिन् पर्वतस्थ पुण्डरीक सरोवर के पश्चिम द्वार से निकल कर उसी पर्वत पर पश्चिमाभिमुख ५०० योजन जाकर रक्तोदा कूट को अर्ध योजन दूर से ही छोड़ती हुई तट के ऊपर स्थित प्रणाली द्वारा भूमि पर स्थित रक्तोदा नामक कुण्ड में गिरती है। पश्चात् उस कुण्ड के उत्तर द्वार से निकल कर विजयार्ध के गुफा द्वार की देहली के नीचे प्रवेश करती हुई उत्तर ऐरावत क्षेत्र के मध्यभाग पर्यन्त उत्तराभिमुख ही जाती हुई पुनः पश्चिमाभिमुख होकर अपने प्रवेश द्वार से पश्चिम समुद्र में प्रवेश कर जाती है।

इन दोनों (रक्ता-रक्तोदा) नदियों के सरोवर के निर्गमद्वार का व्यास आदि, प्रणालियों का विस्तार आदि, नदी पतन कुण्ड से पर्वत तट का अन्तर, धारा की चौड़ाई एवं ऊँचाई, कुण्ड द्वीप, पर्वत और गृह आदि का तथा समुद्र प्रवेश द्वार आदि के विष्कम्भ आदि का समस्त प्रमाण पूर्वोक्त गङ्गा सिन्धु के सदृश ही जानना चाहिये।

उपर्युक्त चौदह महानदियों के निर्गमद्वार के व्यासादि से लेकर उनके समुद्र प्रवेशद्वार के व्यास आदि पर्यन्त समस्त प्रमाण निम्नाङ्कित तालिका द्वारा दर्शाया जा रहा है।

नदियों के निर्गम-प्रवेश आदि से सम्बन्धित

क्रमांक	नदियों के नाम	नदी निर्गम द्वारों की (योजनों में) गहराई	चौड़ाई	लंबाई	निर्गम स्थान पर नदियों की (योजनों में) गहराई	चौड़ाई	पर्वतस्थ प्रणालिकाओं की (योजनों में) मोटाई	लम्बाई	चौड़ाई	पतित नदियों के कुण्डों की (योजनों में) गहराई	चौड़ाई	कुण्डों के मध्य द्वीपों की (योजनों में) ऊँचाई	चौड़ाई	पर्वतों के ऊपर स्थित गंगा आदि देवियों के गृहों की (योजनों में) ऊँचाई	व्यास नीचे	मध्य	ऊपर	प्रमाणान्तर
१	गङ्गा-सिन्धु	½	६¼	९⅜	½	६¼	½	½	६¼	१०	६२½	½	८	१	१½	१	½	⅜ (७५० ध०)
२	रोहित्-रोहितास्या	१	१२½	१८¾	१	१२½	१	१	१२½	२०	१२५	१	१६	२	३	२	१	¾
३	हरित्-हरिकान्ता	२	२५	३७½	२	२५	२	२	२५	४०	२५०	२	३२	४	६	४	२	१½
४	सीता-सीतोदा	४	५०	७५	४	५०	४	४	५०	८०	५००	४	६४	८	१२	८	४	३
५	नारी-नरकान्ता	२	२५	३७½	२	२५	२	२	२५	४०	२५०	२	३२	४	६	४	२	१½
६	सुवर्ण० रूप्यकूला	१	१२½	१८¾	१	१२½	१	१	१२½	२०	१२५	१	१६	२	३	२	१	¾
७	रक्ता-रक्तोदा	½	६¼	९⅜	½	६¼	½	½	६¼	१०	६२½	½	८	१	१½	१	½	⅜

११ स्थानों के व्यास आदि की एकत्रित तालिका

गृह द्वारों की धनुषों में		पर्वतों से नीचे गिरते समय की धारा योजनों में		पर्वतों के तटों से भूस्थित कुण्डों का अन्तर योजनों में	समुद्र प्रवेश समय नदियों की योजनों में		समुद्र में नदियों के प्रवेश द्वार की योजनों में			
लम्बाई	चौड़ाई	चौड़ाई	ऊँचाई		चौड़ाई	गहराई	लम्बाई	चौड़ाई	मोटाई	नींव
८०	४०	१०	१००	२५	६२½	१¼	९३¾	६२½	½	½
१६०	८०	२०	२००	५०	१२५	२½	१८७½	१२५	½	½
३२०	१६०	४०	४००	१००	२५०	५	३७५	२५०	½	½
६४०	३२०	८०	८००	२००	५००	१०	७५०	५००	½	½
३२०	१६०	४०	४००	१००	२५०	५	३७५	२५०	½	½
१६०	८०	२०	२००	५०	१२५	२½	१८७½	१२५	½	½
८०	४०	१०	१००	२५	६२½	१¼	९३¾	६२½	½	½

अथ महानदीनां परिवारनदीसंख्या प्रोच्यते :—

गङ्गासिन्ध्वोः प्रत्येकं परिवार नद्यश्च चतुर्दशसहस्राणि भवन्ति। रोहित् रोहितास्ययोरष्टा-विंशतिसहस्राणि च। हरिद्धरिकान्तयोः पृथक् पृथक् परिवारनद्यः षट् पञ्चाशत्सहस्राणि भवेयुः।

सीतायाः परिवारनद्यश्चतुरशीतिसहस्राणि, तथासीतोदायाश्च। नारीनरकान्तयोः प्रत्येकं परिवारनद्यः षट्पञ्चाशत्सहस्राणि। स्वर्णरूप्यकूलयोरष्टाविंशति सहस्राणि। रक्तायाः परिवारनद्यः चतुर्दशसहस्राणि, रक्तोदायाश्च। पूर्वापर विदेहस्थ द्वादश विभङ्गानदी रहित चतुःषष्टि मूलनदीनां प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्दश चतुर्दश सहस्र परिवारनद्यो भवन्ति। सर्वा मेलिताः परिवार नद्योऽष्टलक्षषण्णवति-सहस्राणि भवन्ति। द्वादशविभङ्गानाम् एकां एकां नदीं प्रति अष्टाविंशति-अष्टाविंशति सहस्राणि परिवारनद्यो भवन्ति। सर्वाः परिवारनद्यः पिण्डीकृताः त्रिलक्ष षट् त्रिंशःसहस्राः। समस्त विदेहस्थ सीतादि सर्वनदीनां परिवारनद्यः चतुर्दशलक्षाणि। गङ्गादि षण्णां नदीनां एकत्रीकृताः सर्वाः परिवार-नद्यः एकलक्षषण्णवति सहस्राणि। नार्यादिशेषनदीनां चैकलक्ष षण्णवति सहस्राणि भवन्ति। चतुर्दश-गङ्गाद्यः, द्वादशविभङ्गानद्यः, चतुःषष्टि विदेहजा गङ्गादयः समस्तक्षेत्राणां नवनिम्नलनद्यः। एताः एकत्रपिण्डीकृताः समस्तानद्यः जम्बूद्वीपे सप्तदशलक्ष-द्विनवतिसहस्रनवति प्रमाः ज्ञातव्या। एतत्पञ्च-भिर्गुणिताः नरलोके सर्वा नद्यः ८९६०४५० भवन्ति॥

अब महानदियों के परिवार नदियों की संख्या कहते हैं :—

गङ्गा नदी की (पूर्व दिशा सम्बन्धी ढाई म्लेच्छ खण्डों से ग्रहण की हुई) १४००० परिवार नदियां और सिन्धुनदी की (पश्चिम ढाई म्लेच्छ खण्डों की) १४००० परिवार नदियां हैं। रोहित् नदी की (पूर्व जघन्यभोगभूमि सम्बन्धी) २८००० और रोहितास्या की (पश्चिम जघन्यभोगभूमि सम्बन्धी) २८००० परिवार नदियां हैं। हरित् नदी की (पूर्व मध्यम भोग भूमि सम्बन्धी) ५६००० परिवार नदियां और हरिकान्ता नदी की (पश्चिम मध्यम भोग भूमि सम्बन्धी) ५६००० परिवार नदियां हैं। सीता महानदी की (उत्तर कुरु अर्थात् पूर्व उत्तम भोग भूमि सम्बन्धी ८४००० और सीतोदा महानदी की (देवकुरु अर्थात् पश्चिम उत्तम भोग भूमि सम्बन्धी) ८४००० परिवार नदियां हैं। नारी नदी की ५६००० और नरकान्ता की ५६००० परिवार नदियां हैं। सुवर्णकूला की २८००० और रूप्यकूला की २८००० परिवार नदियां हैं। इसी प्रकार रक्ता नदी की १४००० हजार और रक्तोदा नदी की भी १४००० परिवार नदियां हैं।

पूर्व पश्चिम विदेह में १२ विभङ्गा नदियां और (३२ क्षेत्र सम्बन्धी) ६४ गङ्गा-सिन्धु नदियां हैं। इनमें से १२ विभङ्गा को छोड़कर ६४ गङ्गा-सिन्धु नदियों में प्रत्येक की परिवार नदियां चौदह-चौदह हजार हैं, तथा इन सब का एकत्रित योग कर लेते पर ६४ मूल नदियों की परिवार संख्या (१४००० × ६४) = ८९६००० अर्थात् आठ लाख ९६ हजार होती है। १२ विभङ्गा नदियों में से

प्रत्येक की अट्ठाईस-अट्ठाईस हजार परिवार नदियां हैं। इन सब का एकत्रित योग करने पर (२८०००×१२)=३३६००० अर्थात् तीन लाख ३६ हजार होता है। इस प्रकार पूर्वा पर विदेहस्थ सीता-सीतोदा की समस्त परिवार नदियां (८४०००+८४०००+८९६०००+३३६०००)= १४००००० प्रमाण होतीं हैं। अर्थात् सीता नदी की उत्तर कुरु की ८४०००+(६ विभङ्गा की १६८०००+(पूर्व विदेह सम्बन्धी ३२ गंगासिन्धु की) ४४८०००+६ विभङ्गा+३२ गंगा+सिन्ध= ७०००३८ परिवार नदियां सीता नदी की हैं और इसी प्रकार की ७०००३८ सहायक सीतोदा की हैं।

जम्बूद्वीपस्थ ९० प्रमुख नदियों का विवरण निम्नप्रकार है—

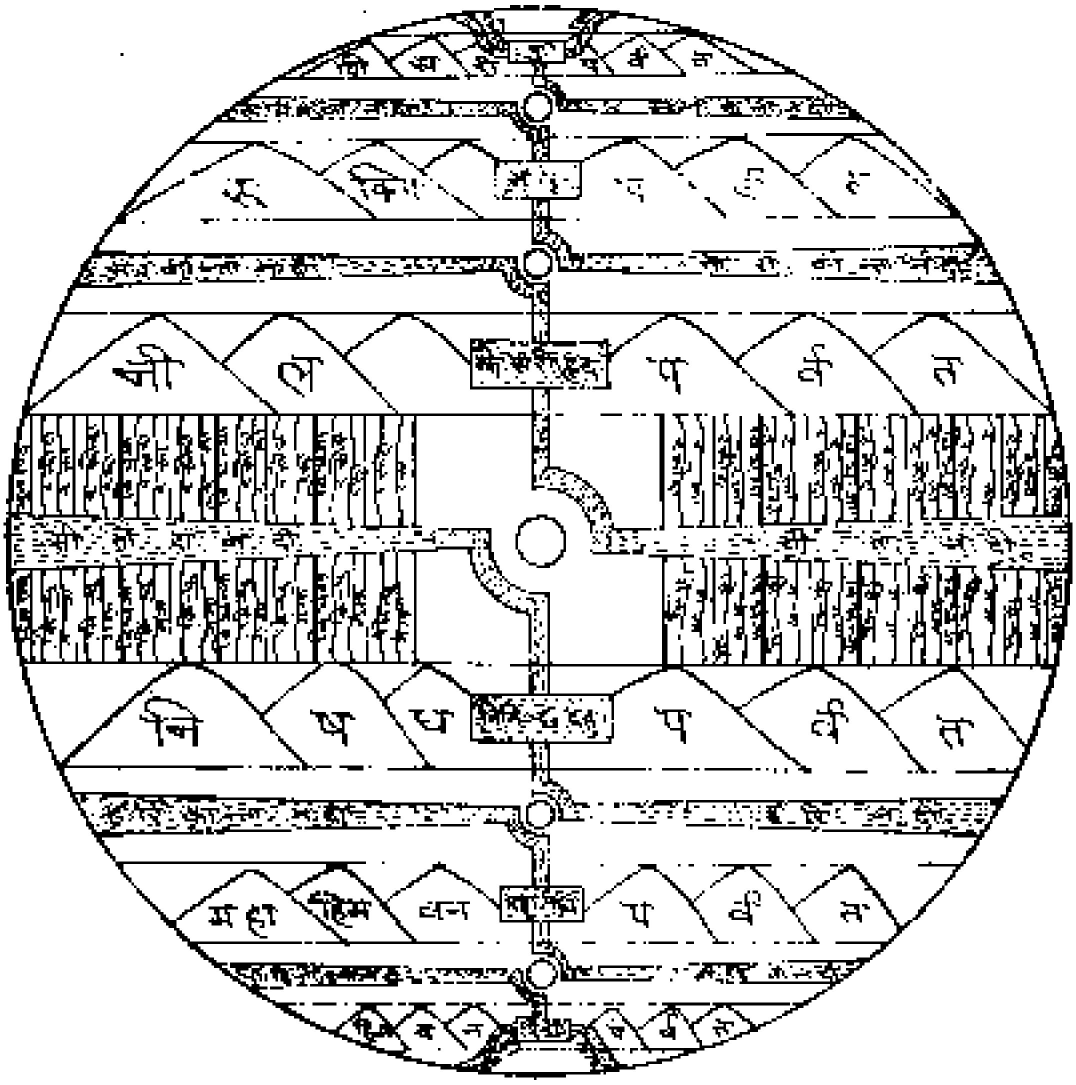

इनमें से (३८+३८)=७६ तो मूल नदियां हैं और १४००००० सहायक हैं। गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित् और हरिकान्ता इन ६ मूल नदियों की परिवार नदियों का एकत्रित योग (१४०००+१४०००+२८०००+२८०००+५६०००+५६०००)=१९६००० अर्थात् एक लाख ९६ हजार होता है। इसी प्रकार नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा इन ६ मूल नदियों के परिवार का योग भी एक लाख ९६ हजार होता है। जम्बूद्वीप के समस्त क्षेत्रों

की मूल नदियां ९० हैं। यथा—गंगादि महानदियां १४+विभंगा नदियां १२+ विदेहजगंगादि ६४=९०।

जम्बूद्वीपस्थ उपर्युक्त समस्त मूल और परिवार नदियों का एकत्रित योग करने पर १७९२०९० प्राप्त होता है। इसका विवरण निम्न प्रकार है—

जम्बूद्वीपस्थ भरत, हैमवत और हरि क्षेत्र सम्बन्धी गंगादि ६ नदियों का परिवार १९६००० है। विदेहज सीता-सीतोदा का परिवार १६८०००, १२ विभंगा का ३३६०००, विदेह के ३२ क्षेत्र सम्बन्धी ३२ गंगासिन्धु और ३२ रक्ता रक्तोदा इस प्रकार ६४ की ८९६००० परिवार नदियां तथा रम्यक, हैरण्यवत् और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी नारी नरकान्ता आदि ६ की परिवार नदियाँ १९६००० है। इन सब का और मूल नदियों का समस्त योग (१९६०००+१६८०००+३३६०००+८९६०००+१९६०००+९०)=१७९२०९० होता है। अढ़ाई द्वीप में पांच मेरु पर्वत हैं, इसलिये इस योग को ५ से गुणित करने पर ढाई द्वीपस्थ समस्त नदियों का (१७९२०९०×५)=८९६०४५० प्रमाण प्राप्त होता है।

समस्त नदियों की वेदिका आदि का वर्णन :—

सर्वासां सरितो सन्ति रत्नसोपानपंक्तयः।
उभयोः पार्श्वयोर्नानाद्रुमवल्लीवनानि च ॥५६॥
जिनेन्द्रप्रतिमारत्नद्वारतोरण भूषिताः।
द्विक्रोशप्रोन्नता दिव्या क्रोशांह्रि व्यास वेदिका ॥५७॥

अर्थ :—समस्त नदियों में पंक्तिबद्ध रत्नों की सीढ़ियां हैं तथा सरिताओं के दोनों पार्श्वभागों में नाना प्रकार के वृक्षों एवं वल्लियों से युक्त वन हैं। इनके तोरणद्वार रत्नमय प्रतिमाओं से विभूषित हैं, और इनके दोनों पार्श्वभागों में दो कोस ऊँची और सवा कोस चौड़ी वेदिकाएँ हैं ॥५६—५७॥

अब विजयार्ध पर्वत की स्थिति और उसके व्यास आदि का निर्धारण सात श्लोकों द्वारा करते हैं :—

अथास्ति विजयार्धाद्रिर्मध्येऽस्य भरतस्य च।
श्वेतरत्नमयस्तुङ्गः पञ्चविंशतियोजनैः ॥५८॥

पञ्चाशद्योजनैरेव विस्तृतो भूतले ततः।
उभयोः पार्श्वयोर्मुक्त्वा दशाद्य योजनानि च ॥५९॥

दशयोजन विस्तीर्णे दक्षिणोत्तरसंज्ञिके ।
पूर्वापराब्धि संलग्ने द्वे श्रेण्यौ भवतः शुभे ।।६०।।
पूर्वापराब्धिदीर्घोऽयं विद्येशपुर सौधभृत् ।
त्रिंशद्योजनविस्तीर्णो ह्यत्र स्यात् सुन्दराकृतिः ।।६१।।
दशयोजन संख्यं वां त्यक्त्वा ततोऽस्यद्वि पार्श्वयोः ।
प्रागुक्तायाम विस्तारे श्रेण्यौद्वेस्तोऽपरे शुभे ।।६२।।
दशयोजन विस्तीर्णोऽत्रैषोऽमर पुराङ्कितः ।
नवकूटाङ्कितोमूर्ध्नि त्यक्त्वानुपञ्चयोजनात् ।।६३।।
निजोदय चतुर्थांशावगाहो राजतेऽचलः ।
खगेशाचारणैः श्वेतमणिभिः शुक्लपुञ्जवत् ।।६४।।

अर्थ :—भरत क्षेत्र के ठीक मध्य में विजयार्ध नाम का एक श्वेतरत्नमय पर्वत है। जो पच्चीस योजन ऊँचा और भूतल पर ५० योजन चौड़ा है। यह ५० योजन की चौड़ाई १० योजन की ऊँचाई तक जाती है। इसके ऊपर (दक्षिणोत्तर) दोनों पार्श्वभागों में दश दश योजन (की कटनी) छोड़ कर १० योजन की ऊँचाई पर्यन्त ३० योजन चौड़ा है। इसी प्रथम कटनी पर १० योजन चौड़ी, पूर्व—पश्चिम समुद्र को स्पर्श करने वालीं और दक्षिण-उत्तर नाम वाली दो शुभ श्रेणियां हैं। इन पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र पर्यन्त लम्बी उत्तर-दक्षिण दोनों श्रेणियों पर विद्याधरों के सुन्दर आकृति को धारण करने वाले महलों से युक्त नगर हैं। ३० योजन चौड़ाई में भी दोनों पार्श्वभागों में १०-१० योजन (की कटनी) छोड़कर पाँच योजन की ऊँचाई पर्यन्त केवल १० योजन चौड़ा जाता है। इस दूसरी कटनी पर पूर्वोक्त आयाम और विस्तार (१० योजन चौड़ी और पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक लम्बी) वाली अन्य दो श्रेणियां हैं, जो व्यन्तर देवों के नगरों से अलंकृत हैं। इन श्रेणियों से पांच योजन ऊपर अर्थात् विजयार्ध का अग्रभाग नवकूटों से संयुक्त है। इस विजयार्ध पर्वत की नींव अपनी ऊँचाई (२५ योजन) का चतुर्थभाग अर्थात् ६¼ योजन प्रमाण है। श्वेत मणियों के साथ साथ चारण ऋद्धि धारी मुनीश्वरों और विद्याधरों से व्याप्त यह विजयार्ध ऐसा शोभायमान होता है मानो शुक्लता का पुञ्ज ही हो ।।५८—६४।।

विशेषार्थ :—

विजयार्ध की दक्षिणोत्तर दोनों तटों की प्रथम श्रेणी पर विद्याधर और द्वितीय श्रेणी पर व्यन्तर जाति के देव निवास करते हैं, तथा शिखर पर नवकूट हैं, जिसका चित्रण निम्न प्रकार है :—

विजयार्ध पर्वत

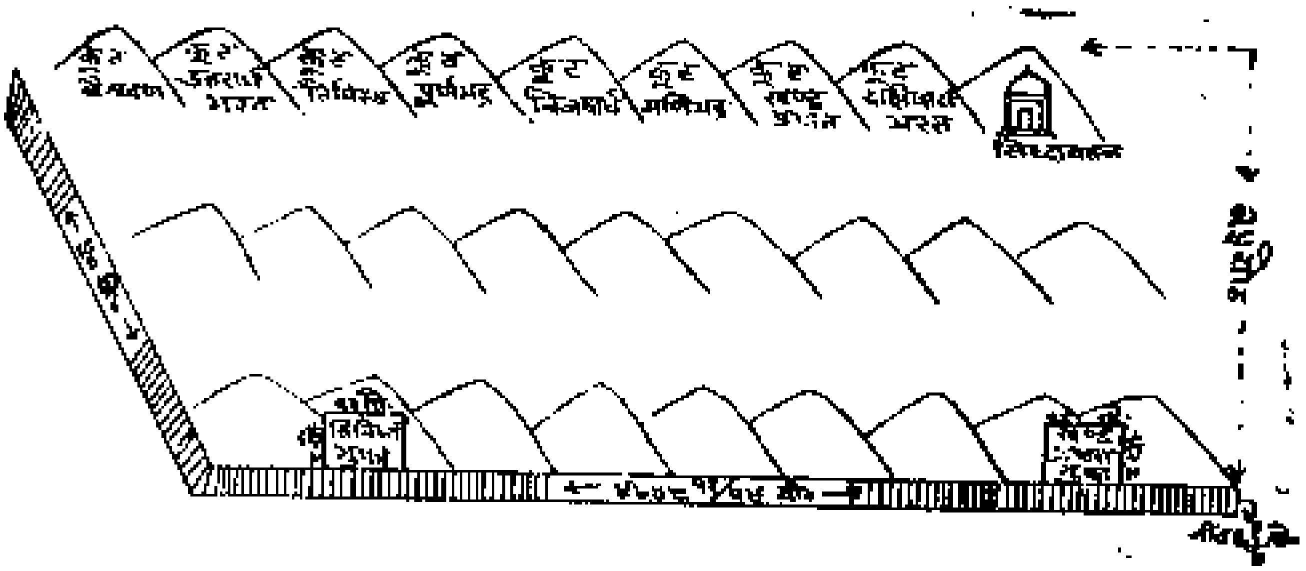

अब दक्षिणोत्तर दोनों श्रेणियों पर स्थित विद्याधरों के नगरों की संख्या और उनके नाम कहते हैं —

संख्यस्य दक्षिणश्रेण्यां पञ्चाशन्नगराणि च ।
षष्टिरेवोत्तरश्रेण्यां रम्याणि व्योमगामिनाम् ॥६५॥

किन्नामनगरं किन्नरगीतं नरगीतकम् ।
बहुकेतुपुरं पुण्डरीकं सिंहध्वजाह्वयम् ॥६६॥

पुरं श्वेतध्वजाभिख्यं गरुडध्वज संज्ञकम् ।
श्रीप्रभं श्रीधराख्यं च लोहार्गलमरिञ्जयम् ॥६७॥

वैरार्गलं हि वैराख्यं विगतोर्ज्जपुरं जयम् ।
शकटाख्यं चतुर्वक्त्रं पुरं बहुमुखाभिधम् ॥६८॥

अरजं विरजाभिख्यं रथनूपुरनामकम् ।
मेखलाग्रपुरं क्षेमचर्यं ततोऽपराजितम् ॥६९॥

पुरं कामपुराभिख्यं वियच्चर समाह्वयम् ।
विजयादि चराख्यं च शक्राभिधानकं पुरम् ॥७०॥

सञ्जयन्तं जयन्ताख्यं विजयं वैजयन्तकम् ।
क्षेमाकरं सुचन्द्राभं सूर्याभासं पुरोत्तमम् ॥७१॥

चित्रकूटं महाकूटं हेमकूटं त्रिकूटकम् ।
मेघकूटं विचित्रादिकूटं वैश्रवणाभिधम् ॥७२॥
सूर्यप्रभाह्वयं चन्द्रप्रभाभिधानकं पुरम् ।
नित्य[1]प्रद्योतसंज्ञं च नित्याभाख्यं पुरं ततः ॥७३॥
विपुलाख्य पुरं नित्यवाहिसंज्ञमिमान्यपि ।
स्युः श्रेण्यां दक्षिणाख्यायां पञ्चाशत्सत् पुराणि च ॥७४॥
पुरं[2]वसुपुराभिख्यमर्जुनं चारुणाभिधम् ।
कैलासं वारुणं विद्युत्प्रभं किलिकिलित्पुरम् ॥७५॥
चूडामणिपुरं नामशशिप्रभपुरं ततः ।
विशालं पुष्पचूलाख्यं हंसगर्भं बलाहकम् ॥७६॥
शिवंकरं च श्री सौधं चमरं शिवमन्दिरम् ।
वसुमत्तापुरी नाम्नी ततो वसुमतीपुरी ॥७७॥
सिद्धार्थनगरी शत्रुञ्जयाभिधानिकापुरी ।
केतुमालेन्द्रकान्ता गगनानन्दिन्यशोकिका ॥७८॥
विशोकावीतशोकाख्या चालका तिलकापुरी ।
अपूर्वतिलका नाम्नी पुरी[3]मन्दिरसंज्ञिका ॥७९॥
कुमुदाख्यंपुरं कुन्दपुरं गगनवल्लभम् ।
दिव्यादि तिलकं पृथ्वी तिलकाख्यं पुरं ततः ॥८०॥
गन्धर्वाख्यं पुरंमुक्ताहारं च नैमिषाह्वयम् ।
अग्निजालं महाजालं श्रीनिकेतं जयाह्वयम् ॥८१॥
श्रीगृहं मणिवज्राख्यं भद्राश्वं च धनञ्जयम् ।
गोक्षीरफेनमक्षोभं शैलशेखरसंज्ञकम् ॥८२॥
पृथ्वीधरं पुरं दुर्गं दुर्धराख्यं सुदर्शनम् ।
पुरं महेन्द्रसंज्ञं विजयं सुगन्धिनामकम् ॥८३॥

---

१. प्रद्योति अ. ज. २. वसुमुखाभिख्य अ. ज. ३. मन्दर अ. ज.

पुरं वैराधनामाथरत्नाकराह्वयम् पुरम् ।
ततो रत्नपुरम् चेमानि पुराणि खगामिनाम् ॥८४॥
षष्टिः स्युरुत्तरश्रेण्यां शाश्वतानि शुभानि च ।
पश्चिमां दिशमारभ्य स्वःपुरा भान्त्यनुक्रमात् ॥८५॥
पुराणिदक्षिणश्रेण्यां प्रागुक्तानि भवन्ति वै ।
पञ्चाशत् पूर्वदिग्भागमादि कृत्वा क्रमेण च ॥८६॥

अर्थ—(भरतैरावत सम्बन्धी विजयार्धों की पूर्व पश्चिम लम्बाई में) दक्षिण श्रेणी पर विद्याधरों के रमणीक ५० नगर और उत्तर श्रेणी पर ६० नगर हैं। पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर दक्षिण श्रेणीगत ५० नगरों के नाम क्रमशः इसप्रकार हैं:—१ किन्नाम, २ किन्नरगीति, ३ नरगीत, ४ बहुकेतपुर, ५ पुण्डरीक, ६ सिंहध्वज, ७ श्वेतध्वज, ८ गरुड़ध्वज, ९ श्रीप्रभ, १० श्रीधर, ११ लोहार्गल, १२ अरिञ्जय, १३ वैरार्गल, १४ वैराढ्य, १५ विगतोज्जपुर, १६ जय, १७ शकट, १८ चतुर्वक्र, १९ बहुमुख, २० अरजा, २१ विरजा, २२ रथनूपुर, २३ मेखलाग्रपुर, २४ क्षेमचर्य, २५ अपराजित, २६ कामपुर, २७ वियच्चर (गगनचर), २८ विजयचर, २९ शक्रपुर, ३० सञ्जयन्त, ३१ जयन्तपुर, ३२ विजय, ३३ वैजयन्त, ३४ क्षेमङ्कर, ३५ चन्द्राभ ३६ सूर्याभा, ३७ पुरोत्तम, ३८ चित्रकूट, ३९ महाकूट, ४० हेमकूट, ४१ त्रिकूट, ४२ मेघकूट, ४३ विचित्रकूट, ४४ वैश्रवणकूट, ४५ सूर्यप्रभ, ४६ चन्द्रप्रभ, ४७ नित्यप्रद्योत, ४८ नित्याभा, ४९ विमुख और अन्तिम ५० नित्यवाहनी नाम वाले ५० नगर दक्षिण श्रेणी पर हैं।

उत्तर दिशा में पश्चिम श्रेणी से प्रारम्भ कर क्रमशः १ वसुपुर, २ अर्जुन, ३ अरुण, ४ कैलाश, ५ वारुणपुर, ६ विद्युत्प्रभ, ७ किलिकिलिपुर, ८ चूड़ामणि, ९ शशिप्रभ, १० विशालपुर, ११ पुष्पचूल, १२ हंसगर्भपुर, १३ बलाहकपुर, १४ शिवङ्कर, १५ श्री सौधपुर, १६ चमरपुर, १७ शिव मन्दिर, १८ वसुमत्ता, १९ वसुमति, २० सिद्धार्थनगरी, २१ शत्रुञ्जयपुरी, २२ केतुमाल, २३ इन्द्रकान्तपुर, २४ गगननन्दिनी, २५ अशोकापुर, २६ विशोकापुर, २७ वीतशोकापुरी, २८ अलकापुरी, २९ तिलकापुरी, ३० अपूर्वतिलकापुरी, ३१ मन्दरपुरी, ३२ कुमुदपुर, ३३ कुन्दपुर, ३४ गगनवल्लभ, ३५ दिव्यतिलक, ३६ पृथ्वीतिलक, ३७ गन्धर्वपुर, ३८ मुक्ताहारपुर, ३९ नैमिषपुर, ४० अग्निजालपुर, ४१ महाजालपुर, ४२ श्रीनिकेतनपुर, ४३ जयावहपुर, ४४ श्रीवासपुर, ४५ मणिवज्रपुर, ४६ भद्राश्वपुर, ४७ धनञ्जयपुर, ४८ गोक्षीरफेनपुर, ४९ अक्षोभपुर, ५० शैलशेखरपुर, ५१ पृथ्वीधरपुर, ५२ दुर्गपुर, ५३ दुर्धरनगर, ५४ सुदर्शननगर, ५५ महेन्द्रपुर, ५६ विजयपुर, ५७ सुगन्धिनीनगर, ५८ वैराध-

४. शाश्वतानि अ. ब.

पुर, ५९ रत्नाकरपुर और अन्तिम ६० रत्नाकर नाम वाले ६० नगर हैं। ये विद्याधरों के समस्त नगर रत्नमय हैं। पश्चिम दिशा से प्रारम्भ कर क्रमशः श्रेणीबद्ध उत्तर श्रेणी के ये ६० नगर शाश्वत, शुभ नाम वाले और स्वर्गपुरी की शोभा को धारण करने वाले हैं, इसी प्रकार पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर क्रमशः पूर्व कहे हुये दक्षिण श्रेणी के ५० नगर हैं ॥६५–८६॥

अब विद्याधरों के नगरों का सविस्तार वर्णन करते हैं:—

दण्डैकैकान्तरास्तिस्रो जलान्ताः खातिकाः शुभाः ।
प्रत्येकं नगराणां स्युर्मणिस्वर्णेष्टकाचिताः ॥८७॥
स्याच्चतुरस्रखातानां तासामन्तर्महीतले ।
चतुर्दण्डान्तरो रम्यो हेमरत्नेष्टकामयः ॥८८॥
मुरजैः कपिशीर्षैश्च रचिताग्रः पुराणि च ।
परितः शाश्वतस्तुङ्गः प्राकारो हि पृथक् पृथक् ॥८९॥
विष्कम्भचतुरस्राः स्युः शालाट्टालक पंक्तयः ।
त्रिंशच्चापान्तरास्तुङ्गा नानारत्नादि चित्रिताः ॥९०॥
उत्सेधसदृशारोहसोपानाश्चारुमूर्तयः ।
द्वयोरट्टालयोर्मध्ये रत्नतोरणभूषितम् ॥९१॥
पञ्चाशद्धनुरुत्सेधं गोपुरं विस्तृतं महत् ।
पञ्चविंशति दण्डैश्च कपाटयुगलाङ्कितम् ॥९२॥
इत्यादि रचनाढ्यानि पूर्वमुखस्थितानि च ।
दक्षिणोत्तर दीर्घाणि योजनैर्द्वादश प्रमैः ॥९३॥
पूर्वापरेण विस्तारान्वितानि नवयोजनैः ।
स्वः पुराणीव राजन्तेऽत्राखिलानि पुराण्यपि ॥९४॥
सहस्रगोपुरैः मार्गैः सहस्रद्वादशप्रमैः ।
शतपञ्चलघुद्वारैः सहस्रैकचतुःपथैः ॥९५॥
कोटिग्रामामवन्त्यत्रनगरं प्रतिशाश्वताः ।
बहुखेटमटंबाद्या निवेशाश्च मनोहराः ॥९६॥
नगरादिषु सर्वेषु जिनसिद्धालयाः शुभाः ।
वनोपवन वाप्याद्याः स्युस्तुङ्गसौधपंक्तयः ॥९७॥

प्रागर्जितमहापुण्याद्विशेषाश्चारुलक्षणाः ।
धर्मार्थादि विधातारो वसन्ति रत्नधामसु ॥९८॥

अर्थः—[विजयार्ध पर्वत की प्रथम श्रेणी विद्याधरों के (६०+५०)=११० नगरों से व्याप्त है] प्रत्येक नगर के चारों ओर मणियों से खचित स्वर्ण की ईंटों से बनी हुई तथा जल से भरी हुई, एक एक धनुष के अन्तराल से तीन शुभ परिखाएं (खाई) हैं। उन चारों परिखाओं के अन्दर भूमितल पर चार धनुष के अन्तर से जिनके शीर्ष पर बुरज व कंगूरे हैं ऐसे स्वर्ण व रत्नमयी ईंटों से बने हुए पुर हैं। जिनके चारों ओर शाश्वत उत्तुङ्ग, मेढियों की पंक्तियों सहित चार धनुष चौड़े पृथक् पृथक् प्राकार हैं। तीस धनुष अन्तराल से उत्तुङ्ग, नाना रत्नों से खचित उत्सेध के सदृश चढ़नेके लिए सुन्दर आकार वाली (सोपान) सीढ़ियां हैं। दो दो छज्जों के बीच में रत्न के तोरणों से विभूषित, कपाट युगलों से अलंकृत, ५० धनुष ऊँचे और २५ धनुष विस्तृत गोपुरद्वार हैं। इन सब को आदि लेकर और अनेक प्रकार की रचनाओं से युक्त तथा पूर्व दिशा की ओर हैं मुख जिनके ऐसे दक्षिणोत्तर बारह योजन लम्बे और पूर्व पश्चिम ९ योजन चौड़े समस्त नगर स्वर्गपुरी के सदृश शोभायमान होते हैं ॥८७-९४॥ यहाँ के प्रत्येक नगर एक हजार गोपुर द्वारों से, पांच सौ लघुद्वारों से, एक हजार चतुःपथों, बारह हजार मार्गों, करोड़ों ग्राम, बहुखेट एवं मडंब आदि की रचनाओं से मनोहर हैं ॥९५-९६॥ यहाँ के समस्त नगरों में जिनेन्द्र भगवान् एवं सिद्ध भगवान् के शुभ मन्दिर हैं तथा वन, उपवन, वापी आदि एवं ऊँचे ऊँचे महलों की पंक्तियाँ हैं। पूर्वोपार्जित महान् पुण्योदय से सुन्दर लक्षणों से युक्त विद्याधर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों को करते हुये यहाँ रत्नों के महलों में रहते हैं ॥९७-९८॥

विजयार्ध की द्वितीय श्रेणी का वर्णनः—

द्वितीयमेखलायां चाचलस्योभयपार्श्वयोः ।
प्रतोली[1]वेदिकाढ्यानि जिनालयान्वितानि च ॥९९॥
कल्पद्रुमादियुक्तानि पुराणि सन्त्यनेकशः ।
सौधर्मैशानयोराभियोगिकानां सुधाभुजाम् ॥१००॥

अर्थः—विजयार्ध पर्वत की द्वितीय श्रेणी के दोनों पार्श्व भागों में प्रतोली और वेदिका आदि से सहित, जिनालयों से समन्वित तथा कल्पवृक्षों से युक्त अनेक नगर हैं। जिनमें सौधर्म ऐशान इन्द्रों के आभियोग (वाहन) जाति के देव निवास करते हैं ॥९९-१००॥

अब विजयार्ध के शिखर पर स्थित नव कूटों के नाम एवं उनके विस्तार आदि का प्रमाण कहते हैं:—

---

१. प्रतोल्या ज.

शिखरेऽस्यातिरम्याणि नवकूटान्यमून्यपि ।
सिद्धायतन कूटं च दक्षिणार्धक नामकम् ॥१०१॥
कूटं खण्डप्रपाताख्यं पूर्णभद्रसमाह्वयं ।
विजयार्धाभिधं माणिभद्रं तिमिस्रसंज्ञकम् ॥१०२॥
उत्तरार्धाख्यकं वैश्रवणं कूटान्यमून्यपि ।
नवोन्नतानि सक्रोशयोजनैः षट्प्रमाणकैः ॥१०३॥
मूलेऽमीषां च गव्यूतयुग्मषड्योजन सम्मिताः ।
मध्येसार्धद्वि गव्यूतयुग्मचतुर्योजनप्रमः ॥१०४॥
व्यासोस्ति नवकूटानांमूर्ध्नित्रियोजनप्रमः ।
श्रादौ च परिधिर्विंशतियोजनैश्चसम्मिता ॥१०५॥
मध्येतुल्या च किञ्चिन्न्यूनपञ्चदशयोजनैः ।
मस्तके योजनानां सविशेषा नवसंख्यका: ॥१०६॥

अर्थः—विजयार्ध पर्वत के शिखर पर अत्यन्त रमणीक नौ कूट हैं। उनमें सब कूटों के (पूर्व-दिशा की ओर से) प्रथम सिद्धायतन कूट, २ दक्षिणार्ध (भरत) कूट, ३ खण्डप्रपात, ४ पूर्णभद्र, ५ विजयार्धकूट ६ माणिभद्र, ७ तिमिश्र, ८ उत्तरार्ध (भरत) कूट और (पश्चिम दिशा के अन्त में ९ वैश्रवण नाम का कूट है। ये सभी कूट ६¼ योजन ऊँचे, मूल में ६½ योजन, मध्य में अढ़ाई कोस सहित ४ योजन और शिखर पर तीन योजन प्रमाण चौड़े (एवं लम्बे) हैं। इन नव कूटों की प्रथम परिधि (कुछ कम) बीस योजन प्रमाण, मध्यम परिधि कुछ कम पन्द्रह योजन प्रमाण और मस्तक पर कुछ अधिक नौ योजन प्रमाण मानी गई है ॥१०१–१०६॥

सिद्धायतन कूट का वर्णन:—

क्रोशायामो जिनेन्द्राणां क्रोशार्धविस्तरान्वितः ।
चैत्यालयश्चपादोनक्रोशोत्तुङ्गः स्फुरत्प्रभः ॥१०७॥
मणिस्वर्णमयैर्बिम्बैर्दिव्योपकरणैः परैः ।
प्राकारतोरणैर्नाना मण्डपाद्यैरलंकृतः ॥१०८॥
सङ्गीतनाट्यशालाभिषेकक्रीडनसद्गृहैः ।
मणिमुक्ताफलस्वर्णमालाजालैश्चशोभितः ॥१०९॥

वनोपवनकेत्वाद्यैर्मङ्गलद्रव्यभूतिभिः ।
भासमानोऽस्ति सिद्धायतन[1]कूटोमनोहरः ॥११०॥

अर्थः—विजयार्ध पर्वत के अग्रभाग पर पूर्व दिशा की ओर जिनेन्द्र भगवान का सिद्धायतन नाम का एक चैत्यालय है। जो दैदीप्यमान प्रभा से युक्त, एककोस लम्बा, अर्धकोस चौड़ा और ¾ (पौन) कोस ऊँचा है। वह मन को मोहित करने वाला सिद्धायतन कूट मणि एवं स्वर्ण बिम्बों से समन्वित, कोट, नाना प्रकार के तोरण द्वार तथा मण्डप आदि से अलंकृत, सङ्गीतशाला, नाट्यशाला, अभिषेक गृह एवं उत्तम क्रीड़ागृह आदि से व्याप्त, मणियों, मुक्ताफलों और स्वर्ण मालाओं के समूहों से सुशोभित वन, उपवन आदि से वेष्ठित और ध्वजा आदि मङ्गलद्रव्य रूपी विभूति से भासमान है ॥१०७-११०॥

अवशेष कूटों के स्वामीः—

शेष कूटस्थसौधेषु वसन्ति व्यन्तरामराः ।
स्व-स्वकूटोत्थ नामाढ्या दिव्येषु दीप्तिशालिषु ॥१११॥

अर्थः—अवशेष समस्त कूटों पर स्थित अपनी दीप्ति से मनोहर भवनों में अपने अपने कूटों के सदृश नाम वाले व्यन्तर देव रहते हैं ॥१११॥

विजयार्ध सम्बन्धी वनों का विवेचन चार श्लोकों द्वारा करते हैं:—

वनं द्विक्रोशविस्तीर्णं नानाद्रुमाङ्कितं महत् ।
पूर्वापराब्धिपर्यन्तं स्यादस्योभयपार्श्वयोः ॥११२॥
द्विकक्रोशोन्नतापञ्चशतचापसुविस्तृता ।
बहुतोरणयुक्तात्र[2]दीप्तास्तिवनवेदिका ॥११३॥
वनमध्येपुराणिस्युर्व्यन्तराणां महान्ति च ।
सप्तभूमियुतोत्तुङ्ग रत्नधामाङ्कितान्यपि ॥११४॥
चैत्यालययुतान्युच्चैः शालाद्यलंकृतानि वै ।
इत्येषा वर्णनाश्रैरावतरूप्याचले भवेत् ॥११५॥

अर्थः—विजयार्ध पर्वत के दोनों पार्श्व भागों में पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र पर्यन्त अर्थात् पर्वतों के बराबर ही लम्बे, दो कोस चौड़े और नाना प्रकार के वृक्षों से संयुक्त महान् वन हैं। ये दोनों वन दो कोस ऊँची, ५०० धनुष चौड़ी, नाना तोरणों से युक्त और प्रकाशमान वनवेदिका से विभूषित हैं।

---

१. कूटे अ. ज. न.　　　२. दीप्रा अ.

उन वनों के मध्य में सात तलों वाले, उत्तुङ्ग, रत्नमयगृहों से व्याप्त, चैत्यालयों से विभूषित और ऊंचे ऊंचे कोटों आदि से अलंकृत व्यन्तर देवों के श्रेष्ठ नगर हैं। जैसा वर्णन भरतक्षेत्र स्थित विजयार्ध का किया गया है वैसा ही ऐरावत क्षेत्र में स्थित विजयार्ध पर्वत का जानना चाहिये ।।११२-११५।।

भरत क्षेत्र के छह खण्ड और आर्यों के स्वरूप का अवधारण करते हैं:—

अखिलं भारतं क्षेत्रं षट्खण्डीकृतमादिमम् ।
गङ्गासिन्धुनदीभ्यांस्याद्विजयार्धाचलेन च ।।११६।।
रूप्याद्रेर्दक्षिणे भागेह्युत्तरे लवणाम्बुधेः ।
गङ्गासिन्धुद्वयोर्मध्येऽस्त्यार्यं खण्डं शुभाकरम् ।।११७।।
यत्रार्याः स्वर्गमोक्षादीन् साधयन्तितपोबलात् ।
स्वर्मुक्तिश्रीसुखाधारमार्यखण्डं तदुत्तमम् ।।११८।।

अर्थः—विजयार्ध पर्वत और गङ्गा सिन्धु इन दो नदियों के द्वारा समस्त भरतक्षेत्र के छह खण्ड होते हैं। इनमें विजयार्ध के दक्षिण में, लवण समुद्र के उत्तर में और गङ्गा सिन्धु इन दोनों नदियों के मध्य में शुभक्रियाओं का आकर आर्यखण्ड है। स्वर्ग लक्ष्मी और मुक्ति लक्ष्मी के सुख का आधार यह उत्तम आर्य खण्ड ही है, अतः यहां आर्य जन अपने तपोबल से स्वर्ग और मोक्ष का साधन करते हैं ।।११६-११८।।

म्लेच्छखण्डों की अवस्थिति एवं म्लेच्छों का स्वरूप कहते हैं:—

तस्यपूर्वे परे भागे भरतार्धेऽचलोत्तरे ।
स्युः पञ्चम्लेच्छखण्डानि धर्माचारातिगानि च ।।११९।।
धर्मकर्मबहिर्भूता म्लेच्छानीचकुलान्विताः ।
वसन्तिविषयासक्तास्तेषुदुर्गतिगामिनः ।।१२०।।

अर्थः—आर्य खण्ड के पूर्व-पश्चिम भाग में, अर्ध भरत क्षेत्र में विजयार्ध की उत्तर दिशा में धर्म आचरण से रहित पाँच म्लेच्छखण्ड हैं। जिनमें धर्म कर्म से बहिर्भूत, नीचकुल से समन्वित, विषयाशक्त और दुर्गति जाने वाले म्लेच्छ जीव रहते हैं ।।११९-१२०।।

आर्यखण्ड में अयोध्यानगरी की अवस्थिति कहते हैं:—

आर्यखण्डस्य मध्ये स्याद्गङ्गासिन्ध्वोस्तदन्तरे ।
अयोध्यानगरी चक्रवर्ति भोग्या परा भवेत् ।।१२१।।

अयोध्यालवणाम्बुध्योर्मध्येऽर्धचन्द्रसन्निभः ।
नानाजलचराकीर्णोपसमुद्रोस्तिचोर्मिभाक् ॥१२२॥

अर्थः—गङ्गा-सिन्धु नदियों के अन्तराल में आर्यखण्ड है और आर्यखण्ड के मध्य में चक्रवर्ती राजाओं के द्वारा भोग्य श्रेष्ठ अयोध्या नगरी है, तथा अयोध्या और लवणसमुद्र के मध्य में नाना प्रकार के जलचर जीवों से आकीर्ण और कल्लोल मालाओं से व्याप्त अर्धचन्द्र के सदृश एक उपसमुद्र है ॥१२१-१२२॥

म्लेच्छखण्ड के मध्य में स्थित वृषभाचल के स्वरूप का निरूपण करते हैं:—

उत्तरे भारते क्षेत्रे म्लेच्छखण्डे च मध्यमे ।
योजनानां शतोत्सेधो मूलेशतैकविस्तृतः ॥१२३॥

विस्तीर्णो मध्यभागे स्यात् पञ्चसप्ततियोजनैः ।
पञ्चाशद्योजनव्यासो मस्तके शाश्वतो महान् ॥१२४॥

गतचक्रेशनामौघैश्चितो जिनालयाङ्कितः ।
वनतोरणसद्वेदी नानाभवन भूषितः ॥१२५॥

वृत्ताकारो हि चक्रेशगर्वहृद् वृषभाचलः ।
ऐरावतेऽप्ययं ज्ञेय ईदृशोऽद्रिः स्फुरत्प्रभः ॥१२६॥

अर्थः—उत्तरभरतक्षेत्रस्थ मध्यम म्लेच्छखण्ड के मध्य में चक्रवर्तियों के मान को मर्दन करने वाला वृत्ताकार एक वृषभाचल पर्वत है। जो १०० योजन ऊंचा, मूलमें १०० योजन विस्तृत, मध्य में ७५ योजन विस्तृत और शिखर पर ५० योजन विस्तृत, तथा भूतकालीन चक्रवर्तियों के नाम समूह से व्याप्त, जिनालय से अलंकृत, वन, तोरणद्वार, उत्तमवेदी एवं अनेक भवनों से विभूषित, अकृत्रिम और महान है ॥१२३-१२६॥

जघन्य भोगभूमि का स्वरूप:—

हिमवन्तमथोल्लङ्घ्य क्षेत्रं हैमवताह्वयम् ।
दशधाकल्पवृक्षाढ्यं जघन्यं भोगभूतलम् ॥१२७॥

मद्यवाद्याब्दीपांगा वस्त्रभाजनदामदाः ।
ज्योतिर्भूषागृहांगाश्चदशधाकल्पशाखिनः ॥१२८॥

पात्रदानफलेनैते तत्रोत्पन्नार्यदेहिनाम् ।
ददतेदशधाभोगान् सारान्सङ्कल्पितान्परान् ॥१२९॥

अर्थः—हिमवान् पर्वत का उल्लङ्घन करने पर हैमवत नाम का क्षेत्र प्राप्त होता है, जिसमें शाश्वत जघन्य भोगभूमि है। जिसका भूमितल निरन्तर दशप्रकार के कल्पवृक्षों से व्याप्त रहता है। पात्र दान के फल से जो जीव यहाँ उत्पन्न होते हैं, उन आर्यों को १ मद्य (पानाङ्ग), २ वाद्य (तूर्याङ्ग), ३ अन्न (आहाराङ्ग), ४ दीपाङ्ग, ५ वस्त्राङ्ग, ६ भाजन (पात्राङ्ग), ७ दाम (पुष्पाङ्ग), ८ ज्योतिरङ्ग, ९ भूषणाङ्ग और १० गृहाङ्ग ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष संकल्प मात्र से दस प्रकार के उत्तम भोग देते हैं ।। १२७-१२९।।

नाभिपर्वतों के नाम, प्रमाण, स्थान एवं स्वामी आदि का वर्णन करते हैं:—

शब्दवान् प्रथमो नाभिगिरिर्विकृतिवांस्ततः ।
गन्धवान् माल्यवानेते चत्वारो नाभिपर्वताः ।।१३०।।
सहस्रयोजनोत्सेधावृत्ताः सर्वत्र सन्निभाः ।
सहस्रयोजनव्यासावनवेद्यादिभूषिताः ।।१३१।।
प्रत्येकं मूर्ध्निचैतेषांजिनेन्द्रभवनाङ्कितम् ।
सप्तभूम्युन्नतं सौवर्णवनवेदीसुतोरणैः ।।१३२।।
युतं स्यान्नगरं रम्यं व्यन्तराणां च शाश्वतम् ।
क्षेत्रे हैमवते शब्दवानाद्यो नाभिपर्वतः ।।१३३।।
शब्दवान्नाभिशैलाग्र पुरे राजामरार्चितः ।
स्वातिनामाऽमरोमान्यः पल्यैकायुष्कऊर्जितः ।।१३४।।
स्याद्धरिक्षेत्रमध्येविकृतिवान्नाभिसद्गिरिः ।
तदद्रिस्थपुरेराजारुणप्रभामरोमहान् ।।१३५।।
रम्यकक्षेत्रमध्येस्याद्गन्धवान्नाभिपर्वतः ।
तन्मूर्धस्थपुरेभूपः पद्मप्रभाह्वयः सुरः ।।१३६।।
स्याद्ध रण्यवतेवर्षेशैलो नाम्ना हि माल्यवान् ।
तदग्रस्थपुरे स्वामी प्रभासाख्योऽमरोऽद्भुतः ।।१३७।।
ततोमहाहिमाद्रिं चोल्लङ्घ्यकल्पद्रुमाश्रितम् ।
तृतीयं हरिसत्क्षेत्रं मध्यमं भोग-भूतलम् ।।१३८।।

अर्थः—(शरीर के मध्य नाभि के सदृश जो पर्वत क्षेत्र के ठीक मध्य में स्थित रहते हैं उन्हें नाभिगिरि कहते हैं)। शब्दवान्, विकृतिवान्, गन्धवान् और माल्यवान् ये चार नाभि पर्वत हैं। वन एवं वेदी आदि से विभूषित ये वृत्ताकार (गोल) पर्वत १००० योजन ऊँचे और १००० योजन चौड़े

हैं। प्रत्येक नाभि पर्वतों के शिखर पर व्यन्तरदेवों के वन वेदी से वेष्टित, उत्तम तोरणों से युक्त, अत्यन्त रमणीक एवं शाश्वत नगर हैं, जो जिन चैत्यालयों से अलंकृत और सात तल ऊँचे श्रेष्ठ भवनों से युक्त हैं। हैमवत् क्षेत्र के मध्य में प्रथम शब्दवान् नाम का नाभिपर्वत स्थित है। उस शब्दवान् नाभिपर्वत के शिखर पर स्थित नगर का राजा (हजारों) देवों से पूजित और एक पल्य की उत्कृष्ट आयु वाला स्वाति नाम का देव है ।।१३०-१३४।। हरिक्षेत्र के मध्य में विकृति (विजटा) वान् नाभिगिरि अवस्थित है, जिसके शिखर पर स्थित नगर का राजा अरुणप्रभ नाम का श्रेष्ठ देव है। रम्यक क्षेत्र के मध्य में गन्धवान् नाम का नाभिगिरि पर्वत है, जिसके शिखर पर स्थित नगर का राजा पद्मप्रभ नाम का देव है। इसीप्रकार हैरण्यवत् क्षेत्र के मध्य में स्थित माल्यवान् नाभिगिरि है जिसके शिखर पर स्थित नगर का स्वामी प्रभास नाम का अद्भुत बलशाली देव है ।।१३५-१३७।।

महाहिमवान् पर्वत के बाद जो हरि नाम का तृतीय क्षेत्र है, उसमें शाश्वत मध्यम भोग भूमि है और उसकी भूमि निरन्तर कल्पवृक्षों को आश्रय देती है। अर्थात् कल्पवृक्षों से व्याप्त रहती है ।।१३८।।

विशेषार्थ:—जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत्, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नाम के सात क्षेत्र हैं, जिनमें भरतैरावत क्षेत्रों के मध्य में विजयार्ध (नाभिगिरि) पर्वत स्थित हैं और इन दोनों क्षेत्रों के आर्यखण्डों में काल परिवर्तन के निमित्त से अस्थिर भोगभूमियों की और कर्म भूमि की रचना होती रहती है। म्लेच्छखण्ड शाश्वत रहते हैं। हैमवत और हैरण्यवत इन दो क्षेत्रों के मध्य में क्रमश: शब्दवान् और माल्यवान् नाभिगिरि अवस्थित हैं, तथा इन क्षेत्रों में शाश्वत जघन्य भोगभूमि की रचना है। हरि और रम्यक इन दो क्षेत्रों के मध्य में क्रम से विकृतिवान् और गन्धवान् नाभिगिरि अवस्थित हैं, तथा इनमें शाश्वत मध्यम भोगभूमि की रचना है। विदेह क्षेत्र के मध्य में सुदर्शन मेरु नाभिगिरि अवस्थित है। इस क्षेत्र में देवकुरु, उत्तरकुरु, नाम की शाश्वत उत्तम भोगभूमियों के साथ साथ अन्य ३२ विदेह शाश्वत कर्मभूमि की रचना से युक्त हैं। विदेह क्षेत्र का सम्पूर्ण वर्णन आगे छठवें अधिकार में किया जा रहा है।

अब इस अधिकार का संकोच करते हैं :—

एते सद्भरतादयोऽत्र विधिना वर्षास्त्रयो वर्णिता:,
व्यासाद्यैश्च यथा तथा बुधजनै रैरावताद्यास्त्रय: ।
ज्ञेया: कर्मसुभोगभूमिकलिता आर्येतराद्यैश्रिता:,
पुण्यापुण्यफलप्रदाबहुविधा: सर्वज्ञदृग् गोचरा: ।।१३९।।

अर्थ:—इसप्रकार सर्वज्ञप्रभु के ज्ञानगोचर होने वाले भरत आदि तीन क्षेत्रों के व्यास आदि का उपर्युक्त विधि के अनुसार जैसा वर्णन किया है वैसा ही ज्ञानीजनों के द्वारा ऐरावत आदि तीन क्षेत्रों का भी जान लेना चाहिये। अनेक प्रकार के पुण्य और पाप के फल को प्रदान करने वाली ये कर्मभूमियाँ एवं भोगभूमियाँ आर्य जनों से एवं अन्य जनों से निरन्तर व्याप्त रहतीं हैं ।।१३९।।

अधिकारान्त मङ्गलाचरण:—

सर्वज्ञान् श्रीगणेशान् श्रुतसकलकुलः संयतान्विश्ववन्द्यान्,
पञ्चाचारादि भूषांस्त्रिभुवनमहितान् पाठकान् ज्ञातविश्वान् ।
प्राप्तान्सर्वांगपारं त्रिकसमयसुयोगोग्रदीप्तादि सर्वैः,
सारैर्युक्तांस्तपोभिस्तदसमगुणसिद्धयै च साधून् नमामि ॥१४०॥

इति सिद्धान्तसारदीपक महाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते चतुर्दश-महानदी, विजयार्ध, वृषभाद्रि नाभिगिरि वर्णनोनाम पञ्चमोऽधिकारः ॥५॥

अर्थ:—विश्ववन्दनीय सर्व अरहन्तों को, द्वादशांग की रचना करने वाले गणधरदेवों को, संयम एवं पञ्चाचार से विभूषित जगत् पूज्य आचार्यों को, द्वादशांग के पार पहुँच कर प्राप्त किया है समस्त तत्त्वों का ज्ञान जिन्होंने ऐसे उपाध्यायों को तथा तीनों समयों (ऋतुओं) में उत्तम आतापन आदि योगों एवं उग्र और दीप्त आदि सारभूत सर्व तपों को धारण करने वाले साधु परमेष्ठियों को मैं उन अनुपम गुणों की सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१४०॥

इसप्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसार दीपक नाम महाग्रन्थ में
चौदह महानदियों, विजयार्धों, वृषभाचलों और नाभिगिरि
पर्वतों का वर्णन करने वाला पांचवां
॥ अधिकार समाप्त ॥

षष्ठोऽधिकारः

मंगलाचरण एवं प्रतिज्ञाः—

विदेहस्थान् जिनेन्द्रादीन् प्रणम्य परमेष्ठिनः ।
तन्मूर्त्यादींश्च वक्ष्येऽहं विदेहक्षेत्रमुत्तमम् ।।१।।

अर्थः—विदेह क्षेत्रों में स्थित विद्यमान तीर्थङ्करों को, उन [अर्हन्तों] की प्रतिमाओं को तथा पञ्चपरमेष्ठियों को नमस्कार करके मैं उत्तम विदेह क्षेत्र को कहूँगा। अर्थात् विदेह क्षेत्र का विस्तार पूर्वक वर्णन करूँगा ।।१।।

विदेहक्षेत्रस्थ सुदर्शनमेरु का सविस्तार वर्णनः—

तस्यमध्ये महामेरुः सुदर्शनाह्वयोमहान् ।
नवाधिकनवत्या चोच्छ्रितःसहस्रयोजनैः ।।२।।
योजनानां सहस्रैकंकन्दस्त्रिक्षण[1] ऊर्जितः ।
विचित्राकारसंस्थानोनाभिवद्भाति सुन्दरम् ।।३।।
सहस्रयोजनैर्वज्रमयश्चित्राधरान्तगः ।
नानारत्नमयो मध्ये स्यादेकषष्टिसम्मितैः ।।४।।
सहस्रयोजनैश्चाग्रेशातकुम्भमयोगिरिः ।
नित्यो[2]दीप्तोऽयमत्राष्टत्रिंशत्सहस्रयोजनैः ।।५।।

अर्थः—विदेह क्षेत्र के मध्य में सुदर्शन नाम का एक श्रेष्ठ महामेरु है, जो ९९००० योजन ऊँचा, १००० योजन की जड़ वाला, अनादिनिधन, श्रेष्ठ, सुन्दर और नानाप्रकार के आकारों से युक्त तथा जम्बूद्वीप की नाभि के सदृश शोभायमान होता है। यह सुमेरु पर्वत चित्रा पृथ्वी के अन्त पर्यन्त अर्थात् मूल में एक हजार योजन प्रमाण वज्रमय, मध्य में इकसठ हजार योजन पर्यन्त अनेकों रत्नमय और अग्रभाग में ३८००० योजन पर्यन्त देदीप्यमान स्वर्णमय एवं अकृत्रिम है ।।२–५।।

---

१. त्रिकाले   २. दीप्तो अ. ज. प.

अस्य विस्तर व्याख्यानं बालावबोधाय संस्कृतभाषया वक्ष्ये:—

चित्राऽवनिं भित्त्वा स्थितस्य मेरोः कन्दतले व्यासः नवत्यधिकदशसहस्रयोजनानि योजनैकादशभागीकृतानां दशभागाः, परिधिश्चैकत्रिंशत्सहस्रनवशतदशोत्तरयोजनानि योजनैकादशभागानां साधिकौ द्वौ भागौ। ततः क्रमह्रासेन पृथ्वीतलेऽस्य विस्तारः दशसहस्रयोजनानि, परिधिश्चैक त्रिंशत्-सहस्रषट्शतकिञ्चिदूनत्रयोविंशतियोजनानि। ततः क्रमहान्या[1] तस्य पार्श्वे पञ्चशतयोजनान्यूर्ध्वं गत्वा पञ्चशतयोजन विस्तृतं नानापादपाद्याकीर्णं सुन्दरं नन्दनाख्यं वनं विद्यते। तत्र नन्दनवनसहित मेरो-र्बाह्ये विष्कम्भः नवसहस्रनवशतचतुःपञ्चाशद्योजनानि, योजनैकादशभागानां षड्भागाः, परिधिश्चैक त्रिंशत्सहस्रचतुःशतैकोनाशीतियोजनानि। नन्दनवनादृते मेरोरभ्यन्तरे व्यासः अष्टसहस्रनवशतचतुःपंचा-शद्योजनानि योजनैकादशभागानां षड्भागाः, परिधिश्चाष्टाविंशतिसहस्रत्रिशतषोडशयोजनानि, योजनै-कादशभागानां षड्भागाः[2], ततोऽस्य सार्धद्विषष्टि सहस्रयोजनान्यूर्ध्वं भागं मुक्त्वा तृतीयं सौमनसाख्यं वनं स्यात्। तेषां सार्धद्विषष्टिसहस्रयोजनानां मध्येऽयं मेरुः एकादशसहस्रयोजन पर्यन्तं समपार्श्वो ऋजुर्भवति। ततः क्रमहान्या सार्धैकं पञ्चाशत्सहस्रयोजनपर्यन्तमेव ह्रस्वोऽस्ति। तत्र पञ्चशतयोजनविस्तृतं तद्वनं मुक्त्वाऽस्याभ्यन्तरे विष्कम्भः द्विसप्तत्यधिकद्वात्रिंशच्छतयोजनानि, योजनैकादशभागानामष्टौ भागाः, परिधिश्च नवसहस्रनवशतचतुर्णवतियोजनानि, योजनैकादशभागानां षट्भागाः। ततोऽस्य षट्त्रिंशत्सह-स्रयोजनान्यूर्ध्वमतिक्रम्य चतुर्णवत्यग्रचतुःशतयोजनविस्तारं चतुर्थं पाण्डुकवनं स्यात्।

तेषां षड्त्रिंशत्सहस्रयोजनानां मध्येऽयं एकादशसहस्रयोजनपर्यन्तं हानिवृद्धिरहितः सर्वत्र सदृशोऽस्ति। ततः क्रमहान्या पञ्चविंशतिसहस्रयोजनान्तं ह्रस्वो भवति। तत्रास्य मस्तके वनाङ्किते विस्तृतिः सहस्रयोजनानि परिधिश्च किञ्चिदग्र द्वि षष्ट्यधिकैक त्रिंशच्छतयोजनानि। तस्य शिरोमध्यभागे चत्वारिं-शद्योजनोन्नता, मूले द्वादशयोजनव्यासा, मध्येऽष्ट योजनविस्तीर्णा मूर्ध्नि चतुर्योजनविस्तृता वैडूर्यरत्नमयी उत्तरकुरुभोगभूमिजार्य बालान्तरेण सौधर्म स्वर्गस्याद्यपटलस्थ[3]। मृजुविमानमस्पृशन्ती चूलिकास्ति।

मेरोः पूर्वापर दिग् भागयोः प्रत्येकं द्वाविंशतिसहस्रयोजनायामं, दक्षिणोत्तरे सार्धद्विशतयोजन-विस्तृतं नानापादपाकीर्णं रम्यं भूतले भद्रशालाख्यं वनं स्यात्। तत्रास्य चतुर्दिक्षु नानाविभूतिकलिताश्च-त्वारः श्रीजिनालयाः सन्ति। तथा नन्दनसौमनसपाण्डुकवनानाम् प्रत्येकं चत्वारश्चैत्यालयाभवन्ति। अमीषां चैत्यालयानां व्यासेनाग्रे व्याख्यानं करिष्यामि।

नन्दनवनेऽस्यैशान्यां दिशिशतयोजनोच्छ्रितं, मूलेशतयोजनविस्तृतं, मस्तके पञ्चाशद्योजनविष्कम्भं नानारत्नमयं बलभद्रनामकूटंस्यात्। तस्योपरि विचित्रप्राकारगोपुरवनादि भूषितानि पुराणि सन्ति। तेषु प्रभुर्व्यन्तरामरो बलभद्राख्यो वसति। तस्मिन्नन्दनेवने मणिसंज्ञचारणाह्वयगन्धर्वाख्य चित्रनामानि, पञ्चाशद्योजनोत्सेधानि, त्रिंशद्योजनायामविष्कम्भानि, नानामणिविचित्रितानि मेरोश्च-तुर्दिक्षु चत्वारि भवनानि सन्ति। तेषु प्रत्येकं रूपलावण्यादिभूषिताः सार्धत्रिकोटिप्रमा दिक्कन्यादसन्ति।

---

१. क्रमहान्यैतस्य अ. ज. न.। २. अष्टौ भागा अ. ज. न.। ३. मृजु विमान अ. ज. न.

तेषां गृहाणां पतयः रक्तकृष्णस्वर्णाभश्वेतवस्त्राद्यलंकृताः देववृन्दान्विताः सोम-यम-वरुण-कुबेराह्वयाः लोकपाला भवेयुः।

वज्राख्यवज्रप्रभसुवर्णसुवर्णप्रभनामानि पञ्चविंशति योजनोत्सेधानिपञ्चदशयोजनायाम विस्ताराणि चत्वारिगृहाणि सौमनस वने मेरोश्चतुर्दिक्षु भवन्ति।

लोहिताञ्जनहारितपाण्डुराह्वयानि सार्धद्वादशयोजनोन्नतानि सार्धसप्तयोजनदीर्घविस्तृतानि वरसिंहासनपल्यङ्कादि सहितानि, पञ्चवर्णरत्नमयानि चत्वारि भवनानि पाण्डुकवनेऽस्य पूर्वादिदिक्चतुष्टये सन्ति। एतेषु अष्टभवनेषु प्रत्येकं सार्धत्रिकोटि दिक्कुमार्यो वसन्ति। अमीषामष्टगृहाणां स्वामिनोजिनबिम्बाङ्कितशेखराः देववृन्दावृताः, रक्तकृष्णस्वर्णाभश्वेतवस्त्रनेपथ्याद्यलंकृताः, स्वयंप्रभारिष्टजलप्रभवर्गप्रभविमानवासिनः सोमयमवरुणकुबेराख्याः सौधर्मैशान सम्बन्धिनो विख्याता लोकपाला भवन्ति। सोमवरुणयोरायुः सार्द्धपल्यद्वयं स्यात्। यमकुबेरयोरायुः पादोनपल्यत्रयं च।

तत्रैव नन्दनवने पूर्वदिक् चैत्यालयस्य पार्श्वयोर्द्वयोः नन्दनमन्दराख्ये द्वे कूटे भवतः। दक्षिणदिग्भागस्थजिनालयस्य द्वि पार्श्वयोः निषधहिमवत्संज्ञे कूटे द्वे स्तः। पश्चिमदिग् चैत्यालयस्योभयपार्श्वयोः रजतरुचकाह्वये द्वे कूटे स्यातां। उत्तरदिग्जिनालयस्य द्वयोः पार्श्वयोः सागरवज्राभिधे कूटे भवतः। अमीषामष्टकूटानां उदयः पञ्चशतयोजनानि, भूव्यासः पञ्चशतयोजनानि, मध्यविस्तारः पञ्चसप्तत्यधिकत्रिशतयोजनानि, मुखविष्कम्भः सार्धद्विशतयोजनानि। शिखरे च क्रोशायामाः, अर्धक्रोशविस्तृताः पादोनक्रोशोन्नता नानारत्नमयाः दिग्वधूनां प्रासादा भवन्ति। तेषु प्रासादेषु मेघङ्करा-मेघवती-सुमेघा-मेघमालिनी-तोयन्धराविचित्रा-पुष्पमालिन्यनन्दिताख्याः, दिक्कुमार्यो वसन्ति। एवं सर्वकूटदिग्वधूप्रासादानन्दनवनवत्सौमनसवने भवन्ति।

मेरोराग्नेयदिग्भागे उत्पला-कुमुदा-नलिन्यु-त्पलोज्ज्वलाऽह्वयाश्चतस्रो वापिका भवेयुः। नैऋत्यदिशि भृङ्गा-भृङ्गनिभा-कज्जला-कज्जलप्रभाख्याश्चतस्रो वाप्यः सन्ति। वायुदिग्भागे श्रीभद्रा[1]श्रीकान्ताश्रीमहिताश्रीनिलयाभिधावापिकाः स्युः। ऐशानीदिशि नलिनी-नलिन्यूर्मि-कुमुदा-कुमुदप्रभासंज्ञाश्चतस्रो वाप्यो भवन्ति।

एतामणितोरणवेदिकादि मण्डिता, विचित्ररत्नसोपानाः, पञ्चाशद्योजनायामाः, पञ्चविंशतियोजन विस्तृताः, दशयोजनावगाहाः, चतुष्कोणाः षोडश वाप्यो हंस-सारस-चक्रवाकादि स्वानैस्तरां विभान्तिस्म। तासां सर्वासां वापीनां मध्यभागे सार्धद्विषष्टियोजनोत्सेधाः, क्रोशाधिकैकत्रिंशद्योजनायामविस्ताराः, सिंहासनसभास्थानाद्यलंकृताः, द्विक्रोशावगाहा, रत्नमयाः प्रासादाः सन्ति। तेषु आग्नेय-

१. श्रीप्रभा न.

नैर्ऋत्यदिक्स्थित प्रासादेषु सौधर्मेन्द्रः स्वामी लोकपालादि देव शचीभिः समं विविधां क्रीडां करोति। वायव्यैशान दिग्भागस्थ गेहेष्वैशानेन्द्रः पतिः देव्यादिभिश्चमुदा क्रीडति। यथात्रनन्दनवनेवापीप्रासादाः सौधर्मैशानेन्द्रयोर्वर्णिता. तथोक्तक्रमेणवापीप्रासादाः सर्वे सौमनसवनेऽपि भवन्ति नात्रकश्चिद्विशेषः।

पाण्डुकवने चूलिकायाः प्रदक्षिणं ऐशानादि विदिक्षुशतयोजनायामाः पञ्चाशद्योजनविस्तीर्णाः अष्टयोजनोन्नताः अर्धचन्द्रोपमाः रत्नतोरणवेदिकाद्यलंकृताः स्वस्वक्षेत्रसन्मुखाः स्फुरत्तेजोमयाः पाण्डुकशिलाद्याश्चतस्रोदिव्याः शिलाः सन्ति। तासामाद्या स्वर्णवर्णा पूर्वापरदीर्घा भरतक्षेत्रोत्पन्नतीर्थंकराणां जन्मस्नान पीठिका पाण्डुकशिला भवति। द्वितीया अर्जुनच्छाया दक्षिणोत्तरदीर्घा अपरविदेहजजिनेंद्राणां जन्माभिषेक पीठिका पाण्डुकम्बलाख्या आग्नेयदिशि शिलाऽस्ति। तृतीयातपनीयनिभापूर्वापरदीर्घा, ऐरावतवर्षज तीर्थंकृज्जन्माभिषेकनिबद्धा रक्ताह्वया नैर्ऋत्यदिग्भागे शिला स्यात्। चतुर्थीपद्मवर्णा दक्षिणोत्तरदीर्घा पूर्वविदेहजातश्रीजिनानां जन्मस्नानहेतुभूतावायुदिग्भागे रक्तकम्बलाख्याशिलाविद्यते। आसां चतुः शिलानामुपरिप्रत्येकं स्फुरद्रत्नमयानि त्रीणि सिंहासनानि भवन्ति। तेषां सिंहासनानां मध्यस्थ सिंहासनं पञ्चशतधनुस्तुंगं, पञ्चशतचापभूविस्तृतं सार्धं द्विशतदण्डाग्रव्यासं तीर्थंकृतां जन्माभिषेकस्थित्यै स्यात्। दक्षिणदिग्भागस्थितं सिंहासनं जिनाभिषेक समये सौधर्मेन्द्रस्योपवेशनाय भवति। उत्तरदिशास्थहरिविष्टरं तीर्थंकृज्जन्माभिषेचनसमये ऐशानेन्द्रस्य संस्थितयेऽस्ति।

घण्टासिंहनाद शङ्खस्वरभेरीध्वानासन कम्पनादि चिन्हैर्जिनोत्पत्तिं विज्ञायकल्पवासिज्योतिष्कभवनवासिव्यन्तरवासवाः, परया भूत्या छत्र ध्वजविमानाद्यैर्नभोंगणमाच्छादयन्तः, नाना पटहादिध्वानैर्बधिरीकृत दिग्मुखाः, तीर्थंकृज्जन्माभिषेकोत्सवाय सानन्दाः, धर्मरागरसोत्कटा मेरुं प्रति स्वस्थानादागच्छन्ति। तस्मिन् जन्माभिषेक समये इंद्राणां मुख्यः सामरः ऐरावतगजेन्द्रारूढः त्रिभिः [तिसृभिः] परिषद्भिः सप्तानीकैश्चालंकृतः सौधर्मेंद्रः स्वर्गादत्रायाति। अस्येन्द्रस्य प्रथमायामभ्यन्तरायां परिषदि दिव्यरूपाननाः प्रहरणाभरणाद्यलंकृताः, द्वादशलक्षदेवा भवन्ति। मध्यमपरिषदि चतुर्दशलक्षाः सुराः, बाह्यपरिषदि षोडशलक्षनिर्जराः भवेयु.। अन्तर्मध्यबाह्यपरिषदां क्रमेण रवि-शशि-यदुपामहत्तरमराः सन्ति। वृषभरथतुरंगगजनृत्यानीकगन्धर्वभृत्यनामानि प्रत्येकं सप्तसप्तकक्षायुतानि, सप्तानीकानि प्रथमदेवराजस्य पुरो महताडम्बरेण जन्माभिषेक समये व्रजन्ति। आद्य कक्षायां शंख कुन्देन्दु धवलाश्चतुरशीतिलक्षाः वृषभाः गच्छन्ति। अष्टषष्टिलक्षैककोटि वृषभाः जपापुष्पाभाश्चद्वितीय कक्षायां यान्तिस्म। तृतीयानीके नीलोत्पल सन्निभाः षट्त्रिंशल्लक्षत्रिकोटि वृषभाश्च। चतुर्थानीके द्विसप्ततिलक्षषट्कोटिवृषभाः मरकतमणिवर्णाश्च। पञ्चम्यां कक्षायां कनकनिभाश्चत्वारिंशल्लक्षत्रयोदशकोटिवृषभाश्च। षष्ठ्यां अञ्जनाभाः अष्टाशीतिलक्षषड्विंशतिकोटिवृषभाश्च। सप्तमानीके किंशुककुसुमप्रभाः षट्सप्ततिलक्षत्रिपञ्चाशत्कोटिवृषभाव्रजन्ति। ध्वमन्नानापटहादि तूर्यान्तरिताः घण्टाकिंकिणीवरचामरमणिकुसुममालाद्यलंकृताः, रत्नमयमृद्वासनाः, देवकुमारैर्वाहिताः षडधिकशतकोटयष्टषष्टिलक्षप्रमाः, दिव्यरूपाः सप्तकक्षान्विताः सर्वेवृषभास्तस्मिन्महोत्सवे व्रजन्ति।

यथैताः द्विगुणद्विगुणसंख्याः सप्तवृषभानीकानां वर्णिताः तथाशेषरथादिषडनीकानां समान-संख्याः ज्ञातव्याः ।

आद्ये अनीके शशितुषाराभाः धवलातपत्रालंकृताः धवलरथाः गच्छन्ति । द्वितीये वैडूर्यमणिविनिर्मितचतुश्चक्रविराजमाना मन्दारकुसुमनिभा महारथाश्च । तृतीये कनकातपत्रचमरध्वजाङ्किताः, निष्टप्तकाञ्चननिर्मितारथाश्च । चतुर्थेमरकतमणिमय बहुचक्रोत्पन्नशब्दगम्भीराः, दूर्वावर्णारथाश्च । पञ्चमे कर्क'तमणिजातबहुचक्रोत्पन्न सत् स्वराः, नीलोत्पलदलाभारथाश्च । षष्ठे पद्मरागमणिघटित चारुचक्रधराः कमलवर्णाः रथाश्च । सप्तमे अनीके शिखिकण्ठवर्णमणिगणोत्थकिरणपिञ्जरिताः इन्द्रनीलमणिप्रभाः महारथाः गच्छन्ति । एते सप्त सेनान्विताः, बहुदेवदेवीपूर्णाः, वरचमरछत्रकेतुकुसुममालादिभासमानाः, कक्षान्तरान्तर ध्वनन्नानादेवानका नभस्तलमाच्छादयन्त उत्तुङ्गाः पृथुरथा जिनजन्माभिषेकोत्सवे शक्रस्य महतापुण्येन पुरः व्रजन्ति ।

प्रथमायां अश्वसेनायां क्षीराब्धितरङ्गनिभाः, सितचामरालंकृता धवलाश्वा गच्छन्ति । द्वितीयायां उदयभानुसन्निभाश्चलद्वरचामरास्तुरङ्गाश्च । तृतीयायां निष्टप्तकनकसमखुरोत्थरेणु पिञ्जरिता गोरोचनवर्णा अश्वाश्च । चतुर्थ्यां मरकतमणिवर्णाः शीघ्रगामिनोऽश्वा गच्छन्ति । पंचम्यां रत्नाभरणभूषिता, नीलोत्पलपत्राभाहयाश्च । षष्ठ्यां जपापुष्पवर्णा अश्वाश्च । सप्तम्यां सेनायां इन्द्रनीलप्रभाघोटका यान्ति । एते सप्तसेनान्विताः, नानाभरणभूषिताः, स्वस्वसेनाऽग्रोत्थवाद्यरवान्तरिता, वररत्नासना, देवकुमारैर्वाहिता, दिव्योन्नतकाया, अश्वास्तज्जन्माभिषेकोत्सवे गच्छन्ति ।

चतुरशीतिलक्षप्रमा गोक्षीरवर्णा आदिमे गजसैन्येपर्वतसमोन्नत पृथुदेहा गजाः व्रजन्ति । द्वितीये भानुतेजसस्तद्द्विगुणा दन्तिनश्च । तृतीये तेभ्यो द्विगुणा निष्टप्तकनकाभागजाश्च । चतुर्थे सर्षपकुसुमवर्णास्तद्द्विगुणा वारणाश्च ।

पंचमेतेभ्यो द्विगुणा नीलोत्पलाभा-गजाश्च । षष्ठे तद् द्विगुणा जपापुष्पप्रभा दन्तिनश्च सप्तमे सैन्ये षट्सप्ततिलक्षत्रिपंचाशत्कोटिगणना, अंजनाद्रिसमतेजसो हस्तिनोव्रजन्ति । एते सर्वे एकत्रीकृताः षडग्रशतकोटयष्टषष्टि लक्षसंख्यानाः सप्तसेनान्विता उत्तुङ्गदन्तमुसला, गुडुगुडुगर्जन्तो गलन्मदलिप्तांगाः, प्रलम्बित-रत्नघण्टाकिंकिणीकुसुमदामशोभिता, नानापताकाछत्रचमरमणिकनकरज्ज्वाद्यलंकृताः अंतरान्तरध्वनद्देवानका, वरदेवदेव्यारोहिताश्चलद्गिरिसमोन्नतमहादिव्यदेहा गजेन्द्रास्तस्मिन् जिनजन्मोत्सवे सौधर्मेन्द्रस्य प्रवरं पुण्यफलं लोकानां दर्शयन्त इव स्वर्गान्मेरुं प्रत्यागच्छन्ति ।

प्रथमे नर्तकानीके विद्याधर कामदेव राजाधिराजानां चरित्रेणनटन्तोऽमरा गच्छन्ति । द्वितीये सकलार्ध महामण्डलीकानां वरचरित्रेण नर्तनं कुर्वन्तः सुराश्च । तृतीये बलभद्रवासुदेवप्रतिवासुदेवानां

१. कर्केतन अ. न.

वीर्यादिगुणनिबद्धचरित्रेण नृत्यन्तो देवा गच्छन्ति। चतुर्थे चक्रवर्तिनां विभूति वीर्यादिगुणनिबद्धचरित्रेण महानर्तनं भजन्तोऽमराश्च। पञ्चमे चरमांगर्यतिलोकपाल सुरेन्द्राणां गुणरचितचरित्रेण नटन्तो निर्जराश्च। षष्ठे गणधरदेवानां ऋद्धिज्ञानादि गुणोत्पन्नवरचरित्रेण तद्गुणरागरसोत्कटाः परं नृत्यं कुर्वाणाः सुराः यान्ति। सप्तमे नर्त्तकानीके तीर्थंकराणां चतुस्त्रिंशदतिशयाष्टप्रातिहार्यानन्तज्ञानादिगुणरचितचरित्रेण तद्गुणरागरसोत्कटा नाकिनः प्रवरं नर्त्तनं प्रकुर्वन्तो गच्छन्ति। अमी सप्तानीकाश्रिता महानृत्यविशारदाः, सानन्दा, दिव्यवस्त्राभरणभूषिता, महारूपा नटन्तो नर्त्तकामराः मेरुं प्रत्युत्पतन्ति।

अमीभिः सप्तस्वरैः जिनेन्द्रगणधरादि गुणनिबद्धानि नानामनोहरगीतानि गायन्तो दिव्यकण्ठा वस्त्राभरणमण्डिता गन्धर्वामरास्तस्मिन् जिनजन्ममहोत्सवे सप्तानीकान्विता गच्छन्ति। आद्ये अनीके षड्ज स्वरेण जिनेन्द्रगुणान् गायन्तः, द्वितीये ऋषभस्वरेण च गानं कुर्वंस्तृतीये गान्धारनादेन गायन्तो गन्धर्वा गच्छन्ति। चतुर्थे मध्यमध्वनिना जन्माभिषेकसम्बन्धिगीतान् गायन्तः। पञ्चमे पञ्चमस्वरेण गानं कुर्वाणाः। षष्ठे धैवतध्वानेन च गायन्तः. सप्तमे निषादघोषेणकलं गीतगानं कुर्वन्तो गन्धर्वा व्रजन्ति। एते स्वस्वदेवीयुताः सप्तानीकाश्रिताः किन्नरैः किन्नरीभिश्च सार्धं वीणामृदङ्गझल्लरीतालादिभिर्जिनजन्माभिषेकोत्सवेगुणगणैः रचितानि, बहुमधुरशुभमनोहरगीतानि गायन्तो धर्मरागरसोत्कटा गन्धर्वसुरास्तन्महोत्सवे व्रजन्ति।

ततः सप्तसेनान्विता दिव्याभरणालंकृता अनेकवर्णध्वजछत्रारोपितकरा देवभृत्या गच्छन्ति। प्रथमायां सेनायां अञ्जनप्रभा ध्वजकराङ्किता भृत्यामरा यान्ति। द्वितीयायां मणिकाञ्चनदण्डशिखरस्थचलच्चमरान्वितनीलध्वजारोपितपाणयो भृत्याश्च। तृतीयायां वैडूर्यदण्डाग्रस्थधवलकेतुकृतकरा देवाश्च। चतुर्थ्यां करिसिंहवृषभदर्पण शिखिसारस गरुडचक्रविरूपाकार कनकध्वजाश्रितमरकतमणिदण्डगृहीतहस्ताः भृत्यसुरा व्रजन्ति। पञ्चम्यां विकसित कमलाभपद्मध्वजारोपितविद्रुममणिमयतुंगदण्डाङ्कितकराश्च। षष्ठ्यांगोक्षीरवर्णश्वेतपताकाश्रितकनकदण्डयुक्तकराश्च, स्फुरन्मणिगणनिबद्धदण्डाग्रस्थैर्मुक्तादामालंकृतछत्रनिवहैर्धवलवर्णैर्युतपाणयो भृत्यामराः सप्तम्यां सेनायां गच्छन्ति। एते सप्तानीकाङ्किता, जिनभक्तिपरायणा भृत्यामराः सोत्सवास्तन्महोत्सवे प्रयान्ति। अमी षट्सैन्यानां पिण्डीकृताः सर्वे द्विनवति लक्षद्विपञ्चाशत्कोटिप्रमाणास्तस्मिन् महोत्सवे गच्छन्तो मरुद्वशात् (द्) दिव्याध्वजास्तरां राजन्ते। षट्सप्ततिलक्षत्रिपंचाशत् कोटिप्रमाः श्वेतछत्राश्च। एते सर्वे वृषभादिभृत्यदेवांता एकोनपंचाशदनीकानामेकत्रीकृताः सप्तशतषट् चत्वारिंशत्कोटिषट्सप्ततिलक्षा भवन्ति।

यथैताः सप्तविधाः सेनाः सौधर्मेन्द्रस्यात्र जिनजन्ममहोत्सवे आगच्छन्ति। तथा सर्वेन्द्राणां प्रत्येकं सप्तसेनाः स्वस्व सामानिकाद्द्विगुणा द्विगुणा भवन्ति च आयान्ति। इत्युक्त सेनात्रिपरिषदावृतः सौधर्मेन्द्र ऐरावत गजेन्द्रं शच्यासममारुह्य महामहोत्सवेन स्वर्गान् जिनजन्मकल्याणनिष्पत्त्यै निर्गच्छति। अंगरक्षाः नानायुधालंकृताः सुरेशं परितः निर्यान्ति। प्रतीन्द्रसामानिक त्रायस्त्रिंशल्लोकपालाद्याः शेषामरा इन्द्रेण सह दिवो मेरुं प्रत्यागच्छन्ति।

अब मन्दबुद्धिजनों को समझाने के लिये इस सुमेरु पर्वत का निरूपण विस्तार पूर्वक किया जा रहा है:—

सुदर्शन मेरु की जड़ चित्रा पृथ्वी को भेद कर एक हजार योजन नीचे तक गई है। जड़-नींव के नीचे मेरु का व्यास १००९० १०/११ योजन और इसकी परिधि का प्रमाण ३१९१० २/११ योजन (कुछ अधिक) है। इसके बाद क्रम से हीन होता हुआ (एक हजार की ऊँचाई पर) पृथ्वीतल पर मेरु की चौड़ाई १०००० योजन और परिधि का प्रमाण कुछ कम ३१६२३ योजन है। इसके बाद क्रमशः हानि होते हुये मेरु के दोनों पार्श्वभागों में ५०० योजन ऊपर जाकर ५०० योजन विस्तार वाला नानाप्रकार के वृक्षों से व्याप्त एक सुन्दर नन्दन नाम का वन विद्यमान है। वहाँ नन्दनवन सहित मेरु का बाह्य-विष्कम्भ ९९५४ ६/११ योजन है। जिसकी परिधि ३१४७९ योजन प्रमाण है। नन्दनवन के बिना मेरु-पर्वत का अभ्यन्तर व्यास ८९५४ ६/११ योजन और परिधि २८३१६ ८/११ योजन है। इसके बाद मेरु पर्वत पर ६२५०० योजन ऊपर जाकर तृतीय सौमनस नाम का सुन्दर वन है। उन ६२५०० योजन के मध्य अर्थात् नन्दनवन के मध्य से मेरु की चौड़ाई ११००० योजन ऊपर तक दोनों पार्श्वभागों में समान रूप से जाती है। इसके बाद ५१५०० योजन की ऊँचाई पर्यन्त मेरु की चौड़ाई में क्रमशः हानि होती जाती है। इसके बाद वहाँ मेरु की चौड़ाई को युगपत ५०० योजन अर्थात् दोनों पार्श्वभागों में १००० योजन कम हो जाने से वहाँ मेरु के अभ्यन्तर विष्कम्भ का प्रमाण ३२७२ ८/११ योजन और वहीं की परिधि का प्रमाण ९९९४ ६/११ योजन प्रमाण है। इस सौमनस वन से ३६००० योजन ऊपर जाकर ४९४ योजन व्यास वाले चतुर्थ पाण्डुकवन की प्राप्ति होती है। उन ३६००० योजनों के मध्य अर्थात् सौमनस वन के मध्य से ११००० योजन की ऊँचाई पर्यन्त मेरु का व्यास हानिवृद्धि से रहित सर्वत्र सदृश ही है। इसके बाद अर्थात् समरुन्द्र (समान चौड़ाई) के ऊपरी भाग से २५००० योजन की ऊँचाई पर्यन्त क्रमिक हानि द्वारा ह्रस्व होता जाता है। वहाँ पर अर्थात् (सौमनसवन से ३६००० योजन ऊपर) मेरु के मस्तक पर पाण्डुकवन सहित मेरु का विस्तार १००० योजन और उसकी परिधि कुछ अधिक ३१६२ योजन प्रमाण प्राप्त होती है। मेरु के इस १००० योजन विस्तार वाले पाण्डुक वन के अर्थात् मेरु के शिखर के मध्य भाग में ४० योजन ऊँची, मूल में १२ योजन चौड़ी, मध्य में ८ योजन चौड़ी और शिखर पर ४ योजन चौड़ी, वैडूर्यरत्नमयी तथा उत्तरकुरु भोगभूमिज आर्य के एक बाल के अंतराल से स्थित सौधर्म स्वर्ग के प्रथम पटलस्थ ऋजुविमान को स्पर्श नहीं करने वाली चूलिका है।

सुमेरु पर्वत की मूल पृथ्वी (भूमि) पर भद्रशाल नाम का एक अत्यन्त रमणीय वन है। जो अनेक प्रकार के वृक्षों से व्याप्त है, तथा जिसकी पूर्व दिशा गत चौड़ाई २२००० योजन, पश्चिम दिशागत चौड़ाई २२००० योजन, उत्तर दिशागत चौड़ाई २५० योजन और दक्षिण दिशागत चौड़ाई भी २५० योजन प्रमाण है। (इन वन का आयाम विदेह क्षेत्र के विस्तार बराबर है। ज० द्वी० प० ४/४३)

वहाँ भद्रशालवन की चारों दिशाओं में अनेक प्रकार की विभूतियों से युक्त चार जिनालय हैं। इसी प्रकार नन्दन, सौमनस और पाण्डुक इन प्रत्येक वनों में भी चार-चार चैत्यालय हैं। इन चैत्यालयों के व्यास आदि का विवेचन मैं (आचार्य) आगे करूँगा।

नन्दनवन की ऐशान दिशा में सौ योजन ऊँचा, मूल में सौ योजन चौड़ा, और शिखर पर ५० योजन चौड़ा अनेक रत्नमय बलभद्र नामका एक कूट है। उस कूट के ऊपर अनेक प्रकार के कोट, प्रतोलिका, गोपुरद्वार एवं वन आदि से वेष्ठित नगर हैं। जिनका अधिपति बलभद्र नाम का व्यन्तरदेव है, जो वहीं रहता है। नन्दन वन में मेरु की पूर्वादि चारों दिशाओं में मानी, चारण, गन्धर्व और चित्र नाम के भवन हैं। जो ५० योजन ऊँचे और ३० योजन चौड़े तथा नाना प्रकार की मणियों से खचित हैं। इन भवनों के स्वामी क्रमशः रक्त, कृष्ण, स्वर्ण और श्वेत वर्ण के आभूषणों से अलंकृत तथा देव समूह से समन्वित सोम, यम, वरुण और कुबेर हैं। इन प्रत्येक लोकपालों की रूप लावण्य आदि से विभूषित साढ़े तीन करोड़ व्यन्तर जाति की दिक्कन्याएँ हैं।

विशेषार्थः—नन्दनवन में मेरु की पूर्व दिशा में मानी नामका भवन है, जिसमें रक्तवर्ण के अलङ्कारों से अलंकृत सोम लोकपाल साढ़े तीन करोड़ दिक्कुमारियों के साथ रहता है। दक्षिण के चारण भवन में कृष्णवर्ण के अलङ्कारों से सुशोभित यम लोकपाल अपनी साढ़े तीन करोड़ दिक्कुमारियों के साथ रहता है। पश्चिम दिशा सम्बन्धी गन्धर्व नामक भवन में स्वर्णाभा सदृश आभूषणों से विभूषित वरुण लोकपाल अपनी साढ़े तीन करोड़ दिक्कुमारियों के साथ और उत्तर दिशा सम्बन्धी चित्र नामक भवन में श्वेतवर्ण के आभूषणों से युक्त कुबेर नाम का लोकपाल अपनी साढ़े तीन करोड़ दिक्कन्याओं के साथ निवास करता है।

सौमनसवन में मेरु की चारों दिशाओं में क्रमशः वज्र, वज्रप्रभ, सुवर्ण और सुवर्णप्रभ नाम के चार भवन हैं। जो पच्चीस योजन ऊँचे और पन्द्रह योजन चौड़े हैं।

पाण्डुकवन में मेरु की चारों दिशाओं में उत्कृष्ट सिंहासन एवं पल्यङ्क आदि से सहित पंचवर्ण के रत्नमय क्रमशः लोहित, अंजन, हारित और पाण्डु नाम के चार भवन हैं। जो १२½ योजन ऊँचे और ७½ योजन चौड़े हैं। इन उपर्युक्त आठों भवनों में से प्रत्येक में साढ़े तीन करोड़ दिक्कुमारियाँ निवास करती हैं। इन आठों गृहों के स्वामी जिनबिम्ब के चिह्न से चिह्नित मुकुट वाले, देव समूह से वेष्टित तथा क्रमशः रक्त, कृष्ण, स्वर्ण और श्वेत वस्त्र एवं अलङ्कारों से अलंकृत, क्रमानुसार स्वयंप्रभ, अरिष्ट, जलप्रभ और वर्गप्रभ (कल्प) विमानों में निवास करने वाले तथा सौधर्मेशान इन्द्रों के सम्बन्ध को प्राप्त सोम, यम, वरुण और कुबेर नाम के लोक प्रसिद्ध चार लोकपाल हैं। इनमें सोम और यम लोकपालों की आयु २½ पल्य तथा वरुण और कुबेर की आयु पौने तीन (२¾) पल्य प्रमाण है।

यहाँ नन्दनवन में पूर्वदिशा स्थित चैत्यालय के दोनों पार्श्व भागों में नन्दन और मन्दर नाम के दो कूट हैं। दक्षिण दिशा स्थित चैत्यालय के दोनों पार्श्व भागों में निषध और हिमवत् नाम के दो कूट हैं। पश्चिम दिशा सम्बन्धी चैत्यालय के दोनों पार्श्व भागों में रजत और रुचक नाम के दो कूट हैं तथा उत्तर दिशा सम्बन्धी जिनालय के दोनों पार्श्व भागों में सागर और वज्र नाम के दो कूट हैं। इन आठों कूटों की ऊँचाई ५०० योजन, भूव्यास ५०० योजन, मध्य व्यास ३७५ योजन और मुख व्यास २५० योजन प्रमाण है। इन कूटों के शिखरों पर दिक्कुमारियों के एक कोस लम्बे, अर्धकोस चौड़े और पौन कोस ऊँचे तथा नानाप्रकार के रत्नमय भवन बने हैं। इन आठों भवनों में क्रमशः मेघङ्करा, मेघवती, सुमेधा, मेघमालिनी, तोयन्धरा, विचित्रा, पुष्पमालिनी और अनन्दिता नाम की दिक्कुमारियाँ निवास करती हैं। इसप्रकार नन्दन वन के समान सर्वकूट, दिक्कुमारियों के भवन आदि सौमनस वन में भी हैं।

(नन्दनवन में) मेरुपर्वत की आग्नेय दिशा में उत्पला, कुमुदा, नलिनी और उत्पलोज्ज्वला नाम की चार वापिकाएँ हैं। नैऋत्य दिशा में भृङ्गा, भृङ्गनिभा, कज्जला और कज्जलप्रभा नाम की चार वापिकाएँ हैं। वायव्य दिशा में श्रीभद्रा, श्रीकान्ता, श्रीमहिता और श्रीनिलया नाम की चार वापिकाएँ हैं तथा ऐशान दिशा में नलिनी, नलिनीऊर्मि, कुमुद और कुमुदप्रभा नाम की चार वापिकाएँ हैं। ये सोलह वापिकाएँ मणियों के तोरणों एवं वेदिका आदि से मण्डित, नानाप्रकार के रत्नों की सीढ़ियों से युक्त, पचास योजन लम्बी, पच्चीस योजन चौड़ी और दस योजन गहरी हैं। ये सभी वापिकाएँ चतुष्कोण हैं, तथा हंस, सारस और चक्रवाक आदि पक्षियों के शब्दों से अत्यन्त शोभायमान हैं। इन सभी वापियों के मध्य भाग में ६२½ योजन ऊँचे, ३१¼ योजन चौड़े, अर्ध (½) योजन गहरी नींव से संयुक्त, सिंहासन एवं सभास्थान आदि से अलंकृत रत्नमय भवन हैं। इन आग्नेय और नैऋत्य दिशा सम्बन्धी वापिकाओं में स्थित भवनों में सौधर्म इन्द्र अपने लोकपाल आदि देव और शचि आदि देवाङ्गनाओं के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ा करता है, तथा वायव्य और ईशान दिशा स्थित वापिकाओं के भवनों में ऐशान इन्द्र अपने परिवार देवों एवं देवाङ्गनाओं के साथ प्रसन्नता पूर्वक क्रीडा करता है। जिस प्रकार नन्दनवन में सौधर्मेशान सम्बन्धी वापी एवं प्रासाद आदि का वर्णन किया है, उसीप्रकार क्रमसे वापी प्रासाद आदि का सभी वर्णन सौमनसवन में जानना चाहिये, क्योंकि नन्दनवन से यहाँ कोई विशेषता नहीं है।

मेरु पर्वत के ऊपर पाण्डुकवन में चूलिका की प्रदक्षिणा रूप से ऐशान आदि विदिशाओं में सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी और आठ योजन ऊँची, अर्धचन्द्र की उपमा को धारण करने वालीं, रत्नमय तोरण एवं वेदिका आदि से अलंकृत, अपने अपने क्षेत्रों के सम्मुख, स्फुरायमान तेजमय पाण्डुक आदि चार दिव्य शिलाएँ हैं। इन चारों शिलाओं में प्रथम पाण्डुक नाम की शिला ऐशान दिशा में है। जो स्वर्ण सदृश वर्ण से युक्त पूर्व-पश्चिम लम्बी तथा भरतक्षेत्र में उत्पन्न

होने वाले तीर्थंकरों के जन्म स्नान की पीठिका सदृश है। द्वितीय पाण्डुकम्बला नाम की शिला आग्नेय दिशा में है, जो अर्जुन (चाँदी) सदृश वर्ण से युक्त, दक्षिणोत्तर लम्बी और पश्चिम विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले जिनेन्द्रों के जन्माभिषेक की पीठिका सदृश है। तृतीय रक्ता नाम की शिला, नैऋत्य दिशा में है, जो तपाये हुये स्वर्ण के सदृश वर्ण से युक्त, ऐरावत क्षेत्र में उत्पन्न तीर्थङ्करों के जन्माभिषेक से निबद्ध तथा पूर्व-पश्चिम लम्बी है। इसी प्रकार रक्तकम्बला नाम की चतुर्थ शिला वायव्य-दिशा में, दक्षिण-उत्तर लम्बी, आरक्त वर्ण से युक्त और पूर्व विदेह में उत्पन्न होने वाले तीर्थङ्कर देवों के जन्माभिषेक से सम्बद्ध है। इन चारों शिलाओं में से प्रत्येक शिला के ऊपर देदीप्यमान रत्नमय तीन तीन सिंहासन हैं। उन सिंहासनों में से बीच का सिंहासन पाँच सौ धनुष ऊँचा, भूमि पर पाँच सौ धनुष चौड़ा, अग्रभाग पर दो सौ पचास धनुष चौड़ा तथा जिनेन्द्रदेव सम्बन्धी अर्थात् तीर्थङ्करों के जन्माभिषेक की स्थिति के लिये है। दक्षिण दिशा में स्थित सिंहासन जिनेन्द्र भगवान के जन्माभिषेक के समय सौधर्म इन्द्र के बैठने के लिये होते हैं, और उत्तर दिशा स्थित सिंहासन तीर्थङ्करों के जन्माभिषेक के समय ऐशानेन्द्र की संस्थिति अर्थात् बैठने के लिये हैं।

पाण्डुक आदि चारों शिलाओं एवं सिंहासन आदि का चित्रण निम्न प्रकार है:—

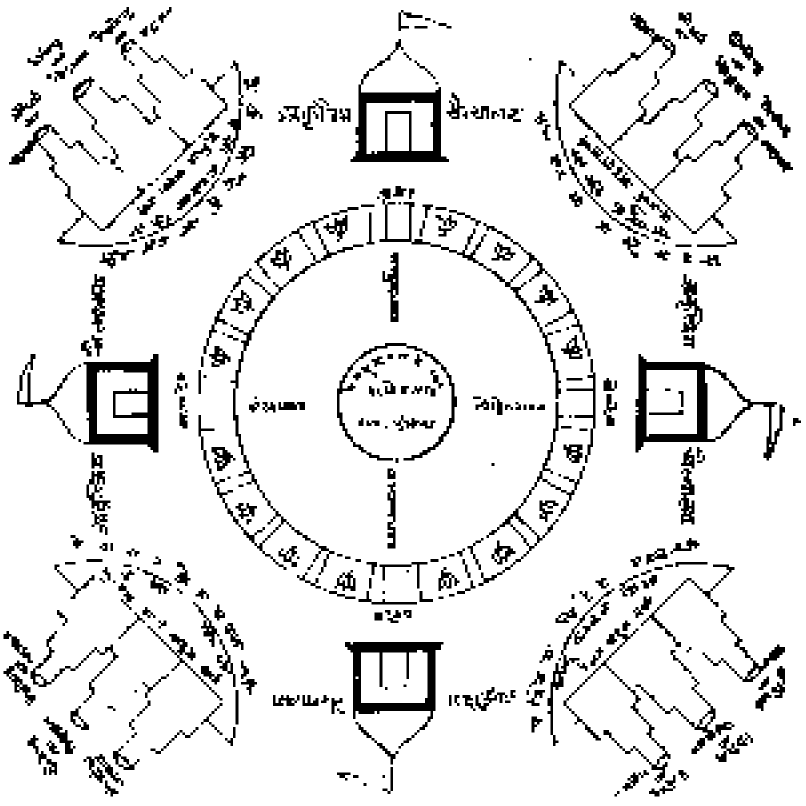

कल्पवासी, ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तरवासी देवों के इन्द्र क्रमशः घण्टा, सिंहनाद, शङ्ख एवं उत्तम भेरी के शब्दों तथा आसन आदि कम्पित होने रूप चिह्नों द्वारा जिनेन्द्र भगवान् की उत्पत्ति को जानकर परम विभूति एवं छत्र ध्वजा आदि से युक्त विमानों द्वारा आकाश रूपी प्रांगण को आच्छा-

दित करते हुये तथा अनेक प्रकार के पटह आदि के शब्दों द्वारा दसों दिशाओं को बहरी करते हुये जिनेन्द्र भगवान् के जन्माभिषेक का उत्सव मनाने के लिये अपूर्व आनन्द एवं धर्मरागरूपीरस से उत्कट अपने-अपने स्थानों से सुमेरु पर्वत की ओर आते हैं। इस जन्माभिषेक के समय इन्द्रों का प्रमुख देव सौधर्मेन्द्र ऐरावत हाथी पर चढ़कर अपनी तीन परिषदों एवं सात अनीकों से अलंकृत होता हुआ स्वर्ग से मध्य लोक में आता है। इस सौधर्मेंद्र की प्रथम अभ्यन्तर परिषद् में दिव्यरूप और दिव्य मुखवाले, आयुध एवं अलंकारों से अलंकृत बारह लाख देव होते हैं। मध्यम परिषद् में चौदह लाख देव और बाह्यपरिषद् में सोलह लाख देव होते हैं। अभ्यन्तर, मध्य और बाह्य परिषदों के क्रम से रवि, शशि और यदुप नाम के महत्तर (प्रधान) देव हैं। वृषभ, रथ, तुरंग, गज, नर्तक, गन्धर्व और भृत्य हैं नाम जिनके ऐसे सात-सात कक्षाओं से युक्त सात अनीकें सेनाएँ सौधर्मेन्द्र के आगे जन्माभिषेक के समय में महान् आडम्बर से युक्त होतीं हुईं चलतीं हैं।

प्रथम कक्षा में शंख एवं कुन्द पुष्प के सदृश धवल चौरासी लाख वृषभ चलते हैं। द्वितीय कक्षा में जपा पुष्प के सदृश वर्ण वाले एक करोड़ अडसठ लाख वृषभ चलते हैं। तृतीय कक्षा में नील कमल के सदृश वर्ण वाले तीन करोड़ छत्तीसलाख वृषभ हैं। चतुर्थ कक्षा में मरकत (नील) मणि की कान्ति सदृश वर्ण वाले छह करोड़ बहत्तर लाख वृषभ हैं। पंचम कक्षा में स्वर्ण सदृश वर्ण वाले तेरह करोड़ चवालीस लाख वृषभ हैं। षष्ठ कक्षा में अञ्जन सदृश वर्ण वाले छब्बीस करोड़ अठासी लाख वृषभ हैं, और सप्तम अनीक में किंशुक (केसु) पुष्प की प्रभा सदृश वर्ण वाले त्रेपन करोड़ छिय-त्तर लाख वृषभ आगे आगे चलते हैं। शब्द करते हुये नाना प्रकार के पटह आदि एवं तूर्य आदि से अन्तरित अर्थात् इन सेनाओं के मध्य मध्य में इन बाजों से युक्त, घण्टा, किंकणी, उत्तम चँवर एवं मणिमय कुसुममालाओं से अलंकृत, रत्नमय कोमल आसन (पलान) से युक्त, देवकुमारों द्वारा चलाये जाने वाले और दिव्य रूप को धारण करने वाले सप्तकक्षाओं से समन्वित समस्त वृषभ अनीकों की संख्या एक सौ छह करोड़ अड़सठ लाख है जो इस जन्माभिषेक महोत्सव में जाती है। जिस प्रकार इन सात वृषभ अनीकों की दूनी दूनी संख्या का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार शेष रथ आदि छह अनीकों की संख्या जानना चाहिये।

प्रथम कक्षा में हिम की आभा के सदृश धवल छत्रों से विभूषित धवल रथ चलते हैं। द्वितीय कक्षा में वैडूर्यमणि से निर्मित, चार चाकों से विराजमान और मन्दार पुष्पों के सदृश वर्ण वाले महा-रथ गमन करते हैं। तृतीय कक्षा में स्वर्णमयछत्र, चामर और ध्वज समूहों से समन्वित तथा तपाये हुये स्वर्ण से निर्मित रथ जाते हैं। चतुर्थ कक्षा में मरकत मणियों से निर्मित बहुत चाकों से उत्पन्न हुये शब्दों से गम्भीर और दूर्वांकुर वर्ण सदृश रथ होते हैं। पञ्चम कक्षा में कर्केतन मणियों से निर्मित बहुत चाकों से उत्पन्न शब्दों से युक्त तथा नीलोत्पलपत्रों के सदृश रथ हैं। षष्ठम कक्षामें पद्मराग

मणियों से निर्मित, सुन्दर चाकों को धारण करने वाले तथा कमल के सदृश वर्ण वाले रथ हैं, और सप्तम कक्षा में मयूर कण्ठ सदृश वर्ण वाले मणियों के समूह से उत्पन्न किरणों से देदीप्यमान इन्द्र नीलमणि की प्रभा के सदृश वर्ण वाले महारथ जाते हैं। इन रथ सेनाओं से समन्वित, बहुत से देव देवियों से परिपूर्ण, उत्तम चमर, छत्र, ध्वजाएँ एवं पुष्पों की मालाओं से प्रकाशमान, सब रथ कक्षाओं के मध्य में शब्द करते हुये देव वादित्रों से युक्त और आकाश को आच्छादित करते हुये ऊँचे एवं विस्तृत रथ जिनेन्द्र भगवान के जन्माभिषेक महोत्सव में इन्द्र के महान् पुण्योदय से आगे आगे जाते हैं।

अश्वों की प्रथम कक्षा में क्षीरसमुद्र की तरङ्गों के सदृश तथा श्वेत चामरों से अलंकृत धवल अश्व जाते हैं। द्वितीय कक्षा में उदित होते हुये सूर्य के वर्ण सदृश एवं चलते हुये उत्तम चामरों से युक्त (रक्त वर्ण के) तुरङ्ग होते हैं। तृतीय कक्षा में तपाये हुये स्वर्ण के सदृश खुरों से उत्पन्न धूलि से पिञ्जरित अश्व गोरोचन (पीत) वर्ण वाले होते हैं। चतुर्थ कक्षा में मरकत मणि के सदृश वर्ण वाले एवं शीघ्रगामी अश्व चलते हैं। पञ्चम कक्षा में रत्नों के आभूषणों से विभूषित तथा नीलोत्पल पत्र सदृश वर्ण वाले घोड़े चलते हैं। षष्ठम कक्षा में जपा पुष्प सदृश (रक्त) वर्ण वाले और सप्तम कक्षा में इन्द्रनील मणि की प्रभा वाले घोड़े होते हैं। इसप्रकार ये सात कक्षाओं से युक्त, अनेक प्रकार के आभरणों से विभूषित, अपनी अपनी सेनाओं के आगे उत्पन्न होने वाले वादित्रों के शब्दों से अन्तरित, उत्तम रत्नों के आसनों (पलानों) से युक्त, देवकुमारों द्वारा चलाये जाने वाले दिव्य और उत्तुङ्ग काय घोड़े भगवान् के जन्माभिषेक के महोत्सव में जाते हैं।

प्रथम कक्षा की गज सेना में गोक्षीर (धवल) वर्ण सदृश और पर्वत के समान उन्नत एवं विस्तृत देह वाले चौरासी लाख हाथी होते हैं। द्वितीय कक्षा में सूर्य (बाल सूर्य) के तेज सदृश कान्ति वाले हाथी दुगुने (एक करोड़ अड़सठ लाख) होते हैं। तृतीय कक्षा में दूसरी कक्षा से दुगुने और तपाये हुये स्वर्णाभा सदृश हाथी जाते हैं। चतुर्थ कक्षा में इससे भी दुगुने और तपाये हुये स्वर्ण की कान्ति सदृश हाथी होते हैं। पञ्चम कक्षा में चतुर्थ कक्षा से दुगुने और नीलोत्पल आभा युक्त हाथी षष्ठम कक्षा में पञ्चम कक्षा से दुगुने तथा जपा पुष्प सदृश हाथी और सप्तम कक्षा में अञ्जनगिरि के सदृश कान्ति वाले त्रेपन करोड़ छ्यत्तर लाख हाथी जाते हैं। इन सातों कक्षाओं के हाथियों की संख्या का योग एक सौ छह करोड़ अड़सठ लाख है। इन सात सेनाओं से युक्त, उन्नत दाँत रूपी मूसलों से सहित, गुड़-गुड़ गरजने वाले, गलते हुये मद से हैं लिप्त अङ्ग जिनके, लटकते हुये रत्नमय घण्टा, किंकिणी एवं पुष्प मालाओं से सुशोभित, अनेक प्रकार की ध्वजाओं, छत्र, चमर एवं मणि और स्वर्ण की रस्सियों से अलंकृत, प्रत्येक कक्षा के अन्तरालों में बजने वाले वादित्रों के शब्दों से युक्त, उत्तम देव देवियों की सवारियों से सहित, चलते फिरते पर्वत के समान उन्नत एवं महादिव्य देह को धारण करने वाले हाथी, इन जिनेन्द्र भगवान के जन्म महोत्सव में सौधर्म इन्द्र के श्रेष्ठ पुण्य क फल को लोगों को दिखाते हुये ही मानो स्वर्ग से मेरु पर्वत की ओर आते हैं।

नर्तक अनीक देव प्रथम कक्षा में विद्याधर, कामदेव, राजा और अधिराजाओं के चरित्रों द्वारा अभिनय करते हुये नर्तकी देव जाते हैं। द्वितीय कक्षा के नर्तक देव समस्त अर्धमण्डलीक एवं महामंडलीकों के उत्तम चारित्र का अभिनय करते हैं। तृतीय कक्षा के नर्तक देव बलभद्र, वासुदेव और प्रतिवासु देवों (प्रतिनारायणों) के वीर्यादि गुणों से सम्बद्ध चारित्र द्वारा महानर्तन करते हुये जाते हैं। चतुर्थ कक्ष के नर्तक देव चक्रवर्तियों की विभूति एवं वीर्यादि गुणों से निबद्ध चारित्र के द्वारा महा-अभिनय करते हुये जाते हैं। पञ्चम कक्षा के नर्तक देव चरमशरीरी यतिगण, लोकपाल और इन्द्रों के गुणों से रचित उनके चरित्र द्वारा अभिनय करते हैं। षष्ठम कक्ष के नर्तक देव विशुद्ध ऋद्धियों एवं ज्ञान आदि गुणों से उत्पन्न उत्तम चारित्र द्वारा उनके गुणरूपी रागरस से उत्कट होते हुये श्रेष्ठ नृत्य करते हुये जाते हैं, और सप्तम कक्ष के नर्तक देव चौंतीस अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य और अनन्तज्ञान आदि गुणों से सम्बद्ध चारित्र द्वारा उनके गुणरूपी रागरस में डूबे हुये तथा सर्वोत्कृष्ट नर्तन करते हुये जाते हैं। ये सात अनीकों के आश्रित, उत्तम नृत्य करने में चतुर, आनन्द से युक्त, दिव्य वस्त्र और दिव्य अलङ्कारों से विभूषित तथा महा विक्रिया रूप नृत्य करते हुये मेरु पर्वत की ओर जाते हैं।

संगीत के सात स्वरों द्वारा जिनेन्द्र भगवान् के और गणधरादि देवों के गुणों से सम्बद्ध अनेक प्रकार के मनोहर गीत गाते हुये, दिव्य कण्ठ, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य आभरणों से मण्डित गन्धर्व देव जिनेन्द्र के जन्माभिषेक महोत्सव में सात अनीकों से समन्वित होते हुये जाते हैं। प्रथम कक्ष में षड्ज स्वरों से जिनेन्द्र के गुण गाते हैं। द्वितीय कक्ष में ऋषभ स्वर से गुणगान करते हैं। तृतीय कक्ष में गान्धार स्वर से गाते हुये जाते हैं। चतुर्थ कक्ष में मध्यम स्वर से जिनाभिषेक सम्बन्धी गीतों को गाते हैं। पञ्चम कक्ष में पञ्चम स्वर से गान करते हैं। षष्ठम कक्ष में धैवत स्वर से गाते हैं, और सप्तम कक्ष में निषाद स्वर से युक्त गान करते हुये गन्धर्व देव जाते हैं। इसप्रकार अपनी अपनी देवियों से संयुक्त, सात अनीकों के आश्रित, किन्नर और किन्नरियों के साथ वीणा, मृदङ्ग, झल्लरी और ताल आदि के द्वारा जिनाभिषेक महोत्सव के गुण समूह से रचित, बहुत मधुर, शुभ और मन को हरण करने वाले गीत गाते हुये, धर्मराग रूपी रस से उद्धत होते हुये गन्धर्व देव उस महामहोत्सव में जाते हैं।

सात प्रकार की सेनाओं से युक्त, दिव्य आभूषणों से अलंकृत, अनेक वर्णों की ध्वजाएँ एवं छत्रों से सहित हैं हाथ जिनके ऐसे भृत्यदेव जाते हैं। प्रथम कक्ष में अञ्जन सदृश प्रभा वाली ध्वजाएं हाथ में लेकर भृत्यदेव जाते हैं। द्वितीय कक्ष के भृत्यदेव अपने हाथों में मणि एवं स्वर्णदण्ड के शिखर पर स्थित चलते (ढुलते) हुये चामरों से संयुक्त नीली ध्वजाएँ लेकर चलते हैं। तृतीय कक्ष के भृत्य-देव अपने हाथों में वैडूर्य मणिमय दण्डों के अग्रभाग पर स्थित धवल ध्वजाएँ लेकर चलते हैं। चतुर्थ कक्षा के भृत्यदेव अपने हाथों में हाथी, सिंह, वृषभ, दर्पण, मयूर, सारस, गरुड़, चक्र, रवि एवं चन्द्राकार कनक (पीली) ध्वजाओं के आश्रय भूत मरकत मणिमय दण्ड लेकर चलते हैं। पञ्चम कक्षा के

भृत्यदेव अपने हाथों में विकसित कमल की कान्ति वाली पद्मध्वजाओं से आरोपित विद्रुममणि (मूँगे) के ऊँचे ऊँचे दण्ड लेकर चलते हैं। षष्ठम कक्ष के भृत्यदेव अपने हाथों में गोक्षीर वर्ण सदृश धवल ध्वजाओं से युक्त स्वर्णदण्ड लेकर तथा सप्तम कक्षा के भृत्यदेव अपने हाथों में दैदीप्यमान मणि समूह से रचित दण्ड के अग्रभाग पर स्थित, मोतियों की मालाओं से अलंकृत धवल छत्रों को लेकर जाते हैं। इसप्रकार सात अनीकों से युक्त, जिनभक्ति में तत्पर भृत्यदेव उत्साह और अपूर्व उद्यम पूर्वक उस महोत्सव में जाते हैं। इन भृत्यदेवों की सात अनीक कक्षाओं में से छह कक्षा के भृत्यदेव मात्र ध्वजाएँ लेकर चलते हैं जिनका सर्वयोग बावन करोड़ बानवे लाख (५२९२०००००) प्रमाण है, जो इस जन्ममहोत्सव में चलती हुई पवन के वश से हिलने वाली दिव्य ध्वजाओं से अत्यन्त शोभायमान होते हैं सप्तम कक्षा के भृत्य श्वेत छत्र लेकर चलते हैं, जिनका प्रमाण त्रेपन करोड़ छयत्तर लाख ५३७६००००० है। इसप्रकार वृषभ से भृत्यदेव पर्यन्त (४९) उनंचास अनीक कक्षाओं का एकत्र योग करने पर सात सौ छयालीस करोड़ छयत्तर लाख प्रमाण है। यथाः—

सात अनीक सम्बन्धी ४९ कक्षाओं का एकत्रित प्रमाण

कक्षा	वृषभ	रथ	घोड़े	हाथी	नर्तक	गन्धर्व	भृत्यवर्ग
१	८४०००००	८४०००००	८४०००००	८४०००००	८४०००००	८४०००००	८४०००००
२	१६८०००००	१६८०००००	१६८०००००	१६८०००००	१६८०००००	१६८०००००	१६८०००००
३	३३६०००००	३३६०००००	३३६०००००	३३६०००००	३३६०००००	३३६०००००	३३६०००००
४	६७२०००००	६७२०००००	६७२०००००	६७२०००००	६७२०००००	६७२०००००	६७२०००००
५	१३४४०००००	१३४४०००००	१३४४०००००	१३४४०००००	१३४४०००००	१३४४०००००	१३४४०००००
६	२६८८०००००	२६८८०००००	२६८८०००००	२६८८०००००	२६८८०००००	२६८८०००००	२६८८०००००
७	५३७६०००००	५३७६०००००	५३७६०००००	५३७६०००००	५३७६०००००	५३७६०००००	५३७६०००००
योग	१०६६८००००० +	१०६६८००००० +	१०६६८००००० +	१०६६८००००० +	१०६६८००००० +	१०६६८००००० +	१०६६८००००० +

=७४६७६०००००० कुल प्रमाण हुआ

सौधर्मेन्द्र जिस प्रकार सात अनीकों के ७४६ करोड़ ७६ लाख सेना के साथ यहाँ जिनेन्द्र के जन्म महोत्सव में आता है, उसीप्रकार समस्त इन्द्रों में से प्रत्येक इन्द्र की सेना का प्रमाण अपने अपने सामानिक देवों की सेना से दूना दूना होता है, जिसे लेकर वे सब आते हैं। इसतरह उपर्युक्त समस्त सेना और तीनों पारिषद देवों से वेष्टित सौधर्म इन्द्र शचि के साथ ऐरावत हाथी पर चढ़कर महामहोत्सव के साथ स्वर्ग से जिनेन्द्र के जन्म कल्याणक की निष्पत्ति के समय निकलता है। अनेक आयुधों से अलंकृत अङ्गरक्षक देव इन्द्र को वेष्टित किये हुये निकलते हैं। प्रतीन्द्र, सामानिक देव, त्रायस्त्रिंश देव एवं लोकपाल आदि अवशेष देव इन्द्र के साथ स्वर्ग से मेरु पर्वत की ओर आते हैं।

अथेन्द्रस्यैरावतदन्तिनः किञ्चिद् वर्णनं करोमिः—

जम्बूद्वीपप्रमाणाङ्गं, वृत्ताकारं शंखेन्दु कुन्दधवलं नानाभरणघण्टाकिंकिणी तारिकाहेमकक्षादि भूषितं कामगं कामरूपधारिणं महोन्नतं ऐरावतगजेन्द्रं नागदत्ताख्याभियोग्येशो वाहनामरो विकरोति। तस्यदन्तिनः बहुवर्णानि, विचित्रतानि रम्याणि द्वात्रिंशद्वदनानि [1]एकैकस्मिन् वदने मृदुस्थूलायता अष्टौ-दन्ताः स्युः। एकैकस्मिन् दन्ते एकैकं चलत्कल्लोलरम्यं सरोवरं स्यात्। एकैकस्मिन्सरसि एकैका कमलिनी भवति। एकैकस्याः कमलिन्या एकैकस्मिन् दिग्भागे मणिवेदिकाङ्कितं एकैकं तोरणं भवेत्। प्रफुल्लद्वात्रिंशत्कमलानि च सन्ति। एकैकस्मिन् कमले एकैकयोजन सुगन्धायतानि द्वात्रिंशन्मनोहर पत्राणि स्युः। एकैकस्मिन् पत्रे दिव्यरूपाः सरसा द्वात्रिंशन्नटिकाः स्युः। एकस्मिन्नेकस्मिन् प्रत्येकं नाटके दिव्यरूपा द्वात्रिंशत्सुरनर्त्तक्यो नानारूपाणि विकृत्य मृदङ्गादि तूर्यैर्नानाचरणविन्यासैः करपल्लवैः कटीतटादिलयैः सानन्दा नृत्यन्ति। सर्वाः सप्तविंशति कोटिप्रमाः अप्सरसोऽष्टौमहादेव्यो लक्षवल्लभिकाश्च तद् गजेन्द्र पृष्ठमारुह्य तस्मिन् जन्मोत्सवे गच्छन्ति।

ऐरावतो हि शक्रस्य कीदृशो भवति प्रभो।
लक्षयोजनप्रोत्तुङ्गो विस्तरोऽपि तथा भवेत् ॥१॥
द्वात्रिंशद्वदनान्यस्य दन्ता अष्टौ मुखं प्रति।
दन्तं प्रतिसरश्चैकं नलिन्येकासरंप्रति ॥२॥
द्वात्रिंशत्कमलान्येव चैकैकां पद्मिनीं प्रति।
द्वात्रिंशदस्य पत्राणि प्रतिपद्मं विराजते ॥३॥
प्रतिपत्रं च द्वात्रिंशन्नृत्यंत्यप्सरसो वराः।
केषाञ्चित्संयतानां तु श्रूयतां भो! मतान्तरं ॥४॥
चतुर्मुखो गजो ज्ञेयो दन्तयुग्मं मुखं प्रति।
सरसीनां शतं ज्ञेयं प्रतिदन्तं जलैर्भृतम् ॥५॥

---

१. सववयणसट्ठदन्ता दन्तेसरसदनालिनी पणवीसा। पणवीसा स उ कमलाकमले अट्ठुत्तरंसयंपत्तं।

सरः प्रतिनलिनीनां पञ्च विंशतिकं ततः ।
नलिनीं प्रतिपद्मानां पञ्चविंशत्यधिकं शतं ॥६॥
नर्तकीनां प्रतिएद्यमष्टोत्तरशतं परं ।
एवं वैभवसंयुक्त गजं शक्रः स्थितोमुदा ॥७॥

अब इन्द्र के ऐरावत हाथी का संक्षिप्त वर्णन करते हैं:—

आभियोग्य देवों का अधिपति नागदत्त नामक वाहन जाति का देव जम्बूद्वीप प्रमाण अर्थात् एक लाख योजन प्रमाण गोल देह की विक्रिया करके इन्द्र का ऐरावत हाथी बनता है। जो शङ्ख, चन्द्र और कुन्द पुष्प के समान धवल अलङ्कारों, घण्टा, किङ्कणी, तारिकाओं (छोटे घुंघुरुओं) एवं इनकी कक्षा अर्थात् हाथी के पेट पर बांधने की रस्सी आदि से विभूषित, अत्यन्त सुन्दर, विक्रियारूप को धारण करने वाला तथा महा उन्नत होता है। उस हाथी के अनेक वर्णों से युक्त रमणीक बत्तीस मुख होते हैं। एक एक मुख में कोमल, मोटे और लम्बे आठ आठ दाँत होते हैं। (३२ मुख × ८ = २५६ दाँत हुये)। एक एक दाँत पर उठती हुई कल्लोलों से रमणीक एक-एक सरोवर होता है। (२५६ सरोवर हुये)। एक एक सरोवर में एक एक कमलिनी होती है। एक एक कमलिनी पर एक एक दिशा में मणियों की वेदिकाओं से अलंकृत एक एक तोरण होता है, प्रत्येक कमलिनी के साथ प्रफुल्लित रहने वाले बत्तीस बत्तीस कमल होते हैं (२५६ × ३२ = ८१९२ कमल होंगे)। एक एक कमल में एक एक योजन पर्यन्त सुगन्ध फैलाने वाले बत्तीस बत्तीस पत्र होते हैं—(८१९२ कमल × ३२ = २६२१४४ पत्र हुये)। एक एक पत्र पर दिव्य रूप को धारण करने वाले अतिमनोज्ञ बत्तीस नाटक (नाट्यशाला) होते हैं (२६२१४४ × ३२ = ८३८८६०८) और एक एक नाट्यशालाओं में दिव्यरूप को धारण करने वालीं बत्तीस बत्तीस अप्सराएँ नृत्य करतीं हैं (८३८८६०८ × ३२ = २६८४३५४५६ अप्सराएँ)। जो अनेक प्रकार की विक्रिया धारण करके मृदङ्ग आदि वादित्रों द्वारा, नाना प्रकार के चरण विन्यास द्वारा, हाथ रूपी पल्लवों द्वारा और कटितट आदि की लय के द्वारा आनन्द पूर्वक नृत्य करतीं हैं। ये समस्त सत्ताईस करोड़ अप्सराएँ, आठ महादेवियाँ और एक लाख वल्लभिकाएं उस ऐरावत हाथी की पीठ पर चढ़ कर उस जन्म महोत्सव में जाते हैं।

विशेषार्थ:—विक्रिया धारण करने वाले ऐरावत हाथी के ३२ मुख और प्रत्येक मुख में आठ आठ दाँत इत्यादि उपर्युक्त क्रम से मानने पर अप्सराओं की कुल संख्या छब्बीस करोड़ चौरासीलाख पेंतीस हजार चार सौ छप्पन (२६८४३५४५६) होती हैं, किन्तु आचार्य इनकी संख्या सत्ताईस करोड़ लिख रहे हैं, तथा अन्य आचार्यों के मतानुसार भी अप्सराओं की संख्या २७ करोड़ ही है। यथा:—

इस ऐरावत हाथी के सौ मुख होते हैं। प्रत्येक मुख में आठ-आठ दाँत (१०० × ८ = ८००) होते हैं। प्रत्येक दाँत पर जल से भरे हुये सरोवर (८००) होते हैं। प्रत्येक सरोवरों में पच्चीस-पच्चीस

नलिनी (८०० × २५ = २०००) होतीं हैं प्रत्येक नलिनी पर एक सौ पच्चीस कमल (२०००० × १२५ = २५०००००) होते हैं। प्रत्येक कमल में एक सौ आठ, एक सौ आठ पत्र (२५००००० × १०८ = २७०००००००) होते हैं, और प्रत्येक पत्र पर एक-एक अप्सरा नृत्य करती है, अतः कुल अप्सराओं की संख्या सत्ताईस करोड़ है।

नोट—पृष्ठ २१५ श्लोक ५-७ के अनुसार:—४ मुख × २ दन्त = ८ दन्त, प्रत्येक दांत पर १०० सरोवर, ८ × १०० = ८०० सरोवर, प्रत्येक सरोवर में २५ नलिनी, ८०० × २५ = २०००० नलिनी, प्रत्येक नलिनी पर १२५ कमल, २०००० × १२५ = २५००००० कमल, प्रत्येक कमल पर १०८ पत्र २५००००० × १०८ = २७००००००० पत्र, प्रत्येक पत्र पर एक एक अप्सरा अर्थात् कुल अप्सराएँ २७ करोड़ हैं।

अब ऐशान आदि अन्य इन्द्रों और अहमिन्द्रों आदि की स्थिति कहते हैं:—

यादृशी दक्षिणेन्द्रस्य सप्तानीकानां संख्यावर्णिता तादृशी संख्योत्तरेन्द्रस्य स्यात्। ईशानेन्द्रोऽपि दिव्यं तुरङ्गमारुह्यस्वपरिवारालंकृतो महाविभूत्यागच्छति। शेषा सनत्कुमारेन्द्राद्या अच्युतेन्द्रपर्यन्ता देवेन्द्राः समानीकत्रिपरिषद्वेष्टिताः स्वस्ववाहनविभूत्याश्रिताः सामराः सकलत्रास्तदायान्ति। भवनवासि व्यन्तर ज्योतिष्क देवेशाः समानीक त्रिपरिषदावृताः स्वस्ववाहन विमानाद्यारूढा महाविभूत्या स्वदेवदेवीभिः सहायागच्छन्ति सर्वे अहमिन्द्रा आसनकम्पेन तज्जन्मोत्सवं विज्ञाय सप्तपदान् गत्वा भक्त्या मूर्ध्ना स्थानस्था एव जिनेन्द्रं प्रणमन्ति। इत्यादि परया विभूत्या चतुर्णिकायसुरेन्द्राः, सामराः सकलत्राः नानादेवानकध्वानैर्बधिरीकृतदिग्मुखाः, ध्वजछत्रचामर विमानादिभिर्नभोऽङ्गणं छादयन्तः स्वर्गातीर्थेशोत्पत्तिपुरमागच्छन्ति।

अर्थः—जिस प्रकार दक्षिणेन्द्र के सात अनीकों की संख्या का वर्णन किया है। उसी प्रकार की संख्या आदि उत्तरेन्द्र के भी होती है। ऐशान इन्द्र भी दिव्य अश्वों पर चढ़कर अपने परिवार से अलंकृत होता हुआ, महाविभूति के साथ जन्माभिषेक में आता है। शेष सनत्कुमार इन्द्र आदि को लेकर अच्युत इन्द्र पर्यन्त के सभी देवेन्द्र सात अनीकों एवं तीन पारिषदों से वेष्ठित, अपने अपने वाहन रूपी विभूति का आश्रय लेकर समस्त देवों के साथ यहाँ आते हैं। भवनवासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिष्क देवों के इन्द्र भी सात अनीकों एवं तीन पारिषदों से वेष्ठित होते हुये, अपने-अपने वाहन एवं विमान आदि पर चढ़कर महाविभूति से युक्त होते हुये अपनी-अपनी देवियों के साथ यहाँ आते हैं। समस्त अहमिन्द्र आसन कम्पायमान होने से जिनेन्द्र के जन्म उत्सव को जानकर और सात पैर आगे जाकर मस्तक से अपने स्थान पर स्थित होकर ही जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार करते हैं। इसप्रकार परम विभूति से युक्त होते हुये चतुर्निकाय के इन्द्र अपने समस्त देवों के साथ नाना प्रकार के देववादित्रों के शब्दों द्वारा

दिशाओं को बहरी करते हुये तथा ध्वजा, छत्र, चामर और विमान आदि के साथ आकाशतल को व्याप्त करते हुये स्वर्ग से उस नगर में आते हैं, जहाँ तीर्थङ्कर की उत्पत्ति होती है।

अब बालतीर्थङ्कर के जन्माभिषेक आदि की समस्त प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन करते हैं:—

तत्रेन्द्राणी प्रसवागारं प्रविश्य मातुरग्रे परं मायाशिशुं निधाय तीर्थेशं प्रणम्यादाय गूढवृत्त्यानीय सौधर्मेन्द्रस्य करे ददाति। सोऽपि तं तीर्थङ्करं मुदाप्रणम्यस्तुत्वामहोत्सवेन मेरुमानीयपरीत्य पाण्डुकशिलास्थ मध्यसिंहासने धत्ते। ततः क्षीराब्धेः क्षीराम्बुभृतैः अष्टयोजनगम्भीरैर्योजनैकमुखविस्तृतैर्मुक्तादामाम्भोजचन्दना[1]द्यलंकृतैरष्टोत्तरसहस्रैः कनत्काञ्चनकलशैर्गीतनृत्यभ्रूपौरक्षेपादि [भ्रूत्क्षेपादि] महोत्सवशतैः, परया भक्त्या विभूत्या च नाकेन्द्राः सम्भूय जिनेन्द्रं स्नपयन्ति। यदि चेत्ता महत्योजलधारा यस्याद्रेरुपरि पतन्ति सोऽद्रिस्तत्क्षणं शतखण्डतां याति। अप्रमाणमहावीर्यः परमेश्वरस्तद्धारापतनं जलविन्दुवन्मन्यते। इतिध्वनद्वाद्यशतैर्जयजयादिनिर्घोषैः शुद्धाम्बुस्नपनं सम्पूर्णं विधायान्ते सुगन्धिद्रव्यमिश्रितैः गन्धोदक कुम्भैर्गन्धोदकस्नपनं शक्रा अस्य कुर्वन्ति। ततस्तद्गन्धोदकमभिवन्द्य दिव्यगन्धादिभिः स्वर्गोपनीतैर्महापूजाद्रव्यैर्जिनं प्रपूज्योत्तमांगेनदेवेन्द्रा इन्द्राणीदेवादिभिः सहोच्चैः प्रणमन्ति। पुनः शची नानासुगन्धद्रव्यदिव्यांशुक शाश्वत मणिनेपथ्यैस्तीर्थेशस्य महत्मण्डनं करोति, तदा सौधर्मेन्द्रो जगद्गुरोर्महारूप सम्पदोवीक्ष्य तृप्तिमप्राप्य पुनर्वीक्षितुं सहस्रनयनानि विदधाति। ततः परमानन्देन परमेश्वरं स्तुतिशतैः स्तुत्वा तत्पुरं नीत्वा पित्रोः समर्प्य तत्रानन्दनाटकं कृत्वा परं पुण्यमुपार्ज्य चतुर्णिकाय देवेशाः स्वस्वस्थानं गच्छन्ति।

अर्थः—प्रभु के जन्म नगर में आकर इन्द्राणी प्रसूतिगृह में प्रवेश करके माता के समीप जाकर सर्व प्रथम बाल तीर्थङ्कर को प्रणाम करती है, और उसी समय माता के समीप मायामयी बालक रख कर भगवान को उठाकर तथा गूढ़वृत्ति से लाकर सौधर्म इन्द्र के हाथों में दे देती है। वह इन्द्र भी उन तीर्थङ्कर प्रभु को प्रसन्नता पूर्वक प्रणाम करके एवं स्तुति करके महामहोत्सव के साथ मेरु पर्वत पर लाकर और मेरु की तीन प्रदक्षिणा देकर पाण्डुकशिला पर स्थित मध्य के सिंहासन पर प्रभु को विराजमान कर देता है। इसके बाद क्षीरसागर के क्षीर सदृश जल से भरे हुये आठ योजन (६४ मील) गहरे, एक योजन (८ मील) मुख विस्तार वाले, मोतियों की माला, कमल एवं चन्दन आदि से अलंकृत, अत्यन्त शोभायमान स्वर्ण के एक हजार आठ कलशों के द्वारा, गीत, नृत्य एवं भ्रू उपक्षेपण [भ्रूत्क्षेपण] आदि सैकड़ों महा उत्सवों के साथ, उत्कृष्ट भक्ति एवं परम विभूति से सभी इन्द्र एकत्रित होकर जिनेन्द्र भगवान् को स्नान कराते हैं। भगवान् के ऊपर गिरने वाली वह महान् जल की धारा यदि

१. चन्दनाद्यैरलंकृतै ब. ज.

कहीं उस पर्वत के ऊपर गिर जाय तो उस पर्वत के उसी क्षण सौ खण्ड हो जाँय, किन्तु अपरिमित महावीर्य को धारण करने वाले बाल जिनेन्द्र उन धाराओं के पतन को जलबिन्दु के समान मानते हैं। इस प्रकार शब्द करते हुये सैंकड़ों वादित्रों और जय जय आदि शब्दों के द्वारा शुद्ध जल का अभिषेक समाप्त करके अन्त में इन्द्र सुगन्धित द्रव्यों से मिश्रित, सुगन्धित जल से भरे हुये घड़ों के द्वारा सुगन्धित जल से अभिषेक करता है। पश्चात् उस गन्धोदक की अभिवन्दना करके महापूजा के लिये स्वर्ग से लाये हुये दिव्य गन्ध आदि द्रव्यों के द्वारा बाल जिनेन्द्र की पूजा करके इन्द्र अपनी इन्द्राणी एवं अन्य देवों के साथ उत्साह पूर्वक प्रणाम करते हैं। इसके बाद शची अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों से, दिव्य वस्त्रों से और मणियों के आभूषणों से तीर्थेश का महान श्रृङ्गार करती है। उस समय सौधर्म इन्द्र जगद्गुरु की महारूप स्वरूप सम्पदा को देखकर तृप्त नहीं होता और पुनः पुनः देखने के लिये एक हजार नेत्र बनाता है। ततः उत्कृष्ट आनन्द से युक्त होता हुआ भगवान् की सैकड़ों स्तुतियाँ करता है। अर्थात् सहस्रों प्रकार से भगवान् की स्तुति करता है। इसके बाद नगर में लाकर पिता को सौंप देता है, पश्चात् पितृगृह के प्राङ्गण में आनन्द नाम का नाटक करके, तथा उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करके इन्द्र एवं चतुर्निकाय के देव अपने-अपने स्थानों को वापिस चले जाते हैं।

अब भद्रशाल वन में स्थित जिनालयों के प्रमाण का वर्णन करते हैं:—

अथ मेरोश्चतुर्दिक्षु भद्रशालवनस्थितान् ।
वर्णयामि मुदोत्कृष्टांश्चतुरः श्रीजिनालयान् ।
अद्रेः पूर्वदिशाभागे योजनैकशतायतः ।
पञ्चाशद् विस्तृतस्तुङ्गः पञ्चसप्ततियोजनैः ॥७॥
कोशद्वयावगाहश्च विचित्रमणिचित्रितः ।
अद्भुतः स्याज्जिनागारस्त्रैलोक्यतिलकाह्वयः ॥८॥

अर्थः—सुमेरुपर्वत की चारों दिशाओं में भद्रशाल वन है जिसमें उत्कृष्ट चार जिनालय हैं, अब मैं (आचार्य) उन जिनालयों का प्रसन्नता पूर्वक वर्णन करता हूँ ।६॥

सुदर्शन मेरु की पूर्व दिशा (भद्रशाल वन) में नाना प्रकार की मणियों से रचित त्रैलोक्य-तिलक नाम का एक अद्भुत जिनालय है, जो सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा, पचहत्तर योजन ऊँचा और अर्ध योजन अवगाह (नींव) वाला है ॥७-८॥

त्रैलोक्यतिलक जिनालय के दरवाजों का वर्णनः—

अस्य पूर्वप्रदेशेऽस्ति चोत्तरे दक्षिणे महत् ।
एकैकमूर्जितं द्वारं रत्नहेममयं परम् ॥६॥

राजते नितरां द्वारं तयोः पूर्वस्थमादिमम् ।
अष्टयोजनविस्तीर्णं तुङ्गं षोडशयोजनैः ॥१०॥
दक्षिणोत्तरदिग्भागस्थे द्वे द्वारे परे शुभे ।
भातोऽष्टयोजनोत्तुङ्गे चतुर्योजन विस्तरे ॥११॥

अर्थ.—इस त्रैलोक्य तिलक जिनभवन के पूर्व, उत्तर और दक्षिण में रत्न एवं स्वर्णमय एक एक उत्कृष्ट द्वार हैं। उत्तर-दक्षिण दोनों द्वारों के मध्य पूर्व दिशा में स्थित प्रथम द्वार अत्यन्त शोभायमान है, जिसकी ऊँचाई सोलह योजन और चौड़ाई आठ योजन प्रमाण है। जिनालय की दक्षिणोत्तर दिशा में जो एक एक द्वार सुशोभित हैं, उनकी ऊँचाई आठ योजन और चौड़ाई चार योजन प्रमाण है ॥९-११॥

अब जिनालय के अभ्यन्तर एवं बाह्यभागों में स्थित मालाओं, धूपघटों एवं स्वर्ण घटों का प्रमाण आदि कहते हैं:—

भवनस्यास्य चाभ्यन्तरे पूर्वे विस्फुरन्त्यलम् ।
विचित्रामणिमालाश्चाष्टसहस्राणिलम्बिताः ॥१२॥
तासामन्तरभागेषु चतुर्विंशतिसम्मिताः ।
सहस्राणां विराजन्ते माला रत्नांशुसञ्चयैः ॥१३॥
चतुर्विंशसहस्राणि दिव्या धूपघटाः शुभाः ।
सुगन्धि द्रव्य धूपैः स्युः सुगन्धीकृतदिग्मुखाः ॥१४॥
स्युर्द्वात्रिंशत्सहस्राणि कलशा भानुतेजसः ।
सुगन्धिदामराशीनां सन्मुखा मणिहेमजाः ॥१५॥
तद्बहिर्भागदेशेषु मणिमालाः प्रलम्बिताः ।
चत्वारि च सहस्राणि सन्ति दीप्ता मनोहराः ॥१६॥
द्वादशैवसहस्राणि स्युः काञ्चनस्रजोऽमलाः ।
तस्मिन्नेव बहिर्भागे दिव्याधूपघटाः स्मृताः ॥१७॥
द्विषट्सहस्रसंख्याताः सहस्रषोडशप्रमाः ।
दीप्ताः[1]काञ्चनकुम्भाश्च स्फुरन्तिस्वाङ्गरश्मिभिः ॥१८॥

---

१. दीप्ता: अ. ज. न.

अर्थ:—उस जिनालय के अभ्यन्तर भाग में स्थित पूर्व दिशा के द्वार पर अत्यन्त देदीप्यमान नाना प्रकार की मणियों की आठ हजार मालाएँ लटकतीं हैं, और इनके मध्य में रत्नकिरणों से उपचित चौबीस हजार मालाएँ विराजमान होती हैं। सुगन्धित द्रव्य एवं धूप के द्वारा दिशाओं को सुगंधित करने वाले चौबीस हजार धूपघट स्थित हैं। सुगन्धित माला समूहों के अभिमुख, सूर्य सदृश तेजपुञ्ज से संयुक्त बत्तीस हजार मणि एवं स्वर्णमय कलश स्थित हैं। मुख्यद्वार के बाह्यभाग में जो द्वार हैं, उन पर अति मनोहर और दीप्तवान् चार हजार मणिमय मालाएँ, और बारह हजार स्वर्णमय मालाएँ हैं। इनके भी बाह्य भाग में बारह हजार प्रमाण दिव्य धूपघट और स्फुरायमान होने वाली अपनी किरणों से दीप्त सोलह हजार स्वर्ण कलश स्थित हैं॥१२–१८॥

अब पीठ, सोपान एवं पीठवेदियों के व्यास आदि का और जिन प्रतिमाओं का वर्णन चौदह श्लोकों द्वारा करते हैं:—

जिनागारेऽत्र सन्त्येवदीर्घाणिषोडशप्रमैः ।
साधिकैर्योजनैर्विस्तृतान्यष्टाधिकयोजनैः ॥१९॥
[illegible]
वज्रेन्द्रनीलरत्नादिमयानि परमान्यपि ॥२०॥
मणिसोपान पंक्तिः स्यात्सदीर्घा च योजनैः ।
द्व्यष्टभिरष्टमिर्व्यासाषड्योजनोन्नता शुभा ॥२१॥
क्रोशद्वयावगाहास्स्यादष्टोत्तर शतान्यपि ।
सोपानानि भवन्त्येवप्रोन्नतानि चतुःशतैः ॥२२॥
किञ्चिदूनैश्चचापैः पञ्चचत्वारिंशदग्रगैः ।
पीठपर्यन्तभागेऽस्ति दिव्याःसद्रत्नवेदिकाः ॥२३॥
क्रोशद्वयोन्नताः पञ्चशतचापप्रविस्तृताः ।
तेषु पीठेषु दिव्याङ्गा अष्टोत्तरशतप्रमाः ॥२४॥
स्फुरन्नानामणिस्वर्णमय्योऽथिनश्वराः शुभाः ।
धनुः पंचशतोतुङ्गामनोज्ञावीक्षणप्रियाः ॥२५॥
निराभरणदीप्ताश्च[1] निरम्बरमनोहराः ।
कोटयर्कभानुतेजोऽधिक सुतेजो विराजिताः ॥२६॥

---

१. दीप्ताश्च अ. ज. न.

लक्षणैर्व्यंजनैर्युक्ताः पल्यङ्कासनसंस्थिताः ।
पूर्णसोममुखाः सौम्याः समस्तविक्रियातिगाः ॥२७॥
दिव्यभामण्डलान्तर्बाह्योच्छेदितमश्चयाः ।
प्रफुल्लपद्मसद्धस्ता आरक्तचरणाम्बुजाः ॥२८॥
अञ्जनाभमहाकेशा अताम्रनयनोत्पलाः ।
विद्रुमाभाधराः छत्रत्रयशोभितमस्तकाः ॥२९॥
दिव्यसिंहासनारूढा भामण्डलात्तविग्रहाः ।
महार्चनार्चितायक्षैर्वीज्यमानाः प्रकीर्णकैः ॥३०॥
निरौपम्या जगन्नेत्रप्रियाः पुण्याकरा इव ।
हसन्त्यो वा वदन्त्यो वा मुखचन्द्रेण संततम् ॥३१॥
त्रिजगन्नृसुराराध्यावन्द्याः स्तुत्यामया सदा ।
राजन्ते श्रीजिनेन्द्राणां प्रतिमादिव्य मूर्तयः ॥३२॥

अर्थ:—त्रैलोक्यतिलक जिनभवन में वज्र एवं इन्द्रनीलमणिमय एक पीठ है जो कुछ अधिक सोलह योजन लम्बा, आठ योजन चौड़ा, दो योजन ऊँचा, अत्यन्त शुभ और परमोत्कृष्ट है ॥१९-२०॥ वहाँ पर सोलह योजन लम्बी, आठ योजन चौड़ी, छह योजन ऊँची और अर्ध योजन नींव से युक्त मणिमय सोपान पंक्ति है, तथा उस सोपान पंक्ति में एक सौ आठ सोपान हैं, जिनमें से प्रत्येक सोपान कुछ कम चार सौ पैंतालीस धनुष ऊँचे हैं। पीठ पर दिव्य और उत्तम रत्न वेदियाँ हैं, जो अर्ध धनुष ऊँची और पाँच सौ धनुष चौड़ी हैं। उन वेदिकाओं पर श्री जिनेन्द्र भगवान् की ऐसी एक सौ आठ प्रतिमाएँ सुशोभित हैं, जो अत्यन्त विभावान् मणि एवं स्वर्णमय हैं। अविनश्वर अर्थात् अकृत्रिम हैं। अत्यन्त शुभ, मनोज्ञ, देखने में अति प्रिय और दिव्य अङ्ग वाली हैं। पांच सौ धनुष ऊँची हैं, वस्त्राभूषणों से रहित अर्थात् दिगम्बर मुद्रा युक्त हैं, और करोड़ों सूर्यों के तेज से भी अधिक कान्तिवान् हैं ॥२१-२६॥

वे जिन प्रतिमाएँ (१०८) लक्षणों एवं (९००) व्यञ्जनों से युक्त तथा पूर्ण चन्द्र के सदृश मुख वाली हैं। उनकी शरीराकृति अत्यन्त सौम्य और सर्व विकारों से रहित है, वे सभी पद्मासन से स्थित हैं। उनका भामण्डल अन्तर-बाह्य अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला है। उनके करकमल एवं चरणकमल खिले हुए कमल सदृश अर्थात् कुछ कुछ लाल हैं, केश अञ्जन सदृश काले, नेत्र कमल लालिमा से रहित, ओंठ विद्रुम की आभा सदृश लाल और मस्तक तीन छत्रों से सुशोभित है। दिव्य सिंहासन पर विराजमान उनका शरीर अत्यन्त कान्तिवान् है। वे महापूजा से पूज्य, यक्षों द्वारा वीज्यमान चामरों से युक्त, उपमा रहित, तीन लोक के नेत्रों को अत्यन्त प्रिय और पुण्य की खान के समान

हैं। वे जिन प्रतिमाएँ शोभायमान मुख चन्द्र से मानो निरन्तर हँस रहीं हैं, और बोल रहीं हैं तथा तीन लोक के मनुष्यों एवं देवों से पूज्य और मेरे द्वारा सदा वन्दनीय एवं स्तुत्य हैं ॥२७–३२॥

धर्मोपकरणों (मङ्गलद्रव्यों) का वर्णन:—

अकृत्रिमा महामूल्या धर्मोपकरणैः परैः ।
प्रत्येकं भिन्नभिन्नैर्मु दाष्टोत्तरशतप्रमैः ॥३३॥
अशोकवृक्षशोभाढ्यादेवदुन्दुभिभूषिताः ।
सुरैः कृतमहापुष्पवृष्टयाच्छादितमूर्तयः ॥३४॥

अर्थः—अकृत्रिम और महाविभूति स्वरूप भिन्न-भिन्न मङ्गल द्रव्यों (झारी, कलश, दर्पण, पंखा, ध्वजा, चामर, छत्र और ठोनों) की संख्या एक सौ आठ-एक सौ आठ है। वे प्रतिमाएँ (छत्र, चमर, सिंहासन, भामण्डल और) अशोक वृक्ष को शोभा से युक्त, देवदुन्दुभि से विभूषित और देवों द्वारा की हुई महापुष्पवृष्टि से आच्छादित (व्याप्त) होती हैं ॥३३–३४॥

गर्भगृह का वर्णन:—

शुद्धस्फटिकभित्त्याढ्यं वैडूर्यस्तम्भशोभितम् ।
नानारत्नप्रभाकीर्णं दिव्यामोदात्तदिग्मुखम् ॥३५॥
जिनेन्द्रप्रतिमानां तद्देवच्छन्दाख्यनामधृत् ।
गर्भगृहं जगत्सारं राजते नितरांश्रिया ॥३६॥

अर्थः—शुद्ध–निर्विकार स्फटिक मणिमय दीवालों से युक्त, वैडूर्यमणिमय खम्भों से सुशोभित, अनेक प्रकार के रत्नों की प्रभा से व्याप्त, दिव्य आमोद से ग्रहण–सुगन्धित किया है दिशाओं को जिसने ऐसा जगत के सार स्वरूप जिनेन्द्र प्रतिमाओं सम्बन्धी देवच्छन्द नाम का गर्भगृह अत्यन्त शोभा से सुशोभित होता है ॥३५–३६॥

ध्वजाओं, मुखमण्डपों और प्राकारों का निर्धारण करते हैं:—

सद्रत्नवेदिकाग्रेषु सुपीठ शिखरेषु च ।
मणिस्तम्भेषु राजन्ते महान्तोऽत्र ध्वजोत्कराः ॥३७॥
सिंहहस्तिध्वजा हंसवृषभाब्ज शिखिध्वजा ।
मकरध्वजचक्रातपत्राख्यागरुडध्वजाः ॥३८॥
एते महाध्वजा रम्या दशभेद युताः शुभाः ।
प्रत्येकं च पृथग्रूपा अष्टोत्तरशतप्रमाः ॥३९॥

एकैक सद्ध्वजानां सम्बन्धिनः क्षुल्लकध्वजाः ।
अष्टाग्रशतसंख्याताः सन्ति मुक्तास्रगङ्किताः ॥४०॥
एते सर्वे ध्वजव्राता गोपुरेभ्यः समुन्नताः ।
मुखमण्डपसंज्ञानां त्रयाणां स्युर्बहिर्दिशि ॥४१॥
सुवर्णमणिसद्रूप्यमयाश्च योजनोच्छ्रिताः ।
स्युः प्राकारास्त्रयस्तत्र महान्तो रचनाङ्किताः ॥४२॥
प्राकारंप्रति चत्वारि सद्रत्नगोपुराण्यपि ।
सन्त्युत्तुङ्गानि दीप्तानि योजनैः षोडशप्रमैः ॥४३॥
शतैकयोजनायामाः पञ्चाशद्विस्तरान्विताः ।
क्रोशद्वयावगाहाः प्रोन्नताः षोडशयोजनैः ॥४४॥
संतप्तहेमदीप्ताङ्गा विचित्ररत्नचित्रिताः ।
नित्योत्सवयुतारम्या विज्ञेया मुखमण्डपाः ॥४५॥

अर्थः—श्रेष्ठ रत्न वेदिकाओं के अग्रभाग पर, पीठ के शिखर पर और मणिमय स्तम्भों के ऊपर महान ध्वजाओं के समूह शोभायमान होते हैं। वे अत्यन्त रमणीय महा ध्वजा समूह सिंह, हाथी, हंस, वृषभ, कमल, मयूर, मकरध्वज, चक्र, आतपत्र और गरुड़ के भेद से दश प्रकार के हैं। इन प्रत्येक भेदों की भिन्न भिन्न एक सौ आठ, एक सौ आठ (१०८ × १० = १०८०) ध्वजाएँ होतीं हैं और उन १०८ ध्वजाओं के भी पृथक्-पृथक् एक सौ आठ, एक सौ आठ छोटी ध्वजाएँ (१०८० × १०८ = ११६६४०) मुक्ता की मालाओं से सुशोभित होतीं हैं ॥३७–४०॥

ये समस्त ध्वजाओं के समूह गोपुरों से ऊँचे हैं। तीनों मुखमण्डपों के बाहर तीन कोट हैं। ये तीनों कोट, स्वर्ण, मणि एवं रजतमय हैं, एक योजन ऊँचे तथा महान रचना से सहित हैं। प्रत्येक कोट में उत्तम रत्नों से भास्वर एवं उत्तुङ्ग चार चार गोपुरद्वार (प्रतोली) हैं, जो सोलह योजन ऊँचे हैं ॥४१–४३॥

तपाये हुये स्वर्ण के सदृश देदीप्यमान, नानाप्रकार के रत्नों से खचित, सदैव होने वाले महा महोत्सवों से युक्त और अत्यन्त रमणीय मुखमण्डप भी सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौड़े, सोलह योजन ऊँचे और अर्ध योजन नींव वाले जानना चाहिये ॥४४–४५॥

अब प्रेक्षागृह एवं सभागृहों का वर्णन करते हैं:—

तदग्रेयोजनानां च शतैकायामविस्तराः ।
भवन्त्यर्धावगाहाः प्रोत्तुङ्गाः षोडशयोजनैः ॥४६॥

नानारत्नमया रम्याः प्रेक्षागृहा मनोहराः ।
तेषां च पुरतः सन्तितुङ्गाः षोडशयोजनैः ॥४७॥
योजनानां चतुःषष्टिदीर्घव्यासान्विताः पराः ।
हेमरत्नमयास्तेजोजालावृताः सभागृहाः ॥४८॥
तेषां सभागृहाणां काञ्चन पीठानिसन्ति च ।
अशीतियोजनायामविस्तृतानि शुभान्यपि ॥४९॥
द्वियोजनोच्छ्रितान्युच्चैः पद्मवेदीयुतानि वै ।
मनोहराणि रम्याणि प्रदीप्तैर्मणि तोरणैः ॥५०॥

अर्थः—उन मुखमण्डपों के आगे सौ योजन लम्बे, सौ योजन चौड़े, सोलह योजन ऊँचे, अर्ध योजन नींव से युक्त अनेक रत्नों से व्याप्त, अत्यन्त रमणीक और मन को हरण करने वाले प्रेक्षागृह हैं। उन प्रेक्षागृहों के आगे सोलह योजन ऊँचे, चौंसठ योजन लम्बे, चौंसठ योजन चौड़े, दीप्ति समूह से आवृत स्वर्ण एवं रत्नमय उत्तम सभागृह हैं ॥४६–४८॥ उन सभागृहों के पीठ स्वर्णमय हैं; तथा अस्सी योजन लम्बे, अस्सी योजन चौड़े और अत्यन्त सुन्दर हैं। वे पीठ देदीप्यमान मणियों के दो योजन ऊँचे तोरणों से संयुक्त, अत्यन्त रमणीक और मनोहर पद्मवेदी से रम्य हैं ॥४९–५०॥

अब नवस्तूप और मानस्तम्भ का वर्णन करते हैं:—

तेषां सभालयानां पुरतः स्तूपा नवोर्जिताः ।
योजनानां चतुःषष्ट्यायामव्यासोन्नताः शुभाः ॥५१॥
जिनेन्द्रप्रतिमापूर्णा मेखलात्रयसंयुताः ।
चतुर्विंशतिसद्धेमवेदीभिर्वेष्टिताः पराः ॥५२॥
रत्नपीठेषु चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रितेषु च ।
स्फुरद्रत्नमयाः सन्ति स्थितादेवखगार्चिताः ॥५३॥
गोपुराणां बहिर्भागे वीथीनां मध्यभूमिषु ।
मानस्तम्भा भवन्त्युच्चैः दीप्ता घण्टाद्यलंकृताः ॥५४॥

अर्थः—उन सभागृहों के आगे चालीस योजन ऊँचे रत्नमय पीठों पर देव और विद्याधरों से पूजित देदीप्यमान रत्नमय जिनेंद्र प्रतिमाओं से संयुक्त, तीन मेखलाओं से वेष्टित चौंसठ योजन लम्बे, चौंसठ योजन चौड़े और चौंसठ योजन ऊँचे, श्रेष्ठ स्वर्णमय चौबीस वेदियों से परिवेष्टित, अति उत्तम और अत्यन्त सुन्दर नव स्तूप हैं ॥५१–५३॥ गोपुरों के बाह्यभाग में तथा वीथियों (गलियों) की मध्यभूमि में अतिशय प्रभावान् और घंटा आदि से अलंकृत मानस्तम्भ हैं ॥५४॥

अब चैत्यवृक्ष का वर्णन सात श्लोकों द्वारा करते हैं:--

स्तूपानां पुरतोगत्वा हेमपीठं भवेन्महत् ।
सहस्रयोजनायाम विस्तारंमणिभास्वरम् ।।५५।।
युतं द्वादशवेदीभिर्वेष्टितं तोरणमण्डितम् ।
पीठस्योपरिसन्ति प्रोन्नताः षोडशयोजनैः ।।५६।।
अष्टयोजनविस्तीर्णाश्चैत्यवृक्षाः शुभप्रदाः ।
रम्याः सिद्धार्थनामानो महान्तः सुरपूजिताः ।।५७।।
एकं लक्षं च चत्वारिंशत्सहस्रं तथा शतम् ।
विंशत्यग्रमिमासंख्याविज्ञेया चैत्यशाखिनाम् ।।५८।।
द्रुमाणां भूतलाद्गत्वा चत्वारियोजनानि च ।
चतुर्दिक्षुचतस्रः स्युर्द्विषट्कयोजनायताः ।।५९।।
योजनैकसुविस्तीर्णा महाशाखाः क्षयातिगाः ।
मूलेषु चैत्यवृक्षाणां चतुर्दिक्षु मनोहराः ।।६०।।
जिनेन्द्रप्रतिमाः शाश्वताः पल्यङ्कासन स्थिताः ।
भवेयुर्मणिदीप्ताङ्गाः प्रातिहार्यश्रियार्चिताः ।।६१।।

अर्थ:--स्तूपों के आगे (पूर्व दिशा की ओर) जाकर एक हजार योजन लम्बा और एक हजार योजन चौड़ा, मणियों की प्रभा से दीप्तवान्, बारह वेदियों से वेष्ठित तथा उत्तम तोरणों से मण्डित एक स्वर्णमय पीठ है। उस पीठ के ऊपर सोलह योजन ऊँचा और आठ योजन चौड़ा अति शोभायुक्त, रमणीक और देवों से पूजित एक सिद्धार्थ नाम का महान चैत्यवृक्ष है ।।५५-५७।। उस चैत्यवृक्ष के परिवार वृक्षों की संख्या एक लाख चालीस हजार एक सौ बीस जानना चाहिये ।।५८।।

चैत्यवृक्ष के भूमितल भाग से चार योजन ऊपर जाकर बारह योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी प्रमाण वाली तथा विनाश से रहित चार महाशाखाएँ चारों दिशाओं में फैली हैं। चैत्यवृक्षों के मूलभाग को चारों दिशाओं में पल्यङ्कासन (पद्मासन) से स्थित एक एक जिनेन्द्र प्रतिमाएँ हैं। जो अपनी सुन्दरता से मन को हरण करने वाली, उत्पत्ति विनाश से रहित, मणियों की दीप्ति से भास्वर शरीर वाली तथा अष्टप्रातिहार्य आदि लक्ष्मी से सेव्यमान हैं ।।५९-६१।।

अब ध्वजापीठ, स्तम्भ, ध्वजासमूह और वापियों का वर्णन पाँच श्लोकों के माध्यम से करते हैं:--

ततश्चैत्यद्रुमेभ्योऽनुगत्वा प्राग्दिग्महीतले ।
महत्पीठं ध्वजौघानां स्याद्वेदीद्वादशाङ्कितम् ।।६२।।

पीठस्योपरिचोत्तुङ्गाः सन्ति षोडशयोजनैः ।
क्रोशव्यासामहास्तम्भाः सद्वैडूर्यमयाः शुभाः ॥६३॥
स्तम्भानां शिखरेषुस्युर्नानावर्णान्विता ध्वजाः ।
छत्रत्रयांकिता मूर्ध्निदिव्यरूपाह्यनूतोपमाः ॥६४॥
ध्वजानांपुरतो वाप्यो दीर्घाः शतैकयोजनैः ।
पञ्चाशद्विस्तृताः स्युश्चावगाहा दशयोजनैः ॥६५॥
युताः काञ्चनवेदीभिर्मणि तोरणभूषिताः ।
निर्जन्तुजलसम्पूर्णाः शाश्वताः कमलाश्रिताः ॥६६॥

अर्थः—उस चैत्यवृक्ष से पुनः पूर्व दिशा में जाकर पृथ्वीपर बारह वेदियों से संयुक्त ध्वजासमूहों का एक विशाल पीठ है ॥६२॥ उस पीठ के शिखर पर सोलह योजन ऊँचे और एक कोस विस्तार से युक्त वैडूर्यमणिमय अति शोभायुक्त महास्तम्भ (खम्भे) हैं ॥६३॥ इन खम्भों के शिखरों पर विविध वर्णों से समन्वित, शिखर पर तीन छत्रों से सुशोभित, दिव्य रूप से सम्पन्न और अनुपम ध्वजाएँ हैं ॥६४॥ उन ध्वजाओं के आगे सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी और दश योजन गहरी, स्वर्ण वेदियों से वेष्ठित, मणिमय तोरणों से विभूषित, निर्जन्तु अर्थात् स्वच्छ जल से परिपूर्ण और कमलों से व्याप्त, शाश्वत विद्यमान रहने वालीं वापियाँ हैं ॥६५-६६॥

अब क्रीड़ा प्रासादों का और तोरणों के विस्तार आदि का वर्णन करते हैं:—

वापीनां प्राक्तने भागे ह्युत्तरे दक्षिणे शुभाः ।
स्वर्णरत्नमयाः सन्ति प्रासादाः कृत्रिमातिगाः ॥६७॥
पञ्चाशद्योजनोत्सेधाः पञ्चविंशति योजनैः ।
आयामव्याससंयुक्ता रत्नवेद्याद्यलंकृताः ॥६८॥
एषु क्रीडागृहेषूच्चैः देवाः क्रीडां प्रकुर्वते ।
तेभ्यः पूर्वदिशंगत्वा विचित्रं रत्नतोरणम् ॥६९॥
स्याद्योजनशतार्धोच्चं पञ्चविंशति विस्तरम् ।
मुक्तादामांकितं रम्यं वरघण्टाचयान्वितम् ॥७०॥

अर्थः—उन वापियों के पूर्व, उत्तर और दक्षिण भागों में अत्यन्त शुभ, स्वर्ण एवं रत्नमय तथा अकृत्रिम क्रीड़ा प्रासाद हैं। वे क्रीड़ागृह पचास योजन ऊँचे, पच्चीस योजन लम्बे एवं चौड़े और रत्नों की वेदी आदि से अलंकृत हैं। उन क्रीड़ागृहों में देवगण नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं। उन

क्रीड़ागृहों से आगे पूर्व दिशा में जाकर रत्नों से व्याप्त विचित्र तोरण है, जो पचास योजन ऊँचा, इससे आधा अर्थात् पच्चीस योजन चौड़ा, मुक्ता माला से संयुक्त, रमणीय एवं उत्तम घण्टा समूह से समन्वित है ।।६७–७०।।

अब प्रासादों, ध्वजाओं और वनखण्डों का निर्देश करते हैं:—

ततोऽस्यतोरणस्यैव पार्श्वयोः स्तो द्वयोः परौ ।
द्वौ द्वौ सद्रत्नगेहौ च शतैकयोजनोन्नतौ ।।७१।।
ततः परं विचित्राः स्युर्ध्वजव्राताः समुन्नताः ।
नानावर्णामहान्तोऽशीतिसहस्रप्रमाणकाः ।।७२।।
शततोरण संयुक्ता वनवेदी प्रवेष्टिताः ।
ततः परे महीभागे वनखण्डं स्फुरत्प्रभम् ।।७३।।
वनवेदीयुतं रत्नतोरणाढ्यं मनोहरम् ।
विचित्रमणिपीठाग्रस्थितद्रुमौघशोभितम् ।।७४।।
विद्रुमोत्थमहाशाखंहेमपुष्पौघशोभितम् ।
वैडूर्यफलपूर्णमरकताश्मसुपत्रकम् ।।७५।।
चम्पकाशोकवृक्षाम्रसप्तपर्णद्रुसंश्चितम् ।
कल्पपादपसंकीर्णंशाश्वतं स्यात् खशर्मदम् ।।७६।।

अर्थः—इसके आगे तोरण के दोनों पार्श्वभागों में सौ सौ योजन ऊँचे और उत्तम रत्नों के दो दो भवन हैं ।।७१।। इसके आगे विविध वर्णों के, समुन्नत और महान् एक हजार अस्सी (१०८×१० =१०८०) संख्या प्रमाण विचित्र ध्वजाओं के समूह हैं, जो सौ तोरणों से संयुक्त और उत्तम वनवेदी से परिवेष्ठित हैं । इसके आगे पृथ्वीतल पर देदीप्यमान प्रभा से भासुर वनखण्ड हैं, जो वनवेदी से युत, रत्नतोरणों से संयुक्त, मन को हरण करनेवाले, नाना प्रकार की मणि पीठों के अग्रभाग पर स्थित वृक्षसमूहों से सुशोभित, विद्रुम अर्थात् प्रवालमय शाखाओं की शोभा से युक्त, स्वर्ण के पुष्प समूह से समृद्ध, वैडूर्यमय फलों से व्याप्त, मरकत मणि के पत्थरमय उत्तम पत्रों से संकीर्ण, चम्पक, अशोकवृक्ष, आम्र एवं सप्तपर्ण के वृक्षों द्वारा गहन, अन्य कल्पवृक्षों से परिपूर्ण, अनाद्यनिधन और इन्द्रियों को सुख देने वाले हैं ।।७२–७६।।

अब मेरु के जिन भवनों की अवस्थिति और अन्य वनों आदि में स्थित जिनालयों के विस्तार आदि का वर्णन पाँच श्लोकों द्वारा करते हैं:—

तेषां कल्पद्रुमाणांसन्मूले स्युर्जिनमूर्तयः ।
चतुर्दिक्षुमहादीप्ताः प्रातिहार्याद्यलंकृताः ।।७७।।

इत्यादि रचनाभिश्च यथा यं श्रीजिनालयः ।
वर्णितः पूर्वदिग्भागे मेरोराद्यवनेऽखिलः ।।७८।।
तथापरे जिनेन्द्राणां मेरोर्दिक्त्रिषु संस्थिताः ।
समानवर्णनोपेताज्ञेयाश्चैत्यालयास्त्रयः ।।७९।।
इत्येवं वर्णनैः सर्वे जिनालया अकृत्रिमाः ।
समानाः सदृशाज्ञेयाः स्थितालोकत्रयेऽपरे ।।८०।।
किन्त्वन्येषां जिनेन्द्रालयानां स्याद्वर्णनापृथक् ।
मध्यमानां जघन्यानामायामोत्सेधविस्तरैः ।।८१।।

अर्थः—उन कल्पवृक्षों के मूलभाग की चारों दिशाओं में महादीप्तवान् एवं प्रातिहार्य आदि से अलंकृत जिनेन्द्रों की प्रतिमाएँ हैं ।।७७।। जिस प्रकार सुदर्शन मेरु के प्रथम-भद्रशाल वन के पूर्व भाग में स्थित श्री जिनमन्दिर का अनेक प्रकार की रचना आदि के द्वारा सम्पूर्ण वर्णन किया है, उसी प्रकार सुदर्शन मेरु सम्बन्धी भद्रशाल वन में तीनों दिशाओं में स्थित तीन चैत्यालयों का वर्णन जानना चाहिये ।।७८-७९।। इस प्रकार तीन लोक में स्थित अन्य समस्त अकृत्रिम जिनालयों की रचना आदि का समस्त वर्णन उपर्युक्त वर्णन के सदृश ही जानना चाहिये, परन्तु अन्य जिनालयों अर्थात् मध्यम जिनालयों और जघन्य जिनालयों के आयाम, उत्सेध और विस्तार आदि का वर्णन पृथक् पृथक् है ।।८० ८१।।

अब देवों, विद्याधरों एवं अन्य भव्यों द्वारा की जाने वाली भक्ति विशेष का निदर्शन करते हैं:—

एषु श्रीजिनगेहेषु कुर्वन्त्युच्चैर्महामहम् ।
जिनेन्द्र दिव्यमूर्तीनामागत्य भक्तिनिर्भराः ।।८२।।
चतुर्णिकायदेवेशा देवदेव्यादिभिः समम् ।
प्रत्यहं स्वर्गलोकोत्थैर्महार्चा द्रव्य भूरिभिः ।।८३।।
खगेशाः खचरीभिश्च सहाभ्येत्यात्र पूजनम् ।
अर्हतां विविधं कुर्युर्भक्त्या दिव्याष्टधार्चनैः ।।८४।।
चारणा ऋषयो नित्यं जिनेन्द्रगुणरञ्जिताः ।
अत्रेत्य जिनचैत्यादीन् प्रणमन्ति स्तुवन्ति च ।।८५।।
अन्येऽपि बहवो भव्या प्राप्तविद्या वृषोत्सुकाः ।
जिनार्चा अर्चयन्त्यत्र भक्त्या नरोत्तमाः सदा ।।८६।।

एषु चाप्सरसो नित्यं कुर्वन्ति नृत्यमूर्जितम् ।
जिनेशगणभृद्दिव्य चरित्रैरीक्षणप्रियम् ॥८७॥
दिव्यकण्ठाश्च किन्नर्यो गन्धर्वा वीणया समम् ।
गायन्ति सारगीतानि तीर्थेश गुणजान्यपि ॥८८॥
इत्युत्सवशतैः पूर्णा विश्व चैत्यालया इमे ।
संक्षेपेण मया प्रोक्ता महापुण्य निबन्धनाः ॥८९॥
यतोऽमीषां पराः शोभा महतीरचनाभुवि ।
मुक्त्वा गणाग्रिमं कोऽत्र बुधो वर्णयितुं क्षमः ॥९०॥

अर्थः—अपूर्व भक्तिरस से भरे हुये चारों निकाय के इन्द्र उत्कृष्ट विभूति, देव देवियों एवं स्वर्ग लोक में उत्पन्न हुई महापूजा के योग्य अपरिमित द्रव्य सामग्री के साथ आकर उपर्युक्त वर्णित श्री जिनालयों में स्थित जिनेन्द्रदेव की दिव्य मूर्तियों की प्रतिदिन महामह पूजन करते हैं ॥८२-८३॥ विद्याधरों के अधिपति भी अन्य विद्याधर एवं विद्याधरियों के साथ यहाँ (अकृत्रिम जिन चैत्यालयों में) आकर भक्ति पूर्वक अष्ट प्रकार की दिव्य सामग्री के द्वारा अर्हन्त भगवान को नाना प्रकार से पूजन करते हैं ॥८४॥ जिनेन्द्र के गुणों में अनुरञ्जित है मन जिनका ऐसे चारणऋद्धि धारी मुनिराज नित्य ही मेरु आदि पर आकर जिनेन्द्र प्रतिमाओं को प्रणाम करते हैं और स्तुति करते हैं ॥८५॥ अन्य भी और बहुत से विद्या प्राप्त, धर्म उत्सुक एवं मनुष्यों में श्रेष्ठ भव्य जीव भक्ति से प्रेरित होकर यहाँ नित्य ही जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हैं ॥८६॥ और वहाँ पर अप्सराएँ नित्य ही जिनेन्द्र भगवान् एवं गणधर देवों के सर्वोत्तम चारित्र के अभिनय द्वारा, देखने में अत्यन्त प्रिय और श्रेष्ठ नृत्य करतीं हैं। दिव्य कण्ठ वालीं किन्नरियाँ और गन्धर्व वीणा द्वारा जिनेश तीर्थङ्करों के गुणों से उत्पन्न हुये गीत तथा और भी सारगर्भित उत्तम गीत गाते हैं। इस प्रकार ये समस्त अकृत्रिम चैत्यालय सहस्रों महोत्सवों से व्याप्त रहते हैं। महा पुण्य बन्ध के हेतुभूत इन चैत्यालयों का वर्णन मेरे (आचार्य) द्वारा संक्षिप्तरूप से किया गया है, क्योंकि लोक में उत्कृष्ट शोभा और महान रचनाओं से व्याप्त इन अकृत्रिम चैत्यालयों का सम्पूर्ण वर्णन करने के लिये तीर्थङ्कर को छोड़ कर अन्य कौन विद्वान समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं है ॥८७-९०॥

अब मध्यम जिनालयों एवं उनके द्वारों का प्रमाण कहते हैं:—

पञ्चाशद्योजनायामाः पञ्चविंशति विस्तृताः ।
सार्धसप्ताधिकैस्त्रिंशद्योजनैः प्रोन्नताः शुभाः ॥९१॥
द्विगव्यूत्यवगाहाः स्युर्मध्यमाः श्रीजिनालया ।
अमीषां मुख्य सुद्वारमुत्तुङ्गमष्टयोजनैः ॥९२॥

चतुर्योजनविस्तीर्णं चान्यद् द्वारद्वयं भवेत् ।
चतुर्भिर्योजनैस्तुङ्गं योजनद्वय विस्तरम् ॥९३॥

अर्थः—मध्यम अकृत्रिम जिनालय पचास योजन लम्बे, पच्चीस योजन चौड़े, साढ़े सैंतीस (३७½) योजन ऊँचे और अर्ध योजन नींव से युक्त होते हैं। इनके उत्तम प्रधान द्वार की ऊँचाई आठ योजन और चौड़ाई चार योजन प्रमाण है, तथा अन्य दो द्वारों की ऊँचाई चार योजन और चौड़ाई दो योजन प्रमाण होती है ॥९१-९३॥

अब जघन्य जिनालयों एवं उनके द्वारों का प्रमाण बतलाते हैं:—

पञ्चविंशति संख्यानैर्योजनैरायताः परे ।
क्रोशद्वयाधिकद्वादश योजन सुविस्तृताः ॥९४॥
त्रिकक्रोशाधिकाष्टादशयोजन समुन्नताः ।
द्वयक्रोशावगाहाः स्युर्जघन्याः श्रीजिनालयाः ॥९५॥
एतेषामग्रिमं द्वारं स्याच्चतुर्योजनोन्नतम् ।
योजनद्वय विस्तीर्णं लघुद्वारद्वयं परम् ॥९६॥
द्वियोजनोच्छ्रितं च स्यादेकयोजन विस्तृतम् ।
अपरा वर्णना प्रोक्ता समाना श्रीजिनागमे ॥९७॥

अर्थः—जघन्य अकृत्रिम जिनालय पच्चीस योजन लम्बे, साढ़े बारह (१२½) योजन चौड़े, १८¾ योजन ऊँचे और अर्ध योजन नींव से युक्त होते हैं। इन चैत्यालयों के प्रधान द्वार चार योजन ऊँचे और दो योजन चौड़े होते हैं, तथा दोनों लघुद्वार दो योजन ऊँचे और एक योजन चौड़े होते हैं। जिनागम में इन तीनों प्रकार के अकृत्रिम जिनालयों का अवशेष वर्णन समान ही कहा गया है ॥९४-९७॥

अब तीनों प्रकार के जिनालयों की अवस्थिति का निर्धारण करते हैं:—

भद्रशालेषु सर्वेषु मेरूणां नन्दनेषु च ।
वनेषु स्वर्विमानेषु नन्दीश्वरेषु सन्ति ये ॥९८॥
उत्कृष्टायामविस्तारोत्सेधैर्युक्ता जिनालयाः ।
उत्कृष्टास्ते जिनैः प्रोक्ता सर्वे पूज्या नरामरैः ॥९९॥
मेरुसौमनसोद्यानेषु विश्वेषु कुलाद्रिषु ।
वक्षारगजदन्तेषु चेष्वाकारनगेष्वपि ॥१००॥

कुण्डले रुचकेशैले मानुषोत्तरनामनि ।
ये स्युश्चैत्यालयास्तेऽत्र दीर्घाद्यैर्मध्यमा मताः ॥१०१॥

ये पाण्डुकवने ते स्युर्जघन्याः श्रीजिनालयाः ।
सर्वेषां विजयार्धानां जम्बूशाल्मलिशाखिनाम् ॥१०२॥

क्रोशायामाः परे क्रोशार्धव्यासाः प्रोन्नताः शुभाः ।
क्रोशपादत्रयैर्ज्ञेया विश्वे श्रीजिनमन्दिराः ॥१०३॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुये और मनुष्यों एवं देवों द्वारा पूज्य उत्कृष्ट जिनालय पञ्चमेरु सम्बन्धी भद्रशाल वनों और नन्दन वनों में तथा नन्दीश्वर द्वीप और वैमानिक देवों के विमानों में हैं। इनका आयाम, विस्तार एवं ऊँचाई उत्कृष्ट ही कही गई है ॥९८-९९॥ पञ्चमेरु सम्बन्धी सौमनस वनों में समस्त कुलाचलों पर, वक्षार पर्वतों पर, गजदन्त पर्वतों पर, इष्वाकार पर्वतों पर, कुण्डलगिरि, रुचकगिरि और मानुषोत्तर पर्वतों पर जो जिनालय हैं, उनकी दीर्घता आदि का प्रमाण मध्यम माना गया है ॥१००-१०१॥ पञ्चमेरु सम्बन्धी पाण्डुकवनों में जो जिनालय अवस्थित हैं, उनका व्यासादिक जघन्य प्रमाण वाला है। समस्त विजयार्धों, जम्बूवृक्षों एवं शाल्मलि वृक्षों पर स्थित जिनालय एक कोस लम्बे, अर्धकोस चौड़े और पौन कोस ऊँचे हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥१०२-१०३॥

अब भवनत्रिक सम्बन्धी एवं अन्य जिनालयों के साथ अष्टप्रातिहार्यों का कथन करते हैं:—

भावनव्यन्तरज्योतिष्क विमानेषु सन्ति ये ।
चैत्यालयाश्च ते जम्बूवृक्ष चैत्यालयैः समाः ॥१०४॥

अन्येषु वन सौधाद्रिपुरादिषु सुधाभुजाम् ।
भवन्ति ये जिनागारा बहवो विविधाश्च ते ॥१०५॥

आयामविस्तरोत्सेधैर्बुधैर्ज्ञेया वरागमे ।
यतोऽत्र सन्ति सर्वत्र जिनागाराजगत्त्रये ॥१०६॥

भृङ्गारकलशादर्श व्यञ्जनध्वजचामराः ।
सुप्रतिष्ठातपत्राश्च मङ्गलद्रव्यसम्पदा ॥१०७॥

प्रत्येकं हि पृथग्भूता अष्टोत्तरशतप्रमाः ।
एता भवन्ति सर्वेषु जिनचैत्यालयेष्वपि ॥१०८॥

अर्थः—भवनवासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिष्क देवों के विमानों अर्थात् भवनों में जो चैत्यालय हैं, उनका प्रमाण जम्बूवृक्ष स्थित चैत्यालयों के प्रमाण सदृश ही है ।।१०४।। अन्य वन, प्रासाद और नगर आदि में स्थित देवों के आवास सम्बन्धी जिनालय बहुत और नाना प्रकार के हैं। इनका आयाम, विस्तार एवं उत्सेध आदि भी जिनागम में अनेक प्रकार का कहा है, जो विद्वानों के द्वारा जानने योग्य है। तीन लोक में सर्वत्र जितने भी अकृत्रिम जिन मन्दिर हैं ।।१०५–१०६।। उन समस्त जिनालयों में भृङ्गार, कलश, दर्पण, बीजना, ध्वजा, चामर, ठोना और छत्र ये अष्ट द्रव्य रूप सम्पदा पृथक्-पृथक् एक सौ आठ-एक सौ आठ प्रमाण होते हैं। अर्थात् एक एक जाति के उपकरण एक सौ आठ-एक सौ आठ (१०८×८=८६४) होते हैं ।।१०७–१०८।।

अब लोकस्थ समस्त अकृत्रिम चैत्यालयों (आचार्य) नमस्कार करते हैं:—

ये त्रैलोक्ये स्थिताः श्रीजिनवरनिलया मेरुनन्दीश्वरेषु,
चेष्वाकारेभदन्तेषु वरकुलनगेष्वेवरूप्याचलेषु ।
मान्वादौषोत्तरे कुण्डलगिरिरुचकेजम्बूवृक्षेतरेषु,
वक्षारेष्वेव सर्वेष्वपि शिवगतये स्तौमि तांस्तज्जिनार्चाः ।।१०९।।

अर्थः—जो तीन लोक में स्थित अर्थात् विमानवासी, भवनवासी, व्यन्तरवासी एवं ज्योतिष्क देवों के स्थानों पर स्थित तथा पञ्चमेरु सम्बन्धी—भद्रशाल आदि वनों के ८०, चार इष्वाकारों के ४, बीस गजदन्तों के २०, तीस कुलाचल पर्वतों के ३०, एक सौ सत्तर विजयार्ध पर्वतों के १७०, एक मानुषोत्तर के ४, दश जम्बू एवं शाल्मलि वृक्षों के दश तथा अस्सी वक्षार पर्वतों के ८०, नरलोक सम्बन्धी और नन्दीश्वर द्वीप के ५२, कुण्डलगिरि के ४ और रुचकगिरि के ४, इसप्रकार मध्यलोक सम्बन्धी ४५८ जिनालय एवं उनमें स्थित जिन प्रतिमाएँ हैं उन सबकी मैं मोक्ष प्राप्ति के लिये स्तुति करता हूँ ।।१०९।।

अधिकारान्त मङ्गलाचरणः—

त्रिभुवनपतिपूज्यांस्तीर्थनाथांश्च सिद्धान्,
त्रिभुवनशिखरस्थान् पञ्चधाचारदक्षान् ।
मुनिगणपतिसूरीन् पाठकान् विश्वसाधून्,
ह्यसमगुणसमुद्रान्नौम्यहं तद्गुणाप्त्यै ।।११०।।

इतिश्री सिद्धान्तसारदीपकम् ग्रन्थे भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते सुदर्शनमेरु भद्रशालवनजिनचैत्यालयवर्णनोनाम षष्ठोऽधिकारः ।।

अर्थः—त्रिभुवनपति अर्थात् शतेन्द्र पूज्य अर्हन्त परमेष्ठियों को, त्रैलोक्य शिखर पर स्थित सिद्धपरमेष्ठियों को, पञ्चाचार पालन में दक्ष ऐसे मुनिसमूह के अधिपति आचार्य परमेष्ठियों को और अनुपम गुणों के समुद्र समस्त उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठियों को मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ।।११०।।

इसप्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसार दीपक
नाम महाग्रन्थ में सुदर्शनमेरु, भद्रशाल वन एवं
जिनचैत्यालयों का वर्णन करने वाला
छठवाँ अधिकार ।। समाप्त ।।

सप्तमोऽधिकारः

मङ्गलाचरणः—

जिनालयान् जिनार्चाश्च जिनेन्द्रान् जिनलिङ्गिनः ।
जिननिर्वाणभूम्यादीन् वन्दे जिनागमध्वनीन् ॥१॥

अर्थः—जिनमन्दिरों, जिनप्रतिमाओं, जिनेन्द्रदेवों, जिनसाधुओं, जिन निर्वाणभूमि आदिकों को तथा जिनागम को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अब गजदन्तों का अवस्थान एवं वर्ण कहते हैं:—

आग्नेयदिशिमेरोः स्यान्महान्सौमनसाह्वयः ।
गजदन्तश्च रूप्याभः सप्तकूटाग्र मण्डितः ॥२॥
नैऋत्यादिशि तस्यैव विद्युत्प्रभाभिधो भवेत् ।
गजदन्तः सुवर्णाभो नवकूटाङ्कितोऽद्भुतः ॥३॥
ऐशान्यां दिशिसन्मेरोर्गजदन्तोऽस्ति माल्यवान् ।
वैडूर्यरत्नदीप्ताङ्गो नवकूटान्वितः शुभः ॥४॥
वायव्यां दिशि रम्यः स्याद्गन्धमादन संज्ञकः ।
सप्तकूटाङ्कितो मूर्ध्नि शातकुम्भप्रभोऽचलः ॥५॥

अर्थः—सुदर्शन मेरु की आग्नेय दिशा में सात कूटों से मण्डित रजतमय महासौमनस नाम का गजदन्त है। नैऋत्य दिशा में नवकूटों से अलंकृत अद्भुत शोभा युक्त स्वर्णमय विद्युत्प्रभ नाम का गजदन्त है। ईशान दिशा में नवकूटों से समन्वित, वैडूर्यरत्नों की दीप्ति से युक्त उत्तम माल्यवान् गजदन्त है, तथा वायव्य दिशा में शिखर पर सात कूटों से संयुक्त, स्वर्णमय एवं रमणीक गन्धमादन नाम का गजदन्त पर्वत है ॥२–५॥

अब गजदन्तों के विस्तार आदि का निर्धारण करते हैं:—

तेषां त्रिंशत्सहस्राणि नवाधिकशतद्वयम् ।
योजनानां कलाषट्प्रमाणैक योजनस्य च ॥६॥

भागानां सकलैकोन विंशति प्रमितात्मनाम् ।
आयामो गजदन्तानां व्यासः पञ्चशतानि च ॥७॥
नीलस्य निषधस्यान्तेऽमीषां चतुः शतान्यपि ।
योजनानां समुच्छ्रायो गजदन्तमहीभृताम् ॥८॥
क्रमवृद्धया समीपे[1] ते मेरोः पञ्चशतानि च ।
निजोन्नतेश्चतुर्थांशः सर्वत्रास्त्यवगाहता ॥९॥

अर्थः—इन चारों ही गजदन्तों की लम्बाई तीस हजार दो सौ नव योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग (३०२०९$\frac{६}{१९}$ योजन) प्रमाण है, तथा इनका व्यास पाँच सौ योजन प्रमाण है ॥६-७॥ इन गजदन्त पर्वतों की ऊँचाई नील और निषध पर्वतों के समीप चार सौ योजन प्रमाण है। आगे वह क्रम से वृद्धिङ्गत होती हुई मेरु के समीप में पाँच सौ योजन प्रमाण हो जाती है। इन पर्वतों का अवगाह (नींव) सर्वत्र अपनी ऊँचाई का चतुर्थांश अर्थात् नील-निषध के पास सौ योजन और मेरु के समीप सवा सौ योजन प्रमाण है ॥८-९॥

अब गजदन्तों पर स्थित कूटों के नाम कहते हैं:—

सिद्धं सौमनसं देवकुरुकूटं च मङ्गलम् ।
विमलं काञ्चनं कूटं विशिष्टाख्य मिमानि च ॥१०॥
स्युरत्रसप्तकूटानि सौमनसस्य मस्तके ।
सिद्धं विद्युत्प्रभाभिख्यं स्याद्देवकुरु संज्ञकम् ॥११॥
पद्माख्यं स्वस्तिकं कूटं तपनं च शितोज्वलम् ।
सीतोदानामकं कूटं हरिकूटमिमान्यपि ॥१२॥
विद्युत्प्रभगिरेः सन्ति नवकूटानि मूर्धनि ।
सिद्धाख्यं माल्यवत्कूटं तथोत्तरकुरुक्तिकम् ॥१३॥
कच्छाख्यं सागराभिख्यं रजतं पूर्णभद्रकम् ।
सीताख्यं हरिकूटं नवेमानि माल्यवद्गिरौ ॥१४॥
सिद्धायतननामाढ्यं गन्धमादन संज्ञकम् ।
तथोत्तरकुरुप्राख्यं गन्धमालिनिकाभिधम् ॥१५॥
स्फाटिकं लोहितं कूटमानन्दाख्यममून्यपि ।
भवन्ति रत्नदीप्तानि गन्धमादन मस्तके ॥१६॥

---

१. समीपान्ते अ. ज. न.

अर्थः—सिद्ध, सौमनस, देवकुरु, मङ्गल, विमल, काञ्चन और विशिष्ट नाम के ये सात कूट महासौमनस के शिखर पर अवस्थित हैं। सिद्ध, विद्युत्प्रभ, देवकुरु, पद्म, स्वस्तिक, तपन, शितोज्वल सीतोदा और हरि नाम वाले ये नव कूट विद्युत्प्रभ के ऊपर स्थित हैं। सिद्ध, माल्यवान्, उत्तरकुरु, कच्छ, सागर, रजत, पूर्णभद्र, सीता और हरि नाम के नवकूट माल्यवान् पर्वत के ऊपर हैं, तथा सिद्धायतन, गन्धमादन, उत्तरकुरु, गन्धमालिनी, स्फटिक, लोहित और आनन्दकूट नाम के ये रत्नों की दीप्ति से भास्वर सात कूट गन्धवान् गजदन्त के मस्तक पर अवस्थित हैं ॥१०–१६॥

अब कूटों के स्वामी एवं उदय कहते हैं:—

सिद्धकूटोऽस्ति सर्वत्र प्रोन्नते मेरु सन्निधौ ।
प्रागुक्तवर्णनोपेतो जिनचैत्यालयो महान् ॥१७॥

कुलाचलसमीपस्थ कूटयोश्च द्वयोर्द्वयोः ।
वसतो दिग्वधूसंज्ञे द्वे द्वे देव्याविमे शुभे ॥१८॥

चतुर्णां गजदन्तानां रत्नसौधे निजे निजे ।
मित्रादेवी सुमित्राख्या वारिषेणाचलाह्वयाः ॥१९॥

भोगाभोगवतीदेवी सुभोगाभोगमालिनी ।
इमान्यष्टसु नामान्यष्टदिग्वधूषु योषिताम् ॥२०॥

शेष मध्यस्थकूटानां वेश्मसु व्यन्तरामराः ।
स्वस्वकूटसमैः स्युर्नामभिर्युक्ताः प्रियान्विताः ॥२१॥

स्वस्वाद्रीणां चतुर्थांशः कूटानामुदयः स्मृतः ।
आद्यन्तानां तु शेषाणां ह्रासो वृद्धिः पृथक् पृथक् ॥२२॥

अर्थः—चारों गजदन्तों पर मेरु के समीप जिनेन्द्र देव सम्बन्धी सिद्धायतन कूट हैं, जो एक सौ पच्चीस योजन ऊँचे हैं। इन चैत्यालयों का समस्त वर्णन पूर्वोक्त जिन चैत्यालय के वर्णन सदृश ही है ॥१७॥ चारों गजदन्तों पर कुलाचलों के समीप जो दो दो कूट हैं, उनमें दिग्वधू नाम की उत्तम दो-दो देवियाँ निवास करतीं हैं ॥१८॥ चारों गजदन्तों के अपने-अपने रत्नमय महलों में अर्थात् महासौमनस गजदन्त के विमल और काञ्चन कूटों में मित्रा और सुमित्रा देवी, विद्युत्प्रभ गजदन्त के स्वस्तिक और तपन कूटों पर क्रमशः वारिषेणा और अचला, माल्यवान् के सागर एवं रजतकूटों पर क्रमशः भोगा और भोगवती तथा गन्धवान् गजदन्त के स्फटिक और लोहित कूटों पर क्रमशः सुभोगा और भोगमालिनी नाम की (ये आठ) व्यन्तर देवियाँ निवास करतीं हैं ॥१९–२०॥

मध्य में स्थित अवशेष कूटों के गृहों में अपने-अपने कूटों के नामधारी और अपनी-अपनी देवांगनाओं से युक्त व्यन्तर देव रहते हैं ॥२१॥ कूटों की ऊँचाई अपने-अपने गजदन्तों की ऊँचाई का चतुर्थ-भाग माना गया है। आदि और अन्तिम कूट को छोड़ कर शेष कूटों के ह्रास एवं वृद्धि का प्रमाण पृथक् पृथक् है ॥२२॥

विशेषार्थः—महासौमनस और माल्यवान् गजदन्तों पर नौ-नौ तथा विद्युत्प्रभ और गन्धवान् गजदन्तों पर सात-सात कूट अवस्थित हैं। मेरु के समीपस्थ कूटों की ऊँचाई १२५ योजन और कुलाचलों के समीपस्थ कूटों की ऊँचाई १०० योजन है। मध्य के कूटों की ऊँचाई का प्रमाण निकालने के लिए हानि चय का प्रमाण निकालना चाहिए। यथा—अंतिम कूट की ऊँचाई के प्रमाण में से प्रथम कूट की ऊँचाई घटा कर अवशेष को एक कम पद से भाजित करने पर हानिचय का प्रमाण प्राप्त होता है और इसको एक कम इष्ट गच्छ से गुणित कर मुख में जोड़ने से इष्ट कूटों की ऊँचाई प्राप्त हो जाती है। (त्रि० सा० गा० ७४६) जैसे:—१२५—१००=२५ ÷ (एक कम पद अर्थात् ९—१=) ८=३ $\frac{1}{8}$ योजन महासौमनस और माल्यवान् गजदन्तों पर स्थित कूटों का हानि—वृद्धिचय है और १२५—१०० =२५ ÷ (७—१)=६=४ $\frac{1}{6}$ विद्युत्प्रभ और गन्धवान् के कूटों का हानि—वृद्धि चय है। चय को इष्ट गच्छ से गुणित कर मुख में जोड़ते जाने से प्रत्येक कूटों की ऊँचाई प्राप्त हो जाती है।

अथ कूटानां प्रत्येकमुत्सेधो व्याख्यायते:—

सौमनसस्य गन्धमादनस्य च गिरेः कुल पर्वतपार्श्वे प्रथमे लघुकूटे उन्नतिर्योजनानां शतं स्यात्। द्वितीये च चतुरुत्तरं शतं योजनस्य षड्भागानामेको भागः। तृतीये अष्टोत्तरशतं योजनस्यतृतीयोभागः। चतुर्थे द्वादशोत्तर शतं द्वौ क्रोशौ च। पंचमे षोडशाग्रशतयोजन त्रिभागानां द्वौ भागौ। षष्ठे विंशत्यधिकशतं योजनषड्भागानां पञ्चभागाः। सप्तमे सर्वज्येष्ठकूटे मेरु समीपे उत्सेधः योजनानां पञ्चविंशत्यग्रशतं स्यात्। विद्युत्प्रभगिरेर्माल्यवतश्च कुलाचल निकटे आदिमे लघुकूटे उन्नतिर्योजनानां शतं भवेत्। द्वितीये कूटे च अर्धक्रोशाग्रत्र्युत्तरशतं। तृतीये क्रोशधिकषडुत्तरशतं। चतुर्थे सार्धक्रोशाग्रनवोत्तरशतं। पञ्चमे सार्धद्वादशोत्तरशतं। षष्ठे सार्धद्विक्रोशपञ्चदशाधिकशतं। सप्तमे त्रिकोशाग्राष्टादशाधिकशतं। अष्टमेसार्धत्रिकोशाग्रैकविंशत्यधिकशतं। नवमे सर्वबृहत्कूटे मेरुसन्निभौ योजनानामुत्सेधः पञ्चविंशत्यग्रशतं स्यात्।

उपर्युक्त गद्यांश का समस्त अर्थ निम्नाङ्कित तालिका में निहित किया गया है:—

[प्रत्येक कूटों का पृथक् पृथक् उत्सेध तालिका अगले पृष्ठ पर देखें।]

प्रत्येक कूटों का पृथक् पृथक् उत्सेध

महासौमनस ग० के कूटों की			विद्युत्प्रभ ग० के कूटों की			माल्यवान् ग० के कूटों की			गन्धवान ग० के कूटों की		
क्रम	नाम	ऊँचाई (यो० में)	क्रम	नाम	ऊँचाई (यो० में)	क्रम	नाम	ऊँचाई (यो० में)	क्रम	नाम	ऊँचाई (यो० में)
१	विशिष्ट	१०० योजन	१	हरि	१०० योजन	१	सिद्ध	१२५ योजन	१	सिद्ध	१२५ योजन
२	कांचन	१०४ १/६ ,,	२	सीतोदा	१०३ १/८ ,,	२	माल्यवान्	१२१ ७/८ ,,	२	गन्धमादन	१२० ५/६ ,,
३	विमल	१०८ १/३ ,,	३	शीतोज्वल	१०६ १/४ ,,	३	उत्तरकुरु	११८ ३/४ ,,	३	उत्तरकुरु	११६ २/३ ,,
४	मंगल	११२ १/२ ,,	४	तपन	१०९ ३/८ ,,	४	कच्छ	११५ ५/८ ,,	४	गंधमालिनी	११२ १/२ ,,
५	देवकुरु	११६ २/३ ,,	५	स्वस्तिक	११२ ४/८ ,,	५	सागर	११२ १/२ ,,	५	स्फटिक	१०८ १/३ ,,
६	सौमनस	१२० ५/६ ,,	६	पद्म	११५ ५/८ ,,	६	रजत	१०९ ३/८ ,,	६	लोहित	१०४ १/६ ,,
७	सिद्ध	१२५ ,,	७	देवकुरु	११८ ३/४ ,,	७	पूर्णभद्र	१०६ १/४ ,,	७	आनन्द	१०० ,,
			८	विद्युत्प्रभ	१२१ ७/८ ,,	८	सीता	१०३ १/८ ,,			
			९	सिद्ध	१२५ ,,	९	हरि	१०० ,,			

अब पूर्व-अपर भद्रशालवनों की स्थिति, भद्रशालवनों की वेदियों से गजदन्तों का अन्तर एवं उत्तम भोगभूमियों की अवस्थिति का वर्णन करते हैं:—

मूर्ध्निवं गजदन्तानामुभयोः पार्श्वयोर्भुवि ।
वेदिकातोरणैर्युक्तं रम्यं च शाश्वतं वनम् ।।२३।।

स्यात् पूर्वभद्रशालाख्यापराभद्राविशालयोः ।
अन्तरं वेदिकायाश्च गजदन्तमहीभृताम् ।।२४।।

शतपञ्चप्रमाणानि योजनानि पृथक् पृथक् ।
निषधस्योत्तरे भागे गजदन्तद्वयावृतम् ।।२५।।

यच्चापाकारसत्क्षेत्रमुत्कृष्टभोगभूतलम् ।
तद्देवकुरुनाम स्याद् विश्वकल्पद्रुमैश्चितम् ।।२६।।

नीलस्य दक्षिणे पार्श्वे गजदन्तद्विवेष्टितम् ।
तादृशं भोगभूभागमन्योत्तर कुरूक्तिकम् ।।२७।।

अर्थः—गजदन्तों के दोनों पार्श्वभागों की उपरिम भूमि पर वेदिका और तोरणों से संयुक्त पूर्वभद्रशाल एवं पश्चिम भद्रशाल नाम के रमणीक और शाश्वत वन हैं। इन पूर्व भद्रशाल और पश्चिम भद्रशाल वनों की (चारों) वेदिकाओं से (चारों) गजदन्तों के (अन्तरंग भाग का) पृथक् पृथक् अंतर पाँच सौ, पाँच सौ योजन प्रमाण है। (क्योंकि गजदन्तों का व्यास ५०० योजन है) निषध पर्वत की उत्तर दिशा में विद्युत्प्रभ और महासौमनस इन दो गजदन्तों से वेष्टित धनुषाकार शुभ क्षेत्र है वही समस्त प्रकार के कल्पवृक्षों से युक्त देवकुरु नाम की उत्कृष्ट भोगभूमि है। इसी प्रकार नीलपर्वत की दक्षिण दिशा में गन्धमादन और माल्यवान् इन दो गजदन्तों से वेष्टित उत्तरकुरुनाम की उत्कृष्ट भोगभूमि है ।।२३-२७।।

अब उत्कृष्ट भोगभूमियों के धनुःपृष्ठ का प्रमाण कहते हैं:—

य एकत्रीकृतायामोऽनयोर्द्विगजदन्तयोः ।
तद्धि देवकुरोश्चोत्तरकुरोर्धनुरुच्यते ।।२८।।

अर्थः—विद्युत्प्रभ और सौमनस गजदन्तों की लम्बाई जोड़ने से देवकुरु के और गन्धमादन एवं माल्यवान् गजदन्तों की लम्बाई जोड़ देने से उत्तर कुरु के धनुःपृष्ठ का प्रमाण प्राप्त होता है ।।२८।।

देवकुरूत्तरकुरुभोगभूम्योः प्रत्येकं धनुःपृष्ठं षष्टिसहस्र चतुःशताष्टादशयोजनानि योजनैकोनविंशतिभागानां द्वादशभागाः ।

अर्थः—देवकुरु उत्तमभोगभूमि के धनुःपृष्ठ का प्रमाण ६०४१८$\frac{१२}{१९}$ योजन और उत्तरकुरु भोगभूमि के धनुःपृष्ठ का प्रमाण ६०४१८$\frac{१२}{१९}$ योजन है।

अब देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमि की जीवा का प्रमाण कहते हैं :—

भद्रशालवनं द्विघ्नं मेरुव्यासेन योजितम् ।
सहस्रोनं भवेज्जीवामध्ये वेदिकयोर्द्वयोः ॥२९॥

अर्थः—भद्रशाल वन के प्रमाण को दूना करके उसमें मेरु का व्यास जोड़ना चाहिये। जो प्रमाण प्राप्त हो उसमें से दोनों वेदिकाओं और गजदन्तों के मध्य का अन्तर अर्थात् गजदन्तों की मोटाई (५००+५००) = एक हजार योजन घटा देने पर भोगभूमियों की जीवा का प्रमाण प्राप्त होता है ॥२९॥

विशेषार्थः- भद्रशालवन का प्रमाण २२००० यो. है, इसे दुगुना करने पर (२२०००×२)=४४००० योजन हुये। इसमे मेरु व्यास १०००० योजन जोड़ देने से (४४०००+१००००)=५४००० योजन हुये। इसमें से भद्रशाल वन की दो वेदियों और गजदन्तों के बीच का अन्तर अर्थात् गजदन्तों की चौड़ाई (५००+५००)=१००० योजन है, अतः इसे घटा देने से देवकुरु, उत्तर कुरु की जीवा का प्रमाण ५४०००—१०००=५३००० योजन प्राप्त हो जाता है॥

देवोत्तरकुरुभोगभूम्योः प्रत्येकं कुलाद्रिपार्श्वे जीवा त्रिपञ्चाशत्सहस्र योजनानि ।

अर्थः—निषध और नील कुलाचल के समीप में देवकुरु और उत्तरकुरु अर्थात् प्रत्येक उत्कृष्ट भोगभूमि की जीवा का प्रमाण ५३००० योजन है।

अब देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमियों के बाण का प्रमाण कहते हैं :—

विदेहक्षेत्रविस्तारोऽखिलो यो मेरुवर्जितः ।
तस्यार्धं यत् पृथक् क्षेत्रं सा बाणदीर्घतोच्यते ॥३०॥

अर्थः—विदेहक्षेत्र के विस्तार में से मेरुगिरि का भूव्यास घटा कर आधा करने पर कुरु क्षेत्र के विष्कम्भ का प्रमाण होता है, और यही कुरु क्षेत्र के बाण की दीर्घता का प्रमाण है ॥३०॥

विशेषार्थः—विदेह क्षेत्र के व्यास का प्रमाण ३३६८४$\frac{४}{१९}$ योजन है, इसमें से मेरुगिरि का भूव्यास १०००० योजन घटाकर आधा करने पर (३३६८४$\frac{४}{१९}$—१००००=२३६८४$\frac{४}{१९}$ ÷ २) = ११८४२$\frac{२}{१९}$ योजन देवकुरु और उत्तरकुरु के व्यास का प्रमाण है और यही दोनों क्षेत्रों के (पृथक्-पृथक्) बाण का प्रमाण है।

देवकुरूत्तरक्षेत्रयोः प्रत्येकं बाणः एकादशसहस्राष्टशतद्विचत्वारिंशद्योजनानि योजनैकोनविंशति भागानां द्वौ भागौ ।

अर्थ:—देवकुरु और उत्तरकुरु इन दोनों क्षेत्रों का और इन क्षेत्रों में से प्रत्येक के बाण का प्रमाण ११८४२$\frac{2}{19}$ योजन है।

अब भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले जीवों की प्राप्ति आगति का एवं और भी अन्य विशेषताओं का वर्णन करते हैं:—

भद्रा निर्दर्शनाजीवास्त्रिधा सत्पात्रदानतः ।
जायन्ते भोगिनश्चार्याः क्रमाद् भोगमहीत्रिषु ॥३१॥
न रोगो न भयो ग्लानिर्नाल्पमृत्युर्न दीनता ।
न वृद्धत्वं न नीहारो नाहो ! षड्ऋतु संक्रमः ॥३२॥
नानिष्टसङ्गमो नेष्टवियोगो नापमानता ।
नान्यद् दुःखादिकं किञ्चित् क्षेत्रसद्भावतो नृणाम् ॥३३॥
केवलं मृत्युपर्यन्तं पात्रदानज-पुण्यतः ।
दशधाकल्पवृक्षोत्थान् भोगान् भुञ्जति तेऽनिशम् ॥३४॥
उत्पादोमृतिरार्याणां युग्मरूपेण जायते ।
क्षुतात् मृत्युर्नराणां स्यात् स्त्रीणां जृम्भिकयात्र च ॥३५॥
ततस्ते स्वार्यभावेनार्या यान्ति देवसद्गतिम् ।
सत्पात्रदानपुण्येनामीषां नास्त्यपरा-गतिः ॥३६॥

अर्थ:—भद्रमिथ्यादृष्टि जीव उत्तम, मध्यम और जघन्य सत्पात्रों के दान के फल से क्रमशः उत्तम, मध्यम और जघन्य इन तीन भोगभूमियों में आर्य और आर्या रूप से उत्पन्न होते हैं। उत्तम क्षेत्र के सद्भाव से वहाँ के जीवों के रोग नहीं होते, न वहाँ भय है, न ग्लानि है, न अल्पकाल में मृत्यु होती है, न दीनता है, न जीवों को वृद्धता आती है, न निहार होता है, अहो ! और न छह ऋतुओं का सञ्चार होता है, न अनिष्ट का संयोग होता है, न इष्ट का वियोग होता है, न अपमान आदि का दुःख है, और न अन्य ही किञ्चित् दुःख वहाँ प्राप्त होते हैं, किन्तु वे पात्रदान से उत्पन्न होने वाले पुण्य के फल से मरणपर्यन्त दशप्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न होने वाले भोगों को निरन्तर भोगते हैं। वहाँ पर स्त्री पुरुष युगल रूप से एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक ही साथ मरते हैं। पुरुषों की मृत्यु छींक से और स्त्रियों की मृत्यु जम्भाई से होती है। भोगभूमि के जीव अपने आर्य एवं आर्याभाव से अर्थात् सरल परिणामी होने से मरण के बाद देवगति को ही प्राप्त करते हैं, सत्पात्रों को दिये हुये दान के फल से उन जीवों को नरक, तिर्यञ्च एवं मनुष्य गति की प्राप्ति नहीं होती ॥३१–३६॥

अब जम्बूवृक्ष का स्थानादिक परिकर ग्यारह श्लोकों द्वारा कहते हैं :—

मेरोरीशानदिक्कोणे सीतायाः प्राक्तटस्थले ।
कुरुभूकोणसंस्थाने नीलाद्रेः सन्निधौ भवेत् ॥३७॥
जम्बूवृक्षो महान् जम्बूवृक्षाकारश्च शाश्वतः ।
पृथिवीकायसद्रत्नमयो मणिद्रुमावृतः ॥३८॥
अस्यादौ पीठिकावृत्ता वेदिका तोरणाङ्किताः ।
दिव्या स्वर्णमया पञ्चशतयोजनविस्तृता ॥३९॥
मध्येऽष्टयोजनोत्तुङ्गास्त्यन्तेऽर्धयोजनोच्छ्रिता ।
तन्मध्ये पीठिकाहैमी योजनाष्टोन्नता परा ॥४०॥
मूले च द्वादशव्यासा मध्यव्यासाष्टयोजनैः ।
अग्रे स्याद् विस्तृता रम्या चतुर्भियोजनैः परा ॥४१॥
तस्या मध्यप्रदेशेऽस्ति मूर्ध्नि छत्रत्रयाङ्कितः ।
वज्रस्कन्धः सुवैडूर्यरत्नपत्रफलावृतः ॥४२॥
जम्बूवृक्षो महादीप्तोऽनेकपादपमध्यगः ।
तस्य जम्बूद्रुमस्यास्ति स्कन्धो द्वियोजनोन्नतः ॥४३॥
योजनार्धावगाहो द्विक्रोशविस्तारसंयुतः ।
तदर्थे प्रवराः शाखाश्चतस्रः सन्ति शाश्वताः ॥४४॥
गव्यूतिद्वयविस्तीर्णा योजनाष्टसमायताः ।
दिव्यगेहयुता दीप्ता रम्या मरकताश्मजाः ॥४५॥
तासामुत्तरशाखायां जिनचैत्यालयोऽव्ययः ।
अनावृतादि यक्षौघैः पूज्यो वन्द्यस्तुतोऽन्वहम् ॥४६॥
शेषशाखात्रयस्थोच्चसौधेष्वनावृतामरः ।
यक्षान्वयी वसेद् भूत्वा जम्बूद्वीपस्य रक्षकः ॥४७॥

अर्थः—नील कुलाचल के समीप, सीतामहानदी के पूर्व तट पर, मेरु पर्वत की ईशान दिशा में, उत्तरकुरु क्षेत्र के कोने में, जामुनवृक्ष के आकार सदृश, शाश्वत्, पृथ्वीकाय, उत्तम रत्नमय तथा मणिमय अनेक वृक्षों से समन्वित एक महान् जम्बूवृक्ष स्थित है ॥३७-३८॥ इस जम्बूवृक्ष की प्रथम पीठिका (स्थली) गोल, वेदिकाओं एवं तोरणों से अलंकृत, दिव्य, स्वर्णमय तथा पाँच सौ योजन

विस्तृत, मध्य में आठ योजन ऊँची और अन्त में अर्ध योजन ऊँची है। इस स्थली के मध्य में आठ योजन ऊंची एक अन्य रमणीक और स्वर्णमय पीठिका है, जिसका मूल व्यास बारह योजन, मध्य व्यास आठ योजन और अग्रभाग का व्यास चार योजन प्रमाण है ॥३६-४१॥

इस पीठ के मध्यभाग में ऊपर तीन छत्रों से अञ्चित, वज्रमयस्कन्ध, उत्तम वैडूर्यरत्नों के पत्र एवं फलों से संकुलित, अनेक लघु जम्बूवृक्षों के मध्य में महादेदीप्यमान जम्बूवृक्ष है। उस जम्बूवृक्ष का स्कन्ध (पीठ से) दो योजन ऊँचा, दो कोस चौड़ा और अर्ध योजन अवगाह (नींव) से युक्त है। उस वृक्ष के अर्ध भाग से शाश्वत और उत्तम चार शाखाएँ निकलतीं हैं जो दो कोस चौड़ी, आठ योजन लम्बी, दिव्य प्रासादों से युक्त, ज्योतिर्मान, सुन्दर और मरकतमणिमय हैं ॥४२-४५॥ इन में से उत्तर दिशा की शाखा पर अनावृत आदि यक्ष समूह से निरन्तर पूज्य, वन्दनीय एवं स्तुत्य शाश्वत अर्थात् अकृत्रिम जिन चैत्यालय है। शेष तीन शाखाओं पर स्थित उन्नत प्रासादों में जम्बूद्वीप का रक्षक और यक्षकुलोत्पन्न अनावृत नाम का देव अपनी परम विभूति के साथ निवास करता है ॥४६-४७॥

अब परिवार वृक्षों की संख्या, प्रमाण एवं स्वामियों का निदर्शन करते हैं:—

यावन्तः स्युः श्रियो देव्याः परिवाराब्जसद्गृहाः ।
परिषत् त्र्यादिदेवानां संख्ययाखिलदिक्स्थिताः ॥४७॥
तावन्तोऽस्यास्य देवस्य परिवारसुधाभुजाम् ।
सर्वे जम्बूद्रुमा ज्ञेयाः शाखाप्रसौधसंयुताः ॥४८॥
व्यासायामोन्नता जम्बूवृक्षस्यार्धोच्छ्रितादिभिः ।
एकैक श्रीजिनागारालंकृताः क्षयदूरगाः ॥४६॥
विशेषोऽयं भवेदत्र चतुर्दिक्षु गृहद्रुमाः ।
चत्वारोऽस्याग्रदेवीनां स्युः पद्मरागतन्मयाः ॥५०॥

अर्थः—[पद्मद्रह में स्थित] श्री देवी की चारों दिशाओं में स्थित तीन परिषद् आदि के समस्त परिवार देवों के कमल स्थित प्रासादों की जितनी संख्या है, उतनी ही संख्या इस अनावृत देव के परिवार देवों की है। ये समस्त परिवार जम्बूवृक्षशाखा के अग्रभाग पर प्रासादों से संयुक्त हैं ऐसा जानना चाहिये ॥४७-४८॥ इन परिवार जम्बूवृक्षों की चौड़ाई, लम्बाई एवं ऊँचाई मूल जम्बूवृक्ष के अर्ध प्रमाण है, और प्रत्येक परिवार जम्बूवृक्ष एक एक अकृत्रिम जिन चैत्यालय से अलंकृत है। अर्थात् जितने (१४०१२०) जम्बूवृक्ष हैं, उतने ही अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। श्रीदेवी के परिवार कमलों से यहाँ इतना विशेष है कि प्रधान जम्बूवृक्ष की चारों दिशाओं में अनावृत देव की चार पट्टदेवाङ्गनाओं के पद्मरागमणिमय चार गृहद्रुम अधिक हैं ॥४६-५०॥

अस्य व्यासेन परिवारवर्णनोच्यते :—

जम्बूवृक्षस्यास्याग्नेयदिग्भागे अन्तः परिषद्देवानां द्वात्रिंशत्सहस्र गेहाधारपादपाः स्युः। दक्षिणाशायां मध्यपरिषत् सुराणां चत्वारिंशत्सहस्रालयवृक्षाश्च। नैऋत्यकोणे बाह्यपरिषद्गीर्वाणानां अष्टचत्वारिंशत्सहस्रगृहजम्बूद्रुमाः सन्ति। वायुदिगीशानदिशोः सामान्यकामराणां चतुःसहस्रगृहशाखिनो भवन्ति। पश्चिमदिशि सप्तानीक सुराणां सप्तगृहद्रुमाश्च। चतुर्दिक्षु अङ्गरक्षाणां षोडशसहस्रसौधपादपाश्च। अष्टदिक्षु प्रतीहारोत्तमानामष्टोत्तरशतगेहाधारवृक्षाः सन्ति। चतुर्दिक्षु अनावृतदेवस्य चतुरग्रदेवीनां चत्वारः सौधान्वितपादपा भवेयुः। एते सर्वे पिण्डीकृताः प्रासादाङ्कितजम्बूवृक्षाः मूलजम्बूवृक्षेण समं एकलक्षचत्वारिंशत्सहस्रैकशतविंशतिप्रमाणाः भवन्ति।

अर्थ :—प्रधान जम्बूवृक्ष की आग्नेय दिशा में अन्तः पारिषद देवों के बत्तीस हजार गृहों के आधार भूत जम्बूवृक्ष हैं। दक्षिण दिशा में मध्यपारिषद देवों के चालीस हजार गृह जम्बूवृक्ष हैं। नैऋत्य दिशा में बाह्यपरिषद देवों के अड़तालीस हजार प्रासादजम्बूवृक्ष हैं। वायव्य और ईशानदिशा में सामानिक देवों के चार हजार गृहवृक्ष हैं। पश्चिम दिशा में सात अनीक देवों के सात गृहद्रुम हैं। चारों दिशाओं में अङ्गरक्षक देवों के सोलह हजार सौधवृक्ष हैं। चारों दिशाओं और चारों विदिशाओं में प्रतीहार देवों के उत्तम एक सौ आठ गृहों के आधार भूत वृक्ष हैं। चारों दिशाओं में अनावृत देव की चार पट्टदेवाङ्गनाओं के भवनों से समन्वित चार वृक्ष हैं। प्रधान जम्बूवृक्ष के साथ इन सब प्रासाद युक्त जम्बूवृक्षों को एकत्रित करने पर—(१ + ३२००० + ४०००० + ४८००० + ४००० + ७ + १६००० + १०८ + ४) = १४०१२० अर्थात् एक लाख चालीस हजार एक सौ बीस प्रमाण होते हैं।

अब शाल्मलिवृक्ष का वर्णन चार श्लोकों द्वारा करते हैं:—

मेरोर्नैऋत्यदिग्भागे सीतोदापश्चिमे तटे।
निषधाद्रिसमीपेऽस्ति देवादिकुरुभूतले ॥५१॥

उत्सेधायामविस्तारैर्जम्बूवृक्षसमो महान्।
परिवारद्रुमैः सर्वैः शाल्मली वृक्ष ऊर्जितः ॥५२॥

तस्य दक्षिणशाखायां रत्नशाली जिनालयः।
वेणुदेवादिभिः पूज्यो जिनबिम्बभृतो भवेत् ॥५३॥

शेषशाखात्रयाग्रस्थप्रासादेषु वसेत् सुरः।
गरुडान्वयजो वेणुदेवो देवैः समं महान् ॥५४॥

अर्थः—सुदर्शन मेरु की नैऋत्य दिशा में, सीतोदा नदी के पश्चिम तट पर, निषधकुलाचल के समीप देवकुरुक्षेत्र में जम्बूवृक्ष के सदृश उत्सेध, आयाम एवं विस्तार से युक्त तथा समस्त (१४०१२०) परिवार वृक्षों से समन्वित एक अति शोभा सम्पन्न शाल्मली वृक्ष है। इसकी दक्षिण शाखा पर वेणु-धारी आदि देवों द्वारा पूज्य और अनेक जिनबिम्बों से संकुलित रत्नमय जिनालय है। शेष तीन शाखाओं पर स्थित प्रासादों में अनेक परिवार देवों के साथ गरुडकुलोत्पन्न वेणु नाम का महान् देव निवास करता है ॥५१-५४॥

अब यमकगिरि का स्वरूप कहते हैं:—

नीलाद्रेर्दक्षिणे गत्वा सहस्रयोजनानि च ।
भवेतां यमकाद्रीद्वौ सीतायाः पार्श्वयोर्द्वयोः ॥५५॥

सहस्रयोजनोच्चौ यमकूटकाञ्चनाह्वयौ ।
सहस्रयोजनव्यासौ मूले मध्ये च योजनैः ॥५६॥

सार्धसप्तशतैर्विस्तृतौ मूर्ध्निशतपञ्चकैः ।
परस्परान्तरौ दीप्राङ्गौ पञ्चशतयोजनैः ॥५७॥

मूले भूमितले मूर्ध्नि वनवेदीयुतौ शुभौ ।
जिनालयान्यसौधोच्चतोरणाद्यप्रभूषितौ ॥५८॥

तयोश्च शिखरे रत्नप्रासादेषून्नतेषु च ।
सार्धद्विषष्टिसंख्याने योजनैर्मणिशालिषु ॥५९॥

योजनैरेकगव्यूत्यग्रैकत्रिंशत्प्रमाणकैः ।
व्यासायामेषु देवौ यमदेवकाञ्चनाभिधौ ॥६०॥

वसतः परिवाराढ्यौ पल्योपमैकजीवितौ ।
तथान्येऽचलयोर्मूर्ध्नि सन्ति प्रासादपङ्क्तयः ॥६१॥

सप्तानीकसुसामान्यकाङ्गरक्षसुधाभुजाम् ।
चतुरग्रसुदेवीनां परिषत्त्रिसुधाशिनाम् ॥६२॥

अर्थः—नील कुलाचल से दक्षिण में एक हजार योजन आगे जाकर सीता नदी के दोनों तटों पर यमककूट और काञ्चनगिरि नाम के दो यमकगिरि पर्वत हैं। ये दोनों यमकगिरि एक हजार योजन ऊँचे, मूल में एक हजार योजन चौड़े, मध्य में साढ़े सात सौ योजन और शिखर तल पर पाँच सौ योजन चौड़े हैं। इन दोनों देदीप्यमान शैलों का परस्पर का अन्तर भी पाँच सौ योजन प्रमाण है ॥५५-५७॥

इन दोनों पर्वतों के मूल में अर्थात् पृथ्वीतल पर और शिखरतल पर रमणीय वनवेदी से युक्त जिनालय हैं तथा जिनालयों के अग्रभाग तोरणों से सुशोभित हैं। दोनों पर्वतों के शिखरों पर स्थित मणियों से शोभायमान उन्नत रत्नमय उन्नत प्रासादों में एक पल्योपम प्रमाण आयु वाले यमक और काञ्चन नाम के देव अपने परिवार सहित निवास करते हैं। इनके ये प्रासाद साढ़े बासठ योजन ऊँचे और सवा इकतीस योजन प्रमाण लम्बे एवं चौड़े हैं। इन्हीं दोनों पर्वतों के शिखरों पर सात अनीकों के, सामानिक देवों के, अङ्गरक्षकों के, चार पट्ट देवाङ्गनाओं के और तीनों परिषदों के देवों के भवन पंक्तिबद्ध स्थित हैं।

अब विचित्र-चित्र नामक यमक पर्वतों का विवेचन करते हैं :--

निषधस्योत्तरे गत्वा सहस्रयोजनान्यपि ।
स्तो द्वौ यमकशैलौ सीतोदायास्तटयोर्द्वयोः ॥६३॥
[1]विचित्रचित्रकूटाख्यौ पूर्वोक्त यमकप्रभौ ।
चैत्यालयगृहारामव्यासोत्सेधादिवर्णनैः ॥६४॥
अनयो मूर्ध्नि सौधेषु प्रागुक्तोच्चादि शालिषु ।
चित्रविचित्रनामानौ गीर्वाणौ वसतोऽद्भुतौ ॥६५॥
पूर्वोदिताङ्गरक्षादि सर्वदेवाग्रयोषिताम् ।
एतयोः शिखरे सन्ति प्रासादतोरणादयः ॥६६॥

अर्थः—निषधकुलाचल से उत्तर में एक हजार योजन आगे जाकर सीतोदा नदी के दोनों तटों पर विचित्र और चित्र कूट नाम के दो यमकगिरि हैं। इन पर्वतों पर स्थित जिन चैत्यालयों, प्रासादों एवं वनों के व्यास एवं उत्सेध आदि का समस्त वर्णन पूर्व कथित दोनों यमक शैलों के सदृश है। ॥६३–६४॥ इन दोनों शैलों के शिखर पर स्थित पूर्वोक्त ऊँचाई आदि से युक्त शोभायमान प्रासादों में चित्र विचित्र नाम के अद्भुत पुण्यशाली देव निवास करते हैं। इन पर्वतों के शिखरों पर पूर्व कथित अङ्गरक्षक आदि सर्व देवों के और दोनों देवों की चार-चार प्रमुख देवाङ्गनाओं के तोरण आदि से युक्त प्रासाद हैं ॥६५–६६॥

अब सीता नदी स्थित पञ्चद्रहों का वर्णन करते हैं :—

यमकाद्री परित्यज्य यावत् पञ्चशतान्तरम् ।
योजनानां सरित्सीताया उत्तरकुरुक्षितेः ॥६७॥

---

१. चित्रविचित्रकूटाख्यौ अ. ज. न.

मध्ये पञ्चद्रहाः सन्ति श्रीपद्मह्रद सन्निभाः ।
शतपंचप्रमैर्योजनैरन्तरान्तरस्थिताः ॥६८॥

ह्रदोनीलाह्वयोऽत्राद्यस्तथोत्तरकुरुर्द्रहः ।
चन्द्रऐरावतो माल्यवानेतन्नामसंयुताः ॥६९॥

सीतामध्यस्थिता एते ज्ञेयाः पंचद्रहाः शुभाः ।
देवी नीलकुमारी चोत्तराद्यन्तकुमारिका ॥७०॥

चन्द्रकुमारिकाथैरावत कुमारिका तथा ।
माल्यवतीति नामाढ्या पंच नागकुमारिका ॥७१॥

पुण्यलक्षणभूषाढ्या वसन्ति पुण्यपाकतः ।
द्रहस्थपद्मगेहेषु स्वपरिवारवेष्टिताः ॥७२॥

अर्थः—यमकगिरि से पाँच सौ योजन जाकर उत्तरकुरु भोगभूमि स्थित सीता सरित् के मध्य में पद्मह्रद के सदृश पाँच द्रह हैं। ये पाँचों द्रह पाँच पाँच सौ योजन के अन्तराल से स्थित हैं, तथा नीलवान्, उत्तरकुरु, चन्द्रद्रह, ऐरावतद्रह और माल्यवान् नाम से संयुक्त हैं । ये शुभ पाँचद्रह सीता नदी के मध्य में स्थित हैं, ऐसा जानना चाहिये । इन पाँचों द्रहों में स्थित कमलों पर निर्मित प्रासादों में अपने अपने परिवारों से वेष्टित और पूर्वोपार्जित पुण्य के फल से शुभ लक्षण और शुभ वस्त्राभूषणों से अलंकृत नीलकुमारी, उत्तर (कुरु) कुमारी, चन्द्रकुमारी, ऐरावत कुमारी और माल्यवती नाम की पाँच नाग-कुमारियाँ क्रमशः निवास करती हैं ॥६७–७२॥

अब सीतोदा नदी स्थित पाँच द्रहों का वर्णन करते हैं :—

त्यक्त्वान्यौ यमकाद्री योजनपंचशतान्तरम् ।
स्युर्द्रहाः पंचसीतोदामध्ये देवकुरुक्षितौ ॥७३॥

प्रथमो निषधाभिख्यो ततो देवकुरुद्र्हः ।
सूर्याख्यः सुलसो विद्युत्प्रभ इत्याढ्यनामकाः ॥७४॥

ज्ञेयाः पंचद्रहा रम्याः समाः श्रीह्रदवर्णनैः ।
निषधादिकुमारीदेवादिकुरुकुमारिकाः ॥७५॥

देवी सूर्यकुमारी सुलसा विद्युत्प्रमाह्वया ।
वसन्तिद्रहगेहेषु पंचेमा नागकन्यकाः ॥७६॥

अर्थ:—अन्य दो (विचित्र और चित्र) यमकगिरि पर्वतों से पाँच सौ योजन जाकर देवकुरु भोगभूमि में स्थित सीतोदा नदी के मध्य में पाँचद्रह हैं। इन पाँचों द्रहों का नाम निषध द्रह, देवकुरु-द्रह, सूर्यद्रह, सुलसद्रह और विद्युत्प्रभद्रह है। इन रमणीक पाँचों द्रहों का समस्त वर्णन श्रीदेवी के पद्मद्रह के सदृश है। द्रह स्थित कमलों पर निर्मित प्रासादों में क्रमशः निषधकुमारी, देव (कुरु) कुमारी सूर्य कुमारी, सुलसा कुमारी और विद्युत्प्रभा नाम की पाँच नागकुमारियाँ निवास करतीं हैं ॥७३–७६॥

अब अन्य दश द्रहों की अवस्थिति एवं समस्त द्रहों के आयाम आदि का कथन करते हैं:—

पुनः पंच द्रहाः पूर्वभद्रशालवने परे।
मध्ये सीतामहानद्याः स्युः प्राग्नामादि संयुताः ॥७७॥

पश्चिमे भद्रशालेऽन्ये सन्ति पंच द्रहा युताः।
निषधाद्याख्यदेवीभिः सीतोदाभ्यन्तरे क्रमात् ॥७८॥

एते पिण्डीकृताः सर्वे द्रहाः विंशतिरूर्जिताः।
वज्रमूलाः सपद्मा योजनपंचशतान्तराः ॥७९॥

सहस्रयोजनायामा दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः।
पूर्वापर सुविस्तीर्णाः शतपंचसुयोजनैः ॥८०॥

जलान्तसमवैडूर्यनालक्रोशद्वयोच्छ्रिताः।
जलादृशावगाहाः स्युर्वेदिकास्तोरणाङ्किताः ॥८१॥

अर्थ:—इसके पश्चात् पूर्वभद्रशाल वन में स्थित सीता महानदी के मध्य में पूर्व कथित नीलवान् उत्तरकुरु आदि नामों से युक्त अन्य पाँच द्रह हैं। जिनमें नीलवान् आदि देवियाँ-निवास करतीं हैं। पश्चिम भद्रशाल वन में स्थित सीतोदा नदी के मध्य में निषधवान् आदि पूर्वोक्त नाम वाले अन्य पांच द्रह हैं, जिनमें निषध आदि नाम वालीं पाँच नागकुमारियाँ क्रमशः निवास करतीं हैं। ये सभी द्रह एकत्रित जोड़ने से बीस होते हैं। अर्थात् ५ द्रह उत्तरकुरु सम्बन्धी और ५ पूर्वभद्रशाल सम्बन्धी सीता नदी के मध्य में हैं, तथा ५ देवकुरु और ५ पश्चिमभद्रशाल सम्बन्धी सीतोदा के मध्य में हैं। वज्रमय है मूल जिनका ऐसे कमलों से युक्त इन पांचों द्रहों का पारस्परिक अन्तर पांच सौ योजन प्रमाण है। ये पाँचों द्रह दक्षिणोत्तर दिशा में एक हजार योजन लम्बे और पूर्व-पश्चिम पांच सौ योजन चौड़े हैं। एक एक द्रह दश योजन गहरे, रत्नमयवेदिकाओं से युक्त और मणिमय तोरणों से मण्डित हैं। प्रत्येक द्रहों में स्थित कमल समूहों को नाल वैडूर्यमय है और जल से दो कोस ऊँची है। अर्थात् पद्मनाल की कुल

लम्बाई साढ़े दश योजन प्रमाण है, इसीलिये दश योजन गहरे सरोवर को व्याप्त करती हुई जल से अर्ध योजन (दो कोस) प्रमाण ऊँची है ।।७७-८१।।

अमीषां व्यासेन वर्णनं क्रियते :—

ह्रदानां मध्ये प्रत्येकं जलाद् द्विक्रोशोत्सेधं योजनविस्तीर्णं सार्धक्रोशायतैकादशसहस्रपत्रपत्रा-ङ्कितं क्रोशव्यासकर्णिकान्वितम् एकैकं शाश्वतं कमलं स्यात् । कमलं कमलं प्रति कर्णिकायाम् नाना-मणिमयं क्रोशैकदीर्घं अर्धक्रोशव्यासं पादोनक्रोशोच्चं रत्नवेदिकातोरणाद्यलंकृतं एकैकं भवनं भवेत् । तेषु सर्वभवनेषु स्वस्व परिवारदेवावृताः प्रागुक्तनामाङ्किताः दिव्यरूपाः नागकुमार्यो वसन्ति । मुख्य-कमलगेहादाग्नेयदिशि देव्याः द्वात्रिंशत्सहस्राणि अन्तः परिषद्देवानां पद्मालयाः सन्ति । दक्षिणदिग्भागे मध्यपरिषत्सुराणां चत्वारिंशत्सहस्राम्बुजाढ्यगृहाश्च । नैऋत्यदिशि बाह्य परिषद् गीर्वाणानां अष्ट-चत्वारिंशत्सहस्राणि अब्जसौधाः सन्ति । वायुकोणेशानदिशोः सामान्यकामराणां चतुःसहस्राम्भोज प्रासादाश्च । पश्चिमाशायां सप्त सप्त सैन्याङ्कित सप्तानीकानां सप्तपद्मगेहाः स्युः । पूर्वादि चतुर्दिक्षु अङ्ग-रक्षाणां षोडशसहस्रपद्माङ्कितप्रासादाः सन्ति । देव्यः पद्मं परितः अष्टदिग्विदिक्षु प्रतीहारोत्तमनामष्टो-त्तरशतकमलगेहाश्च । इत्युक्ताः सर्वे एकत्रीकृताः एकलक्षचत्वारिंशत्सहस्रैकशतषोडशप्रमाणाः मुख्य-पद्मालयार्धायाम व्यासोत्सेधाः एकैक जिनालयवेदिकातोरणाद्यलंकृताः सुगन्धिपद्माश्रितरत्नगृहा विज्ञेयाः । सर्वे विंशतिह्रदानां पिण्डीकृताः देवीपद्मैः समं शाश्वता मणिपद्माः अष्टाविंशति लक्षद्विसहस्र-त्रिशतविंशतिप्रमाणाः भवेयुः तावन्तः पद्मस्था आलयाश्च ।

अब कमलों का तथा कमल स्थित भवनों के व्यास आदि का एवं उनमें निवास करने वाली नागकुमारियों के परिवार आदि का वर्णन करते हैं:—

अर्थ :—प्रत्येक सरोवरों के मध्य में एक एक अकृत्रिम कमल हैं । जो एक योजन चौड़े और और जल से दो क्रोस प्रमाण ऊँचे हैं, तथा डेढ़ कोस लम्बाई वाले ग्यारह हजार पत्रों से युक्त और एक कोस विस्तार वाली कर्णिका से समन्वित हैं । प्रत्येक कमल की कर्णिका पर अनेक मणियों से निर्मित, रत्नमय वेदिका एवं तोरण आदि से अलंकृत, एक कोस लम्बे, अर्ध कोस चौड़े और पौन कोस ऊँचे एक एक भवन हैं । इन समस्त (२०) भवनों में अपने अपने परिवार देवों से आवृत, पूर्वोक्त नाम वाली दिव्यरूप धारणी नागकुमारियां निवास करतीं हैं । इन देवियों के प्रधान कमल स्थित भवनों से आग्नेय दिशा में अभ्यन्तर परिषद् देवों के ३२००० पद्मालय हैं ।

दक्षिण दिशा में मध्य पारिषद् देवों के ४०००० कमलयुक्त भवन हैं । नैऋत्य दिशा में बाह्य पारिषद् देवों के ४८००० पद्मालय हैं । वायव्य और ईशान दिशा में सामानिक देवों के ४००० अम्भोज प्रासाद हैं । पश्चिम दिशा में सात सात सेनाओं से मण्डित सात अनीकों के सात (७) पद्म-

गृह हैं। पूर्व आदि चारों दिशाओं में अङ्गरक्षक देवों के १६००० पद्मांकित भवन हैं। देवियों के प्रधान कमलों के चारों ओर अर्थात् आठों दिशाओं में प्रतीहार देवों के १०८ कमलगृह हैं (प्रत्येक दिशा में चौदह, चौदह और विदिशाओं में तेरह-तेरह इस प्रकार एक सौ आठ हैं) इसप्रकार उपर्युक्त सर्व पद्म-गृहों का एकत्रित योग (३२०००+४००००+४८०००+१६०००+४०००+१०८+७+१) = १४०११६ प्रमाण होता है। इन परिवार कमलालयों का आयाम, व्यास एवं उत्सेध प्रधान पद्मालय के आयाम आदि से अर्ध अर्ध प्रमाण है। ये सभी सुगन्धित पद्माश्रित रत्नप्रासाद एक एक जिनालय, रत्नमय वेदिका एवं तोरण आदि से अलंकृत जानना चाहिये। नागकुमारियों के प्रधान कमलों के साथ साथ बीसों सरोवरों के समस्त कमलों का प्रमाण (१४०११६×२०) = २८०२३२० अर्थात् अट्ठाईस लाख दो हजार तीन सौ बीस है। जितने ये कमल हैं, इन पर स्थित उतने ही प्रासाद हैं (और उतने ही अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं)॥

अब काञ्चन पर्वतों का सविस्तार वर्णन करते हैं:—

एषां सर्वह्रदाणां च पूर्वपश्चिमभागयोः ।
प्रत्येकं पञ्च पञ्चैव पर्वताः काञ्चनाह्वयाः ॥८२॥

शतैकयोजनोत्सेधा मूले शतैकविस्तृताः ।
पञ्चसप्ततिविस्तारा मध्येऽग्रे व्याससंयुताः ॥८३॥

पंचाशद्योजनैः स्वोच्चचतुर्थांशधरान्तगाः ।
मूलाग्रेऽलंकृताः सन्ति वनवेदीसुतोरणैः ॥८४॥

एषां द्विशतसंख्यानां शिखरेषु महोन्नतैः ।
जिनचैत्यालयं रत्नमयैः प्रासादपंक्तिभिः ॥८५॥

वेदिकातोरणाद्यैश्च भूषितानि पुराणि वै ।
कल्पद्रुमादि युक्तानि भवन्ति शाश्वतानि भोः ॥८६॥

पुरेषुतेषु राजानः कांचनाख्याः सुरोत्तमाः ।
दशचापोच्चदिव्याङ्गा वसन्ति पल्यजीविनः ॥८७॥

अर्थः—इन उपर्युक्त बीस ह्रदों में से प्रत्येक ह्रद के पूर्व पश्चिम (दोनों) तटों पर पाँच पाँच (पूर्व तट पर २०×५=१०० और पश्चिम तट पर १००) काञ्चन नाम के पर्वत हैं। जो सौ योजन ऊँचे, मूल में—पृथ्वीतल पर सौ योजन चौड़े, मध्य में पचहत्तर योजन और शिखर पर पचास योजन चौड़े हैं। जमीन में इनका अवगाह (नींव) अपनी ऊँचाई का चतुर्थ भाग अर्थात् (१००/४)=२५ योजन

प्रमाण है। ये पर्वत मूल और अग्र भाग में वन, वेदी एवं उत्तम तोरणों से युक्त हैं। उन दो सौ कांचन शैलों के शिखरों पर महा उन्नत रत्नमय जिन चैत्यालयों, प्रासाद पंक्तियों, वेदिकाओं एवं तोरणों आदि से विभूषित तथा शाश्वत कल्पवृक्षों से युक्त नगर हैं। उन काञ्चनगिरि के नगरों में दश धनुष उन्नत, उत्तम देह से संयुक्त और पल्योपम प्रमाण आयु के धारक काञ्चन नाम के उत्तम देव अधिपति स्वरूप से निवास करते हैं ॥८२-८७॥

अब द्रहों और भद्रशाल की वेदियों के अन्तराल का दिग्दर्शन कराते हैं:—

योजनानां सहस्रे द्वे द्व्याग्रा नवतिः कले ।
द्वे, ह्रदोभयवेद्योः सर्वेषां प्रत्येकमन्तरम् ॥८८॥

अर्थः—सीता-सीतोदा के मध्य स्थित अन्तिम ह्रद और उत्तर-दक्षिण भद्रशाल की वेदी इस सब में से प्रत्येक के बीच के अन्तर का प्रमाण २०९२$\frac{2}{19}$ योजन है। अर्थात् अन्तिम द्रह से २०९२$\frac{2}{19}$ योजन आगे जाकर भद्रशाल की वेदी अवस्थित है ॥८८॥

विशेषार्थ :—विशेष के लिए देखिये त्रिलोकसार गाथा ६६० (टीका सहित)।

अब दिग्गज पर्वतों का स्वरूप छह श्लोकों द्वारा कहा जाता है:—

कुरुभूम्योर्द्वयोः पूर्वापरादि भद्रशालयोः ।
मध्ये च द्वि महानद्योः पार्श्वयोर्दिक्षुपर्वतौ ॥८९॥
द्वौ द्वौ दिग्गजनामानौ शतैकयोजनोन्नतौ ।
शतयोजनविस्तारौ मूलेऽग्रे विस्तरान्वितौ ॥९०॥
पंचाशद्योजनै रत्नप्रासादतोरणाङ्कितौ ।
वनवेदीजिनागारालंकृतौ भवतोऽद्भुतौ ॥९१॥
पद्मनीलाह्वयौ शैलौ स्वौवस्ति-कांजनाह्वयौ ।
कुमुदाद्रिपलाशाख्यावथतं शाद्रिरोचनौ ॥९२॥
इति नामाश्रिता अष्टौ पूर्वादिदिक्षु दिग्गजाः ।
ज्ञेया एषां च मूर्धस्थमणिवेश्मसु पुण्यतः ॥९३॥
स्वस्वाद्रिनामसंयुक्ता अष्टौ व्यन्तरनिर्जराः ।
देवदेवीपरिवारयुक्ता वसन्ति शर्मणा ॥९४॥

अर्थः—देवकुरु, उत्तरकुरु इन दो भोगभूमियों में तथा पूर्व भद्रशाल और पश्चिम भद्रशाल वनों के मध्य में महानदी सीता और सीतोदा के दोनों तटों पर दो दो दिग्गज पर्वत अवस्थित हैं।

इन (आठों) दिग्गज पर्वतों की ऊँचाई सौ योजन, भूविस्तार सौ योजन और शिखर तल का विस्तार पचास योजन प्रमाण है। इन पर्वतों के शिखर तोरण आदि से युक्त रत्नमय प्रासादों, वनों, वेदियों एवं अद्भुत वैभवशाली जिन चैत्यालयों से अलंकृत हैं ॥८६–६१॥

पूर्वादि दिशाओं में पद्म, नील, स्वस्तिक, अञ्जन, कुमुद, पलाश, अवतंश और रोचन नाम के आठ दिग्गज पर्वत हैं। अर्थात् सुदर्शनमेरु के पूर्व दिशा गत भद्रशालवन के मध्य से बहने वाली सीता के उत्तर तट पर पद्मोत्तर और दक्षिण तट पर नीलवान् नाम के दिग्गज हैं। इसी मेरु की दक्षिण दिशा गत देवकुरु भोगभूमि के मध्य सीतोदा महानदी के पूर्व तट पर स्वस्तिक और पश्चिम तट पर अञ्जन नाम के दिग्गज हैं। सुमेरु की पश्चिम दिशागत भद्रशाल वन के मध्य सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर कुमुद और उत्तर तट पर पलाश नाम के दिग्गज हैं, तथा मेरु की उत्तर दिशागत उत्तरकुरु भोगभूमि के मध्य सीता के पश्चिम तट पर अवतंश और पूर्व तट पर रोचन नाम के दिग्गज पर्वत हैं। (श्लोकार्थ) इन दिग्गजों के शिखरों पर स्थित मणिमय भवनों में पूर्व पुण्य के उदय से अपने अपने पर्वतों सदृश नामों से युक्त आठ व्यन्तर देव अपने अपने देव देवियों के परिवार से युक्त होते हुये सुख पूर्वक निवास करते हैं ॥६२-६४॥

अब विदेह नाम की सार्थकता एवं उसके भेद प्रभेद कहते हैं:—

विदेहा मुनयो यत्र भवन्त्यनेकशोऽनिशम् ।
रत्नत्रयतपोयोगैः ससार्थनामभृन्महान् ॥६५॥
विदेहो राजते वेदिवक्षाराद्यन्तराश्रितः ।
विभङ्गाभिर्युतः पूर्वापरद्व्यनेकभेदभाक् ॥६६॥
विभक्तः सीतया पूर्वविदेहोऽसौ द्विधा भवेत् ।
उत्तराख्योऽपरो दक्षिणश्चेति स द्विनामभृत् ॥६७॥
सीतोदया कृतो द्वेधा परदिग्भागसंस्थितः ।
दक्षिणोत्तरभेदाख्यां स्याद्विदेहोऽपराभिधः ॥६८॥
सीताया उत्तरे भागे नीलाद्रेर्दक्षिणेऽस्ति च ।
उत्तरप्राग्विदेहः पूर्वे ह्युत्तरकुरुक्षितेः ॥६९॥

अर्थ:—रत्नत्रय और तप के योग से यहाँ पर अनेक मुनिराज निरन्तर देह से रहित अर्थात् सिद्ध होते हैं, इसलिये वह "विदेह" इस महान सार्थक नाम को धारण किये हुये है। वेदियों और वक्षार पर्वतों से अन्तरित, विभङ्गानदियों से युक्त तथा दो और अनेक भेदों को धारण करता हुआ विदेह क्षेत्र शोभायमान है ॥६५–६६॥ (सुदर्शनमेरु से अन्तरित होता हुआ) पूर्वविदेह सीता महानदी के द्वारा उत्तर विदेह और दक्षिण विदेह के नाम से दो प्रकार का है। इसी प्रकार सीतोदा महानदी

द्वारा विभाजित किया गया पश्चिम विदेह दक्षिण विदेह और उत्तर विदेह के भेद से दो प्रकार का है ॥९७-९८॥ सीतानदी के उत्तर में, नीलकुलाचल के दक्षिण में और उत्तर कुरु भोगभूमि के पूर्व में उत्तर-पूर्व विदेह क्षेत्र है ॥९९॥

अब भद्रशाल आदि की वेदियों का प्रमाण कहते हैं :—

अस्यादौ भद्रशालस्य रत्नवेदी क्षयातिगा ।
शतपंचधनुर्व्यासाद्विक्रोशप्रोन्नता भवेत् ॥१००॥
योजनानां सहस्राणि शतपंचाग्रषोडश ।
तथा द्विनवतिर्भागौ द्वौ कृतैकोनविंशतेः ॥१०१॥
इत्यायामोऽस्ति वेद्याश्च तथान्या वनवेदिकाः ।
सप्तैवास्याः समाना विशेयादीर्घोच्चविस्तरैः ॥१०२॥

अर्थः—इस उत्तर-पूर्व विदेह क्षेत्र के प्रारम्भ में भद्रशाल वन की क्षय से रहित रत्नमय वेदी है । यह वन वेदी दो कोस ऊँची, पाँच सौ धनुष चौड़ी और १६५९२$\frac{२}{१९}$ योजन लम्बी है । इसी प्रकार अन्य सात (३ वेदिकाएँ भद्रशाल की, २ देवारण्य और २ भूतारण्य की =७) वन वेदिकाओं की दीर्घता एवं विस्तार आदि का प्रमाण जानना चाहिये । अर्थात् आठों वन वेदिकाएँ दो कोस ऊँची, ५०० धनुष चौड़ी और १६५९२$\frac{२}{१९}$ योजन लम्बी हैं ॥१००-१०२॥

अब विदेहस्थ कच्छा देश की अवस्थिति एवं उसका प्रमाण कहते हैं :—

ततोऽस्याः पूर्वदिग्भागे दक्षिणे नीलशैलतः ।
सीताया उत्तरे कच्छाख्यः स्याद् विषय ऊर्जितः ॥१०३॥
योजनानां सहस्रे द्वे द्वादशाग्रशतद्वयम् ।
सार्धक्रोशत्रयं चेति व्यासोऽस्य पूर्वापश्चिमे ॥१०४॥
आयामो वेदिकातुल्यो दक्षिणोत्तरभागयोः ।
विदेहविस्तृतेः सीताव्यासोनस्यार्धसम्मितः ॥१०५॥

अर्थः—इस भद्रशालवन वेदी के पूर्व में, नीलकुलाचल के दक्षिण में और सीता सरित् के उत्तर में कच्छा नाम का एक महान देश है । इस देश की पूर्व-पश्चिम चौड़ाई दो हजार दो सौ बारह योजन (२२१२ योजन) और ३$\frac{१}{२}$ कोश है, तथा दक्षिणोत्तर लम्बाई वेदिका की लम्बाई प्रमाण अर्थात् १६५९२$\frac{२}{१९}$ योजन है । विदेह के विस्तार में सीतानदी का व्यास घटा कर आधा करने पर कच्छा देश के आयाम का प्रमाण प्राप्त हो जाता है । यथाः—विदेह का विस्तार ३३६८४$\frac{४}{१९}$ योजन और सीता

का विस्तार ५०० योजन प्रमाण है, अतः ३३६८४ ४/१९ − ५०० ÷ २ = १६५९२ २/१९ योजन कच्छा देश के आयाम का प्रमाण प्राप्त होता है ॥१०३–१०५॥

अब कच्छ देश स्थित विजयार्ध पर्वत का वर्णन करते हैं :—

अस्य देशस्य मध्येऽद्रि विजयार्धाचलो महान् ।
शुक्लवर्णः समुत्तुङ्गः पंचविंशतियोजनैः ॥१०६॥
पंचाशद्योजनव्यासो भूम्यवगाहसंयुतः ।
क्रोशाग्रयोजनैः षड्भिः स्याद्विद्येशामराश्रितः ॥१०७॥
विजयव्याससमानेन पूर्वापरायतः समः ।
मूर्ध्नि स्वोच्चचतुर्थांशतुङ्गकूटनवाङ्कितः ॥१०८॥
दशयोजनमभ्येत्यभूमेरस्य द्वयो दिशोः ।
श्रेण्यौ द्वे भवतो रम्ये दक्षिणोत्तरसंज्ञिके ॥१०९॥
अद्रिदीर्घसमायामे दशयोजनविस्तृते ।
तन्मध्येऽस्त्यद्रिविस्तीर्णस्त्रिंशत्प्रमाणयोजनैः ॥११०॥
तयोः श्रेण्योर्द्वयोः सन्ति नगराणि खगामिनाम् ।
महान्ति पंचपंचाशत्प्रत्येकं भूषितानि च ॥१११॥
जिनागारैर्महासौधैः शालगोपुरसद्वनैः ।
प्रागुक्तनामवीथ्यादिवर्णनायुतान्यपि ॥११२॥
पुनर्द्वयोर्दिशोर्गत्वा दशास्य योजनानि च ।
प्रागुक्तायामविस्तारे श्रेण्यौ द्वे स्तो मनोहरे ॥११३॥
सन्त्येतयोर्द्वयोः श्रेण्योर्बहुदिव्यपुराणि च ।
सौधर्मैशानकल्पस्थाभियोगिक सुधाशिनाम् ॥११४॥
ततोऽप्यूर्ध्वं महाद्रेश्च गत्वा सत्पञ्च योजनान् ।
दशयोजनविस्तीर्णं मस्तकं स्यान्मनोहरम् ॥११५॥

अर्थः—इस कच्छ देश के मध्य में विजय-देश को आधा करने वाला शुक्ल वर्ण का एक महान् विजयार्ध नाम का पर्वत है। जिसकी ऊँचाई पच्चीस योजन, भूव्यास पचास योजन, अवगाह (नींव) सवा छह योजन तथा पूर्व पश्चिम लम्बाई कच्छ देश के व्यास सदृश अर्थात् २२१२ योजन ३½ कोश है। इस पर्वत पर विद्याधर और देवगण निरन्तर निवास करते हैं। इसके शिखर तल पर पर्वत की ऊँचाई के चतुर्थभाग प्रमाण ऊँचाई वाले नौ कूट अवस्थित हैं॥ १०६–१०८ ॥

पर्वत की उत्तर-दक्षिण दोनों दिशाओं में भूमि से दश योजन ऊपर दक्षिण-उत्तर नाम वाली दो रमणीक श्रेणियाँ हैं, जिनका विस्तार दश योजन और पूर्व-पश्चिम आयाम पर्वत के आयाम सदृश अर्थात् २२१२ योजन ३½ कोश प्रमाण है। दश-दश योजन को दोनों श्रेणियाँ निकल जाने के बाद पर्वत के मध्य में विजयार्ध का विस्तार तीस योजन प्रमाण रहता है ॥१०९–११०॥ उन उत्तर-दक्षिण दोनों श्रेणियों में से प्रत्येक श्रेणी पर विद्याधरों की पचपन-पचपन नगरियाँ हैं, जो जिनचैत्यालयों, उन्नत प्रासादों, प्राकारों, गोपुरों एवं उत्तम वनों से विभूषित हैं। इन नगरों के नाम एवं दीर्घता आदि के प्रमाण का वर्णन पूर्वोक्त प्रकार ही है ॥१११–११२॥ इसके बाद पुनः पर्वत की ऊँचाई में दश-योजन ऊपर जाकर उत्तर-दक्षिण दोनों दिशाओं में पूर्वोक्त आयाम (२२१२ योजन ३½ कोश) और विस्तार (१० योजन) से युक्त दो मनोहर श्रेणियाँ हैं। इन दोनों श्रेणियों पर सौधर्मैशान कल्पवासी देव सम्बन्धी आभियोग्य देवों के अनेक दिव्य नगर हैं। पर्वत को ऊँचाई में इससे भी पाँच योजन ऊपर जाकर अत्यन्त मनोहर और दश योजन चौड़ा शिखर तल प्राप्त होता है ॥११३–११५॥

अब विजयार्धस्थ कूटों के नाम, स्वामी, प्रमाण एवं परिधि आदि का सविस्तार वर्णन करते हैं :—

सिद्धाख्यं दक्षिणार्धं च खण्डप्रपातसंज्ञकम् ।
पूर्णभद्राह्वयं कूटं विजयार्धाभिधं ततः ॥११६॥
माणिभद्रं तमिश्राख्यमुत्तरार्धाभिधानकम् ।
कूटं वैश्रवणं तत्र नवकूटान्यमून्यपि ॥११७॥
सिद्धकूटे जिनागारः प्राग्वर्णनायुतो भवेत् ।
खण्डप्रपातकूटाग्रे नृत्तमाली सुरो वसेत् ॥११८॥
तमिश्रे कृतिमाली च षट्कूटाग्रस्थवेश्मसु ।
स्वकूटसमनामानो वसन्ति व्यन्तरामराः ॥११९॥
व्यासो मूले च कूटानां क्रोशाग्रयोजनानि षट् ।
मध्ये सार्धद्विगव्यूत्यग्रयोजनचतुष्टयम् ॥१२०॥
योजनत्रितयं मूर्ध्नि ह्यादौ परिधिरुत्तमा ।
विस्तृता योजनैर्विंश प्रमैर्मध्ये च मध्यमा ॥१२१॥
परिधिः स्याद्धि किञ्चिन्न्यूनपञ्चदशयोजनैः ।
शिखरे योजनानां सविशेषा नवसंख्यया ॥१२२॥

अर्थः—विजयार्ध पर्वत के दश योजन विस्तीर्ण शिखर तल पर सिद्ध, दक्षिणार्ध, खण्डप्रपात, पूर्णभद्र, विजयार्ध, माणिभद्र, तमिस्रगुह, उत्तरार्ध और वैश्रवण नाम के नौ कूट हैं। इनमें से प्रथम सिद्धकूट पर पूर्व वर्णन के अनुसार ही जिनचैत्यालय है। खण्डप्रपातकूट पर नट्टमाली (नृत्यमाल) और तमिस्रगुह कूट पर कृतमाली तथा अवशेष छह कूटस्थ प्रासादों में अपने-अपने कूट नामधारी व्यंतर देव रहते हैं ॥११६-११९॥ कूटों की चौड़ाई मूल में सवा छह (६¼) योजन, मध्य में चार योजन ढाई कोस (४ योजन २½ कोस) और शिखर पर तीन (३) योजन प्रमाण है। कूट के मूलभाग की अर्थात् आदि की उत्तम परिधि का प्रमाण बीस योजन, कूट के मध्य भाग की मध्यम परिधि का प्रमाण कुछ कम पन्द्रह योजन और शिखर पर कूटों की परिधि का प्रमाण कुछ अधिक नौ योजन प्रमाण है ॥११६-१२२॥

अब विजयार्धस्थ तमिस्र एवं प्रपात गुफा का सविस्तार वर्णन करते हैं :—

पञ्चाशद्योजनायामे योजनाष्टसमुन्नते ।
गुहे तमिश्रकाण्डप्रपाताख्ये स्तोऽत्र पर्वते ॥१२३॥
योजनद्वादशव्यासे तिमिरोष्माभिपूरिते ।
महावज्रकपाटद्वयाङ्किते शाश्वते शुभे ॥१२४॥
अस्योभयोर्दिशोर्नित्यं वनं द्विक्रोशविस्तृतम् ।
वेदिकातोरणैर्युक्तं जिनालयपुरादिभिः ॥१२५॥
इत्येषा वर्णना सर्वा विदेहे द्विविधेऽखिले ।
द्वात्रिंशद्विजयार्धानां समानास्त्युन्नतादिभिः ॥१२६॥

अर्थ :—इस विजयार्ध पर्वत में तमिस्र और प्रपात नाम की दो गुफाएँ हैं, जो पचास योजन लम्बी, आठ योजन ऊँची बारह योजन चौड़ी, अन्धकार और उष्णता से भरी हुई, दो महावज्र कपाटों से युक्त, शाश्वत और शुभ हैं ॥१२३-१२४॥ पर्वत की दोनों दिशाओं में जिन चैत्यालयों, नगरों, वेदिकाओं एवं तोरणों से युक्त दो कोस चौड़े शाश्वत वन हैं। इसी प्रकार का यह समस्त वर्णन पूर्व विदेह, अपर विदेह में अथवा बत्तीस विदेहों में और बत्तीस विजयार्धों की ऊँचाई आदि में समान रूप से है ॥१२५-१२६॥

अब चौंसठ कुण्डों का वर्णन करते हैं :—

नीलाद्र्यधःस्थ भूभागे सार्धद्विषष्टियोजनैः ।
विस्तृते चावगाहाढ्ये दशयोजनसंख्यया ॥१२७॥

वेदिकातोरणद्वारोपेते स्वच्छाम्बुभिर्भृते ।
द्वे कुण्डे स्तः पृथग् रक्तारक्तोदोत्पत्तिकारणे ॥१२८॥
इत्युक्तविस्तृताद्यैः सर्वाणि कुण्डानि धीधनैः ।
सदृशानि चतुःषष्टिर्ज्ञेयानि शाश्वतानि च ॥१२९॥
नीलाद्रिनिषधाधःस्थभूमिष्वति शुभान्यपि ।
चतुःषष्ठिनदीनां स्वोत्पत्तिमूलानि नान्यथा ॥१३०॥

अर्थ :—नीलपर्वत के अधोभाग में भूमि पर साढ़े बासठ योजन चौड़े, दश योजन गहरे, वेदिका और तोरणों से संकुलित तथा स्वच्छ जल से भरे हुये रक्ता-रक्तोदा महानदियों की उत्पत्ति के कारण भूत पृथक् पृथक् दो कुण्ड हैं ॥१२७-१२८॥ इस प्रकार विद्वानों के द्वारा समस्त चौंसठ (६४) ही शाश्वत कुण्ड पूर्वोक्त कुण्डों के विस्तार आदि के सदृश ही कहे गये हैं, ऐसा जानना चाहिये। नील और निषध कुलाचलों के अधोभाग में पृथ्वी पर (विदेहस्थ गङ्गा, सिन्धु, रक्ता और रक्तोदा इन) चौंसठ नदियों के (पतन और) उत्पत्ति के कारणभूत अत्यन्त शुभ चौंसठ कुण्ड हैं, इसमें संशय नहीं है ॥१२९-१३०॥

अब विदेहस्थ रक्ता रक्तोदा का स्वरूप कहते हैं :—

कुण्डयोर्दक्षिणद्वाराभ्यां निर्गत्योर्म्मिसंकुले ।
क्रोशाग्रयोजनैः षड्भिरादौ विस्तारसंयुते ॥१३१॥
अर्धक्रोशावगाहे द्वे रक्ता रक्तोदसंज्ञिके ।
नद्यौगुहास्थदेहल्या-अधोभागे विनिर्गते ॥१३२॥
अद्रेर्गुहान्तरे ज्ञेयो विस्तारः खण्डवर्जितः ।
अष्टयोजनसंख्यो हिनद्योः सर्वत्र सन्निभः ॥१३३॥
ततोऽभ्येत्य क्रमान्नद्यौ सार्धद्विषष्टियोजनैः ।
विस्ताराद्यवगाहे द्वे पञ्चक्रोशैर्मनोहरे ॥१३४॥
सीतायास्तोरणद्वाराभ्यां प्रविष्टे क्षयोज्झिते ।
द्विपार्श्वस्थमहावेदीवनतोरणभूषिते ॥१३५॥
चतुर्दशसहस्राणि वनवेद्याद्यलंकृताः ।
प्रत्येकमनयोः सन्ति परिवाराख्यनिम्नगाः ॥१३६॥

अर्थः—कल्लोलावलियों से व्याप्त, सवा छह योजन चौड़ी और अर्ध कोस गहरी रक्ता-रक्तोदा नाम की दोनों नदियाँ निषध कुलाचल के मूल में स्थित कुण्डों के दक्षिण द्वारों से निकलकर विजयार्ध

स्थित गुफा की देहली के नीचे से जाती हुई गुफा में प्रवेश करतीं हैं। गुफा के भीतर इन सरिताओं का विस्तार हानि-वृद्धि से रहित सर्वत्र समान रूप से आठ योजन प्रमाण जानना चाहिये। इसके बाद मन को हरण करने वाली ये दोनों नदियाँ क्रमशः साढ़े बासठ योजन विस्तार और पाँच कोस के अवगाह को प्राप्त होतीं हुईं, दोनों पार्श्वभागों में महान् वेदियों, वनों एवं तोरणों से विभूषित और अनाद्यनिधन सीता-सीतोदा की वेदियों के तोरण द्वारों से होती हुई सीता-सीतोदा में प्रवेश करतीं हैं। इन दोनों में से प्रत्येक की वन वेदी आदि से अलंकृत चौदह-चौदह हजार परिवार नदियाँ हैं ॥१३१-१३६॥

अब सीता सीतोदा के तोरणों एवं गोपुरों के आयाम आदि का वर्णन करते हैं:—

सीतायास्तोरणद्वारयोरायामः पृथग्विधः ।
सार्धद्विषष्टिसंख्यानि योजनानि तथोन्नतिः ॥१३७॥
योजनानां च पादोनचतुर्नवतिसम्मिता ।
अर्धयोजनविस्तारो बह्व्यो, जिनेन्द्रमूर्तयः ॥१३८॥
तयोर्गोपुरयोर्मूर्ध्नि स्युः पुराणि सुधाभुजाम् ।
युक्तानि वनवेद्याद्यैस्तुङ्गधामजिनालयैः ॥१३९॥
इत्येषा वर्णना सर्वा ज्ञातव्या सदृशी बुधैः ।
चतुःषष्टिनदीनां चावगाहाविस्तरादिभिः ॥१४०॥
सीतासीतोदयोर्नद्योर्द्वाराणां तटयोर्द्वयोः ।
चतुःषष्टिप्रमाणानां सरित्प्रवेशदायिनाम् ॥१४१॥

अर्थः—सीता और सीतोदा के तोरण द्वारों का पृथक्-पृथक् आयाम साढ़े बासठ योजन, ऊँचाई एक पाद से कम चौरानवे (९३¾) योजन और नींव अर्ध योजन प्रमाण है। इन दोनों नदियों के गोपुरों के ऊपर अत्यधिक जिनेन्द्र मूर्तियाँ और देवों के नगर हैं, वे नगर उत्तम जिनालयों, उन्नत प्रासादों, वनों एवं वेदियों आदि से संयुक्त हैं ॥१३७-१३९॥ सीता-सीतोदा नदियों के दोनों तटों पर स्थित नदियों को प्रवेश देने वाले चौंसठ (प्रत्येक) द्वारों का तथा गंगा-सिन्धु (३२) और रक्ता-रक्तोदा (३२) इन ६४ नदियों के विस्तार एवं अवगाह आदि के प्रमाण का समस्त वर्णन विद्वानों के द्वारा इसके सदृश ही जानने योग्य है ॥१४०-१४१॥

अब कच्छादेश का छह खण्डों में विभाजन, आर्य खण्ड की अवस्थिति और म्लेच्छ खण्डों का स्वरूप कहते हैं:—

विजयार्धाद्रिणा रक्तारक्तोदाभ्यां बभूव च ।
कच्छादेशः सषट्खण्ड आर्यैकम्लेच्छपञ्चभृत् ॥१४२॥

सीताया उत्तरे भागे विजयार्धस्य दक्षिणे ।
रक्तारक्तोदयोर्मध्येऽस्त्यार्यखण्डं शुभाकरम् ।।१४३।।
अन्यानि म्लेच्छखण्डानि धर्मदूराणि पञ्च हि ।
धर्मकर्मबहिर्भूतैः म्लेच्छैर्भृतानि दुःकुलैः ।।१४४।।

अर्थ :—विजयार्ध पर्वत और रक्ता-रक्तोदा इन दो नदियों से कच्छा देश के छह खण्ड होते हैं, उनमें से एक आर्य और पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। सीतानदी के उत्तर में, विजयार्ध के दक्षिण में और रक्ता-रक्तोदा के मध्य में अत्यन्त शुभ चेष्टाओं से युक्त आर्य खण्ड है। शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड धर्म रहित हैं, और धर्म कर्म से बहिर्भूत तथा खोटे कुलोत्पन्न म्लेच्छों से भरे हैं ।।१४३-१४४।।

अब पृथक् पृथक् तीन खण्डों का, छह खण्डों का और विजयार्ध के समीप रक्ता-रक्तोदा का विस्तार कहते हैं :—

नीलाचलसमीपे त्रिखण्डानां विस्तरः पृथक् ।
योजनानां त्रयस्त्रिंशत्सप्तशतानि च ।।१४५।।
क्रोशैकस्य षडंशेनोनद्विक्रोशयुतान्यपि ।
षट्खण्डानां तथायामोऽष्टौ सहस्राणि द्वे शते ।।१४६।।
एकसप्ततिसंयुक्ते योजनानां पृथक् पृथक् ।
एकोनविंश भागानां भागैको योजनस्य च ।।१४७।।
मूले रजतशैलस्य विस्तारः सरितो द्वयोः ।
योजनानि चतुस्त्रिंशत् सार्धक्रोशयुतान्यपि ।।१४८।।
विजयार्धसमीपे हि त्रिखण्डानां सुविस्तृतिः ।
योजनानां द्विसप्ताधिकानि सप्तशतानि च ।।१४९।।
तथा पञ्चसहस्राणि धनुषां षट्शतानि च ।
षट्षष्टिरेव हस्तौ द्वावंगुलान्यपि षोडश ।।१५०।।

अर्थः—नील कुलाचल के समीप में कच्छा देश के तीन खण्डों का पृथक्-पृथक् विस्तार सात सौ तेतीस योजन छह भागों से हीन दो कोस (७३३$\frac{११}{२४}$ योजन) प्रमाण है, तथा छह खण्डों का पृथक् पृथक् आयाम आठ हजार दो सौ इकहत्तर योजन और एक कला (८२७१$\frac{१}{१९}$ योजन) प्रमाण है। विजयार्ध पर्वत के मूल में रक्ता-रक्तोदा नदियों में से प्रत्येक का विस्तार चौंतीस योजन और डेढ़ कोस से कुछ अधिक है। अर्थात् ३४$\frac{३}{८}$ योजन प्रमाण है ।।१४५-१४८।। विजयार्ध पर्वत के समीप में तीनों

खण्डों में से प्रत्येक खण्ड का विस्तार ७१४ योजन पांच हजार छह सौ छयासठ धनुष, दो हाथ और सोलह अंगुल प्रमाण है ॥१४९-१५०॥

अब इस उपर्युक्त प्रमाण को लाने का विधान कहते हैं :—

रक्तारक्तोदाव्यासोनकच्छादेशत्रिभागोक्तः विजयार्ध पार्श्वे आर्य म्लेच्छखण्डानां प्रत्येकं विष्कम्भः चतुर्दशाग्रसप्तशतयोजनानि पंचसहस्रषट्शतषट्षष्ठिधनूंषि च द्वौ करौ षोडशांगुलानि ।

अर्थः—रक्ता-रक्तोदा के व्यास से हीन कच्छा देश के व्यास को तीन से भाजित करने पर विजयार्ध के समीप आर्यादि छह खण्डों में से प्रत्येक खण्ड का विस्तार प्राप्त होता है। यथा—कच्छा देश के विष्कम्भ का प्रमाण २२१२$\frac{7}{8}$—(३४$\frac{3}{8}$×२ रक्ता-रक्तोदा का वि०)÷३=७१४ योजन, ५६६६ धनुष, २ हाथ और १६ अंगुल प्रत्येक खण्ड का विस्तार है ॥

अब सीता के तट पर स्थित तीन खण्डों का विस्तार, क्षेमपुरी की अवस्थिति, प्रमाण एवं अन्य अन्य विशेषताओं का वर्णन करते हैं :—

सीतातटे त्रिखण्डानां विष्कम्भः षट्शतानि च ।
षण्णवत्यधिकान्येव योजनानां पृथक् पृथक् ॥१५१॥
गव्यूत्येकषडंशेनोनानि क्षेमाह्वया पुरी ।
आर्यखण्डस्य मध्येऽस्ति महती धर्ममातृका ॥१५२॥
योजनद्वादशायामा नवयोजनविस्तृता ।
सहस्रगोपुरद्वारैः क्षुल्लकद्वारपंक्तिभिः ॥१५३॥
शतपञ्चप्रमैः रत्नमयैः खातिकयावृता ।
चतुःपथसहस्रैः सहस्रद्वादशवीथिभिः ॥१५४॥
तुङ्गसौधजिनागारैर्जैनसंघैर्जिनादिभिः ।
धर्मोत्सवशतैर्नित्यं भाति धर्मखनीव सा ॥१५५॥
मिथ्यात्वमठदुःशास्त्रकुदेवलिङ्गिवर्जिता ।
मिथ्यामतकुपाखण्डिदूरा वर्णत्रयान्विता ॥१५६॥
अत्रसप्तमहामेघा भ्रमराञ्जनसन्निभाः ।
वर्षाकाले च वर्षन्ति सप्तसप्तदिनान्यपि ॥१५७॥
कुन्देन्दु सदृशा द्रोणमेघा द्वादशसंख्यकाः ।
महासलिलसम्पूर्णा योग्यं कुर्वन्ति वर्षणम् ॥१५८॥

एकैकस्य सुमेघस्य सन्ति श्रीपतनाः शुभाः ।
स्थूला नीरौघसंयुक्ता विंशत्यग्रशतत्रयम् ।।१५९।।
ततोऽतिवृष्ट्यनावृष्टिदुर्भिक्षाद्याः किलेतयः ।
जायन्तेऽत्र न चा निष्टा अन्ये प्रजाऽसुखप्रदाः ।।१६०।।
उत्पद्यन्तेऽत्र तीर्थेशास्त्रिजगन्नाथसेविताः ।
गणेशा गणनातीताश्चरमाङ्गाश्च योगिनः ।।१६१।।
चक्रिणो वासुदेवाश्च बलदेवास्तथाद्विषः ।
नारदाः कामदेवाद्या जायन्ते नृसुरार्चिताः ।।१६२।।
राजा तथाधिराजश्च महाराजोऽर्धमण्डली ।
मण्डलीको महामण्डलीकस्त्रिखण्डभूपतिः ।।१६३।।

अर्थः—सीता महानदी के तीर पर तीनों खण्डों का पृथक् पृथक् विस्तार छठे भाग से हीन छह सौ छ्यानवे योजन (६९५$\frac{5}{6}$ यो०) प्रमाण है । आर्य खण्ड के मध्य में श्रेष्ठ धर्ममाता के सदृश क्षेमा नाम की नगरी है ।।१५१–१५२।। इस नगरी का आयाम बारह योजन और विस्तार नौ योजन प्रमाण है, तथा यह नगरी एक हजार गोपुर द्वारों एवं पाँच सौ क्षुल्लक (लघु) द्वारों से युक्त तथा रत्नमय खाई से वेष्टित है । धर्म की खान (आकर) के समान यह क्षेमा नगरी एक हजार चतुष्पथों, बारह हजार वीथियों, उन्नत प्रासादों, जिन चैत्यालयों, जिनसंघों, जिन प्रतिमाओं एवं नित्य प्रति होने वाले सहस्रों धर्म महोत्सवों के द्वारा शोभायमान रहती है ।।१५३–१५५।। मिथ्या मठों अर्थात् मिथ्यात्व के पोषक मिथ्या आयतनों, कुशास्त्रों, कुदेवों एवं कुलिङ्गियों से रहित, मिथ्यामत और पाखण्डियों से विहीन यह नगरी तीन वर्णों के मनुष्यों से सदा समन्वित रहती है ।।१५६।। यहाँ पर वर्षा काल में भ्रमर एवं अञ्जन के सदृश सात प्रकार के महामेघ सात सात दिन तक वर्षा करते हैं । कुन्द पुष्प और चन्द्र के सदृश प्रभावाले तथा प्रचुर जल से परिपूर्ण बारह द्रोणमेघ भी योग्य वर्षा करते हैं ।। इनमें से एक एक के स्थूल जल के समूह से युक्त अत्यन्त शुभ तीन सौ बीस श्रीपतन (सरित्प्रपात) होते हैं ।। १५७–१५९।। इस नगरी में कभी अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदि तथा और भी अन्य ईतियाँ (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूसक, सलभ, शुक, स्वचक्र और परचक्र ये सात ईतियाँ हैं) नहीं होतीं । प्रजा को दुख देने वाले अन्य भी कोई अनिष्ट वहाँ नहीं होते ।। १६० ।। वहाँ पर तीन लोक के इन्द्रों (१००इंद्रों) से सेवित तीर्थङ्कर देव, गणनातीत गणधर एवं चरमशरीरी मुनिराज उत्पन्न होते हैं । मनुष्यों और देवों से पूजित चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, बलदेव, नारद और कामदेव आदि भी उत्पन्न होते हैं, तथा राजा, अधिराजा, महाराजा, अर्धमण्डल, मण्डलीक, महामण्डलीक और त्रिखण्ड-पति भी उत्पन्न होते हैं ।।१६१–१६३।।

अब राजाधिराजा आदि के लक्षण कहते हैं :—

चक्रीषट्खण्डभूनाथः शतपञ्चमहीभृताम् ।
पतिः स्यादधिराजश्च सहस्रभूभुजां पतिः ॥१६४॥
महाराजो महीपानां द्विसहस्रप्रमाजुषाम् ।
स्वाम्यर्धमण्डलीकः स्याच्चतुः सहस्रभूभृताम् ॥१६५॥
नायको मण्डलीकश्चाष्टसहस्रमहीभुजाम् ।
पतिर्भवेन्महामण्डलीको भूपशिरोमणिः ॥१६६॥
सहस्रषोडशानां सम्राज्ञां मुकुटशालिनाम् ।
पतिः स्यादर्धचक्री च नृविद्येशसुरार्चितः ॥१६७॥
द्विषोडशसहस्राणां राज्ञां शेखरशालिनाम् ।
स्वामी षट्खण्डभूनाथश्चक्रीरत्ननिधीश्वरः ॥१६८॥

[1]**अत्रोपयोगिनश्लोका :—**

अष्टादशसंख्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम् ।
राजास्यान्मुकुटधरः कल्पतरु सेव्यमाना ॥१॥
पञ्चशतनरपतीनामधिराजोधीश्वरो भवतिलोके ।
राजसहस्राधिपतिः प्रतीयतेऽसौ महाराजः ॥२॥
द्विसहस्रराजनाथो मनीषिभिर्भण्यतेर्धमण्डलिकः ।
मण्डलिकश्चतथास्याच्चतुः सहस्रावनीशपतिः ॥३॥
अष्टसहस्रमहीपतिनायक माहु बुधामहामण्डलिकम् ।
षोडशराजसहस्रैं विनम्यमानं त्रिखण्डधरणीशम् ॥४॥
षट्खण्डभरतनाथं द्वात्रिंशद्धरणिपति सहस्राणाम् ।
दिव्यमानुष्य भोगागारं विदुरिह धरम् ॥५॥

अर्थ:—(अठारह श्रेणियों के स्वामी को अथवा एक करोड़ ग्रामों के अधिपति को राजा कहते हैं) । ५०० राजाओं का अधिपति अधिराजा, एक हजार राजाओं का स्वामी महाराजा, दो हजार राजाओं का स्वामी अर्धमण्डलीक, चार हजार राजाओं का स्वामी मण्डलीक, आठ हजार राजाओं

---

१. एते श्लोकाः अ. ज. प्रत्यो न सन्ति । टिप्पणरूपमेव प्रदर्शिताः ब. न. प्रत्यां: मूले समा वेशिताः ।

का स्वामी महामण्डलीक, सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं का अधिपति अर्धचक्री (त्रिखण्डाधिपति) और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं का स्वामी छह खण्डों का अधिपति, चौदह रत्न एवं नौ निधियों का अधीश्वर चक्रवर्ती होता है ॥ १६४ — १६८ ॥

उपयोगी (क्षेपक) श्लोकों का अर्थ:—

अठारह श्रेणियों (१ सेनापति, २ गणपति, ३ वणिक्पति, ४ दण्डपति, ५ मन्त्री, ६ महत्तर, ७ तलवर, ८ चतुर्वर्ण ११ चतुरङ्ग, १५ पुरोहित, १६ अमात्य, १७ महामात्य और १८ प्रधान) के अधिपति से जो कल्पवृक्ष के सदृश सेव्यमान है उसे मुकुट बद्ध राजा कहते हैं । ५०० राजाओं से सेव्यमान को अधिराजा, १००० राजाओं के स्वामी को महाराजा, २००० राजाओं से सेव्यमान को अर्धमण्डलीक, ४००० राजाओं से सेव्यमान को मण्डलीक, ८००० राजाओं के स्वामी को महामण्डलीक, १६००० राजाओं से सेवित को अर्धचक्री अर्थात् त्रिखण्डाधिपति कहते हैं, और ३२००० राजाओं के अधिपति को जो कि छह खण्ड का अधिपति है, दिव्य मनुष्य शरीर से युक्त और भोगों की खान है उसे चक्रवर्ती कहते हैं ॥१–५॥

क्षेमापुरी के वनों की संख्या कहते हैं :—

> **क्षेमापुर्याश्चतुर्दिक्षु प्रत्येकं सद्वनानि च ।**
> **षष्ट्यग्रत्रिशतानि स्युः फलपुष्पयुतान्यपि ॥१६६॥**

अर्थ :—क्षेमापुरी की चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में फलों एवं पुष्पों से युक्त तीन सौ साठ, तीन सौ साठ उत्तम वन हैं ॥ १६६ ॥

अब चक्रवर्ती की दिग्विजय का विस्तृत व्याख्यान करते हुये सर्व प्रथम दक्षिण दिग्विजय का वर्णन करते हैं :—

> **तत्रोत्पन्नो हि चक्रेशः प्राप्य रत्नचतुर्दश ।**
> **निधीन्नवषडङ्गाढ्यो निर्याति विजयाप्तये ॥१७०॥**
>
> **क्रमात् स साधयन् भूपान् दक्षिणाभिमुखेन च ।**
> **गत्वा सीतासरिद्द्वारे स्वसैन्येन वसेत्सुधीः ॥१७१॥**
>
> **तत्र सेनापतिं चक्री नियोज्य बलरक्षणे ।**
> **दिव्यं रथंमुदारुह्य सरिद् द्वारं प्रविश्य च ॥१७२॥**
>
> **गत्वा तदन्तरे द्वादशयोजनानि सद्धनुः ।**
> **आदाय तन्निनादेन कम्पयन् तुलगाऽमरान् ॥१७३॥**

अमोघाख्यं स्फुरद्दीप्रं शरं मुञ्चति पाणिना ।
मागधावासमुद्दिश्य मागधद्वीपसंस्थितम् ।।१७४।।
चक्रिनामाङ्कितो बाणः कुर्वन् स्वध्वनिना द्रुतम् ।
भयं तद्वासिदेवानां पतेद्देवसभाक्षितौ ।।१७५।।
मागधाख्योऽमराधीशः चक्रिनामाङ्कितं शरम् ।
तं वीक्ष्य सहसादाय ज्ञात्वा चक्र्यागमं ध्रुवम् ।।१७६।।
अभ्येत्य शिरसा नत्वा चक्रेशं पूजयेन्मुदा ।
दिव्याभरणरत्नाद्यैस्तदाज्ञां प्रोद्वहन्स्वयम् ।।१७७।।
अनेन विधिनाऽसौ वरतनुं व्यन्तराधिपम् ।
शक्त्या वरतनु द्वीपाधीशं प्रभासनिर्जरम् ।।१७८।।
सीतान्तःस्थं प्रभासाख्यं द्वीपनाथं प्रसाध्य च ।
ताभ्यां नेपथ्य रत्नादीन् बहून् गृह्णाति लीलया ।।१७९।।
इति दक्षिणदिग्भागे वासिनोऽमरभूपतीन् ।
जित्वोत्तरदिशां जेतुमायाति स जयन् नृपान् ।।१८०।।

अर्थः—उस क्षेमापुरी नगरी में उत्पन्न होने वाले चक्रवर्ती चौदहरत्न, नौ निधियों को प्राप्त कर सेना से युक्त होते हुये दिग्विजय की प्राप्ति के लिये निकलते हैं ।।१७०।। क्षेमापुरी से निकलकर सर्व प्रथम दक्षिणाभिमुख जाते हैं, वहाँ के सर्व नरेन्द्रों को क्रम से जीतते हुये उत्तम बुद्धि का धारक वह चक्रवर्ती सीतानदी के द्वार पर जाकर अपनी सेना के साथ ठहर जाते हैं। वहाँ सेना की रक्षा में सेनापति को नियुक्त कर आप स्वयं दिव्य रथ पर चढ़कर सीता नदी के द्वार में प्रवेश करते हुये नदी के भीतर बारह योजन पर्यन्त जाकर उत्तम धनुष बाण ग्रहण करते हैं, जिसकी टङ्कार से मनुष्यों विद्याधरों एवं देवों को कम्पायमान करते हुये मागधद्वीप में स्थित मागध देव के निवास स्थान का उद्देश्य कर अमोघ नाम के देदीप्यमान बाण को अपने हाथों से छोड़ते हैं ।।१७१-१७४।। चक्रवर्ती के नाम से अङ्कित वह बाण अपनी ध्वनि से वहाँ के निवासी देवों को भय उत्पन्न कराता हुआ देव सभा के मध्य में गिरता है ।।१७५।। देवों का अधीश्वर मागध नाम देव, चक्रवर्ती के नाम से अंकित उस बाण को देख कर तथा उसे ग्रहण करके और निश्चय से चक्रवर्ती का आगमन जानकर शीघ्र ही वहाँ आकर उन्हें शिर से नमस्कार करता है, तथा दिव्यवस्त्राभूषणों एवं रत्नसमूहों से प्रसन्नता पूर्वक चक्रवर्ती की पूजा करता हुआ उनकी आज्ञा को स्वयं अपने शिर पर धारण करता है ।।१७६-१७७।। इसी प्रकार वह चक्री अपनी शक्ति विशेष से वरतनुद्वीप के अधीश्वर

वरतनु नाम को व्यन्तराधिप को और सीता के तट पर स्थित प्रभास द्वीप के स्वामी प्रभास देव को अपने आधीन करके उनके बहुत से वस्त्राभरण और रत्न आदि क्रीड़ा मात्र में ग्रहण कर लेता है ॥१७८–१७६॥ इसी प्रकार दक्षिण दिशा में निवास करने वाले देवों एवं राजाओं को जीत कर वह चक्री उत्तर दिशा गत राजाओं को जीतने की इच्छा से उत्तर में आता है ॥१८०॥

अब उत्तर दिग्विजय में विजयार्ध की गुफा से निस्तीर्ण होने का विधान बतलाते हैं:--

क्रमेण विजयार्धाद्रि समीपेऽखिलै राजावृतः ।
रूप्याद्रि म्लेच्छखण्डादि साधनाय चिरं वसेत् ॥१८१॥
चक्रयादेशेन सेनानीरश्वरत्नं खगामिनम् ।
आरुह्याभ्येत्य रूप्याद्रेर्गुहाद्वारं सुदुर्गमम् ॥१८२॥
तमिश्राख्यं स्फुरद्दण्डरत्नेन घातयेत्तराम् ।
तत् क्षणं स खमुत्पत्य म्लेच्छखण्डं व्रजेत्सुधीः ॥१८३॥
दण्डघातेन तद् द्वारकपाटोद्घाटनं भवेत् ।
तन्मध्यादूष्मदाहौघो निर्याति दुस्सहस्तदा ॥१८४॥
षण्मासैर्यावदूष्मौघः शान्तः स्याच्छीतला गुहा ।
तावत्सेनापतिर्म्लेच्छखण्डमेकं च साधयेत् ॥१८५॥
ततश्चक्रिमहासेना ह्यागत्याद्रिगुहामुखम् ।
प्रविश्य यत्नतो गच्छेन्नद्या उभयपार्श्वयोः ॥१८६॥
क्रमेणास्य गुहामध्यभागे गत्वा नदीद्वयात् ।
अग्रे गन्तुमशक्तं तत्सैन्यं चिन्तापरं वसेत् ॥१८७॥
गिरिद्विपार्श्वभित्तिस्थसत्कुण्डाभ्यां विनिर्गते ।
द्वे चोन्मग्नजलासंज्ञिका निमग्नजलाह्वये ॥१८८॥
नद्यौ द्वियोजनायामे महोर्मिचयसंकुले ।
रक्तामध्ये प्रविष्टे प्रवहतस्तत्र दुर्गमे ॥१८९॥
तदा चक्रधरादेशात् स्थपत्याख्यो नृरत्नभाक् ।
दिव्यशक्त्यानयोर्नद्योः सेतुबन्धं प्रबन्धयेत् ॥१९०॥
तेनोत्तीर्य शनैर्नद्यौ पुण्येन सैन्य मूर्जितम् ।
गुहाया उत्तरद्वारेण निर्गच्छति शर्मणा ॥१९१॥

अर्थ:—चक्रवर्ती म्लेच्छ आदि खण्डों को जीतनें के लिये उत्तर दिशा में क्रम से जाते हुये अपनी महान सेना सहित विजयार्ध के समीप बहुत काल तक रहता है। चक्रवर्ती के आदेश से सेनापति आकाशगामी घोड़े (अश्वरत्न) पर चढ़कर विजयार्ध पर्वत को तमिश्र नाम की गुफा द्वार को देदीप्यमान दण्डरत्न से अत्यन्त जोर से घात करता (ठोकर मारता) है और वह उत्तम बुद्धि का धारी सेनापति तत्क्षण आकाश में उड़ता हुआ म्लेच्छ खण्ड को जाता है ।।१८१–१८३।। दण्डघात के द्वारा उस गुफा के दोनों द्वार खुल जाते हैं और उसके भीतर से अत्यन्त दुस्सह ऊष्मा (उष्णता) का समूह निकलता है। छह मास के बाद वह उष्णता का समूह शान्त होता है और गुफा शीतल होती है तब तक सेनापति एक म्लेच्छ खण्ड को साध (जीत) लेता है।। इसके बाद चक्रवर्ती की महान सेना विजयार्ध गुफा द्वार के मूल में प्रवेश करके नदी के दोनों पार्श्वभागों में यत्नपूर्वक चलती हुई क्रम से गुफा के मध्य भाग में पहुँचकर उन्मग्नजला और निमग्नजला इन दोनों नदियों को पार करने में असमर्थ होती हुई चिन्तातुर होकर ठहर गई ।।१८४–१८७।। विजयार्ध पर्वत के दोनों पार्श्व भागों की भित्ति (मूल में) स्थित दो कुण्डों से निकलने वालीं उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की दोनों नदियाँ दो योजन लम्बी और महान् कल्लोलों के समूह से संकुलित होकर बहतीं हुई अति दुर्गम रक्ता महानदी के मध्य में प्रविष्ट होती हैं। तब चक्रवर्ती के आदेश से स्थपति नाम का (बढ़ई) मनुष्य रत्न दिव्य शक्ति के द्वारा दोनों नदियों पर सेतुबन्ध का प्रबन्ध करता है। पुण्ययोग से समस्त सेना उन दोनों नदियों को शनैः शनैः उत्तीर्ण कर गुफा के उत्तर द्वार से सुख पूर्वक निकल जाती है ।।१८८–१९१।।

अब मध्यम म्लेच्छ खण्ड में चक्रवर्ती के प्रवेश एवं उनके ऊपर आये हुये उपसर्ग का वर्णन करते हैं :—

मध्यस्थम्लेच्छखण्डस्थ धरामाक्रम्य चक्रभृत् ।
तिष्ठेत् षडङ्गसंयुक्तो जेतुं म्लेच्छनृपान् बहून् ।।१९२।।

चक्र्यागमं तदालोक्य म्लेच्छभूपा भयातुराः ।
विज्ञापयन्ति चाभ्येत्याराध्य स्वकुलनिर्जरान् ।।१९३।।

तच्छ्रुत्वा ते क्रुधागत्यामरा मेघमुखाह्वयाः ।
तत्सैन्यसुभटादीनां कुर्वन्त्युपद्रवं महत् ।।१९४।।

व्याघ्राद्यैर्भीषणैरूपैर्विविधैश्चक्रिपुण्यतः ।
मनाक् क्षोभं न गच्छन्ति सैन्यकास्तैरुपद्रवैः ।।१९५।।

पुनस्ते मेघधाराद्यैः स्थूलैः स्वविक्रियाकृतैः ।
कुर्वते महतीं वृष्टिं विद्युत्पातादि गर्जनैः ।।१९६।।

उपर्यस्य सुसेनायाः सप्ताहोरात्र मञ्जसा ।
सवाम्रैकार्णवः स्याच्च मज्जयन् वनपादपान् ॥१९७॥
तदम्बुजलधौ चर्मरत्नं विस्तरति स्फुटम् ।
द्विषड्योजनपर्यन्तं जलाभेद्यं हि वज्रवत् ॥१९८॥
तस्योपरि महासैन्यं तिष्ठेत्तस्मिन्नुपद्रवे ।
तच्चर्मोपरि सेनाया मेघबाधाविहानये ॥१९९॥
छत्ररत्नं जलाभेद्यं चर्मरत्नान्तमञ्जसा ।
प्रसरेदिति तद्रत्नद्वयं स्यादण्डकोपमम् ॥२००॥
चतुर्द्वाराङ्कितस्यास्य मध्ये चक्रेशपुण्यतः ।
निराबाधतया कृत्स्नं सैन्यं तिष्ठेत्स्वशर्मणा ॥२०१॥
ततश्चक्रधरो ज्ञात्वा तद्देवोत्थमुपद्रवम् ।
देवानुद्दिश्य दिव्याङ्कं तथा बाणं विमुञ्चति ॥२०२॥
तथा ते निर्जरादुष्टा जायन्ते निःप्रभास्ततः ।
ते निर्जिता विलोक्योच्चैश्चक्रिमाहात्म्यमूर्जितम् ॥२०३॥
देवा म्लेच्छनृपाश्चैत्य सेवां कुर्वन्ति चक्रिणः ।
हस्त्यश्वरत्नकन्यादिदानैः प्रणाम भक्तिभिः ॥२०४॥

अर्थः—चक्रवर्ती विजयार्ध गुफा के उत्तर द्वार से निकल कर मध्य में स्थित मध्यम म्लेच्छ खण्ड की भूमि को प्राप्त कर अनेक म्लेच्छ राजाओं को जीतने के लिये षड् (छह) अंगों की सेना सहित ठहर गया ॥१९२॥ तब चक्रवर्ती के आगमन को देखकर भय से आकुलित म्लेच्छ राजा अपने कुल देवताओं के पास आकर और उनकी आराधना करके अपने भय का कारण कहने लगे। उसे सुनकर वे देवगण क्रोधित हो उठे और मेघमुख नाम के देव ने आकर चक्रवर्ती की सेना के सुभटों पर घोर उपद्रव किया। अनेक प्रकार के व्याघ्र आदि भीषण रूपों के द्वारा किये हुये अनेक उपद्रव चक्रवर्ती के पुण्य से सेना को किञ्चित मात्र भी क्षोभ नहीं पहुँचा सके। तब वे देव अपनी विक्रिया के द्वारा जल की मोटी मोटी धारा के द्वारा जल की महान् वृष्टि, विद्युत्पात एवं मेघगर्जन आदि करने लगे। सेना के ऊपर यह उपर्युक्त वर्षा सात दिन रात पर्यन्त होती रही जिससे वहाँ वन के वृक्ष आदिकों को डुबाने वाला एक समुद्र हो गया ॥१९३-१९७॥ उस जल समुद्र के ऊपर बारह योजन पर्यन्त जल के द्वारा अभेद्य और वज्र के समान एक चर्मरत्न फैला दिया गया। उसके ऊपर वह महान सेना उस उपद्रव के समय में ठहर गई। सेना की मेघ आदि की बाधा को दूर करने के लिये उस चर्मरत्न के ऊपर जल

के द्वारा अभेद्य और चर्मरत्न के बराबर एक छत्ररत्न फैला दिया गया। ये दोनों रत्न मिलकर (एक ऊपर एक नीचे) अण्डे की आकृति के सदृश हो गये। चक्रवर्ती के पुण्य के बल से दोनों से युक्त इन दोनों रत्नों के बीच में समस्त सेना निराबाध और सुख पूर्वक ठहरी रही ॥१९८–२०१॥ इसके बाद "यह उपद्रव देवों द्वारा उत्पन्न किया गया है "यह जानकर चक्रवर्ती उन देवों का चिन्तन (लक्ष्य) करके ही एक दिव्य बाण छोड़ता है। उस एक ही बाण से वे दुष्ट देव कान्ति हीन हो गये, तथा म्लेच्छ राजाओं के साथ साथ वे सब देव चक्रवर्ती के महान् माहात्म्य को देखकर उनके पास आये और हाथी, अश्व, रत्न एवं कन्या आदि दान के द्वारा भक्ति पूर्वक उनकी सेवा करने लगे ॥२०२–२०४॥

अब चक्रवर्ती के मद एवं निर्मद होने का कारण दर्शाते हैं :—

ततो म्लेच्छाधिपांश्चक्री साधयन् याति पुण्यतः ।
मध्यमम्लेच्छखण्डस्थ वृषभाचलसन्निधिम् ॥२०५॥
तदा चक्राधिपो देवखगभूपजयोद्भवम् ।
उद्वहन् परमं गर्वं वाञ्छन् स्वनामलेखनैः ॥२०६॥
स्वकीर्ति निश्चलां कर्तुमभ्येत्याद्रिं निरीक्ष्य तम् ।
निर्मदो जायतेऽनेक चक्रेशनामवीक्षणात् ॥२०७॥

अर्थः—म्लेच्छ खण्ड के राजाओं को जीतता हुआ चक्रवर्ती पुण्य के प्रभाव से मध्यम म्लेच्छ खण्ड में स्थित वृषभाचल के समीप पहुँचता है। देव एवं विद्याधर आदि राजाओं को जीत लेने से उत्पन्न होने वाले महान गर्व को धारण करता हुआ वह अपने नाम लेखन के द्वारा अपनी कीर्ति निश्चल करने की इच्छा से वृषभाचल को प्राप्त करता हुआ उसे देखता है, तथा अनेक चक्रवर्तियों के नाम देख कर तत्क्षण निर्मद हो जाता है ॥२०५–२०७॥

अब वृषभाचल पर्वत के प्रमाण आदि का एवं उस पर चक्रवर्ती के प्रशस्ति लेखन का वर्णन करते हैं :—

शतयोजनविस्तीर्णो मूले मध्ये च योजनैः ।
पंचसप्ततिसंख्यानैर्विस्तृतो मस्तके महान् ॥२०८॥
पंचाशत्संख्यकैर्भाति स योजनशतोन्नतः ।
वनतोरणवेद्याढ्यं मौनहृद् वृषभाचलः ॥२०९॥
अनेन वर्णनेनात्र विदेहवृषभाद्रयः ।
द्वात्रिंशन्निखिला ज्ञेयाः समाना उन्नतादिभिः ॥२१०॥

तत्राचले निरस्याशु कस्यचिन्नाम चक्रभृत् ।
लिखेत्स्वकुलनामाद्यैः प्रशस्तिं कीर्तये भुवि ॥२११॥

अर्थः—चक्रवर्तियों के मान को हरण करने वाला यह वृषभाचल पर्वत सौ योजन ऊँचा, मूल में सौ योजन चौड़ा, मध्य में पचहत्तर योजन चौड़ा और शिखर पर पचास योजन चौड़ा है, तथा वन, तोरण एवं वेदी आदि से सहित है ॥२०८–२०९॥ विदेह स्थित बत्तीस वृषभाचलों की ऊँचाई आदि का समस्त वर्णन इसी वृषभाचल के सदृश जानना चाहिये ॥२१०॥ इस वृषभाचल पर्वत पर चक्रवर्ती पृथिवी पर अपनी कीर्ति स्थाई करने के लिये अन्य किसी चक्रवर्ती का नाम मिटाकर अपने कुल नामादि से युक्त प्रशस्ति लिखता है ॥२११॥

अब चक्रवर्ती के नगर प्रवेश का क्रम आदि कहते हैं :—

ततः खण्डत्रयोत्पन्नान् जित्वा खगनृपामरान् ।
तत्सारवस्तु कन्यादीन् गृहीत्वा याति पुण्यतः ॥२१२॥
रूप्याद्र्यपरभागस्थ गुहाद्वारेण चक्रभृत् ।
प्राग्वच्चोद्घाटितेनैव तच्चमूपतिना स्वयम् ॥२१३॥
इति षट्खण्डभूवासिसुरभूपखगाधिपान् ।
साधयित्वा क्रमात्तेभ्यः कन्यारत्नान्यनेकशः ॥२१४॥
वस्तुवाहनकोटीश्चादाय पुण्यात् स्वलीलया ।
वज्रीव स्वपुरीं चक्री प्रविशेच्च षडङ्गभृत् ॥२१५॥
तत्रातिपुण्यपाकेन भुंक्ते भोगांश्च्युतोपमान् ।
चक्रीदशविधान् कुर्वन् जिनधर्ममनारतम् ॥२१६॥

अर्थः–इसके बाद तीन खण्ड में उत्पन्न विद्याधरों, राजाओं और देवों को जीतकर पुण्य प्रताप से वहाँ की कन्या आदि सार वस्तुओं को लेकर चक्रवर्ती वापिस आता है। जब चक्रवर्ती विजयार्ध पर्वत के पश्चिमस्थ गुफा द्वार पर आता है तब सेनापति स्वयं पूर्व के समान उस गुफा द्वार को खोलता है ॥२१२-२१३॥ इस प्रकार छह खंडवासी देवों, नरेंद्रों और विद्याधरों को क्रमशः जीतकर तथा अतिशय पुण्य से करोड़ों वस्तु, वाहन आदिकों को क्रीड़ा मात्र में ग्रहण करके चक्रवर्ती छह अङ्गों की सेना सहित इन्द्र पुरी के समान अपनी नगरी में प्रवेश करता है और वहाँ अत्यन्त पुण्योदय से उपमा रहित भोगों को भोगता हुआ जिन धर्म में है रत मन जिसका ऐसा चक्रवर्ती दश प्रकार के धर्मों का पालन करता है ॥२१२–२१६॥

अब चक्रवर्ती के ग्राम, पुर और मटम्बों आदि का वर्णन करते हैं :--

भवन्ति विषये चक्रिणो ये ग्रामपुरादयः ।
भोग्याः सम्पद्बलाद्यास्तान् समासेनदिशाम्यहम् ॥२१७॥
स्युर्द्वात्रिंशत्सहस्राणि देशास्तस्य च शाश्वताः ।
नृपा मुकुटबद्धास्तावन्तो नमन्ति तत्क्रमौ ॥२१८॥
वृत्यावृता महा ग्रामाः कोटीषण्णवतिप्रमाः ।
चतुर्गोपुरशालाद्यैर्वेष्टितानि पुराणि च ॥२१९॥
षड्विंशति सहस्राणि ग्रामैः पञ्चशतैर्युताः ।
प्रत्येकं च मटम्बाः स्युश्चतुःसहस्रसम्मिताः ॥२२०॥
सरित्पर्वतयोर्मध्ये सहस्राण्येव षोडश ।
खेटानि स्युर्भृतान्युच्चैर्जिनालयसुधार्मिकैः ॥२२१॥
चतुर्विंशसहस्राणि कर्वटान्यावृतानि च ।
पर्वतेन जिनागारश्रावकादियुतान्यपि ॥२२२॥
पत्तनान्यष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि सन्ति च ।
रत्नोत्पत्त्यादिहेतूनि युक्तानि धनिधर्मिभिः ॥२२३॥
सहस्राणि नवाग्रा नवतिर्द्रोणामुखानि च ।
सीतानदीजलोत्पन्नोपसमुद्रतटेष्वपि ॥२२४॥
चतुर्दशसहस्राणि संवाहनानि सन्ति वै ।
पर्वताग्रेषु युक्तानि रत्नसौधजिनालयैः ॥२२५॥
अष्टाविंशसहस्राणि स्युर्दुर्गाणि महान्ति च ।
अगम्यान्यस्य शत्रूणां धनिधर्मभृतानि च ॥२२६॥
अन्तर्द्वीपा भवेयुः षट्पञ्चाशद्रत्नराशिभिः ।
भृता उपसमुद्रस्य मध्ये सीतोत्तरे तटे ॥२२७॥
षड्विंशतिसहस्राणि रत्नाकरा महोन्नतैः ।
सौधचैत्यालयैः पूर्णा रत्नभूसार वस्तुभिः ॥२२८॥
रत्नकुक्षिनिवासाः स्यू रत्नस्थानधरान्विताः ।
शतसप्तप्रमा रम्या जिनधामादिधार्मिकैः ॥२२९॥

सीताया उत्तरे भागे क्षेमापुर्याश्च दक्षिणे ।
भवत्युपसमुद्रोऽविनश्वरः स्वोर्मिसंकुलः ॥२३०॥

अर्थः—चक्रवर्ती के देश में जो ग्राम एवं पुर आदि होते हैं उनका तथा उनके योग्य भोग्य सामग्री, सम्पदा एवं बल आदि का संक्षिप्त वर्णन करता हूँ ॥२१७॥ चक्रवर्ती के शाश्वत बत्तीस हजार देश होते हैं, जिनके बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजा क्रम से उन्हें नमस्कार करते हैं ॥२१८॥ जो वृत्ति बाड़ से आवृत्त (घिरे हुये) होते हैं, उन्हें ग्राम कहते हैं, ऐसे छयान्नवे करोड़ महा ग्राम; चार गोपुर एवं उन्नत कोट आदि से वेष्टित छब्बीस हजार पुर, जो पाँच सौ ग्रामों से संयुक्त होते हैं ऐसे चार हजार मडम्ब, (प्रत्येक मडम्ब चार हजार ग्रामों से युक्त होता है) नदियों और पर्वतों के मध्य रहना है लक्षण जिनका ऐसे उन्नत जिनालयों एवं धार्मिक जनों से भरे हुये सोलह हजार खेट होते हैं ॥२१७-२२१॥ जो मात्र पर्वतों से घिरे हुये होते हैं उन्हें कर्वट कहते हैं। ऐसे मुनि और श्रावकों से युक्त चौबीस हजार कर्वट होते हैं ॥२२२॥ धनी और धार्मिक जनों से युक्त तथा रत्न आदि उत्पत्ति के कारण भूत अड़तालीस हजार पत्तन हैं ॥२२३॥ सीता नदी के जल से उत्पन्न होने वाले उपसमुद्रों के तटों पर निन्यानवें हजार (९९०००) द्रोणमुख होते हैं ॥२२४॥ रत्नप्रासादों एवं जिनालयों से सहित पर्वतों के शिखरों पर चौदह हजार सम्वाह हैं जो अन्य शत्रुओं आदिकों को अगम्य हैं तथा धनी और धार्मिक जनों से भरे हैं ऐसे अट्ठाईस हजार (२८०००) महादुर्ग हैं ॥२२५-२२६॥ सीता के उत्तर तट पर उपसमुद्र के मध्य में रत्नों की राशियों से भरे हुये छप्पन (५६) अन्तर्द्वीप हैं ॥२२७॥ महा उन्नत प्रासादों से परिपूर्ण और रत्नों एवं भूमि की अन्य सारभूत वस्तुओं से समृद्ध छब्बीस हजार (२६०००) रत्नाकर हैं ॥२२८॥ रत्नों की स्थानभूत पृथिवी से समन्वित तथा रमणीक जिनभवनों और धार्मिक जनों से अंचित सात सौ रत्नकुक्षिवास हैं ॥२२९॥ सीता के उत्तर भाग में और क्षेमापुरी के दक्षिण में अपने आप में उठने वाली कल्लोलों से संकुलित और अविनश्वर उपसमुद्र है ॥२३०॥

अब चक्रवर्ती के बल और रूप आदि के साथ-साथ अन्य वैभव के प्रमाण का वर्णन करते हैं :—

लक्षाश्चतुरशीतिः स्युर्गजेन्द्राः पर्वतोपमाः ।
तावन्तश्चक्रिणो रम्या रथा वाजिद्वयाङ्किताः ॥२३१॥
शीघ्रगामिन एवास्याश्वा अष्टादशकोटयः ।
कोटयश्चतुरशीतिः स्युर्द्रुतगामिपदातयः ॥२३२॥
स्याद्वज्रास्थिमयं वज्रवलयैर्वेष्टितं वपुः ।
निर्भिन्नं वज्रनाराचैरभेद्यं तस्य सुन्दरम् ॥२३३॥

आदिमं च सुसंस्थानं चतुःषष्टिसुलक्षणैः ।
व्यञ्जनैर्बहुभिर्युक्तं हेमाभं च च्युतोपमम् ॥२३४॥
षट्खण्डवासिभूपानां पिण्डीकृतं हि यद्बलं ।
ततोऽधिकं महावीर्यं चक्रिणः स्यान्निसर्गतः ॥२३५॥
स्युर्द्वात्रिंशत्सहस्राण्यार्यखण्डस्थ नृपात्मजाः ।
तावत्यो वररूपाश्च म्लेच्छराजसुताः शुभाः ॥२३६॥
तत्प्रमाः खचराधीशपुत्र्योविद्याकलान्विताः ।
नाटकाः शर्मदा द्वात्रिंशत्सहस्रप्रमाः शुभाः ॥२३७॥
स्थाल्यः स्वर्णमयाः कोटिप्रमा अस्य महानसे ।
स्यादेककोटिलक्षश्च हलानां पामरैः समम् ॥२३८॥
स्युस्तिस्रो व्रजकोट्योऽस्य गोकुलैः संकुलाः शुभाः ।
अष्टादशसहस्राश्च म्लेच्छराजानमन्ति तम् ॥२३९॥

अर्थ : — चक्रवर्ती के पर्वत की उपमा को धारण करने वाले चौरासी लाख हाथी और दो-दो घोड़ों से युक्त तथा रम्य चौरासी लाख ही रथ होते हैं। अठारह करोड़ शीघ्रगामी घोड़े और द्रुतगामी चौरासी करोड़ पदाति होते हैं॥ २३१–२३२॥ वज्रमय बाणों से अभेद्य, सन्धि रहित, वज्रमय अस्थि एवं वज्रवलय से वेष्टित चक्रवर्ती का शरीर अत्यन्त सुन्दर, समचतुरस्र संस्थान, चौंसठ उत्तम लक्षणों और अनेकों व्यञ्जनों से युक्त, हेम वर्ण एवं उपमा रहित होता है॥२३३–२३४॥ छह खण्डवर्ती समस्त राजाओं के बल को एकत्रित करने पर जो बल होता है उससे भी अधिक बल अर्थात् महावीर्य चक्रवर्ती के स्वभावतः होता है॥२३५॥ आर्य खण्डस्थ राजाओं की बत्तीस हजार कन्याएँ, अनुपम रूप एवं शुभ लक्षणों से युक्त म्लेच्छ राजाओं की बत्तीस हजार कन्याएँ तथा विद्याओं एवं कलाओं से समन्वित विद्याधरों की बत्तीस हजार कन्याएँ अर्थात् चक्रवर्ती के छयान्नवे हजार रानियाँ होती हैं। सुख उत्पन्न करने वाले शोभनीक बत्तीस हजार नाटकगण, रसोई गृह में स्वर्णमय एक करोड़ प्रमाण थालियाँ अथवा हण्डियाँ होतीं हैं। एक लाख करोड़ किसानों के साथ साथ एक लाख करोड़ प्रमाण ही हल होते हैं। नाना वर्णों की अत्यन्त शुभ लक्षण वाली गायों से भरे हुये तीन करोड़ व्रज होते हैं और चक्रवर्ती को अठारह हजार म्लेच्छ राजा नमस्कार करते हैं॥२३६–२३९॥

अब चक्रवर्ती की नौ निधियों के नाम, कार्य एवं उनके आकार आदि का सविस्तर वर्णन करते हैं :—

कालाह्वयो महाकालो नैःसर्प्यः पाण्डुकाभिधः ।
पद्माख्यो माणवः पिङ्गलाभिख्यः शंखसंज्ञकः ॥२४०॥
सर्वरत्न इमे सन्ति चक्रिणो निधयो नव ।
निधिः कालोऽस्य पुण्येन पुस्तकानि ददाति च ॥२४१॥
सर्वलौकिकशब्दादि वार्तानामन्वहं तथा ।
मनोज्ञानिन्द्रियार्थांश्च वीणावंशानकादिकान् ॥२४२॥
असिमस्यादिषट्कर्मसाधनद्रव्यसम्पदः ।
महाकालनिधिर्धत्ते पुण्यात्पुण्यनिधेः प्रभोः ॥२४३॥
शय्यासनालयादीनि नैःसर्प्यो वितरेद्विभोः ।
पाण्डुकोऽखिल धान्यानि षड्रसांश्च मनोहरान् ॥२४४॥
पट्टकूलादि वस्त्राणि दत्ते पद्मो महान्ति च ।
रत्नाभरणविश्वानि दीप्तिशालीनि पिङ्गलः ॥२४५॥
शस्त्राणि नीतिशास्त्राणि सूते कृत्स्नानि माणवः ।
शंखः प्रदक्षिणावर्तः सुवर्णानि महान्ति च ॥२४६॥
सर्वरत्ननिधिर्दद्याद्विश्वरत्नानि चक्रिणः ।
सर्वेऽमी शकटाकारा निधयोऽद्भुतपुण्यजाः ॥२४७॥
चतुरक्षाष्टचक्राढ्या योजनाष्टसमुन्नताः ।
नवयोजनविस्ताराः प्रत्येकं रक्षिताः सुरैः ॥२४८॥
सहस्रसंख्यकैर्द्वादशयोजनायताः शुभाः ।
ज्ञेयाः पुण्यनिधेस्तस्य नित्यं स्वेहितवस्तुदाः ॥२४९॥

अर्थः—चक्रवर्ती के काल, महाकाल, नैसर्प, पाण्डु, पद्म, माणव, पिङ्गल, शङ्ख और सर्वरत्न ये नव निधियाँ होती हैं। चक्रवर्ती के पुण्य से प्रेरित इन नौ निधियों में से काल नाम की प्रथम निधि तर्क, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार आदि के, लोक व्यवहार सम्बन्धी एवं व्यापार सम्बन्धी शास्त्रों को तथा इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों को एवं वीणा, बाँसुरी, पटह आदि वाद्यों को निरन्तर देती है। पुण्य की खान स्वरूप चक्री के शुभोदय से महाकाल निधि असि, मसि कृष्यादि षट् कर्मों के साधन भूत द्रव्यों को और अन्य सम्पदा को भी देती है। नैःसर्प निधि चक्रवर्ती को शय्या, आसन और प्रासाद आदि देती है। पाण्डु निधि सम्पूर्ण धान्य एवं मनोहर षट्रसों को देती है। पद्म नाम की पञ्चम निधि रेशमी और सूती आदि सभी प्रकार के महान वस्त्र देती है। पिङ्गल निधि कान्तिमान् समस्त प्रकार के

रत्नाभरण आदि देती है। माणव निधि समस्त प्रकार के आयुध और नीति शास्त्र देती है। प्रदक्षिणावर्त शंख निधि महान स्वर्ण और सर्वरत्न नाम की ९ वीं निधि समस्त प्रकार के रत्न चक्रवर्ती को देती हैं। अद्‌भुत पुण्य से उत्पन्न होने वाली ये नौ निधियाँ शकटाकार होती हैं ।।२४०-२४७।। चार खूँटियों (चक्रधारा) एवं आठ पहियों से संयोजित ये कल्याण प्रद नौ निधियाँ पृथक्-पृथक् आठ योजन ऊँची, नौ योजन चौड़ी, बारह योजन लम्बी और एक-एक हजार देवों से रक्षित हैं, अतः पुण्य के भंडार स्वरूप चक्रवर्ती को नित्य ही स्व इच्छित पदार्थ देती हैं, ऐसा जानना चाहिये ।।२४८-२४९।।

अब चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के नाम और उनके उत्पत्ति स्थानों को कहते हैं :-

चक्रं छत्रमसिर्दण्डो मणिश्च चर्मकाकिणी ।
इमानि सप्तरत्नान्यजीवानि साधनान्यपि ।।२५०।।

सेनागृहपतीभाश्वस्थपतिस्त्रीपुरोधसः ।
सप्तरत्नानि चैतानि सजीवानि महान्ति वै ।।२५१।।

चक्रच्छत्रासिदण्डाश्च जायन्तेऽस्यायुधालये ।
काकिणीमणिचर्माणि पुण्येन श्रीगृहान्तरे ।।२५२।।

स्त्रीगजाश्वाः त्रिरत्नान्युत्पद्यन्ते रजताचले ।
चत्वारिशेषरत्नानि क्षेमापुर्यां महान्ति च ।।२५३।।

सरत्नानिधयो नार्यः सैन्यं शय्यासने पुरी ।
भोज्यं सभाजनं नाट्यं वाहनं होति चक्रभृत् ।।२५४।।

दशाङ्गभोगसाराणि भुनक्ति पुण्यपाकतः ।
गणबद्धामराभृत्याः सहस्रषोडशास्य च ।।२५५।।

अर्थः—चक्रवर्ती के महापुण्य योग से चक्र, छत्र, तलवार, दण्ड, मणि, चर्म रत्न और काकणी ये सात अजीव रत्न अनेक कार्यों को साधने वाले होते हैं। तथा सेनापति, गृहपति, हाथी, अश्व, स्थपति, स्त्री और पुरोहित ये सात सजीव रत्न हैं ।।२५०-२५१।। चक्र, छत्र, असि और दण्ड ये चार रत्न चक्रवर्ती की आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं। काकणी, मणि और चर्मरत्न ये तीन रत्न श्रीगृह अर्थात् चक्री के खजाने में तथा स्त्री, हाथी एवं अश्व ये तीन रत्न विजयार्ध पर्वत पर उत्पन्न होते हैं शेष चार रत्न अर्थात् सेनापति, गृहपति, स्थपति और पुरोहित ये महान् चार रत्न क्षेमापुरी में ही उत्पन्न होते हैं ।।२५२-२५३।। चक्रवर्ती १ चौदह रत्नों सहित नौ निधियाँ, २ स्त्री, ३ सेना, ४ शय्या, ५ आसन, ६ पुरी, ७ भोजन, ८ भाजन, ९ नाटक और १० वाहन ये दश प्रकार के सारभूत भोगों को भोगता है। महा पुण्योदय से सोलह हजार गणबद्ध देव भृत्यों के सदृश सेवा करते हैं ।।२५४-२५५।।

अब चक्रवर्ती के अन्य भोग्य पदार्थों के नाम कहते हैं :—

क्षितिसाराह्वयस्तुङ्गः प्राकारोस्ति गृहावृतिः ।
गोपुरं सर्वतोभद्रमुल्लसद्रत्नतोरणम् ॥२५६॥
निवेशः शिबिरस्यास्य नन्द्यावर्ताभिधो भवेत् ।
प्रासादो वैजयन्ताख्य सर्वत्र शर्मसाधकः ॥२५७॥
दिक्स्वस्तिका सभाभूमिः परार्द्ध्य मणिकुट्टिमा ।
अस्य चंक्रमणीयष्टिः सुविधिर्मणिनिर्मिता ॥२५८॥
गिरिकूटाख्यकंसौधं तुङ्गं दिगवलोकने ।
वर्धमानकनामास्य प्रेक्षागारं सुसुन्दरम् ॥२५९॥
धारागृहाभिधो रम्यो घर्मान्तकोस्ति शीतलः ।
गृहकूटकसंज्ञोऽस्य वर्षावासो मनोहरः ॥२६०॥
हर्म्यं स्यात्पुष्करावर्ताह्वयं रम्यं सुधासितम् ।
कुबेरकान्तनामास्य भाण्डागारं क्षयातिगम् ॥२६१॥
अव्ययं वसुधाराख्यं कोष्ठागारं च चक्रिणः ।
जीमूतनामकं स्याच्च मज्जनागारमूर्जितम् ॥२६२॥
रत्नमालातिरोचिष्णुः सुप्रोक्तावस्त्यवतंसिका ।
देवरम्याह्वयारम्या स्मृता दूष्यकुटीपृथुः ॥२६३॥
सिंहैर्भयानकैरूढा सुशय्यासिंहवाहिनी ।
अनुत्तराख्यं विख्यं तुङ्गं सिंहासनं महत् ॥२६४॥
रम्याणि चामराण्यस्यानुपमाख्यानि सन्ति च ।
भास्वत्सूर्यप्रभं छत्रं दीप्तं सद्रत्नभूषितम् ॥२६५॥
विद्युत्प्रभाह्वये स्यातां रुचिरे मणिकुण्डले ।
अभेद्याख्यं तनुत्राणमभेद्यं शत्रुजैः शरैः ।२६६॥
रत्नांशु जटिलाः सन्ति पादुका विषमोचिकाः ।
पराङ्घ्रिस्पर्शमात्रेण मुञ्चन्त्यो विषमुल्वणम् ॥२६७॥
रथोऽजितञ्जयाख्यः स्यात्तज्ज्रकाण्डं महद्धनुः ।
चक्रिणोऽमोघपाताः स्युरमोघाख्यमहेषवः ॥२६८॥

अर्थ: —चक्रवर्ती के नगर के चारों ओर क्षितिसार नाम का उत्तुङ्ग और वृत्ताकार प्राकार है। कान्तिमान् उत्तम रत्नों का सर्वतोभद्र नाम का गोपुर है। शिविर (डेरा, तम्बू) के निवेश द्वार का नाम नन्द्यावर्त है। सर्व ऋतुओं में सुख देने वाला वैजयन्त नाम का प्रासाद है ॥२५६-२५७॥ परार्द्ध्य मणि का है आंगन (भूमि) जिसका ऐसा दिक्स्वस्तिका नाम का सभा स्थल और चक्रवर्ती के हाथ में लेने की घूमने वाली सुविधि नाम की मणि निर्मित छड़ी है ॥२५८॥ दिशाओं का अवलोकन करने के लिये गिरिकूट नाम का उन्नत प्रासाद है, और अति रमणीक वर्धमान नाम का प्रेक्षागार है ॥२५९॥ आताप का विनाश करने वाला शीतल और रम्य धारागृह नाम का भवन है, वर्षाकाल में सर्व सुखों को देने वाला, मन को अभिराम गृहकूट नाम का भवन है। चूने की कलई से उज्ज्वल और रम्य पुष्करावर्त नाम का उत्तम भवन है जिसमें अक्षय निधि से परिपूर्ण कुबेरकान्त नाम का भाण्डारगार है ॥२६०-२६१॥ चक्रवर्ती के क्षय से रहित वसुधारा नाम का कोष्ठागार है और अत्यन्त तेज कान्ति से युक्त जीमूत नामका मज्जनागार (स्नानगृह) है ॥२६२॥ चक्रवर्ती की अति देदीप्यमान रत्नों की माला है, और सुप्रोच्चा नाम की उत्तम टोपी है। अति सुन्दर और महान विस्तार वाली देवरम्य नाम की दूष्य कुटी अर्थात् वस्त्रागार कहा गया है ॥२६३॥ भयावह (बड़े-बड़े) सिंहों पर आरूढ़ सिंहवाहिनी नाम की उत्तम शय्या है और अनुत्तर नाम का दिव्य और उन्नत श्रेष्ठ सिंहासन है ॥२६४॥ अनुपम नाम के श्रेष्ठ चाँमर और उत्तम रत्नों से रचित देदीप्यमान सूर्यप्रभ नाम के छत्र हैं ॥२६५॥ विद्युत्प्रभ नाम के सुन्दर मणिकुण्डल और शत्रुओं के बाणों द्वारा छिन्न भिन्न न होने वाला अभेद्य नाम का कवच है ॥२६६॥ चक्रवर्ती की रत्नजड़ित विषमोचिका नाम की दो पादुकाएँ हैं जो अन्य जनों के पैरों के स्पर्श करने मात्र से उनके अतितीव्र विष का मोचन (हरण) कर लेतीं हैं ॥२६७॥ अजितञ्जय नाम का रथ और चक्रवर्ती को विजय प्राप्त कराने वाले अमोघ नाम के बाणों से युक्त वज्रकाण्ड नाम का महान धनुष है ॥२६८॥

अब चक्रवर्ती के हथियारों, नौ निधियों एवं चौदह रत्नों के नाम कहते हैं:—

वज्रतुण्डाभिधा शक्तिर्वज्रोद्भवारिखण्डिनी ।
कुन्तः सिंहाटको रत्नदण्डः सिंहनखाङ्कितः ॥२६९॥
तस्यासिपुत्रिका दीप्ता महती लोहवाहिनी ।
कणयोऽस्ति मनोवेगोऽसिश्च सौनन्दकाख्यकः ॥२७०॥
पृथुभूतमुखं खेटं सार्थं भूतमुखान्वितम् ।
सुदर्शनाह्वयं चक्रं षट्खण्डाक्रमणक्षमम् ॥२७१॥
चण्डवेगाभिधोदण्डो गुहाद्वारद्विभेदकृत् ।
चर्मरत्नं जलाभेद्यं महद्वज्रमयाभिधम् ॥२७२॥

मणिरत्नं तमोहन्तृ चूडामण्यभिधानकम् ।
ऊर्जितं काकिणीरत्नं चिन्तामणि समाह्वयम् ॥२७३॥
सेनापतिरयोध्याख्यो नररत्नं भवेत्प्रभोः ।
पुरोधाः पुरुधीर्दक्षो बुद्धिसागरनामकः ॥२७४॥
वास्तुविद्याप्रवीणः स्थपति भंद्रमुखोऽद्भुतः ।
श्रीमान् गृहपतिः कामवृष्टिनामास्त्यभीष्टदः ॥२७५॥
व्ययोपचयचिन्तायां नियुक्तश्चक्रवर्तिनः ।
नागहस्तीमहाकायोऽद्रयाभो विजयपर्वतः ॥२७६॥
पवनञ्जयसंज्ञोऽश्वः सुभद्रास्त्री च्युतोपमा ।
इमानि दिव्यरत्नानि रक्षितानि सुरैर्विभोः ॥२७७॥
राज्याङ्गभोगकर्तॄणि पुण्यात्सन्ति चतुर्दश ।
तद्गृहेऽपररत्नानां संख्यां को वेत्ति बुद्धिमान् ॥२७८॥
आनन्दिन्योऽद्धिनिर्घोषाभेर्यो द्वादशसम्मिताः ।
द्विषड्योजनपर्यन्तं ध्वनन्त्यापूर्यदिग्मुखम् ॥२७९॥
प्रभोर्विजयघोषाख्याः पटहा द्वादशप्रमाः ।
चतुर्विंशति शङ्खाः स्युर्गम्भीरावर्तसंज्ञकाः ॥२८०॥

अर्थः—चक्रवर्ती के पास शत्रुओं को नाश करने वाली वज्रमय वज्रतुण्डा नाम की शक्ति, सिंहाटक नाम का कुन्तल और सिंह नखों के सदृश आकार से अंकित रत्नदण्ड होता है ॥२६९॥ महा दीप्ति से युक्त लोहवाहिनी नाम का खड्ग, मनोवेग नाम की कणयौनी और सौनन्द नाम की तलवार होती है ॥२७०॥ भूतमुख से सहित अपने नाम को सार्थक करने वाली पृथुभूतमुख नाम की ढाल और षट्खण्डों पर आक्रमण करने में समर्थ ऐसा सुदर्शन नाम का चक्र होता है ॥२७१॥ दोनों गुफा द्वारों को भेदने में समर्थ चण्डवेग नाम का दण्ड और जल के द्वारा अभेद्य वज्रमय नाम का महान चर्मरत्न होता है ॥२७२॥ अन्धकार को नाश करने वाला चूडामणि नाम का मणिरत्न और महाप्रकाशवान् चिन्तामणि नाम का काकिणी रत्न होता है ॥२७३॥ चक्रवर्ती के अयोध्यसेन नाम का सेनापति नररत्न और विशाल बुद्धि का धारक तथा अतिदक्ष बुद्धिसागर नाम का पुरोहित होता है ॥२७४॥ आवास विद्या अर्थात् निवास स्थानों का निर्माण करने में प्रवीण भद्रमुख नाम का अद्भुत स्थपति (सिलावट)

और मनोवाञ्छित पदार्थों को देने वाला कामवृष्टि नाम का गृहपति होता है। जिसे चक्रवर्ती अपने व्यय-उपचय (हानि-वृद्धि या देय-आदेय या लघु-दीर्घ चिन्तनवत्) की चिन्ता सौंप कर निश्चिन्त हो जाता है। पर्वत के सदृश महाकाय विजयपर्वत नाम का पट्ट हाथी, पवनञ्जय नामका घोड़ा, और उपमा से रहित सुभद्रा नाम की स्त्री होती है। चक्रवर्ती के इन दिव्य रत्नों की रक्षा देवों द्वारा होती है ॥२७५–२७७॥ महान पुण्योदय से चक्रवर्ती के पास रत्न-समूह इत्यादि चौदह रत्न नाना प्रकार के भोगों के कर्ता हैं। उनके प्रासाद में अन्य और कितने रत्न हैं ? इसकी संख्या कौन बुद्धिमान जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २७८ ॥ समुद्र के सदृश निर्घोष करने वाली आनन्द नाम की बारह भेरियाँ हैं, जो अपनी ध्वनि से बारह योजन पर्यन्त समस्त दिशाओं को व्याप्त कर देती हैं। इसी प्रकार चक्रेश के यहाँ विजयघोष नाम के बारह पटह और गम्भीरावर्त नाम के चौबीस शंख हैं ॥२७९-२८०॥

अब अन्य अवशेष वस्तुओं के नाम कहते हुये उनके भोज्य आदि पदार्थों का विवेचन करते हैं :—

दीप्ता वीराङ्गदाभिख्या कटका मणिनिर्मिताः ।
पताका अष्टचत्वारिंशत्कोटयोऽति मनोहराः ॥२८१॥
महाकल्याणकाभिख्यं तुङ्गं दिव्यासनं महत् ।
अस्यान्यसारवस्तूनि गदितुं को बुधः क्षमः ॥२८२॥
भक्ष्यायेऽमृतगर्भाख्याः सद्गन्धस्वादुशालिनः ।
शक्ता जरयितुं तस्य नान्ये तान् सुरसोत्कटान् ॥२८३॥
स्वाद्यं चामृतकल्पाख्यं हृद्यास्वादं सुसंस्कृतम् ।
रसायनरसं दिव्यं पानकं ह्यमृताह्वयम् ॥२८४॥

अर्थ:—मणियों से निर्मित और विशाल कान्तिमान् वीराङ्गद नाम का कड़ा है। अड़तालीस करोड़ अति मनोज्ञ पताकाएँ होती हैं। महाकल्याण नाम का उन्नत, दिव्य और विशाल आसन होता है। चक्रवर्ती के पास और भी अनेक सार वस्तुएँ होतीं हैं जिनका कथन करने के लिये कौन बुद्धिमान समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥२८१–२८२॥ चक्रवर्ती के भोजन के लिये उत्तम गन्ध और शुभ स्वाद युक्त अमृतगर्भ नाम के मोदक होते हैं। उत्तम रसों से उत्कट उन मोदकों को पचाने की शक्ति चक्रवर्ती में ही होती है अन्य किसी में नहीं ॥२८३॥ चक्रवर्ती के द्वारा सेव्यमान अमृतकल्प नाम का स्वाद्य पदार्थ हृदय को प्रिय और भली भांति संस्कृत होता है, तथा अमृत नाम के पेय पदार्थ भी दिव्य एवं रसायन रस के सदृश होते हैं ॥२८४॥

अब चक्रेश की सम्पदा पुण्य का फल है ऐसा दिखाते हुये आचार्य धर्म करने की प्रेरणा देते हैं :—

पुण्यकल्पद्रुमोद्भूता एताः सर्वाः सुसम्पदः ।
फलभूता महाभोगा जानन्तु चक्रवर्तिनः ॥२८५॥
मत्वेति व्रतशीलाद्यैः शर्मकामाः सुयत्नतः ।
अर्जयन्तु सदा धर्मं स्वर्मुक्तिश्रीवशीकरम् ॥२८६॥

अर्थः—चक्रवर्ती के पूर्वोपार्जित पुण्य रूपी कल्पवृक्ष से उत्पन्न होने वालीं ये सब उत्तम सम्पदाएँ और उसी वृक्ष के फल स्वरूप ये उत्कृष्ट भोग हैं ऐसा जानो, और सुख की इच्छा करने वाले मनुष्यों ! इसे धर्म का प्रसाद मानते हुये ही व्रत और शील आदि के द्वारा समीचीन पुरुषार्थ द्वारा स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी को वश करने वाले धर्म का निरन्तर अर्जन (संचय) करो ॥२८५-२८६॥

अब अन्य चक्रवर्तियों के नगरों एवं देशों का विवेचन करते हैं :—

यथास्य चक्रिणः प्रोक्ता भूतयो दिग्जयादयः ।
तथा ज्ञेया विदेहेऽस्मिन् सकले चक्रवर्तिनाम् ॥२८७॥
व्यावर्णनं कृतं यद्वत् क्षेमापुर्या मयाऽखिलम् ।
विदेहेऽन्य पुरीणां च तद्वद्ज्ञेयं न चान्यथा ॥२८८॥
कच्छाविषयषट्खण्डानां प्रोक्तावर्णना यथा ।
तथा द्विधा विदेहे स्याद्देशखण्डाऽखिलात्मनाम् ॥२८९॥

अर्थः—जिस प्रकार इस चक्रवर्ती की विभूति एवं दिग्विजय आदि का वर्णन किया गया है उसी प्रकार इस विदेह क्षेत्र सम्बन्धी समस्त चक्रवर्तियों का जानना चाहिये। मेरे (आचार्य) द्वारा क्षेमापुरी नगरी का सम्पूर्ण वर्णन जिस प्रकार किया गया है, विदेह क्षेत्र में स्थित अन्य पुरों का समस्त वर्णन इसी प्रकार जानना चाहिये, अन्य प्रकार नहीं। कच्छा देश में जिस प्रकार छह खण्डों का वर्णन किया गया है, पूर्व-पश्चिम विदेह स्थित देशों के छह खण्डों का समस्त वर्णन इसी प्रकार है ॥२८७-२८९॥

धर्म का फल कहते हैं :—

इति सुकृतविपाकाच्चक्रिलक्ष्म्यो महत्यो,
निरुपमसुखसारा रत्ननिध्यादयश्च ।
त्रिजगतिसुपदाद्याः स्युः सतां हीति मत्वा,
भजत चरणयोगैः कोविदा ! धर्ममेकम् ॥२९०॥

अर्थः—इस प्रकार महान पुण्य विपाक से सज्जन पुरुषों को चक्रवर्ती की विशाल सम्पत्ति, निरुपम सुख, चौदह रत्न और नौ निधियाँ आदि तथा देवेन्द्र, धरणेन्द्र, खगेन्द्र आदि विविध प्रकार के उत्तम पद प्राप्त होते हैं, ऐसा मान कर— हे प्रवीण जनो ! व्रत, तप, संयम आदि शुभ योगों के द्वारा निरन्तर एक धर्म का ही सेवन करो ॥२९०॥

धर्म प्रशंसा :—

सद्धर्मः क्रियते मया प्रतिदिनं धर्मं भजे यत्नतो,
धर्मेणैव ममास्तु शाश्वतसुखं धर्माय कुर्वे तपः ।
धर्मान्नापरमाश्रये सुगतये धर्मस्य सेवे गुणान्,
धर्मे चित्तमहं दधे भवभयं मे धर्म ! दूरीकुरु ।।२६१।।

इति श्री सिद्धान्तसारदीपकमहाग्रन्थेभट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते देवकुरूत्तर-कुरु कच्छादेश चक्रिदिग्विजय विभूति वर्णनोनाम सप्तमोऽधिकारः ।।७।।

अर्थः—मेरे द्वारा प्रतिदिन समीचीन धर्म का सेवन किया जाता है, मैं यत्न पूर्वक धर्म को धारण करता हूँ। धर्म के द्वारा ही मुझे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो, मैं धर्म के लिये तप करता हूँ। उत्तम गति के लिये धर्म से अपर अन्य कोई आश्रय नहीं है। धर्म के गुणों को धारण करो। मैं अपने चित्त को धर्म में लगाता हूँ। हे धर्म ! मेरे भव भय को दूर करो ।।२६१।।

इसप्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित सिद्धान्तसार
दीपक नाम महाग्रन्थ में देवकुरु, उत्तरकुरु,
कच्छादेश चक्रवर्ती की दिग्-विजय
एवं विभूति का वर्णन करने
वाला सातवाँ अधिकार
।। समाप्त ।।

अष्टमोऽधिकारः

मङ्गलाचरणः—

देहालिगान् जिनाधीशान् वन्द्यान् सूरींश्च पाठकान् ।
त्रिजगत्पतिभिः साधून् विदेहस्थान् नमाम्यहम् ॥१॥

अर्थः—तीन लोक के अधिपतियों द्वारा वन्दनीय देह रहित सिद्धों को, विदेह क्षेत्रों में स्थित अरहन्तों को, आचार्यों को, उपाध्याय परमेष्ठियों को और साधुओं को मैं सकलकीर्ति (आचार्य) नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अब चित्रकूट नाम के प्रथम वक्षार पर्वत का वर्णन करते हैं :—

अथ कच्छामहादेशात्पूर्वे वक्षारपर्वतः ।
प्रथमश्चित्रकूटाख्यश्चतुः कूटैर्विराजितः ॥२॥

भवेदश्वमुखाकारस्तप्तचामीकरच्छविः ।
तोरणैर्वनवेद्याद्यैर्जिनदेवालयैर्युतः ॥३॥

नद्यन्ते योजनानां च शतपञ्चभिरुन्नतः ।
कुलाचलसमीपे योजनैश्चतुःशतप्रमैः ॥४॥

स्वोच्चतुर्यांश भूमध्यः कच्छादेशसमायतः ।
शतपञ्चप्रमाणैश्च योजनैर्विस्तृतोऽद्भुतम् ॥५॥

अर्थः—कच्छा महादेश के पूर्व में चार कूटों से सुशोभित चित्रकूट नाम का प्रथम वक्षार पर्वत है, जो अश्व के मुख सदृश आकार वाला, तपाये हुये स्वर्ण के सदृश कान्तिवान् और तोरणों, वनों, वेदियों और जिनालयों से समन्वित है ॥२-३॥ इस पर्वत की ऊँचाई सीता नदी के समीप पाँच सौ योजन और नील कुलाचल के समीप चार सौ योजन प्रमाण है। भूमध्य (नींव) में इसकी ऊँचाई का चतुर्थ भाग प्रमाण पृथिवी के भीतर है। पर्वत की लम्बाई कच्छा देश की लम्बाई के प्रमाण अर्थात् १६५९२$\frac{2}{19}$ योजन और विस्तार पाँच सौ योजन प्रमाण है ॥४-५॥

अब वक्षारपर्वतस्थ कूटों के नाम, स्थान एवं स्वामी आदि कहते हैं :—

सिद्धकूटं च कच्छाख्यं सुकच्छासंज्ञकं ततः ।
चित्रकूटाह्वयं कूटं चतुःकूटान्यमूनि वै ॥६॥
वक्षारोच्चचतुर्थांशतुङ्गानि स्युः शुभान्यपि ।
अर्हत्सुरालयाढ्यानि सीतासमीपतः क्रमात् ॥७॥
दिव्योपकरणैः पूर्णः सिद्धकूटे जिनालयः ।
नीलाद्रयन्तेऽन्तिमे कूटे दिक्कन्याः सन्ति धामसु ॥८॥
मध्यकूटद्वयस्योच्चरत्नवेश्मसु पुण्यतः ।
वसतः स्वस्वकूटोत्थ नामानौ व्यन्तरामरौ ॥९॥

अर्थ :—चित्रकूट नामक प्रथम वक्षार पर्वत पर सिद्धकूट, कच्छाकूट, सुकच्छाकूट और चित्रकूट नाम के चार कूट हैं ॥६॥ इन शुभ कूटों की ऊँचाई वक्षार पर्वत की ऊँचाई के चतुर्थ भाग प्रमाण है। अर्थात् सीता महानदी के समीप स्थित सिद्धकूट की ऊँचाई ($\frac{५००}{४}$ =) १२५ योजन और नील पर्वत के समीप चित्रकूट की ऊँचाई ($\frac{४००}{४}$) = १०० योजन प्रमाण है, शेष दो कूटों की क्रमशः हानि-वृद्धि को लिये हुये है। सीता के समीप से क्रमशः अर्हन्त भगवान और देवों से युक्त कूट हैं। सिद्धकूट के ऊपर दिव्य उपकरणों से परिपूर्ण जिन चैत्यालय है, और नील पर्वत के समीप अन्तिम चित्रकूट पर अनेक प्रासाद हैं, जिनमें दिक्कुमारियाँ निवास करती हैं ॥७–८॥ मध्य में स्थित शेष दो कूटों में रत्न के प्रासाद हैं जिनमें पुण्योदय से अपने अपने कूटों के सदृश ही नाम वाले व्यन्तर देव निवास करते हैं ॥९॥

अब कूटों का उत्सेध पृथक्-पृथक् कहते हैं :—

कुलगिरि निकटस्थे प्रथमे कूटे उत्सेधः शतयोजनानि । द्वितीये च तृतीय भागाधिकाष्टोत्तरशतयोजनानि । तृतीये षोडशाग्रशतयोजनानि योजनत्रिभागानां द्वौ भागौ । चतुर्थे कूटे उन्नतिः पञ्चविंशत्यधिक शतयोजनानि ।

अर्थ:— नील कुलाचल के समीप स्थित प्रथम कूट की ऊँचाई १०० योजन, द्वितीय कूट की १०८$\frac{१}{३}$ योजन, तृतीय कूट की ११६$\frac{२}{३}$ योजन और चतुर्थ कूट की ऊँचाई १२५ योजन प्रमाण है ॥

अब शेष वक्षार पर्वतों, सुकच्छा देश और क्षेमपुरी का कथन करते हैं :—

इत्थं सुवर्णना ज्ञेया विदेहे सकलेऽखिला ।
षोडशप्रमवक्षाराणां सर्वेषां समानका ॥१०॥

तत: प्राग्वर्णनोपेत: सुकच्छाविषयो भवेत् ।
द्विनदी विजयार्द्धैश्च षट्खण्डीकृत ऊर्जित: ।।११।।
तस्यार्यखण्डमध्येऽस्ति रम्या क्षेमपुरी पुरी ।
प्रागुक्तनगरीतुल्या व्यासाद्यैर्धर्ममातृका ।।१२।।

अर्थ:— इस प्रकार विदेह क्षेत्र स्थित सोलह वक्षार पर्वतों का समस्त वर्णन भी इस चित्रकूट वक्षार पर्वत के सदृश ही जानना चाहिये ।।१०।। पूर्व कथित कच्छादेश के वर्णन के समान ही सुकच्छा देश का वर्णन है । इस देश के भी रक्ता-रक्तोदा और विजयार्ध पर्वत से छह खण्ड हुये हैं ।।११।। इन छह खण्डों में से आर्य खण्ड के मध्य में व्यास आदि से क्षेमापुरी नगरी के समान अतिरम्य और धर्म की माता के सदृश क्षेमपुरी नाम की नगरी है ।।१२।।

अब विभङ्गा नदी का निर्गम स्थान, परिवार नदियाँ और लम्बाई आदि कहते हैं :—

ततो नीलाद्रिपार्श्वस्थ कुण्डस्य शाश्वतस्य च ।
निर्गत्य दक्षिणद्वारेण विभङ्गा नदी शुभा ।।१३।।
अष्टाविंशसहस्राणां परिवारसरिद्युता ।
कुण्डहीनायता ग्राहवतीसंज्ञोर्मिसंकुला ।।१४।।

अर्थ:—इसके बाद नीलकुलाचल के पार्श्व भाग में एक शाश्वत कुण्ड स्थित है उस कुण्ड के दक्षिण द्वार से निकलकर ग्राहवती नाम वाली, अत्यन्त रमणीक विभङ्गा नदी अट्ठाईस हजार परिवार नदियोंसे युक्त होती हुई, कुण्ड व्याससे हीन आयतवाली अनेक उर्मियों से व्याप्त होकर बहती है।।१३-१४।।

अब विभङ्गा के अवशेष वर्णन का कथन करते हैं :—

रोहित्सरित्समव्यासा हेमसोपानशालिनी ।
तोरणैर्वनवेदीभिरलंकृता मनोहरा ।।१५।।
योजनै: पञ्चविंशत्यग्रशतैक प्रमाणकैः ।
विस्तीर्णान्ते हि सीताया: प्रविष्टाभ्यन्तरे परा ।।१६।।
तस्या: प्रवेशसद्द्वारस्य पूर्वापरदीर्घता ।
पञ्चविंशति संयुक्तशतैक योजनानि च ।।१७।।
तोरणस्योच्छ्रिति: सार्धसप्तत्रिंशोत्यधिकं शतम् ।
योजनानां तथास्मिन्स्युर्जिनेन्द्र प्रतिमादय: ।।१८।।

इत्येषा वर्णना सर्वा विभङ्गासरितां समा ।
सीताप्रवेश सद्द्वाराणां विज्ञेया न चान्यथा ॥१६॥

अर्थः—ग्राहवती विभङ्गा नदी का व्यास रोहित् महानदी के सदृश है। स्वर्ण सोपानों से सुशोभित, तोरणों, वनों एवं वेदियों से अलंकृत यह मनोज्ञ नदी अन्त में एक सौ पच्चीस (१२५) योजन विस्तीर्ण होती हुई सीता महानदी के मध्य प्रवेश कर जाती है ॥१५-१६॥ इस नदी की सीता प्रवेश द्वार की पूर्व-पश्चिम दीर्घता एक सौ पच्चीस योजन है, तथा जिस पर जिनेन्द्र आदि प्रतिमाएँ अवस्थित हैं, ऐसे तोरण की ऊँचाई एक सौ साढ़े सतासी (१८७½) योजन प्रमाण है ॥१७-१८॥ इस प्रकार का यह सब वर्णन सर्व विभङ्गा नदियों का और सीता प्रवेश द्वारों का सदृश ही जानना चाहिये। अन्यथा नहीं ॥१६॥

अब महाकच्छ देश की अवस्थिति और उसके मध्य स्थित अरिष्टानगरी का संक्षिप्त कथन करते हैं:—

नद्याः पूर्वे महाकच्छाविषयः प्राक्तनोपमः ।
धर्मशर्माकरीभूतः स्यात् षट्खण्डधराङ्कितः ॥२०॥

तस्य मध्ये परारिष्टानगरी विद्यते शुभा ।
जिन जैनालयैस्तुङ्गैर्भूषिता धर्मकर्मभिः ॥२१॥

अर्थः—ग्राहवती नदी की पूर्व दिशा में पूर्वोक्त (कच्छा देश सदृश) उपमाओं से युक्त महाकच्छ नाम का देश है। जो धर्म और सुख की खान, तथा छह खण्ड पृथिवियों से समन्वित है ॥२०॥ उस देश के मध्य में एक अत्यन्त शुभ और श्रेष्ठ अरिष्टा नाम की नगरी है, जो जैन धर्मावलम्बियों के प्रासादों, उन्नत जिन चैत्यालयों एवं धर्म-कर्म से विभूषित है ॥२१॥

अब पद्मकूट वक्षार पर्वत की अवस्थिति आदि कहते हैं:—

ततोऽस्ति पद्मकूटाख्यो वक्षारपर्वतो महान् ।
सिद्धकूटं महाकच्छाह्वयं कूटं ततः परम् ॥२२॥
कूटं च कच्छकावत्याख्यं पद्मकूटसंज्ञकम् ।
एतैश्चतुर्महाकूटैः शिखरेऽलंकृतोऽस्ति सः ॥२३॥

अर्थः—महा कच्छ देश के आगे पद्मकूट नाम का एक महान वक्षार पर्वत है। सिद्धकूट, महाकच्छ कूट, कच्छकावती कूट और पद्मकूट इन चार महा कूटों के द्वारा उसका शिखर अलंकृत है ॥२२-२३॥

अब कच्छकावती देश, द्रहवती विभङ्गा, आवर्त देश और नलिनकूट वक्षार की अवस्थिति कहते हैं :—

ततोऽस्ति विषयः कच्छकावती संज्ञकोऽद्भुतः ।
मध्येऽरिष्टपुरी तस्य भवेद् धर्मसुखाकरा ।।२४।।
ततो द्रहवतीसंज्ञा विभङ्गा निम्नगा भवेत् ।
पूर्वोक्तवर्णनायुक्ता कुण्डात्सीतान्तरागता ।।२५।।
तस्याः पूर्वे महान्देश आवर्त्ताख्योऽस्ति शाश्वतः ।
तन्मध्ये नगरी रम्या खड्गाख्या च शुभाकरा ।।२६।।
ततो नलिनकूटाख्यो वक्षाराद्रिर्महान् भवेत् ।
चतुःकूटाङ्कितो हेममयो जिनालयादिभृत् ।।२७।।
सिद्धं चावर्तसंज्ञं च लाङ्गलावर्तनामकम् ।
नलिनाख्यं चतुःकूटैरमीभिर्मूर्ध्नसोऽन्वितः ।।२८।।

अर्थः—पद्म कूट वक्षार पर्वत के आगे कच्छकावती नाम का अनुपम देश है। उसके मध्य में धर्म और सुख की खान स्वरूप अरिष्ट नाम की नगरी है ।।२४।। कच्छकावती देश के आगे पूर्वोक्त (ग्राहवती नदी के) वर्णन युक्त द्रहवती नदी है जो कुण्ड से निकलकर सीता नदी पर्यन्त लम्बी है ।।२५।। इस द्रहवती विभङ्गा के पूर्व में एक आवर्ता नाम का महान और शाश्वत देश है, जिसके मध्य में अत्यन्त रम्य और कल्याणों की खान सदृश खड्गा नाम की नगरी है ।।२६।। उसके आगे (पूर्व में) नलिनकूट नाम का एक महान वक्षार पर्वत है, जो चार कूटों से अन्वित और स्वर्णमय जिन चैत्यालयों आदि से परिपूर्ण है ।।२७।। उस वक्षार पर्वत का शिखर सिद्ध, आवर्ता, लाङ्गलावर्त और नलिन इन चार कूटों से समन्वित है ।।२८।।

अब इसके आगे-आगे के देश, विभङ्गा नदी और वक्षार पर्वतों का संक्षिप्त कथन करते हैं :—

ततोऽस्ति विषयो लांगलावर्ताह्वय ऊर्जितः ।
षट्खण्डमण्डितो युक्तो नदीकाननपर्वतैः ।।२९।।
तन्मध्ये नगरीरम्या मञ्जूषाख्या विराजते ।
मञ्जूषेव नृरत्नानां जिनकेवलिधर्मिणाम् ।।३०।।
पुनः पङ्कवतीनाम्नी विभंगा प्रवरा नदी ।
दशक्रोशावगाहास्याद्रोहित्समानविस्तृता ।।३१।।

नद्याः पूर्वे शुभोदेशः पुष्कलाख्योऽविनश्वरः ।
ग्रामखेटादिभिः पूर्णो जिनैर्जैनैश्च धार्मिकैः ॥३२॥
औषधी नगरी रम्या तस्य मध्ये विभात्यलम् ।
औषधीव सतां जन्मजरामृत्यु रुजापहा ॥३३॥
ततः स्यादेक शैलाख्यो वक्षाराद्रिर्मनोहरः ।
चतुःकूटैर्युतो मूर्ध्नि जिनामरालयान्वितैः ॥३४॥
सिद्धं च पुष्कलाख्यं पुष्कलावती समाह्वयम् ।
एकशैलाह्वयं ह्येभिश्चतुः कूटैः सभात्यलम् ॥३५॥
ततः पूर्वे भवेत् पुष्कलावती विषयो महान् ।
नद्यद्रिग्रामसीमाद्यैर्भृतो धार्मिक योगिभिः ॥३६॥
तन्मध्ये नगरी नित्या राजते पुण्डरीकिणी ।
तुङ्गचैत्यालयैर्भव्य पुण्डरीकैः सुकर्मभिः ॥३७॥
ततो रत्नमयी दिव्या शाश्वती वनवेदिका ।
पूर्वोक्तवर्णनोपेतोत्सेधव्यासादि तोरणैः ॥३८॥

अर्थः—नलिन वक्षार के आगे लाङ्गलावर्त नाम का श्रेष्ठ देश है, जो छह खण्डों से मण्डित तथा नदी, वन और पर्वत आदि से युक्त है। इस देश के मध्य में अति मनोज्ञ मंजूषा नाम की नगरी सुशोभित है, जो जिनेन्द्रदेव, केवली और धार्मिक मनुष्य रूपी रत्नों की मञ्जूषा (पेटी) के सदृश सार्थक नाम वाली है ॥२९-३०॥ इसके आगे पङ्कवती नाम की श्रेष्ठ विभङ्गा नदी है, जो दश कोस गहरी और रोहित् नदी के सदृश विस्तृत है ॥३१॥ इस विभङ्गा नदी के पूर्व में पुष्कल नाम का विनाश रहित और श्रेष्ठ देश है, जो ग्राम खेट आदि से तथा अर्हन्तों, जैनों और धर्मात्माजनों से परिपूर्ण है ॥३२॥ जिसके मध्य में औषधी नाम की मनोज्ञ नगरी शोभायमान है। जो सज्जन पुरुषों के जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु और रोग आदि दोषों को दूर करने के लिये औषधि के सदृश है ॥३३॥ इसके बाद एक शैल नामका मन को हरण करने वाला वक्षार पर्वत है, जो शिखर पर जिनचैत्यालय और अन्य देवों के प्रासादों से समन्वित चार कूटों से युक्त है ॥३४॥ सिद्धकूट, पुष्कलकूट, पुष्कलावतीकूट और एक शैल इन चार कूटों से वह पर्वत शोभायमान है ॥३५॥ इस वक्षार पर्वत के पूर्व में पुष्कलावती नाम का महान देश है, जो नदी, पहाड़ ग्राम की सीमा आदि से तथा मुनिराजों एवं धार्मिक पुरुषों से परिपूर्ण है। इसके मध्य में पुण्डरीकिणी नाम की शाश्वत नगरी सुशोभित होती है, जो उन्नत चैत्यालयों, भव्यों, तीर्थङ्करों, गणधरादि योगियों एवं उत्तम क्रिया करने वाले सज्जन पुरुषोंसे व्याप्त है ॥३६-३७॥ इसके बाद शाश्वत, दिव्य और रत्नमय वनवेदिका है, जो पूर्व कथित उत्सेध, एवं व्यासादि वाले तोरणों से युक्त है ॥३८॥

इसके आगे देवारण्य वन का वर्णन करते हैं :—

तस्याः पूर्वे समुद्रस्यापरेभागे मनोहरम् ।
नाना द्रुमौघ संकीर्णं देवारण्याह्वयं वनम् ॥३९॥
द्वे सहस्रे शतान्येव नवद्वाविंशतिस्तथा ।
योजनानामिति व्यासः पूर्वापरेण कथ्यते ॥४०॥
वनस्यास्याखिलायामो देशाद्यायामसन्निभः ।
देवारण्यवने तस्मिन् प्रासादाः सन्त्यनेकशः ॥४१॥

अर्थः—उस रत्नमय वन वेदी के पूर्व में और लवण समुद्र के पश्चिम में अनेक प्रकार के वृक्ष समूहों से व्याप्त देवारण्य नाम का मनोहर वन है ॥३९॥ जिसका पूर्व पश्चिम व्यास दो हजार नौ सौ बाईस (२९२२) योजन प्रमाण है, और आयाम देश के आयाम सदृश अर्थात् १६५९२$\frac{२}{१९}$ योजन प्रमाण है। इस देवारण्य वन में अनेक प्रकार के प्रासाद हैं ॥४०-४१॥

अब देवारण्यस्थ प्रासादों का वर्णन करते हैं :—

नानारत्नमयास्तुङ्गा वनवेद्याद्यलंकृताः ।
जिनालयाङ्किता दिव्या मणितोरणभूषिताः ॥४२॥
प्रचुराः पुष्करण्यश्च क्रीडाशालाः सभागृहाः ।
उपपादालयास्तुङ्गा बाह्यान्तर्मणिचित्रिताः ॥४३॥
चतुर्विदिक्षुगेहाः स्युरात्मरक्षसुधाभुजाम् ।
परिषत् त्रयदेवानां प्रासादा दक्षिणादिशि ॥४४॥
सप्तानीकामराणां च दिग्भागे पश्चिमे गृहाः ।
किल्विषाह्वयदेवानामभियोगामृताशिनाम् ॥४५॥
सम्मोहनिर्जराणां च कन्दर्पाख्यसुरात्मनाम् ।
प्रत्येकं स्युः पृथग्भूताः प्रासादाः शाश्वताः शुभाः ॥४६॥

अर्थः—देवारण्य वन में स्थित प्रासाद नाना रत्नमय, उन्नत, वन वेदी आदि से अलंकृत और जिनालयों से विभूषित हैं। वहाँ बहुत से तालाब, क्रीडा शालाएँ, सभागृह और बाह्य एवं अभ्यन्तर में मणियों से रचित तथा उन्नत उपपाद भवन हैं॥४२-४३॥ चारों विदिशाओं में आत्मरक्षक देवों के भवन हैं। दक्षिण दिशा में तीनों परिषद् देवों के प्रासाद हैं, और पश्चिम दिशा में सात प्रकार के अनीक

देवों के गृह हैं। किल्विष देवों, आभियोग, सम्मोह और कन्दर्प जाति के देवों में से प्रत्येक के पृथक् पृथक् शाश्वत और शोभायुक्त प्रासाद हैं ॥४४-४६॥

अब अन्य देवारण्य का विस्तार करते हैं :—

ततः सीतामहानद्या-भागेऽस्ति दक्षिणे परम् ।
देवारण्यं च पूर्वोक्त व्यासाद्यैस्तत्समं महत् ॥४७॥
वनेऽस्मिन् सन्ति देवानां बहूनि नगराणि च ।
प्राकारगोपुराद्यैश्च तुङ्गधामजिनालयैः ॥४८॥
अलंकृतानि वापीभिर्नगरेषु सुरोत्तमाः ।
भूपाश्चतुर्महादेवीयुक्ता वसन्ति पुण्यतः ॥४९॥
परिषत् त्रितयैः सप्तसप्तानीकैः पृथग्विधैः ।
सामान्यकात्मरक्षाद्यैर्वेष्टिताजिनभाक्तिकाः ॥५०॥

अर्थः—सीता महानदी के दक्षिण भाग में एक दूसरा देवारण्य नाम का वन है जिसके व्यास आदि का प्रमाण पूर्वोक्त देवारण्य के सदृश ही है ॥४७॥ इस वन में भी देवों के बहुत से नगर हैं। प्राकार, गोपुर आदि, उत्तुङ्ग प्रासाद, जिनालय और वापी आदि से अलंकृत इन नगरों में पूर्व पुण्य प्रताप से इन्द्र उत्तम देवों एवं चार महादेवियों से युक्त निवास करते हैं ॥४८-४९॥ तथा तीन प्रकार के पारिषद देवों, पृथक् पृथक् सात सात अनीकों, सामानिक देवों और आत्मरक्षक आदि देवों से वेष्टित होकर जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करते हैं ॥५०॥

अब देवारण्य के बाद अन्य वेदी, देश, वक्षार एवं विभङ्गा आदि की अवस्थिति का वर्णन करते हैं :—

ततः पश्चिमदिग्भागे दिव्यास्ति वनवेदिका ।
क्रोशार्द्धनावगाह्या च प्रागुक्तोत्सेधविस्तृता ॥५१॥
वेद्याश्च पश्चिमाशायां वत्साख्यो विषयो महान् ।
गंगासिन्धुनदीरूप्याद्रिभिः षट्खण्डसंयुतः ॥५२॥
तदार्यखण्डमध्ये स्यात् सुसीमानगरी परा ।
धर्मसीमाकरीभूता यतिश्रावकधार्मिकैः ॥५३॥
ततो भवेत् त्रिकूटाख्यो वक्षारशैल ऊर्जितः ।
चतुःकूटैर्युतोमूर्ध्नि चैत्यदेशालयाङ्कितैः ॥५४॥

सिद्धकूटं च वत्साख्यं सुवत्साकूटसंज्ञकम् ।
त्रिकूटाह्वयमेतानि कूटानि शिखरेऽस्य वै ॥५५॥
तदनन्तरमेवास्ति सुवत्सा विषयः शुभः ।
मुनिकेवलिसंघाद्यैर्भूषितोऽद्रिसरिद्वनैः ॥५६॥
तन्मध्ये विद्यते दिव्या कुण्डला नगरी युता ।
रत्नशालप्रतोल्याद्यैश्चैत्यालयैश्च धार्मिभिः ॥५७॥
ततस्तप्तजलाभिख्या विभंगा निम्नगा भवेत् ।
कुण्डोत्थादेशसीमान्ता वनवेद्यादिवेष्टिता ॥५८॥
पुनर्महान्महावत्सा विषयोऽस्ति शुभाकरः ।
ग्रामपत्तनखेटाद्यैर्जिनेन्द्रभवनांकितैः ॥५९॥
तन्मध्ये नाभिवद्भाति नगरी चापराजिता ।
जितेन्द्रियैर्जिनागारैर्जिनकल्याणकोत्सवैः ॥६०॥
ततो वैश्रवणोनाम्ना वक्षारो हेमसन्निभः ।
सिद्धकूटं महावत्सानामकूटं द्वितीयकम् ॥६१॥
कूटं च वत्सकावत्याख्यं वैश्रवणसंज्ञकम् ।
एतैश्चैत्यसुरागारैर्युतैः कूटैः स मण्डितः ॥६२॥

अर्थः—देवारण्य के आगे पश्चिम दिशा में अर्ध कोश अवगाह (नींव) और पूर्वोक्त उत्सेध एवं विस्तारसे युक्त एक दिव्य वन वेदी है ॥५१॥ वेदी की पश्चिमदिशा में महान् वत्सा नामक देश है, जिसके गङ्गा सिन्धु नदी और विजयार्ध पर्वत के द्वारा छह खण्ड हुये हैं. उनमें से आर्य खण्ड के मध्य में सुसीमा नाम की एक श्रेष्ठ नगरी है, जो धर्म की सीमा को करने वाली अर्थात् धर्म की सीमा यहीं तक हो है मानो ऐसे सार्थक नाम को धारण करने वाली और मुनिगणों एवं धार्मिक श्रावक गणों के द्वारा सुशोभित है ॥५२-५३॥ वत्सा देश के आगे पश्चिम में त्रिकूट नामक श्रेष्ठ वक्षार पर्वत है, जिसके शिखर पर जिनचैत्यालय और देवालयों से अङ्कित चार कूट हैं ॥५४॥ सिद्ध कूट, वत्सा कूट, सुवत्सा कूट और त्रिकूट ये चार कूट उस वक्षार पर्वत के शिखर पर हैं ॥५५॥ इसके बाद ही मन को अभिराम सुवत्सा नाम का देश है, जो मुनिगणों, केवलियों और चतुर्विध संघों से विभूषित तथा पर्वतों, सरिताओं और वनों आदि से संयुक्त है। उस देश के मध्य में रत्नों के शाल (परकोटा) प्रतोली आदि से एवं चैत्यालयों से युक्त तथा धार्मिक जनों से व्याप्त कुण्डला नाम की दिव्य नगरी है ॥५६-५७॥ सुवत्सा देश के पश्चिम में तप्तजला नाम की विभङ्गा नदी है, जो कुण्ड से निकली है, देश के बराबर लम्बी है और

वन वेदी आदि से वेष्टित है ॥५८॥ इस विभङ्गा के पश्चिम में कल्याण की खान सदृश महान् महावत्सा नाम का देश है, जो ग्राम पत्तन और खेटों आदि से युक्त और जिनेन्द्र भवनों से सम्पन्न है। उसके मध्य में नाभि सदृश अपराजिता नाम की नगरी है, जो जितेन्द्रियों, जिन साधुओं और जिन कल्याणक महोत्सवों से विभूषित रहती है ॥५९-६०॥ महावत्सा देश के पश्चिम में कञ्चन सदृश वैश्रवण नाम का वक्षार पर्वत है, जिसका शिखर सिद्धकूट, महावत्सा कूट, वत्सकावती कूट और वैश्रवण कूट जो कि जिन चैत्यालयों और व्यन्तर देवों के प्रासादों से मण्डित है ॥६१-६२॥

पूर्व विदेह क्षेत्र के अवशेष देशों, पर्वतों एवं विभंगा नदियों की अवस्थिति कहते हैं :-

ततः परं भवेद्वत्सकावतीविषयोऽद्भुतः ।
षट्खण्डाद्रिनदीयुक्तः स्वर्मुक्तिसुखसाधनः ॥६३॥

तन्मध्ये महती निस्था प्रभंकरा पुरी भवेत् ।
जिनेन्द्रजैनसंघाद्यैश्चैत्यागारैर्भृतापरैः ॥६४॥

ततो मत्तजलासंज्ञा विभङ्गा सरिदुत्तमा ।
सीतामध्ये प्रविष्टा च कुण्डद्वारेण निर्गता ॥६५॥

तस्या अपरभागेऽस्ति रम्याख्यो विषयः शुभः ।
रम्यो रम्यैर्जिनागारैर्धर्मकर्ममहोत्सवैः ॥६६॥

अंकाख्या नगरी रम्या तदार्य खण्डमध्यगा ।
भातिधर्मखनीवोच्चैर्धर्मिधर्मप्रवर्तनैः ॥६७॥

ततोऽञ्जनगिरिर्नाम्ना वक्षारस्तुङ्गविग्रहः ।
हेमवर्णश्चतुः कूट चैत्यदेवालयान्वितः ॥६८॥

सिद्धकूटं च रम्याख्यं कूटं सुरम्यनामकम् ।
अञ्जनाह्वयमेतैः सकूटैरग्रेऽप्यलंकृतः ॥६९॥

ततः सुरम्य देशोऽस्ति रमणीयः शुभावहः ।
चैत्यागारसुसङ्घाढ्यै ग्रामखेटपुरादिभिः ॥७०॥

पुरी पद्मावतीनाम्नी तदार्यखण्डभूस्थिता ।
श्रीमद्भिर्धार्मिकैर्भव्यैर्भाति पद्मेव शाश्वता ॥७१॥

ततो नदीविभङ्गास्ति परोन्मत्तजलाभिधा ।
जिनेन्द्रप्रतिमायुक्तै र्वेदिका तोरणैर्युता ॥७२॥

तस्या अपरभागेस्याद् रमणीयाभिधो महान् ।
धर्मिधामजिनागारैः सार्थोदेशोऽतिसुन्दरः ॥७३॥
तन्मध्ये राजते रम्या शुभाख्या नगरी शुभा ।
शुभध्यानशुभाचारैः शुभैः शुभखनीव च ॥७४॥

अर्थः—वैश्रवण वक्षार पर्वत के आगे वत्सकावती नाम का अद्भुत देश है। जो छह खण्डों, पर्वतों और नदियों से युक्त तथा स्वर्ग और मोक्ष सुख का साधन है। उस देश के मध्य में प्रभङ्करा नाम की शाश्वत और महान नगरी है, जो अर्हन्त परमेष्ठियों, जिन संघों और जिनमन्दिरों से निरन्तर भरी रहती है ॥६३–६४॥ इस वत्सकावती देश के बाद मत्तजला नाम की उत्तम विभङ्गा नदी है, जो कुण्ड के द्वार से निकल कर सीता महानदी के मध्य में प्रविष्ट हुई है ॥६५॥ इस नदी के पश्चिम भाग में रम्या नाम का श्रेष्ठ देश है, जो मनोज्ञ जिन चैत्यालयों एवं धार्मिक और लौकिक महोत्सवों से निरंतर रम्य-शोभित रहती है, इस देश के मध्य में सुन्दर आर्य खण्ड है, जिसके मध्य में अङ्का नाम की नगरी है, जो धर्म की खान के सदृश है और धर्म प्रवर्तन करने वाले उत्कृष्ट धर्मात्माओं से सुशोभित है ॥६६–६७॥ रम्या देश के पश्चिम भाग में अञ्जनगिरि नाम का उत्तुङ्ग वक्षार पर्वत है, जो हेमवर्ण का है, और चार कूटों, चैत्यालयों तथा अन्य देवगणों के प्रासादों से समन्वित है। इस पर्वत का शिखर सिद्धकूट, रम्यकूट, सुरम्यकूट और अञ्जन इन चार कूटों से अलंकृत है ॥६८–६९॥ इस अंजनगिरि वक्षार के पश्चिम में मन को अभिराम और पुण्य प्रवेश का कारण भूत सुरम्य नाम का देश है, जो जिन चैत्यालयों, जिनसंघों, ग्रामों, खेटों और अनेक नगरों से युक्त है। इसके मध्य में आर्य खण्ड है, जिसके मध्य में शाश्वत पद्मावती नाम की नगरी है, जो धनवानों और धार्मिक भव्यजनों के द्वारा पद्म के समान शोभायमान होती है ॥७०–७१॥ इस सुरम्य देश के पश्चिम में उन्मत्तजला नाम की श्रेष्ठ विभङ्गा नदी है, जो जिनेन्द्र प्रतिमाओं, वेदिकाओं एवं तोरणों से संयुक्त है ॥७२॥ इस नदी के पश्चिम में धर्म स्थानों एवं जिन चैत्यालयों से रम्य सार्थक नाम वाला रमणीय नाम का सुन्दर देश है, जिसके मध्य में शुभा नाम की शुभ शोभा युक्त नगरी है, जो शुभ–कल्याण की खान के सदृश, शुभ-उत्तम ध्यान और शुभ आचरणों से सुशोभित है ॥७३–७४॥

अब सुदर्शनमेरु पर्यन्त देशों, वक्षारों एवं नदियों का अवस्थान कहते हैं :—

तत आदर्शनाभिख्यो वक्षारोऽतीवसुन्दरः ।
सिद्धायतनकूटं च रमणीयसमाह्वयम् ॥७५॥
कूटं हि मङ्गलावत्याख्यमादर्शनसंज्ञकम् ।
चैत्यदेवालयाद्यस्थैरेतैः कूटैः स संयुतः ॥७६॥

ततोऽस्तिविषयो मंगलावतीसंज्ञकोऽद्भुतः ।
धर्मकर्मोत्थ माङ्गल्यैर्जिनाद्यैर्मङ्गलोत्तमैः ॥७७॥

तन्मध्येनगरी भाति महती रत्नसञ्चया ।
दृग्ज्ञानवृत्तरत्नाढ्यं नृस्त्रीरत्नैस्तथापरैः ॥७८॥

ततोऽपरदिशाभागे निःस्था प्राग्वेदिकासमा ।
स्यात्पूर्वभद्रशालाख्य वनस्य रत्नवेदिका ॥७९॥

ततो नैऋत्य दिग्भागे मेरोश्चदक्षिणे तटे ।
सीतोदाया महानद्या विदेहेऽपरसंज्ञके ॥८०॥

अर्थः—रमणीय महादेश के पश्चिम में आदर्शन नामका अतीव सुन्दर वक्षार पर्वत है, जिसका शिखर जिनचैत्यालय एवं अन्य व्यन्तर देवों के प्रासादों से संयुक्त सिद्धायतन, रमणीय, मङ्गलावती और आदर्शन नामक कूटों से अलंकृत है ॥ ७५–७६ ॥ इस आदर्शन वक्षार के पश्चिम में धर्म और अन्य क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले मङ्गलों से तथा जिनेन्द्र भगवान रूप उत्तम मङ्गलों से संयुक्त मंगलावती नाम का अद्भुत देश है। उसके मध्य में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नों से, स्त्री पुरुष रूप रत्नों से (वहाँ के स्त्री पुरुष रत्नों के समान हैं) और अन्य रत्नों से युक्त रत्नसञ्चया नाम की विशाल नगरी सुशोभित है ॥७७–७८॥ इस देश के पश्चिम भाग में पूर्व कथित भद्रशाल की वेदिका के समान पूर्वभद्रशालवन की शाश्वत, रत्नमय वेदिका है ॥७९॥ इस पूर्वभद्रशाल वन वेदी के आगे मेरु पर्वत की नैऋत्य दिशा में और सीतोदा महानदी के दक्षिण तट पर पश्चिम विदेह क्षेत्र की अवस्थिति है ॥८०॥

अब पश्चिम विदेहगत देशों, वक्षारों एवं नदियों का अवस्थान कहते हैं :—

निषधस्योत्तरे भागे शाश्वता मणिवेदिका ।
भवेत् पश्चिमसंज्ञस्य भद्रशालवनस्य च ॥८१॥

वेद्याः पश्चिमदिग्भागे पद्माख्यो विषयः शुभः ।
स्याद् गंगासिन्धु रूपाद्रिभिः षड्खण्डीकृतोऽखिलः ॥८२॥

तन्मध्येऽश्वपुरी नाम्नी नगरी पुण्यमातृका ।
पुण्यवद्भिर्बुधैः पूर्णा जिनधामादिशोभिता ॥८३॥

ततोऽस्ति शब्दवान्नाम्ना वक्षारो हाटकप्रभः ।
चतुःकूटाङ्कितो मूर्ध्नि वनवेद्याद्यलंकृतः ॥८४॥

सिद्धकूटं च पद्माख्यं सुपद्माकूटनामकम् ।
शब्दवत् कूटमेतानि स्युः कूटान्यस्य मस्तके ॥८५॥

ततो भवेत् सुपद्माख्य देशः पद्मालयोपमः ।
साध्यते यत्र धर्माद्यैः पद्मालोकत्रये स्थिता ॥८६॥

तत्र सिंहपुरीसंज्ञा नगरी राजते तराम् ।
कर्मेभहननोद्युक्तैर्नरसिंहैः सुधार्मिकैः ॥८७॥

ततो नदी विभंगास्ति क्षारोदाख्या मनोहरा ।
कुण्डान्निर्गत्य सीतोदा मध्यायाता क्षयातिगा ॥८८॥

पुनर्देशो महापद्माह्वयः षट्खण्डराजितः ।
नद्यद्रिवनसद्ग्रामपुराद्यैर्धर्मिभिःशुभैः ॥८९॥

तन्मध्ये नगरी रम्या महापुरी समाह्वया ।
साधयन्ति महान्तोऽस्याः स्वर्गं मोक्षं तपोवृषात् ॥९०॥

ततो विकटवान्नाम्ना वक्षारोऽस्ति सुराश्रितः ।
सिद्धायतनकूटं च महापद्माख्यकं ततः ॥९१॥

कूटं हि पद्मकावत्याह्वयं विकटवत् परम् ।
नाम्नेमानि चतुःकूटानि सन्ति शिखरेऽस्य च ॥९२॥

ततोऽस्ति विषयः पद्मकावतीसंज्ञको महान् ।
यत्र केवलिनः पुंसां विहरन्ति शिवाप्तये ॥९३॥

तन्मध्ये राजधानी स्यात् विजयापरमापुरी ।
यस्यां मोक्षाय धर्माय स्वजन्मेच्छन्ति नाकिनः ॥९४॥

अर्थः—निषधपर्वत के उत्तर भाग में पश्चिम भद्रशाल की मणिमय और शाश्वत वेदी है। ॥८१॥ वेदी के पश्चिम भाग में पद्मनाम का सुन्दर देश है, जिसके विजयार्ध पर्वत और गंगा-सिन्धु नदियों के द्वारा छह खण्ड होते हैं। इस देश के मध्य में पुण्य की जननी के सदृश अश्वपुरी नाम की नगरी है, जो पुण्यवान् पुरुषों एवं विद्वज्जनों से परिपूर्ण और जिनचैत्यालयों से सुशोभित है ॥८२-८३॥ इस देश के पश्चिम में शिखर पर चार कूटों से युक्त एवं वन वेदी आदि से अलंकृत हेमवर्ण वाला शब्दवान् नामक वक्षार पर्वत है। इस पर्वत के अग्रभाग में सिद्धकूट, पद्मकूट, सुपद्म और शब्दवान् नाम के चार कूट अवस्थित हैं ॥८४-८५॥ इस वक्षार के पश्चिम में लक्ष्मी के आलय की उपमा को

धारण करने वाला सुगन्ध नाम का देश है, जहाँ भव्यजन धर्मादि के द्वारा त्रैलोक्यस्थित लक्ष्मी का साधन करते हैं। इस देश के मध्य में सिंहपुरी नाम की नगरी शोभायमान है, जहाँ के उत्तम धार्मिक मनुष्य रूपी सिंह निरन्तर कर्मरूपी हाथियों को मारने में उद्यत रहते हैं ॥८६-८७॥ इस देश के पश्चिम में क्षीरोदा नाम की मनोहर विभंगा नदी है, जो क्षय रहित है और कुण्ड से निकल कर सीतोदा महा-नदी के मध्य में प्रवेश करती है ॥८८॥ इस विभंगा के पश्चिम में छह खण्डों से सुशोभित महापद्म नाम का देश है, जो नदी, पर्वत, वन, उत्तम ग्राम और नगरों से तथा शुभाचरण से युक्त धार्मिक जनों से परिपूर्ण है। इस देश के मध्य में अति रम्य महापुरी नाम की नगरी है, जहाँ पर महान पुरुष तप-रूपी वृक्ष से स्वर्ग और मोक्ष का साधन करते हैं ॥८९-९०॥ इस देश के पश्चिम में देवों के आश्रय-भूत विकटवान् नाम का वक्षार पर्वत है, जिसके शिखर पर सिद्धायतन, महापद्म, पद्मकावती और विकटवान् नाम के चार कूट अवस्थित हैं ॥९१-९२॥ विकटवान् वक्षार की पश्चिम दिशा में पद्म-कावती नाम का महान् देश है, जहाँ पर भव्यों को मोक्ष प्राप्त कराने के लिये केवली भगवान् निरन्तर विहार करते हैं। इस देश के मध्य में विजयापरमपुरी नामक नगरी है, जो देश की राजधानी है। धर्म और मोक्ष के लिये जिस नगरी में देवगण भी अपने जन्म लेने की वाञ्छा करते हैं ॥९३-९४॥

अब पद्मकावती देश के आगे अन्य-अन्य देशों, विभङ्गा नदियों एवं पर्वतों की अवस्थिति कहते हैं :—

पुनर्नदी विभङ्गा स्यात् सीतोदाख्या विभूषिता ।
कुण्डव्यासोनदेशस्य छायामेन समायता ॥९५॥
तस्याः पश्चिमभागेऽस्ति देशः शङ्खाख्य ऊर्जितः ।
शलाकापुरुषा यत्र जायन्ते गणनातिगाः ॥९६॥
तन्मध्येऽस्त्यरजाभिख्या पुरी स्वर्मुक्तिदायिनी ।
यस्याः सन्तोऽन्वहं यान्ति धर्माचारैर्दिवं शिवम् ॥९७॥
तत आशीविषोनाम्ना वक्षारः काञ्चनच्छविः ।
देशायामसमायामश्चतुःकूटाश्रितोऽद्भुतः ॥९८॥
सिद्धकूटं च शङ्खाख्यं कूटं नलिनसंज्ञकम् ।
कूटमाशीविषं हीति कूटानि तस्य मस्तके ॥९९॥
ततो नलिनदेशोऽस्ति यत्र सन्मार्गवृत्तये ।
विहरन्ति गणेशाश्च सूरयः पाठकाः सदा ॥१००॥

भवेत्तस्यार्यखण्डे च विरजा नगरी परा ।
यस्यां कर्मरजांस्युच्चैं निर्धूयस्युर्विदोऽमलाः ॥१०१॥
तदनन्तरमेवात्र विभङ्गा श्रोतवाहिनी ।
वनतोरणवेदीभिर्भूषिता तटयोर्द्वयोः ॥१०२॥
ततोऽस्ति कुमुदाभिख्यो देशोधर्मसुखाकरः ।
दृश्यन्ते योगिनो धीरा यत्रारण्याचलादिषु ॥१०३॥
अशोकानगरी तत्रातीतशोकैर्बुधैर्भृता ।
अर्जयन्ति सदा धर्मं यस्यां दक्षाव्रतादिभिः ॥१०४॥
ततः सुखावहो नाम्ना वक्षारोऽस्ति सुखाकरः ।
तत्रस्थानामिहामुत्र संततं पुण्यकर्मभिः ॥१०५॥
सिद्धाख्यं कुमुदाभिख्यं सरिताह्वयमेव हि ।
सुखावहमिमान्यस्य चतुःकूटानि मस्तके ॥१०६॥

अर्थः—पद्मकावती देश के आगे सीतोदा नाम की विभंगा नदी है, जिसका आयाम कुण्ड व्यास से हीन देश के आयाम प्रमाण है ॥९५॥ विभंगा के पश्चिम भाग में शङ्खा नामक श्रेष्ठ देश है, जहाँ पर गणनातीत अर्थात् असंख्याते शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं। उसके मध्य में स्वर्ग और मोक्ष देने वाली अरजा नाम की नगरी है, जहाँ से भव्यजन धर्माचरण के द्वारा निरन्तर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥९६–९७॥ इस देश के आगे देश की लम्बाई प्रमाण आयाम से युक्त, चार कूटों से अलंकृत और कञ्चन की आभा को धारण करने वाला आशीविष नाम का वक्षार पर्वत है। उसके मस्तक पर सिद्धकूट, शंखाकूट, नलिन और आशीविष नाम के चार कूट हैं ॥९८–९९॥ वक्षार पर्वत के आगे नलिन नाम का देश है, जहाँ पर धर्म मार्ग के प्रकाशन हेतु अथवा सन्मार्ग की प्रवृत्ति हेतु गणधरदेव, आचार्य और उपाध्याय निरन्तर विहार करते हैं। इस देश के आर्य खण्ड में विरजा नाम की श्रेष्ठ नगरी है, जहाँ पर विद्वज्जन कर्म रूपी रज–धूल को भलीप्रकार नष्ट करके निर्मल होते हैं, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१००–१०१॥ इस देश के बाद ही दोनों तटों पर वनों, तोरणों एवं वेदियों से विभूषित श्रोतवाहिनी विभंगा नदी है ॥१०२॥ विभंगा के पश्चिम में धर्म और सुख का आकर (खान) कुमुद नाम का देश है, जहाँ के वनों और पर्वतों पर निरन्तर धीर-वीर योगिगण (साधु) दिखाई देते हैं। वहाँ शोक आदि से रहित बुद्धिमान मनुष्यों से भरी हुई अशोक नामक नगरी है। जहाँ पर व्रत आदि करने में चतुर भव्य जन सदा धर्म का अर्जन करते हैं ॥ १०३-१०४ ॥ उस कुमुद देश के आगे सुखोत्पादक सुखावह नाम का वक्षार पर्वत है, जहाँ के मनुष्य सदा पुण्य क्रियाओं के द्वारा इह लोक और परलोक में सुख प्राप्त करते हैं और जिसके शिखर पर सिद्ध कूट, कुमुद, सरिता और सुखावह नामक चार कूट हैं ॥१०५-१०६॥

अब अन्य अवशेष देशों आदि के अवस्थान का दिग्दर्शन कराते हैं :—

तद्‌तोऽस्ति सरिताभिख्यो महान् जनपदः शुभः ।
यत्रायान्त्यन्वहं देवाः पूजाभक्त्यै परात्मनाम् ॥१०७॥
वीतशोकापुरी तत्र यस्यां शोकातिगा विदः ।
स्वर्गमोक्षसुखाद्याप्त्यै कुर्वन्ते धर्ममुत्तमम् ॥१०८॥
ततो हेममया रम्या स्यात् परा वनवेदिका ।
पूर्वोक्तवेदिकातुल्या व्यासायामोच्छ्रितादिभिः ॥१०९॥
वेद्या अपरभागे स्याद् भूतारण्याख्यसद्वनम् ।
देवारण्यसमं चैत्यालयदेवपुरान्वितम् ॥११०॥
तस्योत्तरदिशाभागे जिनेन्द्रभवनाश्रितम् ।
भूतारण्यं भवेदन्यत्सुरसौधपुरान्वितम् ॥१११॥
वनात्पूर्वदिशाभागे सीतोदायास्तटोत्तरे ।
नीलाद्रेर्दक्षिणे पार्श्वेस्याद्रत्नवनवेदिका ॥११२॥
ततः पूर्वे भवेद्देशो वप्राख्यो भूत उत्तमः ।
यतिश्रावकचैत्याद्यैः कुलिङ्ग्यादिविवर्जितः ॥११३॥
तस्य मध्ये पुरी रम्या विजयाख्या जयन्ति च ।
दुःकर्माक्षकषायारीन् यस्यां योगेमुमुक्षवः ॥११४॥
ततः पूर्वेस्ति चन्द्राख्यो वक्षारोहेमभानिभः ।
जिनेन्द्रसुरधामाग्रैश्चतुः कूटैः शिरोऽङ्कितः ॥११५॥
सिद्धकूटं च वप्राख्यं सुवप्राभिधमन्तिमम् ।
चन्द्रकूटमिमानि स्युः शिखरेऽस्य शुभान्यपि ॥११६॥
ततः स्याद्विषयो रम्यः सुवप्राह्वय ऊर्जितः ।
यत्रार्हद्गणियोगीन्द्रा विरहन्ति सुरार्चिताः ॥११७॥
तन्मध्य खण्डभूभागे वैजयन्तीपुरी परा ।
वसन्ति तुङ्गसौधेषु यस्यां विजयशालिना ॥११८॥
ततो नदी विभङ्गास्ति गम्भीरमालिनी परा ।
नीलाद्रयधःस्थकुण्डोत्था सीतोदामध्यमाश्रिता ॥११९॥

तस्याः पूर्वे महावप्राभिधो देशः शुभाकरः ।
शुभैर्ग्रामपुराद्यैश्च सतां शुभप्रवर्तनैः ॥१२०॥
तन्मध्ये नगरी भाति जयन्ती संज्ञिका परा ।
जिनेन्द्रापरधामौघैः पुण्यवद्भिर्जयोद्धतैः ॥१२१॥

अर्थः—सुखावह वक्षार पर्वत के पश्चिम में सरिता नाम का एक महान श्रेष्ठ देश है, जहाँ पर जिनेन्द्र भगवान की पूजा भक्ति के लिये निरन्तर देवगण आते रहते हैं। इस देश के मध्य में वीतशोका नाम की नगरी है, जहाँ पर बुद्धिमान् जीव शोक से रहित होते हैं, और स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिये सदा उत्तम धर्म का आचरण करते हैं ॥१०७-१०८॥ सरिता देश के आगे कञ्चनमय, अत्यन्त रम्य और श्रेष्ठ वेदिका है, जिसके व्यास आदि का प्रमाण पूर्व कथित वेदिका के व्यास, आयाम और ऊँचाई के सदृश है ॥१०९॥ इस वेदी के पश्चिम में भूतारण्य नाम का उत्तम वन है, जो देवारण्य के सदृश जिनचैत्यालयों और देवों के नगरों से संयुक्त है ॥११०॥ इस वन की उत्तर दिशा में जिन चैत्यालयों से युक्त तथा प्रासादों से संयुक्त देवों के नगरों से समन्वित अन्य भूतारण्य वन है ॥१११॥ इस भूतारण्य वन की पूर्व दिशा में, सीतोदा महानदी के उत्तर तट पर और नील कुलाचल के दक्षिण भाग में एक रत्नमय वेदिका है ॥११२॥ इस वेदी की पूर्व दिशा में कुलिङ्गी साधुओं आदि से रहित और उत्तम मुनिगणों, श्रावकों एवं जिनचैत्यालयों से परिपूर्ण वप्रा नाम का देश है। जिसके मध्य में विजया नाम की अति रम्य नगरी है, जहाँ पर मोक्षाभिलाषी भव्यजन मन-वचन और काय की स्थिरता द्वारा अथवा ध्यान आदि के द्वारा दुष्ट कर्मों, इन्द्रियों और कषाय रूपी वैरियों को जीतते हैं ॥११३-११४॥ इस वप्रा देश के पूर्व में स्वर्णाभा के सदृश कान्तिवान् चन्द्रा नाम का वक्षार पर्वत है, जो जिनचैत्यालय और देवालयों से समन्वित चार कूटों से सुशोभित है। इसके शिखर पर सिद्धकूट, वप्रा, सुवप्रा और चन्द्रकूट नाम के चार उत्तम कूट हैं ॥ ११५-११६॥ इस वक्षार के पूर्व में सुवप्रा नाम का रम्य और श्रेष्ठ देश है, जहाँ पर अरहन्त देव, गणधर देव और मुनि समूह निरन्तर विहार करते हैं। इस देश के आर्य खण्ड में विजयन्ती नाम की श्रेष्ठ नगरी है, जहां के उन्नत भवनों में विजय स्वभावी भव्य जीव रहते हैं ॥११७-११८॥ इसके बाद गम्भीरमालिनी नाम की श्रेष्ठ विभंगा नदी है, जो नील कुलाचल के अधोभाग में स्थित कुण्ड से निकली है, और सीतोदा के मध्य प्रवेश करती है ॥११९॥ इसके पूर्व में उत्तम ग्राम नगर आदि से युक्त और सज्जनों की शुभ प्रवृत्तियों से सुशोभित पुण्य की खान सदृश महावप्रा नाम का उत्तम देश है। जिसके मध्य में जयन्ती नाम की उत्तम नगरी शोभायमान होती है, जो जिन चैत्यालयों, अन्य प्रासाद समूहों, पुण्यवान् भव्य जीवों एवं जितेन्द्रिय जीवों से सदा परिपूर्ण रहती है ॥१२०-१२१॥

अब पूर्वविदेहगत वक्षार पर्वतों आदि की अवस्थिति कहते हैं :—

तता सूराह्वयोऽद्रिः स्यादक्षारोऽमरसंयुतः ।
सिद्धकूटं महावप्राभिधानकूटमेव हि ॥१२२॥
कूटं च वप्रकावत्याख्यं सूरकूट मन्तिमम् ।
तस्याग्रे स्यात्सुरोपेत मेतत्कूट चतुष्टयम् ॥१२३॥
ततो जनपदो वप्रकावत्याख्यो महान्भवेत् ।
यत्र प्रवर्तते धर्मो मोक्षमार्गोऽविनश्वरः ॥१२४॥
धर्मशर्माकरा तस्य मध्येऽपराजिता पुरी ।
कर्मारिनिर्जयोद्युक्तं विद्भ्रोराजतेतराम् ॥१२५॥
ततो नदी विभङ्गास्ति शाश्वता फेनमालिनी ।
रत्नतोरणसद्वेदी वनाङ्कितितटद्वया ॥१२६॥
ततो गन्धाह्वयो देश एकार्यखण्डभूषितः ।
धर्मशर्माकरः पञ्चम्लेच्छखण्डयुतोऽक्षयः ॥१२७॥
तन्मध्ये नगरी चक्राह्वया भाति जिनालयैः ।
शालगोपुरसौधाद्यैश्चक्र्यादि पुरुषोत्तमैः ॥१२८॥
ततो नागाभिधः शैलो वक्षारः शिखरैऽङ्कितः ।
अर्हत्सुरालयाग्रस्थैस्तुङ्गकूटचतुष्टयैः ॥१२९॥
सिद्धकूटं च गन्धाख्यं सुगन्धाह्वयमेव च ।
नागकूटमिमान्युच्चैः स्फुरन्ति शैलमस्तके ॥१३०॥
तस्य पूर्वे भवेद्देशः सुगन्धाख्यो महोत्तमः ।
धर्मचैत्यालयोपेतैः ग्रामारामपुरादिभिः ॥१३१॥
तन्मध्ये राजते खड्गापुरी रत्नजिनालयैः ।
पुण्यवद्भिर्बुधैर्नित्यं धर्मोत्सवशतैः परैः ॥१३२॥
ततः पराविभङ्गा च नद्यस्यादूर्मिमालिनी ।
दक्षिणोत्तर दिग्दीर्घा पूर्वपश्चिमविस्तरा ॥१३३॥
तदनन्तरमत्रास्ति विषयो गन्धिलाख्यकः ।
जिनधर्मोत्तमाचारैर्जैनैश्च धर्मिभिर्भृतः ॥१३४॥
तत्रायोध्यापुरी भाति भटैः कर्मजयोद्यतैः ।
जिनचैत्यालयैर्दक्षैः खनीवधर्मधर्मिणाम् ॥१३५॥

अर्थः—महावप्रा देश के पूर्व में देवों से संयुक्त सूर नामक वक्षार पर्वत है। उसके शिखर पर जिनचैत्यालय और देव प्रासादों से युक्त सिद्धकूट, महावप्रा, वप्रकावती और सुर नाम वाले चार कूट अवस्थित हैं ॥१२२-१२३॥ सूर वक्षार के पूर्व में वप्रकावती नाम का श्रेष्ठ देश है, जहाँ पर धर्म और मोक्षमार्ग शाश्वत प्रवर्तते हैं। उस देश के मध्य में धर्म और सुख की खान स्वरूप अपराजित नाम की नगरी है; जो कर्म शत्रुओं को जीतने में उद्यत भव्य जीवों से और विद्वज्जनों से अत्यन्त शोभायमान रहती है ॥१२४-१२५॥ उस देश के आगे शाश्वत बहनेवाली फेनमालिनी नाम की विभङ्गा नदी है, जिसके दोनों तट रत्नों के तोरणों, उत्तम वेदियों और वनों से अञ्चित हैं ॥१२६॥ विभङ्गा नदी के आगे धर्म और सुख के आकर स्वरूप एक आर्य खण्ड से विभूषित और पाँच म्लेच्छ खण्डों से युक्त गन्ध नाम का शाश्वत देश है। जिसके मध्य में जिन चैत्यालयों, शाल, गोपुर एवं प्रासादों और चक्रवर्ती आदि महापुरुषों से विभूषित चक्र नाम की नगरी है ॥१२७-१२८॥ गन्ध देश के पूर्व में शिखर पर अङ्कित हैं जिन चैत्यालय और देवों के आश्रय जिनके ऐसे चार कूटों से संयुक्त नागा (धिप) नाम का वक्षार पर्वत है। जिसके मस्तक पर सिद्धकूट, गन्धकूट, सुगन्धकूट और नागकूट नाम के चार महान कूट स्फुरायमान होते हैं ॥१२९-१३०॥ नाग वक्षार के पूर्व में जिन चैत्यालयों, नगरों, ग्रामों और उद्यानों से सहित सुगन्ध नाम का महा उत्तम देश है। उसके मध्य में खड्गापुरी नगरी है, जो रत्नों के जिनालयों से, पुण्यवान् पुरुषों, बुद्धिमानों और धार्मिक महोत्सवों में तल्लीन ऐसे अन्य भव्यजनों से सदा शोभायमान रहती है ॥१३१-१३२॥ सुगन्ध देश के आगे ऊर्मि नाम की विशाल विभङ्गा नदी है, जो दक्षिण-उत्तर लम्बी और पूर्व-पश्चिम चौड़ी है ॥१३३॥ उसके बाद जैनधर्म जन्य उत्तम आचरणों, जैन बन्धुओं एवं धर्मात्माओं से परिपूर्ण गन्धिला नाम का देश है। उसके मध्य में धर्म और धर्मात्माओं की खान के सदृश अयोध्या नाम की नगरी है, जो पण्डित जनों, जिन चैत्यालयों एवं कर्मों पर विजय प्राप्त करने में प्रयत्नशील भव्यजनों से सदा सुशोभित रहती है ॥१३४-१३५॥

अब भद्रशाल की वेदी पर्यन्त देशों, वक्षारों एवं विभंगा नदियों का अवस्थान कहते हैं :—

ततो देवाद्रिनामास्ति वक्षार ऊर्जितोऽव्ययः ।
प्रथमं सिद्धकूटाख्यं द्वितीयं गन्धिलाह्वयम् ॥१३६॥
कूटं च गन्धमालिन्याख्यं देवकूटमन्तिमम् ।
मणिकूटैरमीभिः सोऽलंकृतः शिखरे वरे ॥१३७॥

तत्पार्श्वे विषयो गन्धमालिनीसंज्ञकोऽद्भुतः ।
द्विनदीविजयार्धैश्च षट्खण्डीकृत उत्तमः ॥१३८॥

तत्सीतोदोत्तरे भागे स्यादवध्यापुरी परा ।
पुण्यकर्माकरीभूतास्वर्मुक्ति धर्ममातृका ॥१३९॥
तदन्ते शाश्वती दिव्या वेदिका स्थूलविग्रहा ।
वनस्यापर भद्रादिशालस्यांह्रिप-शालिनः ॥१४०॥

अर्थ:—गन्धिला नाम देश के आगे अनादि निधन देवाद्रि नाम का श्रेष्ठ वक्षार पर्वत है। इसके शिखर पर सिद्धकूट, गन्धिला, गन्धमालिनी और देवकूट नाम के चार कूट हैं, इन्हीं मणिमय चार कूटों से वह पर्वत अलंकृत है ॥ १३६–१३७ ॥ देवाद्रि वक्षार के आगे गन्धमालिनी नाम का अद्भुत देश है, जिसके दो नदियों और विजयार्ध पर्वत के द्वारा छह खण्ड हुये हैं। इस देश के मध्य में और सीता महानदी की उत्तर दिशा में अवध्या नाम की श्रेष्ठ नगरी है, जो पुण्यकर्म की खान स्वरूप और स्वर्ग मोक्ष देने वाले धर्म की माता के समान है॥१३८–१३९॥ इस देश के बाद अन्त में अंह्रिप (   ) वृक्षों से सुशोभित, अनादि निधन, स्थूलकाय और दिव्य, पश्चिम भद्रशाल वन की वेदी है ॥१४०॥

अब वनों, वेदियों, वक्षार पर्वतों और देशों का आयाम कहते हैं :—

देवारण्यद्वयोर्भूतारण्याख्ययोर्वनद्वयोः ।
अष्टानां वनवेदीनां द्व्यष्टवक्षारभूभृताम् ॥१४१॥
द्वात्रिंशद्विषयानां चायामः स कीर्तितो बुधैः ।
सीताव्यासोन विस्तारो विदेहार्धस्यधो भुवि ॥१४२॥

अर्थ:—सीता नदी के विस्तार (५०० यो०) को विदेह के विस्तार (३३६८४$\frac{४}{१९}$ यो०) में से घटा (३३६८४$\frac{४}{१९}$ — ५००) कर शेष को आधा (३३१८४$\frac{४}{१९}$ ÷ २) करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतना ही आयाम प्रमाण (१६५९२$\frac{२}{१९}$ यो०) दो देवारण्यों, दो भूतारण्य वनों, आठ वन वेदियों, सोलह वक्षार पर्वतों और बत्तीस देशों का है ऐसा विद्वानों के द्वारा कहा गया है ॥१४१–१४२॥

उसी का विशेष कहते हैं :—

द्वि देवारण्यद्विभूतारण्याष्ट वेदिकाषोडशवक्षारद्वात्रिंशद्देशानां प्रत्येकमायामः षोडशसहस्र पंचशतद्विनवतियोजनानि योजनैकोनविंशति भागानां द्वे कले च।

अर्थ:—दो देवारण्यवनों दो भूतारण्य वनों, (चार वनों की) आठ वेदिकाओं, सोलह वक्षार पर्वतों और बत्तीस देशों में से प्रत्येक का आयाम सोलह हजार पाँच सौ बानवे योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग (१६५९२$\frac{२}{१९}$ यो०) प्रमाण है॥

अब कुण्डों का व्यास एवं गहराई कहते हैं :—

द्वादशप्रमकुण्डानां विभङ्गोत्पत्तिकारिणाम् ।
योजनानां शतं व्यासः पञ्चविंशतिसंयुतम् ॥१४३॥

सर्वत्र चावगाहो योजनैर्विंशतिसम्मितः ।
महांतस्तोरणद्वारवेद्याद्याः सन्ति शाश्वताः ॥१४४॥

अर्थः—बारह विभङ्गा नदियों की उत्पत्ति के कारण भूत बारह कुण्डों का व्यास एक सौ पच्चीस (१२५) योजन प्रमाण है और अवगाह सर्वत्र बीस योजन प्रमाण है। ये कुण्ड अनाद्यनिधन और विशाल तोरण द्वारों एवं वन वेदियों से युक्त हैं ॥१४३-१४४॥

अब विभंगा नदियों का आयाम कहते हैं :—

द्विषट्प्रमविभङ्गानामायामः प्रोदितः श्रुते ।
कुण्डव्यासोनदेशायामेन सादृश्य माश्रितः ॥१४५॥

द्वादशविभङ्गानदीनां प्रत्येकंदीर्घताषोडशसहस्रचतुःशतसप्तषष्टि योजनानि योजनैकोनविंश-भागानां द्वे कले।

अर्थः—देश के आयाम (१६५९२ २/१९ यो०) में से कुण्ड का व्यास (१२५ यो०) घटाने पर जो प्रमाण (१६५९२ २/१९—१२५=१६४६७ २/१९ यो०) रहता है, उसी के सदृश प्रत्येक विभङ्गा नदियों का आयाम आगम में कहा गया है ॥१४५॥

बारह विभङ्गा नदियों में से प्रत्येक विभङ्गा की दीर्घता (लम्बाई) सोलह हजार चार सौ सड़सठ योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण अर्थात् १६४६७ २/१९ योजन है।

अब विदेहस्थ रक्तादि ६४ नदियों का आयाम कहते हैं :—

चतुःषष्टिप्रमाणानां रक्तादिसरितां स्फुटम् ।
स्वकुण्डविस्तरोनोयो देशायामः स एव हि ॥१४६॥

रक्तारक्तोदागङ्गासिन्धुसंज्ञानां चतुःषष्टिनदीनामायामः प्रत्येकं षोडशसहस्रपञ्चशतैकोनत्रिंश-द्योजनानि द्वौ क्रोशौ योजनैकोनविंशति भागानां द्वौ भागौ ॥

अर्थः—विदेहस्थ गंगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तोदा इन ६४ नदियों में से प्रत्येक के आयाम का प्रमाण अपने-अपने कुण्ड के विस्तार (६२½ यो०) से हीन देश के आयाम (१६५९२ २/१९—६२½= १६५२९ २/१९ योजन और दो कोश) प्रमाण ही है ॥१४६॥

रक्ता, रक्तोदा, गङ्गा और सिन्धु इन ६४ नदियों में से प्रत्येक नदी की लम्बाई सोलह हजार पाँच सौ उन्तीस योजन दो कोस और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण है। अर्थात् १६५२९ $\frac{2}{19}$ योजन और दो कोस प्रमाण है।

इदानीं विदेहक्षेत्रस्य पूर्वापरेणायामः कथ्यते :—

मेरोर्विष्कम्भो दशसहस्रयोजनानि। भद्रशालवनद्वयो. चतुश्चत्वारिंशत्सहस्रयोजनानि च षोडशविषयानामेकीकृते विस्तरः पञ्चत्रिंशत्सहस्रचतुःशतषड्उत्तरयोजनानि। अष्टवक्षारादीनां पिण्डीकृतो व्यासः चतुःसहस्रयोजनानि। षड्विभङ्गनदीनामेकत्रीकृतो विष्कम्भः सार्धसप्तशतयोजनानि। देवारण्यभूतारण्यवनद्वयोर्मेलिता विस्तृतिः पञ्चसहस्राष्टशतचतुश्चत्वारिंशद्योजनानि। एवमेतेषां मेर्वादीनामेकत्रीकृतो व्यासः विदेहस्यायामो लक्षयोजनप्रमाणो भवति।

अर्थः—अब विदेहक्षेत्र का पूर्व-पश्चिम आयाम कहते हैं :—सुदर्शनमेरु का विष्कम्भ १०००० योजन, दोनों भद्रशाल वनों का ४४००० योजन, सोलह देशों का एकत्रित विस्तार ३५४०६ योजन, आठ वक्षार पर्वतों का एकत्रित व्यास ४००० योजन, छह विभङ्गा नदियों का एकत्रित व्यास ७५० योजन और देवारण्य भूतारण्य दोनों वनों का एकत्रित व्यास ५८४४ योजन प्रमाण है। इन सब मेरु आदि का एकत्रित व्यास (१००००+४४०००+३५४०६+४०००+७५०+५८४४=) एक लाख १००००० योजन होता है, विदेह क्षेत्र का पूर्व-पश्चिम आयाम भी यही एक लाख योजन प्रमाण है।

अब २६ श्लोकों द्वारा विदेह का विस्तृत वर्णन करते हैं :—

विदेहक्षेत्रदेशेषु सर्वेषु च पुरादिषु।
मणिहेममयास्तुङ्गा जिनप्रासादपंक्तयः ॥१४७॥

उत्तुङ्गतोरणाढ्याश्च रत्नबिम्बशतैर्भृताः।
रत्नोपकरणैः पूर्णा न कुदेवालयाः क्वचित् ॥१४८॥

सन्ति बह्व्यः स्फुरद्दीप्राजिनेन्द्रदिव्यमूर्तयः।
नृसुरैरर्चिता वन्द्या न नीचदेवमूर्तयः ॥१४९॥

तत्रत्यैः सर्वदा दक्षैरर्च्यन्ते जिनमूर्तयः।
विश्वाभ्युदयसर्वार्थसिद्ध्यै नाना विधार्चनैः ॥१५०॥

विवाहजातकर्मादि मङ्गलेष्वखिलेषु च।
परमेष्ठिन एवाहो न क्षेत्रपालकादयः ॥१५१॥

जिनेन्द्राः समवसृत्याश्रिता द्विषड्गणावृताः ।
सतां धर्मोपदेशादीन् ददतो विहरन्ति च ॥१५२॥
मुक्तिमार्गप्रवृत्यर्थं गणेशागणवेष्टिताः ।
चतुर्ज्ञानमहर्द्धीशा विहारं कुर्वतेऽनिशम् ॥१५३॥
शिष्यादिपरिवारेणावृताः सूरय ऊर्जिताः ।
विहरन्तोऽत्र दृश्यन्ते पञ्चाचारपराः सदा ॥१५४॥
पठन्तः पाठयन्तोऽन्यानङ्गपूर्वाण्यनेकशः ।
रत्नत्रयतपोभूषाः सन्त्युपाध्याययोगिनः ॥१५५॥
गिरिकन्दरदुर्गादिवनेषु निर्जनेषु च ।
साधवो ध्यानसंलीना महाघोरतपोऽङ्किताः ॥१५६॥
प्रवर्तकागुणैर्वृद्धा अन्ये वा संयतव्रजाः ।
सुमर्ख्यैर्वन्विताः पूज्या दृश्यन्तेऽत्रपवे पदे ॥१५७॥
इत्याद्या जिनयोगीन्द्रा निर्ग्रन्थाः स्युरनेकशः ।
मोक्षमार्गे स्थिता धीरा न स्वप्नेऽपि कुलिङ्गिनः ॥१५८॥
अङ्गपूर्वाणि सर्वाणि पठ्यन्ते यत्र योगिभिः ।
श्रूयन्ते श्रावकैर्नित्यं न कुशास्त्राणि जातुचित् ॥१५९॥
अहिंसालक्षणो धर्मः शाश्वतो वर्तते ऽनिशम् ।
सागारयमिनां द्वेधा स्वर्मुक्तिसुखसाधकः ॥१६०॥
व्रतशीलोपवासाद्यैर्जिनप्रणीत ऊर्जितः ।
न धूर्तजल्पितश्चान्यो हिंसोत्थो दुर्गतिप्रदः ॥१६१॥
वैश्याश्चक्षत्रियाः शूद्रा इति वर्णत्रयान्विता ।
प्रजा भद्रा विवेकज्ञा जिनधर्मपरायणा ॥१६२॥
न्यायमार्गरता नित्यं दृक्सद्वृत्ताद्यलंकृता ।
कुमार्गगा द्विजा नात्र न दुर्मतीर्थदुर्धियः ॥१६३॥
जैनसङ्घादिभेदो न पाखण्डदर्शनानि न ।
न मतान्तर एकोपि ह्येकं जिनमतं विना ॥१६४॥
वहत्येवानिशं मोक्षमार्गोऽत्रानन्तसौख्यदः ।
रत्नत्रयात्मकः सत्यो जिनेन्द्रोक्तो महात्मनाम् ॥१६५॥

अन्नत्याः श्रावका दक्षाः श्रावकव्रतधर्मतः ।
षोडशस्वर्गपर्यन्तं गच्छन्ति श्राविकास्तथा ॥१६६॥
केचिद्भोगमहीं पात्रदानपुण्येन भद्रकाः ।
जिनार्चा स्तुतिभक्त्याद्यैर्यान्ति चेन्द्रास्पदं विदः ॥१६७॥
नाकिनः कृतपुण्या येऽत्र स्वर्मोक्षसिद्धये ।
सत्कुलेषु प्रजायन्ते बहुश्रीभोगिनो बुधाः ॥१६८॥
यत्रोत्पन्नैः प्रयत्नेन साक्षान्मोक्षो हि साध्यते ।
रत्नत्रयतपोघोरैस्तत्र का वर्णना परा ॥१६९॥
यथैषा वर्णना प्रोक्ता विदेहे द्विविधेऽखिला ।
तथा शेषविदेहेषु ज्ञेया द्वीपापरद्वये ॥१७०॥
द्वीपेष्वर्ध तृतीयेषूत्कृष्टेन श्रीजिनेश्वराः ।
उत्पद्यन्ते यथचित्सर्वे सप्तत्यग्रं शतं परम् ॥१७१॥
तावन्तश्चक्रिणश्चैव जायन्ते नृसुरार्चिताः ।
सप्तत्यग्रशतेष्वार्यखण्डेष्वेकैकसंख्यकाः ॥१७२॥
जघन्येन जिनाधीशा भवन्ति विंशति प्रमाः ।
चक्राधिपाश्च सर्वत्र नृदेवखचरार्चिताः ॥१७३॥

अर्थः—विदेहक्षेत्रस्थ देशों के सर्व नगरों एवं ग्रामों आदि में मणिमय और स्वर्णमय जिन चैत्यालयों की पंक्तियाँ हैं। वे जिन मन्दिर उन्नत और प्रकाशमान तोरणों से युक्त, रत्नमय सहस्रों जिन बिम्बों से भरे हुये और रत्नमय उपकरणों से परिपूर्ण हैं, वहाँ कहीं भी कुदेवालय नहीं हैं ॥१४७-१४८॥ वहाँ पर मनुष्यों एवं देवगणों से पूजित और वन्दित तथा प्रकाशमान् दीप्ति से युक्त जिनेन्द्र भगवान् की दिव्यमूर्तियाँ ही प्रचुर मात्रा में हैं, नीच देवों की मूर्तियाँ नहीं हैं ॥१४९॥ वहाँ उत्पन्न होने वाले प्रवीण पुरुष समस्त अभ्युदय सुख एवं अन्य समस्त सर्व अर्थ की सिद्धि के लिये नानाप्रकार की पूजनविधि से जिनेन्द्र भगवान को ही पूजते हैं ॥१५०॥ विवाह एवं जन्म आदि कार्यों में तथा अन्य समस्त मङ्गल कार्यों में एक परमेष्ठी अर्थात् अर्हन्त, सिद्ध आदि का ही पूजन होता है, क्षेत्रपाल आदि का नहीं ॥१५१॥ समवसरण के आश्रित होने वालीं बारह सभाओं से घिरे हुये जिनेन्द्र भगवान् सज्जन पुरुषों को उपदेश देते हैं और विहार भी करते हैं ॥१५२॥ चार ज्ञान के धारी, महाऋद्धियों के अधीश्वर तथा मुनिगणों से वेष्टित गणधरदेव मुक्ति मार्ग की प्रवृत्ति के लिये निरन्तर विहार करते हैं। ॥१५३॥ विदेह क्षेत्र में पञ्चाचार परायण तथा शिष्य आदि परिवार से वेष्टित महान आचार्य निरंतर

विहार करते हुये दिखाई देते हैं ।।१५४।। वहाँ पर अङ्ग और पूर्व रूप जिनागम को स्वयं पढ़ते हुये और अन्य मुनिगणों को पढ़ाते हुये तथा रत्नत्रय एवं तप से विभूषित अनेक उपाध्याय परमेष्ठी हैं।।१५५।। वहाँ पर उत्तम ध्यान में संलग्न तथा महाघोर तप से आलीढ़ साधु पर्वतों पर, कन्दराओं में, दुर्ग आदि में, वनों में तथा और भी अन्य निर्जन स्थानों में निवास करते हैं ।।१५६।। विदेह क्षेत्र में उत्तम भव्य जीवों के द्वारा वन्दित एवं पूजित प्रवर्तक साधु, गुणसमूह से वृद्ध-महान् साधु तथा अन्य और भी यति समूह पद पद पर दिखाई देते हैं ।।१५७।। इस प्रकार इनको आदि लेकर जिनेन्द्र भगवान्, योगियों के अधिनायक आचार्य आदि तथा अनेक प्रकार के धैर्यवान् निर्ग्रन्थ साधु मोक्षमार्ग में स्थित रहते हैं। वहाँ स्वप्न में भी कुलिङ्गी साधुओं के दर्शन नहीं होते ।।१५८।। योगिजन अङ्ग पूर्व आदि के समस्त आगम को पढ़ते हैं और श्रावक गण नित्य ही सुनते हैं। खोटे शास्त्र वहाँ पर कभी भी नहीं सुनते ।।१५९।। स्वर्ग और मोक्ष सुख का जो साधक है, श्रावक धर्म और मुनि धर्म के भेद से जो दो प्रकार है तथा अहिंसा ही जिसका लक्षण है, ऐसा अनाद्यनिधन धर्म ही वहाँ निरंतर प्रवर्तित रहता है ।।१६०।। वहाँ पर व्रत, शील और उपवास आदि के द्वारा जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित श्रेष्ठ धर्म का ही सेवन होता है। धूर्तों के द्वारा कहा हुआ तथा अन्य हिंसा आदि से उत्पन्न और दुर्गति प्रदाता धर्म नहीं है। ।।१६१।। वहाँ की प्रजा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों से समन्वित है, भद्रपरिणामी अर्थात् कुटिलता रहित है, विवेकवान एवं ज्ञानवान् है, जिनधर्मपरायण, न्यायमार्ग में आरूढ़ और सम्यग्दर्शन ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से अलंकृत है। वहाँ पर मिथ्यामतों से उत्पन्न होने वाली खोटी बुद्धि को धारण करने वाले मनुष्य नहीं हैं, तथा कुमार्गगामी द्विज-ब्राह्मण भी नहीं हैं ।।१६२-१६३।।

वहाँ जैन संघों में भेद नहीं हैं, न वहाँ पाखण्डी दर्शन हैं और न एक अद्वितीय जिनमत के बिना अन्य कोई मतान्तर हैं ।।१६४।। वहाँ पर जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ, अनन्त सुख प्रदाता: रत्नत्रयात्मक सत्य मोक्षमार्ग का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है ।।१६५।। यहाँ उत्पन्न होने वाले निपुण श्रावक एवं श्राविकाएँ श्रावक धर्म के प्रभाव से सोलह स्वर्ग पर्यन्त जाते हैं। कोई भद्रपरिणामी गृहस्थ पात्रदान के प्रभाव से भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं, और कोई बुद्धिमान् जन जिनेन्द्र भगवान् की पूजा, स्तुति एवं भक्ति आदि के द्वारा इन्द्र पद प्राप्त करते हैं ।।१६५-१६७।। बहुत प्रकार के भोगों को भोगने वाले जो विवेकी देव स्वर्ग में पुण्यकर्मा हैं वे वहाँ से चय होकर स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि के लिये विदेह क्षेत्रस्थ उत्तम कुलों में जन्म लेते हैं ।।१६८।। वहाँ उत्पन्न होने के बाद रत्नत्रय युक्त घोर तपश्चरण के द्वारा वे प्रयत्नपूर्वक साक्षात् मोक्ष को ही साधते हैं। वहाँ का अन्य और क्या वर्णन किया जाय ।।१६९।। पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह का यहां समस्त वर्णन जैसा किया गया है, वैसा ही धातकी खण्ड और पुष्करार्धगत विदेह क्षेत्रों का जानना चाहिये ।।१७०।। अढ़ाई द्वीप में उत्कृष्ट रूप से एक साथ एक सौ सत्तर तीर्थंकर उत्पन्न हो सकते हैं। मनुष्यों और देवों से अर्चित चक्रवर्ती भी एक साथ एक सौ सत्तर हो सकते हैं। पञ्च मेरु सम्बन्धी १६० विदेह देशों के १६० आर्य खण्ड और पांच

भरत एवं पांच ऐरावत सम्बन्धी १० आर्य खण्ड, इस प्रकार एक सौ सत्तर आर्य खण्ड हैं, इनमें से एक एक आर्य खण्ड में एक-एक तीर्थंकर और एक-एक ही चक्रवर्ती उत्पन्न हों तो १७० हो सकते हैं। ॥१७१-१७२॥ जघन्य रूप से सर्व क्षेत्रों में (सर्वत्र) मनुष्यों, देवों एवं विद्याधरों से पूजित तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती मात्र बीस हो सकते हैं। बीस से कम कभी नहीं होते ॥१७३॥

अब जम्बूद्वीपस्थ समस्त पर्वतों की एकत्रित संख्या कहते हैं :—

जम्बूद्वीपे महामेरुरेकः षट्कुलपर्वताः ।
चत्वारो गजदन्ताश्च द्व्यष्टवक्षारभूधराः ॥१७४॥
अष्टौ दिग्गजशैलाः स्युश्चत्वारो यमकाद्रयः ।
चत्वारो नाभिशैलाश्च द्विशते काञ्चनाद्रयः ॥१७५॥
विजयार्धाश्चतुस्त्रिंशत्तावन्तो वृषभाद्रयः ।
सर्वे पिण्डीकृता एते त्रिशतैकादशोत्तराः ॥१७६॥

अर्थः—जम्बूद्वीप में एक सुदर्शनमेरु, छह कुलाचल पर्वत, चार गजदन्त, सोलह वक्षार पर्वत, आठ दिग्गज पर्वत, चार यमकगिरि, चार नाभिगिरि, दो सौ काञ्चन पर्वत, चौंतीस विजयार्ध और चौंतीस वृषभाचल पर्वत हैं। इन सबको एकत्रित करने पर जम्बूद्वीपस्थ (१+६+४+१६+८+४+४+२००+३४+३४=) ३११ पर्वत होते हैं ॥१७४-१७६॥

अब अवशेष द्वीपों के पर्वतों की संख्या कहते हैं :—

एतेभ्यो द्विगुणाः सन्ति मेर्वाद्या अद्रयोऽखिलाः ।
द्वीपे च धातकीखण्डे पुष्करार्धे तथापरे ॥१७७॥

अर्थः—धातकी खण्ड में और पुष्करार्ध द्वीप में मेरु आदि पर्वतों की संख्या जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है। अर्थात् धातकी खण्ड में ६२२ पर्वत और पुष्करार्ध द्वीप में ६२२ पर्वत हैं ॥१७७॥

अब जम्बूद्वीपस्थ वन, वृक्ष, सरोवर एवं महादेशों आदि की संख्या का दिग्दर्शन कराते हैं :—

जम्बूद्वीपे वनेद्वेस्तो भद्रशालाह्वये परे ।
जम्बूशाल्मलिवृक्षौ च कुलाचलस्थ षड्ह्रदाः ॥१७८॥
सीतासीतोदयोर्मध्ये ह्रदाः स्युर्विंशति प्रमाः ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्ट भेदैः षड् भोगभूमयः ॥१७९॥
चतुस्त्रिंशन्महादेशा भरतैरावतान्विताः ।
स्युर्नगर्यश्चतुस्त्रिंशदार्यखण्डान्तर स्थिताः ॥१८०॥

भवन्त्युपसमुद्राश्चतुस्त्रिंशच्छाश्वतेतरा: ।
दैवारण्यमिहैकौ द्वे भूतारण्यसद्वने ॥१८१॥

अर्थ:—जम्बूद्वीप में पूर्वभद्रशाल और पश्चिम भद्रशाल नाम के दो वन हैं। जम्बू और शाल्मली नाम के दो वृक्ष हैं। छह कुलाचलों पर छह सरोवर हैं। सीतासीतोदा के मध्य में बीस ह्रद हैं। दो जघन्य भोगभूमियाँ, दो मध्यम और दो उत्कृष्ट, इस प्रकार छह भोगभूमियाँ हैं। भरतैरावत सहित चौंतीस महादेश हैं और आर्य खण्डों में स्थित चौंतीस ही नगरी (राजधानियाँ) हैं। अनाद्यनिधन चौंतीस उपसमुद्र हैं, एवं देवारण्य नाम के दो तथा भूतारण्य नाम के दो उत्तम वन हैं॥१७८-१८१॥

अब जम्बूद्वीपस्थ समस्त नदियों का विवेचन करते हैं :—

द्वादशैव विभाङ्गाख्या नद्यस्तास्ताश्च पिण्डिताः ।
परिवाराह्वयानद्यस्त्रिलक्षसहितान्यपि ॥१८२॥
स्युः षड्त्रिंशत्सहस्राणि विदेहक्षेत्रमध्यगाः ।
गङ्गाद्याः क्षुल्लिका नद्यश्चतुःषष्टिप्रमाणकाः ॥१८३॥
आसां पिण्डीकृताः सर्वाः परिवारस्थनिम्नगाः ।
षण्णवतिसहस्राणिह्यष्टलक्षयुतान्यपि ॥१८४॥
चतुर्दशमहानद्यः सप्तक्षेत्रान्तराध्वगाः ।
गङ्गादिप्रमुखास्तासां परिवारनदीव्रजाः ॥१८५॥
मेलिताः पञ्चलक्षाग्रसहस्रषष्टिसम्मिताः ।
सप्ताग्रदशलक्षाणि द्वियुता नवतिस्तथा ॥१८६॥
सहस्राणि नवत्या सहेति संख्या जिनोदिताः ।
मूलोत्तरनदीनां सर्वासां द्वीपे किलादिमे ॥१८७॥

अर्थ:—विदेह क्षेत्र में विभङ्गा नदियाँ १२ हैं, (प्रत्येक नदी की सहायक नदियां २८००० हैं, अत: २८००० × १२ =) इनकी समस्त परिवार नदियों का योग ३३६००० होता है। विदेह देशस्थ गङ्गासिन्धु और रक्ता-रक्तोदा ६४ हैं, (इनमें प्रत्येक की परिवार नदियां १४००० हैं) अतः इनकी परिवार नदियों का कुल योग (१४००० × ६४ =) ८९६००० होता है॥१८२-१८४॥ जम्बूद्वीपस्थ सात क्षेत्रों के मध्य में बहने वाली गंगादि चौदह महानदियाँ हैं, जिनकी परिवार नदियों का कुल योग (गंगा,सिन्धु,रक्ता और रक्तोदा की १४००० × ४ = ५६००० + रोहित, रोहितास्या, स्वर्णकूला, रूप्यकूला की २८००० × ४ = ११२००० + हरि,हरिकांता, नारी, नरकान्ता की ५६००० × ४ = २२४००० + और सीता, सीतोदा की १६८००० =) १७९२००० है। इनमें मूल नदियां (१४ + १२ + ६४ =) ९० और मिला देने से जम्बूद्वीपस्थ कुल नदियों का योग १७९२०९० होता है॥१८५-१८७॥

अब इसी प्रमाण को पुनः कहते हैं :—

सर्वजम्बूद्वीपस्य भरतादिसप्तक्षेत्रेषु सर्वाः मूलपरिवारनद्यः एकत्रीकृताः सप्तदशलक्ष-द्विनवति-सहस्रनवतिप्रमा ज्ञातव्याः ।

अर्थः—जम्बूद्वीपस्थ भरतादि सात क्षेत्रों में मूल और परिवार नदियों का सर्व योग १७९२०९० प्रमाण जानना चाहिये ।

अब कुण्डों का प्रमाण एवं शेष द्वीपों के भद्रशाल आदि का प्रमाण कहते हैं :—

गङ्गादिपातदेशेषु कुण्डान्येव चतुर्दश ।
विभंगाक्षुल्लकानिम्नगाश्च षट्सप्ततिः स्फुटम् ॥१८८॥
भद्रशालसरिज्जम्बूवृक्षादयोऽखिला अमी ।
द्विगुणा धातकीखण्डे पुष्करार्धे भवन्ति च ॥१८९॥

अर्थः—जम्बूद्वीप में गंगादि चौदह महानदियों के पतन स्वरूप चौदह कुण्ड हैं, और बारह विभङ्गा एवं ६४ गंगादि छोटी नदियों के निकलने के (६४+१२) छिहत्तर (७६) कुण्ड हैं । इस प्रकार कुल ९० कुण्ड हैं ॥१८८॥ जम्बूद्वीप में भद्रशाल आदि वन, जम्बू आदि वृक्ष एवं नदियों आदि का जो-जो प्रमाण कहा है, धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीप में वह सब प्रमाण दूना-दूना जानना चाहिये ॥१८९॥

अब आचार्य विदेहक्षेत्र के प्रति आशीर्वचन कहते हैं :—

यत्रोच्चैः पदसिद्धये सुकृतिनोजन्माश्रयन्तेऽमरा,
यस्मान्मुक्तिपदं प्रयान्तितपसा केचिच्चनाकं व्रतैः ।
तीर्थेशा गणनायकाश्च गणिनः श्रीपाठकाः साधवः,
सङ्घाढ्याविहरन्ति सोऽत्रजयतान्नित्यो विदेहो गुणैः ॥१९०॥

अर्थः—जहाँ पर पुण्यशाली देव गण मोक्षपद की प्राप्ति के लिये जन्म लेते हैं । जहाँ से कितने ही भव्य जन समीचीन तप के द्वारा मोक्षपद प्राप्त करते हैं, कितने ही व्रतों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं, तथा जहाँ पर तीर्थंकर देव, गणधर देव, आचार्य, उपाध्याय और साधुगण संघ सहित विहार करते हैं, और जहाँ से रत्नत्रय आदि गुणों के द्वारा देह से रहित होते हैं ऐसा वह विदेह क्षेत्र नित्य ही जयवन्त रहो ॥१९०॥

अधिकारान्त मङ्गलाचरण :—

ये तीर्थेशाः सुरार्च्या जगति हितकराः सद्विदेहे च जाता,
अस्माद्ये मोक्षमाप्ता हतविधिवपुषोज्ञानरूपाश्च सिद्धाः ।

आचार्याः पाठकाये गुणगणनिलयाः साधवः साधितार्था-
स्ते सर्वे सङ्गहीना निजगुणगतये वन्दिताः सन्तुमेऽद्य ॥१६१॥

इति श्रीसिद्धान्तसारदीपकमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते विदेहाऽखिल-देशादिवर्णनोनामाष्टमोध्याय ॥८॥

अर्थः—विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले, जगत का सर्वोपरि हित करने वाले और देवसमूह से अर्चित तीर्थंकर देव, कर्म और शरीर को नाश करके मोक्ष प्राप्त करने वाले ज्ञानशरीरी सिद्ध परमेष्ठी, गुणसमूह के आलय आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठी तथा मोक्ष प्राप्ति का साधन करने वाले समस्त निर्ग्रन्थ साधु जो कि आज मेरे द्वारा वन्दित हैं, वे सब मेरे निजगुणों की प्राप्ति के लिये हों। अर्थात् मुझे मोक्षगति प्राप्त करने में सहायक हों ॥१६१॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसारदीपक नाम महाग्रन्थ में

विदेहक्षेत्रस्थ सम्पूर्ण देशों आदि का वर्णन करने वाला

आठवाँ अधिकार समाप्त ॥

नवमोऽधिकारः

मङ्गलाचरण:—

आदिमध्यान्तसञ्जातान् तुर्ये काले जगद्धितान् ।
त्रिजगद्दीपकान् वन्दे ज्ञानाय परमेष्ठिनः ॥१॥

अर्थ:—चतुर्थकाल के आदि, मध्य और अन्त में उत्पन्न होने वाले, त्रैलोक्य का हित करने वाले और तीनों जगत को प्रकाशित करने के लिये दीपक के सदृश पञ्चपरमेष्ठियों के ज्ञान प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥

छह कालों का सामान्य वर्णन :—

अथ येऽत्र प्रवर्तन्ते कालाः षट् षट् पृथग्विधाः ।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ भरतैरावतेषु च ॥२॥
एकैकनित्यरूपेण विदेहादिजगत्त्रये ।
वक्ष्ये तेषां पृथग्भूतं स्वरूपं वर्तनादिभिः ॥३॥

अर्थ:—भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों (के आर्य खण्डों) में उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल सम्बन्धी भिन्न-भिन्न छह-छह कालों का वर्तन होता है, और विदेह आदि तीनों लोकों में अवस्थित रूप से एक-एक काल का वर्तन होता है। अब यहाँ मैं वर्तनादि के द्वारा उनका भिन्न-भिन्न स्वरूप कहूँगा ॥२-३॥

अब प्रथम काल का सामान्य वर्णन करते हैं :—

अमीषां प्रथमः कालः सुषमासुषमाह्वयः ।
सुखाकरोऽवसर्पिण्यामुत्कृष्टभोगभूमिवत् ॥४॥
सागराणां चतुःकोटि कोटिप्रमाणउत्तमः ।
तस्यादौ तपनीयाभास्त्रिपल्योपमजीविताः ॥५॥
क्रोशत्रयोन्नता आर्या बदरीफलमात्रकम् ।
भुञ्जना दिव्यमाहारं गते दिनत्रये सति ॥६॥
उत्कृष्टपात्रदानोत्थोत्कृष्टपुण्येन सन्ततम् ।
भुञ्जन्त्युत्कृष्टसद्भोगान् दशांगकल्पवृक्षजान् ॥७॥

अर्थः—अवसर्पिणी काल के इन छह कालों में से सुख के आकर स्वरूप प्रथम काल का नाम सुषमासुषमा है, जहां की रचना उत्कृष्ट भोगभूमि के सदृश होती है ।।४।। इस काल का प्रमाण चार कोड़ाकोड़ सागरोपम (४०००००००००००००० सागर) होता है। इस काल के आदि में जीवों की आयु का प्रमाण तीन पल्योपम, शरीर की कान्ति तपाये हुए स्वर्ण के सदृश और ऊँचाई तीन कोश (छह हजार धनुष) प्रमाण होती है। 'आर्य' इस नाम को धारण करने वाले मनुष्य तीन दिन बाद बदरीफल प्रमाण दिव्य आहार का भोजन करते हैं ।।५-६।। उत्तम पात्रदान के फल से उत्पन्न उत्कृष्ट पुण्य के द्वारा यहाँ उत्पन्न होने वाले जीव दश प्रकार के कल्पवृक्षों से है उत्पत्ति जिनकी ऐसे उत्कृष्ट भोगों को निरन्तर भोगते हैं ।।७।।

अब दशप्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन करते हैं :—

मद्यवाद्यविभूषास्रग्दीपज्योतिर्गृहाङ्गकाः ।
भोजनाङ्गास्तथा भाजनवस्त्राङ्गा दशेत्यमी ।।८।।
मद्यांगा वितरन्त्येषां ततामोदान् रसोत्कटान् ।
सारान् सुधोपमान् कामोद्दीपकान् मद्यवत्तराम् ।।९।।
भेरीपटहशंखादीन्नाना वाद्यान् फलन्ति च ।
वाद्याङ्गागीतनृत्यादौ वीणामृदंग-भल्लरीः ।।१०।।
स्वर्णरत्नमयान् दीप्तान् दिव्यांश्च भूषणांगकाः ।
हारकुण्डलकेयूरमुकुटादीन् ददत्यलम् ।।११।।
स्रजो नानाविधादिव्याः सर्वर्तु कुसुमांकिताः ।
स्नुवन्ते भोगसौख्यायार्याणां सदा स्रगंगकाः ।।१२।।
ध्वस्तध्वान्ताश्च दीपांगामणिदीपैर्विभान्त्यलं ।
ज्योतिरंगा महोद्योतमातन्वन्ति स्फुरद्रुचः ।।१३।।
तुंगसौधसभागेहमण्डपादीन् गृहांगकाः ।
चित्रनर्तनशालाश्च विधातुं सर्वदा क्षमाः ।।१४।।
अन्नादिचतुराहारानमृतस्वादुदायिनः ।
दिव्यांश्च षड्रसान् पुण्याद् भोजनांगा ददत्यहो ।।१५।।
हेमस्थालानि भृंगारान् चषकान् करकादिकान् ।
भाजनांगा दिशन्त्याविर्भवच्छाखाग्रसत्फलाः ।।१६।।

मृदुसूक्ष्माणिवस्त्राणि पट्टकूलानि संततम् ।
वितरन्ति च वस्त्रांगाः प्रावारपरिधानकान् ॥१७॥
न वनस्पतयोऽमी ते नापिदेवैरधिष्ठिताः ।
केवलं पृथिवीसारमया निसर्गसुन्दराः ॥१८॥
अनादिनिधनाः कल्पद्रुमाः सत्पात्रदानतः ।
संकल्पितमहाभोगान् दशमेवांछ्युतोपमान् ॥१९॥
फलन्ति दानिनां प्रीत्यै यथैते पादपा भुवि ।
सर्वरत्नमयं दीप्रं भात्यत्र भूतलं परम् ॥२०॥

अर्थः- प्रथम काल में मद्यांग (पानांग), वाद्यांग, भूषणांग, मालांग, दीपांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भोजनांग, भाजनांग और वस्त्रांग ये दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं। इनमें से मद्यांग नाम के कल्पवृक्ष प्रमोद बढ़ाने वाले, मद्य के समान कामोद्दीपक, अमृत की उपमा को धारण करने वाले और श्रेष्ठ (वीर्यवर्धक) (३२ प्रकार के) उत्कृष्ट रसों को देते हैं ॥८-९॥ वाद्यांग कल्पवृक्ष, भेरी, पटह, शङ्ख आदि तथा गीत नृत्य आदि के उपयोग में आने वाले वीणा, मृदंग और झल्लरी आदि वाद्यों को देते हैं ॥१०॥ भूषणांग कल्पवृक्ष स्वर्ण और रत्नमय देदीप्यमान् हार, कुण्डल, केयूर और मुकुट आदि दिव्य आभूषण देते हैं ॥११॥ स्रगंगकल्पवृक्ष वहाँ के आर्य मनुष्यों के भोग और सुख के लिये सर्व ऋतुओं के फूलों से बनी हुई नाना प्रकार की दिव्य मालाएँ देते हैं ॥१२॥ दीपांग कल्पवृक्ष मणिमय दीपों के द्वारा अन्धकार को नष्ट करते हुए सुशोभित होते हैं। ज्योतिरंग कल्पवृक्ष देदीप्यमान् ज्योति से महान् प्रकाश फैलाते हैं ॥१३॥ गृहांग वृक्ष निरन्तर ऊँचे-ऊँचे प्रासाद, सभागृह, मण्डप आदि तथा चित्र शालाएँ और नृत्य आदि शालाएँ देने में समर्थ हैं ॥१४॥ भोजनांग कल्पवृक्ष पुण्य के प्रभाव से अन्न, पान, खाद्य और लेह्य यह चार प्रकार का अमृततुल्य, उत्तम स्वाद देने वाला, छह रसों से युक्त और दिव्य आहार देते हैं ॥१५॥ भाजनांग कल्पवृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग पर स्वर्णमय थालियाँ, भृंगार, कटोरा और करक (जलपात्र) आदि प्रगट होते हैं ॥१६॥

वस्त्रांग कल्पवृक्ष निरन्तर मृदु एवं बारीक रेशम आदि के वस्त्र और धोती दुपट्टा तथा अभ्यंतर में पहिनने योग्य वस्त्रों को देते हैं ॥१७॥ ये दशों प्रकार के कल्पवृक्ष न वनस्पतिकाय हैं और न देवों के द्वारा अधिष्ठित हैं, ये तो केवल पृथ्वी के सारमय, स्वाभाविक सुन्दर और अनादिनिधन हैं। सत्पात्र दान के प्रभाव से उपमा रहित ये कल्पवृक्ष मनोवांछित उत्तम भोगों को देते हैं। पृथ्वी पर जैसे अन्य वृक्ष फल देते हैं उसी प्रकार दानियों के फल प्राप्ति के लिए ये वृक्ष फलते हैं, यहाँ की सर्व रत्नमय चमकती हुई उत्कृष्ट भूमि अत्यन्त सुशोभित होती है ॥१९-२०॥

भोगभूमि का अवशेष वर्णन :—

मृगाश्चरन्ति तत्रत्या मृदुस्वादुतृणान्यपि ।
चतुरंगुलमानानि रसायनरसास्थया ॥२१॥
न तत्रातपजा बाधा शीतो वृष्टिर्न जातुचित् ।
ऋतवो नाप्यहोरात्रं किञ्चिन्नाशर्मकारणम् ॥२२॥

अर्थः—वहाँ पर मृदु और सुस्वादु चार अंगुल प्रमाण तृण उत्पन्न होता है जिसे मृग रसायन के स्वाद की वाञ्छा से चरते हैं ॥ २१ ॥ वहाँ पर न गर्मी जन्य बाधा होती है, न कभी शीत जन्य, न वर्षा जन्य और न कभी ऋतुओं के परिवर्तन जन्य बाधा होती है। उन्हें रात्रि दिन में दुःख के कारण किञ्चित् भी प्राप्त नहीं होते ॥२१-२२॥

अब भोगभूमिज जीवों की उत्पत्ति एवं वृद्धि आदि का वर्णन करते हैं :—

सद्यो जातार्यबालानां दिनसप्तान्तमुद्धरम् ।
भवेदुत्तानशय्यायामंगुल्याहार उत्तमः ॥२३॥
ततः सप्तदिनान्येषां धरिणोरङ्गरिङ्गिणाम् ।
दम्पतीनां मनोज्ञः स्यात्किञ्चिद्वृद्धया दशान्तरः ॥२४॥
सप्ताहेनापरेणैते प्रोत्थाय कलभाषिणः ।
सञ्चरन्ति स्वयं भूमौ स्खलगति सहेलया ॥२५॥
पुनः स्थिरपदन्यासैर्व्रजन्ति दिनसप्तकम् ।
सप्ताहं निर्विशंत्युच्चैः कलाज्ञानादिसद्गुणैः ॥२६॥
अन्यैः सप्तदिनैस्ते स्युः सम्पूर्णनवयौवनाः ।
दिव्यांशुकसुभूषाढ्याः स्त्रीनरा भोगभागिनः ॥२७॥
स्थित्वातिनिर्मले गर्भे नवमासान् स्त्रियःशुभान् ।
एत्य दम्पतितामत्रोत्पद्यन्ते दानिनो नराः ॥२८॥
यदा दम्पति सम्भूतिस्तदा मृत्युः स्फुटं भवेत् ।
जनयित्रोस्ततोऽमीषां संकल्पो न सुतादिजः ॥२९॥

अर्थः—तत्काल उत्पन्न हुए आर्य बालकों का सात दिन पर्यन्त शय्या पर सीधे सोते हुए अंगुली में स्थित उत्कट एवं उत्तम रस का आहार होता है ॥२३॥ इसके पश्चात् सात दिन पर्यन्त पृथ्वी पर रेंगते हुए वे अति मनोज्ञ स्त्री पुरुष किञ्चित् वृद्धि के द्वारा अन्य दशा को प्राप्त होते हैं। अर्थात् कुछ

बड़े हो जाते हैं ॥२४॥ अन्य सात दिनों में वे उठ कर सुन्दर वचन बोलते हैं और स्वयं अपनी इच्छा से क्रीड़ा करते हुए अस्थिर गति से भूमि पर चलते हैं ॥२५॥ पुनः सात दिन पर्यन्त स्थिर पैर रखते हुए चलते हैं, और अन्य सात दिनों में वे ज्ञान कला आदि सद्गुणों के द्वारा परिपूर्ण हो जाते हैं ॥२६॥ अन्य सात दिनों के द्वारा दिव्य वस्त्राभूषणों से युक्त और अखण्ड भोग-भोगने वाले वे स्त्री पुरुष सम्पूर्ण नव यौवन सम्पन्न हो जाते हैं ॥२७॥ दानी मनुष्य शुभ योग से भोगभूमिज स्त्रियों के अत्यन्त निर्मल गर्भ में नौ मास स्थित रह कर उत्पन्न होते हैं और पश्चात् वे ही दम्पतिपने को प्राप्त हो जाते हैं ॥२८॥ जब नवीन दम्पति उत्पन्न होते हैं तभी उत्पन्न करने वाले दम्पति मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, इसीलिए माता पिता पुत्रादि की उत्पत्ति के सुख से रहित होते हैं। अर्थात् ये पुत्र पुत्री हैं इस संकल्प से रहित होते हैं ॥२९॥

अब भोगभूमिज जीवों की अन्य विशेषताएँ कहते हैं :—

आजन्ममरणान्तं नार्याणां रोगो मनाक् क्वचित् ।
न चेष्टादिवियोगो नानिष्टसंयोगशोचनम् ॥३०॥
न चिन्ता दीनता नैव नाप्युन्मेषनिमेषणम् ।
न निद्रा नातितन्द्रा नो लाला स्वेदोद्भवो न च ॥३१॥
मलं मूत्रं न शारीरं कामभोगे न खण्डता ।
विरहो नाशुभोन्मादो नेर्ष्या न च पराभवः ॥३२॥
विषादो न भयं ग्लानिर्नं च किञ्चिद् विरूपकम् ।
अन्यद् वा जायते दुःखहेतुः स्वप्नेऽपि भोगिनाम् ॥३३॥
आदि संहनना आदि संस्थाना दिव्यरूपिणः ।
समभोगोपभोगास्ते सर्वे मन्दकषायिणः ॥३४॥
स्वभावसुन्दराकाराः स्वभावसौम्यमूर्तयः ।
स्वभावमधुरालापाः स्वभावगुणभूषिताः ॥३५॥

अर्थः—भोगभूमिज मनुष्यों के जन्म से मरण पर्यन्त न कभी किंचित् भी रोग होता है, न इष्ट आदि का वियोग, न अनिष्ट आदि का संयोग और न शोच आदि होता है, न चिन्ता है, न दीनता है और न नेत्रों का उन्मेषनिमेष अर्थात् पलकों का झपकना है। न अति निद्रा है, न अति तन्द्रा, न मुख से लार और न शरीर से पसीना की उद्भूति होती है, शरीर सम्बन्धी मलमूत्र भी नहीं होता, और न काम भोग में कभी खंडता आती है, न कभी विरह होता है, न अशुभ उन्माद होता है, न ईर्षा भाव है, न पराभव है, न विषाद है, न भय है, न ग्लानि है, और न शरीर आदि में किञ्चित् भी विरूपता होती है। उन भोगी जीवों के स्वप्न में भी अन्य कोई दुःख के कारण उत्पन्न नहीं होते ॥३०-३३॥ वे सर्व भोगभूमिज जीव

प्रथम (वज्रर्षभवज्रनाराच) संहनन और प्रथम समचतुरस्र संस्थान से युक्त, दिव्य रूप सम्पन्न, मन्द-कषायी एवं समान भोग उपभोग वाले होते हैं। वे स्वभावतः सुन्दर आकार वाले, स्वभावतः सौम्य मूर्ति, स्वभावतः मधुर भाषी और स्वभावतः अनेक गुण विभूषित होते हैं ॥३४-३५॥

दाता और पात्रदान के भेद से फल में भेद होता है, यह बताते हैं :—

आर्या आर्यस्वभावास्ते सत्पात्रदानपुण्यतः ।
दशधाकल्पवृक्षोत्थान् भोगान् भुञ्जन्त्यहर्निशम् ॥३६॥

भद्रकाः पात्रदानेन केचिद् दानानुमोदतः ।
स्त्रीनरा चात्र तिर्यञ्चो जायन्ते भोगभागिनः ॥३७॥

अव्रता दृष्टिहीनाश्च कुपात्रदानतो मृगाः ।
उत्पद्यन्तेऽल्पशर्माणो युग्मरूपेण भद्रकाः ॥३८॥

अर्थः—सत्पात्रदान के पुण्य से जीव भोगभूमि में आर्य और आर्या भाव से उत्पन्न होकर अहर्निश दश प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोगों को भोगते हैं ॥३६॥ कुटिलता रहित भद्र परिणामी कोई जीव पात्रदान के फल से और कोई दान की अनुमोदना से वहाँ पर भोग भोगने वाले स्त्री, पुरुष और तिर्यञ्च होते हैं ॥३७॥ व्रत रहित और सम्यक्त्व रहित कोई जीव कुपात्रों को दान देते हैं, और उसके फल स्वरूप भोगभूमि में अल्पसुख से युक्त, युगल रूप से भद्र परिणामी मृग आदि पर्यायों में उत्पन्न होते हैं ॥३८॥

अब भोगभूमिज जीवों के मरण का कारण और प्राप्त होने वाली गति कहते हैं:—

आयुषोऽन्ते विमुच्यासून् क्षुता जृम्भकया ततः ।
आर्याः स्त्रियो दिवं यान्त्यार्जवभावेन नान्यथा ॥३९॥

अर्थः—आयु के अन्त में पुरुष और स्त्री क्रमशः छींक एवं जम्भाई के द्वारा प्राणों को छोड़ कर आर्जव (सरल) भावों के कारण स्वर्ग ही जाते हैं, अन्य गतियों में नहीं जाते ॥३९॥

अब द्वितीय और तृतीय कालों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं :—

ततः कालो द्वितीयोऽस्ति सुषमाख्यः सुखाङ्कितः ।
त्रिकोटीकोटिवाराशिप्रमो मध्यमभोगकृत् ॥४०॥

तस्यादौ पूर्णचन्द्राभा द्विक्रोशोच्चसुविग्रहाः ।
द्विपल्यायुष्कअखण्डितपुण्यका अक्षमानाग्न्भोजिनः ॥४१॥

दिनद्वये गते मध्यमपात्रदानजाच्छुभात् ।
भोगान् दशविधानार्या भजन्ति कल्पवृक्षजान् ॥४२॥

अन्यत्सर्वं समानं स्यादत्राद्यकालवर्तनैः ।
ततस्तृतीयकालोऽस्ति सुषमादुःषमाभिधः ॥४३॥

जघन्यभोगभूयुक्त आद्यसौख्यान्तदुःखधृत् ।
द्विकोटीकोटिपूर्णाब्धिस्थितिः कल्पद्रुमाश्रितः ॥४४॥

अस्यादौ मानवाः सन्ति पल्यैकाखण्डजीविनः ।
प्रियंगुश्यामवर्णाङ्गाः क्रोशैकोन्नतविग्रहाः ॥४५॥

दिनान्तरेण सौख्यायामलकामान्नभोगिनः ।
कृत्स्नमन्यत्समानं स्यात्प्रागुक्तकालवर्तनैः ॥४६॥

कालत्रयोद्भवार्याणां सहसा स्वायुषः क्षये ।
दिव्याङ्गानि विलीयन्ते यथाभ्रपटलानि च ॥४७॥

अर्थ :—प्रथमकाल के बाद सुखों से युक्त सुखमा नाम का दूसरा काल आता है, इसमें मध्यम भोगभूमि की रचना होती है और इसका प्रमाण तीन कोड़ाकोड़ी (३०००००००००००००००) सागरोपम होता है ॥४०॥ द्वितीय काल के प्रारम्भ में मनुष्यों के शरीर की प्रभा पूर्ण चन्द्रमा के सदृश और ऊँचाई दो कोश प्रमाण होती है। ये दो पल्य प्रमाण अखण्डित आयु से युक्त और दो दिन बाद अक्ष (हरड़) फल प्रमाण अन्न का भोजन करने वाले होते हैं। मध्यम पात्रदान से उत्पन्न पुण्य फल के प्रभाव से ये आर्य दशप्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोगों को भोगते हैं ॥४१-४२॥ अन्य और सर्व वर्णन प्रथम काल के वर्तन के सदृश ही होता है। इसके बाद सुखमादुखमा नाम का तृतीय काल आता है। इसकी रचना जघन्य भोगभूमि के सदृश होती है और इस काल के प्रारम्भ में सुख तथा अन्त में दुःख होता है। इस काल की स्थिति दो कोटाकोटी (२०००००००००००००००) सागरोपम प्रमाण होती है, तथा इस काल के प्रारम्भ में मनुष्य कल्पवृक्षों के आश्रय से अखण्डित एक पल्य पर्यन्त जीवित रहते हैं। मनुष्यों के शरीर की आभा प्रियंगुमणि सदृश हरित और श्याम वर्ण होती है, ऊँचाई एक कोस प्रमाण होती है। ये एक दिन के अन्तर से सुख प्राप्ति के लिए आँवले के बराबर भोजन करते हैं। इस काल का अन्य और समस्त वर्तन पहिले कहे हुए प्रथम काल के वर्तन के सदृश ही होता है। ॥४३-४६॥ तीनों कालों में उत्पन्न होने वाले आर्यों (जीवों) के दिव्य शरीर अपनी अपनी आयु पूर्ण हो जाने पर सहसा अभ्रपटल (मेघों के समूह के) सदृश विलीन हो जाते हैं ॥४७॥

अब कुलकरों की उत्पत्ति के समय का वर्णन करके सर्व प्रथम प्रतिश्रुत और सन्मति इन दो कुलकरों का सम्पूर्ण वर्णन करते हैं :—

यदा तृतीयकालस्यान्तिमे पल्याष्टमे क्रमात् ।
अवशिष्टे स्थिते भागेऽत्रेमे कुलकरास्तदा ॥४८॥
आर्याणां हितकर्त्तारो जाता दक्षाश्चतुर्दश ।
बभूव प्रथमस्तेषां प्रतिश्रुत्यभिधानकः ॥४९॥
स्वयंप्रभापतिर्धीमान् हेमवर्णोऽतिरूपवान् ।
अष्टादशशतानां च धनुषामुच्चविग्रहः ॥५०॥
पल्यस्य दशभागानामेकभागस्वजीवितः ।
तत्काले ज्योतिरङ्गानां स्युच्छित्तांशेऽति भास्वरौ ॥५१॥
प्रादुर्बभूवतुश्चन्द्रादित्यौ ते दर्शनात्तयोः ।
आर्या भीता द्रुतं प्रापुः शरणं तं प्रतिश्रुतिम् ॥५२॥
सोऽपि विद्वान् निरूप्याशु गिरा स्वरूपमञ्जसा ।
चन्द्रोदयकालानां तेषां भयमपाकरोत् ॥५३॥
"हा" नीत्यादान्नृणां शिक्षां तदनन्तरमेव हि ।
गते पल्योपमाशीत्येकभागेऽभून्महान्मनुः ॥५४॥
सन्मत्याख्यो द्वितीयोऽत्र भर्ता यशस्वतीस्त्रियः ।
त्रयोदशशतानां च चापानां तुङ्गदेहभाक् ॥५५॥
पल्यस्य शतभागानामेकभागायुरूर्जितः ।
स्वर्णवर्णस्तदा सर्व ज्योतिरङ्ग क्षयान्नभः ॥५६॥
आपूर्य ग्रहताराद्याः प्रादुरासन् स्फुरत्प्रभाः ।
ते भीता दर्शनात्तेषां जग्मुस्तं सन्मतिं विभुम् ॥५७॥
भयनाशाय तेषां स इत्याख्यत्प्रवरं वचः ।
हे भद्रका ! ग्रहा एते ह्यमी तारादयः शुभाः ॥५८॥
ज्योतिश्चक्रेण वोऽनेन किञ्चिन्नास्तिभयादिकम् ।
किंत्वद्यप्रभृति ज्योतिष्कैर्वर्तते दिनं निशा ॥५९॥
इति तद्वचनात्प्रीतास्तं स्तुत्वाऽगुर्निजास्पदम् ।
कथंचित् तान् कुलदोषान् स हा नीत्यातर्जयेत्सुधीः ॥६०॥

अर्थः—जब तृतीयकाल के अन्त में पल्य का आठवां भाग अवशेष रहता है तब यहाँ आर्यों का हित करने में प्रवीण ऐसे चौदह कुलकर क्रम से उत्पन्न होते हैं। उनमें से प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति नाम के हुए। जिनकी पत्नी का नाम स्वयंप्रभा था। जो हेमवर्ण की आभा से युक्त अति रूपवान् एवं बुद्धिमान् थे। उनके शरीर की ऊँचाई १८०० धनुष और आयु का प्रमाण पल्य के दश भागों में से एक भाग (१/१० पल्य) प्रमाण थी। तत्काल ही अर्थात् पल्य का आठवां भाग अवशेष रहने पर ज्योतिरंग कल्पवृक्षों की कान्ति नष्ट हो जाने पर आकाश में (आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन) सूर्य और चन्द्र का प्रादुर्भाव होता है, उन रवि शशि के दर्शन से भयभीत हुए वे सब आर्य और आर्या शीघ्र ही प्रतिश्रुति कुलकर की शरण में पहुँचते हैं, तब वे बुद्धिमान् प्रतिश्रुति कुलकर शीघ्र ही अपने प्रिय वचनों द्वारा सूर्य चन्द्र के उदय काल आदि के स्वरूप का वर्णन करके उनका भय दूर करते हैं ।।४८–५३।। उसी समय ही उन्होंने मनुष्यों को "हा" इस दण्ड नीति की शिक्षा दी थी। अर्थात् अपराध करने वाले मनुष्यों को 'हा' इस प्रकार के दण्ड का स्थापन किया था। इसके बाद अर्थात् इस कुलकर की मृत्यु के बाद पल्योपम के अस्सी भाग समाप्त हो चुकने पर यशस्वति स्त्री के स्वामी सन्मति नाम के द्वितीय महामनु यहाँ उत्पन्न हुए। इनके शरीर की ऊँचाई १३०० धनुष, आयु पल्य के सौ भागों में से एक भाग (१/१०० पल्य) प्रमाण और शरीर की कान्ति स्वर्ण सदृश थी। सर्व ज्योतिरंग कल्पवृक्षों के क्षय हो जाने से चमकती हुई प्रभा से युक्त प्रगट होते हुए ग्रहों एवं तारागणों ने आकाश मण्डल को आपूर्ण कर दिया अर्थात् भर दिया, जिसके दर्शन से भयभीत हुए लोक जन सन्मति प्रभु की शरण को प्राप्त हुए। उनके भय को नाश करने के लिए वे इस प्रकार श्रेष्ठ वचन बोले कि—हे भद्र जनो ! ये ग्रह हैं, और ये शुभ तारा गण आदि हैं। इस ज्योतिष चक्र से आप लोगों को किंचित् भी भय नहीं करना चाहिए, क्योंकि अब इन्हीं ज्योतिष देवों के द्वारा आप लोगों को दिन और रात्रि के भेद का ज्ञान होगा। इस प्रकार मनु के वचनों से सन्तोष को प्राप्त होकर तथा उनकी स्तुति करके वे सब अपने अपने स्थान को चले गये। दोष करने वाले लोगों को वे उत्तम बुद्धि के धारक सन्मति मनु 'हा' इसी दण्ड नीति से तर्जन करते थे ।।५४-६०।।

अब क्षेमङ्कर आदि तीन कुलकरों की आयु आदि का तथा उनके कार्यों का वर्णन करते हैं :—

ततोऽष्टशतभागानां पल्यस्यातिक्रमे सति ।
एकभागे मनुर्जज्ञे क्षेमङ्करो विशारदः ।।६१।।
सुनन्दायाः स्त्रियोभर्त्ताप्रोद्यमी काञ्चनच्छविः ।
शताष्टधनुरुत्तुङ्ग एकभागायुरुत्तमः ।।६२।।

पल्यस्य कृतभागानां सहस्रसंख्यया तदा ।
तत्रत्याः भद्रकाः प्रापुः क्रूरतां कालतो मृगाः ॥६३॥

तद् बाधामक्षमाः सोढुमार्याः क्षेमङ्करं भयात् ।
आश्रित्याशु स्वबाधानाशायेदं सहचोऽवदन् ॥६४॥

प्रभो ! ये प्राग्मृगा भद्रा अस्माभिर्लालिताः करैः ।
अधुना क्रूरतां यान्त्यस्मान् जल्पयन्त्याद् नखादिभिः ॥६५॥

तान् प्रत्याह मनुश्चेत्थमेतोऽहो कालदोषतः ।
सहसा परिहर्तव्या अन्तरे विकृतिं गताः ॥६६॥

भवद्भिर्नाद्य विश्वासः कर्तव्यः क्रूरजन्मनाम् ।
एतान् स्वक्षेमशिक्षादीन् श्रुत्वा ते तत्स्तवं व्यधुः ॥६७॥

प्रीतः सोपि प्रजानां स्वहाकारदण्डमादिशेत् ।
पुनर्भागे गते पल्याष्टसहस्रैकमानके ॥६८॥

धीमान् कुलकरोऽत्रासीत् क्षेमन्धरः सुक्षेमकृत् ।
विमलाभामिनीकान्तः कनत्काञ्चनभाङ्गभृत् ॥६९॥

तस्योन्नतिश्च दण्डानां पादोनाष्टशतप्रमा ।
पल्यस्य दशसहस्रैकभागाभङ्गजीवितम् ॥७०॥

तदाति क्रूरताप्तेभ्यो मृगादिभ्यः स धीरधीः ।
यष्ट्यादिताडनैस्तासां बाधां न्यवारयद्द्रुतम् ॥७१॥

प्रजानां कृतदोषाणां सोऽपि हाकारदण्डभृत् ।
पल्याशीतिसहस्रैकभागे गते ततोऽभवत् ॥७२॥

मनुः सीमङ्करो ज्ञानी पतिर्मनोहरीस्त्रियः ।
सार्धसप्तशतैश्चापैरुन्नतः कनकप्रभः ॥७३॥

पल्यलक्षैकभागायुर्हाकारदण्डदायकः ।
कल्पवृक्षा यदा चासन् विरला मन्दकाः फलैः ॥७४॥

तदार्याणां विसम्वादस्तत्कृतोऽभूत् परस्परम् ।
ततः सीमावधिं तेषां स व्यधात् क्षेमवृत्तये ॥७५॥

अर्थ—इसके बाद पल्य के ८०० भाग व्यतीत हो जाने पर एक भाग में क्षेमङ्कर नाम के अति निपुण मनु हुए, जो सुनन्दा स्त्री के स्वामी, उद्यमवान् और स्वर्णाभा के सदृश सुन्दर शरीर के धारक थे। इनके शरीर की ऊँचाई ८०० धनुष और आयु का प्रमाण पल्य के एक हजार भागों में से एक भाग (१/१००० पल्य) था। इन्हीं मनु के जीवन काल में वहां रहने वाले मृग, शेर आदि काल दोष के प्रभाव से क्रूरता को प्राप्त हो गये तब उनकी बाधा को सहन करने में असमर्थ होते हुए आर्य जन भय से शीघ्र ही क्षेमंकर के समीप जाकर अपनी बाधा नाश करने के लिये इस प्रकार उत्तम वचन बोले—हे प्रभो! ये मृग, सिंह आदि पहिले भद्र परिणामी थे और हम लोगों के हाथों से इनका लालन पालन किया गया है, किन्तु आज ये क्रूरता को प्राप्त होकर हमें अपने नाखूनों से मारते हैं ॥६२–६५॥ उन आर्य जनों को प्रति उत्तर देते हुए मनु बोले—कि काल दोष के प्रभाव से इनके मनों में विकार उत्पन्न हो गया है, अतः इनको शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए। आप लोगों को अब इनका विश्वास नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अपने कल्याण की शिक्षा आदि को सुनकर उन्होंने मनु की बहुत स्तुति की ॥६६–६७॥

प्रजा जनों की प्रीति (कल्याण) के लिए उन्होंने भी "हा" दण्ड नीति का ही आदेश दिया। पुनः पल्य के आठ हजार (८०००) प्रमाण भाग व्यतीत हो जाने पर अत्यन्त कल्याण करने वाले, बुद्धिमान् क्षेमन्धर नाम के कुलकर उत्पन्न हुए, जो विमला महादेवी के स्वामी और स्वर्ण सदृश आभा को धारण करने वाले थे ॥६८–६९॥ उनके शरीर की ऊँचाई ७७५ धनुष और आयु पल्य के दश हजार भागों में से एक भाग (१/१०००० पल्य) प्रमाण थी ॥७०॥ उस समय मृगादि पशु अत्यन्त क्रूरता को प्राप्त हो गये थे, अतः उन उत्तम बुद्धि को धारण करने वाले मनु ने लकड़ी आदि के द्वारा ताड़न आदि करने की शिक्षा देकर शीघ्र ही उनकी बाधा को दूर किया ॥७१॥ प्रजा के द्वारा किये हुए दोषों पर उन्होंने भी "हा" इस दण्ड नीति का प्रयोग किया। पल्य के अस्सी हजार भाग व्यतीत हो जाने के बाद मनोहारी स्त्री के अत्यन्त विद्वान पति सीमङ्कर नाम के मनु हुए। जिनके शरीर की ऊँचाई ७५० धनुष और कान्ति स्वर्ण के सदृश थी ॥७२–७३॥ इनकी आयु पल्य के एक लाख भागों में से एक भाग (१/१००००० पल्य) प्रमाण थी, तथा ये भी 'हा' दण्ड नीति का ही प्रयोग करते थे। आपके समय में जब कल्पवृक्ष विरले और मन्द फल देने वाले हो गये तब आर्य जन परस्पर में विसम्वाद करने लगे, उस समय आपने प्रजा के कल्याण के लिये उनकी अलग सीमा बांध दी थी ॥७४–७५॥

अब सीमन्धर आदि चार कुलकरों के स्वरूप एवं कार्यों का वर्णन करते हैं :—

ततः पल्याष्टलक्षैकभागे गतेऽभवन्मनुः।
सीमन्धरोऽङ्गहेमाभोऽत्र यशोधारिणीप्रियः ॥७६॥

पल्यस्य दशलक्षैकभागायुस्तुङ्गविग्रहः ।
शतसप्तप्रमैश्चापैः पञ्चविंशति संयुतैः ॥७७॥
हा-मा-नीतिकरस्तस्मिन् कालेऽतिविरलाः स्वयम् ।
जाताः कल्पद्रुमा मन्दफलाश्च कालहानितः ॥७८॥
तत्कारणैस्तदाऽमीषां विसम्वादः परोऽजनि ।
ततो गुल्मादि चिह्नैः स तेषां सीमान्यधात् सुधीः ॥७९॥
पल्यस्याशीति लक्षैकभागे गते ततोऽभवत् ।
सुमतिस्त्रीप्रभुर्दक्षो मनुर्विमलवाहनः ॥८०॥
स्वर्णकान्तिर्महांस्तुङ्गः शतसप्तशरासनैः ।
पल्यकोट्यैकभागायुर्हा-मा-नीतिकृतोद्यमः ॥८१॥
प्रकारयत्प्रजानां तदांकुशाद्यायुधैर्बुधः ।
आरोहणं गजादीनामुपरि स्फुटमञ्जसा ॥८२॥
पुनः पल्याष्टकोट्यैकभागे गतेऽभवत्सुधीः ।
चक्षुष्मान् कुलकर्तात्र धारिणीप्रिय उन्नतः ॥८३॥
दण्डैः षट्शतसंख्यानैः पञ्चसप्ततिसंश्रितैः ।
पल्यस्य दशकोट्यैकभागजीव्यवधीक्षणः ॥८४॥
प्रियंगुवर्णदीप्राङ्गस्तदा सुसूनुदर्शनैः ।
बभूवादृष्टपूर्वैश्चार्याणां भयं सुजीविनाम् ॥८५॥
तत् क्षणं स निवेद्य स्वपुत्रोत्पत्ति सुखाप्तये ।
सन्तानवृद्धिभूतां च तेषां निराकरोद्भयम् ॥८६॥
तेनैव सार्थनामाभूद्धा-मा-नीतिप्रदोऽङ्गिनाम् ।
पल्यस्याशीतिकोट्यैकभागेऽतीते ततः शुभात् ॥८७॥
यशस्वी कुलकर्तासीत् कान्तिमालापतिर्बुधः ।
सार्धषट्शतचापोच्च प्रियंगुप्रभदेहवान् ॥८८॥
पल्यस्य शतकोट्यैकभागायुर्ज्ञानलोचनः ।
यशसा भूषितो वाग्मी हा-मा-नीतिप्रवर्तकः ॥८९॥
तदासौ कारयामास पुत्रजातमहोत्सवम् ।
अनन्तरं प्रसूतेस्तुक् पितॄणां चिरजीविनाम् ॥९०॥

अर्थ:—इसके बाद पल्य के आठ लाख भाग व्यतीत हो जाने के बाद यहाँ पर हेम सदृश आभा को धारण करने वाले, यशोधारणी प्रिया के स्वामी सीमन्धर नाम के मनु उत्पन्न हुए थे ।।७६।। इनकी आयु पल्य के दशलाख भागों में से एक भाग (१/१०००००० पल्य) प्रमाण एवं शरीर की ऊँचाई ७२५ धनुष प्रमाण थी ।।७७।। आपके द्वारा 'हा–मा' दण्डनीति निर्धारित की गई थी। इस समय में काल हानि के प्रभाव से कल्पवृक्ष अत्यन्त विरले एवं अत्यन्त मन्द फल प्रदान करने वाले हो गये थे, इस कारण से आर्य जनों के परस्पर में बहुत कलह होने लगा था, तब अति निपुण आपने झाड़ी, डाली, भौंरा, गुच्छा एवं फल आदि चिह्नों के द्वारा उनकी सीमा बांध दी थी ।।७८–७९।। इसके बाद पल्य के अस्सी लाख भाग व्यतीत हो जाने पर सुमति महादेवी के स्वामी अत्यन्त निपुण विमलवाहन नाम के मनु उत्पन्न हुए ।।८०।। इनके शरीर की कान्ति स्वर्ण के सदृश और ऊँचाई ७०० धनुष थी। आयु पल्य के एक करोड़ भागों में से एक भाग (१/१००००००० पल्य) प्रमाण थी। आपके द्वारा भी "हा–मा" नीति निर्धारित की गई थी ।।८१।। इन्होंने प्रजा को अंकुश आदि आयुधों का धारण व प्रयोग करना तथा हाथी आदि पर चढ़ना (सवारी करना) बतलाया था ।।८२।। पश्चात् पल्य के आठ करोड़ भाग व्यतीत हो जाने के बाद यहाँ पर धारिणी प्रिया के स्वामी महान् कुलकर चक्षुष्मान् हुए ।।८३।। आपके शरीर की ऊँचाई ६७५ धनुष और कान्ति प्रियंगुमणि के सदृश हरित वर्ण की थी। आयु का प्रमाण पल्य के दश करोड़ भागों में से एक भाग (१/१०००००००० पल्य) प्रमाण था। अवधिज्ञान ही आपके नेत्र थे। अर्थात् आप अवधिज्ञान से देखते थे। उस समय पूर्व में कभी नहीं देखे हुए अपने पुत्र के दर्शन से जीवित रहने वाले आर्य जनों को बहुत भय उत्पन्न हुआ, उसी क्षण कुलकर ने अपने पुत्र की उत्पत्ति सुख प्राप्ति के लिए होती है, ऐसा कह कर सन्तान वृद्धि से होने वाले उन जीवों के भय को दूर कर दिया ।।८४–८६।।

सार्थक नाम को धारण करने वाले उन चक्षुष्मान् कुलकर के द्वारा भी प्रजाजनों को "हा–मा" का ही दण्ड दिया जाता था। इसके पश्चात् पल्य के अस्सी करोड़ भाग व्यतीत हो जाने पर कान्तिमाला के पति बुद्धिमान् यशस्वी नाम के कुलकर उत्पन्न हुये। आपके शरीर की ऊँचाई ६५० धनुष और कान्ति प्रियंगु मणि के सदृश थी ।। ८७–८८ ।। पल्य के सौ करोड़ भागों में से एक भाग (१/१००००००००० पल्य) प्रमाण आयु थी। ज्ञान नेत्र एवं यश से विभूषित आपने भी "हा–मा" दण्ड नीति का ही प्रवर्तन किया था ।। ८९ ।। उस समय पुत्र उत्पत्ति के बाद माता पिता बहुत काल तक जीवित रहने लगे तब कुलकर ने पुत्र उत्पत्ति का महामहोत्सव करने का उपदेश दिया। अर्थात् पुत्र उत्पत्ति के बाद लोगों से महोत्सव करवाये ।।९०।।

अब अभिचन्द्र और चन्द्राभ इन दो कुलकरों की उत्पत्ति आदि का एवं कार्यों का वर्णन करते हैं :—

पल्याष्टशतकोट्यं कभागेऽतीते ततोऽभवत् ।
अभिचन्द्रो मनुर्ज्ञानी श्रीमतीकान्त उन्नतः ॥९१॥

पञ्चविंशतिसंयुक्तश्चापैः षट्शतसम्मितैः ।
पल्यकोटिसहस्रैकभागायुः कनकच्छविः ॥९२॥

चन्द्रादिदर्शने रात्रौ चिरजीविप्रजात्मनाम् ।
सूनोर्वीक्ष्य मुखं प्रीत्यै क्रीडनं वचसादिशत् ॥९३॥

तेन तत्कृतनामासीद्धा-मा-नीतिविधिं व्यधात् ।
पल्यस्याष्टसहस्रप्रमकोट्यं कप्रमाणके ॥९४॥

गते भागे ततोऽभूच्चन्द्राभश्चन्द्रवर्णवान् ।
प्रभावतीप्रियस्तुङ्गो दण्डैः षट्शतसंख्यकैः ॥९५॥

पल्यस्य दशसहस्रकोट्यं कांशात्मजीवितः ।
आर्याणां कृतदोषाणां हा-मा-धिक्कारदण्डकृत् ॥९६॥

तदासौ स्वगिरा दक्षः पितॄणां चिरजीविनाम् ।
व्यवहारं व्यधात् प्रीत्यै पितृपुत्रादिकल्पनैः ॥९७॥

अर्थ:—तत्पश्चात् पल्य के आठ सौ करोड़ भाग व्यतीत हो जाने के बाद श्रीमती कान्ता के पति, ज्ञानवान् एवं श्रेष्ठ मनु अभिचन्द्र उत्पन्न हुए ॥९१॥ इनकी ऊँचाई ६२५ धनुष, आयु पल्य के हजार करोड़ भागों में से एक भाग (१/१०००००००००० पल्य) प्रमाणा एवं शरीर की कान्ति स्वर्णाभा सदृश थी ॥९२॥ सार्थक नाम को धारण करने वाले इन कुलकर ने अपनी वाणी द्वारा बहुत काल तक जीवित रहने वाली अपनी प्रजा को रात्रि में चन्द्रमा आदि के दर्शन द्वारा अर्थात् अपने बालकों को चन्द्रमा दिखा दिखा कर प्रीति पूर्वक उनका मुख देख कर क्रीड़ा कराने (रमाने) का उपदेश दिया ॥९३॥ इनके द्वारा भी "हा-मा" दण्ड नीति का ही विधान किया गया था। पश्चात् पल्य के आठ हजार करोड़ प्रमाण भाग बीत जाने पर यहाँ चन्द्रमा की कान्ति को धारण करने वाले प्रभावती प्रिया के स्वामी चन्द्राभ नाम के मनु हुए। इनके शरीर की ऊँचाई ६०० धनुष प्रमाण और आयु पल्य के दश हजार करोड़ भागों में से एक भाग (१/१००००००००००० पल्य) प्रमाण थी। दोष करने वाले आर्यों को ये हा-मा और धिक्कार का दण्ड देते थे ॥९४-९६॥ उस समय आपने अपने वचनों द्वारा बहुत काल तक जीवित रहने वाले गाता पिता को पिता पुत्र आदि के सम्बन्ध की कल्पना द्वारा प्रीति पूर्वक व्यवहार करने का उपदेश दिया ॥९७॥

अब मरुदेव, प्रसेनजित और नाभिराय कुलकरों का वर्णन करते हैं :—

पल्याशीति सहस्रादि कोट्यंक सम्मिते गते ।
भागे ततो मरुद्देवो बभूवात्तुपमाप्रियः ॥६८॥
पञ्चसप्ततिसंयुक्त धनुः पञ्चशतोन्नतः ।
पल्यस्य लक्षकोट्येकभागायुः कनकद्युतिः ॥६६॥
हा-मा-धिक्कारनीत्युक्तस्तत्काले वार्धयः स्वयम् ।
प्रादुरासंश्च नद्यौघा-मेघा-नानाविधाः शुभाः ॥१००॥
नद्यब्ध्युत्तरणे पोतनौ द्रोण्यादीन् ह्याकारयत् ।
आरोहणे स गिर्यादि सुधीः सोपानमालिकाः ॥१०१॥
पल्याष्टलक्षकोट्येकभागे व्यतिक्रमे ततः ।
प्रियंगुकान्ति सत्कायो जज्ञे मनुः प्रसेनजित् ॥१०२॥
तुङ्गः शरासनैः सार्धशतपञ्चप्रमैर्बुधः ।
पल्यस्य दशलक्षादिःकोट्येकभागजीवितः ॥१०३॥
हा-मा-धिग्नीति दण्डोक्तस्तस्यामितगतिः पिता ।
वरकन्यकयासार्धं विवाहं विधिना व्यधात् ॥१०४॥
कुलकृच्चैक एवात्रोत्पन्नः स युगलं विना ।
तदा प्रभृति युग्मानामुत्पत्तौ नियमो गतः ॥१०५॥
कालेऽस्यैव सुतोत्पत्तिर्जरायुपटलावृता ।
अभूत् तत् कर्षणस्नानात् प्रजानां सोऽदिशद्गिरा ॥१०६॥
पल्यस्याशीति लक्षादिकोट्येकप्रमिते गते ।
भागे ततोऽभवत्पुण्यान् नाभिः कुलकरोऽद्भुतः ॥१०७॥
मरुदेवीप्रियो विद्वान् हेमकान्तिः सुरार्चितः ।
पंचविंशतिसंयुक्त धनुः पंचशतोच्छ्रितः ॥१०८॥
पूर्वकोटिप्रमायुष्को हा-मा-धिग्नीतिकारकः ।
काले तस्य सुतोत्पत्तिर्नाभिनालयुताजनि ॥१०९॥
तत्कर्तनं स पितॄणां सुखाय विधिनादिशत् ।
ततोऽसौ सार्थकं स्वस्य नाम प्रापप्रमोदितम् ॥११०॥

तस्मिन् काले नभो व्याप्य तडिदम्बरगर्जनैः ।
सार्धं मुहुर्महावृष्टीर्मेघाधाराश्चर्जवर्षधुः ॥१११॥
तदा शनैः शनैर्भूषु सर्वतो विरलं स्वयम् ।
वृद्धाण्यासंश्च सस्यानि पूर्णपक्वान्यनेकशः ॥११२॥
षाष्टिकाः कलमव्रीहियवगोधूम कङ्गवः ।
श्यामाक कोद्रवोद्दालनीवारवरकास्तथा ॥११३॥
तिलालस्यौमसूराश्च सर्षपा धान्य जीरकाः ।
माषमुद्गाढकीराजमाषां निष्पावकाश्चणाः ॥११४॥
कुलत्थास्त्रिपुटा धान्यभेदा एते तदाभवन् ।
कुसुम्भाद्याश्च कर्पासाः प्रजाजीवनकारिणः ॥११५॥
सामस्त्येन तदा जग्मुर्ध्वंसं वृत्तिं कल्पशाखिनः ।
महत्याहारसंज्ञासीत् तेषां सर्वाङ्गशोषिणी ॥११६॥
तयान्तराकुलीभूताः प्रजाः क्षुद्वेदनाक्षताः ।
नाभिमभ्येत्य नत्वेति प्रोचुर्दीनगिरा बुधाः ॥११७॥
स्वामिन् ! कल्पद्रुमा विश्वेऽस्मत्पुण्यक्षयात् क्षयम् ।
ययुरन्ये द्रुमाः केचिज्जाता नानाविधाः स्वयम् ॥११८॥
किमेते परिहर्तव्या भोग्याः किं वा तदादिश ।
तदुपायं च वृत्तान्तं जीविकायेन नो भवेत् ॥११९॥
तदाख्यन् नाभिरित्थं हे भद्रकाः ! सद्द्रुमा इमे ।
कार्या भोग्या अमी शीघ्रं त्याज्या विषादिपादपाः ॥१२०॥
काश्चिदेता महौषध्य एते पुण्ड्रेक्षुदण्डकाः ।
प्रपातव्या रसीकृत्य यन्त्रैः खाद्या इमे द्रुमाः ॥१२१॥
आम्राद्या इति तत्प्रोक्तं श्रुत्वा प्रीता प्रशस्यतम् ।
नत्वा तद् दर्शितां वृत्तिं भेजुः कालोचितां प्रजाः ॥१२२॥

अर्थः— पश्चात् पल्य के अस्सी हजार करोड़ भाग समाप्त हो जाने पर अनुपमा प्रिया के स्वामी मरुदेव कुलकर उत्पन्न हुए। आपकी ऊँचाई ५७५ धनुष, आयु पल्य के एक लाख करोड़ भागों में से एक भाग (१/१०००००००००००० पल्य) प्रमाण एवं शरीर की कान्ति स्वर्णाभासदृश थी ॥९८–९९॥ आपने भी हा–मा और धिक्कार दण्ड नीति का ही प्रयोग किया गया था। इस समय समुद्र,

नदियों के समूह और नाना प्रकार के श्रेष्ठ मेघों का स्वयं ही प्रादुर्भाव हुआ था। मरुदेव कुलकर ने नदी और समुद्र आदि को पार करने के लिए पुल, नाव और द्रोणी आदि का तथा पर्वत आदि पर चढ़ने के लिए सोपान मालिका-सीढ़ियों की पंक्तियों का विधान किया था ॥१००-१०१॥ इसके पश्चात् पल्य के आठ लाख करोड़ भाग व्यतीत हो जाने पर प्रियंगुमणि की हरित आभा के सदृश उत्तम शरीर द्युति से युक्त प्रसेनजित् मनु उत्पन्न हुए ॥१०२॥ आपके शरीर की ऊँचाई ५५० धनुष और आयु पल्य के दस लाख करोड़ भागों में से एक भाग ($\frac{१}{१०००००००००००००}$ पल्य) प्रमाण थी ॥१०३॥ प्रसेनजित् मनु के द्वारा भी हा–मा और धिक्कार नीति का ही प्रयोग किया गया था। आपके पिता अमितगति ने आपका विवाह उत्तम कन्या से विधि पूर्वक किया था ॥१०४॥ यह एक ही कुलकर बिना युगल के उत्पन्न हुए हैं और इसी समय से युगल उत्पत्ति का नियम समाप्त हुआ है। अर्थात् युगल ही उत्पन्न हों, ऐसा नियम नहीं रहा ॥१०५॥ इसी समय में पुत्रों (सन्तानों) की उत्पत्ति जरायु पटल से आवृत्त होने लगी थी। उस समय आपने अपनी मृदु वाणी के द्वारा प्रजा को जरायु आदि काटने का तथा स्नान आदि कराने का उपदेश दिया था ॥ १०६ ॥ पश्चात् पल्य के अस्सी लाख करोड़ भाग व्यतीत हो जाने पर पुण्य उदय से चौदहवें कुलकर नाभिराय उत्पन्न हुये ॥१०७॥ मरुदेवी कान्ता के स्वामी, विद्वान्, हेमकान्ति को धारण करने वाले और देवों द्वारा पूजित आपकी ऊँचाई ५२५ धनुष प्रमाण तथा आयु एक पूर्व कोटि प्रमाण थी। आप भी हा–मा और धिक् दण्ड नीति का ही प्रयोग करते थे। इस काल में सन्तान की उत्पत्ति नाभि नाल से युक्त होने लगी थी। आपने माता पिता के सुख के लिए उस नाल को काटने का उपदेश दिया था, इसीलिये प्रजा ने आपका सार्थक नाम नाभिराय रखा था ॥१०८-११०॥

इसी काल में नभ को व्याप्त करके बिजली सहित मेघ गम्भीर गर्जना के साथ साथ स्थूल जल धारा के द्वारा बार बार महावृष्टि करने लगे थे ॥१११॥ वर्षा होने के बाद ही पृथ्वी पर धीरे धीरे चारों ओर पूर्ण रूपेण पके हुए अनेक प्रकार के धान्य की वृद्धि होने लगी थी, जिसमें शालि चावल, कलम, व्रीहि आदि और अनेक प्रकार के चावल, जव, गेहूँ, कांगणी, श्यामक (एक प्रकार का धान्य) कोदों, मोट, नीवार (कोई धान्य), वरवटी, तिल, अलसी, मसूर, सरसों, धना, जीरा, उड़द, मूँग, अरहड़, चौला, निष्पावक (वालोर), चना, कुलथी और त्रिपुटा (तेवड़ा) आदि भेद वाले धान्य हो गये थे। तथा कल्पवृक्षों की सम्पूर्ण रूपेण समाप्ति हो जाने पर प्रजा के जीवनोपयोगी कौसुम्भ और कापास आदि की भी उसी समय उत्पत्ति हो गई थी। कल्पवृक्षों का अभाव हो जाने से जीवों में आहार की तीव्र वाञ्छा उत्पन्न होने लगी, उस समय सर्व अङ्गों को शोषण करने वाली क्षुधा वेदना से प्रजा अन्तरङ्ग में अत्यन्त दुःखी होती हुई नाभिराय मनु के समीप जाकर तथा नमस्कार करके दीन वचनों से इस प्रकार कहने लगी कि—हे स्वामिन् ! हम लोगों का पुण्य क्षय हो जाने से समस्त कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं और उनके स्थान पर और कोई नाना प्रकार के अनेक वृक्ष स्वयमेव उत्पन्न हुए हैं, इनमें

से कौन से वृक्ष छोड़ने योग्य हैं और कौन से भोगने योग्य हैं यह समझाते हुए आप हमें ऐसा सर्वोत्तम उपाय बतलाइये जिससे हम लोगों की जीविका चले। इसके बाद नाभिराय इस प्रकार बोले कि—हे भद्र ! इनमें ये तो उत्तम वृक्ष भोगने योग्य और काम में लेने योग्य हैं तथा ये विष आदि के वृक्ष हैं, जो शीघ्र ही छोड़ने योग्य हैं ।।११८-१२०।। इनमें ये वृक्ष महा औषधि रूप हैं, ये आम आदि खाने योग्य हैं और ये गन्ना आदि हैं, जिनका यन्त्र के द्वारा रस निकाल कर पीना चाहिए। इस प्रकार राजा के वचनों को सुन कर और भली प्रकार प्रीतिपूर्वक उन्हें नमस्कार करके प्रजा उनके द्वारा दर्शाई हुई कालोचित वृत्ति का सेवन करने लगी ।।१२१-१२२।।

अब कुलकरों की उत्पत्ति आदि का कुछ वर्णन करते हैं :—

प्रतिश्रुत्यादयोयेऽत्र वर्णिता मनवोऽखिलाः ।
ते प्राग्भाग्विदेहेषु ज्ञेया नृपाः महान्वयाः ।।१२३।।
सम्यक्त्वग्रहणात्पूर्वं पात्रदानशुभार्जनैः ।
भोगभूमिमनुष्याणां बद्ध्वायुस्ते शुभाशयाः ।।१२४।।
पश्चात क्षायिकसम्यक्त्वं जिनान्ते काललब्धितः ।
गृहीत्वा स्वायुरन्तेऽत्र सर्वे जाता विचक्षणाः ।।१२५।।
तेषु जातिस्मराः केचित्केचिच्चावधिलोचनाः ।
एतान् हितोपदेशादीन् प्रजानामादिशन् बुधाः ।।१२६।।

अर्थ.—यहाँ पर जिन प्रतिश्रुति आदि कुलकरों का वर्णन किया गया है वे सभी पूर्व भव में विदेह क्षेत्र में उत्तम कुलोत्पन्न श्रेष्ठ राजा थे। सम्यक्त्व ग्रहण के पूर्व पात्रदान से अर्जित पुण्य फल के द्वारा उन पवित्र चित्तवृत्ति वाले सभी मनुष्यों ने भोगभूमि के मनुष्यों की आयु का बन्ध कर लिया था। पश्चात् काललब्धि के योग से जिनेन्द्र भगवान् के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व ग्रहण करके विचक्षण बुद्धि को धारण करने वाले वे सभी आयु के अन्त में वहाँ से मरण कर यहाँ उत्पन्न होते हैं ।।१२३-१२५।। उनमें से किन्हीं को जातिस्मरण और किन्हीं को अवधिज्ञान होता है, जिससे वे विद्वज्जन प्रजा को हितोपदेश देते हैं ।।१२६।।

अब ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती की दण्डनीति तथा ऋषभदेव के मोक्ष जाने का वर्णन करते हैं :—

नाभेः कुलकरस्यान्तिमस्याभासीत्सुतः परः ।
ऋषभस्तीर्थकृत् पूज्यः कुलकृत् त्रिजगद्धितः ।।१२७।।

हा-मा-धिग्नीतिमार्गोक्तोऽस्य पुत्रो भरतोऽग्रजः ।
चक्री कुलकरो जातो बधबन्ध्यादि दण्डभृत् ॥१२८॥
ततश्चतुर्थकालाच्च पूर्वं श्च्यादिजिनेश्वरः ।
मुक्ते मार्गं द्विधा धर्मं प्रकाश्य ध्वनिना सताम् ॥१२९॥
हत्वा कृत्स्नाङ्गकर्माणि प्राप्य देवाधिपार्चनम् ।
अनन्तगुणशर्माब्धिजगामान्ते शिवालयम् ॥१३०॥
विश्वाग्रस्थं तृतीयस्य कालान्तेऽस्यान्तिमे सति ।
वर्षत्रयेऽवशिष्टे च सार्धाष्टमाससंयुते ॥१३१॥

अर्थः—अन्तिम कुलकर नाभिराय के ऋषभदेव नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जो तीर्थंकर, पूज्य, कुलकर और त्रैलोक्य का हित करने वाला था। आपने भी हा–मा और धिक् दण्डनीति का ही प्रयोग किया था। आपके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत, कुलकर रूप में उत्पन्न हुए जिन्होंने दोष करने वाली प्रजा पर वध, बन्धन आदि दण्ड नीति का प्रयोग किया ॥१२७–१२८॥ चतुर्थ काल से पूर्व ही अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी से युक्त प्रथम तीर्थंकर हुए, जो भव्य जनों को अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा मोक्षमार्ग को तथा मुनि और श्रावक के धर्म को प्रकाश कर, सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर तथा देवेन्द्रों से पूजा को प्राप्त कर सम्पूर्ण तृतीयकाल के अन्त में तीन वर्ष साढ़े आठ मास अवशेष रहने पर अनन्त गुण और अनन्त सुख के सागर मोक्ष को प्राप्त हुए ॥१२९–१३१॥

अब चतुर्थकाल का सविस्तृत वर्णन करते हैं :—

ततश्चतुर्थकालोऽभूत् दुःषमासुषमाह्वयः ।
दुःखसौख्यकरो ह्येक कोटीकोटयम्बुधिप्रमः ॥१३२॥
ऊनो वर्षद्विचत्वारिंशत्सहस्रप्रमैर्महान् ।
शुभः कर्मधरोत्पन्नः स्वर्मोक्षसुखसाधनः ॥१३३॥
अस्यादौ मानवाः सन्ति पूर्वकोटिपरायुषः ।
पञ्चवर्णा लसद्देहाश्चापपञ्चशतोच्छ्रिताः ॥१३४॥
वारैकं पूर्णमाहारं दिनं प्रत्याहरन्ति ते ।
षट्कर्मकारिणोऽन्ते मोक्षचतुर्गतिगामिनः ॥१३५॥
आद्यकालत्रये भोगभूमिभागेषु येऽङ्गिनः ।
न भूता दुःखदा द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः ॥१३६॥

मांसाशिपक्षिणः क्रूरा अन्ये जलचरादयः ।
ते सर्वे विकलाक्षाद्याः कालेऽस्मिन्स्वयमुद्गताः ॥१३७॥
चतुर्विंशतितीर्थेशाश्चक्रेशा द्वादशोत्तमाः ।
बलदेवा नवैवासन् वासुदेवा नवोत्कटाः ॥१३८॥
तच्छत्रवोऽत्र तावन्तो रुद्रा एकादशाशुभाः ।
चतुर्विंशतिकामाश्च दुर्बोधा नारदा नव ॥१३९॥

अर्थः—तृतीयकाल के अन्त में दुःखमा-सुखमा नाम का चतुर्थ काल प्रारम्भ हुआ, जो दुख और सुख दोनों का सम्पादन करने वाला था और इसका प्रमाण व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर (१००००००००००००००० सागर—४२००० वर्ष) था। इसमें शुभकर्मों द्वारा पुण्य उपार्जन करने वाले तथा स्वर्ग और मोक्ष का साधन करने वाले जीव उत्पन्न होते थे ॥१३२-१३३॥ चतुर्थकाल के प्रारम्भ में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि (७०५६ के आगे १७ शून्य), शरीर की आभा पंच वर्णों की और ऊँचाई ५०० धनुष प्रमाण थी ॥१३४॥ उस समय जीव दिन में एक बार पूर्ण आहार करते थे तथा षट्कर्मों में तत्पर रहते थे, और आयु के अन्त में मोक्ष एवं कर्मानुसार चारों गतियों को प्राप्त होते थे ॥१३५॥ प्रारम्भ के भोगभूमि सम्बन्धी तीनों कालों में दुखदाई द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय अर्थात् विकलत्रय जीव, मांस भक्षी एवं अन्य क्रूर पक्षी तथा जलचर आदि जो जीव उत्पन्न नहीं होते थे, वे सब इस काल में स्वयमेव उत्पन्न होने लगे थे ॥१३६-१३७॥ इस काल में चौबीस तीर्थंकर, द्वादश चक्रवर्ती, नव नारायण और नव ही प्रतिनारायण उत्कट बल के धारी हुये। ग्यारह रुद्र, शुभकार्य करने वाले चौबीस कामदेव और दुर्बुद्धि धारी नव नारद भी इसी काल में होते हैं ॥१३८-१३९॥

अब चौबीस तीर्थंकरों का सविस्तृत वर्णन करते हैं :—

वृषभोऽजिततीर्थेशः सम्भवाख्योऽभिनन्दनः ।
सुमतिः श्रीजिनः पद्मप्रभसुपार्श्वतीर्थकृत् ॥१४०॥
चन्द्रप्रभजिनः पुष्पदन्तः शीतलसंज्ञकः ।
श्रेयान् श्रीवासुपूज्योऽर्हद्विमलोऽनन्ततीर्थकृत् ॥१४१॥
धर्मः शान्तीश्वरः कुन्थुनाथोऽरो मल्लिनामकः ।
मुनिसुव्रततीर्थेशो नमिर्नेमिजिनेश्वरः ॥१४२॥
पार्श्वः श्रीवर्धमानाख्य एते श्रीजिननायकाः ।
त्रिजगन्नाथवन्द्यार्च्याश्चतुर्विंशतिरेव च ॥१४३॥

चन्द्राभपुष्पदन्तौ द्वौ चन्द्रकान्तमणिप्रभौ ।
पद्माभवासुपूज्यौ च पद्मरागमणिच्छवी ॥१४४॥
सुपार्श्वपार्श्वतीर्थेशौ स्फुरन्मरकतद्युती ।
नेमीशसुव्रतौ श्यामौ शेषास्ते कनकप्रभाः ॥१४५॥
मुनिसुव्रतनेमीशौ हरिवंशशिरोमणी ।
शान्तिकुन्थ्वरतीर्थेशा कुरुवंशविभूषणाः ॥१४६॥
उग्रवंशाग्रणीः पार्श्वो वीरो नाथान्वयोद्भवः ।
इक्ष्वाकुकुलसञ्जाता जिनाः सप्तदशापरे ॥१४७॥
चापपञ्चशतान्याद्ये चोनं पञ्चाशदष्टसु ।
दश-पञ्चसु चापानि हीनानि पञ्च चाष्टसु ॥१४८॥
नव सप्तकराः प्रोक्ताः क्रमेण पार्श्ववीरयोः ।
उत्सेधास्तीर्थकर्तॄणां विज्ञाङ्गेषु भवन्त्यमी ॥१४९॥
आयुश्चतुरशीतिश्च प्रथमश्रीजिनेशिनः ।
ततो द्वासप्ततिः षष्टिः पूर्वलक्षाणि चार्हताम् ॥१५०॥
तेभ्यो दशविहीनानि पञ्चानां हि क्रमात् तथा ।
पूर्वलक्षद्वयं जेष्ठायुः पूर्वलक्षमर्हतः ॥१५१॥
लक्षाश्चतुरशीतिः सम्वत्सराणां द्विसप्ततिः ।
षष्टिस्त्रिशद्दशैवायुस्ततो लक्षैकमञ्जसा ॥१५२॥
पंचाग्रा नवतिर्वर्षाण्यशीतिश्चतुरुत्तरा ।
आयुश्च पंचपंचाशत् सहस्राणि पृथक् ततः ॥१५३॥
त्रिशद्दशसहस्राणि सहस्रैकं ततः परम् ।
वर्षाण्यायुः शतैकं स्याद्वर्धमाने द्विसप्ततिः ॥१५४॥

अर्थः—वृषभनाथजी, अजितनाथ तीर्थंकर, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ-जिनेन्द्र, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयान्सनाथ, वासुपूज्य अर्हन्त, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान नाम के ये चौबीस तीर्थंकर हुये हैं। ये चौबीसों तीर्थंकर तीनों लोकों के स्वामियों द्वारा अर्थात् सुरेन्द्र, धरणेन्द्र और नरेन्द्रों के द्वारा वन्दनीय एवं अर्चनीय हैं ॥१४०-१४३॥ इन चौबीस तीर्थंकरों में से चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त भगवान् के शरीर की कान्ति चन्द्रकान्तमणि की

प्रभा के सदृश श्वेत, पद्मप्रभ और वासुपूज्य भगवान् के शरीर की आभा पद्मरागमणि की आभा के सदृश लाल, सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ तीर्थंकरों की कान्ति मरकत मणि की कान्ति सदृश हरित, नेमिनाथ और मुनिसुव्रतनाथ के शरीर की द्युति श्याम तथा अन्य अवशेष सोलह तीर्थंकरों के शरीर की कान्ति कनकप्रभाके सदृश थी ॥१४४-१४५॥

मुनिसुव्रतनाथ और नेमिनाथ हरिवंश के शिरोमणि थे। शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ कुरुवंश के विभूषण थे, पार्श्वनाथ उग्रवंश के अग्रणी थे, वीरनाथ नाथवंश के एवं अन्य शेष सत्रह जिनेश्वर इक्ष्वाकुवंश के आभूषण थे। अर्थात् इन-इन वंशों में उत्पन्न हुए थे ॥१४६-१४७॥

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान् के शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष प्रमाण थी, द्वितीयादि आठ तीर्थंकरों की ५०-५० धनुष कम अर्थात् ४५०, ४००, ३५०, ३००, २५०, २००, १५० और १०० धनुष थी। दशवें आदि पांच तीर्थंकरों की १०-१० धनुष कम अर्थात् ९०, ८०, ७०, ६० और ५० धनुष थी। पन्द्रहवें आदि आठ तीर्थंकरों की क्रमशः ५-५ धनुष कम अर्थात् ४५, ४०, ३५, ३०, २५, २०, १५ और १० धनुष थी। पार्श्वनाथ भगवान् की ९ हाथ और वीर नाथ भगवान की ७ हाथ प्रमाण ऊँचाई थी, इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों के दिव्य शरीरों का उत्सेध था ॥१४८-१४९॥

चौबीस तीर्थंकरों में से प्रथम तीर्थंकर की आयु चौरासी लाख पूर्व, द्वितीय की बहत्तर लाख पूर्व और तृतीय की साठ लाख पूर्व थी। इसके आगे पाँच-पाँच तीर्थंकरों की क्रमशः १०-१० लाख पूर्व कम, पुष्पदन्त की दो लाख पूर्व और शीतलनाथ की एक लाख पूर्व की आयु थी। श्रेयांसनाथ की ८४ लाख वर्ष, वासुपूज्य की ७२ लाख वर्ष, विमलनाथ की ६० लाख वर्ष, अनन्तनाथ की ३० लाख वर्ष, धर्मनाथ की १० लाख वर्ष, शान्तिनाथ की एक लाख वर्ष, कुन्थुनाथ की ९५ हजार वर्ष, अरनाथ की ८४ हजार वर्ष मल्लिनाथ की ५५ हजार वर्ष, मुनिसुव्रतनाथ की ३० हजार वर्ष, नमिनाथ की १० हजार वर्ष, नेमिनाथ की एक हजार वर्ष, पार्श्वनाथ की १०० वर्ष और वर्धमान स्वामी की ७२ वर्ष प्रमाण आयु थी ॥१५०-१५४॥

अथ कायायुषोः सुखबोधाय विस्तरमाह :—

वृषभस्याङ्गोत्सेधःपञ्चशतधनूंषि। आयुश्चतुरशीति लक्षपूर्वाणि। अजितस्योन्नतिः सार्धचतुःशतचापानि। आयुर्द्वासप्ततिर्लक्षपूर्वाणि। सम्भवस्योत्सेधः चतुःशतधनूंषि, आयुः षष्ठिलक्षपूर्वाणि। अभिनन्दनस्याङ्गोन्नतिः सार्धत्रिशतचापानि, आयुः पञ्चाशल्लक्षपूर्वाणि। सुमतेरुन्नतिः त्रिशतधनूंषि, आयुश्चत्वारिंशल्लक्ष पूर्वाणि। पद्मप्रभस्योत्सेधः सार्धद्विशतचापानि, आयुस्त्रिंशल्लक्षपूर्वाणि। सुपार्श्वस्योन्नतिर्द्विशतधनूंषि, आयुर्विंशतिलक्षपूर्वाणि। चन्द्रप्रभस्योत्सेधः सार्धशतचापानि, आयुर्दशलक्षपूर्वाणि। पुष्पदन्तस्योन्नतिः शतधनूंषि, आयुर्द्विलक्षपूर्वाणि। शीतलोत्सेधः नवतिचापानि, आयुरेकलक्षपूर्वाणि। श्रेयसः उन्नतिरशीतिधनूंषि, आयुश्चतुरशीतिलक्षवर्षाणि। वासुपूज्योत्सेधः सप्ततिचापानि, आयुर्द्वासप्ततिलक्षवर्षाणि। विमलस्योत्सेधः षष्टिधनूंषि, आयुः षष्ठिलक्षवर्षाणि। अनन्तस्योन्नतिः पञ्चाशच्चापानि, आयुस्त्रिंशल्लक्षवर्षाणि। धर्मस्योत्सेधः पञ्चचत्वारिंशद्धनूंषि, आयुर्दशलक्ष-

वर्षाणि । शान्तेरुन्नतिश्चत्वारिंशच्चापानि, आयुरेकलक्षवर्षाणि । कुन्थोरुत्सेधः पञ्चत्रिंशद्धनूंषि, आयुः पञ्चनवतिसहस्रवर्षाणि । अरस्योन्नतिस्त्रिंशच्चापानि, आयुश्चतुरशीतिसहस्रवर्षाणि । मल्लिनाथस्योत्सेधः पञ्चविंशतिधनूंषि, आयुः पञ्चपञ्चाशत्सहस्रवर्षाणि । मुनिसुव्रतस्योन्नतिर्विंशति चापानि, आयुस्त्रिंशत्सहस्रवर्षाणि । नमेरुत्सेधः पञ्चदशधनूंषि, आयुर्दशसहस्रवर्षाणि । नेमेरुन्नतिर्दशचापानि, आयुः सहस्रवर्षाणि । पार्श्वस्योत्सेधः नवहस्ताः, आयुः शतवर्षाणि । वर्धमानस्योन्नतिः सप्तकराः आयुर्द्विसप्ततिवर्षाणि ।

उपर्युक्त गद्य में वर्णित चौबीस तीर्थंकरों के शरीर के उत्सेध का प्रमाण और आयु का प्रमाण निम्न लिखित तालिका द्वारा दर्शाया जा रहा है :—

चौबीस तीर्थंकरों की आयु एवं उत्सेध :—

क्रम	नाम	आयु	उत्सेध
१	ऋषभनाथ	८४ लाख पूर्व	५०० धनुष
२	अजितनाथ	७२ ,, ,,	४५० ,,
३	सम्भवनाथ	६० ,, ,,	४०० ,,
४	अभिनन्दननाथ	५० ,, ,,	३५० ,,
५	सुमतिनाथ	४० ,, ,,	३०० ,,
६	पद्मनाथ	३० ,, ,,	२५० ,,
७	सुपार्श्वनाथ	२० ,, ,,	२०० ,,
८	चन्द्रप्रभ	१० ,, ,,	१५० ,,
९	पुष्पदन्त	२ ,, ,,	१०० ,,
१०	शीतलनाथ	१ ,, ,,	९० ,,
११	श्रेयांसनाथ	८४ लाख वर्ष	८० ,,
१२	वासुपूज्य	७२ ,, ,,	७० ,,
१३	विमलनाथ	६० ,, ,,	६० ,,
१४	अनन्तनाथ	३० ,, ,,	५० ,,
१५	धर्मनाथ	१० ,, ,,	४५ ,,
१६	शान्तिनाथ	१ ,, ,,	४० ,,
१७	कुन्थुनाथ	९५ हजार वर्ष	३५ ,,
१८	अरनाथ	८४ ,, ,,	३० ,,
१९	मल्लिनाथ	५५ ,, ,,	२५ ,,
२०	मुनिसुव्रत	३० ,, ,,	२० ,,
२१	नमिनाथ	१० ,, ,,	१५ ,,
२२	नेमिनाथ	१ ,, ,,	१० ,,
२३	पार्श्वनाथ	१०० वर्ष	९ हाथ
२४	वर्धमान	७२ वर्ष	७ हाथ

अब तीर्थंकरों का अन्तरकाल कहते हैं :—

गतेऽत्र वृषभे निर्वाणं जातेऽजितनायके ।
तयोस्तीर्थेशयोर्मध्ये गतकालो जिनान्तरः ॥१५५॥
पञ्चाशल्लक्षकोटयश्च सागराः प्रथमान्तरम् ।
सार्धाष्टमाससंयुक्तं त्रिवर्षाग्रमतं परम् ॥१५६॥
शेषं मध्येऽन्तरस्यास्यैवाजितस्यायुरञ्जसा ।
इत्यन्तरस्य मध्ये स्यादायुः शेषजिनेशिनाम् ॥१५७॥
ततोऽब्धिलक्षकोटीनां त्रिंशद्दश नव क्रमात् ।
तथा सहस्रकोटीनां नवतिः क्रमतो नव ॥१५८॥
कोटयो नवशतान्येव कोटयो नवतिर्नव ।
ततः शतोन कोटयेका, जिनेन्द्रस्यान्तरं पृथक् ॥१५९॥
षट्षष्टिलक्षषड्विंशसहस्रवत्सरोनितम् ।
सागरा हि चतुः पञ्चाशत्त्रिंशच्च नवान्तरम् ॥१६०॥
चत्वारोऽम्बुधयः पादोनपल्यवर्जितास्त्रयः ।
पल्यार्धं पल्य पादं सहस्रकोटिसमोनितम् ॥१६१॥
सहस्रकोटिवर्षाणि मध्येऽर्हतो जिनान्तरम् ।
सम्वत्सराश्चतुः पञ्चाशल्लक्षाः षट् च पञ्च हि ॥१६२॥
सार्धसप्तशताग्रास्त्र्यशीतिसहस्रवत्सराः ।
सार्धद्विशतवर्षाणि ततोऽपरं जिनान्तरम् ॥१६३॥
हीनं सार्धाष्टमासाधिकवर्षं त्रिभिरंजसा ।
चतुर्विंशार्हतामित्थं पृथक् पृथग्जिनान्तरम् ॥१६४॥
इत्युक्त कालमध्येषु जगन्नाथा जिनेश्वराः ।
हत्वा कृत्स्नान्कर्माणि जग्मुर्मोक्षं जगद्धिताः ॥१६५॥
यदा चतुर्थकालस्य सार्धाष्टमाससंयुते ।
सति वर्षत्रये शेषे तदा वीरोऽगमच्छिवम् ॥१६६॥
एषां जिनान्तराणां च मध्ये क्षिप्तेषु सत्सु वै ।
द्व्येकविंशसहस्राब्देषु पंचमान्त्यकालयोः ॥१६७॥

जिनान्तराणि सर्वाणि पिण्डितानि भवन्ति च ।
कोटीकोटयब्धयः कालसंख्ययात्र जिनेशिनाम् ।।१६८।।

अर्थः—वृषभदेव भगवान् के मोक्ष जाने के बाद अजितनाथ भगवान् मोक्ष गये, इन दोनों तीर्थंकरों के मध्य में जो काल व्यतीत होता है, वही तीर्थंकरों का अन्तरकाल कहलाता है ।।१५५।। प्रथम अन्तर पचास करोड़ सागर तीन वर्ष और साढ़े आठ माह प्रमाण था। इस ऋषभनाथ और अजितनाथ के प्रथम अन्तर के मध्य में अजितनाथ भगवान् की आयु सम्मिलित हो जानना। इसी प्रकार अन्य अन्तरालों में अन्य तीर्थंकरों की आयु भी सम्मिलित है ।।१५६-१५७।। इसके बाद दूसरे आदि अन्तराल क्रमशः तीस लाख करोड़ सागर, दश लाख करोड़ सागर, नव लाख करोड़ सागर, ९० हजार करोड़ सागर, नव हजार करोड़ सागर, ९०० करोड़ सागर, ९० करोड़ सागर, ९ करोड़ सागर और ६६ लाख २६ हजार एक सौ सागरों से हीन एक करोड़ (३३७३९००) सागर था। इस ग्यारहवें अन्तराल के बाद क्रमशः चौवन सागर, तीस सागर, नौ सागर, चार सागर, पौन पल्य कम तीन सागर, अर्ध पल्य, हजार करोड़ वर्ष कम चौथाई पल्य, हजार करोड़ वर्ष, चौवन लाख वर्ष, छह लाख वर्ष और पाँच लाख वर्ष प्रमाण जिनान्तर जानना चाहिए ।।१५८-१६२।। इसके बाद तेरासी हजार सात सौ पचास वर्ष और अन्तिम अन्तर दो सौ पचास वर्षों में से तीन वर्ष, साढ़े आठ मास कम अर्थात् दो सौ छयालीस वर्ष तीन मास और एक पक्ष प्रमाण था। इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों का यह पृथक्-पृथक् अन्तरकाल जानना चाहिए ।।१६३-१६४।। इस उपर्युक्त काल में त्रैलोक्य हित कर्ता, तीन लोक के स्वामी जिनेश्वर भगवान् द्रव्य कर्म, नोकर्म और भाव कर्मों का नाश कर मोक्ष गये ।।१६५।। जब चतुर्थ काल के तीन वर्ष साढ़े आठ मास अवशेष थे तब वीर प्रभु ने मोक्ष प्राप्त किया था ।।१६६।। चौबीस जिनेन्द्रों के सम्पूर्ण अन्तर कालों को एकत्रित करके उसमें पंचम और छठवें काल के ४२००० वर्ष और मिला देने पर एक कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण हो जाता है ।।१६७-१६८।।

विशेषः—पूर्व पूर्व तीर्थंकर के अन्तर में उत्तर-उत्तर तीर्थंकर की आयु संयुक्त रहती है अतः सम्पूर्ण अन्तराल काल में ४२००० वर्ष जोड़ देने से एक कोटाकोटि सागरोपम हो जाता है।

इदानीं पृथक् पृथग्बालावबोधाय जिनान्तराण्युच्यन्ते :—

वृषभे निर्वाणं गते सति जिनान्तरं सागरोपमानां सार्धाष्टमासत्रिवर्षाधिक पंचाशल्लक्षकोटयः। अजिते च त्रिंशल्लक्षकोटयः। सम्भवे दशलक्ष कोटयः। अभिनंदने नवलक्षकोटयः। सुमतौ नवतिसहस्रकोटयः पद्मप्रभे नवसहस्रकोटयः। सुपार्श्वे नवशतकोटयः। चन्द्रप्रभे नवतिकोटयः। पुष्पदन्ते नवकोटयः। शीतले षट्षष्टिलक्षषड्विंशतिसहस्रवर्षहीन नवनवति सहस्र नवशतकोटयः। श्रेयसि जिनान्तरं सागराणां चतुःपंचाशत्। वासुपूज्ये त्रिंशत्। विमले नव। अनन्ते चत्वारः। धर्मे पादोनपल्यहीनत्रिसागराः। शान्तौ

पल्यार्धम् । कुन्थौ सहस्रकोटि वर्षोनपल्य पादं । अरे सहस्रकोटि वर्षाणि । मल्लिनाथे चतुःपञ्चाशल्लक्ष-वर्षाणि । मुनिसुव्रते षड्लक्षवर्षाणि । नमिनाथे पञ्चलक्षवर्षाणि । नेमिनाथे सार्धसप्तशताधिकत्र्य-शीतिसहस्रवर्षाणि । पार्श्वे निर्वाणं गते श्री वर्धमाने उत्पन्ने सति तयोः पार्श्ववर्धमानयोर्मध्ये जिनांतरं सार्धाष्टमासाग्रत्रिवर्षहीनसार्धद्विशतवर्षाणि । यदा वीरनाथो मोक्षं गतः तदा चतुर्थकालः सार्धाष्टमास त्रिवर्षप्रमोऽवशिष्टोऽभूत् । पञ्चमषष्ठसमानकालयोर्द्वयोः संख्या द्विचत्वारिंशत्सहस्रवर्षाणि । एवं सर्वे जिनान्तरकालाः एकत्रीकृताः कोटीकोटिसागरोपमाः भवन्ति ।

अर्थः—वृषभनाथ भगवान् के मोक्ष चले जाने पर ५० करोड़ लाख सागर ३ वर्ष ८½ माह व्यतीत हो जाने पर अजितनाथ भगवान् मुक्ति गये । अजितनाथ के मोक्ष जाने के बाद तीस लाख करोड़ सागर का, सम्भवनाथ भगवान् के बाद दश लाख करोड़ सागर का, अभिनन्दन नाथ के जाने पर ९ लाख करोड़ सागर का, सुमतिनाथ के बाद ९० हजार करोड़ सागर का, पद्मप्रभु के बाद नौ हजार करोड़ का, सुपार्श्वसागर के बाद ९ सौ करोड़ सागर का, चन्द्रप्रभु के बाद ९० करोड़ सागर का, पुष्पदन्त के मोक्ष जाने के बाद ९ करोड़ सागर का, शीतलनाथ के मोक्ष जाने के बाद (एक करोड़ सागर) १००००००० — ६६२६१०० = ३३७३९०० सागर का, श्रेयांसनाथ भगवान के मोक्ष जाने के बाद ५४ सागर का, वासुपूज्य भगवान् के ३० सागर का, विमलनाथ के ९ सागर का, अनन्तनाथ के चार सागर का, धर्मनाथ के मोक्ष जाने के बाद ¾ पल्य कम तीन सागर—अर्थात् ३ सागर—¾ पल्य = २ सागर और ९९९९९९९९९९९९९९९¼ पल्य का, शान्तिनाथ के मोक्ष गमन के बाद अर्ध पल्य का, कुन्थु-नाथ के बाद हजार करोड़ वर्ष कम ¼ पल्य (¼ पल्य — १००० करोड़ वर्ष) का, अरनाथ के एक हजार करोड़ वर्ष का, मल्लिनाथ के ५४००० वर्ष का, मुनिसुव्रतनाथ के ६००००० वर्षों का, नमिनाथ के ५००००० वर्षों का, नेमिनाथ के ८३७५० वर्षों का और पार्श्वनाथ भगवान् के मोक्ष जाने के बाद तीन वर्ष साढ़े आठ मास कम २५० वर्ष अर्थात् (२५०—३ वर्ष ८½ मास) = २४६ वर्ष, ३ मास और एक मास बाद वीर प्रभु मोक्ष गये अतः यह पार्श्वजिनेन्द्र और वीरजिनेन्द्र इन दोनों के मध्य का अन्तर है । जब वर्धमान स्वामी मोक्ष गये तब चतुर्थकाल के तीन वर्ष ८½ मास अवशेष थे पञ्चम और षष्ठ ये दोनों काल इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष के हैं, इन दोनों का एकत्रित काल ४२००० वर्ष प्रमाण है जिनेन्द्रों के सर्व अन्तर कालों को एकत्रित करके उसमें दोनों कालों के ४२००० वर्ष जोड़ देने पर एक कोटाकोटि सागरोपम का प्रमाण हो जाता है ॥

अब जिनधर्म का उच्छेदकाल दर्शाते हैं :—

पुष्पदन्तस्य कालान्ते धर्मव्युच्छित्तिरंजसा ।
पल्यस्यासीच्चतुर्थांशः पल्यार्धं शीतलस्य च ॥१६६॥

श्रेयसः प्रोक्त तीर्थान्ते पादोनपल्यकालेन च ।
वासुपूज्यस्य पल्यैकं धर्मनाशो ह्यभावत् ।।१७०।।
पादोनपल्यमिव श्रीविमलस्य जिनान्तरे ।
धर्मनाशोऽप्यनन्तस्य पल्यार्धं कालदोषतः ।।१७१।।
धर्मनाथजिनेन्द्रस्य भागे जिनान्तरान्तिमे ।
पल्यपादोऽभवद् वक्तृश्रोतृयत्पाद्यऽभावतः ।।१७२।।

अर्थः—पुष्पदन्त भगवान् के काल के अन्त में $\frac{1}{4}$ पल्य तक धर्म का व्युच्छेद रहा। शीतलनाथ के अन्तराल में अर्धपल्य, श्रेयांसनाथ के तीर्थकाल के अन्त में $\frac{3}{4}$ पल्य और वासुपूज्य भगवान् के तीर्थ-काल के अन्त में एक पल्य पर्यन्त मुनि और श्रावक इन दोनों प्रकार के धर्म का अभाव रहा। विमल जिनेन्द्र के अन्तर काल के अन्त में $\frac{3}{4}$ पल्य तक तथा कालदोष से अनन्तनाथ के तीर्थ में अर्धपल्य पर्यन्त धर्म का नाश रहा और धर्मनाथ जिनेन्द्र के अन्तर काल के अन्तिम भाग में $\frac{1}{4}$ पल्य पर्यन्त वक्ता और श्रोता दोनों का सर्वथा अभाव रहा। अर्थात् सुविधिनाथ और शीतलनाथ के अन्तराल में $\frac{1}{4}$ पल्य तक, शीतलनाथ और श्रेयांसनाथ के अन्तराल में $\frac{1}{2}$ पल्य तक, श्रेयांस एवं वासुपूज्य के अन्तराल में $\frac{3}{4}$ पल्य तक, वासुपूज्य और विमलनाथ के अन्तराल में एक पल्य तक, विमल एवं अनन्त नाथ के अन्तराल में $\frac{3}{4}$ पल्य तक, अनन्तनाथ एवं धर्मनाथ के अन्तराल में $\frac{1}{2}$ और धर्मनाथ एवं शांति-नाथ के अन्तराल में $\frac{1}{4}$ पल्य तक जैनधर्म का अत्यन्त विच्छेद रहा। अर्थात् चतुर्थकाल में ४ पल्य तक जैन धर्म के अनुयायियों का सर्वथा अभाव रहा ।।१६९–१७२।।

अब हुण्डावसर्पिणी काल की विशेषताओं को दर्शाते हैं :—

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यसंख्यातेषु गतेष्वपि ।
हुण्डावसर्पिणीकाल इहायाति न चान्यथा ।।१७३।।
तस्यां हुण्डावसर्पिण्यां पंचपाखण्डदर्शनम् ।
शलाकापुरुषा ऊनाः सङ्गभेदा अनेकशः ।।१७४।।
जिनशासनमध्ये स्युर्विपरीता मतान्तराः ।
चीवराद्यावृता निन्द्याः सग्रन्थाः सन्ति लिङ्गिनः ।।१७५।।
उपसर्गा जिनेन्द्राणां मानभङ्गाश्च चक्रिणाम् ।
कुदेवमठमूर्त्याद्याः कुशास्त्राणि कुरागमाः ।।१७६।।
दुर्मार्गा गुरवः काम-लालसा दुर्दृशोजनाः ।
इत्याद्या अपरेऽनिष्टा जायन्ते बहवोऽशुभाः ।।१७७।।

अर्थ:—असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणियों के व्यतीत हो जाने पर इह अर्थात् भरतैरावत क्षेत्रों में एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है, इसके पूर्व नहीं आता ॥ १७३ ॥ इस हुण्डावसर्पिणी काल में पाँच प्रकार के पाखण्डों के दर्शन होते हैं। शलाका पुरुष कम अर्थात् ६३ न होकर ५८ होते हैं। जिनशासन के मध्य भी मूलसंघ, काष्ठासंघ आदि अनेक भेद हो जाते हैं। जैनधर्म से अत्यन्त विपरीत प्रवृत्ति वाले अनेक मतान्तरों का जन्म हो जाता है। वस्त्र आदि से युक्त तथा परिग्रह से युक्त अनेक निन्दनीय लिंग को धारण करने वाले साधु बहुत होते हैं। तीर्थंकरों पर उपसर्ग और चक्रवर्ती का मानभङ्ग होता है। खोटे देवों के मठ तथा उनकी मूर्तियाँ, खोटे शास्त्र, खोटा आगम, खोटे मार्ग पर चलने वाले गुरु और काम आदि लालसा से युक्त तथा अत्यन्त दयनीय दशा को प्राप्त मनुष्य बहुत होते हैं। इस प्रकार और भी अनेक प्रकार के अनिष्ट और अशुभ कार्य आदि इस काल में स्वयमेव उत्पन्न होते हैं ॥१७४–१७७॥

अब बारह चक्रवर्तियों के नाम, उत्सेध एवं उनकी आयु का कथन करते हैं :—

प्रथमो भरतश्चक्री सगरो मघवाह्वयः ।
सनत्कुमारचक्रेशः शान्तिकुन्थ्वरचक्रिणः ॥१७८॥

सुभौमश्च महापद्मो हरिषेणो जयोऽन्तिमः ।
ब्रह्मदत्तोद्विषट् ह्येते हेमाभाः सन्ति चक्रिणः ॥१७९॥

भरतस्य समुत्सेधो धनुः पंचशतप्रमः ।
आयुश्चतुरशीतिश्च पूर्वलक्षाण्यखण्डितम् ॥१८०॥

उन्नतिः सगरेशस्य सार्धशतचतुष्टयम् ।
चापानां पूर्वलक्षाण्यायुर्द्विसप्ततिरेव च ॥१८१॥

उच्छ्रितिर्मघवाख्यस्य धनुः सार्धद्विसंयुता ।
चत्वारिंशत्प्रमायुश्च पंचलक्षाब्द सम्मितम् ॥१८२॥

कायोत्तुङ्गश्च सार्धैक चत्वारिंशद्धनुः प्रमः ।
आयुर्वर्षत्रिलक्षाणि सनत्कुमारचक्रिणः ॥१८३॥

शान्तेर्देहोन्नतिश्चत्वारिंशच्चापानि निश्चितम् ।
आयुर्वर्षसरलक्षैकं जिनकामपदेशिनः ॥१८४॥

कुन्थोः शरीरतुङ्गोऽस्ति पंचत्रिंशद्धनुः प्रमः ।
आयुर्वर्षसहस्राणि पंचाग्रनवतिः परम् ॥१८५॥

अरस्य वपुरुत्सेधो भवेत् त्रिंशद्धनुः प्रमः ।
आयुश्चतुरशीतिश्चाब्दसहस्राण्यखण्डितम् ॥१८६॥

सुभौमस्योच्छ्रितिश्चापान्यष्टाविंशतिरेव च ।
आयुः षष्टिसहस्राणि वर्षाणां खण्डवर्जितम् ॥१८७॥

महापद्मस्य चोत्सेधो द्वाविंशतिधनुः प्रमः ।
आयुस्त्रिंशत्सहस्राणि वत्सराणां परं ततः ॥१८८॥

प्रोन्नतिर्हरिषेणस्य चापविंशतिसम्मिता ।
आयुर्दशसहस्राणि वर्षाणां चक्रवर्तिनः ॥१८९॥

जयस्य वपुरुत्तुङ्गो धनुः पञ्चदशप्रमः ।
आयुः सम्वत्सराणां च त्रिसहस्राणि चक्रिणः ॥१९०॥

उत्सेधो ब्रह्मदत्तस्य चापसप्तप्रमाणकः ।
आयुः सप्तशतान्येव वर्षाणां रत्नभोगिनः ॥१९१॥

अर्थः—चतुर्थकाल में (१) भरत, (२) सगर, (३) मघवान्, (४) सनत्कुमार, (५) शांतिजिन, (६) कुन्थुजिन, (७) अरजिन, (८) सुभौम, (९) महापद्म, (१०) हरिषेण, (११) जय और अन्तिम (१२) ब्रह्मदत्त ये बारह चक्रवर्ती हुए हैं। इन सर्व चक्रवर्तियों के शरीर की आभा स्वर्ण वर्ण के सदृश थी ॥१७८–१७९॥ भरत चक्रवर्ती के शरीर का उत्सेध ५०० धनुष और आयु ८४०००० पूर्व की थी ॥१८०॥ सगर चक्रवर्ती का उत्सेध ४५० धनुष और आयु ७२००००० पूर्व की थी ॥१८१॥ मघवा का उत्सेध ४२३ धनुष और आयु ५००००० वर्ष की थी ॥ १८२ ॥ सनत्कुमार चक्रवर्ती का उत्सेध ४१३ धनुष और आयु ३००००० वर्ष की थी ॥ १८३ ॥ शान्तिनाथ का उत्सेध ४० धनुष और आयु १००००० वर्ष की थी, ये चक्रवर्ती, तीर्थंकर और कामदेव इन तीन पदों के धारी थे ॥१८४॥ कुन्थुनाथ का उत्सेध ३५ धनुष और आयु ९५००० वर्ष प्रमाण थी (आप भी तीन पद धारी थे) ॥१८५॥ अरनाथ का उत्सेध ३० धनुष और आयु ८४००० वर्ष की थी ॥१८६॥ सुभौम चक्रवर्ती का उत्सेध २८ धनुष और आयु ६०००० वर्ष प्रमाण थी ॥१८७॥ महापद्म का उत्सेध २२ धनुष और आयु ३०००० वर्ष की थी ॥ १८८ ॥ हरिषेण का उत्सेध २० धनुष और आयु १०००० वर्ष की थी ॥१८९॥ जय चक्रवर्ती का उत्सेध १५ धनुष और आयु ३००० वर्ष प्रमाण थी ॥१९०॥ अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का उत्सेध ७ धनुष प्रमाण और आयु ७०० वर्ष प्रमाण थी, ये सभी चौदह रत्नों के भोक्ता हुये हैं ॥१९१॥

अब पाँच श्लोकों द्वारा चक्रवर्तियों के वर्तना काल का कथन करते हैं :—

काले प्रवर्तमानेऽभूद् भरतो वृषभस्य च ।
सगरोऽजितनाथस्य वर्तमानस्य सम्प्रति ।।१६२।।
सञ्जातौ मघवाभिख्यसनत्कुमारचक्रिणौ ।
जिनान्तरेऽत्र धर्मस्य चक्रिणः स्युर्जिनास्त्रयः ।।१६३।।
सुभौमचक्रभृज्जातोऽप्यरनाथजिनान्तरे ।
महापद्मसमुत्पन्नो मल्लिनाथजिनान्तरे ।।१६४।।
चक्रेशो हरिषेणो मुनिसुव्रतजिनान्तरे ।
अभूच्चक्री जयाख्यश्च नमिनाथजिनान्तरे ।।१६५।।
ब्रह्मदत्ताह्वयो जातो नेमीशस्य जिनान्तरे ।
इति चक्राधिपा जाता जिनकाले जिनान्तरे ।।१६६।।

अर्थ :—वृषभनाथ तीर्थंकर के काल में भरत चक्रवर्ती और अजितनाथ के काल में सगर चक्रवर्ती हुए थे ।।१६२।। मघवा और सनत्कुमार ये दो चक्रवर्ती धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल में, शान्ति, कुन्थु और अर नाथ ये तीन चक्रवर्ती स्वयं जिन थे ।। १६३ ।। सुभौमचक्री, अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तराल में, महापद्म चक्रवर्ती मल्लिनाथ और मुनिसुव्रत के अन्तराल में, हरिषेण चक्रवर्ती मुनिसुव्रत और नमिनाथ के अन्तराल में उत्पन्न हुए थे। जय चक्री नमि और नेमिनाथ के अन्तराल में तथा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के अन्तराल में उत्पन्न हुए थे, इस प्रकार बारह चक्रवर्तियों में से कोई तो जिनेन्द्र के काल में और कोई अन्तराल में उत्पन्न हुए थे ।।१६४-१६६।।

अब चक्रवर्तियों की गति विशेष कहते हैं :—

सुभौमब्रह्मदत्ताख्यौ बह्वारम्भपरिग्रहैः ।
जात पापैर्विना धर्मं सप्तमं नरकं गतौ ।।१६७।।
चक्रेशौ मघवाभिख्यसनत्कुमारसंज्ञकौ ।
सनत्कुमारकल्पं च जग्मतुर्व्रतपुण्यतः ।।१६८।।
शेषाश्चक्रिणो हत्वा तपो ध्यानासिना बलात् ।
कृत्स्नकर्मरिपून् जग्मुर्मोक्षं रत्नत्रयाङ्किताः ।।१६९।।

अर्थ:—सुभौम और ब्रह्मदत्त ये दो चक्रवर्ती बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह से उपार्जित पाप के कारण धर्म भावना से रहित होते हुए सप्तम नरक में गये हैं ।।१६७।। मघवा और सनत्कुमार नाम

के दो चक्रवर्ती व्रत और धर्म (पुण्य) के प्रभाव से सनत्कुमार स्वर्ग में गये हैं ।।१९८।। रत्नत्रय से अलंकृत शेष आठ चक्रवर्ती तप एवं ध्यान रूपी तलवार के बल से सम्पूर्ण कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करके मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं ।।१९९।।

अब नव बलदेवों के नाम, उनका उत्सेध और आयु का कथन करते हैं :—

विजयोऽथाचलो धर्मः सुप्रभाख्यः सुदर्शनः ।
नन्दी च नन्दिमित्रोऽत्र रामः पद्म इमे बलाः ।।२००।।
उत्सेधो विजयेशस्य चापाशीतिप्रमः स्मृतः ।
सप्ताग्राशीतिलक्षाणि वर्षाणामायुरञ्जसा ।।२०१।।
कायोत्सेधोऽचलस्यास्ति धनुः सप्ततिमानकः ।
सप्तसप्ततिलक्षाण्यब्दानामायुरखण्डितम् ।।२०२।।
धर्मस्य वपुरुत्तुङ्गः षष्टिचापप्रमाणकः ।
सप्ताग्रषष्टिलक्षाणि वर्षाणि चायुरुत्तमम् ।।२०३।।
तुङ्गत्वं सुप्रभाख्यस्य पञ्चाशद्दण्डसम्मितम् ।
आयुरखण्डितं सप्तत्रिंशल्लक्षाब्दमानकम् ।।२०४।।
सुदर्शनस्य देहः पञ्चचत्वारिंशदुन्नतः ।
चापानि जीवितं सप्तदशलक्षाब्दगोचरम् ।।२०५।।
उन्नतिर्नन्दिनश्चैकोनत्रिंशद्दण्डसम्मिता ।
सप्तषष्टिसहस्राण्यायुर्वर्षाणामखण्डितम् ।।२०६।।
उच्चत्वं नन्दिमित्रस्य द्वाविंशतिधनुः समः ।
त्रिंशत्सहस्रवर्षाणि ह्यायुर्बलपदेशिनः ।।२०७।।
रामस्याङ्गसमुत्सेधः चापषोडशसंख्यकः ।
सप्ताग्रदशसंख्यान्यब्दसहस्राणि जीवितम् ।।२०८।।
अङ्गोन्नतिश्च पद्मस्य दशदण्डप्रमा मता ।
आयुर्वर्षाणि च द्वादशशतप्रमितान्यपि ।।२०९।।

अर्थः—विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, राम और पद्म ये बलदेव हैं। ।।२००।। विजय बलदेव का उत्सेध ८० धनुष और आयु ८७ लाख वर्ष की थी ।।२०१।। अचल का उत्सेध ७० धनुष और आयु ७७ लाख वर्ष, धर्म का उत्सेध ६० धनुष और आयु ६७ लाख वर्ष, सुप्रभ का उत्सेध ५० धनुष और आयु ३७ लाख वर्ष, सुदर्शन का उत्सेध ४५ धनुष और आयु १० लाख वर्ष,

नन्दी बलदेव का उत्सेध २९ धनुष और आयु ६७ हजार वर्ष, नन्दिमित्र का उत्सेध २२ धनुष और आयु ३७ हजार वर्ष, राम बलदेव का उत्सेध, १६ धनुष और आयु १७ हजार वर्ष तथा नवमें बलभद्र पद्म का उत्सेध १० धनुष और आयु १२०० वर्ष प्रमाण थी ।।२०२-२०९।।

अब बलभद्रों के रत्न, अन्य सम्पदा, शरीर का वर्ण और प्राप्त होने वाली गति का दिग्दर्शन कराते हैं :—

गदा सद् रत्नमाला च मुशलं हलमूर्जितम् ।
सुररक्षाणि चत्वारीमानि रत्नानि सन्ति वै ।।२१०।।
सर्वेषां बलभद्राणां दिव्यरूपाः स्त्रियोऽखिलाः ।
सहस्राष्टप्रमा अन्याः सम्पदः स्युश्च्युतोपमाः ।।२११।।
कुन्देन्दुवर्णा दिव्याङ्गा धर्मशीलाः शुभाशयाः ।
बलेशाः सकला ज्ञेया निसर्गेणोर्ध्वगामिनः ।।२१२।।
हलिनोऽष्टौ विजयाद्यास्तपोध्यानायुधैर्बलात् ।
निहत्य कृत्स्नकर्माणि ययुर्मुक्ति सुखावनिम् ।।२१३।।
पद्मोऽन्तिमो गतो ब्रह्मस्वर्गसोऽप्यमरस्ततः ।
कृष्णं तीर्थेशमभ्येत्य मोक्षं यास्यति दीक्षया ।।२१४।।

अर्थः—सर्व बलभद्रों के, देवों द्वारा रक्षित गदा, रत्नमाला, मूसल और उत्कृष्ट हल ये चार रत्न, दिव्य रूप को धारण करने वालीं आठ-आठ हजार रानियाँ तथा उपमा रहित और भी अन्य बहुत सम्पत्तियाँ होती हैं ।।२१०-२११।। सभी बलदेवों के दिव्य शरीर की आभा कुन्द पुष्प एवं चंद्रमा सदृश होती है । धर्म स्वभावी, शुभ चित्त वाले सभी बलदेवों की स्वभावतः ऊर्ध्वगति ही होती है । ।।२१२।। विजयादि आठ बलभद्र तप एवं ध्यान रूपी शस्त्रों के बल से द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो-कर्मों का नाश कर सुख की भूमि स्वरूप मोक्ष पद को प्राप्त हुए, अन्तिम बलभद्र पद्म ब्रह्मस्वर्ग में देव हुए हैं । कृष्ण नारायण का जीव जब तीर्थंकर होगा तब ये भी दीक्षा धारण करके मोक्ष प्राप्त करेंगे ।।२१३-२१४।।

अब बलभद्रों का वर्तना काल दर्शाते हैं :—

श्रेयसो वर्तमानेऽत्र कालेऽभूद्विजयो बलः ।
वासुपूज्य जिनेशस्या चलः काले प्रवर्तिनि ।।२१५।।
बभूव वर्तमानस्य विमलस्य जिनेशिनः ।
काले धर्मोऽप्यनन्तस्य वर्तमाने च सुप्रभः ।।२१६।।

धर्मस्य वर्तमानेऽभूत्काले सुदर्शनो बलः ।
जिनान्तरेऽरनाथस्य जातो नन्दी नरेश्वरः ।।२१७।।
नन्दिमित्रो बभूव श्रीमल्लिनाथजिनान्तरे ।
मुनिसुव्रतनाथस्य जातो रामो जिनान्तरे ।।२१८।।
नेमिनाथस्य कालेऽभूत्पद्मः प्रवर्तमानकः ।
इत्यत्रोत्पत्तिकालाः स्युर्बलभद्रादिभूभृताम् ।।२१६।।

अर्थः—विजय नामक प्रथम बलदेव श्रेयांसनाथ स्वामी के विद्यमान काल में, अचल बलभद्र वासुपूज्य स्वामी के काल में, धर्म बलभद्र विमलनाथ स्वामी के काल में, सुप्रभ अनन्तनाथ स्वामी के काल में और सुदर्शन बलदेव धर्मनाथ स्वामी के विद्यमान काल में उत्पन्न हुए थे। नन्दी बलदेव अरह-नाथ स्वामी के अन्तरकाल में, नन्दिमित्र मल्लिनाथ स्वामी के अन्तर काल में और राम मुनिसुव्रत नाथ के अन्तर काल में उत्पन्न हुए थे, तथा अन्तिम बलभद्र पद्म, नेमिनाथ स्वामी के विद्यमान काल में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार यहाँ बलभद्र आदि राजाओं के उत्पत्ति काल हैं ।।२१५-२१६।।

अब नौ नारायणों के नाम, स्वभाव, शरीर का वर्ण और उत्सेध का कथन करते हैं :—

त्रिपृष्टाख्यो द्विपृष्टोऽथ स्वयम्भूः पुरुषोत्तमः ।
ततः पुरुषसिंहश्च पुण्डरीकस्त्रिखण्डभाक् ।।२२०।।
दत्ताख्यो लक्ष्मणः कृष्णो वासुदेवा इमे नव ।
रौद्राशयाः प्रकृत्या स्युस्त्रिखण्डभरताधिपाः ।।२२१।।
व्रतशीलतपोहीनाः पञ्चाक्षसुखलोलुपाः ।
उल्लसत्कृष्णवर्णाङ्गा-बलाङ्गोच्चसमोन्नताः ।।२२२।।

अर्थः—१ त्रिपृष्ठ, २ द्विपृष्ठ, ३ स्वयम्भू, ४ पुरुषोत्तम, ५ पुरुषसिंह, ६ (पुरुष) पुण्डरीक, ७ (पुरुष) दत्त, ८ लक्ष्मण और ९ कृष्ण ये नव वासुदेव स्वभावतः रौद्र परिणामी, व्रत, शील एवं तप से हीन, पंचेन्द्रिय सुखों के लोलुपी तथा भरत क्षेत्र में आर्य खण्ड आदि तीन खण्डों के अधिपति हुए हैं। इन सभी के शरीरों का वर्ण कृष्ण एवं उत्सेध बलदेवों के सदृश अर्थात् क्रमशः ८०, ७०, ६०, ५०, ४५, २६, २२, १६ और १० धनुष प्रमाण था ।।२२०-२२२।।

अब सर्व नारायणों की आयु का कथन करते हैं :—

लक्षाश्चतुरशीतिश्च वर्षाणामायुरञ्जसा ।
त्रिपृष्टस्य द्विपृष्टस्यायुर्लक्षाणि द्विसप्ततिः ।।२२३।।

स्वयंभूभूतोऽब्दानां षष्टिलक्षाणि जीवितम् ।
स्यात्पुरुषोत्तमस्यायुः त्रिंशल्लक्षाब्दसम्मितम् ।।२२४।।
आयुः पुरुषसिंहस्य दशलक्षाब्दगोचरम् ।
पञ्चषष्टिसहस्राब्दाः पुण्डरीकस्य जीवितम् ।।२२५।।
दत्तस्यायुः परं द्वात्रिंशत्सहस्राब्दमानकम् ।
वर्षाणां लक्ष्मणस्यायुः सहस्रद्वादशप्रमम् ।।२२६।।
कृष्णस्य वासुदेवस्य सहस्रवर्षजीवितम् ।
इत्यत्र वासुदेवानां सन्त्यायूंषि क्रमात् तथा ।।२२७।।

अर्थ :—प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ की आयु ८४ लाख वर्ष की, द्विपृष्ठ की ७२ लाख वर्ष की, स्वयम्भू की ६० लाख वर्ष की, पुरुषोत्तम की ३० लाख वर्ष की, पुरुषसिंह की १० लाख वर्ष की, पुण्डरीक की ६५००० वर्ष की, दत्त नारायण की ३२००० वर्ष की, लक्ष्मण की १२००० वर्ष की और अन्तिम वासुदेव कृष्ण की आयु १००० वर्ष प्रमाण थी। इस प्रकार वासुदेवों की यह आयु क्रम से होती है।।२२३-२२७।।

अब नारायणों के सात रत्नों का एवं अन्य विभूति का वर्णन करते हैं :—

धनुः शङ्खो गदा चक्रं दण्डोऽसिः शक्तिरेव च ।
इमानि सप्तरत्नानि रक्षितानि सुरव्रजैः ।।२२८।।
दिव्यरूपाः सुदेव्यः स्युः सहस्रषोडशप्रमाः ।
नृपा मुकुटबद्धाश्च सहस्र द्वयष्टसम्मिताः ।।२२९।।
अमीषां वासुदेवानां सर्वेषां भूतयोऽपराः ।
गजादिगोचरा बह्वयो विज्ञेया आगमे बुधैः ।।२३०।।

अर्थ:—प्रत्येक नारायण के पास देव समूह के द्वारा रक्षित धनुष, शंख, गदा, चक्र, दण्ड, असि, और शक्ति ये सात रत्न एवं दिव्य रूप को धारण करने वाली सोलह हजार श्रेष्ठ रानियाँ होतीं हैं, तथा मुकुटबद्ध सोलह हजार राजा इनकी सेवा करते हैं। इन सभी वासुदेवों के अन्य बहुत जन-समुदाय एवं हाथी घोड़े आदि होते हैं, जो विद्वानों के द्वारा आगम से जानने योग्य हैं।।२२७-२३०।।

अब नारायणों की गति विशेष का वर्णन करते हैं :—

त्रिपृष्ठोऽपि महापापैः सप्तमीभूमिमाश्रितः ।
द्विपृष्ठाख्यः स्वयंभूश्च पुरुषोत्तमसंज्ञकः ।।२३१।।

ततः पुरुषसिंहाख्यः पुण्डरीक इमेऽशुभात् ।
पंचार्धचक्रिणो जग्मुः षष्ठीपृथ्वीं व्रतातिगाः ।।२३२।।
दत्तोऽगात् पंचमीं कान्ते चतुर्थी लक्ष्मणः क्षितिम् ।
तृतीयां पृथिवीं कृष्णः स्वकर्मवशगो विधिः ।।२३३।।

अर्थः—महत्पाप के भार से प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ सप्तम नरक, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह और पुण्डरीक ये पाँच नारायण अर्थात् अर्धचक्रवर्ती अशुभ योग एवं व्रतरहित होने से छठे नरक, दत्तनारायण पाँचवें नरक, लक्ष्मण चौथे नरक और कृष्ण नारायण अपने स्वकर्म के वशीभूत होते हुए तीसरे नरक गये हैं ।।२३१-२३३।।

अब प्रतिवासुदेवों के नाम, उत्सेध, वर्ण एवं स्वभाव आदि का कथन करते हैं :-

अश्वग्रीवस्त्रिखण्डेशस्तारको मेरकाह्वयः ।
निशुम्भः कैटभारिस्तु मधुसूदननामकः ।।२३४।।
बलिहन्ता ततो रावणो जरासिन्धसंज्ञकः ।
वासुदेवद्विषोऽमी प्रतिवासुदेवभूभृतः ।।२३५।।
बलेशाङ्गसमोत्तुङ्गाः श्यामकायाः सुरूपिणः ।
रौद्रध्यानाः प्रकृत्या स्युः समदा उद्धताशयाः ।।२३६।।
अश्वग्रीवादयोऽष्टौ तेषां मध्ये वियच्चराः ।
सन्त्यर्ध चक्रिणोऽन्त्यः स्याज्जरासंधो महीचरः ।।२३७।।

अर्थः—अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निशुम्भ, कैटभ, मधुसूदन, बलिहन्ता, रावण और जरासिन्ध नाम के ये नौ अर्धचक्री प्रतिवासुदेव हैं। ये प्रतिवासुदेव राजा वासुदेवों के शत्रु होते हैं। इनके शरीर की कान्ति श्याम वर्ण एवं उत्सेध बलदेवों के उत्सेध सदृश होता है। ये स्वभाव से रौद्र परिणामी, गर्व युक्त और उद्धत प्रकृति के होते हैं -२३४-२३६।। इनमें से अश्वग्रीव आदि आठ प्रतिनारायण विद्याधर हैं और अन्तिम अर्धचक्री जरासिन्ध भूमिगोचरी हैं ।।२३७।।

अब प्रतिवासुदेवों की आयु और गति आदि का कथन करते हैं :—

पञ्चानां वासुदेवानामादिमानां सुजीवितैः ।
समसायूंषि पंचानां तच्छत्रूणां भवन्ति च ।।२३८।।
षष्टस्यैवात्र पंचाशत्सहस्रवर्षजीवितम् ।
सप्तमे वत्सराणां द्वात्रिंशत्सहस्रजीवितम् ।।२३९।।

चतुर्दशसहस्राब्दान्यायुश्च रावणस्य वै ।
जरासिंधनृपस्यायुः सहस्रवत्सरप्रमम् ॥२४०॥

त्रिखण्डस्वामिनोऽप्येते बह्वारम्भधनार्जनैः ।
अतीव विषयासक्त्योपार्ज्य पापं महत्परम् ॥२४१॥

धर्माद्दतेनवैवागुस्ताः पृथ्वीर्दुःखपूरिताः ।
रौद्रध्यानेन मृत्वा या वासुदेवा गता नव ॥२४२॥

वासुदेवप्रक्षिप्तेन स्वचक्रेणाखिला अमी ।
अवश्यं मरणं प्राप्य श्वभ्रं यान्ति न चान्यथा ॥२४३॥

शलाकापुरुषा एते त्रिषष्टिसंख्यका वरे ।
तुर्यकालेऽत्र जायन्ते नृपदेवखगार्चिताः ॥२४४॥

अर्थः—अश्वग्रीव आदि पाँच प्रतिवासुदेवों की आयु त्रिपृष्ठ आदि पाँच वासुदेवों के सदृश ही है। अर्थात् क्रमशः ८४ लाख वर्ष, ७२ लाख वर्ष, ६० लाख वर्ष, ३० लाख वर्ष और १० लाख वर्ष प्रमाण है ॥२३८॥ छठवें मधुसूदन प्रतिवासुदेव की ५० हजार वर्ष, बलि की ३२००० वर्ष, रावण की १४००० वर्ष और नवमें प्रतिवासुदेव जरासिन्ध की आयु १००० वर्ष प्रमाण थी। ॥२३९–२४०॥ ये सब तीन खण्ड के स्वामी बहु आरम्भ परिग्रह एवं धनार्जन के द्वारा तथा अत्यन्त विषयाशक्ति से अति महान पाप का उपार्जन करके धर्म के बिना, रौद्र ध्यान से मरण कर दुःख पूरित जिस जिस नरक पृथ्वी में नव वासुदेव जाते हैं, उसी पृथ्वीको ये प्राप्त होते हैं ॥२४१–२४२॥ ये सभी प्रतिवासुदेव अपना चक्र वासुदेव पर छोड़ते हैं पश्चात् वासुदेव के द्वारा छोड़े हुए उसी चक्र से ये अवश्यमेव मृत्यु को प्राप्त होकर नरक जाते हैं। अन्य और किसी गति को प्राप्त नहीं होते ॥२४३॥ यहाँ चतुर्थकाल में नरेन्द्रों, देवों एवं विद्याधरों से पूजित ये त्रेसठ शलाका के पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥२४४॥

अब रुद्रों के नाम, उनका उत्सेध एवं आयु का कथन करते हैं :—

भीमो बलिर्जितारिश्च विश्वानलाह्वयस्ततः ।
सुप्रतिष्ठोऽचलाभिख्यः पुण्डरीकोऽजितन्धरः ॥२४५॥

जितनाभिस्ततः पीठः सात्यकीतनयोऽन्तिमो ।
अत्रत्रज्ञात्मजा रुद्रा भवन्त्येकादशाशुभाः ॥२४६॥

भीमस्याङ्गसमुत्सेधो धनुः पञ्चशतानि च ।
त्र्यशीतिलक्षपूर्वाण्यायुर्दीक्षापतितात्मनः ॥२४७॥
उच्छ्रितिश्च बलेश्चापसार्धचतुःशतप्रमा ।
एकसप्ततिलक्षाणि पूर्वाणामायुरञ्जसा ॥२४८॥
जितारेर्वपुरुत्सेधो धनुःशतप्रमाणकः ।
आयुर्द्विलक्षपूर्वाणि चारित्रचलितात्मनः ॥२४९॥
विश्वानलस्य देहोच्चो धनुर्नवतिसम्मितः ।
आयुर्लक्षैकपूर्वाणि भ्रष्टरत्नत्रयात्मनः ॥२५०॥
सुप्रतिष्ठस्य कायोच्चश्चापाशीतिप्रमो मतः ।
लक्षाश्चतुरशीतिश्च वर्षाणामायुरुत्तमम् ॥२५१॥
देहोत्सेधोऽचलस्यास्ति दण्डसप्ततिमानकः ।
आयुश्च षष्टिलक्षाणि वत्सराणां चलात्मनः ॥२५२॥
उन्नतिः पुण्डरीकस्य षष्टिचापप्रमा स्मृता ।
पञ्चाशल्लक्षवर्षायुस्त्यक्तदीक्षात्मजात्मनः ॥२५३॥
तुङ्गोऽजितन्धरे कायः पंचाशद्दण्डमानकः ।
आयुर्वर्षाणि चत्वारिंशल्लक्षप्रमितानि च ॥२५४॥
उच्छ्रितिर्जितनाभेश्चाष्टाविंशतिधनुःप्रमा ।
आयुर्विंशतिलक्षाणि वर्षाणां चंचलात्मनः ॥२५५॥
चतुर्विंशतिचापानि पीठस्याङ्गसमुन्नतिः ।
आयुश्च लक्षवर्षाणि व्रतशीलच्युतस्य वै ॥२५६॥
सात्यकीतनयस्याङ्गोत्सेधः सप्तकरप्रमः ।
जीवितं त्यक्तवृत्तस्य वर्षाण्येकोनसप्तति ॥२५७॥

अर्थः—१ भीम, २ बलि, ३ जितारि, ४ विश्वानल, ५ सुप्रतिष्ठ, ६ अचल, ७ पुण्डरीक, ८ अजितन्धर, ९ जितनाभि, १० पीठ और ११ सात्विकीतनय ये ११ रुद्र अशुभचित्तवृत्ति के धारी और चारित्र से भ्रष्ट होने वालों के पुत्र हैं ॥२४५-२४६॥ प्रथम रुद्र भीम का उत्सेध ५०० धनुष और आयु ८३ लाख पूर्व की थी, यह दीक्षा से च्युत होने वाले मुनि आर्यिका की सन्तान है ॥२४७॥ बलिरुद्र का उत्सेध ४५० धनुष और आयु ७१ लाख पूर्व की थी ॥२४८॥ जितारि का उत्सेध १०० धनुष और आयु दो लाख पूर्व की थी, यह भी चारित्र भ्रष्ट होने वालों का पुत्र है ॥२४९॥ विश्वानल के देह की

ऊँचाई ६० धनुष और आयु एक लाख पूर्व की थी। यह भी रत्नत्रय से भ्रष्ट होने वालों का पुत्र है। ॥२५०॥ सुप्रतिष्ठ का उत्सेध ८० धनुष और आयु ८४ लाख वर्ष की थी ॥२५१॥ अचल रुद्र का उत्सेध ७० धनुष और आयु ६० लाख वर्ष की थी, इसके माता पिता भी चारित्र रूपी रत्न को नष्ट करने वाले थे ॥२५२॥ दीक्षा लेकर जो भ्रष्ट हो चुके थे ऐसे मुनि आर्यिका से उत्पन्न होने वाले पुण्डरीक रुद्र का उत्सेध ६० धनुष और आयु ५० लाख वर्ष की थी ॥ २५३ ॥ अजितन्धर रुद्र का उत्सेध ५० धनुष और आयु ४० लाख वर्ष की थी ॥ २५४ ॥ चारित्र से चलायमान हो चुकी थी आत्मा जिनकी ऐसे मुनि आर्यिका से उत्पन्न जितनाभि रुद्र का उत्सेध २८ धनुष और आयु २० लाख वर्ष प्रमाण थी ॥२५५॥ व्रत और शील से च्युत मुनि आर्यिका से उत्पन्न होने वाले पीठ रुद्र का उत्सेध २४ धनुष और आयु एक लाख वर्ष प्रमाण थी ॥२५६॥ अपने जीवनकाल में ही चारित्र को छोड़ देने वाले मुनि आर्यिका से उत्पन्न हुए सात्विकीतनय रुद्र का उत्सेध सात हाथ प्रमाण और आयु ६९ वर्ष प्रमाण थी ॥२५७॥

अब रुद्रों का वर्तनाकाल कहते हैं :—

जातौ नाभेयकाले द्वावेतौभीमबली भुवि ।
पुष्पदन्तस्य कालेऽभूज्जितारिः श्रीजिनेशिनः ॥२५८॥

रुद्रो विश्वानलो जातः काले श्रीशीतलस्य च ।
श्रेयसो वर्तमाने काले सुप्रतिष्ठसंज्ञकः ॥२५९॥

वासुपूज्यस्य काले प्रवर्तमानेऽचलोऽभवत् ।
काले विमलनाथस्य पुण्डरीको बभूव च ॥२६०॥

काले विहरमाणस्यानन्तस्याप्यजितन्धरः ।
धर्मनाथस्य कालेऽभूज्जितनाभिसमाह्वयः ॥२६१॥

शान्तेः प्रवर्तमानस्य काले पीठाभिधोऽभवत् ।
सात्यकीतनयो जातः काले वीरस्य सम्प्रति ॥२६२॥

अर्थ :—पुष्पदन्त जिनेन्द्र के काल में जितारि रुद्र, शीतलनाथ के काल में विश्वानल, श्रेयांस नाथ के काल में सुप्रतिष्ठ नाम के रुद्र हुए हैं ॥२५८-२५९॥ वासुपूज्य भगवान् के काल में अचल रुद्र, विमलनाथ के काल में पुण्डरीक, अनन्तनाथ के काल में अजितन्धर, धर्मनाथ के काल में जितनाभि, शान्तिनाथ के काल में पीठ रुद्र और वीर प्रभु के काल में सात्विकी तनय नामक रुद्र उत्पन्न हुए हैं ॥२६०-२६२॥

अब उन रुद्रों द्वारा प्राप्त नरकों को एवं नरकगति की प्राप्ति के मूल कारणों का वर्णन करते हैं :—

रुद्रा रौद्राशया एते दीक्षापतितसूनवः ।
विद्यानुवादपाठेन प्राप्तविद्याश्चलात्मकाः ।।२६३।।
विषयासक्तदुर्बुद्धया त्यक्तदृग्ज्ञानसंयमाः ।
दीक्षाभङ्गमहापापैर्ययुः श्वभ्रं यथोचितम् ।।२६४।।
द्वौ भीमबलिसंज्ञौ च नरकं सप्तमं गतौ ।
दीक्षाभङ्गाज्जितारिश्च रुद्रो विश्वानलाख्यकः ।।२६५।।
सुप्रतिष्ठोऽचलः पुण्डरीको रुद्रा इमेऽखिलाः ।
पञ्च श्वभ्रं ययुः षष्ठं रत्नत्रयतपोत्ययात् ।।२६६।।
रुद्रोऽजितन्धराभिख्यो जगाम पञ्चमीं क्षितिम् ।
गतौश्वभ्रं चतुर्थं जितनाभिपीठसंज्ञकौ ।।२६७।।
सात्विकीतनयः प्राप्तस्तृतीयां पृथिवीमहो ।
एते तपस्विनो दृष्टिज्ञानसंयमभूषिताः ।।२६८।।
दीक्षाभङ्गजपापौघैर्ययुश्चेदृशीं गतिम् ।
ततो मन्येऽहमत्रेति दीक्षाभङ्गसमं महत् ।।२६९।।
न भूतं भुवने पापं नास्ति नाग्रे भविष्यति ।
अपमानं च निन्द्यत्वं निर्लज्जत्वं जगत्त्रये ।।२७०।।
मत्वेति धीधनैः सारं वृत्तरत्नं सुदुर्लभम् ।
स्वप्नेऽपि नात्र नेतव्यं मलपार्श्वेऽतिनिर्मलम् ।।२७१।।
अमीषां सर्वरुद्राणां भवैः कतिपयैः स्फुटम् ।
लब्धसम्यक्त्वमाहात्म्यान्निर्वाणं भविता व्रतैः ।।२७२।।

अर्थः—रौद्र परिणामी ये सभी रुद्र जैनेन्द्री दीक्षा को नष्ट कर देने वाले मुनि आर्यिकाओं के पुत्र हैं। ये सभी दैगम्बरी दीक्षा धारण करके विद्यानुवाद नामक दशवें पूर्व को पढ़ते हैं, उससे इन्हें विद्याओं की प्राप्ति होती है, उससे इनकी आत्मा चलायमान हो जाती है, और विषयों में आसक्त दुर्बुद्धि से अपने ग्रहण किये हुए दर्शन, ज्ञान और संयम को छोड़कर दीक्षाभङ्ग के महान् पाप से यथोचित् नरकों को प्राप्त करते हैं ।।२६३-२६४।। दीक्षा भङ्ग के पाप से भीम और बलि ये दो रुद्र सप्तम नरक को प्राप्त हुए हैं। जितारि, विश्वानल, सुप्रतिष्ठ, अचल और पुण्डरीक ये पाँच रुद्र रत्नत्रय एवं तपके

परित्याग से छठवें नरक को प्राप्त हुए ।।२६५–२६६।। अजितन्धर नाम का रुद्र पाँचवें नरक, जितनाभि और पीठ ये दो रुद्र चौथे नरक तथा सात्विकीतनय तीसरे नरक को प्राप्त हुए हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं संयम से विभूषित ये सभी तपस्वी (रुद्र) दीक्षाभङ्ग से उत्पन्न होने वाले पाप के समूह से ही इस प्रकार की दुर्गति को प्राप्त होते हैं, इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि इस पृथ्वी पर तीन लोक में दीक्षा भङ्ग बराबर महान् पाप, अपमान, निन्द्यपना एवं निर्लज्जता न कभी (अन्य क्रियाओं से) भूतकाल में थी, और न कभी भविष्यतकाल में होगी। त्रैलोक्य में बुद्धिमानों के द्वारा सारभूत अति दुर्लभ रत्न चारित्र ही माना गया है अतः अति निर्मल चारित्र के समीप स्वप्न में भी मल नहीं लाना चाहिए। अर्थात् ग्रहण किए हुए चारित्र में स्वप्न में भी दोष नहीं लगाना चाहिए ।।२६७–२७१।। इन सभी रुद्रों को अनेक भवान्तरों के बाद प्राप्त किये हुए सम्यक्त्व के माहात्म्य से चारित्र होगा और चारित्र के द्वारा इन्हें निर्वाण की प्राप्ति होगी ।।२७२।।

अब नौ नारदों के नाम एवं उनका अन्य वर्णन संक्षिप्त में करते हैं :—

भीमाह्वयो महाभीमो रुद्रसंज्ञस्तृतीयकः ।
महारुद्राभिधः कालो महाकालश्चतुर्मुखः ।।२७३।।
ततो नरमुखो नाम्नोन्मुखोऽत्र नारदा इमे ।
वासुदेवसमानायुः कायोच्चाः कलहप्रियाः ।।२७४।।
हिंसानन्दपरा नित्यं कदाचिद्धर्मवत्सलाः ।
जाता नवैव काले बलभद्रादित्रिभूभुजाम् ।।२७५।।
ते सर्वे नारदाः हिंसानन्दोत्थपापपाकतः ।
जग्मुः श्वभ्रं यथायोग्यमन्येषां कलियोजनात् ।।२७६।।

अर्थः—१ भीम, २ महाभीम, ३ रुद्र, ४ महारुद्र, ५ काल, ६ महाकाल, ७ चतुर्मुख, ८ नरमुख और ९ उन्मुख (अधोमुख) नाम के ये ९ नारद हैं। इनकी आयु एवं शरीर का उत्सेध वासुदेव के सदृश ही होता है। अर्थात् भीम आदि नारदों की आयु यथाक्रम से ८४ लाख वर्ष, ७२ लाख वर्ष, ६० लाख वर्ष, ३० लाख वर्ष, १० लाख वर्ष, ६५ हजार वर्ष, ३२ हजार वर्ष, १२००० वर्ष और एक हजार वर्ष की हुई है। इसी प्रकार प्रथमादिक के क्रम से इनका उत्सेध क्रमशः ८०, ७०, ६०, ५०, ४५, २९, २२, १६ और १० धनुष प्रमाण था ।।२७३–२७४।। ये सभी नारद कलह प्रिय होते हैं और नित्य ही हिंसानन्द रौद्र ध्यान में संलग्न रहते हैं। ये कदाचित् धर्मवत्सल भी होते हैं। ये सभी बलभद्र एवं त्रिखण्डी नारायण आदि के समय में ही उत्पन्न होते हैं ।।२७५।। वे सभी नारद हिंसानन्दी रौद्रध्यान से उत्पन्न हुए पाप के फल से तथा अन्य जीवों को युद्ध में संयुक्त कराते रहने से यथा योग्य (परिणामों के अनुसार) नरकों में ही जाते हैं ।।२७६।।

अब पञ्चमकाल का संक्षिप्त वर्णन करते हैं :—

ततोऽत्र दुषमाकालः कृत्स्नदुःख निबन्धनः ।
एकविंशतिसंख्यानसहस्रवर्षसम्मितः ॥२७७॥
अस्यादौ मानवाः सन्ति सप्तहस्तोच्चविग्रहाः ।
रूक्षकायाश्च विंशत्यग्रवत्सरशतायुषः ॥२७८॥
दिनमध्ये सकृद्वारमाहरन्त्यशनं जनाः ।
बलसत्वसुबुद्ध्याद्यैर्हीनाः केचिच्च संयुताः ॥२७९॥

अर्थ।—आर्य क्षेत्र में चतुर्थकाल की समाप्ति के बाद सम्पूर्ण दुःखों का निबन्धन करने (बांधने) वाला, २१००० वर्ष प्रमाण से युक्त दुखमा नामका पञ्चम काल प्रारम्भ होता है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई सात हाथ प्रमाण, कान्ति रूक्ष और आयु १२० वर्ष की होती है। उस समय मनुष्य दिन में अनेक बार भोजन करने वाले होते हैं। उस समय कोई कोई मनुष्य बल, सत्व और उत्तम बुद्धि के धारक होते हैं, किन्तु अधिकांशतः इनसे रहित ही होते हैं ॥२७७-२७९॥

अब शक राजा और प्रथम कल्की की उत्पत्ति का काल तथा कल्की का नाम एवं आयु आदि का कथन करते हैं :—

त्यक्त्वा सम्वत्सरात् पञ्चाधिकषट्शतसम्मितात् ।
पञ्चमासयुतान् मुक्ति वर्धमाने गते सति ॥२८०॥
शकराजोऽभवत् ख्यातस्ततोऽब्देषु गतेष्वपि ।
चतुर्नवतिसंयुक्तत्रिशतप्रमितेषु च ॥२८१॥
सप्तमासाधिकेष्वासीत् कल्कीचतुर्मुखाह्वयः ।
वर्षसप्ततिजीवी सद्धर्मद्वेषीह चादिमः ॥२८२॥

अर्थः—श्री वर्धमान स्वामी के मोक्ष जाने के ६०५ वर्ष ५ मास बाद शक राजा (विक्रमादित्य) हुआ था, और शक राजा के ३९४ वर्ष ७ माह अर्थात् वीर भगवान के मोक्ष जाने के ६०५ वर्ष ५ मास + ३९४ वर्ष ७ माह = १००० वर्ष बाद चतुर्मुख नाम का प्रथम कल्की उत्पन्न हुआ था। इसकी आयु ७० वर्ष प्रमाण थी। यह राजा जैन धर्म का अत्यन्त विद्वेषी था ॥२८०-२८२॥

अब प्रथम कल्की चतुर्मुख के और उसके पुत्र जयध्वज के कार्य कहते हैं :—

सोऽन्यदाजितभूमि प्रधानाख्यमित्थमादिशत् ।
निर्ग्रन्थामुनयोऽस्माकमवश्याः सन्ति भूतले ॥२८३॥

एतेषां पाणिपात्रे सद्ग्रासं प्रदत्तमादिमम् ।
त्वं गृहाण स्वशुल्कायेत्यादेशं श्वभ्रकारणम् ॥२८४॥
श्रुत्वा स मूढधीर्मन्त्री सर्वं तथाकरोत्तदा ।
तदुपद्रवतोऽभासन् व्याकुला मुनयो नृपात् ॥२८५॥
उपसर्गं विदित्वा तं मुनीनामसुराधिपः ।
चतुर्मुखं जघानाशु जिनशासनरक्षकः ॥२८६॥
ततो मृत्वा स पापात्मा कल्की पापविपाकतः ।
विश्वदुःखाकरीभूतं प्रथमं नरकं गतः ॥२८७॥
तदाशु तद्भयात्तस्य सुतो जध्वं जयाह्वयः ।
जिनशासनमाहात्म्यं प्रत्यक्षं वीक्ष्य तत्कृतम् ॥२८८॥
सम्यक्त्वरत्नमादाय काललब्ध्यासुरेशिनम् ।
स्वसैन्यस्वजनाद्यैश्च जगाम शरणं सह ॥२८९॥
अहो ! पुण्याघकर्तॄणां शुभाशुभं फलं महत् ।
इहैव दृश्यते साक्षात्का वार्ता परजन्मनि ॥२९०॥

अर्थ :—उस चतुर्मुख कल्की ने अपने योग्य भूमि को जीत कर प्रधानमन्त्री को इस प्रकार आदेश दिया कि इस भूतल पर निर्ग्रन्थ मुनि हमारे वश में नहीं हैं अतः उनके पाणिपात्र में दिया हुआ प्रथम ग्रास तुम ग्रहण करो। नरकगति के कारण भूत आदेश को सुन कर उस मूढ़मति मन्त्री ने सर्व कार्य उसी आदेशानुसार किया, उस समय उस उपद्रव से उस क्षेत्र में रहने वाले समस्त मुनिजन राजा से बहुत व्याकुल हो गये (इस राजा के द्वारा जैनधर्म नाश हो रहा है इसलिए मुनिजन व्याकुल हुए) ॥२८३–२८५॥ मुनियों के उपसर्ग को जानकर जिनशासन के रक्षक असुरेन्द्र ने शीघ्र ही उस चतुर्मुख राजा को मार डाला ॥२८६॥ वह पापात्मा कल्की मर कर पापोदय से सम्पूर्ण दुःखों के आकर स्वरूप प्रथम नरक गया ॥२८७॥ उसी समय कल्की का पुत्र जयध्वज और स्त्री चेलका असुरेन्द्र के भय से और जैनधर्म कृत जिनशासन के माहात्म्य को प्रत्यक्ष देख कर तथा काललब्धि के प्रभाव से सम्यक्त्व रूपी महारत्न को ग्रहण करता हुआ शीघ्र ही अपनी सेना एवं स्वजन परिजनों के साथ असुरेन्द्र की शरण में गया ॥२८८–२८९॥ अहो ! पुण्य करने वालों के महान् शुभ फल और पाप करने वालों के महान् अशुभफल साक्षात् यहाँ ही दिखाई दे जाते हैं अगले जन्म की तो क्या बात ! ॥२९०॥

अब अन्तिम कल्की का स्वरूप और उसके कार्यों आदि का दिग्दर्शन कराते हैं :—

इति मुक्ति गते वीरे प्रतिवर्षसहस्रकम् ।
एकैको जायते कल्की जिनधर्मविराधकः ॥२६१॥
तेषां विंशति संख्येषु गतेष्वत्रान्तिमः खलः ।
जलमन्थननामोन्मार्गस्थः कल्की भविष्यति ॥२६२॥
इन्द्रराजमुनेः शिष्यो यतिर्वीराङ्गदाभिधः ।
अन्तिमश्चार्यिका सर्वश्रीः श्रावकोऽग्निलाख्यकः ॥२६३॥
श्राविका च प्रिया तस्य पञ्चसेनाभिधा तदा ।
कालदोषेण चत्वारोऽमीस्थास्यन्ति सुधर्मिणः ॥२६४॥
स कल्की पापधीः पापात् पूर्ववत् तस्य सन्मुनेः ।
सद्ग्रासहरणाद्यैर्महोपसर्गं करिष्यति ॥२६५॥
चत्वारस्ते तदा तस्मिन्नुपसर्गे शिवाप्तये ।
ग्रहीष्यन्ति सुसंन्यासं त्यक्त्वाहारं चतुर्विधम् ॥२६६॥
ततो दिनत्रयेणैव मुक्त्वा प्राणान् समाधिना ।
दुःषमस्यैव कालस्यावसानस्य स्थितेषु च ॥२६७॥
सार्धाष्टमाससंयुक्त-त्रिवर्षोद्धरितेष्वपि ।
पूर्वाह्णे कार्तिके मास्यमावास्यायां शुभोदयात् ॥२६८॥
अन्ते सौधर्मकल्पं ते चत्वारः सुखसागरम् ।
गमिष्यन्ति महाशर्मभोक्तारो धर्मतत्पराः ॥२६९॥
तन्मुनेः सागरैकं च भवितायुरखण्डितम् ।
तत्र शेषत्रयाणां च पल्यमेकं हि साधिकम् ॥३००॥
ततः पञ्चमकालस्य दिनस्य चरमस्य च ।
पूर्वाह्णे द्विविधो धर्मो विनश्यति सुखाकरः ॥३०१॥
राजा मध्याह्नकाले चापराह्णे वह्निरञ्जसा ।
ततोऽतिदुःषमाकालः षष्ठो दुःखैकसागरः ॥३०२॥

अर्थः—इस प्रकार महावीर स्वामी के मोक्ष चले जाने पर प्रत्येक एक एक हजार वर्ष बाद जिनधर्म का विरोधी एक एक कल्की उत्पन्न होता है। बीस कल्की उत्पन्न हो चुकने के बाद उन्मार्ग-गामी एवं दुष्ट स्वभावी जलमन्थन नाम का अन्तिम कल्की होगा ॥२६१-२६२॥ उस समय इन्द्रराज

मुनिराज के शिष्य वीराङ्गद नाम के अन्तिम मुनिराज, सर्व श्री आर्यिका, अग्निल नाम का श्रावक और उसकी प्रिया पंचसेना नाम की श्राविका काल दोष से ये चार ही धर्मात्मा जीव अवस्थित रहेंगे ॥२९३-२९४॥ पाप बुद्धि को धारण करने वाला वह जलमन्थन कल्की पापोदय से पूर्व कल्कियों के सदृश वीराङ्गद मुनिराज के पाणिपात्र से प्रथम ग्रास का हरण कर घोर उपसर्ग करेगा। तब उस उपसर्ग के प्राप्त होते ही वे चारों धर्मात्मा जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग कर सुख प्राप्ति के लिए उत्तम संन्यास ग्रहण कर लेंगे ॥२९५-२९६॥ पंचम (दुःखमा) काल के अन्त में तीन वर्ष साढ़े आठ मास अवशेष रहने पर कार्तिक बदी अमावस्या को प्रातः काल के शुभ उदय में तीन दिनों में ही वे चारों धर्मात्मा जीव समाधिपूर्वक प्राणों को छोड़कर सुख के सागर स्वरूप सौधर्मकल्प में चले जावेंगे और वहाँ धर्म में तत्पर रहते हुए महा सुखों को भोगेंगे ॥२९७-२९९॥ स्वर्ग में वे मुनिराज खण्ड रहित एक सागर की और शेष तीनों जीव कुछ अधिक एक पल्य की आयु प्राप्त करेंगे ॥३००॥ पंचम काल के उसी अन्तिम दिन प्रातः काल मुनि की समाधि होकर मुनि एवं श्रावक धर्म का नाश होगा, मध्याह्न काल में राजा का और सन्ध्याकाल में अग्नि का नाश हो जायगा ॥३०१-३०२॥

अब अतिदुःखमाकाल का दिग्दर्शन कराते हैं :—

धर्मशर्मातिगः पञ्चमकालस्थितिसंख्यकः ।
विश्वानिष्टाकरीभूतः पापिसत्त्वकुलालयः ॥३०३॥

अस्यादौ धूम्रवर्णाङ्गा नरा हस्तद्वयोन्नताः ।
शाखामृगोपमानग्ना वर्षविंशतिजीविनः ॥३०४॥

मांसाद्याहारिणोऽनेकवाराशिनो दिनं प्रति ।
बिलादिवासिनो दुष्टा आयाता दुर्गतिद्वयात् ॥३०५॥

मात्रादिकामसेवान्धास्तिर्यग्-नरकगामिनः ।
भविष्यन्ति दुराचाराः पापिनो दुःखभोगिनः ॥३०६॥

तस्मिन् काले शुभातीते मेघास्तुच्छजलप्रदाः ।
स्वादुवृक्षोज्झितापृथ्वी निराश्रया नराः स्त्रियः ॥३०७॥

कालस्यान्ते करैकोच्चदेहा नराः कुरूपिणः ।
उत्कृष्टषोडशाब्दायुष्काः शीतोष्णादिपीडिताः ॥३०८॥

प्रान्ते तस्यैव कालस्य कियद्दिनावशेषतः ।
स्फुटिष्यति मही सर्वा निःशेषं वारिशोष्यति ॥३०९॥

ते तदात्युष्णसंतप्ता भ्रमिष्यन्ति दिशोऽखिलाः ।
मूर्च्छायास्यन्ति दुःखार्ता यमान्तं चाप्यनेकशः ।।३१०।।
विजयार्धगिरेः सिन्धुगङ्गयोः सरितोस्तदा ।
युग्मानि बहुजीवानां द्विसप्ततिमितान्यपि ।।३११।।
बिलादिषु खगाधीशा नेष्यन्ति कृपया स्वयम् ।

अर्थः—दुखमा नामक पंचम काल की समाप्ति के बाद मात्र एक दुःख के सागर स्वरूप अति-दुखमा नाम के छठवें काल का प्रारम्भ होगा। इसकी स्थिति पंचम काल के सदृश २१००० वर्ष की ही होगी। यह काल धर्म और सुख से रहित समस्त अनिष्टों के खान स्वरूप और पापी जीवों के समुदाय से व्याप्त होगा ।।३०३।। इस काल के प्रारम्भ में बन्दरों की उपमा को धारण करने वाले मनुष्यों के शरीरों का वर्ण धूम्र के सदृश, ऊँचाई दो हाथ प्रमाण और उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष की होगी, तथा ये सब नग्न ही रहेंगे। प्रतिदिन अनेकों बार मांस आदि का भोजन करेंगे, बिलों आदि में निवास करेंगे, दुष्ट प्रकृति के होंगे और नरक एवं तिर्यञ्च इन दोनों गतियों से आकर यहाँ उत्पन्न होंगे ।।३०४-३०५।। अत्यन्त दुराचारी, पापी, दुःख भोगने वाले, काम वासना से अन्ध माता आदि से भी व्यभिचार करने वाले तथा मरण कर नरक और तिर्यञ्च इन दोनों गतियों में जन्म लेने वाले होंगे ।।३०६।। इस काल में मेघ अत्यन्त अशुभ एवं अल्प जल देने वाले होंगे। पृथ्वी स्वाद एवं सार युक्त वृक्षों से रहित एवं पुरुष स्त्री निराश्रय रहेंगे ।।३०७।। काल के अन्त में मनुष्यों की ऊँचाई एक हाथ और आयु सोलह वर्ष प्रमाण होगी। मनुष्य कुत्सित रूप वाले एवं शीत उष्ण की बाधाओं से पीड़ित होंगे ।।३०८।। इस अतिदुखमा काल के अन्त में जब कुछ दिन अवशेष रहेंगे, तब यहाँ की पृथ्वी फट कर सम्पूर्ण जल का शोषण कर लेगी, तब वे सभी जीव अति उष्णता से सन्तप्त होते हुए सम्पूर्ण दिशाओं में परिभ्रमण करेंगे, और उनमें से दुःख के कारण अनेक जीव तो मूर्छित हो जाते हैं और अनेक मरण को प्राप्त हो जाते हैं ।।३१०।। उस समय कृपावन्त विद्याधर बहत्तर कुलों में उत्पन्न जीवों के बहत्तर युगलों को विजयार्ध पर्वत की गुफाओं में, गङ्गा सिन्धु नदियों की वेदियों में और बिलों में ले जाकर वहाँ रख देते हैं ।।३११-३१२।।

नोटः—३१२ श्लोक के दो चरणों का अर्थ ऊपर किया गया है, शेष दो चरणों का आगे लिखा जायगा।

अब वृष्टियों के नाम, उनका फल और जघन्य आयु आदि का कथन करते हैं :—

.... ।
सावर्ताऽनिलवृष्टिः शैत्याम्बुवृष्टिरञ्जसा ।।३१२।।

अतिक्षाराम्बुवृष्टिश्च विषवृष्टिः सुदु:सहा ।
अग्निवृष्टी रजोवृष्टिर्धूमवृष्टिर्भविष्यति ॥३१३॥
सप्तसप्तदिनान्युच्चैर्विश्वाङ्गिक्षयकारिणी ।
तद् वृष्टिभिरधोभागे योजनान्तं महीतलम् ॥३१४॥
भस्मसाद् भविता नूनं जीवानामञ्जसा क्षयः ।
इत्याहुर-वसर्पिण्याः स्वरूपं सकलं जिनाः ॥३१५॥
आदौ द्वितीयकालादीनामुत्कृष्टाश्चये मताः ।
आयुरुत्सेधशर्माद्या आर्याणां भोगशालिनाम् ॥३१६॥
अन्ते प्रथमकालादिषु जघन्यादिषु तेऽखिलाः ।
ज्ञातव्या अवसर्पिण्याः षट् कालानामिति स्थितिः ॥३१७॥

अर्थः—छठवें काल के अन्त में सर्व प्रथम सावर्त नाम की वायु चलेगी, पश्चात् अत्यन्त शीतल जल की, पश्चात् अतिक्षार जल की और इसके बाद अत्यन्त दुस्सह विष की वृष्टि होगी। इसके पश्चात् सात सात दिन पर्यन्त सर्व जीवों का नाश करने वाली अग्नि वृष्टि, धूलि वृष्टि और धूम की वृष्टि होगी। इन दुर्वृष्टियों से पृथ्वी, नीचे एक योजन पर्यन्त भस्म हो जावेगी, और नियम से सर्व जीवों का नाश हो जायगा। इस प्रकार सभी जिनेन्द्रों ने अवसर्पिणी काल का स्वरूप कहा है ॥३१२ (के दो चरण) ३१५॥ द्वितीय आदि कालों के प्रारम्भ में भोगभूमिज मनुष्यों की जो उत्कृष्ट आयु, उत्सेध एवं सुख आदि पूर्व में कहा गया है, वही सब प्रथम आदि कालों के अन्त में जघन्य रूप से जानना चाहिए। अर्थात् द्वितीय काल की आदि में जो उत्कृष्ट आयु आदि कही है, वह प्रथम काल के अन्त की जघन्य है। इस प्रकार अवसर्पिणी काल सम्बन्धी छह कालों की अवस्थिति जानना चाहिए ॥३१६-३१७॥

अब उत्सर्पिणी काल के प्रथम काल का वर्णन करते हैं :—

ततोऽतिदु:षमाद्याः षट्काला वृद्धियुताः क्रमात् ।
उत्सर्पिण्यो भविष्यन्त्यङ्गोत्सेधायुर्बलादिभिः ॥३१८॥
तस्या अत्रादिमः कालः षष्ठेन सदृशोऽखिलः ।
क्रमवृद्धियुतश्चातिदुःषमाख्यो बलादिकैः ॥३१९॥
तस्यादौ जलसद्वृष्टिः क्षीरवृष्टिर्घनोद्भवा ।
घृतवृष्टिस्ततोऽपीक्षुरसवृष्टिः सुखप्रदा ॥३२०॥
सुधावृष्टिर्जगत्ताप-नाशिनी च भविष्यति ।
सप्तसप्तदिनान्यत्र सुगन्धा शीतला मही ॥३२१॥

तिर्यंचो मानवास्तद्गन्धाकृष्टाश्च निजेच्छया ।
नाना युगलरूपेण वर्तिष्यन्ते वृषातिगाः ॥३२२॥
ते सर्वे मृण्मयाहारजीविनो वृद्धिसंयुताः ।
आयुर्देहबलैर्धर्महीनाः आकालान्तमञ्जसा ॥३२३॥

अर्थः—अवसर्पिणी काल की परिसमाप्ति के अनन्तर ही उत्सर्पिणी सम्बन्धी अति दुखमा आदि छह काल होंगे, जिनमें उत्पन्न होने वाले जीव उत्सेध, आयु एवं बल आदि के द्वारा क्रम से वृद्धि को प्राप्त होंगे ॥३१८॥ अवसर्पिणी के छठवें काल के सदृश उत्सर्पिणी का दुखमादुखमा नाम का प्रथम काल है। अन्तर केवल इतना है कि इस काल में बल, आयु और विवेक आदि की क्रमशः वृद्धि होती जायगी ॥३१९॥ इस काल के प्रारम्भ में जगत का सन्ताप नाश करने वाली और सुख प्रदान करने वाली सात सात दिन पर्यन्त उत्तम जल की, दूध की, घी की, इक्षु रस की और अमृत की वर्षा होगी, जिससे पृथ्वी शीतल और सुगन्धित हो जायगी ॥३२०–३२१॥ उस गन्ध से आकृष्ट होकर मनुष्य और तिर्यञ्चों के अनेक युगल अपनी इच्छा से उन गुफाओं आदि से निकल कर वृद्धि को प्राप्त होंगे। वे सब जीव उस प्रथम काल के अन्त पर्यन्त धर्म से रहित, मिट्टी मय आहार से जीवन यापन करने वाले तथा आयु, देह के उत्सेध, बल एवं बुद्धि आदि से निरन्तर वृद्धिगत होते रहेंगे ॥३२२–३२३॥

अब उत्सर्पिणीकाल सम्बन्धी द्वितीय दुखमा काल का वर्णन करते हैं :—

उत्सर्पिण्यास्ततोऽप्यस्या द्वितीयो दुःखमाभिधः ।
कालः पञ्चमसादृश्यो भविता क्रमवृद्धिभाक् ॥३२४॥
अन्ते द्वितीयकालस्यावशिष्टेऽब्दसहस्रके ।
सत्येते कुलकर्त्तारो भविष्यन्त्यत्र षोडश ॥३२५॥
आदिमः कनकाभिख्यो द्वितीयः कनकप्रभः ।
ततः कनकराजाख्यः कुलकृत् कनकध्वजः ॥३२६॥
स्वर्णपुङ्गव संज्ञोऽस्य नलिनोनलिनप्रभः ।
ततो नलिन राजाख्यः कुलभृन्नलिनध्वजः ॥३२७॥
नलिनोपुङ्गवाभिख्यः पद्मः पद्मप्रभाभिधः ।
पद्मराजाह्वयःपद्मध्वजश्च पद्मपुङ्गवः ॥३२८॥
महापद्म इमे प्रोक्ता भविष्या मनवोऽखिलाः ।
सूचयिष्यन्ति मुग्धानां कृत्याकृत्यादि देहिनाम् ॥३२९॥

अर्थः— अवसर्पिणीकाल के पञ्चम काल सदृश उत्सर्पिणी का दुःखमा नाम का द्वितीयकाल होगा किन्तु इसमें बुद्धि बल आदि की क्रमशः वृद्धि होती जायगी ।।३२४।। उत्सर्पिणी के द्वितीय काल के अन्त में एक हजार वर्ष अवशेष रहने पर निम्नलिखित सोलह कुलकर होंगे । यथा—१ कनक, २ कनकप्रभ, ३ कनकराज, ४ कनकध्वज, ५ कनकपुङ्गव, ६ नलिन, ७ नलिनप्रभ, ८ नलिनराज, ९ नलिनध्वज, १० नलिनपुङ्गव, ११ पद्म, १२ पद्मप्रभ, १३ पद्मराज, १४ पद्मध्वज, १५ पद्मपुङ्गव और महापद्म ये १६ मनु होंगे, जो मुग्ध (भोले) जीवों को कृत्य-अकृत्य आदि कार्यों की शिक्षा देंगे । अर्थात् क्षत्रिय आदि कुलों के अनुरूप आचरण और अग्नि द्वारा पाचन आदि का विधान सिखावेंगे ।।३२५-३२९।।

अब दुःखमासुखमा नामक तृतीयकाल की स्थिति बतलाते हुए इसमें उत्पन्न होने वाले चौबीस तीर्थंकरों का वर्णन करते हैं :—

ततस्तृतीयः कालः स्याद् दुःषमासुषमाह्वयः ।
चतुर्थकालतुल्योऽप्यायास्यति क्रमवृद्धिभाक् ।।३३०।।
तस्मिन् काले क्रमेणैव भविष्यन्ति जिनेश्वराः ।
नष्टधर्मोद्धरा एते चतुर्विंशतिसंख्यकाः ।।३३१।।
पद्माख्यः सुरदेवोऽथ सुपार्श्वो हि स्वयंप्रभः ।
सर्वात्माभूतसंज्ञश्च देवपुत्रसमाह्वयः ।।३३२।।
कुलपुत्र उदङ्काख्यः प्रोष्ठिलो जयकीर्तिवाक् ।
मुनिसुव्रतनामातथारनाथो ह्यपापकः ।।३३३।।
निःकषायाभिधानोऽथ विपुलो निर्मलाख्यकः ।
चित्रगुप्तो जिनाधीशः समाधिगुप्तनामकः ।।३३४।।
स्वयंभूरनिवर्तिस्तु जयाख्यो विमलाभिधः ।
देवपालाह्वयोऽनन्तवीर्य एते जिनाधिपाः ।।३३५।।
त्रिजगन्नाथसन्नार्च्याः स्वमुक्तिमार्गदर्शिनः ।
धर्मतीर्थप्रणेतारो ज्ञेया विश्वहितङ्कराः ।।३३६।।
मध्ये यः प्रथमोऽमीषां श्रेणिकः स भविष्यति ।
शुद्धसम्यक्त्व माहात्म्यादादितीर्थप्रवर्तकः ।।३३७।।
षोडशाग्रशताब्दायुः सप्तहस्तोच्चविग्रहः ।
दिव्येन ध्वनिना पुंसां स्वर्गमोक्षाध्वदर्शकः ।।३३८।।

अन्तिमः कोटिपूर्वायुर्भविता तीर्थकारकः ।
शतपञ्चधनुस्तुङ्गः सन्मार्गदीपको महान् ॥३३९॥
शेषाणां तीर्थकर्तॄणां भविष्याणां जिनागमे ।
आयुरुत्सेधकालाद्या ज्ञेयाश्च भूतयेऽखिलाः ॥३४०॥

अर्थः—द्वितीय काल के बाद उत्सर्पिणी का दुःखमासुखमा नाम का तृतीय काल आयगा, जो अवसर्पिणी के चतुर्थकाल सदृश होगा, किन्तु इसमें आयु, बल एवं बुद्धि आदि में क्रमशः वृद्धि होती जायगी ॥३३०॥ इस तृतीय काल में नष्ट हुए धर्म का उद्धार करने में तत्पर आगे कहे जाने वाले चौबीस तीर्थंकर क्रमशः होंगे ॥३३१॥ प्रथम तीर्थंकर (श्रेणिक राजा का जीव) १ पद्म, २ सुरदेव, ३ सुपार्श्व, ४ स्वयम्प्रभ, ५ सर्वात्मभूत, ६ देवपुत्र, ७ कुलपुत्र, ८ उदङ्क, ९ प्रोष्ठिल, १० जयकीर्ति, ११ मुनिसुव्रत, १२ अरनाथ, १३ अपापक, १४ निष्कषाय, १५ विपुल, १६ (कृष्णनारायण का जीव) निर्मल, १७ चित्रगुप्त, १८ समाधिगुप्त, १९ स्वयम्भू, २० अनिवर्ति, २१ जय, २२ विमल, २३ देवपाल और २४ (सात्यिकी तनुज अन्तिम रुद्र का जीव) अन्तिम तीर्थंकर अनन्तवीर्य होगा। ये चौबीस जिनेन्द्र, देवेन्द्र, धरणेन्द्र एवं नरेन्द्रों के द्वारा वन्दित और पूजित हैं, स्वर्ग एवं मोक्ष के मार्ग को दर्शाने वाले हैं, धर्म तीर्थ के प्रणेता एवं विश्व का हित करने वाले हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥३३२–३३६॥ इन चौबीस तीर्थंकरों के मध्य, तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले जो प्रथम तीर्थंकर होंगे वे शुद्धसम्यक्त्व के माहात्म्य से श्रेणिक राजा का जीव ही होगा। इनकी आयु ११६ वर्ष प्रमाण और शरीर की ऊँचाई सात हाथ प्रमाण होगी। ये अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग दर्शायेंगे ॥३३७–३३८॥ सात्यिकीतनुज अन्तिम रुद्र का जीव अनन्तवीर्य नाम के अन्तिम तीर्थंकर होंगे। सन्मार्ग दर्शाने के लिये दीपक सदृश इन महान तीर्थंकर की आयु एक पूर्व कोटि प्रमाण और शरीर का उत्सेध ५०० धनुष प्रमाण होगा। भविष्य में होने वाले अवशेष बाईस तीर्थंकरों की आयु, उत्सेध एवं काल आदि का समस्त वर्णन जिनागम से जान लेना चाहिए ॥३३९–३४०॥

अब आगामी द्वादश चक्रवर्तियों के नाम कहते हैं :—

भरतो दीर्घदन्ताख्यो जयदत्ताभिधानकः ।
गूढदन्ताह्वयः श्रीषेणाख्यः श्रीभूतिसंज्ञकः ॥३४१॥
श्रीकीर्तिश्च ततः पद्मो महापद्माभिधानकः ।
चित्रवाहननामा विमलवाहननामकः ॥३४२॥
अरिष्टसेननामामी भाविचक्रधरा मताः ।
द्वादशाद्भुत पुण्याढ्या नृदेव खचरार्चिताः ॥३४३॥

अर्थः—(भविष्यतकाल में भी प्रथम चक्रवर्ती का नाम भरत ही होगा, इस प्रकार)—१ भरत, २ दीर्घदन्त, ३ जयदत्त, ४ गूढदन्त, ५ श्रीषेण, ६ श्रीभूति, ७ श्रीकीर्ति, ८ पद्म, ९ महापद्म, १० चित्रवाहन, ११ विमलवाहन और १२ अरिष्टसेन नाम के ये द्वादश चक्रवर्ती अद्भुत पुण्य से युक्त और नरेन्द्रों, देवों एवं विद्याधरों से पूजित भविष्यतकाल में होंगे ।।३४१-३४३।।

अब भविष्यत्काल में होने वाले बलभद्र, वासुदेव और प्रतिवासुदेवों के नाम कहते हैं :—

चन्द्राह्वयो महाचन्द्रस्ततश्चन्द्रधराभिधः ।
हरिचन्द्राख्यकः सिंहचन्द्राख्यो वरचन्द्रमाः ।।३४४।।
पूर्णचन्द्रः सुचन्द्राख्यः श्रीचन्द्रो भाविनोऽप्यमी ।
बलभद्रा नव ज्ञेया देवार्च्या ऊर्ध्वगामिनः ।।३४५।।
नन्दी च नन्दिमित्राख्यो नन्दिषेणसमाह्वयः ।
नन्दिभूति नरेशोऽथ प्रतीतबलसंज्ञकः ।।३४६।।
ततो महाबलाभिख्योऽतिबलाख्यस्त्रिखण्डभृत् ।
त्रिपृष्टोऽथ द्विपृष्टोऽमी वासुदेवा नवस्मृताः ।।३४७।।
श्रीकण्ठो हरिकण्ठाख्यो नीलकण्ठोऽश्वकण्ठकः ।
सुकण्ठः शिखिकण्ठश्च ततोऽश्वग्रीवसंज्ञकः ।।३४८।।
हयग्रीवो मयूरग्रीवोऽमी खण्डत्रयाधिपाः ।
वासुदेवद्विषः सर्वे ज्ञातव्या नव भूतले ।।३४९।।
शलाकाः पुरुषा एते खभूचरसुराधिपैः ।
वन्द्याः पूज्यास्त्रिषष्टिश्च भविष्यन्ति जिनादयः ।।३५०।।

अर्थः—भविष्यतकाल में चन्द्र, महाचन्द्र, चन्द्रधर, हरिचन्द्र, सिंहचन्द्र, वरचन्द्र, पूर्णचन्द्र, सुचन्द्र और श्रीचन्द्र नाम के ये नौ बलभद्र, देवों से पूज्य और ऊर्ध्वगामी होंगे ।।३४४-३४५।। इसी प्रकार आगामी काल में नन्दी, नन्दिमित्र, नन्दिषेण, नन्दिभूत, प्रतीतबल, महाबल, अतिबल, त्रिपृष्ठ और द्विपृष्ठ ये नव नारायण होंगे ।।३४६-३४७।। इसी प्रकार तृतीय काल में श्रीकण्ठ, हरिकण्ठ, नीलकण्ठ, अश्वकंठ, सुकण्ठ, शिखिकण्ठ, अश्वग्रीव, हयग्रीव और मयूरग्रीव ये नौ त्रिखंडाधिपति प्रतिवासुदेव होंगे । पृथ्वीतल पर ये नौ प्रतिनारायण, नारायणों के शत्रु होते हैं, ऐसा जानना ।।३४८-३४९।। विद्याधरों, राजाओं और देवों द्वारा वन्दनीय एवं पूजनीय जिनेन्द्र आदि त्रेसठ शलाका के ये सभी महापुरुष भविष्यतकाल में होंगे ।।३५०।।

अब अवशेष तीन कालों में भोगभूमि की रचना कहते हैं :—

ततः कालत्रयोऽप्येऽत्र स्थित्यादिवृद्धिसंयुताः ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टा भोगभूमिभवाः क्रमात् ॥३५१॥
प्रागुक्तत्रिकसद्भोगभूमितुल्याः सुखाकराः ।
दशधा कल्पवृक्षाढ्या आयास्यन्ति पृथग्विधाः ॥३५२॥

अर्थः—इस तृतीय काल की परिसमाप्ति के अनन्तर स्थिति आदि की वृद्धि से युक्त तीन काल और होंगे, जिसमें क्रम से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भोगभूमि की रचना होगी। अर्थात् चतुर्थ सुखमा-दुखमा काल में जघन्य भोगभूमि की, पंचम सुखमा काल में मध्यम की और छठवें सुखमासुखमाकाल में उत्कृष्ट भोगभूमि की रचना होगी ॥३५१॥ पृथक्-पृथक् दश दश प्रकार के कल्पवृक्षों से युक्त सुख की खान स्वरूप इन तीनों भोगभूमियों में पूर्वोक्त भोगभूमियों के सदृश ही रचना होगी ॥३५२॥

भरतैरावत में कहे हुए इन छह कालों को नियम पूर्वक अन्य क्षेत्रों में जोड़ने के लिए कहते हैं :—

भरतैरावतक्षेत्रेषु सर्वेषु द्विपञ्चसु ।
द्विषट्कालाः प्रवर्तन्ते वृद्धिह्रासयुताः सदा ॥३५३॥
विजयार्धनगेष्वत्र म्लेच्छखण्डेषु पञ्चसु ।
चतुर्थकाल एवास्ति शाश्वतो निरुपद्रवः ॥३५४॥
किन्तु चतुर्थकालस्य यदा स्याद् भरतादिषु ।
आयुःकायसुखादीनां वृद्धिह्रासश्च जन्मिनाम् ॥३५५॥
तदा तेन समः कालो वृद्धिह्रासयुतो भवेत् ।
रूप्याद्रिम्लेक्षखण्डेषु शेषकालेषु न क्वचित् ॥३५६॥
पूर्वापरविदेहेषु द्विपञ्चसु प्रवर्तते ।
चतुर्थकाल एवैको मोक्षमार्गप्रवर्तकः ॥३५७॥
देवोत्तरकुरुष्वेव द्विपञ्चभोगभूमिषु ।
दक्षिणोत्तरयोर्मेरोः प्रथमः काल ऊर्जितः ॥३५८॥
हरिरम्यकवर्षेषु मध्यमभोगभूमिषु ।
वृद्धिह्रासातिगः कालो द्वितीयो मध्यमो मतः ॥३५९॥
हैमवताख्यहैरण्यवतक्षेत्रद्विपञ्चसु ।
तृतीयः शाश्वतः कालो जघन्यभोगभूमिषु ॥३६०॥

तिर्यग्द्वीपेष्वसंख्येषु मानुषोत्तरपर्वतात् ।
बाह्यस्थेष्वन्तरस्थेषु नागेन्द्रशैलतः स्फुटम् ॥३६१॥
जघन्यभोगभूमागस्थिति युक्तेषु वर्तते ।
जघन्यभोगभूकर्ता नित्यः कालस्तृतीयकः ॥३६२॥
नागेन्द्रपर्वताद्बाह्ये स्वयम्भूरमणार्णवे ।
स्वयम्भूरमणद्वीपार्धे कालः पञ्चमोऽव्ययः ॥३६३॥
चतुर्णिकायदेवानां स्वर्गादिसर्वधामसु ।
सुषमासुषमाकालो नित्योऽस्ति सुखसागरः ॥३६४॥
कालोऽतिदुःषमाभिख्यो नरकेष्वस्ति सप्तसु ।
विश्वासाताकरीभूतः शाश्वतो नराकाङ्क्षिनाम् ॥३६५॥

अर्थः—पञ्चमेरु सम्बन्धी पाँच भरत और पाँच ऐरावत (इन दश) क्षेत्रों के आर्य खण्डों में वृद्धि ह्रास युक्त छह काल उत्सर्पिणी सम्बन्धी और छह काल अवसर्पिणी सम्बन्धी इस प्रकार बारह काल निरन्तर प्रवर्तन करते रहते हैं ॥३५३॥ विजयार्ध पर्वतों की श्रेणियों में एवं भरतैरावत सम्बंधी दश क्षेत्रों के पांच पांच म्लेच्छ खण्डों में उपद्रव रहित चतुर्थकाल की वर्तना शाश्वत रहती है, किन्तु भरतैरावत क्षेत्रों के चतुर्थ काल में जीवों के काय, आयु एवं सुख आदि का जिस प्रकार वृद्धि ह्रास होता है उसी के सदृश वृद्धि ह्रास वहाँ भी होता है। अर्थात् भरतैरावत क्षेत्रों के आर्य खण्डों में अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में आदि से अन्त तक जीवों की आयु आदि में जैसी क्रमिक हानि होती है, वैसी ही हानि वहाँ होती है, और आर्य खण्डों में उत्सर्पिणी काल के तृतीय काल (क्योंकि जो अवसर्पिणी का चतुर्थ काल है, वही उत्सर्पिणी का तृतीय है) में आदि से अन्त तक जैसी क्रमिक वृद्धि होती है, वैसी ही वृद्धि वहाँ (म्लेच्छ खण्डों में और विजयार्धों में) होती है।

विजयार्धों की श्रेणियों में और म्लेच्छ खण्डों में शेष कालों के सदृश वर्तना कभी भी नहीं होती। अर्थात् वहाँ अवसर्पिणी के पाँचवें और छठवें तथा उत्सर्पिणी के पहिले और दूसरे काल सदृश वर्तना कदापि नहीं होती ॥ ३५४-३५६ ॥ पंचमेरु सम्बन्धी पांच पूर्वविदेह और पाँच पश्चिम विदेह इस प्रकार पूर्वापर दश विदेह क्षेत्रों में मोक्षमार्ग के प्रवर्तक मात्र एक चतुर्थकाल की एक सदृश वर्तना होती है। अर्थात् जैसे यहाँ आर्य खण्डों सम्बन्धी चतुर्थ काल में आयु आदि हीनाधिक होती है वैसे वहाँ नहीं होती। यहाँ अवसर्पिणी सम्बन्धी चतुर्थ काल के प्रारम्भ में जैसी वर्तना होती है, वैसी वहाँ निरन्तर होती रहती है ॥३५७॥ यहाँ अवसर्पिणी के प्रथम काल के प्रारम्भ में आयु, उत्सेध एवं सुख आदि की जो वर्तना होती है, वैसी ही वर्तना पञ्चमेरुओं के उत्तर और दक्षिण में अवस्थित उत्तरकुरु, देवकुरु नामक दश उत्तम भोगभूमियों में निरन्तर रहती है ॥३५८॥ अवसर्पिणी के द्वितीय

काल के प्रारम्भ सदृश पञ्चमेरु सम्बन्धी हरि-रम्यक क्षेत्रों की दश मध्यम भोगभूमियों में वृद्धि-ह्रास से रहित वर्तना होती है ।।२५९।। इसी प्रकार अवसर्पिणी के तृतीय काल के प्रारम्भ सदृश हैमवत् और हैरण्यवत् क्षेत्रगत दश जघन्य भोगभूमियों में शाश्वत वर्तना होती है ।।२६०।। मानुषोत्तर पर्वत से बाहर और स्वयम्भूरमण द्वीप के मध्य में अवस्थित नागेन्द्र पर्वत के भीतर भीतर तिर्यग्लोक सम्बंधी असंख्यात द्वीपों में जघन्य भोगभूमि का वर्तन होता है, अवसर्पिणी के तृतीय काल के प्रारम्भ में जघन्य भोगभूमि जन्य यहाँ जैसा वर्तन होता है, वैसा वहाँ शाश्वत होता है ।।२६१-२६२।।

नागेन्द्र पर्वत के बाह्य भाग से स्वयम्भूरमण समुद्र के अन्त पर्यन्त अर्थात् अर्धं स्वयम्भूरमण द्वीप में और स्वयम्भूरमण समुद्र में अवसर्पिणी के पञ्चम काल के प्रारम्भ सदृश, हानि-वृद्धि रहित पंचम काल का ही नित्य वर्तन होता है ।।२६३।। चतुर्निकाय देवों के स्वर्गादिक सभी स्थानों में सुख के सागर स्वरूप सुखमा सुखमा काल के सदृश ही नित्य वर्तन होता है, तथा सातों नरक भूमियों में नारकी जीवों के नित्य ही समस्त असाता की खान स्वरूप दुःखमा दुःखमा काल के सदृश वर्तन होता है (स्वर्गों एवं नरकों में अत्यन्त सुखों एवं अत्यन्त दुःखों की विवक्षा से यह कथन किया गया है, आयु तथा उत्सेध आदि की विवक्षा से नहीं ।।२६४-२६५।।

अब आचार्य कालचक्र के परिभ्रमण से छूटने का उपाय बतलाते हैं :—

इत्येतत् कालचक्रं भ्रमणभरयुतं तीर्थनाथैः प्रणीतम् ।
षड्भेदं सौख्यदुःखास्पदमपि निखिलं भो ! भ्रमन्त्येव नित्यम् ।।
संसारे दुःखपूर्णे विधिगणगलिताः प्राणिनश्चेति मत्वा ।
दक्षाः कालादिदूरं सुचरणसुतपोभिः शिवं साधयध्वम् ।।३६६।।

अर्थः—इस प्रकार भ्रमण के भार से युक्त, समस्त सुखों एवं दुःखों के स्थान स्वरूप यह छह भेद वाला कालचक्र भगवान् जिनेन्द्र के द्वारा कहा गया है । इस कारण कर्म समूह से प्रेरित जीव इस दुःख पूर्ण संसार में नित्य ही भ्रमण करता है, ऐसा जानकर भो चतुर भव्य जनो ! आप सब उत्तम चारित्र और उत्तम तप के द्वारा काल चक्र के प्रभाव से रहित मोक्ष का साधन करो ।।३६६।।

अधिकारान्त मङ्गलाचरण :—

एषां काले चतुर्थे वसुगुणवपुषो येऽभवन् सिद्धनाथाः,
सार्धद्वीपद्वये ये सकलगुणमयास्त्यक्तदोषा जिनेन्द्राः ।
अन्तातीताः सुरार्च्या जगति हितकराः सूरयः पाठकाश्चा-
चाराढ्याः साधवस्तांस्तदसमगतये नौमि सर्वान् जिनादीन् ।।३६७।।

इति श्रीसिद्धांतसारदीपकमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते अवसर्पिण्युत्सर्पिणी षट्काल प्ररूपको नाम नवमोधिकारः ।

अर्थः—इन छह कालों के मध्य चतुर्थ काल में आठ गुण ही हैं शरीर जिनका ऐसे सिद्ध परमेष्ठी हुए हैं। अढ़ाई द्वीप में जो अठारह दोषों से रहित, सम्पूर्ण गुणों से सहित, विनाश रहित और देव समूह से पूज्य जिनेन्द्र अर्हन्त हुए हैं, तथा जगत का हित करने वाले एवं चारित्र गुण से विभूषित आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु हुए हैं, उन सब जिनेन्द्रादि-पंचपरमेष्ठियों को मैं अनुपम गति की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ ॥३६७॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसारदीपक नाम महाग्रन्थ में

अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी के छह कालों का प्ररूपण करने वाला

नवमा अधिकार समाप्त ॥

दशमोऽधिकारः

मङ्गलाचरण एवं प्रतिज्ञा सूत्र:—

अथ पंचगुरून् नत्वा धर्मसाम्राज्यनायकान् ।
महतस्त्रिजगत्पूज्यान् प्रवक्ष्ये लवणार्णवम् ॥१॥

अर्थ:—अब त्रैलोक्य पूज्य और धर्म साम्राज्य के अधिनायक पञ्च परमेष्ठियों को नमस्कार करके लवण समुद्र का वर्णन करूँगा ॥१॥

अब जम्बूद्वीप की परिधि और प्राकार का प्रमाण कहते हैं :—

योजनानां त्रिलक्षाणि सहस्राण्यपि षोडश ।
द्विशते सप्तविंशत्यधिके क्रोशास्त्रयस्तथा ॥२॥
धनुषां शतमेकं किलाष्टाविंशतिसंयुतम् ।
त्रयोदशांगुलान्यर्धांगुलं साधिकमञ्जसा ॥३॥
इत्येवं संख्यया जम्बूद्वीपस्य परिधिर्मता ।
सूक्ष्मः प्राकार एतस्य स्यादष्टयोजनोन्नतः ॥४॥
योजनानां द्विषड्व्यासो मूले मध्येऽष्टविस्तृतः ।
चतुर्भिर्विस्तृतोऽन्ते च वज्राङ्गो वलयाकृतिः ॥५॥

अर्थ:—(एक लाख योजन प्रमाण विष्कम्भ व आयाम से सहित) जम्बूद्वीप की परिधि का सूक्ष्म प्रमाण तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक है। अर्थात् ३१६२२७ यो०, ३ कोश १२८ धनुष और १३½ अंगुल से कुछ अधिक है। इस जम्बूद्वीप को चारों ओर से वेष्टित करने वाला एक वज्रमय वलयाकार कोट है, जो आठ योजन ऊँचा, मूल में बारह योजन, मध्य में आठ योजन और ऊपर चार योजन प्रमाण चौड़ा है ॥२-५॥

अब प्राकार ऊपर स्थित वेदिका का निरूपण करते हैं :—

प्राकारोपरिभागेऽस्ति पद्मवेदी च शाश्वता ।
धनुःपञ्चशतव्यासादिव्या क्रोशद्वयोच्छ्रिता ॥६॥

अर्थ—प्राकार के उपरिम भाग में पद्म नाम की वेदी है, जो शाश्वत है पाँच सौ धनुष चौड़ी है और दो कोश ऊँची है ॥६॥

अब कोट के चारों दिशाओं में स्थित द्वारों के नाम, प्रमाण और उनके ऊपर स्थित जिन प्रतिमाओं का निरूपण करते हैं :—

शालस्य पूर्वदिग्भागे द्वारं विजयसंज्ञकम् ।
दक्षिणे वैजयन्ताख्यं द्वारं भागे च पश्चिमे ॥७॥
जयन्तमुत्तरे गोपुरद्वारमपराजितम् ।
चत्वारिगोपुराणीति नानारत्नमयान्यपि ॥८॥
प्रत्येकं गोपुराणां च योजनाष्टसमुन्नतिः ।
सर्वत्र व्यास आयामश्चतुर्योजनसम्मितः ॥९॥
गोपुरद्वारसर्वेषु जिनेन्द्रप्रतिमाः पराः ।
सन्ति भामण्डलच्छत्रत्रय सिंहासनाश्रिताः ॥१०॥

अर्थः—कोट की पूर्व दिशा में विजय, दक्षिण में वैजयन्त, पश्चिम में जयन्त और उत्तर में अपराजित नाम के, नाना प्रकार के रत्नमय चार गोपुर द्वार हैं। ये प्रत्येक गोपुरद्वार आठ योजन ऊँचे, चार योजन चौड़े और चार योजन लम्बे हैं, इन समस्त द्वारों पर भामण्डल, तीन छत्र एवं सिंहासन आदि से युक्त जिनेन्द्र प्रतिमाएँ हैं ॥७–१०॥

अब इन चारों गोपुरद्वारों के अधिनायकों का कथन करते हैं :—

विजयो वैजयन्तोऽथ जयन्ताख्योऽपराजितः ।
चत्वारो व्यन्तराधीशा एते पल्यकजीविनः ॥११॥
देवीभिर्बहुसैन्याद्यैः समृद्धा अधिनायकाः ।
पूर्वादिदिक्प्रतोलीनां दिव्यदेहा भवन्ति च ॥१२॥

अर्थः—इन चारों द्वारों के क्रमशः विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के चार व्यन्तर देव हैं। पूर्वादि दिशाओं में स्थित प्रतोलियों के ये चारों अधिनायक दिव्य देह के धारी, एक पल्य की आयु से युक्त और देवों की अनेक प्रकार की सेनाओं से समृद्ध होते हैं ॥११–१२॥

अब चारों गोपुरद्वारों के ऊपर स्थित नगरों का वर्णन करते हैं :—

अमीषां विजयादीनां प्रत्येकं पुरमुत्तमम् ।
सर्वत्रायामविष्कम्भं सहस्रद्वादशप्रमैः ॥१३॥

योजनैर्मणिसौधोच्चप्राकारगोपुराङ्कितम् ।
द्वाराणामूर्ध्वभागं च गत्वा तिष्ठति शाश्वतम् ॥१४॥
ते स्वकीये स्वकीयेऽत्र पुरे तस्मिन् मनोहरे ।
स्वदेवीपरिवाराढ्याः वसन्ति व्यन्तराधिपाः ॥१५॥

अर्थः—चारों गोपुर द्वारों के ऊपर (गगन तल में) जाकर इन विजय आदि चारों व्यन्तराधिनायकों के अत्यन्त रमणीक और शाश्वत नगर हैं। जिनका आयाम और विस्तार पृथक्-पृथक् बारह हजार योजन प्रमाण है। ये नगर मणियों के ऊँचे ऊँचे महलों, प्राकारों और गोपुरों आदि से संयुक्त हैं। व्यन्तर देवों के स्वामी ये विजय आदि देव अपने अपने मनोहर नगरों में अपनी अपनी परिवार देवियों के साथ निवास करते हैं ॥१३-१५॥

अब चारों द्वारों का पारस्परिक अन्तर और प्राकार के बाह्याभ्यन्तर भाग में स्थित वनों आदि का निरूपण करते हैं :—

प्राकारपरिधेर्यच्चचतुर्थांशं तदेव हि ।
द्वारव्यासोनितं तेषां द्वाराणामन्तरं भवेत् ॥१६॥
प्राकाराभ्यन्तरे भागे क्रोशद्वयसुविस्तरम् ।
नानापादपसंकीर्णं वनमस्ति मनोहरम् ॥१७॥
वेदिका स्याद्वनस्यान्ते गोपुरादिविभूषिता ।
क्रोशद्वयोन्नताविस्या क्रोशतुर्यांशविस्तृता ॥१८॥
इत्यादिवर्णनोपेतः प्राकारोऽस्ति पृथक् पृथक् ।
असंख्यद्वीपवार्धीनां पर्यन्ते वलयाकृतिः ॥१९॥

अर्थः—द्वार के व्यास से हीन कोट की परिधि के चतुर्थांश का जो प्रमाण प्राप्त होता है, वही उन द्वारों के अन्तर का प्रमाण है। अर्थात् कोट (जम्बूद्वीप) की परिधि का प्रमाण ३१६२२८ योजन है, और चारों द्वारों का व्यास १६ योजन है. इसे परिधि के प्रमाण में से घटा देने पर (३१६२२८—१६) ३१६२१२ योजन अवशेष रहते हैं। मुख्य द्वार चार हैं, अतः अवशेष को चार से भाजित करने पर (३१६२१२/४)=७९०५३ योजन प्राप्त हुये। यही एक द्वार से दूसरे द्वार के अन्तर का प्रमाण है ॥१६॥

प्राकार के भीतर की ओर (पृथ्वी के ऊपर) दो कोश विस्तार वाला तथा अनेक प्रकार के वृक्षों से व्याप्त महामनोहर वन है। उस वन के अन्त में गोपुर आदि द्वारों से विभूषित वेदिका है, जो दो कोश ऊँची और एक कोश का चतुर्थांश अर्थात् पाव (¼) कोश विस्तार वाली है ॥१७-१८॥

चूड़ी के आकार को धारण करने वाले असंख्यात द्वीप समुद्रों के अन्त में उपर्युक्त वर्णन से युक्त पृथक् पृथक् प्राकार-कोट हैं ।।१६।।

अब लवण समुद्र की अवस्थिति और उसके स्वामी कहते हैं :—

तत्प्राकारान्तमाश्रित्य वलयाकारभृन्महान् ।
द्विलक्षयोजनव्यासो नित्योऽस्ति लवणार्णवः ।।२०।।
सत्स्वामिसुस्थिताभिख्यौ देवौ दिव्याङ्गधारिणौ ।
लवणाख्यसमुद्रस्य तिष्ठतः परिरक्षकौ ।।२१।।

अर्थः— उस जम्बूद्वीप के कोट के अन्तिम भाग का आश्रय कर अर्थात् कोट से लगा हुआ, चूड़ी के आकार को धारण करने वाला, दो लाख योजन व्यास से युक्त, शाश्वत और महान् लवण समुद्र है। इस लवण समुद्र के दिव्य अङ्ग को धारण करने वाले सत्स्वामि और सुस्थित नाम के दो परि-रक्षक देव वहाँ रहते हैं ।।२०-२१।।

अब लवण समुद्र के अभ्यन्तरवर्ती पातालों के नाम, उनका अवस्थान और संख्या का वर्णन करते हैं :—

समुद्राभ्यन्तरे पंचनवति प्रमितान्यपि ।
योजनानां सहस्राणि चतुर्दिक्षु विहाय च ।।२२।।
स्युः पातालानि चत्वारि महान्ति शाश्वतान्यलम् ।
पूर्वस्यां दिशि पातालं पश्चिमे वडवामुखम् ।।२३।।
भवेद्दक्षिणदिग्भागे कदम्बकसमाह्वयः ।
उत्तराख्ये दिशाभागे नाम्नास्ति युगकेशरी ।।२४।।
अमीषामन्तरेऽत्रैव विदिक्षु मध्यमान्यपि ।
चत्वारि श्रेणिरूपेण पातालानि भवन्ति च ।।२५।।
एतेषामष्टपातालानामन्तरेषु चाष्टसु ।
पातालानि जघन्यानि पञ्चविंशाधिकं शतम् ।।२६।।
प्रत्येकं तानि सर्वाणि पातालानि भवन्ति च ।
अष्टाधिकसहस्राणि पिण्डितानि जिनागमे ।।२७।।

अर्थः—लवण समुद्र के अभ्यन्तर भाग में ९५ हजार योजन छोड़ कर अर्थात् तट से ९५००० योजन पानी के भीतर जाकर चारों दिशाओं में चार महा पाताल हैं, जो शाश्वत हैं। पूर्व दिशा स्थित

बड़वानल का नाम पाताल, दक्षिण दिश स्थित का नाम बड़वामुख, पश्चिम दिशा स्थित का कदम्बक और उत्तर दिशा स्थित पाताल का नाम युगकेशरी है ।।२३-२४।। इन चारों पातालों के अन्तराल में चारों विदिशाओं गत श्रेणी रूप से स्थित चार मध्यम पाताल हैं, और इन चार दिशा सम्बन्धी तथा चार विदिशा सम्बन्धी आठ पातालों के आठ अन्तराल हैं, जिनमें १२५-१२५ जघन्य पाताल हैं। जिनागम में इन समस्त पातालों का योग (१२५×८=१००० + ४ + ४) = १००८ अर्थात् एक हजार आठ कहा गया है ।।२५-२७।।

अब तीनों प्रकार के पातालों का अवगाह आदि कहते हैं :—

ज्येष्ठानामवगाहोऽस्तिलक्षैकयोजनप्रमः ।
मध्यभागे महाव्यासो लक्षयोजनमानकः ।।२८।।

पातालानामधोभागे सहस्रदशसम्मितः ।
योजनानां लघुव्यासो मुखेऽधोभागसन्निभः ।।२९।।

चतुर्णां मध्यमानां च सहस्राणि दशैवहि ।
अवगाहोऽवगाहेन समोऽस्ति मध्यविस्तरः ।।३०।।

योजनानां सहस्रं कोऽधस्तले विस्तरो मतः ।
पातालानां मुखे व्यासः सहस्रयोजनप्रमः ।।३१।।

अवगाहो जघन्यानां योजनानां सहस्रकम् ।
मध्यभागे च विष्कम्भोऽवगाहेन समानकः ।।३२।।

शतैकयोजनव्यासः पातालानामधस्तले ।
योजनानां शतैकं स्याद्विस्तारस्तन्मुखे क्रमात् ।।३३।।

अर्थ:—चारों दिशाओं में स्थित महा पातालों का अवगाह एक लाख योजन, मध्य भाग का व्यास एक लाख योजन, पातालों के अधोभाग का व्यास दश हजार योजन और मुख व्यास भी दश हजार योजन प्रमाण है ।।२८-२९।। चारों मध्यम पातालों का अवगाह दश हजार योजन, मध्य व्यास दश हजार योजन, मुख व्यास एक हजार योजन और अधोभाग का व्यास भी एक हजार योजन प्रमाण है ।।३०-३१।। एक हजार प्रमाण जघन्य पातालों का पृथक् पृथक् अवगाह एक हजार योजन, मध्य व्यास एक हजार योजन तथा मुख और अधोभाग का व्यास सौ-सौ योजन प्रमाण है ।।३२-३३।।

[इसका चित्रण अगले पृष्ठ पर देखिये ।]

इसका चित्रण निम्न प्रकार है :—

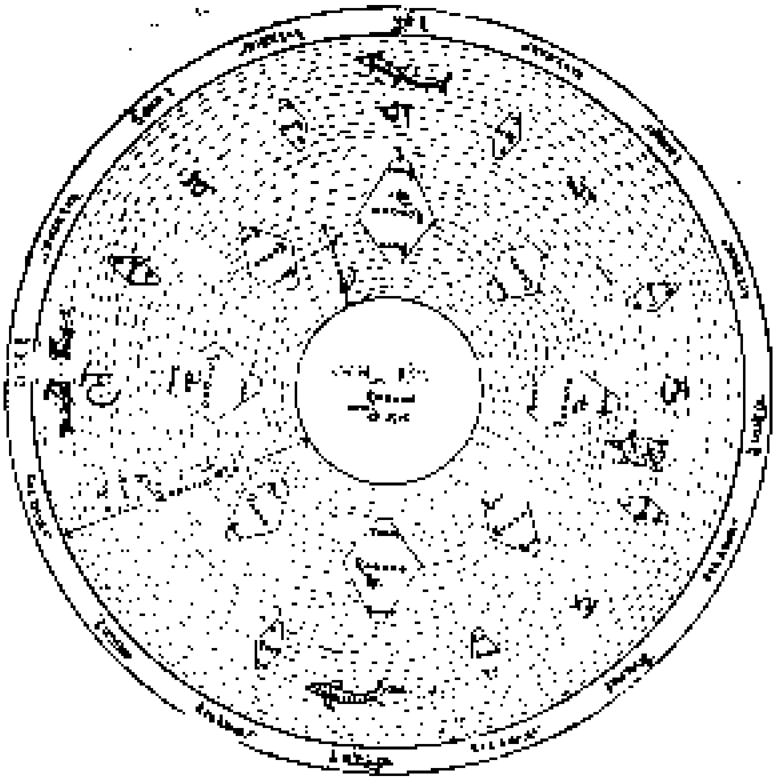

अब पातालों के अभ्यन्तरवर्ती जल और वायु के प्रवर्तन का क्रम तथा जल में होने वाली हानि वृद्धि का कारण कहते हैं :—

पातालानां समस्तानामवगाहे निरूपिताः ।
पृथक् त्रयस्त्रयो भागाः समाना आगमे जिनैः ॥३४॥
अधोभागेषु सर्वेषां केवलं वातसञ्चयः ।
मध्यतृतीयभागे स्तो जलवातौ स्वभावतः ॥३५॥
ऊर्ध्वस्थतृतीयांशेषु तिष्ठन्ति जलराशयः ।
वीचीनां वृद्धिह्रासौ स्तो वाताधीनौ न संशयः ॥३६॥
यदाधस्तात् महान् वायुरूर्ध्वमायाति तेन च ।
वीचीनां हि तदा वृद्धिर्जघन्यमध्यमोत्तमा ॥३७॥
यदा पातालमध्येषु प्रवेशं कुरुते मरुत् ।
हानिस्तदैव वीचीनां सर्वत्र लवणाम्बुधौ ॥३८॥

अर्थः—आगम में जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उन समस्त पातालों का जो पृथक् पृथक् अवगाह निरूपण किया गया है, उसके समान रूप से तीन तीन भाग करने पर उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीनों

पातालों के अधो भागों में स्वभाव से ही मात्र वायु है। मध्य के तृतीय भागों में जल और वायु है, तथा ऊपर के तृतीय भागों में मात्र जल है। जल कल्लोलों की वृद्धि और हानि में मात्र वायु ही कारण है, इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं है ॥३४–३५॥ जब अधस्तन भाग में स्थित वायु ऊपर को ओर आती है, तब उस वायु से जल कल्लोलों में क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट वृद्धि होती है, किन्तु जब वह वायु पाताल के अभ्यन्तर भाग में प्रवेश करती है, तब जल कल्लोलों में सर्वत्र क्रमशः हानि होती जाती है ॥३७–३८॥

उत्कृष्ट पाताल के त्रिभाग का प्रमाण एवं उनमें स्थित वायु आदि का चित्रण निम्न प्रकार है। अन्य पातालों का भी इसी प्रकार जानना। केवल प्रमाण में अन्तर होगा, अन्य नहीं :—

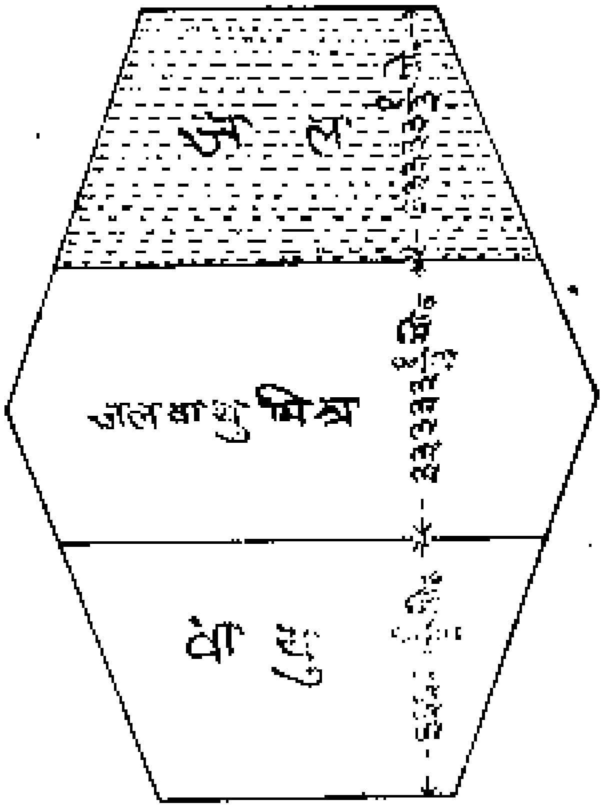

अब अमावस्या एवं पूर्णिमा को हानि वृद्धि रूप होने वाले जल के भूव्यास आदि का प्रमाण कहते हैं :—

वीचेर्व्यासो ह्यमावस्यायां द्विलक्षप्रमाणकः ।
योजनानां महीभागे शिखरे विस्तरस्तथा ॥३९॥

सार्धत्रिशतयुक्तैकोनसप्ततिसहस्रकाः ।
एकादशसहस्राण्युत्सेधो जघन्य एव च ॥४०॥

योजनानां अर्धत्रिंशदधिकत्रिशतानि च ।
योजनस्य तृतीयांश इति संख्याविनं प्रति ।।४१।।
योध्वेर्वृद्धिः परिज्ञेया यावद् पश्चान्तिमं दिनम् ।
पूर्णमास्यां महावीचेर्द्विलक्षयोजनप्रमः ।।४२।।
विस्तारो भूतले मूर्ध्नि सहस्रदशसम्मितः ।
उत्सेधो योजनानां च सहस्रषोडशप्रमः ।।४३।।

अर्थ:—अमावस्या को समभूमि से जल की ऊँचाई ११००० योजन रहती है यह लवण समुद्र के जल का जघन्य उत्सेध है। इस दिन अर्थात् ११००० ऊँचाई वाले जल का भूव्यास दो लाख योजन और मुख व्यास अर्थात् शिखर पर जल की चौड़ाई का प्रमाण ६९३५० योजन है ॥३९-४०॥

नोट :—त्रिलोकसार गा० ९०० की टीका में मुख व्यास का प्रमाण ६९३७५ योजन कहा है। मुख व्यास ६९३७५ योजन कैसे हुआ ? इसे त्रैराशिक से सिद्ध भी किया गया है।

शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन ३३३⅓ योजन की वृद्धि जल लहरों में होती है, इस प्रकार शुक्ल पक्ष के अन्त में पूर्णमासी को लवण समुद्र के जलराशि की ऊँचाई १६००० योजन हो जाती है। उस दिन भूमितल पर जल का विस्तार दो लाख योजन और शिखर पर जल का व्यास अर्थात् चौड़ाई १०००० योजन रहती है ।।४१-४३।।

विशेष:—लवण समुद्र का जल मुरजाकार है। अर्थात् समुद्र के मध्य में जल हमेशा समभूमि से ११००० योजन ऊपर तक राशि के समान स्थित रहता है। पातालों के मध्यम त्रिभागों में नीचे पवन और ऊपर जल है। शुक्ल पक्ष में प्रत्येक दिन जल के स्थान पर पवन होता जाता है, इससे जल कल्लोलों में प्रतिदिन ३३३⅓ योजन की वृद्धि होती है, इस प्रकार बढ़ते हुए पूर्णमासी को जल राशि की वृद्धि (३३३⅓ × १५) = ५००० योजन हो जाती है। अर्थात् जल राशि की ऊँचाई ११००० योजन तो थी ही, ५००० योजन की वृद्धि हो गई, अतः पूर्णमासी को जल राशि की ऊँचाई (११०००+५०००) = १६००० योजन प्राप्त होती है। कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन पवन के स्थान पर जल होता जाता है, अतः जलराशि में प्रतिदिन ३३३⅓ योजन की हानि होते हुये अमावस्या को जलराशि की ऊँचाई (१६०००—५००० =) ११००० योजन प्रमाण रह जाती है।

अब तीनों प्रकार के पातालों के पारस्परिक अन्तर का प्रमाण दर्शाते हैं :—

नवलक्षाः सहस्राण्यष्टचत्वारिंशदेव च ।
षट्शतानि त्र्यशीतिः किलेति योजनसंख्यया ।।४४।।

मध्यमा परिधिः प्रोक्तो मध्यसूच्या महाम्बुधेः ।
चतुर्थभागएवास्याः परिधेर्यः पृथक् कृतः ॥४५॥
दिक् पातालमुखव्यासहीनः सोऽत्रान्तरं भवेत् ।
चतुर्णां ज्येष्ठपातालानां पृथग् भूतमञ्जसा ॥४६॥
द्वौ लक्षौ च सहस्राणि सप्तविंशतिरेव हि ।
शतैकं सप्ततिर्योजनानां क्रोशास्त्रयः स्फुटम् ॥४७॥
इत्येवं संख्यया तेषां ज्येष्ठानामन्तरं मतम् ।
तस्यार्धं मध्यमानां स्यान्मुखव्यासोनमन्तरम् ॥४८॥
योजनानां च लक्षैकं सहस्राणि त्रयोदश ।
पंचाशीतिरित्यस्ता सार्धक्रोशइत्यङ्क संख्यया ॥४९॥
मध्यमानां चतुर्णां पातालानामन्तरं पृथक् ।
विभक्तमन्तरं चोनं मुखव्यासैस्तदेव हि ॥५०॥
पातालक्षुल्लकानां पञ्चविंशाग्रशतात्मनाम् ।
अन्तरैरन्तरं प्रोक्तं षड्विंशाग्रशतप्रमैः ॥५१॥
योजनानां शतान्येव सप्ताष्टानवतिस्तथा ।
योजनैकस्य भागानां षड्विंशाग्रशतात्मनाम् ॥५२॥
सप्तत्रिंशत्प्रमा भागा इत्यङ्कसंख्ययान्तरम् ।
मतं क्षुल्लकपातालानां सर्वेषां जिनागमे ॥५३॥

अर्थः—लवण समुद्र की मध्यम सूची व्यास की मध्यम सूक्ष्म परिधि का प्रमाण ९४८६८३ योजन प्रमाण है। इस मध्यम परिधि के चतुर्थ भाग (९४८६८३/४ = २३७१७०३/४ यो०) में से उत्कृष्ट पाताल के मुख व्यास का प्रमाण (१० हजार यो०) घटा देने पर दिशा सम्बन्धी उत्कृष्ट पातालों का पृथक् पृथक् अन्तर (२३७१७०३/४—१००००=२२७१७०३/४ यो०) प्राप्त होता है। अर्थात् पूर्व दिशागत उत्कृष्ट पाताल के मुख से दक्षिण दिशा गत उत्कृष्ट पाताल के मुख पर्यन्त २२७१७०३/४ योजन का अन्तर है। इसी प्रकार दक्षिण से पश्चिम, पश्चिम से उत्तर और उत्तर से पूर्व में जानना॥ इन उत्कृष्ट पातालों के अन्तर प्रमाण में से मध्यम पाताल के मुख व्यास (१०००) को कम करके आधा करने पर [(२२७१७०३/४—१०००)÷२=] ११३०८५ यो० और डेढ़ कोश (३/२) प्राप्त होते हैं, यही चारों विदिशाओं गत चार मध्यम पातालों का चारों दिशा गत ज्येष्ठ पातालों से पृथक् पृथक् अन्तर का प्रमाण है। अर्थात् पूर्व दिशागत ज्येष्ठ पाताल और आग्नेय दिशा गत मध्यम पाताल के मुखों में ११३०८५ योजन और १½ कोश का अन्तर है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। दिशागत और विदिशागत पातालों के मध्य में १००

योजन मुख व्यास वाले १२५ जघन्य पाताल हैं, इन सबका मुख व्यास (१२५ × १०० =) १२५०० यो० होता है। ज्येष्ठ और मध्यम पाताल के अन्तर प्रमाण ११३०८५ यो० $१\frac{१}{२}$ कोश में से मुख व्यास घटा कर अवशेष को १२६ (क्योंकि आजू बाजू के दिशागत और विदिशागत पातालों सहित १२७ पाताल हैं, अतः १२७ पातालों के १२६ अन्तराल होते हैं।) से भाजित करने पर समस्त क्षुल्लक पातालों के बीच का अंतराल जिनागम में (११३०८५ यो० $१\frac{१}{२}$ कोश—१२५०० यो० = १००५८५ यो० $१\frac{१}{२}$ कोश ÷ १२६) = ७९८ + $\frac{३७}{१२६}$ + $\frac{३}{१००८}$ योजन कहा गया है $१\frac{१}{२}$ कोश में १२६ का भाग देने पर $\frac{३}{२} \times \frac{१}{१२६} \times \frac{१}{४} =$) $\frac{३}{१००८}$ योजन प्राप्त होते हैं ॥४४–५३॥

अब लवणोदक समुद्र के प्रतिपालक नागकुमार आदि देवों के विमानों की संख्या को तीन स्थानों के आश्रय से कहते हैं :—

वेलन्धराधिपा नागा नागैर्वेलन्धरैः समम् ।
वसन्ति पर्वताग्रस्थनगरेषु मुदाम्बुधौ ॥५४॥
नागा द्व्यधिक चत्वारिंशत्सहस्रप्रमाः सदा ।
अभ्यन्तरजां वेलां धारयन्ति नियोगतः ॥५५॥
द्वासप्ततिसहस्राश्च बाह्यवेलां जलोर्जिताम् ।
धारयन्त्यम्बुधौ नागा जलक्रीडापरायणाः ॥५६॥
अष्टाविंशतिसंख्यातसहस्रनागनिर्जराः ।
महदग्रोदकं नित्यं धारयन्ति यथायथम् ॥५७॥

अर्थः—वेलन्धर नागकुमारों के स्वामी अपने वेलन्धर नागकुमारों के साथ पर्वतों के अग्रभाग पर स्थित नगरों में अति प्रसन्नता पूर्वक निवास करते हैं। लवणसमुद्र के अभ्यन्तर भाग (जम्बूद्वीप को ओर प्रविष्ट होने वाली वेला) की अपने नियोग से ब्यालीस हजार नागकुमार देव रक्षा करते हैं। समुद्र के बाह्यभाग (धातकी खण्ड द्वीप की ओर की वेला) को जलक्रीड़ा में परायण बहत्तर हजार नागकुमार देव धारण (रक्षा) करते हैं, और जल के महान् अग्रभाग को अर्थात् सोलह हजार ऊँची जल राशि को निरन्तर अट्ठाईस हजार नागकुमार देव धारण करते हैं। अर्थात् रक्षा करते हैं ॥५४-५७॥

नोट :—तिलोय पण्णत्ति, त्रिलोकसार और लोक विभाग में लवण समुद्र के बाह्याभ्यन्तर भाग में और शिखर पर जल से ऊपर आकाश तल में नागकुमार देवों के ४२०००, ७२००० और २८००० नगरों या विमानों का प्रमाण कहा है, देवों का नहीं।

अब लवणसमुद्र की वेदियों के आगे दिशाओं आदि में स्थित बत्तीस पर्वतों के नाम, प्रमाण एवं उनके आकार आदि का निरूपण करते हैं :—

अस्याम्बुधेश्च बाह्याभ्यन्तरवेदिकयोस्तटात् ।
योजनानि द्विचत्वारिंशत्सहस्रप्रमाण्यपि ।।५८।।
तटमुत्सृज्य सन्त्येते चतुर्दिक्ष्वष्टपर्वताः ।
कौस्तुभः कौस्तुभासोऽन्य एतौ पूर्वदिशि स्थितौ ।।५९।।
दक्षिणे स्त इमौ शैलौ ह्युदकाख्योदकप्रभौ ।
अद्री शंखमहाशंखौ दिग्भागे पश्चिमे स्थितौ ।।६०।।
गदाद्रिगदवासाख्यौ भवन्तश्चोत्तरेऽम्बुधौ ।
इत्यमी पर्वता अष्टौ सहस्रयोजनोन्नताः ।।६१।।
सहस्रयोजनामूर्ध्नि विस्तीर्णाः शाश्वताः शुभाः ।
कलशार्धसमाः श्वेतावनवेद्यादिभूषिताः ।।६२।।
तावन्ति योजनान्यब्धेर्मुक्त्वा वेद्यो द्वयोस्तटम् ।
चतुर्विदिक्षु सन्त्यन्ये शैला अष्टौ मनोहराः ।।६३।।
तथा तेषां महाद्रीणामष्टस्वन्तरदिक्षु च ।
भवन्ति वनवेद्याद्यैर्युताः षोडशपर्वताः ।।६४।।
गिरयो मिलिता एते निखिलाः कौस्तुभादयः ।
द्वात्रिंशत्संख्यका ज्ञेया लवणाब्धौ मनोहराः ।।६५।।

अर्थः—लवण समुद्र की बाह्याभ्यन्तर दोनों वेदियों के तटों से ब्यालीस हजार (४२०००) योजन आगे समुद्र में जाकर अर्थात् तट को छोड़ कर पूर्वादि चारों दिशाओं में आठ पर्वत हैं, इनमें पूर्व दिशा में स्थित पर्वतों के नाम कौस्तुभ और कौस्तुभास हैं। दक्षिण दिशा में उदक एवं उदकप्रभ, पश्चिम में शंख और महाशंख तथा उत्तर दिशा में गद एवं गदवास नाम के पर्वत हैं। ये आठों पर्वत एक हजार योजन ऊँचे, शिखर पर एक हजार योजन चौड़े, शाश्वत, अत्यन्त मनोहर, अर्धकलश के आकार सदृश, श्वेत वर्ण को धारण करने वाले और वन एवं वेदियों आदि से विभूषित हैं।।५८-६२।।

दोनों वेदियों के तटों से समुद्र को ब्यालीस हजार (४२०००) योजन छोड़कर चारों विदिशाओं में अत्यन्त मनोहर आठ अन्य पर्वत हैं, तथा इन दिशा-विदिशा सम्बन्धी आठ युगल पर्वतों के आठ अन्तरालों में वन वेदी आदि से युक्त सोलह पर्वत हैं। इन कौस्तुभ आदि समस्त पर्वतों का योग करने पर लवण समुद्र में मन को हरण करने वाले बत्तीस पर्वत जानना चाहिये।।६३-६५।।

नोट:—त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में इन बत्तीस पर्वतों का अवस्थान दिशाओं-विदिशाओं गत पातालों के दोनों पार्श्व भागों में कहा गया है।

उन पर्वतों के ऊपर स्थित द्वीपों को और पर्वतों के स्वामियों को कहते हैं :—

एषामुपरि सर्वेषां द्वीपाः स्युः प्रवरा युताः ।
नाना प्रासादसद्वेदीप्रोद्यानगोपुरादिभिः ॥६६॥
तेषु द्वीपस्थसौधेषु वसन्ति व्यन्तरामराः ।
तुङ्गेषु स्वस्वशैलेन समनामान ऊर्जिताः ॥६७॥

अर्थः—इन सम्पूर्ण पर्वतों के ऊपर द्वीप हैं, जो अनेक कमरों वाले प्रासादों से उत्तम वेदियों, उद्यानों और गोपुरों आदि से संयुक्त हैं। उन द्वीप स्थित ऊँचे ऊँचे प्रासादों में अपने अपने पर्वतों के नाम सदृश नाम वाले व्यन्तर देव रहते हैं ॥६६-६७॥

अब वायव्य दिशा में स्थित गोतम द्वीप, उसके ऊपर स्थित प्रासाद और उसके रक्षक देव का सविस्तार वर्णन करते हैं :—

अब्धेस्तीराद् द्विषट्संख्य सहस्रयोजनान्यपि ।
शैलोऽस्ति वायुदिक्कोणे गोतमाख्योऽतिसुन्दरः ॥६८॥
तत्समोदयविस्तीर्णो वनवेद्याद्यलंकृतः ।
विचित्ररचनोपेतः शाश्वतः सुरसंकुलः ॥६९॥
तस्योपरिमहान् द्वीपो गोतमाख्योऽतिभास्वरः ।
स्वर्णवेदी स्फुरद्रत्नप्रासादवनगोपुरैः ॥७०॥
तस्याग्रे भवनं तुङ्गं सार्धद्विषष्टियोजनैः ।
तदर्धविस्तरायामं क्रोशद्वयावगाहभाक् ॥७१॥
नानारत्नमयं स्याच्च द्वारेणाऽलंकृतं महत् ।
अष्टयोजनतुङ्गेन चतुर्व्यासयुतेन च ॥७२॥
गोतमाख्योऽमरस्तत्र वसेत् पल्यैकजीवितः ।
दशचापोच्च दिव्याङ्गः स्वदेवीसुरभूषितः ॥७३॥

अर्थः—लवण समुद्र से १२००० योजन दूर जाकर वायव्य दिशा में स्थित गोतम नाम का अति सुन्दर पर्वत है, जो १२००० योजन ऊँचा, १२००० योजन चौड़ा, वन वेदियों से अलंकृत नाना प्रकार की रचना से युक्त, शाश्वत और अनेक देव गणों से युक्त है ॥६८-६९॥ उस पर्वत के ऊपर गोतम नाम का एक महान द्वीप है, जो स्वर्णमय वेदी, तेजोमय रत्नों के प्रासादों, वनों एवं गोपुर द्वारों से देदीप्यमान है ॥७०॥ उस द्वीप के (ऊपर) आगे साढ़े बासठ योजन ऊँचा, सवा इकतीस (३१¼) योजन लम्बा और दो कोश की अवगाह (नींव) से युक्त भवन है। जो विविध प्रकार के रत्नमय,

आठ योजन ऊँचे और चार योजन चौड़े द्वारों से अलंकृत है ।।७१-७२।। उस भवन में एक पल्य की आयु से युक्त और दश धनुष ऊँचे दिव्य शरीर को धारण करने वाला गोतम नाम का देव अपने परिवार देव देवियों के साथ निवास करता है ।।७३।।

अब लवण समुद्र के अभ्यन्तर तट सम्बन्धी २४ अन्तर द्वीपों का सविस्तार वर्णन करते हैं :—

अब्धेर्वेदीतटाद्गत्वा शतपञ्चप्रमाणि च ।
योजनानि चतुर्दिक्षु सन्ति द्वीपाश्चतुःप्रमाः ।।७४।।
शतयोजनविस्तीर्णाः कुभोगभूनरान्विताः ।
पुनस्त्यक्त्वाम्बुधेस्तीरं तावन्ति योजनानि च ।।७५।।
चतुर्विदिक्षु चत्वारः स्युर्द्वीपा विस्तृताः स्फुटम् ।
योजनैः पञ्चपञ्चाशत्प्रमैः कुनृयुगाश्रिताः ।।७६।।
योजनानि विहायाब्धेः सार्धं पंचशतानि च ।
दिग्विदिग्मध्यभागाष्टान्तरदिक्षुक्षयातिगाः ।।७७।।
पञ्चाशद्योजनव्यासा द्वीपा अष्टौ भवन्ति वै ।
पार्श्वयोश्च द्वयोरब्धौ हिमवद्विजयार्धयोः ।।७८।।
रूप्याचलशिखर्यद्र्योः प्रत्येकं योजनान्यपि ।
षट्शतानि विमुच्यस्तो द्वौ द्वौ द्वीपौ पृथक् पृथक् ।।७९।।
कुलाद्रिद्वयरूप्याद्रिद्वयान्तमस्तकाश्रिताः ।
भवेयुर्मलिता अष्टौ द्वीपाः सर्वे सुविस्तृताः ।।८०।।
योजनैः पंचविंशत्या कुत्सिताभोगभूयुताः ।
समस्ताः पिण्डिता एते चतुर्विंशति सम्मिताः ।।८१।।
तोयोदयावगाहस्य संयोगेन समोन्नताः ।
सर्वे द्वीपा जलादूर्ध्वं योजनैकोच्छ्रिता मताः ।।८२।।

अर्थः—लवण समुद्र की वेदी के तट से ५०० योजन आगे जाकर चारों दिशाओं में सौ सौ योजन चौड़े और कुभोगभूमिज मनुष्यों से संकुलित चार द्वीप हैं । पुनः समुद्र तीर से ५०० योजन आगे जाकर चारों विदिशाओं में ५५ योजन विस्तार वाले और कुभोगभूमिज मनुष्य युगलों से भरे हुये चार द्वीप हैं ।।७४-७६।। समुद्र तट को ५५० योजन छोड़ कर दिशाओं और विदिशाओं के मध्य

आठ विदिशाओं में कभी नाश न होने वाले और ५० योजन विस्तार वाले आठ द्वीप हैं। समुद्र के दोनों पार्श्व भागों में हिमवन् कुलाचल, (भरतक्षेत्र सम्बन्धी) विजयार्ध पर्वत, शिखरी कुलाचल और (ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी) विजयार्ध पर्वत, इन प्रत्येकों को छह सौ-छह सौ योजन छोड़ कर दोनों कुलाचलों और दोनों विजयार्धों के अन्तिम भागों का आश्रय कर पृथक् पृथक् दो दो द्वीप हैं। ये सब एकत्रित कर देने पर आठ द्वीप होते हैं। ये आठों द्वीप पच्चीस पच्चीस योजन विस्तार वाले और कुभोगभूमिज जीवों से संकुलित हैं। इन समस्त द्वीपों का योग २४ होता है ॥७४–८१॥ समभूमि से नीचे जल की गहराई और समभूमि से जल की ऊँचाई इन दोनों का योग कर देने पर जल के अवगाह का प्रमाण प्राप्त होता है। अर्थात् (वेदी सहित) सर्व द्वीप जल से एक-एक योजन ऊँचे हैं ॥८२॥

नोट :—लवण समुद्र के (२४+२४)=४८ द्वीपों का चित्रण श्लोक १०२ में दिया गया है।

अब कुभोगभूमिज मनुष्यों की आकृति, आयु, वर्ण, आहार और उनके रहने के स्थान आदि का वर्णन करते हैं :—

एकोरुकाः सशृङ्गालांगुलिनोऽथाप्यभाषिणः ।
पूर्वादिषु चतुर्दिक्षु वसन्त्येते क्रमान्नराः ॥८३॥

शशकर्णाः कुमर्त्याश्च सन्ति शष्कुलि कर्णकाः ।
कर्णप्रावरणा लम्बकर्णाश्चतुर्विदिक्षु वै ॥८४॥

सिंहाश्वमहिषोलूक-व्याघ्र-सूकरगोमुखाः ।
कपिवक्त्रा वसन्त्यष्टान्तरदिक्षु कुमानुषाः ॥८५॥

मत्स्यकालमुखा मेघविद्युद्वक्त्रा वसन्ति च ।
हिमाद्रे विजयार्द्धस्य पूर्वपश्चिमभागयोः ॥८६॥

गजदर्पणमेषाश्व वदनाः कुत्सिता नराः ।
स्यू रूपाद्रिशिखर्यद्रयोरुभयोः पार्श्वयोः क्रमात् ॥८७॥

एषु द्वीपेषु सर्वेषु प्राप्य जन्म सुगर्भतः ।
दिनैरेकोन पञ्चाशत्प्रमैर्लब्ध्वा सुयौवनम् ॥८८॥

स्त्रीमर्त्ययुग्मरूपेण रोगक्लेशादिवर्जिता ।
पल्यैकजीविनः पंचवर्णाः क्रोशोन्नता नराः ॥८९॥

नानाकायमुखाकारा भुञ्जन्ति नीचपुण्यतः ।
नीचान् भोगान् सदा तत्रत्याः कुभोगधरासु च ॥९०॥

एकोरुका गुहायां च वसन्ति कान्तया समम् ।
मधुरं मृण्मयाहारमाहरन्ति सुखावहम् ॥९१॥

स्वसमस्त्रीयुताः शेषा वृक्षमूलाधिवासिनः ।
भुञ्जन्ति तृप्तये सर्वे पत्रपुष्पफलानि च ॥९२॥

आयुषोऽन्तेऽप्यसून् मुक्त्वा विश्वे मन्दकषायिणः ।
ज्योतिर्भावनभौमानां ते जायन्ते सुवेश्मसु ॥९३॥

तेषु ये प्राप्तसम्यक्त्वाः काललब्ध्या व्रजन्ति ते ।
सौधर्मैशानकल्पौ च नान्यत्र दृष्टिपुण्यतः ॥९४॥

अर्थः—लवण समुद्र की पूर्वादि चारों दिशाओं के द्वीपों में क्रम से एकोरुक, सशृङ्ग अर्थात् वैषाणिक, लांगुलिक और अभाषक ये चार प्रकार के मनुष्य रहते हैं ॥८३॥ चारों विदिशाओं के चार द्वीपों में क्रम से शशकर्ण, शष्कुलिकर्ण, कर्णप्रावरण और लम्बकर्ण ये चार प्रकार के कुमानुष रहते हैं ॥८४॥ आठ अन्तरालों की आठ दिशाओं में स्थित द्वीपों में क्रम से सिंह, अश्व, भैंसा, उल्लू, व्याघ्र, सूकर, गाय और बन्दर सदृश मुख वाले कुमानुष रहते हैं ॥८५॥ हिमवान् पर्वत और विजयार्ध पर्वत के पूर्व पश्चिम भाग में मछलीमुख, कालमुख, मेघमुख और विद्युत्मुख वाले कुमनुष्य रहते हैं अर्थात् पूर्व में मछलीमुख, पश्चिम में कालमुख, पूर्व में मेघमुख और पश्चिम में विद्युत्मुख वाले मनुष्य रहते हैं ॥८६॥ विजयार्ध और शिखरी पर्वत के दोनों पार्श्व भागों में क्रमशः गज, दर्पण, मेष और अश्वमुख अर्थात् पूर्व में गजमुख, पश्चिम में दर्पणमुख, पूर्व में मेषमुख और पश्चिम में अश्वमुख वाले कुमनुष्य निवास करते हैं ॥८७॥ इन समस्त द्वीपों में स्त्री पुरुष दोनों का युगल रूप से गर्भ जन्म होता है, ये रोग और क्लेश आदि से रहित होते हैं तथा ४९ दिनों में पूर्ण यौवन प्राप्त कर लेते हैं। इनकी आयु एक पल्य की, शरीर पांच वर्णों का और शरीर की ऊँचाई एक कोश की होती है ॥८८–८९॥ विविध प्रकार के शरीराकार और मुखाकार को धारण करने वाले ये कुमनुष्य पूर्व जन्म में (अपने व्रतों में लगे हुये दोषों की) निन्दा गर्हा रहित व्रत तप पालन करने से उत्पन्न नीच पुण्य के योग से इन कुभोग भूमियों में निरन्तर नीच भोग भोगते हैं ॥९०॥ चारों दिशाओं में निवास करने वाले एकोरुक आदि मनुष्य अपनी स्त्रियों के साथ गुफाओं में रहते हैं, और सुख प्रदान करने वाली अति मधुर मिट्टी का आहार करते हैं ॥९१॥ शेष कुमनुष्य अपने सदृश आकार वाली अपनी अपनी स्त्रियों के साथ वृक्षों के मूल भाग में निवास करते हैं, और क्षुधा शान्ति के लिये सर्व प्रकार के पत्र, पुष्प और फल खाते हैं। ॥९२॥ ये सब भोग कुभूमिज जीव मन्दकषायी होते हैं, और आयु के अन्त में प्राणों को छोड़ कर भवनवासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिषी देवों के भवनों आदि में उत्पन्न होते हैं। इन कुभोगभूमिज

जीवों में काललब्धि के प्रभाव से जो जीव सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं, वे सौधर्मैशान कल्प में उत्पन्न होते हैं, वे सम्यक्त्व रूपी पुण्य के प्रभाव से अन्यत्र (भवनत्रिकमें) उत्पन्न नहीं होते हैं ।।९३-९४।।

कुभोगभूमियों में कौन जीव उत्पन्न होते हैं ? उसे कहते हैं :—

येऽर्हल्लिङ्गे प्रपंचत्वादिकारिणः कुमार्गगाः ।
अनालोचनपूर्वं ये तपोवृत्तं चरन्ति च ।।९५।।
परेषां ये विवाहादिपापानुमतिकारिणः ।
ज्योतिष्कमन्त्रतन्त्रादिवैद्यकर्मोपजीविनः ।।९६।।
पंचाग्न्यादितपोनिष्ठा ये दृगादिविराधिनः ।
कुज्ञानकुतपोयुक्ता मौनहीनान्नभोजिनः ।।९७।।
कुकुलेषु च दुर्भावसूतकादियुतेषु वा ।
आहारग्रहणोद्युक्ताः सदोषाशनसेविनः ।।९८।।
इत्यादिशिथिलाचारा मायाविनोऽक्षलम्पटाः ।
शुद्धिहीनाश्च ते सर्वे स्युः कुपात्राणि लिङ्गिनः ।।९९।।
तेभ्यः कुपात्रलिङ्गिभ्यो दानं ददति ये शठाः ।
ते कुपुण्यांशतो जन्म लभन्तेऽत्र कुभूमिषु ।।१००।।
जघन्यभोगभूमौ यामृत्युत्पत्त्यादिका स्थितिः ।
सा ज्ञेया कुमनुष्याणां कुत्सिता भोगभूमिषु ।।१०१।।

अर्थः—जो कुमार्गगामी जीव जिनलिङ्ग को धारण करके प्रपञ्च आदि करते हैं, आलोचना किये बिना ही व्रतों एवं तपों का आचरण करते हैं, जो विवाह आदि की एवं और भी अन्य सावद्य कार्यों की अनुमति देते हैं । ज्योतिष, मन्त्र, तन्त्र एवं वैद्यक आदि कार्यों द्वारा उपजीविका अर्थात् आहार आदि प्राप्त करते हैं । पंचाग्नि आदि मिथ्या तपों में निष्ठा रखते हैं । जो सम्यग्दर्शन की विराधना करते हैं, कुज्ञान और कुतप से युक्त हैं, मौन छोड़कर भोजन करते हैं । निन्द्य कुलों में, दुष्ट स्वभाव (दुर्भावना) से युक्त एवं सूतक आदि से युक्त गृहों में आहार ग्रहण करते हैं । ४६ दोषों को न टालते हुए सदोष आहार ग्रहण करते हैं, अनेक प्रकार के शिथिलाचार से युक्त हैं, मायावी हैं, इन्द्रिय लम्पट हैं और बाह्याभ्यन्तर शुद्धता से रहित हैं, वे सब लिंगी कुपात्र हैं और मर कर कुभोग भूमियों में जन्म लेते हैं, और जो मूर्ख जन ऐसे कुपात्रों एवं लिंगधारियों को दान देते हैं वे सब खोटे पुण्य अंशों से कुभोगभूमियों में जन्म लेते हैं ।।९५-१००।।

नोट :—यही विषय त्रिलोकसार गाथा ९२२ से ९२४, तिलोयपण्णत्ति अधिकार चतुर्थ गाथा २५०३ से २५११, जम्बूद्वीप पण्णत्ति सर्ग १० गाथा ५९ से ६९ में द्रष्टव्य है ।

जघन्य भोगभूमि में जीवों की जन्म, मरण एवं आयु आदि की जो व्यवस्था है, कुभोगभूमिज मनुष्यों की भी सभी व्यवस्थाएँ वैसी ही जानना ।।१०१।।

अब लवण समुद्र के अन्य २४ द्वीप कहते हैं :—

तथा चेदृग्विधा द्वीपाश्चतुर्विंशतिसंख्यकाः ।
भवन्ति धातकीखण्डनिकटे लवणार्णवे ।।१०२।।

अर्थः—लवणसमुद्र में जम्बूद्वीप के निकट जिस प्रकार से चौबीस द्वीप कहे हैं, वैसे ही धातकी खण्ड के समीप भी २४ ही द्वीप हैं ।।१०२।। इसप्रकार लवणसमुद्र में ४८ द्वीप हैं ।

जिनका चित्रण निम्न प्रकार है :—

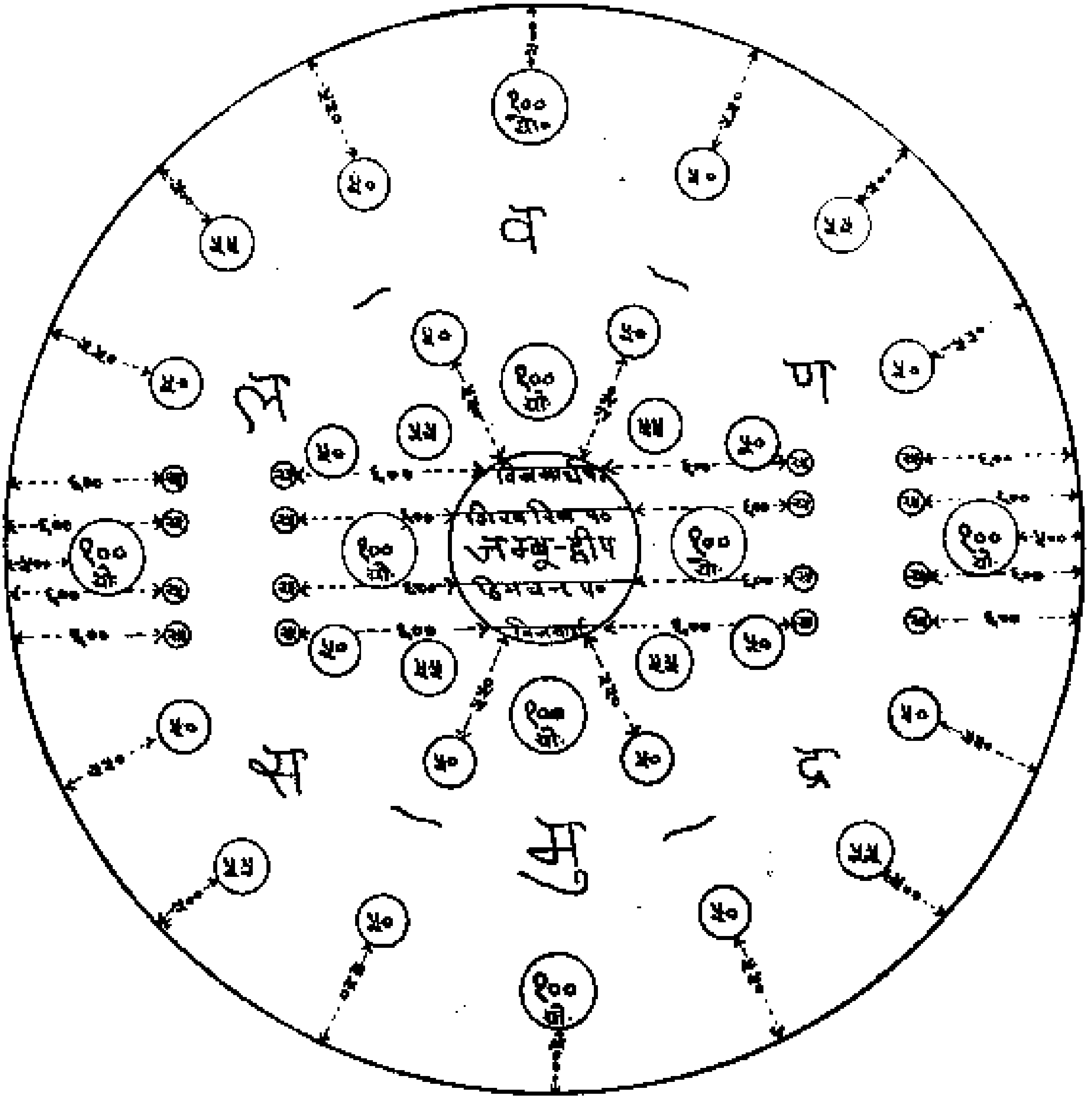

अब कालोदधि समुद्र के २४ द्वीप कह कर सम्पूर्ण द्वीपों की संख्या दर्शाते हैं :—

कालोदजलधेस्तद्वत् सन्त्येवोभयभागयोः ।
द्वीपाः सर्वेऽष्टचत्वारिंशत्कुभोगमहीयुताः ॥१०३॥
विश्वेऽमी पिण्डिता द्वीपा अब्धिद्वयान्तरे स्थिताः ।
कुभोगभूनराकीर्णा ज्ञेयाः षण्णवतिप्रमाः ॥१०४॥

अर्थः—लवणसमुद्र के सदृश कालोदधि समुद्र के बाह्याभ्यन्तर दोनों भागों में भी चौबीस-चौबीस द्वीप हैं। ये सम्पूर्ण द्वीप ४८ कुभोगभूमियों से युक्त हैं ॥ १०३ ॥ कालोदधि और लवण इन दोनों समुद्रों के अभ्यन्तर भाग में स्थित अड़तालीस अड़तालीस द्वीपों का योग कर देने पर कुभोग-भूमिज मनुष्यों से व्याप्त ९६ अन्तर्द्वीप प्राप्त होते हैं ॥१०४॥

अब लवण समुद्र का अवगाह और उसकी सूक्ष्म परिधि का प्रमाण आदि कहते हैं :—

मध्यभागेऽवगाहोऽस्य सहस्रयोजनप्रमः ।
मक्षिकापक्षसादृश्यश्चान्ते पातालवर्जितः ॥१०५॥
पञ्चाग्रदशलक्षाणि ह्येकाशीतिप्रमाण्यपि ।
सहस्राणि शतं चैकोनचत्वारिंशदेव हि ॥१०६॥
योजनानामिति ख्यातसंख्यया लवणाम्बुधौ ।
परिधिः प्रोदिता सूक्ष्मा किञ्चिदूना जिनागमे ॥१०७॥
एवं नाना गिरिद्वीपादियुतो लवणार्णवः ।
जम्बूद्वीपपरिक्षेपावृतोऽत्र वर्णितो बुधैः ॥१०८॥
वेलाः पातालरन्ध्राणि वृद्धिहानिशिखादयः ।
विद्यन्ते लवणाब्धौ च न शेषा संख्यवार्धिषु ॥१०९॥
यतः शेषार्णवाः सर्वे टङ्कोत्कीर्णा इवोज्झिताः ।
सहस्रयोजनागाहा वृद्धिह्रासातिगाः स्मृताः ॥११०॥

अर्थः—लवणसमुद्र के वडवानलों का मध्य भाग में जल का अवगाह (गहराई) एक हजार योजन है, और अन्त में अर्थात् समुद्र के किनारों पर जल मक्खी के पंख सदृश पतला है ॥१०५॥ जिनागम में लवण समुद्र की सूक्ष्म परिधि का प्रमाण कुछ कम पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उनतालीस (१५८११३९) योजन कही गई है ॥१०६-१०७॥ विद्वानों ने लवण समुद्र को अनेकों पर्वतों एवं द्वीपों से युक्त, जम्बूद्वीप को वेष्टित किये हुए और चूड़ी सदृश वलयाकार कहा है ॥१०८॥

वेला, पातालविवर, जल में हानि वृद्धि एवं शिखा सदृश जल की ऊँचाई अर्थात् जल की शिखा केवल लवणसमुद्र में ही है, अन्य असंख्यात समुद्रों में नहीं हैं ।।१०६।। इसलिए शेष सब समुद्र टङ्कोत्कीर्ण के सदृश, एक हजार योजन अवगाह से युक्त और हानि वृद्धि रूप विकार से रहित कहे गये हैं ।।११०।।

ततोऽस्ति वलयाकारो धातकीवृक्षलक्षितः ।
योजनानां चतुर्लक्षविस्तीर्णो हि द्विधाव्ययः ।।१११।।
द्वितीयो धातकीखण्डद्वीपस्तस्य द्वयोर्दिशोः ।
दक्षिणोत्तरयोः स्यातामिक्ष्वाकाराख्यपर्वतौ ।।११२।।
सहस्रयोजनव्यासौ चतुःशतसुयोजनैः ।
उन्नतौ सच्चतुःकूटैः प्रत्येकं मूर्ध्नि भूषितौ ।।११३।।
एकैक श्रीजिनागारालंकृतौ काञ्चनप्रभौ ।
लवणाम्बुधिकालोदवेद्यन्तस्पर्शिनौ परौ ।।११४।।
ताभ्यां स धातकीखण्डो द्विधाभेदमुपाश्रितः ।
पूर्वाख्यो धातकीखण्ड एकोऽन्योऽपरसंज्ञकः ।।११५।।
एतस्याभ्यन्तरा सूची पञ्चलक्षप्रमाणिका ।
मध्यमा नव लक्षा च बाह्या जिनागमे मता ।।११६।।
योजनानां जिनाधीशैर्लक्षत्रयोदशप्रमा ।
सूचीनां त्रिगुणा सर्वा स्थूला परिधिरुच्यते ।।११७।।
लक्षाः पञ्चदशैकाशीतिसहस्राः शतं तथा ।
योजनानां किलैकोनचत्वारिंशद्धिति स्फुटम् ।।११८।।
परिधिः प्रोदिता पूर्वसूच्या दक्षैर्जिनागमे ।
अष्टाविंशतिलक्षाः षट्चत्वारिंशत्सहस्रकाः ।।११९।।
तथैवैकोन पञ्चाशत् परिधिश्चेति मध्यमा ।
लक्षाणि चैकचत्वारिंशद्दशैव सहस्रकाः ।।१२०।।
शतानि नव चैकाग्रषष्टिरित्यङ्कयोजनैः ।
तद्द्वीपे बाह्यसूच्या हि कीर्तिता परिधिर्जिनैः ।।१२१।।

अर्थः—लवणसमुद्र के बाद वलयाकार, धातकी वृक्ष से युक्त, चार लाख योजन प्रमाण व्यास वाला, पूर्व और पश्चिम के भेद से दो भेद वाला और अविनाशी धातकी खण्ड नाम का दूसरा द्वीप है । इस द्वीप की उत्तर दक्षिण दोनों दिशाओं में दो इष्वाकार पर्वत हैं । जो (पूर्वपश्चिम) एक हजार

योजन चौड़े, चार सौ योजन ऊँचे (और दक्षिणोत्तर लम्बे) हैं। ये दोनों पर्वत काञ्चन वर्ण वाले हैं, और इनके शिखर चार-चार कूटों से सुशोभित हैं। वे इष्वाकार पर्वत एक एक जिनमन्दिर से विभूषित हैं, तथा लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्र की वेदियों को स्पर्श करते हैं ।।१११-११४।। उन इष्वाकार पर्वतों से वह धातकी खण्ड पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड के नाम से दो प्रकार वाला है ।। ११५ ।। जिनेन्द्र भगवंतों के द्वारा जिनागम में धातकी खण्ड का अभ्यंतर सूची व्यास पाँच लाख योजन, मध्यम सूची व्यास नौ लाख योजन और बाह्य सूची व्यास तेरह लाख योजन प्रमाण कहा गया है। तीनों सूची व्यासों का त्रिगुणा तीनों स्थूल परिधियों का प्रमाण होता है। अर्थात् अभ्यन्तर सूची व्यास की स्थूल परिधि पन्द्रह लाख, मध्यम परिधि सत्ताईस लाख और बाह्य सूची व्यास की स्थूल परिधि का प्रमाण उन्तालीस लाख योजन है ।।११६-११७।। जिनागम में विद्वानों के द्वारा धातकी खण्ड की अभ्यन्तर सूक्ष्म परिधि का प्रमाण पंद्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उन्तालीस (१५८११३९) योजन कहा गया है। मध्यम सूक्ष्म परिधि का प्रमाण अट्ठाईस लाख छयालीस हजार उनंचास (२८४६०४९) योजन और बाह्य सूची व्यास की सूक्ष्म परिधि का प्रमाण जिनेन्द्र भगवान के द्वारा इकतालीस लाख दश हजार नौ सौ इकसठ (४११०९६१) योजन कहा गया है ।।११८-१२१।।

अब धातकीखण्डस्थ मेरु पर्वतों का अवस्थान, भरतादि क्षेत्रों का आयाम और हिमवान् आदि पर्वतों का उत्सेध एवं विस्तार आदि दर्शा कर दृष्टान्त द्वारा इनके आकारों का वर्णन करते हैं :—

महामेरोश्च मेरुद्वौ पूर्वापरौ हि क्षुल्लकौ ।
स्तो मध्यभागयोर्धातकीखण्डद्वीपयोर्द्वयोः ।।१२२।।

मेरोर्दक्षिणदिग्भागाद् भरतादीनि सप्त च ।
क्षेत्राणि योजनानां स्युश्चतुर्लक्षायतान्यपि ।।१२३।।

योजनानां चतुर्लक्षैरायामा षट् कुलाद्रयः ।
हिमाद्र्याद्याः समोत्सेधा जम्बूद्वीपकुलाचलैः ।।१२४।।

आद्यद्वीपकुलाद्रिभ्यो सर्वेभ्यो विस्तरान्विताः ।
प्रत्येकं द्विगुणव्यासेनैव सन्ति मनोहराः ।।१२५।।

चक्रस्येह यथाराश्च मध्ये छिद्राणि चारयोः ।
द्वीपस्यास्य तथा सन्ति ह्याराकाराः कुलाद्रयः ।।१२६।।

अराम्तरन्ध्रतुल्यानि क्षेत्राणि निखिलानि च ।
सङ्कीर्णानि निजाभ्यन्तरे बाह्ये विस्तृतान्यपि ।।१२७।।

अर्थः—दोनों धातकी खण्ड द्वीपों (पूर्व धातकी, पश्चिम धातकी खण्डों) के ठीक मध्य भाग में पूर्व, पश्चिम दिशा में एक एक मेरु पर्वत अवस्थित हैं ।। १२२ ।। मेरु पर्वतों की दक्षिण दिशा से प्रारम्भ कर भरत, हैमवत आदि सात-सात क्षेत्र हैं, जो चार-चार लाख योजन प्रमाण लम्बे हैं ।।१२३।। भरत आदि क्षेत्रों के मध्य हिमवन् आदि छह-छह कुलाचल पर्वत हैं । इन कुलाचलों का आयाम चार-चार लाख योजन प्रमाण और उत्सेध जम्बूद्वीपस्थ कुलाचलों के सदृश अर्थात् १००, २००, ४००, ४००, २०० और १०० योजन प्रमाण है, किन्तु धातकी खण्डस्थ कुलाचलों आदि का विष्कम्भ विस्तार जम्बूद्वीपस्थ कुलाचलों के विस्तार से दूने दूने प्रमाण वाला है ।।१२४-१२५।। जिस प्रकार चक्र—पहिया में आरा होते हैं और आरों के मध्य भाग में छिद्र होते हैं, इसी प्रकार इस धातकी खण्ड में स्थित कुलाचल आरों के सदृश हैं और उनके मध्य स्थित क्षेत्रों में भरतादि सभी क्षेत्र स्थित हैं, जो अभ्यन्तर अर्थात् लवण समुद्र की ओर संकीर्ण तथा बाह्य अर्थात् कालोदधि की ओर विस्तीर्ण हैं ।।१२६-१२७।।

इसका चित्रण निम्न प्रकार है :—

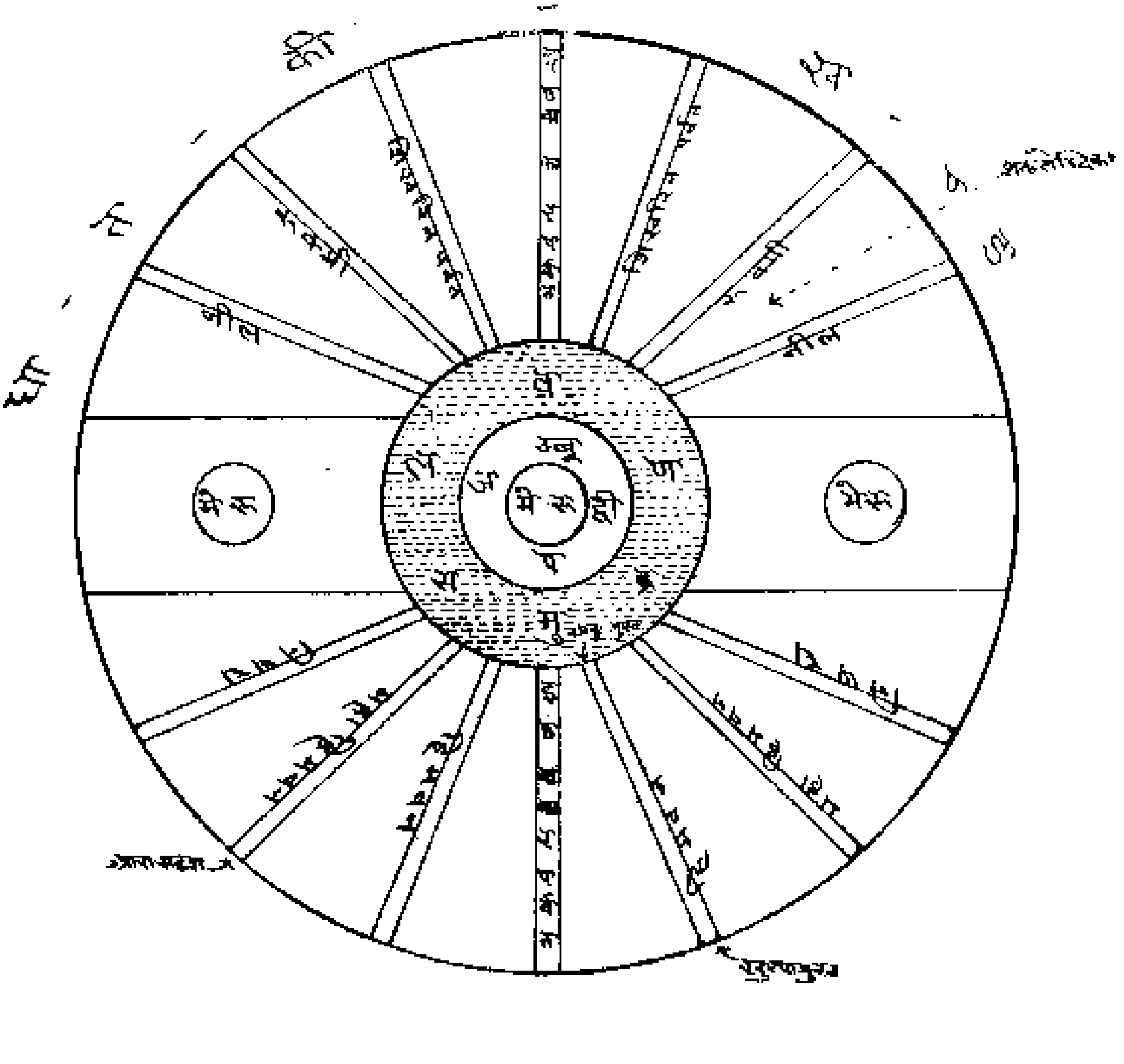

अब धातकीखण्ड के पर्वत अवरुद्ध क्षेत्र का प्रमाण और इस क्षेत्र से रहित द्वीप की तीनों परिधियों का प्रमाण कहते हैं :—

एकलक्षसहस्राण्यष्टसप्ततिः शताष्टकम् ।
योजनानां द्विचत्वारिंशच्चेति संख्यया मतम् ॥१२८॥
तत् क्षेत्रं पर्वतै रुद्धं शेषं पर्वतवर्जितम् ।
त्रिधापरिधिभेदेन क्षेत्रं त्रिविधमुच्यते ॥१२९॥
चतुर्दशैव लक्षाणि द्वे सहस्रे शतद्वयम् ।
सप्ताग्रानवतिश्चेति योजनानां हि संख्यया ॥१३०॥
जघन्यपरिधेर्ज्ञेयं क्षेत्रं सर्वाचलातिगम् ।
षड्विंशतिश्च लक्षाणि सप्तषष्टिसहस्रकाः ॥१३१॥
सप्तोत्तरशते द्वे चेत्यङ्कयोजनविस्तरैः ।
मध्यमापरिधेः क्षेत्रं भवेत्पर्वतदूरगम् ॥१३२॥
लक्षा एकोनचत्वारिंशद् द्वात्रिंशत्सहस्रकाः ।
तथा शतकमेकोनविंशतियोजनानि च ॥१३३॥
इत्येवं पर्वतातीतं क्षेत्रं सर्वं मतं जिनैः ।
उत्कृष्टपरिधेर्धातकीखण्डस्यास्य पिण्डितम् ॥१३४॥

अर्थः—धातकीखण्ड में पर्वतों से अविरुद्ध क्षेत्र का प्रमाण एक लाख अठ्ठत्तर हजार आठ सौ ब्यालीस (१७८८४२$\frac{२}{१३}$) योजन है। (इस क्षेत्र को प्राप्त करने का विधान त्रिलोकसार गाथा ९२८ की टीका से ज्ञातव्य है।) इस क्षेत्र के अतिरिक्त सर्व क्षेत्र, पर्वत क्षेत्र से रहित है, जो तीन प्रकार की परिधियों के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है ॥१२८–१२९॥ लवणोदधि के समीप जघन्य परिधि का पर्वत रहित क्षेत्र अर्थात् पर्वत रहित जघन्य परिधि का प्रमाण (१५८११३९—१७८८४२)= १४०२२९७ योजन, पर्वत रहित मध्यम परिधि का प्रमाण (२८४६०५०—१७८८४२)=२६६७२०७ योजन और पर्वत रहित बाह्य (उत्कृष्ट) परिधि का प्रमाण (४११०९६१—१७८८४२)= ३९३२११९ योजन है। इस प्रकार जिनेन्द्र देव के द्वारा पर्वत रहित तीनों परिधियों का प्रमाण कहा गया है ॥१३०–१३४॥

अब धातकीखण्ड स्थित क्षेत्रों एवं पर्वतों का विष्कम्भ कहते हैं :—

क्षेत्राच्चतुर्गुणं क्षेत्रं विदेहान्तमिह स्मृतम् ।
ततश्चतुर्गुणोनान्युत्तरक्षेत्रत्रयाणि च ॥१३५॥

जम्बूद्वीपहिमाद्रेः स्याद्ब्रयो हिमवान्महान् ।
द्विगुणव्याससंयुक्तो हिमाद्रेरपराचलौ ॥१३६॥
चतुश्चतुर्गुणाव्यासैर्विस्तृतौ चोत्तराद्रयः ।
नीलादयस्त्रयो ज्ञेया हिमाद्र्यादि त्रिकैः समाः ॥१३७॥

अर्थः—दोनों धातकी खण्डों के भरतादि क्षेत्रों का क्षेत्र से क्षेत्र के विष्कम्भ विदेह पर्यन्त चौगुने चौगुने हैं और विदेह के बाद उत्तर दिशा सम्बन्धी क्षेत्रों का विष्कम्भ चौगुना चौगुना हीन हीन है। अर्थात् भरत क्षेत्र से विदेह पर्यन्त और ऐरावत क्षेत्र से विदेह पर्यन्त क्षेत्रों का विष्कम्भ क्रमशः चौगुना है। जम्बूद्वीपस्थ हिमवन् पर्वत से धातकी खण्डस्थ हिमवन् पर्वत का विष्कम्भ दूना है, और धातकी खण्डस्थ हिमवन् के विस्तार से निषध कुलाचल तक का विस्तार क्रमशः चौगुना है, तथा उत्तर दिशा गत नील आदि तीनों पर्वतों का विष्कम्भ निषध, महाहिमवन् और हिमवान् पर्वतों के सदृश समझना चाहिए ॥१३५-१३७॥

अथ क्षेत्रकुलाचलानां प्रत्येकं विष्कम्भः कथ्यते :—

भरतस्याभ्यन्तरविस्तृतिः षट्सहस्र-षट्शतचतुर्दशयोजनानि योजनस्य द्विशतद्वादशोत्तरभागानां एकोनत्रिंशदधिकशतभागाश्च। मध्यव्यासः द्वादशसहस्रपञ्चशतैकाशीतियोजनानि, द्विशतद्वादशोत्तर भागानां षट्त्रिंशद्भागाः। बाह्यविष्कम्भः अष्टादशसहस्रपञ्चशतसप्तचत्वारिंशद्योजनानि द्विशतद्वादशोत्तरभागानां पञ्चपञ्चाशदग्रशतभागाश्च।

हैमवतस्याभ्यन्तरविस्तारः षड्विंशतिसहस्रचतुःशताष्टपञ्चाशद्योजनानि, द्विशतद्वादशोत्तरभागानां द्विनवतिभागाः। मध्यविष्कम्भः पञ्चाशत्सहस्रत्रिशतचतुर्विंशतियोजनानि, योजनस्य द्विशतद्वादशोत्तरभागानां चतुश्चत्वारिंशदग्रशतभागाश्च। बाह्यव्यासः चतुःसप्ततिसहस्रैकशतनवतियोजनानि योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां षट्पञ्चाशदधिकशतभागाश्च।

हरिवर्षस्याभ्यन्तरविष्कम्भ–एकलक्षपञ्चसहस्राष्टशतत्रयस्त्रिंशद्योजनानि, योजनस्य द्वादशाग्रद्विशतभागानां षट्पञ्चाशदधिकशतभागाश्च। मध्यव्यासः द्विलक्षैकसहस्रद्विशताष्टनवतियोजनानि योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां द्विपञ्चाशदग्रशतभागाश्च। बाह्यविस्तरः द्विलक्षषण्णवति सहस्रसप्तशतत्रिषष्टियोजनानि, योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां अष्टचत्वारिंशदधिकशतभागाः॥

विदेहक्षेत्रस्याभ्यन्तरविष्कम्भः–चतुर्लक्षत्रयोविंशतिसहस्रत्रिशतचतुस्त्रिंशद्योजनानि, योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां द्विशतभागाश्च। मध्ये विस्तृतिः अष्टलक्षपञ्चसहस्रैकशतचतुर्णवतियोजनानि, योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां चतुरशीत्यग्रशतभागाः। बाह्यविस्तरः एकादशलक्षसप्ताशीति सहस्रचतुःपञ्चाशद्योजनानि, योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां अष्टषष्ट्यग्रशतभागाः एवं रम्यकस्य हरिवर्षविष्कम्भेन

समस्त्रिविधो विष्कम्भोऽस्ति । हैरण्यवतस्य त्रिधा व्यासः हैमवतव्यासमो भवेत् । ऐरावतस्याभ्यन्तर-मध्यबाह्यविष्कम्भाः भरतविष्कम्भसमानाः स्युः । इति पूर्वापरधातकीखण्डयोर्द्वयोः भरतादिसप्तक्षेत्रा-णामभ्यन्तरमध्यबाह्यविष्कम्भाः ज्ञातव्याः ।

नोटः—उपर्युक्त गद्य का सम्पूर्ण अर्थ निम्नांकित तालिका में निहित है ।

धातकीखण्डद्वीपस्थ भरतादि सात क्षेत्रों का अभ्यन्तर, मध्य और बाह्य विष्कम्भ :—

क्रमांक	क्षेत्र-नाम	अभ्यन्तर वि०	मध्य विष्कम्भ	बाह्य विष्कम्भ
१	भरत	६६१४ १२९/२१२ योजन	१२५८१ ३६/२१२ योजन	१८५४७ १५५/२१२ योजन
२	हैमवत	२६४५८ ९२/२१२ ,,	५०३२४ १४४/२१२ ,,	७४१९० १९६/२१२ ,,
३	हरि	१०५८३३ १५६/२१२ ,,	२०१२९८ १५२/२१२ ,,	२९६७६३ १४८/२१२ ,,
४	विदेह	४२३३३४ २००/२१२ ,,	८०५१९४ १८४/२१२ ,,	११८७०५४ १६८/२१२ ,,
५	रम्यक	१०५८३३ १५६/२१२ ,,	२०१२९८ १५२/२१२ ,,	२९६७६३ १४८/२१२ ,,
६	हैरण्यवत	२६४५८ ९२/२१२ ,,	५०३२४ १४४/२१२ ,,	७४१९० १९६/२१२ ,,
७	ऐरावत	६६१४ १२९/२१२ ,,	१२५८१ ३६/२१२ ,,	१८५४७ १५५/२१२ ,,

अथ कुलाद्रीणां विष्कम्भा प्रोच्यन्ते :—

हिमवतविष्कम्भः द्विसहस्रैकशतपञ्चयोजनानि, योजनस्यैकोनविंशतिकलानां कलाः पञ्च । महाहिमवतो विस्तारः अष्टसहस्रचतुःशतैकविंशति योजनानि कलैका च ।

निषधस्य व्यासः त्रयस्त्रिंशत्सहस्रषट्शतचतुरशीतियोजनानि चतुःकलाश्च नीलस्य व्यासः निषधव्यासमः । रुक्मिणः विस्तारः महाहिमवतविस्तारसमानः शिखरिणः विष्कम्भः हिमवद्वि-ष्कम्भतुल्यः ।

धातकी खण्डस्थ कुलाचलों का विष्कम्भ :—

क्रमांक	नाम	विष्कम्भ	क्रमांक	नाम	विष्कम्भ
१	हिमवन्	२१०५ $\frac{५}{१९}$ योजन	४	नील	३३६८४ $\frac{४}{१९}$ योजन
२	महाहिमवन्	८४२१ $\frac{१}{१९}$,,	५	रुक्मी	८४२१ $\frac{१}{१९}$,,
३	निषध	३३६८४ $\frac{४}{१९}$,,	६	शिखरी	२१०५ $\frac{५}{१९}$,,

अब धातकीखण्डस्थ ह्रद, कुण्ड और नदियों के विस्तार आदि का निरूपण करते हैं :—

धातकीखण्डमध्यस्था ह्रदकुण्डापगादयः ।
सर्वे द्विगुणविस्ताराः कीर्तिताः श्रीजिनागमे ॥१३८॥
ह्रदकुण्डापगादिभ्यः प्राग्द्वीपस्थेभ्य एव च ।
अवगाहसमाना हि वेदीवनादिभूषिताः ॥१३९॥

अर्थः—जिनागम में जम्बूद्वीपस्थ सरोवर आदि के विस्तार से धातकीखण्डस्थ समस्त ह्रद, कुण्ड और नदियों का विस्तार दूना दूना कहा गया है ॥१३८॥ तथा प्रथम (जम्बू) द्वीपस्थ ह्रद, कुण्ड और नदियों के अवगाह समान ही धातकीखण्डस्थ वन, वेदी आदि से विभूषित ह्रद कुण्ड और नदियों का अवगाह कहा गया है ॥१३९॥

अब धातकीखण्डस्थ सरोवरों का व्यास आदि कहते हैं :—

योजनानां सहस्रे द्वे पद्मस्यायाम एव च ।
सहस्रयोजनव्यासस्ततो परौ ह्रदद्वयौ ॥१४०॥
द्विगुणद्विगुणव्यासदीर्घौ शेषास्त्रयोऽपरे ।
ह्रदा एभिर्ह्रदैस्तुल्या धातकीखण्डयोर्द्वयोः ॥१४१॥

अर्थः—धातकीखण्डस्थ पद्मसरोवर का आयाम २००० योजन और विस्तार १००० योजन प्रमाण है। इसके आगे स्थित महापद्म का आयाम ४००० योजन एवं विस्तार २००० योजन है।

तिगिञ्छ सरोवर का विस्तार आदि महापद्म से दूना है। इसके आगे केशरी महा पुण्डरीक और पुण्डरीक सरोवरों का प्रमाण क्रमशः तिगिंछ, महापद्म और पद्म सरोवरों के सदृश ही है ।।१४०-१४१।।

अब धातकीखण्डस्थ कुण्डों का व्यास आदि कहते हैं :—

गङ्गाकुण्डस्य विस्तारः पञ्चविंशतियोजनैः ।
शताग्रं श्च तथा सिन्धुकुण्डस्य कीर्तितो बुधैः ।।१४२।।
सीतोदान्तनदीकुण्डानामस्माद् द्विगुणः क्रमात् ।
व्यासो वृद्धियुतोऽन्येषामेभिः कुण्डैः समानकः ।।१४३।।

अर्थः—गणधरों के द्वारा गंगा कूट का विस्तार १२५ योजन और सिन्धु कूट का विस्तार भी १२५ योजन कहा गया है, इसके आगे सीतोदा नदी पर्यन्त यह विस्तार दुगुना दुगुना कहा गया है। सीतोदा नदी के आगे कुण्डों का विस्तार क्रमशः उत्तर के अर्थात् गंगा आदि कुण्डों के विस्तार सदृश ही जानना चाहिए ।।१४२–१४३।।

अब धातकीखण्डस्थ गंगादि नदियों का हिमवन् आदि पर्वतों पर ऋजु (सीधे) बहाव का प्रमाण कहते हैं :—

योजनानां सहस्राणि ह्येकोनविंशतिस्तथा ।
त्रिशतानि नवाग्राणीति गङ्गासरितो मतम् ।।१४४।।
ऋजुत्वं हिमवन्मूर्ध्नि सिन्धोश्च गमनं प्रति ।
रक्तारक्तोदयोस्तद्वच्छिखर्यचलमस्तके ।।१४५।।
शेषाखिलनदीनां स्याद् ऋजुत्वगमनं ह्रदात् ।
कुलाद्रितटपर्यन्तं पर्वतोपरि नान्यथा ।।१४६।।

अर्थः—धातकीखण्डस्थ गंगा नदी हिमवन् पर्वत पर १९३०९ योजन पर्यन्त सीधी जाती है। हिमवन् पर्वत पर सिन्धु नदी का सीधा बहाव भी इतना ही है। इसी प्रकार शिखरी पर्वत पर रक्ता-रक्तोदा नदियों का भी सीधा बहाव १९३०९ योजन प्रमाण ही है। शेष सम्पूर्ण नदियों का अपने अपने पर्वतों के ऊपर सीधा बहाव सरोवरों से कुलाचलों के तट पर्यन्त है, अन्य प्रकार नहीं है ।।१४४–१४६।।

अब गंगा सिन्धु आदि नदियों का निर्गम आदि स्थानों का व्यास कहते हैं :—

गङ्गासिन्ध्वोश्च विस्तारो निर्गमे योजनान्यपि ।
सार्धद्वादशवार्ध्यन्ते पञ्चविंशाधिकं शतम् ।।१४७।।

ततोऽन्यसरितां व्यासो द्विगुणद्विगुणः क्रमात् ।
सीतोदान्तं तथान्यासां विष्कम्भो ह्रासंयुतः ।।१४८।।

अर्थ:—निर्गम स्थान पर गंगा और सिन्धु नदियों का मुख व्यास १२½ योजन प्रमाण है, इससे क्रमशः वृद्धि होते हुए समुद्र प्रवेश द्वार पर नदी का विस्तार १२५ योजन हो जाता है। इस प्रकार सीतोदा पर्यन्त अन्य नदियों का यह विस्तार दूना दूना होता जाता है, इसके आगे जिस क्रम से वृद्धिगत हुआ था, उसी क्रम से घटता हुआ अन्त में गंगा सिन्धु सदृश ही रह जाता है ।।१४७–१४८।।

अब धातकीखण्डस्थ पूर्वविदेह के मेरु पर्वत का प्रमाण एवं उसके चैत्यालयों का प्रमाण कहते हैं :—

मेरुः पूर्वविदेहस्य मध्यभागेऽस्ति क्षुल्लकः ।
सहस्रयोजनागाहो वनधामाद्यलंकृतः ।।१४९।।
तुङ्गश्चतुरशीत्या च सहस्रयोजनैः शुभः ।
तुच्चश्चैत्यालयोपेतश्चूलिकादिविराजितः ।।१५०।।

अर्थ:—धातकीखण्डस्थ पूर्वविदेह क्षेत्र के मध्यभाग में वन एवं प्रासाद आदि से अलंकृत विजय नाम का मेरु पर्वत स्थित है। इसका अवगाह (नींव) एक हजार योजन और ऊँचाई ८४००० योजन प्रमाण है। यह विजय मेरु सोलह अकृत्रिम जिन चैत्यालयों और चूलिका आदि से सहित होने के कारण अत्यन्त शोभायमान है ।।१४९–१५०।।

अब विजयमेरु पर्वत के सम्पूर्ण विष्कम्भ एवं परिधियों के प्रमाण आदि का विस्तृत वर्णन करते हैं :—

अस्य मेरोः कन्दतले विष्कम्भः योजनानां पञ्चनवतिशतानि । परिधिश्च किञ्चिदूनद्विचत्वारिंशदधिकत्रिंशत्सहस्रयोजनानि । भूतले व्यासः नवसहस्रचतुःशतयोजनानि । परिधिश्च एकोनत्रिंशत्सहस्रसप्तशतपञ्चविंशतियोजनानि । भूतलादूर्ध्वं पञ्चशतयोजनानि गत्वास्य मेरोः प्रथममेखलायां प्रागुक्त वर्णनोपेतं पञ्चशतयोजनविस्तृतं चतुश्चैत्यालयादिअलंकृतं नानापादपाकीर्णं शाश्वतं वनं स्यात् । तत्र नन्दनवनसहितमेरोर्बाह्यविस्तारः—नवसहस्रत्रिशतपञ्चाशद्योजनानि । बाह्यपरिधिः एकोन त्रिंशत्सहस्रपञ्चशतसप्तषष्टियोजनानि । वनरहितमेरोऽभ्यन्तरविष्कम्भः अष्टसहस्रत्रिशतपञ्चाशद्योजनानि । अभ्यन्तरपरिधिः षड्विंशतिसहस्रचतुःशतपञ्चयोजनानि । ततः ऊर्ध्वं सार्धपञ्चपञ्चाशत्सहस्रयोजनानि विमुच्य मेरोः चतुर्जिनालयवापीसुरसद्मादि विभूषितं पञ्चशतयोजनविस्तीर्णं रम्यं सौमनसाख्यं वनं विद्यते, तेषां सार्धपञ्चपञ्चाशत्सहस्रयोजनानां मध्येऽसौ मेरुः दशसहस्रयोजनपर्यन्तं समविष्कम्भो भवति ततः सार्धपञ्चचत्वारिंशत्सहस्रयोजनान्तं क्रमह्रस्वश्च ।

तत्रास्य बाह्यविष्कम्भः त्रिसहस्राष्टशतयोजनानि । बाह्यपरिधिः द्वादशसहस्रकिञ्चिदूनसप्तदश योजनानि । अभ्यन्तरव्यासः द्विसहस्राष्टशतयोजनानि । अभ्यन्तरपरिधिः अष्टसहस्राष्टशतचतुःपञ्चाशयोजनानि । ततोऽस्यैव मेरोरूर्ध्वं अष्टाविंशति सहस्रयोजनानि विहाय मूर्ध्नि चतुर्नवतियुतचतुःशतयोजनव्यासं जिनालयपाण्डुकशिलादि भूषितं पाण्डुकवनमस्ति । तेषामष्टाविंशतिसहस्रयोजनानां, मध्ये दशसहस्रयोजनपर्यन्तं मेरुः ऋजुविष्कम्भो भवेत्। ततोऽष्टादशसहस्र योजनान्तं क्रमहीयमानह्रस्वश्च । तत्रास्य सहस्रयोजनविस्तीर्णस्य मेरोर्मूर्ध्नि परिधिः त्रिसहस्रैकशतद्विषष्टियोजनानि साधिकः क्रोशश्च । अथ मेरौ अन्ये चैत्यालयदेवगृहवापीकूटचूलिकादयः उत्सेध-व्यासावगाहादि वर्णनैः जम्बूद्वीपस्थ महामेरोः समाना भवन्ति । ईदृग्विधवर्णनोपेतोऽपरमेरुरपि पश्चिमधातकीखण्ड विदेहस्य मध्ये ज्ञातव्यः ।

अर्थः—इस विजयमेरु पर्वत का मूल में अर्थात् चित्रा पृथ्वी के तल (निचले) भाग पर (जड़) विस्तार ९५०० योजन है, और इस कन्द विष्कम्भ की परिधि कुछ कम ३००४२ योजन प्रमाण है। भूतल पर अर्थात् पृथ्वीतल (चित्रा पृथ्वी के ऊपरले भाग) पर विजयमेरु का व्यास ९४०० योजन तथा परिधि २९७२५ योजन प्रमाण है। पृथ्वीतल से ५०० योजन ऊपर जाकर विजयमेरु की प्रथम मेखला (कटनी) पर सुदर्शनमेरु की प्रथम मेखला के वर्णन के सदृश ५०० योजन विस्तृत, चार चैत्यालयों आदि से अलंकृत और अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त शाश्वत नन्दन नाम का वन है। उस नन्दन वन सहित विजयमेरु का बाह्यविस्तार ९३५० योजन और इसकी बाह्यपरिधि २९५६७ योजन प्रमाण है। नन्दनवन के व्यास रहित मेरु का अभ्यन्तर व्यास ८३५० योजन एवं इसी व्यास की अभ्यन्तर परिधि २६४०५ योजन प्रमाण है। इस नन्दनवन से ५५५०० योजन ऊपर जाकर मेरु की दूसरी मेखला है, जिस पर चार जिन चैत्यालय, वापियाँ एवं देवों के प्रासादों आदि से विभूषित ५०० योजन विस्तृत सौमनस नामका वन है। इस ५५५०० योजनों के मध्य मेरु १०००० योजन पर्यन्त समरुन्द्र अर्थात् समान चौड़ाई से युक्त है, इसके बाद ४५५०० योजन पर्यन्त क्रमशः हीन होता गया है। यहाँ का अर्थात् सौमनस वन के बाह्यव्यास का प्रमाण ३८०० योजन और इसकी बाह्यपरिधि का प्रमाण कुछ कम १२०१७ योजन है। सौमनस वन का अभ्यन्तर व्यास २८०० योजन और अभ्यन्तर व्यास की परिधि ८८५४ योजन प्रमाण है। इस सौमनस वन से २८००० योजन ऊपर जाकर चार जिनालयों एवं पाण्डुक आदि शिलाओं से युक्त ४९४ योजन विस्तृत पांडुक नाम का वन है। इन २८००० योजनों के मध्य १०००० योजन पर्यन्त मेरु का विष्कम्भ बिल्कुल सीधा है। अर्थात् चौड़ाई समान है। इसके ऊपर १८००० योजनों पर्यन्त विष्कंभ क्रमशः हीन होता गया है। पांडुक वन का बाह्यविष्कम्भ १००० योजन और मेरु के ऊपर परिधि ३१६२ योजन और कुछ अधिक एक कोस प्रमाण है। यहाँ मेरु पर्वत के ऊपर चार जिन चैत्यालय, देवगृह, वापी, कूट एवं चूलिका आदि हैं, इन सब के उत्सेध, व्यास और अवगाह आदि का वर्णन जम्बूद्वीपस्थ महामेरु के सदृश ही जानना चाहिए। इसी प्रकार धातकीखण्ड स्थित पश्चिम विदेह क्षेत्र के

मध्य में अचल नाम का मेरु पर्वत स्थित है, उसका सम्पूर्ण वर्णन इसी विजय मेरु पर्वत के सदृश ही जानना चाहिए।

अब भद्रशाल वन, गजदन्त और देवकुरु उत्तर कुरु का आयाम एवं सूची-व्यास तथा परिधि आदि का वर्णन करते हैं :—

मेरोः प्राक् पश्चिमदिगाश्रिते जिनेन्द्रचैत्यालयाद्यलंकृते एकलक्षसप्तसहस्राष्टशतैकोनाशीति-योजनायामे पंचविंशत्यग्रद्वादशशतयोजनविस्तीर्णे पूर्वापर भद्रशालाह्वये द्वे वने भवतः। अत्रैव मेरोर्वायुनैऋत्यविदिगाश्रितौ त्रिलक्षषट्पंचाशत् सहस्रद्विशतसप्तविंशतियोजनायामौ प्रागुक्तकूटचैत्यालय-वनवेद्याद्यलंकृतौ गन्धमादनविद्युत्प्रभाख्यौ द्वौ लघुगजदन्तपर्वतौ स्यातां। ईशानाग्नेयविदिक् स्थितौ पंचलक्षैकोनसप्ततिसहस्रद्विशतैकोनषष्टियोजनायामौ। माल्यवत्सौमनसाह्वयौ द्वौ बृहद्गजदन्ताचलौ भवतः। देवकुरूत्तरकुरुभोगभूम्योः प्रत्येकं कुलाचलसमीपे विष्कम्भः द्विलक्षत्रयोविंशतिसहस्रैकशताष्ट-पंचाशद्योजनानि, कुलाचलात् मेरुपर्यन्तं वक्रायामः त्रिलक्षसप्तनवतिसहस्राष्टशतसप्तनवति योजनानि, योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां द्विनवतिभागाश्च। कुरूणामुभयान्तयोः ऋज्वायामः त्रिलक्षषट्षष्टिसहस्र षट्शताशीतियोजनानि। पूर्वापरमेर्वोः पूर्वापरभद्रशालान्तयोश्चान्तराले जम्बूद्वीपलवणसमुद्रादिसहिते सूची एकादश लक्षपंचविंशतिसहस्रैकशताष्टपंचाशद्योजनानि। सूच्याः परिधिः पञ्चत्रिंशल्लक्षाष्टपंचा-शत्सहस्रद्विषष्टियोजनानि। पूर्वापर मेर्वोः, पूर्वापर सर्वभद्रशालवनाभ्यां विनान्तराले सूची षड्लक्षचतुः सप्ततिसहस्राष्टशत द्विचत्वारिंशद्योजनानि। तत्सूच्याः परिधिः एकविंशतिलक्षचतुस्त्रिंशत् सहस्राष्ट-त्रिंशद्योजनानि। मेरुपूर्वापरभद्रशालदेवारण्य भूतारण्यवनैर्विना, पूर्वापरविदेहयोः प्रत्येकं व्यासः एकाशीतिसहस्रपंचशतसप्तसप्तति योजनानि।

अर्थ —धातकीखण्डस्थ मेरु पर्वत की पूर्व और पश्चिम दिशा में मेरु के मूल अर्थात् पृथ्वीतल पर जिन चैत्यालयों आदि से अलंकृत, १०७८७९ योजन लम्बे और १२२५ योजन चौड़े पूर्वभद्रशाल एवं पश्चिम भद्रशाल नाम के दो वन हैं। इसी पश्चिम भद्रशाल वन में मेरु की वायव्य एवं नैऋत्य विदिशाओं में क्रम से ३५६२२७ योजन लम्बे और पूर्व में कहे हुए कूटों, जिन चैत्यालयों एवं वन वेदी आदि से अलंकृत गन्धमादन तथा विद्युत्प्रभ नाम के दो दो लघु गजदन्त पर्वत हैं। पूर्व भद्रशाल वन में इसी मेरु की ऐशान और आग्नेय विदिशाओं में ५६९२५९ योजन लम्बे माल्यवान् और सौमनस नाम के दो बृहद् गजदन्त पर्वत हैं। धातकीखण्डस्थ देवकुरु उत्तरकुरु दोनों भोगभूमियों का विष्कम्भ कुलाचलों के समीप २२३१५८ योजन है। अर्थात् देवकुरु उत्तरकुरु (प्रत्येक) की जीवा २२३१५८ योजन है। कुलाचलों से मेरु पर्यन्त का वक्र आयाम (धनुःपृष्ठ) ३९७८९७$\frac{९२}{२१२}$ योजन है। अर्थात् प्रत्येक कुरुक्षेत्र का धनुःपृष्ठ ३९७८९७$\frac{९२}{२१२}$ योजन प्रमाण है। दोनों कुरुक्षेत्रों में प्रत्येक क्षेत्र के अन्त से ऋजु आयाम अर्थात् कुरुक्षेत्र का ऋजुबाण ३६६६८० योजन प्रमाण है। पूर्व—

पश्चिम मेरुओं के पूर्व-पश्चिम भद्रशाल वनों के अन्त तक (पूर्वमेरु के पूर्वभद्रशाल वन के अन्त से पश्चिममेरु के पश्चिम भद्रशाल के वन के अन्त तक अर्थात् पूर्वधातकी खण्ड के ३१२५७९ योजन + लवण समुद्र २००००० यो० + जम्बूद्वीप १००००० यो० + लवण समुद्र २००००० यो० पश्चिम धातकी खण्ड के ३१२५७९ यो० = ११२५१५८ यो०) के अन्तराल का (बाह्य) सूचीव्यास जम्बूद्वीप लवणसमुद्र आदि सहित ११२५१५८ योजन है। तथा इस सूची व्यास की परिधि ३५५८०६२ योजन प्रमाण है। पूर्व-पश्चिम मेरुओं के पूर्व-पश्चिम भद्रशाल वनों के बिना, अन्तराल का (अभ्यंतर) सूची व्यास का प्रमाण ६७४८४२ योजन (पूर्वधातकीखण्ड के देवारण्य व विदेह क्षेत्र का प्रमाण ५८४४ + ८१५७७ = ८७४२१ यो० + जम्बू०, लवण स० के ५००००० + पश्चिमविदेह के ८७४२१ यो० = ६७४८४२ यो०) है, और उस सूची व्यास की परिधि २१३४०३८ योजन प्रमाण है। (त्रि० सा० गाथा ६३०) मेरु पर्वत पूर्व-पश्चिम भद्रशाल वन और देवारण्य, भूतारण्य वनों के व्यास बिना पूर्व-पश्चिम दोनों विदेहों में प्रत्येक विदेह का व्यास ८१५७७ योजन प्रमाण है।

अब धातकी वृक्षों की अवस्थिति, विदेहक्षेत्र के विभाग एवं नाम कहते हैं :—

अत्र द्वौ धातकीवृक्षौ जम्बूशाल्मलि सन्निभौ ।
उच्चायामादिभिः स्यातां जिनालयाद्यलंकृतौ ॥१५१॥
मेरोः पूर्वदिशाभागे विदेहपूर्वसंज्ञकः ।
विभक्तः सीतया द्वेधा दक्षिणोत्तरनामभाक् ॥१५२॥
मेरोः पश्चिमदिग्भागे स्याद् विदेहोऽपराह्वयः ।
दक्षिणोत्तरनामाढ्य सीतोदया द्विधा कृतः ॥१५३॥

अर्थ:—जम्बू शाल्मलि वृक्षों की ऊँचाई एवं आयाम आदि से युक्त धातकीखण्ड में दो मेरु सम्बन्धी दो दो धातकी (बहेड़ा) के वृक्ष अवस्थित हैं, जो जिनालय आदि से अलंकृत हैं ॥१५१॥ मेरु की पूर्व दिशा में पूर्व विदेह नाम का क्षेत्र है, जो सीतामहानदी के नाम से दक्षिण विदेह और उत्तर विदेह के नाम से दो भागों में विभक्त किया गया है। इसी प्रकार मेरु की पश्चिम दिशा में पश्चिम विदेह है, जो सीतोदा के द्वारा उत्तर दक्षिण नाम से दो भागों में विभक्त किया गया है ॥१५२-१५३॥

अब देशों के खण्ड एवं कच्छादि देशों का विस्तार आदि कहते हैं :—

अत्र प्रागुक्तनामानो द्वात्रिंशद् विषया मताः ।
विजयार्ध द्विनदीभ्यां षट्खण्डान्वितभूतला ॥१५४॥
पूर्वस्मान्मन्दरात् पूर्वः कच्छाख्यो विषयो महान् ।
अपरावपरोन्त्यश्च देशः स्याद् गन्धमालिनी ॥१५५॥

योजनानां सहस्राणि नवत्यग्रशतानिषट् ।
सार्धकोश इति व्यासो देशानां स्यात् पृथक् पृथक् ॥१५६॥
विदेह विस्तरस्यार्धं नदीव्यासोनितं च यत् ।
सैवां स एव आयाम आदिमध्यान्त भेदतः ॥१५७॥
त्रिविधोऽखिलदेशानां प्रत्येकं वृद्धिह्रासभाक् ।
वक्षाराचलदेवारण्यादीनां कीर्तितो जिनैः ॥१५८॥
चतुःसहस्रसंख्यानि तथा पञ्चशतानि च ।
अशीतिर्योजनानां द्विशतद्वादशभागिनाम् ॥१५९॥
भागानां किल भागाः षण्णवत्यग्रशतप्रमाः ।
इत्यायामप्रवृद्धिः स्यात् कच्छादि विषयं प्रति ॥१६०॥

अर्थः—धातकीखण्ड में पूर्व कहे हुए नाम वाले बत्तीस देश हैं, जिनके एक एक विजयार्ध पर्वत और गंगासिन्धु नाम की दो दो नदियों द्वारा छह छह खण्ड होते हैं ॥१५४॥ मेरु पर्वत से पूर्व दिशा में कच्छा नाम का महान देश है, और मेरु से पश्चिम दिशा में गन्धमालिनी नाम का महान देश है। इन ३२ ही देशों में से पृथक् पृथक् एक एक देश का व्यास ९६०$\frac{३}{८}$ योजन प्रमाण है ॥१५५-१५६॥ विदेह क्षेत्र के विस्तार को आधा करके उसमें से नदी का व्यास घटा देने पर प्रत्येक क्षेत्र की लम्बाई का प्रमाण प्राप्त होता है। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बत्तीस देशों, वक्षार पर्वतों और देवारण्य आदि वनों का आयाम आदि, मध्य और अन्त में वृद्धि–हानि को लिए हुये तीन तीन प्रकार का कहा गया है। अर्थात् आदि आयाम से मध्य में और मध्य आयाम से अन्त में, इस प्रकार प्रत्येक में दो दो बार स्व वृद्धि का प्रमाण बढ़ता है ॥ १५७–१५८ ॥ इनमें से देश आयाम की वृद्धि का प्रमाण ४५८$\frac{१९६}{२१२}$ योजन है ॥१५९–१६०॥

अब धातकीखण्ड विदेहस्थ वक्षार पर्वतों का आयाम आदि कहते हैं :—

सहस्रयोजनव्यासाद् द्व्यष्टवक्षारपर्वताः ।
भवन्ति विविधायामाः प्रागुक्तोत्सेधसम्मिताः ॥१६१॥
चतुःशतानि सप्ताग्रसप्ततिर्योजनानि च ।
षष्टिभागा इहायामवृद्धिर्वक्षारभूभृतः ॥१६२॥

अर्थः—सोलह वक्षार पर्वतों की ऊँचाई पूर्व कहे हुए जम्बूद्वीपस्थ वक्षार पर्वतों की ऊँचाई सदृश है। लम्बाई अनेक प्रकार की है, और चौड़ाई १००० योजन प्रमाण है। प्रत्येक वक्षार के आदि मध्य अन्तायाम में वृद्धि का प्रमाण ४७७$\frac{६०}{२१२}$ योजन है ॥१६१–१६२॥

अब देवारण्य–भूतारण्य वनों का आयाम आदि कहते हैं :—

प्रागुक्तद्विगुणव्यासे रम्ये द्वे भवतो वने ।
देवारण्याख्यभूतारण्याह्वये वेदिकाङ्किते ।।१६३।।

अमयोः प्रत्येकं विष्कम्भः पञ्चसहस्राष्टशतचतुश्चत्वारिंशद्योजनानि ।

योजनानां सहस्रे द्वे तथा सप्तशतानि च ।
एकोननवतिर्द्वानवतिकला जिनागमे ।।१६४।।
द्विषट्द्विशतसंख्यानां कलानामिति कीर्तिता ।
आयामवृद्धिरेतस्य द्विवनस्य पृथग्विधा ।।१६५।।

अर्थः—धातकीखण्डस्थ विदेह में वेदिका आदि से अलंकृत तथा अत्यन्त रमणीक देवारण्य–भूतारण्य नाम के दो वन हैं। इनका व्यास जम्बूद्वीपस्थ वनों के व्यास के प्रमाण से दूना है ।।१६३।। इन दोनों वनों में से प्रत्येक वन का विष्कम्भ–५८४४ योजन प्रमाण है। जिनागम में पृथक् पृथक दोनों वनों के आयामों में वृद्धि का प्रमाण २७८९ $\frac{९२}{२१२}$ योजन कहा गया है ।।१६४–१६५।।

अब विभङ्गा नदियों के आयाम आदि को कहते हैं :—

नद्यो द्वादश विस्तीर्णाः सार्धद्विशतयोजनैः ।
विभङ्गाख्या भवेयुः प्राग् धातकीखण्डनामनि ।।१६६।।
कुण्डव्याससरिद् व्यासोनं विदेहस्य भूतलम् ।
यदर्धं स विभङ्गानामायामोऽस्ति पृथग्विधः ।।१६७।।
शतमेकोनविंशत्याधिकं च योजनान्यपि ।
द्विषड्द्विशतभागानां भागाः पञ्चाशदेव च ।।१६८।।
भागद्वयाधिका इत्यायामवृद्धिर्जिनैः स्मृता ।
प्रत्येकं बहुभेदोऽत्र विभङ्गासरितां क्रमात् ।।१६९।।

अर्थः—पूर्व धातकीखण्ड में २५० योजन विस्तार वाली, विभंगा नाम की बारह नदियाँ हैं। ।। १६६ ।। विदेह क्षेत्र के व्यास में से कुण्डव्यास और नदी का व्यास कम करके अवशेष को आधा करने पर विभङ्गा की लम्बाई प्राप्त हो जाती है। एक एक नदी का यह आयाम भिन्न भिन्न प्रकार का कहा गया है ।। १६७ ।। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा विभङ्गा नदियों का बहुत भेद वाला यह आयाम क्रम से ११९ $\frac{५२}{२१२}$ योजन वृद्धि के साथ कहा गया है। अर्थात् विभङ्गा का आद्यायाम ५२८८६१ $\frac{९४}{२१२}$ योजन प्रमाण है, इसमें वृद्धि प्रमाण ११९ $\frac{५२}{२१२}$ योजन मिला देने पर

विभङ्गा का मध्य आयाम ५२८९८०[illegible] योजन होता है, और इसमें पुनः वृद्धि का प्रमाण मिला देने पर विभंगा का अन्त आयाम ५२९९०९[illegible] योजन-प्रमाण हो जाता है ॥१६८-१६९॥

अब कुण्डों, विजयार्ध पर्वतों, गंगादि ६४ नदियों एवं भद्रशालवनादिकों की वेदियों का विस्तार आदि कहते हैं :—

विभङ्गोत्पत्तिकुण्डानि सार्धद्विशतयोजनैः ।
विस्तीर्णानि च पूर्वोक्ता वगाहसदृशान्यपि ॥१७०॥
विजयार्धाश्चतुस्त्रिंशत्प्रागुक्तोत्सतिसम्मिताः ।
शतयोजनविस्तीर्णा द्वीपेऽर्द्धेऽस्मिन्निरूपिताः ॥१७१॥
गङ्गाद्याः क्षुल्लकानद्यश्चतुःषष्टिप्रमाः शुभाः ।
प्राक्सरिद्द्विगुणव्यासाः प्राग्नद्यागाहसन्निभाः ॥१७२॥
गङ्गाद्युत्पत्तिकुण्डानि पादाग्रशतयोजनैः ।
विस्तृतानि चतुःषष्टिपूर्वागाहयुतानि च ॥१७३॥
क्रोशद्वयोन्नताः पञ्चशतचापसुविस्तृताः ।
भद्रशालवनादीनां सन्त्यष्टौवेदिकाः शुभाः ॥१७४॥

अर्थ:—विभंगा नदियों की उत्पत्ति जिन कुण्डों से होती है, उन कुण्डों का व्यास २५० योजन तथा अवगाह जम्बूद्वीपस्थ कुण्डों के अवगाह सदृश है। अर्ध द्वीप में अर्थात् पूर्वधातकी खण्ड में पूर्व कथित (२५ योजन) उत्सेध वाले और १०० योजन विस्तृत चौंतीस विजयार्ध पर्वत हैं ॥१७१॥ जम्बूद्वीपस्थ विदेह क्षेत्र गत गंगा आदि नदियों के अवगाह सदृश अवगाह वाली और वहाँ की नदियों के व्यास से दूने व्यास वाली गंगा, सिन्धु, रोहित और रोहितास्या नाम की ६४ छोटी नदियाँ हैं ॥१७२॥ इन गंगा आदि ६४ नदियों की उत्पत्ति के स्थान स्वरूप वहाँ ६४ गंगादि कूट हैं, जो १२५ योजन विस्तृत और जम्बूद्वीपस्थ विदेह के कुण्डों की अवगाहना के सदृश अवगाहना वाले हैं ॥१७३॥ भद्रशाल आदि वनों की दो कोस ऊँची और ५०० धनुष चौड़ी अत्यन्त रमणीय आठ वेदियाँ हैं ॥१७४॥

इदानीं चतुर्लक्षयोजनप्रमो विदेहस्य विष्कम्भो यस्तस्य मेर्वादि विभागैः संख्या कथ्यते :—

मेरोः व्यासः नवसहस्रचतुःशतयोजनानि । पूर्वापरभद्रशालवनयोर्द्वयोः पिण्डीकृतविस्तारः द्विलक्षपञ्चदशसहस्रसप्तशताष्ट पञ्चाशद्योजनानि षोडशदेशानामेकत्रीकृतो व्यासः एकलक्षत्रिपञ्चाशत्सहस्र षट्शतचतुःपञ्चाशद्योजनानि । अष्टवक्षारपर्वतानां पिण्डितो विस्तारः अष्टसहस्रयोजनानि ।

षड्विभङ्गानदीनां मेलितविष्कम्भः पञ्चदशशतयोजनानि । देवारण्यभूतारण्ययोरेकत्रीकृताविस्तृतिः एकादशसहस्रषट्शताष्टाशीति योजनानि, इत्येकत्रीकृतः सकलः विदेहस्य विष्कम्भः चतुर्लक्षयोजन प्रमाणः स्यात् ।

अर्थ.—विदेहक्षेत्र का विस्तार चार लाख योजन प्रमाण कहा गया है, यहाँ मेरु पर्वत आदि के विष्कम्भ विभागों के द्वारा उसकी संख्या कही जाती है :—

मेरु पर्वत का व्यास ६४०० योजन है, पूर्व भद्रशाल और पश्चिम भद्रशाल, इन दोनों के व्यास का योग २१५७५८ योजन है। कच्छादि १६ देशों का एकत्रित व्यास १५३६५४ योजन प्रमाण है। आठ वक्षार पर्वतों का एकत्रित व्यास ८००० योजन है। छह विभंगा नदियों का एकत्रित व्यास १५०० योजन और देवारण्य-भूतारण्य का एकत्रित व्यास ११६८८ योजन है। इन सर्व विष्कम्भों की संख्या को एकत्रित कर देने पर विदेह क्षेत्र का (६४००+२१५७५८+१५३६५४+८०००+१५००+ ११६८८=) ४००००० योजन प्रमाण विष्कम्भ प्राप्त हो जाता है।

अब देश एवं नगरी आदि के नाम कह कर पश्चिम धातकी खण्ड की व्यवस्था दर्शाते हैं :—

जम्बूद्वीपविदेहे सन्नामान्युक्तानि यानि च ।
देशानां नगरीणां सुविभङ्गासरितां तथा ।।१७५।।
वक्षारपर्वतादीनां तान्येव निखिलान्यपि ।
ज्ञेयानि धातकीखण्डद्वीपेऽस्मिन् द्विविधेऽखिले ।।१७६।।
इत्येषा वर्णना सर्वा देशशैलादिगोचरा ।
पश्चिमे धातकीखण्डे ज्ञेयाक्षेत्रादिसंख्यया ।।१७७।।

अर्थ:—पूर्व और पश्चिम धातकी खण्डों में स्थित विदेह क्षेत्रों के देशों के नाम, नगरियों के नाम, विभङ्गा नदियों के नाम और वक्षार पर्वत आदि अन्य सभी के नाम जम्बूद्वीपस्थ विदेह के देशों, नगरियों एवं नदी-पर्वतों के नाम के सदृश ही हैं। अर्थात् जो जो नाम जम्बूद्वीपस्थ विदेह में हैं, वही वह नाम यहाँ हैं ।।१७५-१७६।। पूर्व धातकी खण्ड में देश, पर्वत एवं क्षेत्रादि की जो, जैसी तथा जितनी संख्या आदि कही है, एवं जैसा जैसा वर्णन किया है, वैसा वैसा ही तथा उतनी ही संख्या प्रमाण में समस्त वर्णन पश्चिम धातकी खण्ड में जानना चाहिए ।।१७७।।

अब धातकीखण्डस्थ यमकगिरि आदि पर्वतों की संख्या कहते हैं :—

अष्टौ यमकशैला ये द्वयष्टदिग्गजपर्वताः ।
अष्टौ नाभिनगा अष्टषष्टिर्वृषभपर्वताः ।।१७८।।

चतुःशतप्रमाणाये पिण्डिताः कनकाद्रयः ।
उत्सेधविस्तराद्यैस्ते धातकीखण्डयोर्द्वयोः ॥१७९॥
सर्वे प्रथमद्वीपस्थ यमकाद्रयादिसन्निभाः ।
प्रागुक्तवर्णनोपेता वनवेद्याद्यलंकृताः ॥१८०॥

अर्थः—पूर्व और पश्चिम दोनों धातकी खण्डों में [मेरु पर्वत दो, विजयार्ध ६८] यमकगिरि ८, दिग्गज पर्वत १६, नाभि पर्वत ८, वृषभाचल ६८ और कञ्चनगिरि ४०० [१२ कुलाचल, ३२ वक्षार, ८ गजदन्त और दो इष्वाकार] ये सब ६२४ पर्वत हैं, इनका उत्सेध एवं विस्तार आदि सब जम्बूद्वीपस्थ विदेह के पर्वतों सदृश है ॥१७८–१८०॥

अब धातकीखण्ड सम्बन्धी भोगभूमियों, कर्म भूमियों, पर्वतों, नदियों एवं ह्रहादिकों की संख्या कह कर उसके अधिपति देवों के नाम आदि कहते हैं :—

द्विषट् भोगधरा अत्र स्युश्चषट्कर्मभूमयः ।
जम्बूद्वीपसमानाश्च सुखगत्यादि कारणैः ॥१८१॥
द्विमेरुप्रमुखाः सर्वे पिण्डिताः ख्यातपर्वताः ।
चतुर्विंशतिसंयुक्तषट्शतप्रमिता मताः ॥१८२॥
पंचत्रिंशच्च लक्षाणि ह्यशीतिश्चतुरुत्तराः ।
सहस्राणि शतंकं चाशीतिरित्युक्तसंख्यया ॥१८३॥
सर्वाः पिंडीकृता नद्यो गङ्गाद्याः कीर्तिता जिनैः ।
धातकीखण्डयोर्मूलपरिवाराह्वयाः श्रुते ॥१८४॥
चत्वारिंशद् ह्रहाः सीतासीतोदामध्यसंस्थिताः ।
अत्रादिद्वीपतोऽन्ये द्विगुणा ह्रद-वनादयः ॥१८५॥
द्वीपस्यास्य पती स्यातां प्रभासप्रियदर्शिनौ ।
दक्षिणोत्तरभागस्थौ जिनबिम्बात्तशेखरौ ॥१८६॥

अर्थः—सम्पूर्ण धातकी खण्ड में बारह भोगभूमियाँ और छह कर्मभूमियाँ हैं। इनमें सुख और गति-आगति आदि के समस्त कारण एवं सम्पूर्ण वर्णन जम्बूद्वीप सम्बन्धी भोगभूमियों एवं कर्मभूमियों के सदृश ही है ॥१८१॥ दोनों दिशा सम्बन्धी दो मेरु हैं प्रमुख जिनमें ऐसे सम्पूर्ण धातकी खण्ड सम्बंधी पर्वतों का एकत्रित योग (२ मेरु + ६८ विजयार्ध + ६८ वृषभाचल + १६ दिग्गज + ८ नाभिगिरि + ४०० कञ्चनगिरि + ८ यमकगिरि + १२ कुलाचल + ३२ वक्षारगिरि + ८ गजदन्त और २ इष्वाकार) = ६२४ है ॥१८२॥ जिनेन्द्र भगवान के द्वारा आगम में सम्पूर्ण धातकी खण्ड की गंगा आदि मूल और

इनकी परिवार नदियों की समस्त संख्या ३५८४१८० कही गई है ॥१८३-१८४॥ सीता-सीतोदा नदियों के मध्य में ४० द्रह स्थित हैं। यहाँ के अन्य ह्रद एवं वन आदिकों की संख्या जम्बूद्वीपस्थ द्रहादिकों की संख्या से दूनी दूनी है ॥१८५॥ इस धातकी खण्ड के संरक्षक प्रभास और प्रियदर्शी नाम के दो अधिपति देव हैं, जो अपने मुकुटों की शिखरों पर जिनबिम्ब को धारण करते हुए क्रमशः दक्षिण और उत्तर दिशा सम्बन्धी धातकी वृक्षों पर रहते हैं ॥१८६॥

अब कालोदधिसमुद्र का सविस्तर वर्णन करते हैं :—

तं द्वीपं धातकीखण्डमावेष्ट्यपरितिष्ठति ।
लक्षाष्टयोजनव्यासः कालोदधारिधिर्महान् ॥१८७॥
सर्वत्रास्यावगाहोऽस्ति सहस्रयोजनप्रमः ।
प्रागुक्तोत्सेधविस्तारः प्राकारो वेदिकाङ्कितः ॥१८८॥
चतुर्दिक्ष्वस्य शालस्य चत्वारि गोपुराणि च ।
गङ्गादि सरितां सन्ति द्वाराणि च चतुर्दश ॥१८९॥
द्वीपाः सन्त्यष्टचत्वारिंशत्कुमर्त्ययुगान्विताः ।
कालोदतटयोरन्तर्भागयोरुपरि स्थिताः ॥१९०॥
पातालानि न सन्त्यत्र नोर्मिवृद्ध्यादयः क्वचित् ।
टङ्कोत्कीर्ण इवास्त्येष सर्वत्र समगाहधृत् ॥१९१॥
कालाख्यो रक्षकोऽस्याब्धेः स्वामीदिग्भागदक्षिणे ।
व्यन्तरश्च महाकाल उत्तरास्य दिशि स्थितः ॥१९२॥

अर्थः—इस धातकी खण्ड द्वीप को परिवेष्ठित करके आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि नाम का महान् समुद्र अवस्थित है ॥१८७॥ प्राकार एवं वेदिका आदि से अलंकृत इस समुद्र का अवगाह सर्वत्र १००० योजन प्रमाण है, तथा उत्सेध और विस्तार आदि का प्रमाण पूर्व कथित प्रमाण है। इसके कोट की चारों दिशाओं में चार गोपुर और गंगादि नदियों के समुद्र में प्रवेश करने के चौदह द्वार हैं ॥१८८-१८९॥ कालोदधि समुद्र के दोनों तटों से भीतर की ओर जल के मध्यभाग में अड़तालीस अड़तालीस कुभोगभूमियाँ हैं, जिनमें युगल कुमानुष रहते हैं ॥१९०॥ लवण समुद्र के समान इस समुद्र में न पाताल हैं, और न कभी लहरों की वृद्धि आदि ही होती है। यह समुद्र सर्वत्र समान गहराई को धारण करता हुआ टंकोत्कीर्ण के सदृश अवस्थित है ॥१९१॥ इस समुद्र का काल नाम का रक्षक देव समुद्र की दक्षिण दिशा में और महाकाल नाम का अधिपति व्यन्तर देव समुद्र की उत्तर दिशा में निवास करते हुए समुद्र की रक्षा करते हैं ॥१९२॥

अब कालोदधि समुद्र की परिधि का प्रमाण और पुष्कर द्वीप का सविस्तर वर्णन करते हैं :—

एकानवति लक्षाणि सहस्राणि च सप्ततिः ।
पञ्चाग्रषट्शतानीति कृतयोजनसंख्यया ॥१९३॥
कालोदकसमुद्रस्य परिधिः श्रीजिनोदिता ।
ततो द्विगुणविस्तारो द्वीपोऽस्ति पुष्कराह्वयः ॥१९४॥
मध्येऽस्यैवाष्टलक्षाणि योजनानि विमुच्य च ।
नित्यः स्वर्णमयस्तिष्ठेन्मानुषोत्तरपर्वतः ॥१९५॥
ततः सार्थकनामासौ पुष्करार्ध इहोच्यते ।
विस्तृतो योजनैरष्टलक्षैः पुष्करवृक्षभृत् ॥१९६॥
इक्ष्वाकारनगौ स्तोऽस्य दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः ।
द्वीपव्याससमायामौ दिव्यचैत्यालयाङ्कितौ ॥१९७॥
प्रागुक्तोन्नतिव्यासाढ्यौ चतुःकूटविराजितौ ।
ताभ्यां द्वीपः स संजातः पूर्वापरद्विधात्मकः ॥१९८॥
मध्ये प्राक् पुष्करार्धस्य मेरुर्मन्दरसंज्ञकः ।
व्यासोत्सेधपरिध्याद्यै र्धातकीखण्डमेरुवत् ॥१९९॥
तत्समः पुष्करार्धस्यापरस्य मध्यभूतले ।
विद्युन्मालाह्वयो मेरुः स्यात्पूर्ववर्णनायुतः ॥२००॥

अर्थः—श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कालोदधि समुद्र की सूक्ष्म परिधि का प्रमाण ९१७०६०५ योजन कहा गया है। इस कालोदधि समुद्र के आगे कालोदधि समुद्र से दूने (१६ लाख योजन) विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है ॥१९३-१९४॥ इस पुष्करवर द्वीप के मध्य में आठ लाख योजन छोड़ कर शाश्वत और स्वर्णमय मानुषोत्तर नाम का पर्वत अवस्थित है ॥१९५॥ इस पर्वत से पुष्करवर द्वीप के दो भाग कर दिये गये हैं, इसीलिये इस द्वीप का सार्थक नाम पुष्करार्ध कहा जाता है। पुष्करार्ध द्वीप आठ लाख योजन विस्तृत और पुष्कर (ऐरण्ड) के वृक्ष को धारण करने वाला है ॥१९६॥ इस पुष्करार्ध द्वीप की उत्तर और दक्षिण दिशा में दिव्य चैत्यालयों से अलंकृत दो इष्वाकार पर्वत हैं, जिनका आयाम द्वीप के व्यास अर्थात् आठ-आठ लाख योजन प्रमाण है ॥१९७॥ ये दोनों इष्वाकार पर्वत पूर्वोक्त उत्सेध और व्यास से युक्त अर्थात् ४०० योजन ऊँचे और १००० योजन चौड़े चार चार कूटों से सुशोभित हैं। इन्हीं दोनों पर्वतों के कारण पुष्करार्ध द्वीप, पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध

के भेद से दो प्रकार का होता है ॥१६८॥ पूर्व पुष्करार्ध के मध्य में मन्दर नाम का मेरु पर्वत है, इसके व्यास, उत्सेध और परिधि आदि का प्रमाण धातकीखण्डस्थ मेरु पर्वत सदृश है ॥१६९॥ पश्चिम पुष्करार्ध के मध्य भूतल पर मन्दर मेरु के सदृश विद्युन्माला नाम का मेरु पर्वत है, जिसका सम्पूर्ण वर्णन धातकीखण्डस्थ मेरु पर्वत सदृश है ॥२००॥

अब पुष्करार्धद्वीप का सूची व्यास, परिधि और पर्वत अवरुद्ध क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं :—

एतस्य मध्यसूचीस्यात् पुष्करार्धस्य मध्यगा ।
सप्तभिः संयुता त्रिंशल्लक्षयोजनसम्मिता ॥२०१॥

एकाकोटी च लक्षाणि सप्ताधिकदशस्फुटम् ।
चतुःशतानि सप्ताग्रविंशतिश्चेति योजनैः ॥२०२॥

तस्या मध्यम सूच्या हि परिधिर्वर्णितागमे ।
सूक्ष्मा सूक्ष्माखिलात्मादितत्त्वविद्भिर्न चेतरा ॥२०३॥

प्रोदिता पुष्करार्धस्य बाह्यसूची जिनाधिपैः ।
पञ्चसंयुक्त चत्वारिंशल्लक्षयोजनप्रमा ॥२०४॥

एकाकोटीद्विचत्वारिंशल्लक्षास्त्रिशदेव हि ।
सहस्रे द्वे शते चैकोनपञ्चाशदिति स्फुटम् ॥२०५॥

योजनैर्बाह्यसूच्या हि परिधिः श्रीजिनैर्मता ।
क्रोशद्वयाधिका मानुषोत्तराभ्यन्तरावनौ ॥२०६॥

त्रिलक्षाः पंचपंचाशत्सहस्राणि शतानि षट् ।
तथा चतुरशीतिश्चतुःकलायोजनस्य च ॥२०७॥

एकोनविंशभागानामिति योजनसंख्यया ।
पुष्करार्धस्य संरुद्धक्षेत्रं चतुर्दशाचलैः ॥२०८॥

अर्थः—इस पुष्करार्ध द्वीप के मध्य में मध्यम सूची व्यास ३७०००००लाख योजन प्रमाण है ॥२०१॥ समस्त सूक्ष्म आत्मतत्त्व आदि को जानने वाले गणधरादि देवों के द्वारा जिनागम में इस मध्यम सूची व्यास की सूक्ष्म परिधि ११७००४२७ योजन कही गई है। यह प्रमाण सूक्ष्म का है, स्थूल परिधि का नहीं ॥२०२-२०३॥ जिनेन्द्रों के द्वारा पुष्करार्ध का बाह्य सूची व्यास ४५०००००योजन

कहा गया है ।।२०४।। मानुषोत्तर पर्वत की अभ्यन्तर भूमि पर्यन्त पुष्करार्ध के बाह्य सूची व्यास की सूक्ष्म परिधि जिनेन्द्रों के द्वारा १४२३०२४९ योजन और २ कोस प्रमाण कही गई है ।।२०५-२०६।। पुष्करार्ध द्वीप के बारह कुलाचल और दो इष्वाकार पर्वतों से अवरुद्ध क्षेत्र ३५५६८४ योजन और एक योजन के १९ भागों में से ४ भाग (४/१९ यो०) प्रमाण कहा गया है ।।२०७-२०८।।

अब पुष्करार्धस्थित बारह कुलाचलों के व्यास आदि का प्रमाण कहते हैं :—

द्विषट्कुलाद्रयो जम्बूद्वीपस्थाद्रिसमुन्नतिः ।
अष्टलक्षायता योजनानामत्र प्रकीर्तिताः ।।२०९।।

अस्त्ययं हिमवान् धातकीखण्डस्थहिमाचलात् ।
द्विगुणव्यास एतस्माच्चतुर्गुणोपरोगिरिः ।।२१०।।

ततश्चतुर्गुणो व्यासो निषधोऽन्ये त्रयोऽद्रयः ।
नीलाद्याः पर्वतैरेभिः क्रमहान्या समानकाः ।।२११।।

अर्थः—पुष्करार्ध द्वीप में जम्बूद्वीपस्थ कुलाचलों की ऊँचाई प्रमाण उत्सेध को लिये हुए आठ आठ लाख योजन लम्बे बारह कुलाचल पर्वत कहे गये हैं ।।२०९।। यहाँ का हिमवान् पर्वत धातकी खण्डस्थ हिमवान् पर्वत के व्यास से दूने व्यास वाला है, इसके आगे आगे निषध पर्वत पर्यन्त का व्यास हिमवन् पर्वत से चौगुना चौगुना होता गया है। इसके बाद नील आदि तीन पर्वतों का व्यास समान क्रम हानि को लिए हुए है। नील-निषध, रुक्मी-महाहिमवन् और शिखरी-हिमवान् पर्वतों का व्यास समान प्रमाण को लिए हुए है ।।२१०-२११।।

अमीषां प्रत्येकं पृथक् विष्कम्भोन्नती-निगद्यते :—

हिमवतः उत्सेधः शतयोजनानि। विष्कम्भश्च चतुःसहस्रद्विशतयोजनानि, योजनस्यैकोनविंशतिभागानां कलाः दश। महाहिमवतः उदयः द्विशतयोजनानि व्यासः षोडशसहस्राष्टशतद्विचत्वारिंशयोजनानि द्वे कले च। निषधस्योन्नतिः चतुःशतयोजनानि व्यासः सप्तषष्ठिसहस्रत्रिशताष्टषष्ठि योजनानि एकोनविंशतिभागानामष्टकलाः। नीलस्योत्सेधव्यासौ निषधेन समानौ स्तः। रुक्मिणः उन्नतिव्यासौ महाहिमवता तुल्यौ च। शिखरिणः उदयविस्तारौ हिमवता समौ।

(उपर्युक्त गद्य का अर्थ अगले पृष्ठ पर तालिका में देखें)

उपर्युक्त गद्य का अर्थ निम्नलिखित तालिका में निहित है :—

पुष्करार्धस्थ हिमवन् आदि पर्वतों के उत्सेध आदि का प्रमाण :—

क्रमांक	नाम पर्वत	उत्सेध	विष्कम्भ
१	हिमवन्	१०० योजन	४२१० १०/२१२ योजन
२	महाहिमवन्	२०० ,,	१६८४२ ४२/२१२ ,,
३	निषध	४०० ,,	६७३६८ १६८/२१२ ,,
४	नील	४०० ,,	६७३६८ १६८/२१२ ,,
५	रुक्मि	२०० ,,	१६८४२ ४२/२१२ ,,
६	शिखरिन्	१०० ,,	४२१० १०/२१२ ,,

अब पुष्करार्धस्थ क्षेत्रों के आकार और उनका व्यास आदि कहते हैं :—

कुलाद्रयोऽत्र चक्रस्य भवन्त्यरैः समायताः ।
अराणां मध्यरन्ध्रैः समक्षेत्राणि चतुर्दश ॥२१२॥
आदिमध्यान्तविस्तारैः क्रमवृद्धियुतानि च ।
दीर्घाणि भरतादीनि किलाष्टलक्षयोजनैः ॥२१३॥
सहस्राण्येकचत्वारिंशत्पञ्चैव शतानि च ।
एकोनाशीति युक्तानिभागाः शतद्विसप्तति: ॥२१४॥
इत्युक्तोऽभ्यन्तरे व्यासो भरतस्यैव योजनैः ।
त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि तथा पञ्चशतानि च ॥२१५॥
द्विषड्नवनवत्यग्रशतभागा इति श्रुते ।
विष्कम्भो भरतस्योक्तो मध्ये योजनसंख्यया ॥२१६॥

पञ्चषष्टिसहस्राणि चत्वारि च शतान्यपि ।
षट्चत्वारिंशदेवाथ तथा भागास्त्रयोदश ।।२१७।।
इत्याम्नातोऽत्र विस्तारो बाह्ये स भरतस्य च ।
अस्माद् भरततस्त्रीणि क्षेत्राणि विस्तृतानि च ।।२१८।।
चतुश्चतुर्गुणैर्व्यासैस्ततस्त्रीण्यपराणि च ।
एभिस्त्रिभि: समानानि हीनव्यासानि पूर्ववत् ।।२१९।।

अर्थ:—जिसप्रकार गाड़ी के पहिये में आरा होते हैं, उसी प्रकार पुष्करार्ध द्वीप में कुलाचल आदि पर्वत समान लम्बाई को लिए हुए लम्बे फैले हैं, तथा जिस प्रकार चक्रस्थित आरों के मध्य में छिद्र होते हैं, उसी प्रकार आरों सदृश पर्वतों के मध्य में जो छिद्र (स्थान) हैं, उसमें भरतादि चौदह क्षेत्र हैं ।।२१२।। इन क्षेत्रों का विस्तार आदि, मध्य और अन्त में अनुक्रम से वृद्धि को लिए हुये है, तथा इनकी लम्बाई द्वीप के सदृश आठ लाख योजन प्रमाण है ।।२१३।। जिनागम में भरत क्षेत्र का अभ्यंतर व्यास ४१५७९$\frac{१७२}{२१२}$ योजन, मध्यम व्यास ५३५१२$\frac{१९९}{२१२}$ योजन और बाह्य व्यास ६५४४६$\frac{१३}{२१२}$ योजन प्रमाण कहा गया है । इस भरत क्षेत्र से आगे के तीन क्षेत्रों का विस्तार (भरत क्षेत्र से प्रारम्भ कर) क्रमशः चौगुना चौगुना है, और उसके आगे के तीन क्षेत्रों का विस्तार क्रमशः समान हानि को लिए हुए है ।।२१४-२१९।।

अमीषां पृथग्विष्कम्भा: प्रोच्यन्ते :—

भरतस्याभ्यन्तरे विस्तारः एकचत्वारिंशत्सहस्रपञ्चशतैकोनाशीतियोजनानि, योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां द्वासप्तत्यग्रशतभागाश्च । मध्यव्यासः त्रिपञ्चाशत्सहस्रपञ्चशतद्वादशयोजनानि नवनवत्यधिकशतभागाश्च । बाह्यविस्तृतिः पञ्चषष्टिसहस्रचतुःशतषट्चत्वारिंशद्योजनानि भागास्त्रयोदश । हैमवतस्याभ्यन्तरविष्कम्भः एकलक्षषट्षष्टिसहस्रत्रिशतैकोनविंशतियोजनानि द्विशतद्वादशभागानां द्विपञ्चाशद्भागाः । मध्यव्यासः द्विलक्षचतुर्दशसहस्रैक पञ्चाशद्योजनानि, षष्टियुतशतभागाश्च । बाह्यविस्तृतिः द्विलक्षैकषष्टिसहस्रसप्तशतचतुरशीतियोजनानिद्विपञ्चाशद्भागाश्च । हरिवर्षस्याभ्यन्तरव्यास-षड्लक्षपञ्चषष्टिसहस्रद्विशतषट्सप्ततियोजनानि द्विशतद्वादशभागानां द्विशताष्टभागाश्च । मध्यविष्कम्भः अष्टलक्षषट्पञ्चाशत्सहस्रद्विशतसप्तयोजनानि भागाश्चत्वारः । बाह्यविस्तारः दशलक्षसप्तचत्वारिंशत्सहस्रैक शतषड्विंशद्योजनानि द्विशताष्टभागाश्च । विदेहस्याभ्यन्तरव्यासः षड्विंशतिलक्षैकषष्टिसहस्रैकशतसप्तयोजनानि, योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां षण्णवत्यग्रशतभागाः । मध्यविष्कम्भः चतुस्त्रिंशल्लक्ष चतुर्विंशतिसहस्राष्टशताष्टाविंशतियोजनानि, भागाः षोडशैव । बाह्यविस्तारः एकचत्वारिंशल्लक्षाष्टाशीति सहस्रपञ्चशतसप्तचत्वारिंशद्योजनानि, षण्णवत्यधिकशतभागाः ।। रम्यकअन्तर्मध्यबाह्यव्यासैः हरिवर्षसमः । हैरण्यवतश्चहैमवतसमानः । भरतैरावतसमौस्तः ।।

नोट:—उपर्युक्त समस्त गद्य का अर्थ निम्नलिखित तालिका में समाहित किया गया है।

पुष्करार्धद्वीप में स्थित भरतादि सात क्षेत्रों का अभ्यन्तर, मध्य और बाह्य विष्कम्भ :—

क्रमांक	क्षेत्र-नाम	अभ्यन्तर वि०	मध्य विष्कम्भ	बाह्य विष्कम्भ
१	भरत	४१५७९ १७३/२१२ योजन	५३५१२ १९९/२१२ योजन	६५४४६ १३/२१२ योजन
२	हैमवत	१६६३१९ ९६/२१२ ,,	२१४०५१ १६०/२१२ ,,	२६१७८४ ५२/२१२ ,,
३	हरि	६६५२७६ २०८/२१२ ,,	८५६२०७ ४/२१२ ,,	१०४७१३६ २०८/२१२ ,,
४	विदेह	२६६११०७ १५५/२१२ ,,	३४२४८२८ १६/२१२ ,,	४१८८५४७ १९६/२१२ ,,
५	रम्यक	६६५२७६ २०८/२१२ ,,	८५६२०७ ४/२१२ ,,	१०४७१३६ २०८/२१२ ,,
६	हैरण्यवत	१६६३१९ ९६/२१२ ,,	२१४०५१ १६०/२१२ ,,	२६१७८४ ५२/२१२ ,,
७	ऐरावत	४१५७९ १७३/२१२ ,,	५३५१२ १९९/२१२ ,,	६५४४६ १३/२१२ ,,

अब पुष्करार्धस्थ पद्म आदि सरोवरों, गंगादि नदियों, कुण्डों, भद्रशाल वनों एवं गजदन्तों का व्यास आदि कहते हैं :—

चतुःसहस्रदीर्घो द्विसहस्रविस्तृतो ह्रदः ।
पद्मः पद्मान्महापद्मो द्विगुणो योजनैःस्मृतः ॥२२०॥
महापद्मात्तिगिञ्छोऽपि द्विगुणायामविस्तृतः ।
तुल्या एभिस्त्रिभिः शेषाः क्रमह्रस्वाः त्रयो ह्रदाः ॥२२१॥
गंगासिन्ध्वोश्च विष्कम्भः पञ्चविंशतिसंख्यकः ।
आद्यावन्तेऽत्र सार्धद्विशतयोजनसंख्यया ॥२२२॥
आभ्यां द्वे द्वे महानद्यौ विदेहान्तं प्रवर्धिते ।
द्विगुणद्विगुणव्यासैर्हीयमानास्तथापराः ॥२२३॥

षड्भिश्च सरिदाद्याभिः षड्नद्यः समविस्तराः ।
द्विगुणद्विगुणांह्रस्वा ऐरावतान्तमञ्जसा ॥२२४॥
गङ्गासिन्ध्वोश्च कुण्डे द्वे सार्धद्विशतविस्तृते ।
ततो द्विद्विमहानद्योर्विदेहान्तं सुविस्तृते ॥२२५॥
द्विगुणाद्विगुणव्यासैर्द्वे द्वे कुण्डे च योजनैः ।
तथान्ये द्विगुणह्रासे कुण्डे नद्योर्द्वयोर्द्वयोः ॥२२६॥
द्वौ लक्षौ योजनानां सहस्राः पंचदशप्रमाः ।
सप्तशतानि चाष्टा पञ्चाशदित्युक्तसंख्यया ॥२२७॥
आयामः पुष्करार्धे स्यात् प्रत्येकं भद्रशालयोः ।
रम्ययोश्चैत्यगेहाद्यैः पूर्वापरसमाह्वयोः ॥२२८॥
लक्षाणि विंशतिश्चैव त्रिचत्वारिंशत्सहस्रकाः ।
द्वे शते योजनानां चैकोन विंशतिरित्यपि ॥२२९॥
द्वयोः प्रत्येकमायामो जेष्ठयोर्गजदन्तयोः ।
लक्षाणि षोडशैवाथ षड्विंशतिसहस्रकाः ॥२३०॥
शतैकषोडशैवेति प्रोक्तयोजनसंख्यया ।
लघीयसोः समायामः प्रत्येकं गजदन्तयोः ॥२३१॥

अर्थः—पुष्करार्धस्थ पद्म सरोवर ४००० योजन लम्बा और २००० योजन चौड़ा है। पद्म सरोवर से महापद्म की लम्बाई चौड़ाई दुगनी अर्थात् लम्बाई आठ हजार योजन और चौड़ाई ४००० योजन है, इससे तिगिन्छ सरोवर की लम्बाई चौड़ाई दुगनी है, इसके आगे के केशरी आदि तीनों सरोवर अनुक्रम से ह्रस्व होते हुए दक्षिणगत सरोवरों की लम्बाई चौड़ाई के समान ही लम्बे एवं चौड़े हैं। ॥२२०–२२१॥ गंगा सिन्धु नदियों का आदि विष्कम्भ २५ योजन और अन्तिम विष्कम्भ २५० योजन प्रमाण है ॥२२२॥ इसके आगे विदेह तक वृद्धिगत होता हुआ दो दो महानदियों का यह विष्कम्भ दूना दूना है, इसके आगे ऐरावत क्षेत्र स्थित नदियों तक का विष्कम्भ क्रमशः दुगुण दुगुण हीन है। नारी–नरकान्ता, सुवर्णकूला–रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा का व्यास दक्षिणगत छह नदियों के समान है ॥२२३–२२४॥ गंगा-सिन्धु सम्बन्धी दो कुण्डों का व्यास २५० योजन प्रमाण है। विदेह पर्यन्त दो दो महानदियों सम्बन्धी दो-दो कुण्डों का यह व्यास दूने दूने प्रमाण वाला प्राप्त होता है, और इसके आगे के दो दो नदियों सम्बन्धी दो दो कुण्डों का व्यास क्रमशः दुगुण–दुगुण हीन है ॥२२५-२२६॥ पुष्करार्धस्थ चैत्यगृहों आदि से अलंकृत पूर्वभद्रशाल एवं पश्चिम भद्रशाल वनों का भिन्न भिन्न आयाम २१५७५८ योजन प्रमाण है ॥२२७–२२८॥ वृहद् गजदन्तों में प्रत्येक का भिन्न भिन्न व्यास

२०४२२१९ योजन प्रमाण और लघु गजदन्तों में प्रत्येक का भिन्न भिन्न व्यास १६२६११६ योजन प्रमाण कहा गया है ॥२२९-२३१॥

अब देवकुरु-उत्तरकुरु के वाण तथा उभय विदेह, वक्षार पर्वत, विभंगा नदी और देवारण्य-भूतारण्य के व्यास का प्रमाण कहते हैं :—

लक्षाः सप्तदशैवाथ सहस्राः सप्तसम्मिताः ।
शतानि सप्तसंख्यानि योजनानि चतुर्दश ॥२३२॥
इति प्रोक्तः पृथग्बाणो देवोत्तरकुरुद्वयोः ।
उत्कृष्टभोगभूम्योश्च प्रत्येकं श्रीगणाधिपैः ॥२३३॥
एकोनत्रिंशसहस्रास्तथासप्तशतानि च ।
चतुर्नवतिरेवैकं गव्यूतमिति योजनैः ॥२३४॥
प्रोक्तः पृथक् पृथक् व्यासो देशानां द्वि विदेहके ।
वक्षाराणां च विष्कम्भो द्विसहस्राङ्कयोजनैः ॥२३५॥
शतानि पंचविस्तारो विभङ्गासरितां पृथक् ।
सर्वासां योजनानां च पूर्वपश्चिमभागयोः ॥२३६॥
एकादशसहस्राणि योजनानां शतानि षट् ।
अष्टाशीतिरिति व्यासो देवभूतद्वयारण्ययोः ॥२३७॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उत्तरकुरु देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमियों का भिन्न भिन्न बाण १७०७७१४ योजन प्रमाण कहा गया है ॥२३२-२३३॥ पूर्व विदेह एवं अपर विदेह का भिन्न भिन्न व्यास २९७९४ योजन १ कोस, वक्षार पर्वतों का व्यास २००० योजन और पूर्व-पश्चिम दोनों पुष्करार्धों में स्थित समस्त विभंगा नदियों का पृथक् पृथक् व्यास ५०० योजन प्रमाण दर्शाया गया है ॥ २३४-२३६ ॥ देवारण्य एवं भूतारण्य इन दोनों वनों का पृथक् पृथक् व्यास ११६८८ योजन प्रमाण है ॥२३७॥

अब वक्षार, देश, देवारण्य आदि वन तथा विभंगा नदियों के आयाम का और उस आयाम में हानि वृद्धि का प्रमाण कहते हैं :—

वक्षाराणां च देशानां देवाद्यरण्ययोर्द्वयोः ।
आयामः स विदेहस्य योऽर्धायामोऽप्यनेकधा ॥२३८॥
नदीव्यासोनितो वृद्धिह्रासयुक्तो मतः श्रुते ।
विभङ्गानां तथायामः कुण्डव्यासोनितो भवेत् ॥२३९॥

अर्थ:—विदेह के आयाम में से सीता वा सीतोदा नदी का व्यास घटा कर शेष का आधा करने पर वक्षार पर्वतों का, देशों का और दोनों देवारण्य वनों का आयाम प्राप्त हो जाता है। यह आयाम वृद्धि और ह्रास के कारण अनेक प्रकार हो जाता है ऐसा श्रुत में कहा गया है। इस आयाम में से कुण्ड का व्यास (५०० यो०) कम कर देने पर विभंगा नदी का आयाम हो जाता है ॥२३८-२३९॥

अब पुष्करार्धस्थ समस्त विजयार्धों के व्यास आदि का प्रमाण एवं विदेहस्थ क्षेत्रों के छह खण्ड होने का कारण कहते हैं :—

योजनद्विशतव्यासाः सर्वे रूप्याचला मताः ।
देशव्याससमायामाः पूर्वोन्नतिसमोन्नताः ॥२४०॥
गङ्गासिन्धुनदीभ्यां च द्वाभ्यां रूप्याद्रिणाखिलाः ।
षट्खण्डीभागमापन्ना विदेहे विषयाः स्मृताः ॥२४१॥

अर्थ:—पुष्करार्धस्थ समस्त विजयार्ध पर्वतों का आयाम (लम्बाई) अपने अपने देश की चौड़ाई के प्रमाण है। अर्थात् जितने योजन देश की चौड़ाई है, उतने ही योजन विजयार्ध की लम्बाई है। रूपाचलों का व्यास २०० योजन और ऊँचाई पूर्व कथित (२५ योजन) प्रमाण है ॥२४०॥ विदेहस्थ समस्त देशों के गंगा-सिन्धु इन दो दो नदियों और एक एक रूपाचल (विजयार्ध) पर्वतों से छह-छह खण्ड हुए हैं ॥२४१॥

अब गंगादि क्षुल्लक नदियों के और कुण्डों के व्यास आदि का प्रमाण कहते हैं :—

विभङ्गोत्पत्ति कुण्डानि सर्वाणि विस्तृतानि च ।
द्वारतोरणयुक्तानि स्युः पञ्चशतयोजनैः ॥२४२॥
गंगादिक्षुल्लकाभ्यः प्राग् नदीभ्यः सरितोऽत्र च ।
गङ्गाद्या द्विगुणव्यासाः पूर्वावगाहसम्मिताः ॥२४३॥
गंगाद्युत्पत्ति कुण्डानि सार्धद्विशतयोजनैः ।
विस्तृतानि च पूर्वोक्तागाहवेदियुतान्यपि ॥२४४॥

अर्थ:—विभंगा नदियों की जिनसे उत्पत्ति होती है ऐसे तोरण द्वार आदि से अलंकृत समस्त कुण्डों का विस्तार ५०० योजन प्रमाण है ॥२४२॥ धातकीखण्डस्थ विदेह में गंगा आदि छोटी नदियों का जो व्यास कहा है उससे पुष्करार्धस्थ विदेह की गंगादि क्षुल्लक नदियों का व्यास दूना और अवगाह जम्बूद्वीपस्थ विदेह की गंगादि नदियों के अवगाह प्रमाण है ॥२४३॥ गंगादि क्षुल्लक नदियों की जिनसे उत्पत्ति होती है ऐसे वेदी एवं तोरण आदि से युक्त समस्त कुण्डों का व्यास २५० योजन और अवगाह पूर्वोक्त प्रमाण (   ) है ॥२४४॥

इदानीं विषयादीनामायामवृद्धिः कथ्यते ।

देशानां प्रत्येकमायामवृद्धिः नवसहस्रचतुःशताष्टचत्वारिंशद्योजनानि, योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां षट्पञ्चाशद्भागाः । वक्षाराणां पृथगायाम वृद्धिः नवशतचतुः पञ्चाशद्योजनानि विंशत्यग्रशतभागाः । विभङ्गानां प्रत्येकमायामवृद्धिः द्विशतैकोनचत्वारिंशद्योजनानि, द्विशतद्वादशभागानां भागास्त्रयोदशदेवारण्यभूतारण्ययोः पृथगायामवृद्धिः पञ्चसहस्रपञ्चशताष्टासप्ततियोजनानि, योजनस्य द्विशतद्वादशभागानां चतुरशीत्यग्रशत भागाश्च ।

अब पुष्करार्धस्थ देशों आदि के आयाम की वृद्धि का प्रमाण कहते हैं :—

अर्थः—कच्छादि भिन्न भिन्न देशों की लम्बाई में वृद्धि का प्रमाण ९४४८ $\frac{५६}{२१२}$ योजन, वक्षार पर्वतों की पृथक् पृथक् लम्बाई में वृद्धि का प्रमाण ९५४ $\frac{१२०}{२१२}$ योजन, प्रत्येक विभंगा नदियों की लम्बाई में वृद्धि का प्रमाण २३९ $\frac{१३}{२१२}$ योजन और प्रत्येक देवारण्य और भूतारण्य की लम्बाई में वृद्धि का प्रमाण ५५७८ $\frac{१८४}{२१२}$ योजन प्रमाण है । अर्थात् कच्छादि देशों, वक्षार पर्वतों, विभंगा नदियों और देवारण्य भूतारण्य वनों की अपनी अपनी आदिम लम्बाई में उपर्युक्त अपनी अपनी वृद्धि का प्रमाण मिला देने पर उनकी मध्यम लम्बाई का प्रमाण, और मध्यम लम्बाई में भी उसी स्व, स्व वृद्धि का प्रमाण मिला देने से उनकी अपनी अपनी अन्तिम लम्बाई का प्रमाण होता है ।

अधुना विदेहस्याष्टलक्षयोजनव्यासस्य मेर्वादिव्याप्तता पृथग्गणना निगद्यते :—

मेरोर्व्यासः चतुर्नवतिशतयोजनानि । द्वयोः पूर्वापर भद्रशालवनयोः पिण्डीकृतो विस्तारः चतुर्लक्षैकत्रिंशत्सहस्रपञ्चशतषोडशयोजनानि । षोडशविषयाणामेकत्रीकृतो विष्कम्भः त्रिलक्षषोडशसहस्रसप्तशताष्टयोजनानि । अष्टवक्षाराणां पिण्डितो व्यासः षोडशसहस्रयोजनानि । षड्विभङ्गानदीनां मेलिता विस्तृतिस्त्रिसहस्रयोजनानि । द्वयोर्देवारण्यभूतारण्ययोरेकत्रीकृतो व्यासः त्रयोविंशतिसहस्रत्रिशतषट्सप्ततियोजनानि । इत्येवं पिण्डीकृतः सकलविदेहस्य विष्कम्भ अष्टलक्षयोजनप्रमो मन्तव्यः ॥

अब विदेहक्षेत्र के आठ लाख योजन व्यास के मेरु आदि के द्वारा व्याप्त क्षेत्र के प्रमाण की पृथक् पृथक् गणना करते हैं :—

अर्थः—मेरु पर्वत का व्यास ९४०० योजन, पूर्व-पश्चिम भद्रशाल वनों का एकत्रित व्यास ४३१५१६ योजन, कच्छादि १६ देशों का एकत्रित व्यास ३१६७०८ योजन, आठों वक्षार पर्वतों का एकत्रित व्यास १६००० योजन, छह विभंगा नदियों का एकत्रित व्यास ३००० योजन और देवारण्य-भूतारण्य का एकत्रित व्यास २३३७६ योजन प्रमाण है । इस प्रकार इन सब व्यासों का एकत्रित प्रमाण—(९४०० + ४३१५१६ + ३१६७०८ + १६००० + ३००० + २३३७६) = ८००००० अर्थात् आठ लाख योजन (सम्पूर्ण विदेह क्षेत्र का प्रमाण) जानना चाहिए ।

अब पुष्करार्धद्वीपस्थ वृक्ष, पर्वत, वेदी, कुण्ड और द्वीप के रक्षक देवों का वर्णन करते हैं :—

जम्बूवृक्षसमोत्सेधव्यासचैत्यालयाङ्कितौ ।
प्रागुक्त परिवारौ स्तोऽत्रापि द्वौ पुष्करद्रुमौ ॥२४५॥
समस्ता नाभिशैलाश्च यमका वृषभाद्रयः ।
ह्रदा भोगधराः सर्वा दिग्गजाः कनकाद्रयः ॥२४६॥
वेदीकुण्डादयोऽन्ये च द्वीपेऽस्मिन् पुष्करार्धके ।
विज्ञेया धातकीखण्डद्वीपस्य गणनासमाः ॥२४७॥
यावन्तो धातकीखण्डे शैला मेर्वादयोऽखिलाः ।
तावन्तः पुष्करार्धे स्युर्वनवेद्याद्यलङ्कृताः ॥२४८॥
गङ्गादिप्रमुखाः सर्वा नद्योऽत्रापि भवन्ति च ।
धातकीखण्डसंख्याढ्या वनवेद्यादिशोभिताः ॥२४९॥
स्वामिनौ पुष्करार्धस्य तस्य श्रीजिनभक्तिकौ ।
स्तः पद्मपुण्डरीकाख्यौ दक्षिणोत्तरवासिनौ ॥२५०॥

अर्थः—जम्बूद्वीपस्थ जम्बूवृक्ष के उत्सेध और आयाम सदृश उत्सेध (१० योजन) एवं व्यास (मध्यभाग की चौड़ाई ६ योजन और अग्रभाग की ४ योजन) से युक्त, चैत्यालय आदि से अलंकृत तथा पूर्वोक्त परिवार (१४०१२०) वृक्षों से वेष्टित पूर्व-पश्चिम दोनों पुष्करार्धों में दो एरण्ड के वृक्ष स्थित हैं ॥२४५॥ पुष्करार्धद्वीपस्थ समस्त नाभिगिरि, यमकगिरि, वृषभाचल, सरोवर, सर्व भोगभूमियाँ, दिग्गज पर्वत, काञ्चनपर्वत, वेदियाँ एवं कुण्ड आदि और भी अन्य सभी की प्रमाण संख्या धातकीखण्डद्वीपस्थ नाभिगिरि आदि की प्रमाण संख्या के समान ही जानना चाहिए ॥२४६-२४७॥ धातकी खण्ड में मेरु आदि जितने पर्वत हैं, वनवेदियों आदि से अलंकृत उतने ही पर्वत पुष्करार्धद्वीप में हैं ॥२४८॥ गंगादि प्रमुख नदियों सहित धातकी खण्ड में जितनी नदियाँ हैं, वनवेद्यादि से सुशोभित उतनी ही नदियाँ पुष्करार्धद्वीप में हैं ॥ २४९ ॥ श्री जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से युक्त, दक्षिण और उत्तर दिशा में निवास करने वाले पद्म और पुण्डरीक नाम के दो व्यन्तर देव पुष्करार्ध द्वीप के अधिपति हैं ॥२५०॥

अब अढ़ाई द्वीपस्थ पर्वतों और नदियों आदि की एकत्रित संख्या कहते हैं :—

एकोनषष्टिसंयुक्तसार्धसहस्रसम्मिताः ।
सार्धद्वीपद्वये सर्वे मेर्वादिप्रमुखाद्रयः ॥२५१॥

एकोनमवतिर्लक्षाः सहस्राः षष्टिसंख्यकाः ।
चतुःशतानि पञ्चाशदित्यङ्कसंख्ययाखिलाः ॥२५२॥
गङ्गादिप्रमुखा नद्यो मूलोत्तरसमाह्वयाः ।
पिण्डीकृता भवन्त्यत्र नृक्षेत्रे च क्षयोज्झिताः ॥२५३॥
त्रिंशद्भोगधराः कर्मपृथ्व्यः पञ्चदशप्रमाः ।
शतसंख्या द्रहाःसीतासीतोदामध्यसंस्थिताः ॥२५४॥
कुलाद्रिमूर्धभागस्थास्त्रिंशद्द्रहाश्चपिण्डिताः ।
गङ्गादिपातभूभागस्थानि कुण्डानि सप्ततिः ॥२५५॥
विभङ्गोत्पत्तिकुण्डानि सर्वाणि षष्टिरेव च ।
गङ्गादिसरितां सद्वीनां सन्ति जनकानि च ॥२५६॥
शतानि त्रीणि विंशत्यग्राणि कुण्डानि चाञ्जसा ।
सप्तत्यग्रशतं देशानगर्योदेशसम्मिताः ॥२५७॥
कुरुवृक्षादशेत्येवं संख्याग्रमयाखिलाः ।
सार्धद्वीपद्वये ज्ञेया अन्ये वा वेदिकादयः ॥२५८॥

अर्थः—ढाई द्वीप के मेरु आदि प्रमुख पर्वतों का कुल योग १५५९ है। अर्थात् ढाई द्वीप में कुल पर्वत १५५९ हैं ॥२५१॥

नोट :—त्रिलोकसार गा० ७३१ में जम्बूद्वीपस्थ प्रमुख पर्वतों की कुल संख्या "तिसदेक्कारस-सेले" [अर्थात् १ सुदर्शन मेरु + ६ कुलाचल + ४ यमकगिरि + २०० काञ्चन पर्वत + ८ दिग्गज + १६ वक्षार पर्वत + ४ गजदन्त + ३४ विजयार्ध + ३४ वृषभाचल और + ४ नाभिगिरि हैं, इन सबका योग १ + ६ + ४ + २०० + ८ + १६ + ४ + ३४ + ३४ + ४ =] ३११ कही गई है, जबकि एक मेरु सम्बंधी ३११ पर्वत हैं, तब पञ्चमेरु सम्बन्धी प्रमुख पर्वतों की संख्या (३११ × ५) = १५५५ प्राप्त होती है, किन्तु उपर्युक्त श्लोक में १५५९ कही गई है, क्योंकि इसमें ४ इष्वाकार पर्वत और लिये गये हैं।

मनुष्य लोक (ढाई द्वीप) में अनाद्यनन्त गंगादि ९० मूलनदियों और उनकी परिवार नदियों का कुल योग ८९६०४५० है। अर्थात् जम्बूद्वीपस्थ भरतैरावत की गंगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तोदा इन चार की परिवार नदियाँ (१४००० × ४) = ५६०००, हैमवत-हैरण्यवत क्षेत्र की रोहित, रोहितास्या, स्वर्णकूला और रूप्यकूला की परिवार नदियाँ (२८००० × ४) = ११२०००, हरि-रम्यक क्षेत्र स्थित हरित्, हरिकान्ता, नारी और नरकान्ता की परिवार नदियाँ (५६००० × ४) = २२४०००, देवकुरु-उत्तरकुरु गत सीता, सीतोदा की परिवार नदियाँ (८४००० × २) = १६८०००, बारह विभंगा नदियों

की परिवार नदियाँ (२८००० × १२) = ३३६००० और बत्तीस विदेहस्थ गंगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तोदा इन ६४ की परिवार नदियाँ (१४००० × ६४) = ८९६००० हैं। इन सम्पूर्ण मूल एवं परिवार नदियों का कुल योग (४ + ४ + ४ + २ + १२ + ६४ + ५६००० + ११२००० + २२४००० + १६८००० + ३३६००० + ८९६००० = १७९२०९० है। जबकि एक मेरु सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रमुख नदियाँ १७९२०९० हैं, तब पंचमेरु सम्बन्धी (१७९२०९० × ५) = ८९६०४५० नदियों का प्रमाण प्राप्त होता है ॥२५२-२५३॥ अढ़ाई द्वीप में तीस भोगभूमियाँ, पंच भरत, पंच ऐरावत और पंच विदेह इस प्रकार १५ कर्म भूमियाँ तथा सीता-सीतोदा के मध्य स्थित १०० द्रह हैं। पंच मेरु सम्बन्धी ३० कुलाचलों के ऊपर पद्म आदि ३० सरोवर हैं, इस प्रकार ढ़ाई द्वीप में कुल (१०० + ३०) = १३० सरोवर हैं। गंगादि (१४ × ५) = ७० महानदियों का भूमि पर जहाँ पतन होता है, वहाँ कुण्ड हैं, अतः ७० कुण्ड ये, (१२ × ५) = ६० विभंगा नदियों की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले कुण्ड ६० और गंगादि क्षुल्लक (६४ × ५) = ३२० नदियों की उत्पत्ति के ३२० कुण्ड हैं। इस प्रकार ढ़ाई द्वीप में कुल कुण्डों की संख्या (७० + ६० + ३२०) = ४५० है। एक मेरु सम्बन्धी ३२ विदेह + १ भरत + १ ऐरावत क्षेत्र = ३४ देश हैं, इसलिये पंच मेरु सम्बन्धी (३४ × ५) = १७० देश हैं और १७० ही नगरियाँ हैं। ॥२५४-२५७॥ पंच मेरु सम्बन्धी दश कुरु क्षेत्रों में जम्बू आदि १० ही अनादि निधन वृक्ष हैं। इसी प्रकार वेदिकाएँ आदि भी जानना चाहिए। जैसे—जम्बूद्वीप में एक मेरु सम्बन्धी (३११ पर्वतों की ३११ वेदियाँ + ९० कुण्डों की ९० वेदियाँ + २६ सरोवरों की २६ वेदियाँ + और १७९२०९० नदियों के दोनों तटों की ३५८४१८० वेदियाँ) = ३५८४६०७ वेदियाँ हैं, इसलिये पंच मेरु सम्बन्धी समस्त वेदियों का कुल योग (३५८४६०७ × ५) = १७९२३०३५ प्राप्त होता है। इस प्रकार यह अढ़ाई द्वीप के कुछ पर्वतों आदि का एकत्रित योग कहा गया है, अन्य का भी इसी प्रकार जानना चाहिये ॥२५८॥

अब समस्त (पाँचों) विदेहस्थ आर्य खण्डों को धर्म को आदि लेकर अन्य अन्य विशेषताओं का प्रज्ञापन करते हैं :—

षष्टचग्रशतदेशस्थार्यखण्डेषु जिनोदिताः।
आचक्रवर्तिभिर्द्वेधा धर्मोऽक्षयः प्रवर्तते ॥२५९॥
हानिवृद्ध्यादिदूरस्थो ह्यहिंसालक्षणो महान्।
स्वमुक्तिजनको नान्योऽङ्गिनो वेदादिजल्पितः ॥२६०॥
अर्हन्तश्च गणाधीशाः सूरिपाठकसाधवः।
नृदेवसङ्घवन्द्याचार्याः स्थविराश्च प्रवर्तकाः ॥२६१॥
धर्मोपदेशदातारो विहरन्ति निरन्तरम्।
धर्मप्रवृत्तये केवलिनो न च कुलिङ्गिनः ॥२६२॥

पुरग्रामादिसर्वेषु सर्वत्र च वनादिषु ।
दीप्रा जिनालयास्तुङ्गा दृश्यन्ते जिनमूर्तयः ॥२६३॥
हेमरत्नमयाभव्यैः पूजिता वन्दिताः स्तुताः ।
न जातु नीचदेवानां गृहा वा मूर्तयोऽशुभाः ॥२६४॥
शाश्वतो मुक्तिमार्गोऽत्र वर्तते योगिनां सदा ।
स्वर्गो गृहाङ्गणोऽत्रस्थपुण्यभाजां सुखावहः ॥२६५॥
प्रजा वर्णत्रयोपेता जिनधर्मरताः शुभाः ।
व्रतशीलतपोदृष्टिभूषिता न द्विजाः क्वचित् ॥२६६॥
मिथ्यात्वपंचकं नात्र स्वप्नेऽपि जातु दृश्यते ।
द्रव्यभूतं न तद्भक्ता न वान्यच्च मतान्तरम् ॥२६७॥
किन्त्वेको जिनधर्मोऽत्र विलोक्यते गृहे गृहे ।
पुण्यभाजां तपोदानव्रतपूजोत्सवादिभिः ॥२६८॥
इति प्रवरदेशेषु लभन्ते जन्मसत्कुले ।
प्रागर्जितशुभा भव्याः सद्गत्याप्त्यै न चेतराः ॥२६९॥

अर्थ.—अढ़ाई द्वीपस्थ विदेहों के एक सौ साठ आर्य खण्ड हैं, उन आर्य खण्डों के एक सौ साठ (१६०) देशों में जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित श्रावक धर्म और मुनि धर्म के भेद से दो प्रकार के धर्म का एक सदृश प्रवर्तन निरन्तर होता रहता है। अहिंसा लक्षण से लक्षित और स्वर्ग-मुक्ति को देने वाला यह महान् धर्म हानि-वृद्धि से रहित है। वहाँ पर जिसमें जीवों का घात होता है, ऐसा वेद आदि के द्वारा कहा हुआ हिंसामय धर्म नहीं है ॥२५९-२६०॥ वहाँ पर धर्म प्रवर्तन के लिये मनुष्यों, देवों और संघों से वन्दनीय एवं पूजनीय केवलि भगवन्त, अरहन्त प्रभु, गणधर देव, आचार्य परमेष्ठी, उपाध्यायदेव, साधु परमेष्ठी, स्थविर (वृद्धाचार्य अर्थात् तपोभार से युक्त) मुनिराज, प्रवर्तक मुनिराज और धर्मोपदेश रूपी अमृत का पान कराने वाले धर्मोपदेश दाता मुनिराज निरन्तर विहार करते हैं। वहाँ कुलिङ्गी साधु नहीं हैं ॥२६१-२६२॥ वहाँ पर नगरों में, ग्रामों में, वनों में तथा और भी अन्य सभी स्थानों में अत्यन्त देदीप्यमान और उत्तुङ्ग जिनालय ही दिखाई देते हैं, जिनमें स्थित स्वर्ण और रत्नमय जिनप्रतिमाएँ भव्य जीवों के द्वारा निरन्तर पूजित, वन्दित एवं स्तुत होतीं हैं। अर्थात् भव्य-जीव उन प्रतिमाओं की निरन्तर पूजा करते हैं, दर्शन करके वन्दना करते हैं और अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं। वहाँ पर कभी भी नीच देवों के मन्दिर और अशुभ प्रतिमाएँ दिखाई नहीं देतीं ॥२६३-२६४॥ यहाँ पर योगियों का अनाद्यनिधन निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग निरन्तर प्रवर्तित रहता है। यहाँ स्थित पुण्यशाली जीवों को सुख देने वाला यह क्षेत्र स्वर्ग के आंगन सदृश है ॥२६५॥ तीन वर्णों से युक्त एवं

व्रत, शील, तप और सम्यग्दर्शन से विभूषित यहाँ की प्रजा हमेशा अत्यन्त शुभ जिनधर्म में ही रत रहती है। यहाँ ब्राह्मण वर्ण कहीं भी नहीं हैं ।।२६६।। यहाँ स्वप्न में भी कहीं पांच प्रकार का मिथ्यात्व दिखाई नहीं देता। न यहाँ मिथ्यात्व का उपदेश देने वाले उपदेशक ही होते हैं, और न कोई मतान्तर ही हैं, किन्तु पुण्यवान् जीवों के तप, दान, व्रत, पूजा और अनेक धार्मिक उत्सवों के द्वारा प्रत्येक गृहों में मात्र एक जैनधर्म ही देखा जाता है ।।२६७-२६८।। इस प्रकार के श्रेष्ठ देशों के उत्तम कुलों में स्वर्ग और मोक्ष रूप उत्तम गतियों की प्राप्ति के लिए पूर्वोपाजित पुण्य से युक्त भव्य जीव ही जन्म लेते हैं, अन्य अर्थात् क्षीण पुण्य वाले नहीं ।।२६९।।

अब मानुषोत्तर पर्वत का सविस्तर वर्णन करते हैं :—

अथास्य पुष्करार्धस्य मध्यभागे विराजते ।
शैलोऽर्हच्चैत्यगेहाढ्यः स श्रीमान्मानुषोत्तरः ।।२७०।।
चतुर्दशनदीनिर्गमनद्वारादिशालिनः ।
क्रमह्रस्वस्य चास्याद्रेरुदयो योजनैर्मतः ।।२७१।।
एकविंशतिसंयुक्तसप्तदशभिः शतैः ।
भूतले विस्तरो द्वाविंशतियुक्तसहस्रकः ।।२७२।।
मध्ये व्यासस्त्रयोविंशत्यग्रसप्तशतप्रमः ।
मूर्ध्निव्यासश्चतुर्विंशाग्रचतुःशतमानकः ।।२७३।।
अवगाहो गव्यूत्यग्रत्रिंशच्चतुःशतप्रमः ।
क्रोशद्वयोन्नता दिव्यादोप्रास्ति मणिवेदिका ।।२७४।।
नैऋत्यवायुदिग्भागौ मुक्त्वा षड्दिग्विदिक्षु च ।
स्युस्त्रीणि त्रीणि कूटानि श्रेण्याः पृथग्विधान्यपि ।।२७५।।
अग्नीशानदिशोः षट्सु कूटेषु दिव्यधामसु ।
गरुडादिकुमाराश्च भूत्या वसन्ति निर्जराः ।।२७६।।
शेषद्वादशकूटेषु चतुर्दिक्षूच्चसद्मसु ।
वसन्ति दिक्कुमार्योऽस्य सुपर्णकुलसम्भवाः ।।२७७।।
तथाष्टदशकूटानां तेषामभ्यन्तरेऽस्य च ।
चत्वारि सन्ति कूटानि पूर्वादिदिक्चतुष्टये ।।२७८।।
एषां चतुःसुकूटानां मूर्ध्नि सन्ति जिनालयाः ।
स्वर्णरत्नमयास्तुङ्गाश्चत्वारः सुरपूजिताः ।।२७९।।

कूटानामुदयो योजनानां पञ्चशतप्रमः ।
मूले पञ्चशतव्यासश्चाग्रे सार्धशतद्वयः ॥२८०॥
कैवल्याख्यसमुद्घाताच्चोपपादाद्विनाङ्गिनाम् ।
अद्रिमुल्लंघ्यशक्ता नेमं गन्तुं तत्परां भुवम् ॥२८१॥
विद्येशाश्चारणा चान्ये प्राप्ताऽनेकर्द्धयः क्वचित् ।
ततोऽयं पर्वतो मर्त्यलोकसीमाकरो भवेत् ॥२८२॥

अर्थ :—इस पुष्करार्ध द्वीप के मध्यभाग में अरहन्त भगवान् के चैत्यालयों आदि से अलंकृत, श्रीमान् अर्थात् श्रेष्ठ मानुषोत्तर पर्वत शोभायमान होता है ॥२७०॥ चौदह महानदियों के निर्गमन चौदह द्वारों से सुशोभित और क्रमशः ह्रस्व होते हुये इस मानुषोत्तर पर्वत की ऊँचाई जिनेन्द्र भगवान् ने १७२१ योजन दर्शाई है। भूतल अर्थात् मूल में इस पर्वत की चौडाई १०२२ योजन, मध्य में चौडाई ७२३ योजन और ऊपर की चौड़ाई ४२४ योजन प्रमाण है ॥२७१–२७३॥ मानुषोत्तर का अवगाह अर्थात् नींव का प्रमाण ४३० योजन और एक कोश है। इस पर्वत के शिखर पर दो कोस ऊँची (और ४००० धनुष चौड़ी) अत्यन्त देदीप्यमान और दिव्य मणिमय वेदी है ॥२७४॥ उस मानुषोत्तर पर्वत पर नैऋत्य और वायव्य इन दो दिशाओं को छोड़ कर अवशेष पूर्वादि छह दिशाओं में पंक्ति रूप से तीन तीन कूट अवस्थित हैं ॥२७५॥ आग्नेय और ईशान दिशा सम्बन्धी छह कूटों के दिव्य प्रासादों में गरुड़ कुमार जाति के देव अपनी समस्त विभूति के साथ निवास करते हैं ॥२७६॥ दिशागत अवशेष बारह कूटों के प्रासादों की चारों दिशाओं में सुपर्ण कुलोत्पन्न दिक्कुमारी देवांगनाएँ निवास करती हैं ॥२७७॥ इन अठारह (१२+६) कूटों के अभ्यन्तर भाग में अर्थात् मनुष्य लोक की ओर पूर्वादि चारों दिशाओं में चार कूट हैं, जिनके शिखर पर देवताओं से पूज्य और उत्तुङ्ग स्वर्ण एवं रत्नमय जिनालय हैं ॥२७८–२७९॥ इन समस्त कूटों की ऊँचाई ५०० योजन, मूल में व्यास ५०० योजन और शिखर पर व्यास का प्रमाण २५० योजन है ॥२८०॥ केवलिसमुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद जन्म वाले देवों के सिवाय अन्य कोई भी प्राणी इस मानुषोत्तर पर्वत से युक्त पृथ्वी का उल्लंघन करके नहीं जा सकता ॥२८१॥ विद्याधर, चारणऋद्धिधारी तथा अनेक प्रकार की और भी अनेक ऋद्धियों से युक्त जीव भी इस पर्वत का उल्लंघन नहीं कर सकते, इसीलिये यह पर्वत मनुष्यलोक की सीमा का निर्धारण करने वाला है ॥२८२॥

अब यह बतलाते हैं कि ढाई द्वीप के आगे मनुष्य नहीं हैं, केवल तिर्यञ्च हैं :—

यतो द्वीपद्वये सार्धे स्युस्तिर्यञ्चश्च मानवाः ।
ततोऽपरेष्वसंख्येषु द्वीपेषु सन्ति केवलम् ॥२८३॥

तिर्यञ्चो भद्रका नान्ये ततः स कथ्यते श्रुते ।
तिर्यग्लोकोऽप्यसंख्याततिर्यग्भृतो नृदूरगः ।।२८४।।

अर्थ:—मानुषोत्तर पर्वत ने मनुष्यों की सीमा का निरधारण कर दिया है, इसीलिये अढ़ाई द्वीप में तो मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों हैं, किन्तु इसके आगे असंख्यात द्वीपों में केवल भद्रपरिणामी तिर्यञ्च ही हैं, अन्य कोई नहीं हैं, इसीलिये आगम में इसे तिर्यग्लोक कहा है। यह तिर्यग्लोक मनुष्यों से रहित है और असंख्याततिर्यंचों से भरा हुआ है ।।२८३–२८४।।

अब पुष्करवर द्वीप से आगे के द्वीप-समुद्रों के नाम और उनके स्वामी कहते हैं :–

पुष्करद्वीपमावेष्ट्य तं तिष्ठेत् पुष्करार्णवः ।
श्रीप्रभश्रीधरौ देवौ जलधेरस्य रक्षकौ ।।२८५।।
ततोऽस्ति वारुणीद्वीपोऽस्येमौ स्तो रक्षकौ सुरौ ।
वरुणो दक्षिणे भागे ह्युत्तरे वरुणप्रभः ।।२८६।।
ततः स्यात्तद्वहिर्भागे वारुणीवरसागरः ।
मध्याख्यमध्यमाभिख्यौ भवतोऽस्य सुनायकौ ।।२८७।।
तस्मात् क्षीरवरद्वीपो भवेत् ख्यातोऽस्य रक्षकौ
व्यन्तरौ पाण्डुराभिख्यपुष्पवन्तौ स्त ऊर्जितौ ।।२८८।।
ततः क्षीरसमुद्रोऽस्ति जिनेन्द्रस्नानकारणः ।
अस्येमौ स्वामिनौ स्यातां विमलो विमलप्रभः ।।२८९।।
तस्माद् घृतवरद्वीपस्तस्यैतौ परिपालकौ ।
दक्षिणोत्तर भागस्थौ सुप्रभाख्य महाप्रभौ ।।२९०।।
तिष्ठत्यतस्तमावेष्ट्याम्बुधिर्घृतवराह्वयः ।
अस्याब्धेः स्तः पती चैतौ कनकः कनकप्रभः ।।२९१।।
तत इक्षुवरद्वीपो भवत्यस्याभिरक्षकौ ।
भवतो व्यन्तरौ पूर्णपूर्णप्रभ समाह्वयौ ।।२९२।।
परितस्तं समावेष्ट्य तिष्ठतीक्षुवरार्णवः ।
स्यातां गन्धमहागन्धाख्यौ देवौ तस्य सत्पती ।।२९३।।

अर्थ:—पुष्करवरद्वीप को वेष्टित कर वलयाकार रूप से पुष्करवर समुद्र है, श्रीप्रभ और श्रीधर नाम के दो देव इस समुद्र की रक्षा करते हैं ।।२८५।। इस समुद्र को वेष्टित कर वारुणीवर द्वीप है,

जिसका रक्षक वरुण देव दक्षिण भाग में और वरुणप्रभ उत्तर भाग में निवास करते हैं ।।२८६।। इस द्वीप के आगे वारुणीवर समुद्र है, जिसके अधिनायक मध्य और मध्यम नाम के दो देव हैं ।।२८७।। इस समुद्र से आगे क्षीरवरद्वीप है, जिसके रक्षक पाण्डु और पुष्पदन्त नाम के दो देव हैं ।।२८८।। इस द्वीप को वेष्टित करके क्षीरवर समुद्र है, जो बाल तीर्थंकर के स्नान का कारण है। इस समुद्र के अधिपति विमल और विमलप्रभ नाम के दो देव हैं ।।२८९।। क्षीरसमुद्र को वेष्टित कर घृतवरद्वीप है, जिसके दक्षिण-उत्तर भाग में क्रम से सुप्रभ और महाप्रभ नाम के दो रक्षक देव निवास करते हैं ।।२९०।। घृतवर द्वीप को वेष्टित कर घृतवर नाम का समुद्र है, जिसके स्वामी कनक और कनकप्रभ नाम के दो देव हैं ।।२९१।। इसके आगे इक्षुवर नाम का द्वीप है, जिसके अधिनायक पूर्ण और पूर्णप्रभ नाम के दो देव हैं ।।२९२।। इस द्वीप को समावेष्टित कर इक्षुवर नाम का समुद्र है, जिसके अधिपति गन्ध और महागन्ध नाम के दो देव हैं ।।२९३।।

अब नन्दीश्वर नाम के अष्टम द्वीप की अवस्थिति और उसके सूची व्यास आदि का प्रमाण कहते हैं :--

त्रिषट्सप्तशतकोटी लक्षाश्चतुरशीतिका: ।
इत्यङ्कयोजनव्यासो द्वीपो नन्दीश्वरो भवेत् ।।२९४।।
कोटय: सप्तविंशत्यधिकत्रिशतसम्मिता: ।
पञ्चषष्टिप्रमालक्षा इति योजनसंख्यया ।।२९५।।
आदिसूची भवेदस्य द्वीपस्य धर्मधारिण: ।
द्विपञ्चाशन्महातुङ्गजिनालयादिशालिन: ।।२९६।।
योजनानां सहस्रैकं हि षड् त्रिंशच्च कोटय: ।
द्विषड्लक्षा: सहस्रे द्वे तथा सप्तशतानि च ।।२९७।।
त्रिपंचाशदथ क्रोशौ द्वावित्यङ्कासयोजनै: ।
तस्या आदिलघु सूच्या आदिमा परिधिर्मता ।।२९८।।
षट्शतानि तथा पंचपंचाशत्कोटय: पुन: ।
त्रयस्त्रिंशच्च लक्षाणि चेति योजनसंख्यया ।।२९९।।
अन्तिमा महती सूची प्रोदिता श्रीगणाधिपै: ।
द्वीपस्यास्य जिनागारै:जगदानन्दकारिण: ।।३००।।
द्वासप्ततिसमायुक्तद्विसहस्राणि कोटय: ।
त्रयस्त्रिंशत् एव लक्षाश्चतु: पञ्चाशत्सहस्रका: ।।३०१।।

नवत्यग्रशतं क्रोश एक इत्यङ्कयोजनैः ।
अन्तिमा परिधिर्गुर्वी ह्यन्त्यसूच्या मतागमे ।।।।३०२।।

अर्थः—इक्षुवर समुद्र को वेष्टित किये हुए नन्दीश्वर नाम का आठवाँ द्वीप है, इसका व्यास १६३८४०००००० योजन प्रमाण है। अर्थात् जम्बूद्वीप से प्रारम्भ कर आठवें नन्दीश्वर द्वीप पर्यन्त का वलयव्यास एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख प्रमाण है ।।२९४।। धर्म को धारण करने वाले महा उत्तुङ्ग ५२ जिनालयों से सुशोभित नन्दीश्वर द्वीप की आदिम सूची व्यास का प्रमाण ३२७६५००००० योजन है ।।२९५-२९६।। इस आदिम सूची व्यास की परिधि १०३६१२०२७५३ योजन और दो (२) कोस मानी गई है ।।२९७-२९८।। भव्य जिनालयों के द्वारा संसार को आनन्दित करने वाले इस नन्दीश्वर द्वीप की अन्तिम सूची व्यास का प्रमाण जिनेन्द्र भगवन्तों के द्वारा ६५५३३०००००० योजन कही गई है ।।२९९-३००।। जिनागम में इस अन्तिम सूची व्यास की परिधि का प्रमाण २०७२३३५४१९० योजन और एक कोस कहा गया है ।।३०१-३०२।।

अब अञ्जनगिरि पर्वत और वापिकाओं का अवस्थान एवं उनका व्यास आदि कहते हैं :—

तस्य मध्ये चतुर्दिक्षु चत्वारोऽञ्जनपर्वताः ।
राजन्ते पटहाकारा इन्द्रनीलमणिप्रभाः ।।३०३।।
योजनानां सहस्रैश्चतुरग्राशीतिसंख्यकैः ।
उन्नता विस्तृता योजनसहस्रावगाहकाः ।।३०४।।
लक्षयोजनभूभागं मुक्त्वाद्रीणां पृथग्विधाः ।
प्रत्येकं च चतुर्दिक्षु चतस्रः सन्ति वापिकाः ।।३०५।।
लक्षयोजनविस्तीर्णा चतुरस्राः क्षयातिगाः ।
सहस्रयोजनागाहा रत्नसोपानराजिताः ।।३०६।।
निर्जन्तुजलसम्पूर्णाः पद्मवेदीतटाङ्किताः ।
हेमाम्बुजौघसंछन्ना महावीचीशताकुलाः ।।३०७।।

अर्थः—नन्दीश्वर द्वीप के मध्य में चारों दिशाओं में अञ्जनगिरि नाम के चार पर्वत हैं, जिनका आकार ढोल के समान और आभा इन्द्रनीलमणि के सदृश है ।।३०३।। प्रत्येक अञ्जनगिरि की ऊँचाई ८४००० योजन, चौड़ाई ८४००० योजन और अवगाह १००० योजन है ।।३०४।। प्रत्येक अञ्जनगिरि के चारों ओर एक एक लाख योजन भूमि को छोड़ कर भिन्न भिन्न चारों दिशाओं में चौकोर आकार

को धारण करने वालीं चार चार वापिकाएँ हैं। अर्थात् एक एक अञ्जनगिरि के चारों ओर एक एक अर्थात् कुल सोलह वापिकाएँ हैं ॥३०५॥ ये प्रत्येक वापिकाएँ एक लाख योजन विस्तीर्ण, एक हजार योजन गहरी, चौकोर आकार वालीं, अनादि-निधन, रत्नों की सीढ़ियों से सुशोभित, जीव जन्तु रहित जल से परिपूर्ण, कमलों के समूह से आकीर्ण और सैकड़ों महा तरंगों से व्याप्त हैं। इनके तट, पद्म-वेदिकाओं से अलंकृत हैं ॥३०६-३०७॥

अब सोलह वापिकाओं के नाम, उनके स्वामियों एवं उनके अन्तरायामों का दिग्दर्शन कराते हैं :—

नन्दा नन्दवती संज्ञा वापी नन्दोत्तराह्वया ।
नन्दिषेणा च पूर्वाद्रेः पूर्वादि दिक्षु ताः स्थिताः ॥३०८॥
सौधर्मेन्द्रस्य भोग्याद्यैशानेन्द्रस्य द्वितीयका ।
तृतीया चमरेन्द्रस्यान्तिमा वैरोचनस्य सा ॥३०९॥
अरजा विरजाख्या गतशोका वीतशोकिका ।
दक्षिणाञ्जनशैलस्य पूर्वादिदिक्षु ताः क्रमात् ॥३१०॥
आद्येन्द्रलोकपालानां पूर्वा सा वरुणस्य च ।
भोग्या यमस्य सोमस्य क्रमाद् वैश्रवणस्य तु ॥३११॥
विजया वैजयन्ती च जयन्ती ह्यपराजिता ।
एताः पूर्वादि दिक्षु स्युः पश्चिमाञ्जनसद्गिरेः ॥३१२॥
वेणुदेवस्य भोग्याद्या वेणुतालेर्द्वितीयका ।
धरणस्य तृतीया स्याद् भूतानन्दस्य सान्तिमा ॥३१३॥
रम्याख्या रमणी सुप्रभोत्तराञ्जनभूभृतः ।
चरिमा सर्वतोभद्रा प्राच्यादिदिक्षु च क्रमात् ॥३१४॥
ऐशानलोकपालस्य वरुणस्य यमस्य सा ।
सोमस्यास्ति कुबेरस्यैकैकवापी च पूर्ववत् ॥३१५॥
पंचषष्टिसहस्राः पंचचत्वारिंशदित्यपि ।
योजनैर्द्वचष्टवापीनां प्रत्येकमादिमान्तरम् ॥३१६॥
लक्षैकयोजनानां च चत्वारो हि सहस्रकाः ।
षट्शतानि द्वयाग्राणीति संख्यया परस्परम् ॥३१७॥

भवेन्मध्यान्तरं सर्वं वापिकानां पृथक् पृथक् ।
लक्षौ द्वौ च त्रयो विंशति सहस्राः शतानि षट् ॥३१८॥

तथैकषष्टिरित्यङ्कानां च योजनसंख्यया ।
तासां षोडशवापीनां स्युर्बाह्येत्यान्तराणि वै ॥३१९॥

अर्थ:—पूर्व दिशा स्थित अञ्जनगिरि की पूर्व आदि चारों दिशाओं में क्रमशः नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा और नन्दिषेणा नाम की चार वापिकाएँ स्थित हैं ॥३०८॥ प्रथम वापिका सौधर्मेन्द्र के भोग्य है, दूसरी ऐशानेन्द्र के, तीसरी चमरेन्द्र के और चतुर्थ वापिका वैरोचन के भोग्य है, ॥३०९॥ दक्षिण-दिश स्थित अञ्जनगिरि की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रमशः अरजा, विरजा, गतशोका और वीतशोका नाम की चार वापिकाएँ हैं, इनमें प्रथम वापिका सौधर्मेन्द्र के लोकपालों में से वरुण के भोग्य, द्वितीय वापिका यम के, तृतीय वापिका सोम के और चतुर्थ वापिका वैश्रवण लोकपाल के भोग्य है ॥३१०-३११॥ पश्चिम दिशागत अञ्जनगिरि की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रमशः विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता नाम की चार वापिकाएँ हैं, इनमें प्रथम वापिका वेणुदेव के, द्वितीय वेणुताल के, तृतीय धरणदेव के और चतुर्थ वापिका भूतानन्द देव के भोग्य है ॥ ३१२-३१३ ॥ उत्तर दिशा गत चतुर्थ अञ्जनगिरि की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रमशः रम्या, रमणी, सुप्रभा और सर्वतोभद्र नाम की वापिकाएँ हैं, इनमें प्रथम वापिका ऐशानेन्द्र के लोकपालों में से वरुण द्वारा भोग्य है, द्वितीय वापिका यम के, तृतीय सोम के और चतुर्थ वापिका कुबेर लोकपाल के द्वारा भोग्य है ॥३१४-३१५॥ इन सोलह वापियों में से प्रत्येक का आदि (अभ्यन्तर) अन्तर ६५५०४५ योजन सर्व वापियों का पृथक् पृथक् मध्य अन्तर १०४६० योजन और इसी प्रकार सर्व वापियों का भिन्न भिन्न बाह्य अन्तर २२३६६१ योजन प्रमाण है ॥३१६-३१९॥

अब दधिमुख पर्वतों की संख्या, उनका अवस्थान, वर्ण और व्यास आदि कहते हैं :—

वापीनां मध्यभूदेशेषु सन्त्यासां दधिप्रभाः ।
रम्या दधिमुखाभिख्याः श्वेताः षोडशभूधराः ॥३२०॥

पटहाकारिणस्तुङ्गा विस्तृताश्च दशप्रमैः ।
सहस्रयोजनैर्योजनसहस्रावगाहिनः ॥३२१॥

अर्थ:—इन सर्व वापियों के मध्य भूप्रदेशपर दधि की प्रभा युक्त, रमणीक और श्वेतवर्ण वाले दधिमुखनाम के १६ पर्वत हैं । इनका आकार ढोल सदृश, ऊँचाई दशहजार योजन, चौड़ाई दशहजार योजन और अवगाह (नींव) १००० योजन प्रमाण है ॥३२०-३२१॥

अब व्यास आदि से युक्त रतिकर पर्वतों और सर्व जिनालयों का वर्णन करते हैं :—

तासां समस्तवापीनां प्रत्येकं बाह्यकोणयोः ।
द्वौ द्वौ रतिकराभिख्यौ भवतः पर्वतौ शुभौ ॥३२२॥
द्वात्रिंशदद्रयोऽमी ते तुङ्गाः सहस्रयोजनैः ।
विस्तृताः पटहाकाराः स्वोच्चतुर्यांशगाहकाः ॥३२३॥
सौवर्णाः शाश्वताः सर्वेऽप्यञ्जनाद्या महाचलाः ।
पिण्डीकृता द्विपञ्चाशद् भवन्त्यतिमनोहराः ॥३२४॥
एषां सर्वमहीन्द्राणां मूर्ध्न्येकैकं जिनालयम् ।
शाश्वतं सुरपूजाढ्यं भवेत् स्यक्तोपमं परम् ॥३२५॥
सर्वे पिण्डीकृतास्ते द्विपंचाशच्छ्रीजिनालयाः ।
स्वर्णरत्नमया दिव्याः स्फुरद्दीप्रा मनोहराः ॥३२६॥
पूर्वोक्त वर्णनोपेताः सर्वज्येष्ठा विमानवत्स्थलम् ।
देवसंघैर्महाभूत्या धर्माकरा इवोर्जिताः ॥३२७॥
प्राङ्मुखाः सुरनाथादीनाह्वयन्तः इवानिशम् ।
जिनार्चायै शुभाप्त्यै च तुङ्गध्वजकरोत्करैः ॥३२८॥

अर्थः—उन समस्त वापियों में से प्रत्येक वापी के दोनों बाह्य कोणों पर अतीव शुभ रतिकर नाम के दो दो पर्वत हैं, इस प्रकार १६ वापियों के दो दो कोणों पर ३२ रतिकर पर्वत हैं, इन सभी पर्वतों की भिन्न भिन्न ऊँचाई १००० योजन, चौड़ाई १००० योजन, अगाध (नींव) ऊँचाई का चतुर्थांश अर्थात् २५० योजन है, अनाद्यनिधन इन सब पर्वतों का आकार ढोल सदृश और वर्ण तपाये हुए स्वर्ण समान है। मन को हरण करने वाले अञ्जनादि सभी पर्वतों का योग (४+१६+३२)=५२ होता है ॥३२२–३२४॥ इन सब ५२ पर्वतों के शिखर पर शाश्वत, देवेन्द्रों से पूज्य, उपमा रहित और परमोत्कृष्ट एक एक जिनालय हैं। अत्यन्त कान्तिमय है प्रकाश जिनका ऐसे दिव्य और मनोहर उन स्वर्ण और रत्नमय सब जिनालयों का कुल योग (४+१६+३२)=५२ है ॥३२५–३२६॥ जो पूर्वोक्त वर्णन से सहित हैं, उत्कृष्ट आयाम आदि युक्त हैं और धर्म की खान के समान हैं, ऐसे वे ५२ चैत्यालय महाविभूति युक्त देव समूहों के द्वारा अत्यन्त शोभायमान होते हैं ॥३२७॥ वे समस्त चैत्यालय पूर्वाभिमुख हैं, और उन्नत ध्वजाओं से ऐसे सुशोभित होते हैं मानों ये अपने ध्वजा रूपी हाथों से अहर्निश परमशुभ जिन पूजा के लिए सुरेन्द्र आदिकों को ही बुला रहे हों ॥३२८॥

अब अशोक आदि वनों एवं चैत्यवृक्षों का अवधारण करते हैं :—

वापीनां पूर्वदिग्भागेऽशोकं वनमुल्वणम् ।
एकैकं दक्षिणे भागे सप्तपर्णाह्वयं महत् ॥३२९॥
प्रदेशे पश्चिमे स्याच्च चाम्पकं सुवनं पृथक् ।
उत्तरायां दिशि प्रोच्चं वनमाम्राह्वयं परम् ॥३३०॥
वनान्येतानि सर्वाणि नित्यानि भान्ति भूतिभिः ।
मयूरैः कोकिलालापैः शुकाद्यैश्च द्रुमोत्करैः ॥३३१॥
सर्वर्तु फलपुष्पाद्यैश्चैत्यवृक्षैः सुरालयैः ।
लक्षयोजनदीर्घाणि दीर्घार्धविस्तृतानि च ॥३३२॥
वनानां मध्यदेशेषु तिस्रः स्युर्मणिपीठिकाः ।
त्रिमेखलाङ्किता दिव्याः प्रत्येकं तुङ्गविग्रहाः ॥३३३॥
तासां मूर्ध्नि विराजन्ते चैत्यवृक्षाः स्फुरद्रुचः ।
छत्रघण्टाजिनार्चाद्यैर्विचित्राः प्रोन्नताः शुभाः ॥३३४॥
तेषां मूले चतुर्दिक्षु महत्यो जिनमूर्तयः ।
दीप्राः शक्रादिवन्द्यार्च्याः स्युः पर्यङ्कासनस्थिताः ॥३३५॥

अर्थ:—उन सोलह वापिकाओं की चारों दिशाओं में एक एक वन है। पूर्वभाग में अशोक नाम का वन है। दक्षिण दिशा में सप्तपर्ण नाम का महान् वन है। पश्चिम दिशा में चम्पक वन और उत्तर दिशा में आम्र नामक उत्तम वन है ॥३२९-३३०॥ ये शाश्वत ६४ ही वन मयूरों, कोकिलाओं एवं शुकादिकों के सुन्दर आलापों से एवं द्रुमसमूह आदि विभूति से शोभायमान हैं ॥३३१॥ सर्व ऋतुओं के फलों एवं पुष्प आदि से, चैत्यवृक्षों से देवप्रासादों से सुशोभित उन सभी वनों का पृथक् पृथक् विस्तार पचास हजार योजन और दीर्घता (लम्बाई) एक लाख योजन प्रमाण है ॥३३२॥ उन सभी वनों के मध्यभाग में मणिमय तीन तीन पीठिकाएँ हैं। प्रत्येक पीठिका तीन तीन दिव्य और उत्तुङ्ग मेखलाओं (कटनियों) से अलंकृत हैं। उन पीठिकाओं के ऊपर नाना प्रकार के छत्र, घण्टा और जिनार्चा आदि से युक्त प्रोन्नत, शुभ और फैलती हुई द्युति से युक्त चैत्यवृक्ष सुशोभित होते हैं। ॥३३३-३३४॥ उन चैत्यवृक्षों के मूल में पूर्वादि चारों दिशाओं में कान्तिमान्, इन्द्रादि देवों से वंदनीय एवं अर्चनीय तथा पद्मासन स्थित प्रभावशाली जिनमूर्तियाँ हैं ॥३३५॥

अब वनों में स्थित प्रासादों के आयाम आदि का तथा अष्टाह्निकी पूजा का वर्णन करते हैं :—

चतुःषष्टिवनानां च मध्ये सन्ति मनोहराः ।
सत्प्रासादाश्चतुःषष्टिर्वननामसुराश्रिताः ।।३३६।।
द्विषष्टि योजनोत्सेधा आयामविस्तरान्विताः ।
एकत्रिंशत्प्रमाणैश्च योजनैर्द्वारभूषिताः ।।३३७।।
आषाढे कार्तिके मासे फाल्गुने च निरन्तरम् ।
प्रतिवर्षं सुरैः सार्धं चतुर्निकायवासवाः ।।३३८।।
स्वस्वसद्वाहनारूढाः सकलत्राः शुभाशयाः ।
विभूत्या परया भक्त्यागत्यारभ्याष्टमीदिनम् ।।३३९।।
आष्टाह्निकीं महापूजां कुर्वन्ति पुण्यमातृकाम् ।
त्रिजगन्नाथमूर्तिनां विश्वचैत्यालयेषु च ।।३४०।।
अभिषेकं महन्नित्यं सुरनाथाः सुरैः समम् ।
द्विद्विप्रहरपर्यन्तमेकैकदिशि शान्तये ।।३४१।।
कनत्काञ्चनकुम्भास्यनिर्गतैर्निर्मलाम्बुभिः ।
महोत्सवशतैर्वाद्यैर्जयकोलाहलस्वनैः ।।३४२।।
नित्यं प्रकुर्वते भूत्या विश्वविघ्नहरं शुभम् ।
जिनेन्द्रदिव्यबिम्बानां गीतनृत्यस्तवैः सह ।।३४३।।

अर्थः—६४ वनों के मध्य में वनों के सदृश नाम वाले देवों के अति मनोहर ६४ प्रासाद हैं। इन प्रासादों में से प्रत्येक प्रासाद ६२ योजन ऊँचे, ६२ योजन लम्बे, ३१ योजन चौड़े और द्वार आदि से विभूषित हैं ।।३३६-३३७।। प्रतिवर्ष निरन्तर आसाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास में चतुर्निकाय के इन्द्र, देवों एवं देवांगनाओं के साथ अपने अपने उत्तम वाहनों पर चढ़ कर परम विभूति और परमोत्कृष्ट भक्ति से अष्टमी को नन्दीश्वर द्वीप जाकर सर्व चैत्यालयों में स्थित जिनबिम्बों की पुण्य की माता सदृश अष्टाह्निकी नाम की महापूजा करते हैं ।।३३८-३४०।। महा महोत्सव पूर्वक सैकड़ों वाद्यों एवं जयजयकार शब्दों के कोलाहल से युक्त, महाविभूति से, गीत, नृत्य और सहस्रों स्तुतियाँ गाते हुए, स्वर्ण और रत्नों के घड़ों से निकलती हुई निर्मल जल की धारा द्वारा, अन्य देव समूहों के साथ साथ सर्व इन्द्र, आत्म शान्ति के लिए नित्य ही प्रत्येक दिशा में दो दो पहर जिनेन्द्रों की दिव्य प्रतिमाओं का सर्व विघ्न नाशक और कल्याणप्रद महा अभिषेक करते हैं ।।३४१-३४३।।

अब चारों प्रमुख इन्द्रों के द्वारा एक ही दिन में चारों दिशाओं की पूजन का विधान कहते हैं :—

इत्येकेन दिनेनात्र चतुर्दिग्जिनवेश्मसु ।
एका स्यान्महती पूजा सम्पूर्णा च सुरेशिनाम् ॥३४४॥
पूर्वाशायां जिनार्चानां सौधर्मेन्द्रो महामहम् ।
अष्टभेदं सुरैः सार्धं दिव्यार्चनैः करोति च ॥३४५॥
पश्चिमाशास्थगेहेषु प्रतिमानां जिनेशिनाम् ।
विधत्ते परमां पूजामैशानेन्द्रोऽमरावृतः ॥३४६॥
दक्षिणाशाप्रदेशस्थ चैत्यालयेषु भक्तितः ।
कुरुते जिनमूर्तीनां चमरेन्द्रो महार्चनम् ॥३४७॥
उत्तराशामहीभागे शक्रो वैरोचनो मुदा ।
चैत्यालयस्थचैत्यानां करोति पूजनं परम् ॥३४८॥
इत्यमी प्रत्यहं मुख्याश्चत्वारः सुरनायकाः ।
प्रदक्षिणाविधानेनात्रत्यश्रीजिनधामसु ॥३४९॥
त्रिजगद्देवदेवीभिः समं पूजामहोत्सवम् ।
कुर्वते जिनमूर्तीनां पूर्णमास्यन्तमञ्जसा ॥३५०॥

अर्थः—इस प्रकार नन्दीश्वर द्वीप स्थित जिन चैत्यालयों में एक ही दिन में चारों दिशाओं में देवेन्द्र एक महान पूजा सम्पूर्ण करते हैं ॥३४४॥ अन्य देव समूहों के साथ साथ सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र पूर्वदिशा में स्थित जिनप्रतिमाओं की अष्ट प्रकार की महामह पूजा दिव्य द्रव्य के द्वारा करता है ॥३४५॥ अनेक देवों से आवृत ऐशानेन्द्र पश्चिमदिशागत जिनालयों में स्थित जिनेन्द्र बिम्बों की परम पुनीत पूजा करता है ॥३४६॥ दक्षिण दिशागत क्षेत्र के चैत्यालयों में स्थित जिनबिम्बों की महामह पूजा चमरेन्द्र महान् भक्तिभाव से करता है ॥ ३४७ ॥ इसी प्रकार उत्तर दिशा स्थित चैत्यालयों के जिन बिम्बों की परमोत्कृष्ट पूजा वैरोचन इन्द्र अति प्रमोद पूर्वक करता है ॥३४८॥ इस उपर्युक्त विधि के अनुसार ये चारों प्रधान इन्द्र त्रैलोक्य स्थित देव देवियों के साथ प्रदक्षिणा क्रम से नन्दीश्वरद्वीपस्थ जिनचैत्यालयों के जिनबिम्बों की पूजा, महामहोत्सव के साथ पूर्णिमा पर्यन्त करते हैं । अर्थात् पूर्व-दिशा में सौधर्मेन्द्र, दक्षिण में ऐशानेन्द्र, पश्चिम में चमरेन्द्र और उत्तर में वैरोचन इन्द्र अपने सुरसमूह के साथ दो-दो पहर पूजन करते हैं । दोपहर बाद सौधर्मेन्द्र दक्षिण में आ जाते हैं, तब दक्षिण वाले देव पश्चिम में और पश्चिम वाले उत्तर में तथा उत्तर दिशा वाले देव पूर्व में आकर ऐन्द्रध्वज आदि महापूजा करते हैं । यह क्रम एक दिन का है, इस प्रकार अष्टमी से प्रारम्भ कर पूर्णिमा पर्यन्त देवगण इसी क्रम से महामहोत्सव के साथ महामह आदि पूजन करते हैं ॥३४९-३५०॥

उपर्युक्त ५२ चैत्यालयों का चित्रण निम्न प्रकार है :—

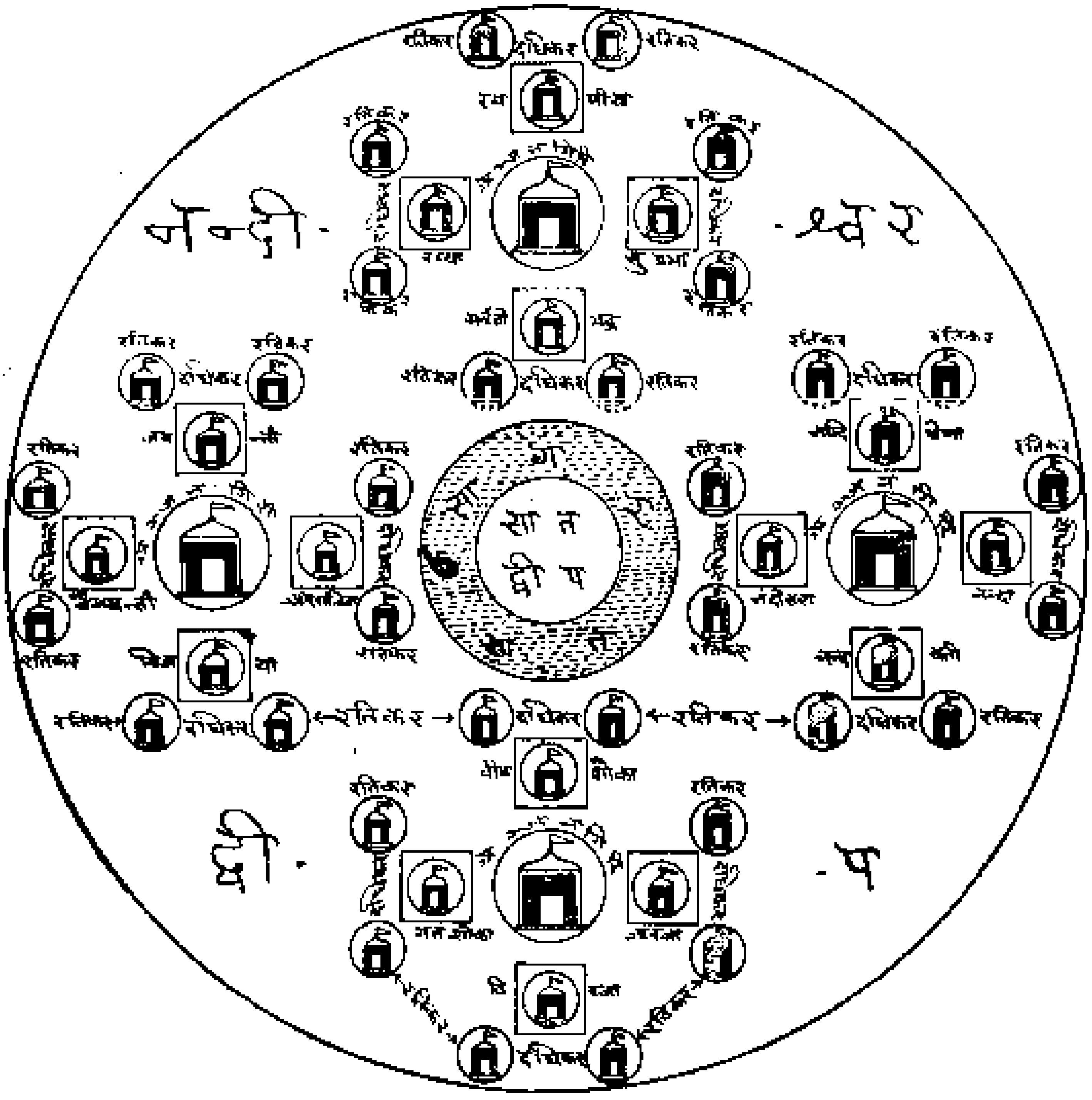

अब नन्दीश्वरद्वीप के स्वामी कहते हैं :—

द्वीपस्य प्रवरस्यास्य स्यातां देवौ सुरक्षकौ ।

जिनभक्तिपरौ नित्यं शुद्धप्रभमहाप्रभौ ॥२५१॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति में परायण प्रभ और महाप्रभ नाम के दो देव इस महान नन्दीश्वर द्वीप की रक्षा करते हैं ॥२५१॥

अब नन्दीश्वर समुद्र को एवं दो द्वीपों की अवस्थिति कहते हैं :—

ततस्तं परिवेष्ट्यास्ति नन्दीश्वरवराम्बुधिः ।
ततः स्यादरुणो द्वीपोऽरुणप्रभसमाह्वयः ॥३५२॥

अर्थः—नन्दीश्वर द्वीप को परिवेष्टित करके नन्दीश्वर नामक महासमुद्र है, इसके आगे ९ वां अरुण द्वीप और १० वां अरुणप्रभ नाम के द्वीप हैं ॥३५२॥

अब कुण्डलद्वीपस्थ कुण्डलगिरि के व्यास आदि का प्रमाण कहते हैं :—

अथैकादशमो द्वीपो विख्यातः कुण्डलाभिधः ।
कुण्डलाकारसंस्थानकुण्डलाचलभूषितः ॥३५३॥
योजनानां सहस्राणि पञ्चसप्ततिरुन्नतिः ।
सहस्रयोजनागाहोऽस्याद्रेर्मूले च विस्तरः ॥३५४॥
सहस्रदशसंख्यातविंशत्यग्रद्विशतप्रमः ।
मध्ये च द्विशतत्रिंशद्युक्तसप्तसहस्रकः ॥३५५॥
अग्रे व्यासः सहस्राणि चत्वारि द्वे शते तथा ।
योजनानि च चत्वारिंशत्कुण्डलमहीभृतः ॥३५६॥
इत्युक्तोत्सेधविस्तारः स्वर्णाभः कुण्डलाचलः ।
द्वीपस्य मध्यभागेऽस्ति कुण्डलाकृतिमाश्रितः ॥३५७॥

अर्थः—अरुणप्रभद्वीप के बाद ग्यारहवाँ कुण्डल नाम का विख्यात द्वीप है, जो कुण्डल के आकार वाले कुण्डलाचल पर्वत से विभूषित है ॥३५३॥ यह पर्वत ७५००० योजन ऊँचा, १००० अवगाह (नींव) से युक्त, मूल विस्तार १०२२० योजन, मध्यविस्तार ७२३० योजन और शिखर विस्तार ४२४० योजन है ॥३५४–३५६॥ कुण्डलद्वीप के मध्यभाग में कुण्डलाकृति का धारक उपर्युक्त उत्सेध एवं विस्तार से युक्त और स्वर्णाभा के सदृश कान्ति वाला कुण्डलाचल पर्वत है ॥३५७॥

अब कुण्डलगिरिस्थ कूटों का अवस्थान, संख्या एवं व्यास आदि के प्रमाण का दिग्दर्शन कराते हैं :—

अस्याद्रेर्मस्तके सन्ति कूटानि दिक्चतुष्टये ।
चत्वारि विदिशासु स्याद्रम्यं कूटचतुष्टयम् ॥३५८॥
तासामष्टदिशां मध्यान्तरेष्वष्टसु सन्ति च ।
अष्टौ महान्ति कूटानीमानि कूटानि षोडश ॥३५९॥

अमीषां द्व्यष्टकूटानां मूर्धस्थरत्नसद्मसु ।
पल्यंकजीविनो भूत्या नागदेवा वसन्ति च ।।३६०।।
तेषामभ्यन्तरे भागे चतुःपूर्वादिदिक्षु च ।
चत्वारि मणिकूटानि सन्ति सेव्यानि निर्जरैः ।।३६१।।
कूटानां मूर्ध्निराजन्ते चत्वारः श्रीजिनालयाः ।
देवसङ्घकृतैर्नित्यं पूजोत्सवशतादिभिः ।।३६२।।
एषां विंशतिकूटानामुदयो योजनानि च ।
शतानि पञ्चमूले स्वोत्सेधेन समविस्तरः ।।३६३।।
अग्रे व्यासो मतः सार्धद्विशतैर्योजनैरिति ।
वर्णनैः कुण्डलाद्रिः स्यात् सुरसङ्घोत्सवप्रदः ।।३६४।।

अर्थः—कुण्डलगिरि पर्वत पर पूर्वादि चारों दिशाओं में चार कूट हैं, और चारों विदिशाओं में भी रमणीक चार कूट हैं ।।३५८।। इन आठों दिशाओं के मध्य आठ अन्तरालों में आठ महान् कूट हैं । इस प्रकार आठ दिशाओं और आठों अन्तरालों में कुल सोलह कूट हैं ।।३५९।। इन सोलह कूटों के शिखर पर रत्नों के प्रासाद हैं, जिनमें एक पल्य की आयु वाले नागदेव महाविभूति के साथ रहते हैं । ।।३६०।। इन दिशागत कूटों के अभ्यन्तर भाग में पूर्वादि चारों दिशाओं में देवों द्वारा सेव्यमान चार कूट हैं । इन कूटों के शिखर पर (प्रत्येक कूट पर एक) चार जिनालय हैं, जिनमें देव समूहों के द्वारा नित्य ही सहस्रों पूजा महोत्सव किये जाते हैं ।।३६१–३६२।। ये बीसों कूट पांच-पांच सौ योजन ऊँचे हैं, इनका मूल विस्तार ५०० योजन और ऊर्ध्व–शिखर का विस्तार २५० योजन प्रमाण है । जहाँ नित्य देवों के द्वारा अनेक महोत्सव होते हैं ऐसे कुण्डलगिरि का वर्णन है ।।३६३–३६४।।

अब शङ्खवरद्वीप और रुचकद्वीप की अवस्थिति कह कर रुचकगिरि के व्यास आदि का प्रमाण कहते हैं :—

ततः शङ्खवरद्वीपस्तस्माच्च रुचकाह्वयः ।
राजतेऽद्रिजिनागारैरिश्रदशानन्दकारकः ।।३६५।।
अस्य द्वीपस्य मध्येऽस्ति वलयाकार ऊर्जितः ।
अचलो रुचकाभिख्यः पुण्यकर्मनिबन्धनः ।।३६६।।
आदौ मध्येऽचलस्याग्रे सर्वत्र समविस्तरः ।
प्रोक्तश्चतुरशीतिश्च सहस्रयोजनानि च ।।३६७।।

स्वव्यासेन समोत्सेधो मन्तव्योऽस्य महागिरेः ।
सहस्रयोजनागाहोऽग्रे स्युः कूटान्य मून्यपि ।।३६८।।

अर्थः—११ वें कुण्डलवर द्वीप के बाद १२ वाँ शंखवर द्वीप है, और शंखवर द्वीप के आगे १३ वाँ रुचकवर द्वीप है, जो जिनेन्द्र भगवान के जिनालयों से देवों को आनन्द कारक है, ऐसे रुचकगिरि (पर्वत) से सुशोभित है ।। ३६५ ।। इस रुचकवर द्वीप के मध्य में शाश्वत और वलयाकार पुण्यकर्म को आकर्षण करने वाला रुचक नाम का पर्वत है ।। ३६६ ।। इस पर्वत का आदि, मध्य और शिखर का सर्वत्र विस्तार समान है । अर्थात् सर्वत्र ८४००० योजन प्रमाण है ।।३६७।। इस रुचक पर्वत की ऊँचाई भी अपने विस्तार के सदृश अर्थात् ८४००० योजन प्रमाण ही है, तथा अवगाह १००० योजन है । इस महागिरि के ऊपर अनेक कूट भी हैं ।।३६८।।

अब रुचकगिरि पर स्थित कूटों का अवस्थान, संख्या, स्वामी और उनके कार्यों एवं व्यास आदि के प्रमाण का निर्धारण करते हैं :—

पूर्वाशासु चतुर्दिक्ष्वष्टौ कूटानि पृथक् पृथक् ।
प्रत्येकं रुचकाख्याद्रे र्बहिर्भागे च मूर्धनि ।।३६९।।

पूर्वाशास्थाष्टकूटेषु दिक्कुमार्यो वसन्ति ताः ।
याः शृङ्गारविधायिन्यो जिनमातुर्भवन्ति च ।।३७०।।

दक्षिणाशाष्टकूटाग्रस्थ सौधेषु वसन्ति च ।
मणिदर्पणधारिण्योऽष्टौ तस्या दिक्कुमारिकाः ।।३७१।।

पश्चिमाशाष्ट कूटेषु तिष्ठन्ति दिक्कुमारिकाः ।
मून्यष्टौ छत्रधारिण्यो जिनाम्बाया मुदागताः ।।३७२।।

उत्तराशाष्टकूटेषु दिक्कुमार्यो वसन्ति ताः ।
जिनमातुरिहायाताश्चामराण्युत् क्षिपन्ति याः ।।३७३।।

तथास्याद्रेश्चतुर्दिक्षु पङ्क्त्या कूटानि सन्ति च ।
त्रीणि त्रीणि मनोज्ञानि प्रत्येकं हि ततोऽन्तरे ।।३७४।।

चतुःकूटेषु तिष्ठन्ति दिक्कुमार्यश्चतुःप्रभाः ।
ता या जिनजनन्याश्च निकटे सेवनोत्सुकाः ।।३७५।।

अमीषां मध्यभागेषु चतुःकूटस्थवेश्मसु ।
वसन्ति दिक्कुमारीणां सन्महत्तरिकाः पराः ।।३७६।।

तेषां मध्ये चतुःकूटेषु चतस्रो वसन्ति ताः ।
या महत्तरिकाश्चार्हज्जातकर्माणि कुर्वते ॥३७७॥
अमीषां सर्वकूटानामन्तर्भागे भवन्ति च ।
चत्वारि मणिकूटानि चतुर्दिक्षु महान्त्यपि ॥३७८॥
एतेषां मूर्ध्नि राजन्ते देवोत्थार्च्योत्सवोत्करैः ।
चैत्यालया जिनेन्द्राणां चत्वारो मणिभास्वराः ॥३७९॥
एषां समस्तकूटानामुदयो विस्तरो द्विधा ।
मूलेऽग्रे च भवेत्कुण्डलस्थकूटैः समानकाः ॥३८०॥

अर्थः—रुचक नाम के इस पर्वत के ऊपर बहिर्भाग में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चारों दिशाओं में से पृथक् पृथक् दिशा में आठ आठ कूट हैं। अर्थात् कुल ३२ कूट हैं ॥३६९॥ पूर्व दिशागत आठ कूटों में दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं, और ये जिनमाता के शृंगार आदि की क्रियाएँ करतीं हैं ॥३७०॥ दक्षिण दिशागत कूटों के ऊपर स्थित प्रासादों में मणिमय दर्पण धारण करने वाली आठ दिक्कुमारियाँ निवास करतीं हैं ॥३७१॥ पश्चिम दिशागत कूटों के ऊपर स्थित प्रासादों में श्वेत छत्र धारण कर हर्षित मन से जिनमाता की सेवा करने वाली आठ दिक्कुमारियाँ रहतीं हैं ॥३७२॥ उत्तर दिशागत कूटों पर आठ दिक्कुमारियाँ रहतीं हैं, जो यहाँ जिनमाता के पास आकर चँवर ढोरतीं हैं ॥३७३॥ तथा इसी पर्वत पर पूर्व आदि चारों दिशाओं में से पृथक् पृथक् दिशा में (पूर्वोक्त कूटों के अभ्यन्तर की ओर) पंक्तिबद्ध अति मनोज्ञ तीन तीन कूट हैं ॥३७४॥ इनमें से चारों दिशाओं के चार कूटों (एक एक कूट) में चार दिक्कुमारियाँ रहतीं हैं, जो जिनमाता के निकट आकर हर्षोल्लास पूर्वक सेवा करतीं हैं ॥३७५॥ उपर्युक्त तीन तीन कूटों के मध्य में स्थित चारों दिशाओं के चार कूटों पर जो प्रासाद हैं, उनमें अतिनिपुण महत्तरिका दिक्कुमारियाँ निवास करतीं हैं ॥३७६॥ उन मध्य स्थित चार कूटों में जो चार महत्तरिका निवास करतीं हैं, वे तीर्थंकर के जन्म समय में जात कर्म करतीं हैं ॥३७७॥ इन सर्व कूटों के अभ्यन्तर की ओर चारों दिशाओं में जो रत्नमय चार महान कूट हैं, उनके शिखर पर देवों द्वारा किये हुए महान उत्सवों से युक्त और मणियों की प्रभा सदृश भास्वर जिनेन्द्र भगवान के चार कूट शोभायमान होते हैं ॥३७८॥ इन समस्त (३२+१२=४४) कूटों की ऊँचाई तथा मूल और शिखर भाग के विस्तार का प्रमाण कुण्डलगिरि स्थित कूटों के समान है। अर्थात् इन समस्त कूटों का मूल विस्तार ५०० योजन, शिखर विस्तार २५० योजन और उत्सेध भी ५०० योजन प्रमाण है ॥३८०॥

(रुचकगिरि के कूटों आदि का चित्रण अगले पृष्ठ पर देखें।)

रुचकगिरि के कूटों आदि का चित्रण निम्न प्रकार है :—

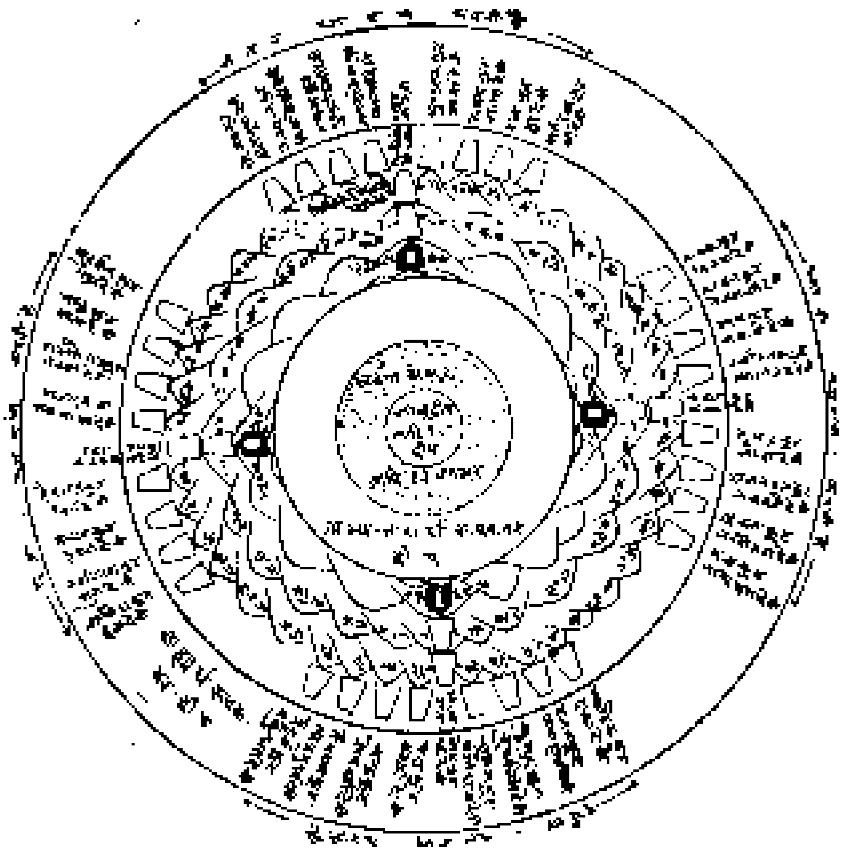

अब कुछ द्वीप समुद्रों के नाम और व्यास कह कर उनकी अकृत्रिमता बतलाते हैं :–

अथास्ति भुजगद्वीपस्ततः कुशवराभिधः ।
द्वीपः क्रौञ्चवराभिख्यो द्वीपो मनः शिलाख्यकः ॥३८१॥

हरितालाह्वयो द्वीपो द्वीपः सेन्दुरसंज्ञकः ।
श्यामाङ्कोऽञ्जनकद्वीपो हिङ्गुलाख्यश्च रूप्यकः ॥३८२॥

द्वीपः सुवर्णनामाथ द्वीपो वज्राभिधानकः ।
वैडूर्यसंज्ञको भूतवरो यक्षवराभिधः ॥३८३॥

देवद्वीपस्तथाप्यन्ये शुभनामान ऊर्जिताः ।
द्विगुणद्विगुणव्यासा द्वीपाः स्युः संख्यवर्जिताः ॥३८४॥

समस्तद्वीपराशीनां सर्वेषु चान्तरेषु वै ।
स्वस्वद्वीपोत्यनामानोऽसंख्येयाः सन्ति सागराः ॥३८५॥

एते द्वीपाब्धयोऽसंख्या न केनापि विनिर्मिताः ।
किन्त्वविनश्वरा विश्वे सन्त्यनाद्यमनोहराः ॥३८६॥

अर्थः—रुचकवर द्वीप के बाद भुजगद्वीप, पश्चात् कुशवर नामक द्वीप, पश्चात् क्रौंचवर द्वीप, पश्चात् मनःशिल द्वीप, पश्चात् हरिताल द्वीप, पश्चात् सेन्दुर द्वीप, श्यामाङ्क द्वीप, अञ्जन द्वीप, हिंगुल द्वीप, रूप्यक द्वीप, सुवर्ण द्वीप, वज्र नामक द्वीप, वैडूर्य द्वीप, भूतवर द्वीप, यक्ष द्वीप और देव द्वीप हैं, इस प्रकार आगे आगे शुभ नाम वाले और पूर्व पूर्व समुद्रों से दूने दूने विस्तार वाले असंख्यात द्वीप हैं ।।३८२-३८४।। इन समस्त द्वीपों के अन्तरालों में अपने अपने द्वीप के नाम सदृश नाम वाले असंख्यात ही सागर हैं ।।३८५।। ये सर्व असंख्यात द्वीप समुद्र अकृत्रिम हैं, अर्थात् किन्हीं के द्वारा बनाये नहीं गये, ये समस्त मनोहर द्वीप समुद्र शाश्वत अर्थात् अनाद्यनन्त हैं ।।३८६।।

अब अन्तिम द्वीप एवं समुद्र का नाम, अवस्थान तथा व्यास आदि कहते हैं :—

सर्वद्वीपाब्धि राशीनां द्वीपो ज्येष्ठोऽस्ति चान्तिमः ।
मध्यलोकस्य पर्यन्ते स्वयम्भूरमणाह्वयः ।।३८७।।

बहिर्भागे तमावेष्ट्य स्वयम्भूरमणार्णवः ।
असंख्ययोजनव्यासो रज्जुसूचीयुतोऽस्ति च ।।३८८।।

अर्थः—समस्त द्वीप समुद्रों में अर्थात् २५ कोडाकोडि पल्योपम रोम प्रमाण द्वीप समुद्रों में सबसे बड़ा अन्तिम स्वयम्भूरमण नाम का द्वीप है, यह मध्यलोक के अन्त में अवस्थित है। इस द्वीप के बहिर्भाग में स्वयम्भूरमण द्वीप को वेष्टित किये हुए असंख्यात योजन वाला स्वयम्भूरमण समुद्र है, इसका सूची व्यास एक राजू प्रमाण है ।।३८७-३८८।।

अब नागेन्द्र पर्वत, तिर्यग्लोक के अन्त में अवस्थित कर्मभूमि और उसमें रहने वाले तिर्यञ्चों का कथन करते हैं :—

स्वयम्भूरमणद्वीपस्यार्धेऽस्ति वलयाकृतिः ।
श्रीप्रभाख्यो महान् शैलो भोगभूमिधराङ्कितः ।।३८९।।

ततोऽचलाद्बहिर्भागे द्वीपार्धे सकलेऽम्बुधौ ।
वर्तते कर्मपृथ्व्येका चतुर्गतिकराङ्गिनाम् ।।३९०।।

यत्रोऽत्र सन्ति तिर्यञ्चः क्रूरा व्रतादिदूरगाः ।
संयतासंयताः केचित्पशवो व्रततत्पराः ।।३९१।।

अर्थः—अर्धस्वयम्भूरमण द्वीप में अर्थात् स्वयम्भूरमण समुद्र के मध्य में, भोगभूमि की धरा से युक्त अर्थात् भोगभूमि में वलय के आकार को धारण करने वाला श्रीप्रभ (नागेन्द्र) नाम का महान् पर्वत है ।।३८९।। इस श्रीप्रभ नामक पर्वत के बाहर अर्ध स्वयम्भूरमण द्वीप और सम्पूर्ण स्वयम्भूरमण

समुद्र में वहाँ स्थित जीवों को चारों गतियाँ प्रदान करने वाली एक कर्म भूमि है। यहाँ पर व्रत आदि से रहित और प्रायः क्रूर स्वभाव वाले तिर्यञ्च रहते हैं। इनमें कुछ तिर्यञ्च संयतासंयत अर्थात् देश-व्रती हैं, जो अपने व्रतों में तत्पर रहते हैं ॥३९०-३९१॥

अब बाह्य पुष्करार्ध के रक्षक देव और मानुषोत्तर पर्वत की परिधि का प्रमाण कहते हैं :—

चक्षुष्मान् हि सुचक्षुश्चेमौ देवौ परिरक्षकौ ।
मानुषोत्तरशैलस्य पुष्करार्धान्तिमस्य च ॥३९२॥
एकाकोटीद्विचत्वारिंशल्लक्षाणि सहस्रकाः ।
षड्त्रिंशच्च शतान्येव सप्त स्फुटं त्रयोदश ॥३९३ ।
योजनानां च गव्यूत्येकमिति प्रोक्तसंख्यया ।
परिधिः स्याद्बहिर्भागे मानुषोत्तरसद्गिरेः ॥३९४॥
तस्यैव परिधेर्बाह्यभागेषु शाश्वताः स्थिताः ।
स्वयं प्रभाद्रिपर्यन्ता ये द्वीपाः संख्यवर्जिताः ॥३९५॥

अर्थः—चक्षुष्मान् और सुचक्षुष्मान् ये दो देव बाह्य पुष्करार्ध द्वीप के अधिपति हैं। पुष्करार्ध के अन्त में अवस्थित मानुषोत्तर पर्वत की परिधि १४२३६७१३ योजन और एक कोस प्रमाण कही गई है। परिधि का यह प्रमाण मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य भाग का है। इस ही परिधि के बाह्यभाग से प्रारम्भ कर स्वयंप्रभ (नागेन्द्र) पर्वत पर्यन्त असंख्यात द्वीप हैं ॥३९२-३९५॥

तेषु द्वीपेष्वसंख्येषु जघन्याभोगभूमयः ।
सम्भवन्ति स्यस्तिरश्चां स्युः केवलं संख्यदूरगाः ॥३९६॥
आसु सर्वासु तिर्यञ्चो गर्भजा भद्रकाः शुभाः ।
युग्मरूपाश्च जायन्ते पञ्चाक्षाः क्रूरतातिगाः ॥३९७॥
एकपल्योपमायुष्का मृगादि शुभजातिजाः ।
कल्पद्रुमसमुत्पन्नभोगिनो वैरवर्जिताः ॥३९८॥
मन्दकषायिणोऽप्येते मृत्वा यान्ति सुरालयम् ।
ज्योतिर्भावनभौमेषु न स्वर्गं दर्शनं विना ॥३९९॥
कुपात्रदानपुण्यांशात् कुत्सिताद्भोगकांक्षिणः ।
केवलं दृग्व्रतातीता जायन्तेऽत्राबुधाङ्गिनः ॥४००॥

न सन्त्यासु समस्तासु धरासु जन्तवः क्वचित् ।
कृमिकुन्थ्वादिदंशाद्याः क्रूरा वा विकलेन्द्रियाः ॥४०१॥

अर्थः—मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य भाग से नागेन्द्र पर्वत पर्यन्त जो असंख्यात द्वीप हैं, उनमें जघन्य भोगभूमि की रचना है। इस जघन्य भोगभूमि में मात्र तिर्यंच रहते हैं, उनकी संख्या असंख्यात है, अर्थात् असंख्यात तिर्यंच रहते हैं ॥३९६॥ इन द्वीपों में रहने वाले सभी तिर्यंच गर्भज, भद्र, शुभ परिणति से युक्त, पंचेन्द्रिय और क्रूरता रहित होते हैं। इनका जन्म युगल रूप से ही होता है ॥३९७॥ यहाँ जो तिर्यंच उत्पन्न होते हैं, वे मृग आदि शुभ जातियों में उत्पन्न होते हैं, एक पल्य की आयु के धारक एवं वैर भाव से रहित होते हैं, तथा कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोग भोगते हैं ॥३९८॥ ये जीव मन्द कषायी होते हैं. अतः मर कर स्वर्ग ही जाते हैं। जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं होता वे भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं ॥३९९॥ जो मूढ़ जीव सम्यग्दर्शन और व्रतों से रहित हैं, तथा कुपात्रदान से उत्पन्न कुछ पुण्य, उससे जो कुत्सित भोगों की वांछा करते हैं, वे जीव मरकर इस भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं ॥४००॥ इस जघन्य भोगभूमि की समस्त धरा पर कृमि, कुन्थु एवं मच्छर आदि तुच्छ जन्तु, क्रूर परिणामी जीव एवं विकलेन्द्रिय जीव कभी भी उत्पन्न नहीं होते ॥४०१॥

अब विकलेन्द्रिय जीवों के एवं मत्स्यों के उत्पत्ति स्थान बतलाकर तीनों समुद्रों में उत्पन्न होने वाले महामत्स्यों के व्यास आदि दर्शाते हैं :—

किन्तु ते विकलाक्षाः स्युर्द्वीपे सार्धद्वये सदा ।
स्वयम्भूरमणार्धे च स्वयम्भूरमणाद्बहिः ॥४०२॥

लवणोदे च कालोदे स्वयम्भूरमणार्णवे ।
मत्स्या जलचराश्चान्ये भवन्ति क्रूरमानसाः ॥४०३॥

शेषासंख्यसमुद्रेषु मत्स्याद्या जातु सन्ति न ।
भोगक्ष्मामध्यभागे स्थितेषु द्वयक्षादयो न वा ॥४०४॥

स्वयम्भूरमणाम्भोधेस्तीरे पञ्चशतायताः ।
योजनानां महामत्स्याः सन्ति सम्मूर्च्छनोद्भवाः ॥४०५॥

सहस्रयोजनायामा अब्धेरभ्यन्तरे स्थिताः ।
मत्स्याः सम्मूर्च्छनोत्थास्तदर्धायामाश्च गर्भजाः ॥४०६॥

नद्यास्ये लवणाम्भोधौ मत्स्याः सम्मूर्च्छनोद्भवाः ।
नवयोजन दीर्घाङ्गास्तदर्धाङ्गाश्च गर्भजाः ॥४०७॥

अस्यैवाभ्यन्तरे तेऽष्टादशयोजनसम्मिताः ।
सम्मूर्च्छनभवा गर्भजा योजननवायताः ॥४०८॥
योजनाष्टादशायामाः कालोदस्य नदीमुखे ।
सम्मूर्च्छनजदेहास्ते गर्भजा नव योजनाः ॥४०९॥
कालोदाभ्यन्तरे मत्स्याः षट्त्रिंशद्योजनायताः ।
सम्मूर्च्छनोद्भवाश्चान्ये योजनाष्टादशायताः ॥४१०॥
सहस्रयोजनायामा ये पञ्चशतविस्तृताः ।
ते सार्धद्विशतोत्सेधाः स्युश्चेति सर्वमत्स्यकाः ॥४११॥
व्यासः स्यात् सर्वमत्स्यानां स्वाङ्गदीर्घार्द्धमेव च ।
व्यासाङ्गस्य यदर्धं स उत्सेधोऽन्यत्र चेत्यपि ॥४१२॥

अर्थः—किन्तु वे विकलेन्द्रिय जीव जम्बूद्वीप आदि अढाई द्वीप में, अर्धस्वयम्भूरमण द्वीप में और स्वयम्भूरमण समुद्र के बाह्य प्रदेश में होते हैं। लवणोदधि समुद्र में, कालोदधि समुद्र में और स्वयम्भूरमण समुद्र में अन्य जलचर जीव और क्रूर मन वाले मत्स्य रहते हैं। शेष असंख्यात समुद्रों में मत्स्य आदि जीव कभी भी नहीं पाये जाते। भोगभूमि क्षेत्रों में द्वीन्द्रिय आदि जीव पैदा नहीं होते ॥४०२-४०४॥ स्वयम्भूरमण समुद्र के किनारे पर सम्मूर्च्छन जन्म और ५०० योजन आयाम वाले महामत्स्य पाये जाते हैं ॥४०५॥ इसी समुद्र के मध्य में सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न १००० योजन लम्बे मत्स्य रहते हैं, और गर्भज मत्स्य ५०० योजन लम्बाई वाले रहते हैं ॥४०६॥ लवणसमुद्र के नदी मुख पर ९ योजन लम्बे सम्मूर्च्छन जन्म वाले और ४½ योजन लम्बे गर्भजन्म वाले मत्स्य रहते हैं। ॥४०७॥ इसी समुद्र के मध्य में १८ योजन लम्बे सम्मूर्च्छन जन्म वाले और ९ योजन गर्भ जन्म वाले मत्स्य रहते हैं ॥४०८॥ कालोदधि समुद्र के नदी मुख पर १८ योजन लम्बे सम्मूर्च्छन जन्म वाले और ९ योजन लम्बे गर्भ जन्म वाले मत्स्य रहते हैं ॥४०९॥ कालोदधि के मध्य में ३६ योजन लम्बे सम्मूर्च्छन जन्म वाले और १८ योजन लम्बे गर्भ जन्म वाले मत्स्य रहते हैं ॥४१०॥

स्वयम्भूरमण समुद्र के महामत्स्यों का शरीर १००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन ऊँचा है ॥४११॥ अन्य शेष समुद्रों के मत्स्यों के अपने अपने शरीर की जितनी लम्बाई होती है, व्यास उससे आधा होता है, तथा व्यास के अर्ध भाग प्रमाण शरीर की ऊँचाई होती है ॥४१२॥

अब एकेन्द्रिय (कमल) और विकलेन्द्रिय जीवों के शरीर का आयाम आदि कहते हैं :—

सहस्रयोजनैर्दीर्घा योजनव्याससंयुताः ।
पद्माः सन्ति महाम्भोधौ द्विक्रोशाग्रैः किलान्तिमे ॥४१३॥

योजनद्वादशायामा मुखे चतुष्कयोजनैः ।
व्यासान्विताः स्वदीर्घस्य पञ्चभागकृतात्मनाम् ।।४१४।।

भागैश्चतुर्भिरुत्सेधयुताः शङ्खा भवन्ति च ।
त्रिकोशायामसंयुक्तास्तदष्टमांशविस्तराः ।।४१५।।

व्यासस्यार्धांशकोत्सेधा गोभीनां सन्ति चोत्तमाः ।
भृङ्गा योजनदीर्घाङ्गाः कोशत्रितयविस्तृताः ।।४१६।।

कोशद्वयसमुत्तुङ्गा उत्कृष्टाङ्गा भवन्ति च ।
द्वीपार्धेऽन्तिमाब्धौ स्युर्विकलाख्या इमे त्रयः ।।४१७।।

शङ्खानामायामः द्वादशयोजनानि मुखे व्यासश्चत्वारि योजनानि, स्वायामस्य पञ्चभागाना-मुदयश्चत्वारो भागा। गोभीनामायामस्त्रयः कोशाः व्यासः क्रोशस्याष्टभागानां त्रयोभागाः, उदयः क्रोशाष्ट भागानां सार्धैकोभागः।

अर्थ:—अन्तिम स्वयम्भूरमरा समुद्र में १००० योजन लम्बा, एक योजन व्यास वाला तथा दो कोस की कर्णिका से युक्त कमल है ।।४१३।। उत्कृष्ट अवगाहना वाले शंख की लम्बाई १२ योजन, मुख व्यास ४ योजन और १२ योजन आयाम के १२ भागों में से ५ भाग अर्थात् ५ योजन का चौथा भाग ($\frac{५}{४}$=१ योजन) ऊँचाई (उत्सेध) है। तेंद्रिय गोभी की उत्कृष्ट लम्बाई ३ कोस, चौड़ाई ($३ \times \frac{३}{८} =$) $\frac{९}{८}$ कोस तथा ऊँचाई व्यास ($\frac{९}{८}$) का आधा अर्थात् ($\frac{९}{८} \times \frac{१}{२}$) = $\frac{९}{१६}$ कोस प्रमाण है। चतुरिन्द्रिय भौंरे की उत्कृष्ट लम्बाई एक योजन, चौड़ाई ३ कोस और ऊँचाई दो कोस प्रमाण है। स्वयम्भूरमण समुद्र के अन्तिम अर्ध भाग में ये तीनों प्रकार के विकलेन्द्रिय जीव होते हैं ।।४१४-४१७।।

अब समुद्रों के जलों के स्वाद का निर्धारण करते हैं :—

लवणाब्धौ जलं क्षारं लवणस्वादमस्ति च ।
वारुणी वराब्धौ स्यादुदकं मद्यसन्निभम् ।।४१८।।

क्षीराब्धौक्षीरसुस्वादसदृशाम्भो भवेन्महत् ।
घृतस्वादुसमं स्निग्धं जलं स्यात् घृतवारिधौ ।।४१९।।

कालोदे पुष्कराम्भोधौ स्वयम्भूरमणार्णवे ।
केवलं जलसुस्वादं जलौघं च भवेत्सदा ।।४२०।।

एतेभ्यः सप्तवार्धिभ्यो परेऽसंख्यातसागराः ।
भवन्तीक्षुरसस्वादसमानामधुराः शुभाः ।।४२१।।

अर्थः—लवण समुद्र के जल का स्वाद नमक के सदृश खारा है। वारुणीवर समुद्र के जल का स्वाद मद्य के स्वाद सदृश है। क्षीरवर समुद्र के जल का स्वाद दूध के स्वाद समान है और घृत वर समुद्र के जल का स्वाद एवं स्निग्धता घी के सदृश है ॥४१८-४१९॥ कालोदधि पुष्करवर समुद्र और स्वयम्भूरमण समुद्रों के जल का स्वाद सुमधुर जल के स्वाद सदृश है। इन सात समुद्रों को छोड़ कर अवशेष असंख्यात समुद्रों के जल का स्वाद अत्यन्त स्वादिष्ट इक्षुरस के सदृश मधुर और सुस्वादु है ॥४२०-४२१॥

अब सर्व द्वीप समुद्रों के व्यास से स्वयम्भूरमण समुद्र के व्यास की अधिकता का प्रमाण कहते हैं :—

समस्तद्वीपवार्धीनां व्यासात् पिण्डीकृताद्भवेत् ।
स्वयम्भूरमणश्चाधिकव्यासो लक्षयोजनैः ॥४२२॥
इति प्राग्द्वीपवार्धिभ्योऽपरोद्वीपोऽथ चाम्बुधिः ।
भवेदधिकविष्कम्भो लक्षैकयोजनैः स्फुटम् ॥४२३॥

अर्थः—समस्त द्वीप समुद्रों का व्यास एकत्रित करने पर जितना प्रमाण होता है, उससे स्वयम्भूरमण समुद्र का व्यास एक लाख योजन अधिक है। इसी प्रकार पूर्व पूर्व द्वीप और समुद्रों के व्यास से आगे आगे के द्वीप और समुद्रों का व्यास भी एक एक लाख योजन अधिक होता है ॥४२२-४२३॥

अब मध्यलोक के वर्णन का उपसंहार एवं आचार्य अपनी लघुता प्रगट करते हैं :—

इत्येवं विविधं जिनेन्द्रगदितं श्रीमध्यलोकं परम्,
किञ्चिच्छास्त्रधिया मया च विधिना संवर्णितं मुक्तये ।
धर्मध्याननिबन्धनं सुनिपुणाः सद्धर्मसंसिद्धये,
सद्बुध्या वचसा पठन्तु विमलं कृत्वा च तन्निश्चयम् ॥४२४॥

अर्थः—इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ मध्य लोक का नाना प्रकार का उत्कृष्ट वर्णन मैंने मुक्ति की प्राप्ति के लिए आगमानुसार विधिपूर्वक किया है, यह वर्णन धर्मध्यान का निबंधक है। इसमें यदि कहीं कुछ भूल हुई हो तो सज्जन पुरुष उत्तम धर्म (शिव) की प्राप्ति के लिए इसे अपनी बुद्धि से शुद्ध करके पढ़ें ॥४२४॥

अधिकारान्त मङ्गलाचरण :—

येऽस्मिन् सन्ति सुमध्यलोकसकले श्रीमज्जिनेन्द्रालयाः,
श्रीनिर्वाणसुभूमयो बुधनुताः श्रीधर्मतीर्थाधिपाः ।

अस्मात् सिद्धिपदं गता अवपुषोऽनन्तास्त्रिधा साधव-
स्तान् सर्वान् सुगुणैः स्तुवेऽहमनिशं वन्दे च तद्भूतये ॥४२५॥

इतिश्री सिद्धांतसारदीपकमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते मध्यलोक-वर्णनो नाम दशमोऽधिकारः ।

अर्थः—इस उत्तम मध्यलोक में श्री जिनेन्द्र भगवान् के जितने भी जिन मन्दिर हैं उन सबको, धर्म तीर्थ के अधिपति जहाँ से मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं, ऐसे समस्त निर्वाण क्षेत्रों को और सिद्ध पद प्राप्त करने वाले अनन्त आचार्य उपाध्याय और सर्व साधुओं को मैं उनके उत्तम गुणों के साथ साथ मोक्ष विभूति की प्राप्ति के लिए अहर्निश स्तुति करता हूँ, और नमस्कार करता हूँ ॥४२५॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसारदीपक नाम
महाग्रन्थ में मध्यलोक का वर्णन करने वाला
दशवाँ अधिकार समाप्त ॥

एकादशोऽधिकारः

मङ्गलाचरण :—

श्रीमतस्त्रिजगन्नाथान् स्वर्मुक्तिश्रीकरान्सताम् ।
वन्दे धर्माधिपान् पञ्चपरमेष्ठिन उत्तमान् ।।१।।

अर्थः—जो तीन जगत के नाथ हैं, सज्जन पुरुषों को स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करने वाले हैं तथा धर्म के अधिनायक हैं, ऐसे परमोत्कृष्ट पंचपरमेष्ठियों को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१।।

अब वक्ष्यमाण विषय की प्रतिज्ञा करते हैं :—

अथ यैः पूरितो लोकः क्वचित्क्वचित्त्रसाङ्गिभिः ।
सर्वत्र स्थावरैर्जीवैर्नानाभेदैश्च भूरिभिः ।।२।।
आयुः कायाक्षसंस्थानजातिवेदकुलादिभिः ।
तांस्त्रसान् स्थावरान् सर्वान् वक्ष्ये सतां दयाप्तये ।।३।।

अर्थः—यह लोक कहीं कहीं त्रस जीवों से भरा हुआ है, किन्तु स्थावर जीवों से तो सर्वत्र भरा हुआ है, अतः सज्जन पुरुष दया पालन कर सकें, इसलिए मैं सर्व त्रस और स्थावर जीवों के नाना प्रकार के भेद-प्रभेद, आयु, काय, इन्द्रियाँ, संस्थान, जाति, वेद और कुल आदि का विवेचन करूँगा ।।२-३।।

अब जीव के भेद और सिद्ध जीव का स्वरूप कहते हैं :—

सिद्धसंसारिभेदाभ्यां स्युर्द्विधा जीवराशयः ।
सिद्धाभेदादिनिष्क्रान्ता अनन्ता ज्ञानमूर्तयः ।।४।।

अर्थः—सम्पूर्ण जीव राशि सिद्ध और संसारी के भेद से दो प्रकार की है, जिसमें सिद्ध जीव भेद-प्रभेदों से रहित और अनन्त ज्ञान मूर्ति स्वरूप हैं ।।४।।

अब संसारी जीव के भेद कर स्थावर जीवों के प्रकार बतलाते हैं :—

त्रसस्थावरभेदाभ्यां द्विधा संसारिणोऽङ्गिनः ।
पृथिव्यादिप्रकारैश्च पञ्चधा स्थावरा मताः ।।५।।

अर्थः—त्रस और स्थावर के भेद से संसारी जीव दो प्रकार के हैं, उनमें से स्थावर जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक के भेद से पांच प्रकार के हैं ॥५॥

अब त्रस और स्थावर जीवों की पृथक् पृथक् संख्या कहते हैं :—

पृथ्व्यप्तेजोऽग्निमरुन्नित्येतरकायमयात्मनाम् ।
सप्तसप्तैव लक्षाणि प्रत्येकं सन्ति जातयः ॥६॥

जातयो दशलक्षाणि वनस्पतिशरीरिणाम् ।
प्रत्येकं द्विद्विलक्षाणि द्वित्रितुर्येन्द्रियात्मनाम् ॥७॥

तिर्यग्नारकदेवानां प्रत्येकं स्युश्च जातयः ।
चतुर्लक्षाणि लक्षाणि चतुर्दशनृजातयः ॥८॥

इत्थं चतुरशीतिश्च लक्षाणि जीवजातयः ।
अधुना विस्तरेणैषां काञ्चिज्जातिं ब्रुवे पृथक् ॥९॥

अर्थः—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, नित्यनिगोद और इतरनिगोद इन छह प्रकार के जीवों में से प्रत्येक की सात-सात लाख जातियां (योनियां) होतीं हैं। वनस्पति कायिक जीवों की दश लाख, द्वीन्द्रिय जीवों की दो लाख, त्रेन्द्रिय की दो लाख, चतुरिन्द्रिय की दो लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की चार लाख, नारकियों की चार लाख, देवों की चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख जातियां होतीं हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण संसारी जीवों की कुल जातियां (७ ला० + ७ ला० + ७ ला० + ७ ला० + ७ ला० + ७ ला० + १० ला० + ६ ला० + ४ ला० + ४ ला० + ४ ला० + १४ ला०) = ८४००००० अर्थात् चौरासी लाख जातियां (योनियां) होतीं हैं। अब इन जातियों में से कुछ जातियों का पृथक् पृथक् विस्तार पूर्वक कथन करते हैं ॥६-९॥

अब पृथ्वी के चार भेद और उनके लक्षण कहते हैं :—

पृथिवी पृथिवीकायः पृथिवीकायिकस्तथा ।
पृथिवीजीव इति ख्याता पृथ्वीभेदाश्चतुर्विधाः ॥१०॥

मार्गोपमर्दिता धूलिः पृथिवी प्रोच्यते बुधैः ।
निर्जीव इष्टिकादिश्च पृथिवीकायो मतः श्रुते ॥११॥

सजीवा पृथिवी सर्वा पृथिवीकायिको भवेत् ।
विग्रहाध्वानमापन्नोऽङ्गी पृथ्वीजीव उच्यते ॥१२॥

अर्थः—पृथ्वी के चार भेद कहे गये हैं, पृथ्वी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथ्वीजीव ॥१०॥ विद्वानों के द्वारा मार्ग की उपमर्दित धूल को पृथिवी कहा गया है। तथा आगम में निर्जीव ईंट आदि को पृथिवीकाय, सम्पूर्ण सजीव पृथ्वी को पृथिवीकायिक और पृथिवीकायिकों में जाते हुए, पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय से युक्त विग्रहगति में स्थित जीव को पृथिवी जीव कहा है ॥११-१२॥

नोट :—पृथ्वी और पृथ्वीकाय यद्यपि दोनों अचित्त हैं, तथापि पृथ्वी में पुनः जीव उत्पन्न हो सकता है किन्तु पृथ्वीकाय में पुनः पृथ्वी जीव उत्पन्न नहीं हो सकता।

इसी प्रकार अब जल, अग्नि और वायु के चार-चार भेद और लक्षण कहते हैं :—

अप् तथैवाप्शरीरं चाऽप्कायिकोऽप्जीव इत्यपि।
भेदाश्चत्वार आम्नाता जिनैरप्कायकात्मनाम् ॥१३॥
जलमाऽऽलोलितं लोकैः सकर्दमं तथाप् भवेत्।
उष्णोदकं च निर्जीवमन्यद्वाप्काय उच्यते ॥१४॥
जलकाययुतः प्राणी चाप्कायिको निगद्यते।
अप्कायं नेतुमागच्छन् जीवोऽप्जीवो गतौ भवेत् ॥१५॥
पूर्वं तेजश्च तेजःकायस्तेजःकायिकस्तथा।
तेजोजीव इमे भेदाश्चत्वारस्तेजसां मताः ॥१६॥
भस्मनाच्छादितं तेजो मात्रं तेजः प्ररूप्यते।
जीवोज्झितं च भस्मादि तेजःकाय इहोच्यते ॥१७॥
तेजःकायमयो देही तेजःकायिक इष्यते।
तेजोऽङ्गार्थं व्रजन्मार्गे तेजोजीव मतो बुधैः ॥१८॥
वायुश्च वायुकायोऽथ तृतीयो वायुकायिकः।
वायुजीव इमे भेदाश्चत्वारो वायुदेहिनाम् ॥१९॥
रजःपुञ्जमयो वायुर्भ्रमन् वायुर्जिनैः स्मृतः।
जीवातीतो मरुत्पुद्गलो वायुकाय ईरितः ॥२०॥
वायुः प्राणमयः प्राणी प्रोदितो वायुकायिकः।
वाताङ्गार्थं व्रजन्मार्गेऽङ्गी वायुजीव उच्यते ॥२१॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान् ने जलकाय जीवों के जल, जलकाय, अबकायिक और जलजीव इस प्रकार चार भेद कहे हैं ॥१३॥ लोगों के द्वारा आलोलित एवं कीचड़ सहित जल को जल कहते हैं। उष्ण निर्जीव जल को जलकाय, जलकाय युक्त जीव को जलकायिक तथा जलकाय में जन्म लेने के

लिए जाते हुए विग्रहगति में स्थित जीव को जलजीव कहते हैं ।।१४–१५।। पूर्ववत् तेजकाय जीवों के तेज, तेजकाय, तेजकायिक और तेज जीव इस प्रकार चार भेद कहे हैं ।। १६ ।। भस्म से आच्छादित अग्नि को अर्थात् किञ्चित उष्ण भस्म को तेज कहते हैं। जिसमें से जीव निकलकर चला गया है, उस भस्मादि को तेज काय कहते हैं। तेजकाय सहित जीव को तेजकायिक और तेजनाम कर्म से युक्त जो जीव विग्रहगति में स्थित हैं उन्हें विद्वानों ने तेजजीव कहा है ।।१७–१८।। वायु जीवों के वायु, वायुकाय, वायुकायिक और वायुजीव इस प्रकार चार भेद होते हैं ।।१९।। धूलपुञ्ज से युक्त भ्रमण करती हुई वायु (आँधियों) को जिनेन्द्र देव ने वायु कहा है। जीव से रहित पंखे आदि की पौद्गलिक वायु देह को वायुकाय कहते हैं। प्राण युक्त वायु को वायुकायिक और वायुगति में आने वाले विग्रह गति स्थित जीव को वायु जीव कहते हैं ।।२०–२१।।

अब वनस्पति के चार भेद कह कर उनके भिन्न भिन्न लक्षण बतलाते हैं :—

आदौ वनस्पतिश्चाथ वनस्पतिवपुस्ततः ।
वनस्पत्यादिकः कायिको वनस्पतिजीववाक् ।।२२।।
वनस्पत्या अमी भेदाश्चत्वारः कीर्तिता जिनैः ।
अन्तर्जीवयुतोबाह्यत्यक्तजीवो वनस्पतिः ।।२३।।
वनस्पतिवपुः स्मृतः छिन्नभिन्नं तृणादिकम् ।
वनस्पत्यङ्गयुक्तोऽङ्गीस्याद्वनस्पतिकायिकः ।।२४।।
प्राक्शरीरपरित्यागे वनस्पत्यङ्गसिद्धये ।
प्राणान्तेऽङ्गी गतिं गच्छन् स्याद्वनस्पतिजीववाक् ।।२५।।

अर्थः—वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव ऐसे वनस्पति के चार भेद जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये हैं। अभ्यन्तर भाग जीव युक्त है और बाह्य भाग जीव रहित है, ऐसे वृक्ष आदि (कटे हुए हरे वृक्ष) को वनस्पति कहते हैं ।।२२–२३।। छिन्नभिन्न किये हुए तृणादिक को वनस्पति काय माना गया है, जीव सहित वनस्पति काय को वनस्पति कायिक कहते हैं, और आयु के अन्त में पूर्व शरीर को त्याग कर जो जीव वनस्पति कायिकों में उत्पन्न होने के लिये विग्रहगति में जा रहा है, उसे वनस्पति जीव कहते हैं ।।२४–२५।।

अब इन पंच स्थावरों के चार चार भेदों में से कितने चेतन और कितने अचेतन हैं इसका निर्धारण करते हैं :—

एतेषां प्राक्तनो भेदःकिञ्चित्प्राणाश्रितो मतः ।
पृथ्व्यादीनां द्वितीयस्तु केवलं जीवदूरगः ।।२६।।

जीवयुक्तस्तृतीयश्चचतुर्थो भेद ईरितः ।
त्यक्तप्राग्वपुषां भाविपृथ्व्याद्यङ्गाय गच्छताम् ॥२७॥
एतान् भेदान् बुधैर्ज्ञात्वा सचेतनानचेतनान् ।
पृथ्व्यादीनां सुरक्षार्थं कर्तव्यं यत्नमञ्जसा ॥२८॥

अर्थः-इन पंच स्थावरों के चार चार भेदों में से प्रथम भेद किंचित् जीव युक्त होता है। द्वितीय भेद मात्र अजीव होता है, तृतीय भेद जीव सहित होता है, और चतुर्थ भेद में जीव पूर्व शरीर को छोड़ कर पृथ्वी आदि शरीर को धारण करने के लिये जाता है अतः यह चेतन ही है। इस प्रकार विद्वानों के द्वारा कहे हुये भेदों में चेतन अचेतन भेदों को जान कर पृथ्वी आदि पंच स्थावरों की रक्षा के लिए यत्न करना चाहिए ॥२६-२८॥

अब पृथ्वीकायिक जीवों में से मृदुपृथ्वीकायिक जीवों के भेदों का निरूपण करते हैं :—

मृत्तिका वालुका लोहं लवणं सागरादिजम् ।
ताम्रं रूप्यं स्वर्णं च त्रिपुषः सीसकं तथा ॥२९॥
हिङ्गुलं हरितालं च मनःशिलाथ सस्यकम् ।
अञ्जनं ह्यभ्रकं चाभ्रवालुकामी हि षोडश ॥३०॥
भेदा मृदुपृथ्वीकायात्मनां प्रोक्ता जिनागमे ।
इदानीं खरपृथ्वीनां भेदान् मण्यादिकान् ब्रुवे ॥३१॥

अर्थः—मिट्टी, बालुका, लोहा, समुद्र आदि में उत्पन्न होने वाला नमक, ताम्र, चाँदी, स्वर्ण, त्रिपुष (कथीर या रांगा), सीसा, हिंगुल, हरताल, मनःशिला, सस्ता, अञ्जन (नीलाथूथा या सुरमा), अभ्रक और भोडल ये सोलह भेद जिनागम में कोमल पृथ्वीकायिक जीवों के कहे गये हैं. अब खर पृथ्वी के मणि आदि भेदों को कहते हैं ॥२९-३१॥

अब खर पृथ्वी के भेदों का निरूपण करते हैं :—

प्रवालं शर्करा वज्रं शिलोपलं ततः परम् ।
कर्केतनमणिर्नाम्ना रजकाख्यो मणिस्ततः ॥३२॥
चन्द्रप्रभोऽथ वैडूर्यकोमणिः स्फटिको मणिः ।
जलकान्तो मणिःसूर्यकान्तश्च गैरिको मणिः ॥३३॥

चन्दनः पद्मरागाख्यो मणिर्मरकताह्वयः ।
वको मोचो मणिर्वैमसृणपाषाणसंज्ञकः ॥३४॥
एते विंशतिसद्भेदाः पृथ्वीकायमयात्मनाम् ।
खराख्याणां सुभव्यानां दयार्थं गणिभिर्मताः ॥३५॥

अर्थः—प्रवाल, शर्करा, हीरा, शिला, उपल (पत्थर), कर्कोतनमणि, रजकमणि, चन्द्रप्रभमणि, वैडूर्यमणि, स्फटिकमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, गैरिकमणि, चन्दनमणि, पद्मराग, मरकतमणि, वकमणि, मोचमणि, वैमसृण और पाषाण खर पृथ्वी स्वरूप पृथ्वीकायिक जीवों के ये बीस भेद भव्य जीवों के दया पालनार्थ गणधर देवों के द्वारा कहे गये हैं ॥३२–३५॥

अब पृथिवीकायिक पृथ्वी से बने हुए पर्वत एवं प्रासादों आदि का कथन करते हैं :–

रत्नप्रभादयः सप्तपृथ्व्यश्चैत्यद्रुमाखिलाः ।
मेर्वाद्याः पर्वताः सर्वे वेदिकातोरणादयः ॥३६॥
त्रिलोकस्थ विमानानि जम्ब्वाद्याः सकलाद्रुमाः ।
नृविद्येशसुराणां च प्रासादाः कमलानि च ॥३७॥
स्तूपरत्नाकराद्याये पृथ्वीकायमयाश्च ते ।
सर्वे ह्यन्तर्भवन्त्येषु पृथ्वीभेदेषु नान्यथा ॥३८॥
एतान् पृथ्वीमयान् जीवान् पृथ्वीकायाश्रितान् बहून् ।
सम्यग्ज्ञात्वा प्रयत्नेन रक्षन्तु साधवोऽनिशम् ॥३९॥

अर्थः–रत्नप्रभा आदि सातों पृथिवियाँ, सम्पूर्ण चैत्यवृक्ष, मेरु आदि सर्व पर्वत, वेदिकाएँ एवं तोरण आदि, त्रैलोक्यस्थित विमान, जम्बू आदि समस्त वृक्ष, मनुष्यों, विद्याधरों और देवों के प्रासाद, पद्म आदि सरोवरों में स्थित कमल, स्तूप और रत्नाकर आदि ये सब पृथ्वीकायमय हैं, और इन सबका अन्तर्भाव पृथ्वीकाय के भेदों में ही होता है, अन्य में नहीं। पृथ्वीकाय के आश्रित रहने वाले इन सब पृथ्वीमय जीवों को भली प्रकार जान कर सज्जन पुरुषों को अहर्निश इनकी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए ॥३६–३९॥

अब जलकायिक जीवों के भेदों का प्रतिपादन करते हैं :—

अवश्यायजलं रात्रिपश्चिमप्रहरोद्भवम् ।
हिमाख्यं जलकायं च जलबन्धनसम्भवम् ॥४०॥

महिकाख्यं जलं धूमाकाराम्बु च हरज्जलम् ।
स्थूलबिन्दुजलं चाणुः सूक्ष्मबिन्दुजलं तथा ।।४१।।
शुद्धाम्बुचन्द्रकान्तोत्थमुदकं निर्झरादिजम् ।
सामान्याम्बुघनाख्याम्भोऽब्धिद्रहमेघवातजम् ।।४२।।
सरित्कूपसरःकुण्डनिर्झराब्धिह्रदादयः ।
एष्वप्कायेषु सर्वेऽन्येऽन्तर्भवन्त्यम्बुकायिकाः ।।४३।।
एतानप्कायसद्भेदानप्कायाश्रितान् बहून् ।
जीवान् विज्ञाय यत्नेन पालयन्त्वात्मवत्सदा ।।४४।।

अर्थः—रात्रि के पिछले पहर में उत्पन्न होने वाला ओस जल, हिम नाम का जलकाय, मेघ जलकाय, कोहरे का जल, धूम आकार (धुन्ध) जल, डाभ की अणी पर स्थित जल, स्थूल बिन्दु जल, जलकण, सूक्ष्मबिन्दु जल, शुद्ध जल, चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न जल, झरनों आदि से उत्पन्न जल, सामान्य जल, घन जल (घनोदधि), द्रहजल, मेघ से उत्पन्न जल, घनवातज जल, नदी, कूप, तालाब, कुण्ड, झरना, समुद्र एवं सरोवर आदि सर्व जल का जलकाय में अन्तर्भाव होने से यह सब जलकायिक ही है। इन सब जलकाय के भेदों को तथा जलकाय के आश्रित रहने वाले असंख्यात जीवों को अपनी आत्मा के सदृश जानकर प्रयत्न पूर्वक निरन्तर उनकी रक्षा करना चाहिए ।।४०-४४।।

अब अग्निकायिक जीवों का प्रतिपादन करते हैं :—

अङ्गाराणि ज्वलज्ज्वालाह्यर्चिर्दीपशिखादिका ।
मुर्मराख्यो हि कार्षाग्निः शुद्धाग्निर्बहुभेदभाक् ।।४५।।
विद्युत्पाताग्निवज्राग्निसूर्यकान्तादिगोचरः ।
अग्निसामान्यरूपाग्निनिर्धूमो वाडवादिजः ।।४६।।
नन्दीश्वरमहाधूमकुण्डिकामुकुटादिजाः ।
अग्निकाया अमीष्वन्तर्भवन्त्यनलयोनिषु ।।४७।।
इमांस्तेजो मयान् जीवांस्तेजःकायान् श्रितान् परान् ।
विदित्वा सर्वयत्नेन रक्षन्तु मुनयोऽनिशम् ।।४८।।

अर्थः—अंगार रूप अग्नि, ज्वालाग्नि, अर्चि अग्नि, दीपशिखाग्नि, मुर्मराग्नि, कार्षाग्नि, और बहुत प्रकार की शुद्धाग्नि, विद्युत्पाताग्नि, वज्राग्नि, सूर्यकान्त आदि से उत्पन्न अग्नि, सामान्य अग्नि, निर्धूमाग्नि, वडवाग्नि, नन्दीश्वरद्वीपस्थ महाधूम कुण्डों की अग्नि तथा मुकुट आदि से उत्पन्न अग्नि,

अग्निकाय होने से इन सब अग्नियों का अनिलयोनियों में अन्तर्भाव हो जाता है। तेजकाय के आश्रित रहने वाले सर्व तेजकायिक जीवों को भली प्रकार जानकर मुनिजन इनकी अहर्निश प्रयत्न पूर्वक रक्षा करते हैं ॥४५–४८॥

अब वायुकायिक जीवों के स्थानों का वर्णन करते हैं :—

वातः सामान्यरूपश्चोद्भ्रमऊर्ध्वं भ्रमन् व्रजेत् ।
उत्कलिर्मण्डलिपृथ्वीलग्नो भ्रमन् प्रगच्छति ॥४९॥
गुञ्जावातो महावातो वृक्षादिभङ्गकारकः ।
घनोदधिश्च नाम्ना घनानिलस्तनुवातवाक् ॥५०॥
उदरस्थविमानाधारपृथ्व्यधस्तलाश्रिताः ।
त्रिलोकाच्छादका वाता अत्रैवान्तर्भवन्ति च ॥५१॥
एतान् वाताङ्गभेदांश्च जीवान् वातवपुः श्रितान् ।
ज्ञात्वा नित्यं प्रयत्नेन पालयन्तु स्वधीहितः ॥५२॥

अर्थः—सामान्य रूप वायु, उद्भ्रम वायु, ऊपर भ्रमण करने वाली वायु, उत्कलि वायु, मण्डल वायु, पृथ्वी स्पर्श कर भ्रमण करने वाली वायु, गुञ्जावात, वृक्षों आदि को नष्ट करने वाली महावायु, घनोदधि वायु, घन वायु, तनुवायु, उदरस्थ वायु, विमान जिसके आधार हैं, वह वायु, पृथ्वीतल के आश्रित वायु और त्रैलोक्य आच्छादक वायु, ये सर्व वायु इन्हीं पवनों में अन्तर्भूत होती हैं। ये सब भेद वायुकाय के कहे गये हैं। वायु कायिक जीव इसी वायुकाय के आश्रित रहते हैं, ऐसा जानकर विद्वज्जनों को इन्हें अपनी आत्मा के सदृश समझ कर नित्य ही इनकी दया का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए ॥४९–५२॥

अब वनस्पतिकायिक जीवों के भेद कहते हैं :—

असाधारणसाधारण भेदाभ्यां जिनागमे ।
कीर्तिता द्विविधाः संक्षेपाद्वनस्पतिकायिकाः ॥५३॥
प्रत्येकं द्विप्रकारास्ते साधारणेतराङ्गिनः ।
उदकाद्यंश्च जीवोऽथ सम्मूर्छिमद्विभेदतः ॥५४॥
मूलाग्रपोरकन्दस्कन्धबीजोद्भवदेहिनः ।
त्वक्पत्राणि प्रवालानि पुष्पाणि च फलान्यपि ॥५५॥
गुच्छागुल्मानि वल्ली च तृण पर्वादि कायिकाः ।
प्रत्येकादि चतुर्भेदानां सद्भेदा मता इमे ॥५६॥

अर्थ:—जिनागम में असाधारण (प्रत्येक) वनस्पतिकायिक और साधारण वनस्पतिकायिक के भेद से वनस्पति कायिक जीवों के संक्षेप से दो भेद कहे गये हैं ।।५३।। इनमें से असाधारण अर्थात् प्रत्येक वनस्पति सप्रतिष्ठित (साधारण सहित) और अप्रतिष्ठित (साधारण रहित) के भेद से दो प्रकार की है । (मिट्टी और) जल आदि के सम्बन्ध से होने वाली सम्मूर्च्छन जन्म वाली वनस्पतियाँ भी सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेद से दो प्रकार की होतीं हैं । मूल, अग्र, पोर, कन्द, स्कन्ध और बीज से उत्पन्न होने वाले वनस्पतिकायिक जीव, तथा त्वक् पत्र, प्रवाल, पुष्प, फल, गुच्छा, गुल्म, बल्ली, तृण और पर्व आदि प्रत्येक के वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव ये चार भेद माने गये हैं ।।५४-५६।।

अमीषां सुखबोधाय व्याख्यानमाह :—

येषां मूलं प्रादुर्भवति ते आर्द्रकहरिद्रादयः मूलजीवाः । येषामग्रं प्ररोहति ते कोरन्टगल्लिकादयः अग्रजीवाः । येषां पोरप्रदेशः प्ररोहति ते इक्षुवेत्रादयः पोरजीवाः । येषां कन्ददेशः प्रादुर्भवति ते कदलिपिण्डालुकादयः कन्दजीवाः । येषां स्कन्धदेशः प्रारोहति ते शल्यकी पालिभद्रपलाशादयः स्कन्धजीवाः । येषां क्षेत्रजलादि सामग्र्या प्ररोहस्ते यवगोधूमादयः बीजजीवाः । त्वक् वृक्षादि बहिर्वल्कलं सैवलं युतकादिकं । येषां पत्राण्येव भवन्ति न पुष्पाणि न फलानि तानि पत्राण्युच्यन्ते । पत्राणां पूर्वावस्था प्रवालः स्यात् । यासां वनस्पतीनां पुष्पाण्येव सन्ति न फलादीनि ताः पुष्पाणि निगद्यन्ते । येषां पुष्पेभ्यो विना फलानि जायन्ते ते द्रुमाः फलानि कथ्यन्ते । गुच्छाः बहूनां समुदाया एककालोद्भवाः । जातिमल्लिकादयः गुल्मानि । करञ्ज कन्थारिकादीनि वल्लीस्याम्मालत्यादिका । तृणानि नानाप्रकाराणि । पर्वग्रन्थिकयोर्मध्यवेत्रादि ।

अर्थ:—इन वनस्पतियों के भेदों का सुख पूर्वक बोध प्राप्त करने को कहते हैं :—

जिनकी मूल से उत्पत्ति होती है, वे मूल जीव हैं, जैसे :—अदरख, हल्दी आदि । जो अग्र (टहनी) से उत्पन्न होते हैं, वे अग्र जीव हैं । यथा-केतकी, गुलाब, आर्यका, मोगरा आदि । जो पर्व के प्रदेश (गांठ) से उत्पन्न होते हैं, वे पोर जीव हैं । यथा-ईख, बेंत आदि । जो कन्द से उत्पन्न होते हैं, वे कन्द जीव हैं । यथा-सकरकन्दी, पिण्डालू (सूरण) आदि । जिनकी उत्पत्ति स्कन्ध से होती है, वे स्कन्ध जीव हैं, यथा-सल्लकी (साल), कटकी, बड़, पीपल, पलाश, देवदारु आदि । जिन बीजों की भूमि एवं जल आदि सामग्री के सहयोग से उत्पत्ति होती है, वे बीज जीव हैं । यथा-जव, गेहूँ आदि । वृक्ष आदि की बाह्य छाल को त्वक् और युतक (काई) आदि को सेवल कहते हैं । जिसमें केवल पत्ते ही होते हैं, पुष्प और फल नहीं होते, उसे पत्र वृक्ष कहते हैं । पत्तों की पूर्व अवस्था को प्रवाल कहते हैं । जिन वनस्पतियों में मात्र पुष्प होते हैं, फल आदि नहीं होते, उसे पुष्प वनस्पति कहते हैं । पुष्प के बिना जिसमें केवल फल उत्पन्न होते हैं, उन्हें फल वृक्ष कहते हैं । एक समय में उत्पन्न

होने वाले बहुत के समुदाय को गुच्छा कहते हैं। मोगरा, मल्लिका आदि को गुल्म और करंज, कंथारी आदि को वल्ली कहते हैं। मालती आदिक नाना प्रकार के तृण हैं पर्व और ग्रन्थि के मध्य बेंत आदि होते हैं।

अब साधारण वनस्पति कायिक जीवों के लक्षण आदि कहते हैं:—

एते प्रत्येककाया: स्युः केचिच्चानन्तकायिकाः ।
केचिद्बीजोद्भवाः केचित् सम्मूर्छिका हि देहिनः ॥५७॥
नित्येतरनिकोताभ्यां द्विधा साधारणामताः ।
अनन्तकायिका जीवा अनन्तैकाक्ष संकुलाः ॥५८॥
यत्रैकोम्रियते प्राणी तत्रैवानन्तजन्मिनाम् ।
मरणं चैककालेन तत्समं ह्येककायतः ॥५६॥
यत्रैको जायते जीवस्तत्रोत्पत्तिर्भवेत्स्फुटम् ।
अनन्तदेहिनां सार्धं तेन तत्क्षणमञ्जसा ॥६०॥
ततस्तेऽनन्तजीवास्ताः प्रोक्ता अनन्तकायिकाः ।
युगपन्मरणोत्पत्तेरनन्तैकेन्द्रियात्मनाम् ॥६१॥
तीव्रमिथ्यादियुक्तैर्यैर्भ्रमद्भिर्दुर्भवाटवीम् ।
अनन्तां प्राणिभिर्घोरदुःकर्मग्रसितात्मभिः ॥६२॥
अनन्तकायवर्गेषु न त्रसत्वं कदाचन ।
प्राप्तं तेऽनन्तकायास्ताः मता नित्यनिकोतकाः ॥६३॥
अनन्तकायिका एते पञ्चभेदामता इति ।
जम्बूद्वीपादि दृष्टान्तैः स्कन्धा डरादयो जिनैः ॥६४॥

अर्थ:—ये पूर्व कथित जीव प्रत्येक काय हैं, इनमें कोई कोई अनन्तकाय हैं, कोई बीज से उत्पन्न होने वाले हैं, और कोई जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले हैं ॥५७॥ साधारणवनस्पति कायिक जीवों के नित्य निगोद और इतरनिगोद ये दो भेद हैं। ये अनन्तकायिक अर्थात् साधारण अनन्त एकेन्द्रिय जीव एक साथ (संकुला) बंधे हुये हैं ॥ ५८ ॥ साधारण जीवों में जहाँ एक जीव का मरण होता है, वहाँ एक काय होने से एक ही समय में एक साथ अनन्त जीवों का मरण होता है, और जहाँ एक जीव उत्पन्न होता है, वहीं उसी क्षण एक साथ अनन्त जीव जन्म लेते हैं ॥५६–६०॥ इन अनन्त एकेन्द्रिय जीवों का एक ही साथ मरण और एक ही साथ जन्म होता है, इसीलिए उन अनन्त जीवों के समूह को अनन्त-कायिक कहते हैं ॥६१॥ जो तीव्र मिथ्यात्व आदि से युक्त और घोर दुःकर्मों से ग्रसित हैं, ऐसे अनन्ता-

नन्त प्राणी भयावह संसार रूपी अटवी में भ्रमण करते हैं ।।६२।। अनन्तकाय जीवों के समूह में जो जीव कभी भी त्रस पर्याय को प्राप्त नहीं करते उन्हें नित्यनिगोदिया कहते हैं। इन अनन्तकायिक जीवों के पाँच भेद माने गये हैं, जो जिनेन्द्र के द्वारा जम्बूद्वीप आदि के दृष्टान्तों से स्कन्ध, अंडर, आवास पुलवि और शरीर आदि के रूप में प्रतिपादन किये गये हैं ।।६३-६४।।

अब जम्बूद्वीप आदि के दृष्टान्तों द्वारा स्कन्ध, अण्डर आदि का प्रतिपादन करते हैं :-

जम्बूद्वीपे यथा क्षेत्रं भारतं भारतेऽस्ति च ।
कोशलः कोशले देशेऽयोध्यायां सौधपङ्क्तयः ।।६५।।
तथा स्कन्धा असंख्येयलोकप्रदेशमात्रकाः ।
एकैकस्मिन् पृथक् स्कन्धे ह्यण्डरा गदिता जिनैः ।।६६।।
असंख्यलोकतुल्याश्चैकैकस्मिनण्डरे स्मृताः ।
आवासेभ्यो ह्यसंख्यातलोकमात्रा न संशयः ।।६७।।
एकैकस्मिन् तथावासे प्रोक्ता पुलवयोऽखिलाः ।
असंख्यलोकमाना एकैकस्मिन् पुलवौ भवे ।।६८।।
असंख्यातशरीराणि लोकमानानि सन्ति च ।
एकैकस्मिन्निकोतानां शरीरे प्राणिनो ध्रुवम् ।।६९।।
अतीतानन्तकालोत्थानन्तसिद्धेभ्य एव च ।
सर्वेभ्य आगमे प्रोक्ता बाण्यानन्तगुणा जिनैः ।।७०।।

अर्थ :—जैसे जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र है, भरतक्षेत्र में कोशल देश है, कोशल देश में अयोध्या नगरी है और एक एक अयोध्या नगरी में अनेक प्रासाद (महल) पंक्तियाँ हैं, उसी प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण पुद्गल परमाणुओं का एक स्कन्ध और एक एक स्कन्ध में असंख्यात लोक, असंख्यात लोक प्रमाण अण्डर जिनेन्द्र द्वारा कहे गये हैं ।।६५-६६।। पृथक् पृथक् एक एक अण्डर में असंख्यात-असंख्यात लोक प्रमाण आवास हैं, इसमें कोई संशय नहीं है ।।६७।। पृथक् पृथक् एक एक आवास में असंख्यातलोक-असंख्यातलोक प्रमाण पुलवियाँ हैं, एक एक पुलवि में असंख्यातलोक असंख्यातलोक प्रमाण शरीर हैं और पृथक् पृथक् एक एक निगोद शरीर में जिनेन्द्र भगवान के द्वारा आगम में अतीत और आगामी अनन्तकाल में होने वाले सर्व अनन्त सिद्धों के अनन्तगुणी जीव राशि कही गई है। अर्थात् अतीत और अनागत में होने वाली सर्व सिद्ध राशि का जितना प्रमाण है, उससे अनन्तगुणे जीव एक निगोद शरीर में रहते हैं ।।६८-७०।।

अब बादर अनन्तकाय जीवों का कथन करते हैं :—

शैवालं पणकंनाम केणुग: कवगस्तथा ।
पुष्पिकेत्यादयः सन्त्यनन्तकायाश्च बादराः ।।७१।।

अस्य भाष्यमाह :—

शैवालं जलगतहरितरूपं, पणकं भूमिगत शैवालं, इष्टकादि प्रभवं च, केणुकः आलम्बक-छत्राणि शुक्लहरितनीलरूपाणि अपस्करोद्भवानि कवगः शृंगालवक्रछत्राणि । पुष्पिका आहारकञ्जिकादि गताः । इत्याद्याः स्थूला अनन्तकायिकाः स्युः ।।

अर्थः—सैवाल, पणक, केणुग, कवग और पुष्पक इत्यादि ये सब बादर अनन्तकायिक वनस्पति हैं ।।७१।।

अब इसी को भाष्य रूप में कहते हैं :—

जल में जो हरी हरी काई होती है, उसे सैवाल, भूमि में जो हरी हरी काई होती है उसे पणक, ईंट आदि में जो उत्पन्न होती है उसे केणुक, श्वेत, हरे और नील वर्ण के छत्र सदृश को आलम्बक (कुकुरमुत्ता), मल या कचरे में उत्पन्न होने वाले को कवग, वक्र छत्र को शृंगाल कहते हैं (एक प्रकार का कुकुरमुत्ता जिसकी डंठल टेढ़ी होती है) । आहार कांजी आदि के ऊपर उत्पन्न होने वाली फफूंदी को पुष्पिका कहते हैं । इस प्रकार सैवालादि अनेक बादर अनन्तकायिक वनस्पतियाँ होतीं हैं ।।

अब साधारण, प्रत्येक, सूक्ष्म एवं बादर जीवों के लक्षण और उनके निवास क्षेत्र आदि का कथन करते हैं :—

गूढानि स्युः सिरासन्धि पर्वाणि जन्मिनां भुवि ।
येषां स्यात्समभङ्गं चाहोरुकं सूत्रसन्निभम् ।।७२।।

छिन्नभिन्नशरीराणि प्रारोहन्त्यप्यनन्ततः ।
तेऽत्र साधारणा जीवाः प्रत्येकास्तद्विपर्ययाः ।।७३।।

एते स्युर्बादराजीवाः क्वचिल्लोके क्वचिन्न च ।
पृथ्व्यादि कायमापन्नाः पञ्चधाः स्थावराः परे ।।७४।।

सूक्ष्माः पृथ्व्यादयः पञ्चस्थावरा दृष्टयगोचराः ।
एते तिष्ठन्ति सर्वत्र प्रपूर्य भुवनत्रयम् ।।७५।।

वनस्पत्यङ्गिनोऽन्ये च स्थावराः सूक्ष्मबादराः ।
अनन्ताश्चिविधा एते रक्षणीयाः सदाबुधैः ॥७६॥

न प्रतिस्खलनं येषां गत्यादौ सूक्ष्मदेहिनाम् ।
पृथ्वीजलाग्निवाताद्यैर्जातु ते सूक्ष्मकायिकाः ॥७७॥

प्रतिस्खलन्ति ये स्थूलाः स्थावरा गमनादिषु ।
केचिद्दृश्या अदृश्यास्ते बादराः श्रीजिनैर्मताः ॥७८॥

अर्थः—जिनकी शिरा–बहिः स्नायु, सन्धि–रेखाबन्ध और पर्व–गांठ अप्रगट हों और जिन वनस्पतियों का भंग करने पर समान भंग हो, दोनों भंगों में परस्पर सूत्र–तन्तु न लगा रहे तथा शरीरों को छिन्न भिन्न कर देने पर भी जो ऊग जाते हैं तथा वृद्धि आदि को प्राप्त होते हैं ऐसे अनन्तकायिक वे सब जीव यहाँ पर साधारण कहे गये हैं। जो जीव इन चिह्नों से रहित हैं, वे प्रत्येक (अप्रतिष्ठित) वनस्पतिकायिक हैं ॥७२–७३॥ पृथ्वी आदिक पांच कायों को धारण करने वाले पांचों बादर स्थावर जीव इस लोक में कहीं हैं और कहीं नहीं हैं, किन्तु दृष्टि अगोचर पृथ्वीकायादि पांचों सूक्ष्म स्थावर जीव तीनों लोकों को परिपूर्ण करते हुए सर्वत्र रहते हैं ॥७४–७५॥ विद्वानों को अन्य अनन्त प्रकार के सूक्ष्म और बादर वनस्पतिकायिक व स्थावर जीवों की रक्षा करना चाहिए ॥७६॥ सूक्ष्मनामकर्म के उदय से युक्त पृथ्वी, जल अग्नि और वायु कायिक आदि के द्वारा जिन जीवों की गति आदि कभी भी रुकती नहीं है उसे सूक्ष्मकायिक कहते हैं ॥७७॥ जिन स्थावर जीवों की गति आदि दूसरों से रुकती है और दूसरों को रोकती है, उन्हें जिनेन्द्र भगवान् ने बादर जीव कहा है इनमें कुछ जीव दृष्टि गोचर होते हैं कुछ दृष्टि अगोचर रहते हैं ॥७८॥

अब त्रस जीवों के भेद आदि कहते हैं :—

प्राणिनो विकलाक्षाश्च सकलाक्षास्ततः परे ।
इत्यमी द्विविधाः प्रोक्तास्त्रसा उद्वेगिनोऽसुखात् ॥७९॥

द्वित्रिचतुर्ह्यक्षभेदाद्यैस्त्रिविधा विकलेन्द्रियाः ।
स्युः कृम्याद्या नृगीर्वाणतिर्यञ्चः सकलेन्द्रियाः ॥८०॥

कृमयः शुक्तिकाः शङ्खाः बालकाश्च कपर्दकाः ।
जलूकाद्या मताः शास्त्रे द्वीन्द्रिया द्वीन्द्रियाङ्किताः ॥८१॥

कुन्थवो मत्कुणा यूका वृश्चिकाश्च पिपीलिकाः ।
उद्देहिका हि गोम्याद्यास्त्रीन्द्रियास्त्र्यक्षसंयुता: ॥८२॥

मशका भ्रमरा दंशाः पतङ्गा मधुमक्षिकाः ।
मक्षिका कीटकाद्याः स्युश्चतुरिन्द्रियजातयः ॥८३॥
जलस्थलनभो गामिनस्तिर्यञ्चो नरामराः ।
नारकाः श्रीजिनैः प्रोक्ताः पञ्चाक्षाः सकलेन्द्रियाः ॥८४॥
एतांस्त्रसाङ्गिनः सम्यग्ज्ञात्वा गृहितपोधनाः ।
पालयन्तु समित्याद्यैः सर्वत्र स्वमिवान्वहम् ॥८५॥
इति पृथ्व्यादिकायानां जातिभेदान् जिनागमात् ।
प्राख्यायातः सतां वक्ष्ये कुलानि विविधानि च ॥८६॥

अर्थः—दुःख से उद्वेलित त्रस जीव विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार के होते हैं ॥७९॥ इनमें से कृमि आदि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरीन्द्रिय के भेद से विकलेन्द्रिय जीव तीन प्रकार के होते हैं। मनुष्य, देव और तिर्यञ्च ये सकलेन्द्रिय त्रस हैं ॥८०॥ कृमि, सीप, शंख, बालुका, कौंडी और जोंक आदि दो इन्द्रियों से चिह्नित इन जीवों को द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं ॥८१॥ कुन्थु, खटमल, जूँ, बिच्छू, चींटी, दीमक और कानखजूरे आदि तीन इन्द्रियों से युक्त जीवों को त्रेन्द्रिय जीव कहते हैं॥ ८२ ॥ मच्छर, भौंरा, डांस, पतङ्गा, मधुमक्खी, मक्खी और कीटक आदि चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं ॥८३॥ जल-स्थल एवं नभचर तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारकी ये जीव पंचेन्द्रिय होते हैं, इन्हें ही जिनेन्द्र भगवान ने सकलेन्द्रिय कहा है ॥८४॥ इस प्रकार त्रस जीवों के भेद प्रभेदों को भली प्रकार जान कर श्रावकों एवं तपोधनों को समितियों आदि के द्वारा अपनी आत्मा के सदृश ही सर्वत्र त्रस जीवों की रक्षा करना चाहिए ॥८५॥ इस प्रकार जिनागम से पृथ्वीकाय आदि छह काय के जीवों के जाति भेदों को कह कर अब अनेक प्रकार के कुल भेदों को कहूँगा ॥८६॥

अब भिन्न भिन्न जीवों की कुलकोटियाँ कहते हैं :—

द्वाविंशकोटिलक्षाणि पृथ्वीनां स्युः कुलानि च ।
अप्कायासु मतां सप्तकोटी लक्षाणि तेजसाम् ॥८७॥
कुलत्रिकोटिलक्षाणि वायूनां च कुलान्यपि ।
स्युः सप्तकोटिलक्षाणि वनस्पत्यङ्गिनां तथा ॥८८॥
कुलानि कोटिलक्षाणि ह्यष्टाविंशतिरेव हि ।
द्वीन्द्रियाणां तथा सप्तकोटीलक्षकुलानि च ॥८९॥
त्रीन्द्रियाणां भवन्त्यष्टकोटिलक्षकुलान्यपि ।
तुर्याक्षाणां नवैव स्युः कोटिलक्षकुलानि च ॥९०॥

अम्बराणां हि लक्षाणि सार्धद्वादशकोटयः ।
कुलानि पक्षिणां द्वादशकोटिलक्षकानि च ॥९१॥
दशैव कोटिलक्षाणि कुलानि स्युश्चतुष्पदाम् ।
नवैव कोटिलक्षाण्युरः सर्पाणां कुलानि च ॥९२॥
षड्विंशकोटिलक्षाणि कुलानि स्युः सुधाभुजाम् ।
पञ्चविंशतिकोटी लक्षाणि नारकजन्मिनाम् ॥९३॥
आर्यम्लेच्छ नभोगामिमनुष्याणां कुलानि च ।
द्विसप्तकोटिलक्षाणीति सर्वेषां च देहिनाम् ॥९४॥
एकैवकोटिकोटीनवतिः सार्धनवाधिका ।
कोटीलक्षाणि सिद्धान्ते कुलसंख्या जिनोदिता ॥९५॥
इत्यङ्गकुलजात्यादीन् सम्यग्ज्ञात्वा बुधोत्तमैः ।
षड्ङ्गिनां दया कार्या धर्मरत्नखनी सदा ॥९६॥

अर्थः—(शरीर के भेदों को कारणभूत नाना प्रकार की नोकर्म वर्गणाओं को कुल कहते हैं) पृथ्वीकायिक जीवों की बाईस लाख कोटि, जलकायिक जीवों की सात लाख कोटि, अग्निकायिक जीवों की तीन लाख कोटि, वायुकायिक जीवों की सात लाख कोटि, वनस्पतिकायिक जीवों की २८ लाख कोटि, द्वीन्द्रिय जीवों की सात लाख कोटि, त्रीन्द्रिय जीवों की आठ लाख कोटि, चतुरिन्द्रिय जीवों की ९ लाख कोटि, जलचर जीवों की साढ़े बारह लाख कोटि, पक्षियों की बारह लाख कोटि, चतुष्पद (पशुओं) की दश लाख कोटि, छाती के सहारे चलने वाले सर्प आदिकों की नव लाख कोटि, देवों की २६ लाख कोटि, नारकी जीवों की २५ लाख कोटि तथा आर्य मनुष्य, म्लेच्छ मनुष्य और विद्याधरों (इन सब) की चौदह लाख कोटि, इस प्रकार सम्पूर्ण कुल कहे गये हैं ॥८७–९४॥ जिनेन्द्र भगवान ने आगम में पृथिवीकायिक से लेकर मनुष्य पर्यन्त सम्पूर्ण संसारी जीवों के कुल कोटि की संख्या का योग एक करोड़ निन्यानवे लाख पचास हजार कोटि (१९९५००००००००००००) कहा है ॥९५॥ इस प्रकार विद्वानों को जीवों के कुल और जाति आदि के भेदों को भलीप्रकार जान कर धर्म रूपी रत्नों की खान के सदृश निरन्तर छह काय जीवों की दया में उपक्रम करना चाहिए ॥९६॥

अब योनियों के भेद, प्रभेद, आकार और स्वामी कहते हैं :—

सचित्ताचित्तमिश्राख्याः शीतोष्णमिश्रयोनयः ।
संवृता विवृता मिश्राश्चेत्येता नवयोनयः ॥९७॥

देवानां नारकाणां चाचित्तयोनिर्विचेतना ।
गर्भजानां सचित्ताचित्तयोनिश्चेतनेतरा ॥९८॥
एकाक्षद्वीन्द्रियाणां च त्र्यक्षतुर्येन्द्रियात्मनाम् ।
नानापञ्चाक्षसम्मूर्च्छकानां केषाञ्चिदेव च ॥९९॥
सचित्तैकास्तिकेषाञ्चिदचित्तायोनिरञ्जसा ।
केषाञ्चिन्मिश्रयोनिश्चेति त्रिधा योनयो मताः ॥१००॥
देवानां नारकाणां च केषां चिच्छीत योनयः ।
उष्णयोनिश्च केषां चिदिति द्विविध योनयः ॥१०१॥
तेजसामुष्णयोनिः स्याच्छीतयोनिर्जलाङ्गिनाम् ।
शेषाणां पृथिवीवायुवनस्पतिशरीरिणाम् ॥१०२॥
एकद्वित्रिचतुः पञ्चाक्षगर्भेतरजन्मिनाम् ।
पृथगेकैक रूपेण शीताद्याःस्युस्त्रियोनयः ॥१०३॥
नारकैकाक्षदेवानां संवृत्तायोनिरस्ति च ।
विवृता विकलाक्षाणां मिश्रा सा गर्भजन्मिनाम् ॥१०४॥
पुनर्गर्भाङ्गियोनीनां शुभाशुभोभयात्मनाम् ।
सविशेषास्त्रिधा योनीर्वक्ष्ये योन्यघहानये ॥१०५॥
शङ्खावर्ताह्वया योनिः पराकूर्मोन्नताभिधा ।
तृतीया वंशपत्राख्यात्रेति त्रिविधयोनयः ॥१०६॥
तीर्थेशाश्चक्रिणो रामा वासुदेवाश्चतद्द्विषः ।
कूर्मोन्नतमहायोनौ जायन्ते स्फटिकोपमे ॥१०७॥
वंशपत्राख्य योनौ चोत्पद्यन्ते भोगभूमिजाः ।
द्वियोन्योः प्राणिनोऽन्ये शङ्खावर्तवंशपत्रयोः ॥१०८॥
शङ्खावर्तकुयोनौ च नियमेन विनश्यति ।
गर्भोऽशुभोऽङ्गिनामेतद्योनीनां लक्षणं भवेत् ॥१०९॥

अर्थः—सचित्त, अचित्त एवं सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण एवं शीतोष्ण, संवृत, विवृत एवं संवृत-विवृत (मिश्र) इस तरह योनियाँ नौ प्रकार की हैं ॥९७॥ देव और नारकियों की योनियाँ आत्मप्रदेशों से रहित अचित्त होती हैं, तथा गर्भज जीवों के सचित्ताचित्त (मिश्र) योनि होती है ॥९८॥ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छन जन्म वाले पंचेन्द्रिय जीवों में से किन्हीं जीवों की सचित्त

योनि है, किन्हीं की अचित्त योनि है और किन्हीं जीवों के सचित्ताचित्त (मिश्र) योनि है। इस प्रकार-सम्मूर्च्छन जन्म वालों के तीनों प्रकार की योनियाँ मानी गई हैं ॥९९-१००॥ देव और नारकियों में किन्हीं की शीत योनियाँ, किन्हीं की उष्ण योनियाँ और किन्हीं की शीतोष्ण योनियाँ होती हैं ॥१०१॥ अग्निकायिक जीवों की उष्ण योनि, जलकायिक जीवों की शीत योनि होती है। शेष पृथ्वी, वायु और वनस्पतिकायिक जीवों के तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और सम्मूर्च्छन जन्म वाले पंचेन्द्रिय जीवों के पृथक् पृथक् एक एक रूप से शीत आदि तीनों योनियाँ होती हैं। अर्थात् किन्हीं जीवों के शीत किन्हीं के उष्ण और किन्हीं के मिश्र इस प्रकार तीनों योनियाँ होती हैं ॥१०२-१०३॥ देव, नारकी और एकेन्द्रिय जीवों के संवृत योनि होती है। विकलेन्द्रिय जीवों के विवृत (प्रगट) योनि और गर्भज जीवों के नियम से संवृत-विवृत (मिश्र) योनि होती है ॥१०४॥ इसके पश्चात् योनि सम्बन्धी पाप नाश के लिए शुभ अशुभ कर्मोदय से युक्त गर्भज जीवों के विशेषता पूर्वक तीन प्रकार की योनियाँ कहूँगा ॥१०५॥ प्रथम शंखावर्त, द्वितीय कूर्मोन्नित और तृतीय वंशपत्र नामक तीन प्रकार की योनियाँ होती हैं ॥१०६॥ स्फटिक की उपमा को धारण करने वाली कूर्मोन्नित नाम की महायोनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव उत्पन्न होते हैं ॥ १०७ ॥ वंशपत्र नाम की योनि में भोग-भूमिज और शंखावर्त एवं वंशपत्र इन दोनों में कर्मभूमिज आदि अन्य साधारण मनुष्य जन्म लेते हैं, किन्तु शंखावर्त नामक कुयोनि में नियम से गर्भ का विनाश होता है क्योंकि वह गर्भ अशुभ होता है। इस प्रकार जीवों की इन योनियों का लक्षण कहा है ॥१०८-१०९॥

अब जीवों के शरीरों की अवगाहना का प्रतिपादन करते हैं :—

पृथ्व्यप्तेजोमरुत्कायानां सूक्ष्मबादरात्मनाम् ।
अङ्गुलस्याप्यसंख्यातभागतुल्यं वपुर्भवेत् ॥११०॥
सूक्ष्मापर्याप्तजातस्य निकोतस्याङ्गिनो मतम् ।
तृतीये समये सर्वजघन्याङ्गं जगत्त्रये ॥१११॥
सर्वोत्कृष्टशरीरं स्यान्मत्स्यानां महतां भुवि ।
तयोर्मध्ये परेषां स्युर्नाना देहानि देहिनाम् ॥११२॥

अर्थ:—सूक्ष्म और बादर पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक जीवों के शरीर की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है ॥११०॥ त्रैलोक्य में सर्व जघन्य अव-गाहना सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के उत्पन्न होने के तीसरे समय में होती है और शरीर की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यों के होती है। इन दोनों (जघन्योत्कृष्ट) के बीच में अन्य जीवों के शरीर की मध्यम अवगाहना विविध प्रकार की होती है ॥१११-११२॥

अब जीवों के संस्थानों का कथन करते हैं :—

पृथ्व्यङ्गिनां च संस्थानं मसूरिकाकणाकृतिः ।
अप्कायानां हि संस्थानं दर्भाग्रबिन्दुसन्निभम् ।।११३।।
तेजः कायात्मनां तत् स्यात् सूचीकलापसम्मितम् ।
संस्थानं वायुकायानां पताकाकारमेव च ।।११४।।
समादिचतुरस्रं च न्यग्रोधस्वातिकुब्जकाः ।
वामनाख्यं हि हुण्डाख्यं संस्थानानीति षड्भुवि ।।११५।।
मनुष्याणां च पञ्चाक्षतिरश्चां सन्ति तानि षट् ।
देवानामादिसंस्थानं नारकाणां हि हुण्डकम् ।।११६।।
द्वित्रितुर्येन्द्रियाणां च सर्वेषां हरिताङ्गिनाम् ।
अनेकाकारसंस्थानं हुण्डाख्यं स्याद् विरूपकम् ।।११७।।

अर्थः—पृथिवीकायिक जीवों के शरीर का आकार मसूर के कण सदृश, जलकायिक जीवों के शरीर का आकार डाभ के अग्रभाग पर रखी हुई जलबिन्दु के सदृश, अग्निकायिकों का खड़ी सुइयों के समूह सदृश और वायुकायिक जीवों के शरीर का संस्थान ध्वजा के सदृश होता है ।।११३–११४।। समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक ये छह संस्थान संसारी जीवों के होते हैं ।।११५।। मनुष्यों और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के छहों संस्थान होते हैं। देवों के समचतुरस्र एवं नारकियों के हुण्डक संस्थान ही होते हैं ।।११६।। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के तथा सम्पूर्ण वनस्पतिकायिक जीवों के विविध आकारों को लिए हुए विरूप आकार वाला हुण्डक संस्थान होता है ।।११७।।

अब संसारी जीवों के संहननों का विवेचन करते हैं :—

म्लेच्छविद्येशमर्त्यानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियात्मनाम् ।
कर्मभूजतिरश्चां च सन्ति संहननानि षट् ।।११८।।
असंज्ञिविकलाक्षाणां लब्ध्यपर्याप्तदेहिनाम् ।
अशुभं चान्तिमं हीनं षष्ठं संहननं भवेत् ।।११९।।
वज्रर्षभादिनाराचं वज्रास्थिमयवेष्ठितम् ।
आद्यं च वज्रनाराचं वज्रास्थिजं द्वितीयकम् ।।१२०।।
नाराचं त्रीणि चेमानि सन्ति संहननानि च ।
परिहारविशुद्ध्याख्यसंयमाप्तमुनीशिनाम् ।।१२१।।

चतुर्थमर्धनाराचं कीलिकाख्यं च पञ्चमम् ।
असम्प्राप्तासृपाद्यादिकं त्रिसंहननानि च ॥१२२॥
इमानि स्युः स्फुटं कर्मभूमिजद्रव्ययोषिताम् ।
भोगभूमिजनुस्त्रीणामाद्यं संहननं परम् ॥१२३॥
मिथ्यात्वाद्यप्रमत्तान्तगुणस्थानेषु सप्तसु ।
प्रवर्तमानजीवानां सन्ति संहननानि षट् ॥१२४॥
अपूर्वकरणाभिख्येऽनिवृत्तिकरणाह्वये ।
सूक्ष्मादिसाम्परायाख्ये ह्युपशान्तकषायके ॥१२५॥
श्रेण्यामुपशमाख्यायां तिष्ठतां योगिनां पृथक् ।
त्रीणि संहननानि स्युरादिमानि दृढानि च ॥१२६॥
अपूर्वकरणाख्ये चानिवृत्तिकरणाभिधे ।
सूक्ष्मादिसाम्परायाख्ये क्षीणकषायनामनि ॥१२७॥
सयोगे च गुणस्थानेऽत्राद्यं संहननं भवेत् ।
केवलं क्षपकश्रेण्यारोहणकृतयोगिनाम् ॥१२८॥
अयोगिजिननाथानां देवानां नारकात्मनाम् ।
आहारकमहर्षीणामेकाक्षाणां वपूंषि च ॥१२९॥
यानि कार्मणकायानि व्रजतां परजन्मनि ।
तेषां सर्वशरीराणां नास्ति संहननं क्वचित् ॥१३०॥

अर्थः—म्लेच्छ मनुष्यों, विद्याधरों, मनुष्यों, संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों और कर्मभूमिज तिर्यंचों के छहों संहनन होते हैं ॥११८॥ असंज्ञी तिर्यंचों के, विकलेन्द्रिय जीवों के और लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के अन्तिम असम्प्राप्तसृपाटिका नाम का छठवाँ अशुभ संहनन होता है ॥ ११९ ॥ वज्रमय वृषभ, कीलें एवं अस्थि से युक्त और वज्रमय वेष्टन से वेष्टित पहिला वज्रर्षभनाराच संहनन, वज्रमय नाराच (कीलों) व अस्थियों से युक्त दूसरा वज्रनाराच संहनन है और तीसरा नाराच संहनन है। ये तीनों संहनन परिहार विशुद्धि संयम से युक्त मुनिराजों के होते हैं ॥१२०–१२१॥ चौथा अर्धनाराच, पांचवाँ कीलक और छठवाँ असम्प्राप्तसृपाटिका ये तीनों संहनन कर्मभूमिज द्रव्य वेदी स्त्रियों के होते हैं। भोगभूमिज मनुष्यों और स्त्रियों के आदि का एक उत्कृष्ट संहनन होता है ॥१२२–१२३॥ मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थानों में प्रवर्तमान जीवों के छहों संहनन होते हैं ॥१२४॥ उपशम श्रेणी गत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय और उपशान्तकषाय गुणस्थानों में प्रवर्तमान मुनिराजों

के आदि के तीन दृढ़ संहननों में से कोई एक होता है। क्षपक श्रेणीगत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलि गुणस्थानों में प्रवर्तमान मुनिराजों के आदि का मात्र एक वज्रर्षभनाराच संहनन ही होता है ॥१२५-१२८॥ अयोगी जिनों के, देवों के, नारकियों के, आहारक शरीरी महा ऋषिओं के एकेन्द्रिय जीवों के और आगामी पर्याय में जन्म लेने के लिए विग्रह गति में जाने वाले कार्मणकाय युक्त जीवों के संहनन नहीं होता। अर्थात् इन जीवों का शरीर छहों संहननों से रहित होता है ॥१२९-१३०॥

अब संसारी जीवों के वेदों का कथन करते हैं :—

एकाक्षविकलाक्षाणां सर्वेषां नारकात्मनाम् ।
सम्मूर्छनजपञ्चाक्षाणां वेदैको नपुंसकः ॥१३१॥
भोगभूमिभवार्याणां चतुर्विधसुधाभुजाम् ।
विश्वानां भवतो वेदौ द्वौ स्त्रीपुंसंज्ञकौ भुवि ॥१३२॥
शेषाणां गर्भजानां च तिरश्चां मनुजात्मनाम् ।
स्त्रीपुंनपुंसकाभिख्याः सन्ति वेदास्त्रयः पृथक् ॥१३३॥

अर्थः—सम्पूर्ण एकेन्द्रिय जीवों के, विकलेन्द्रिय जीवों के, नारकी जीवों के और सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीवों के एक नपुंसक वेद ही होता है ॥१३१॥ भोगभूमिज आर्यों के तथा चारों निकायों के देवों के स्त्री और पुंवेद नाम वाले दो ही वेद होते हैं ॥१३२॥ शेष सम्पूर्ण मनुष्यों एवं तिर्यञ्च जीवों के पृथक् पृथक्, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद नाम के तीनों वेद होते हैं ॥१३३॥

अब जीवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का प्रतिपादन करते हैं :—

मृदुपृथ्वीशरीराणामुत्कृष्टमायुरञ्जसा ।
द्विषड्वर्षसहस्राणि खरपृथिवीमयात्मनाम् ॥१३४॥
द्वाविंशतिसहस्राणि वर्षाणां जीवितं परम् ।
सप्तसहस्रवर्षाण्यप्कायानां सुत्कृजीवितम् ॥१३५॥
तेजोमयकुकायानामायुर्दिनत्रयं भवेत् ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि ह्यायुर्वाताङ्गिनां परम् ॥१३६॥
दशवर्षसहस्राण्यायुर्वनस्पति देहिनाम् ।
वर्षाणि द्वादशैवायुः प्रवरं द्वीन्द्रियाङ्गिनाम् ॥१३७॥
त्रीन्द्रियाणां तथैकोनपञ्चाशद्दिनजीवितम् ।
षण्मासप्रमितायुष्कं चतुरिन्द्रियजन्मिनाम् ॥१३८॥

मत्स्यानां परमायुः स्यात्पूर्वकोटिप्रमाणकम् ।
सरीसृपाङ्गिनामायुर्नवपूर्वाङ्गसम्मितम् ॥१३९॥
द्वासप्ततिसहस्राब्दप्रममायुश्चपक्षिणाम् ।
उरगाणां द्विचत्वारिंशत्सहस्राब्दजीवितम् ॥१४०॥
एकाक्षद्वित्रितुर्याक्षाणां जघन्यायुरिष्यते ।
कृताष्टादशभागानामुच्छ्वासस्यैक भागकः ॥१४१॥
संज्ञिनामल्पमृत्यादिपुलापुण्यनृणां भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमायुष्यं सर्वजघन्यमत्र च ॥१४२॥

अर्थः—मदु पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष की, खरपृथ्वीकायिक जीवों की बाईस हजार वर्ष की, जलकायिक जीवों की उत्कृष्टायु सात हजार वर्ष की, अग्निकायिक जीवों की तीन दिन की और वायुकायिक जीवों की तीन हजार वर्ष की उत्कृष्ट आयु है ॥१३४-१३६॥ वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु दश हजार वर्ष की, द्वीन्द्रिय जीवों की बारह वर्ष, त्रेन्द्रिय जीवों की उन्चास (४९) दिन की और चतुरिन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु छह मास प्रमाण होती है ॥१३७-१३८॥ महामत्स्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व की, सरीसृप जीवों की नवपूर्वांग अर्थात् सात करोड़ ५६ लाख वर्षों की, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्षों की और सर्पों की ब्यालीस हजार वर्षों की उत्कृष्ट आयु होती है ॥१३९-१४०॥ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों की जघन्य आयु श्वांस के अठारह भागों में से एक भाग प्रमाण होती है ॥१४१॥ गर्भज संज्ञी जीवों की अल्पायु और पुन्य हीन गर्भज मनुष्यों की सर्व जघन्य आयु मात्र अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की होती है ॥१४२॥

नोट :—लब्ध्यपर्याप्तक, संज्ञी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों की जघन्यायु श्वास के अठारहवें भाग होती है ।

अब स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों की आकृति दर्शाते हैं :—

श्रोत्रेन्द्रियस्य संस्थानं यवनालसमाकृतिः ।
चक्षुरिन्द्रियसंस्थानं वृत्तं मसूरिकासमम् ॥१४३॥
संस्थानं घ्राणस्यास्त्यतिमुक्तपुष्पसन्निभम् ।
जिह्वेन्द्रियस्य संस्थानमर्धचन्द्रसमानकम् ॥१४४॥
स्पर्शेन्द्रियसंस्थानमनेकाकारमस्ति च ।
समादिचतुरस्रादि भेदभिन्नं च षड्विधम ॥१४५॥

अर्थः—कर्णेन्द्रिय का आकार यव की नाली के सदृश, चक्षुरिन्द्रिय का आकार मसूर सदृश (गोल) घ्राणेन्द्रिय का आकार तिल के पुष्प सदृश और जिह्वा इन्द्रिय का आकार अर्ध चन्द्र सदृश कहा गया है ।।१४३-१४४।। स्पर्शनेन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार का होता है क्योंकि समचतुरस्र आदि के भेदों से संस्थान छह प्रकार के होते हैं ।।१४५।।

अब इन्द्रियों के भेद प्रभेद कहते हैं :—

द्रव्यभावविभेदाभ्यामिन्द्रियं द्विविधं स्मृतम् ।
अन्तर्निवृत्ति बाह्योपकरणाद्द्रव्यखं द्विधा ।।१४६।।
लब्ध्युपयोग भेदाभ्यां द्विधा भावेन्द्रियं मतम् ।
अन्तरात्मप्रदेशोत्थं कर्मक्षयसमुद्भवम् ।।१४७।।

अर्थः—द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियों के भेद से इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं। इनमें अभ्यन्तर में रचना और बाह्य में उपकरणों के भेद से द्रव्येन्द्रियाँ दो प्रकार की तथा लब्धि एवं उपयोग के भेद से कर्मों के क्षयोपशम से आत्म प्रदेशों में उत्पन्न होने वाली भावेन्द्रियाँ भी दो प्रकार की हैं ।।१४६-१४७।।

अब पाँचों इन्द्रियों के विषयों का स्पर्श कहते हैं :—

पृथिव्यादिवनस्पत्यन्तंकाक्षाणां मतः श्रुते ।
स्पर्शाख्यो विषयो लोके धनुःशतचतुष्टयम् ।।१४८।।
द्वीन्द्रियाणां भवेत्स्पर्शविषयो दूरतो भजन् ।
स्पर्शाक्षेण विषयार्थान् धनुरष्टशतप्रमः ।।१४९।।
विषयो रसनाख्योत्थश्चतुः षष्टि धनुः प्रमः ।
त्रीन्द्रियासुमतां स्पर्श विषयः स्पर्शन क्षमः ।।१५०।।
स्पर्शार्थानां च चापानां स्यात्षोडशशतप्रमः ।
जिह्वाक्ष विषयश्चापशताष्टाविंशतिर्भवेत् ।।१५१।।
घ्राणाक्षविषयव्याप्तिर्धनुषां शतमानकः ।
चतुरिन्द्रियजीवानां विषयः स्पर्शनाक्षजः ।।१५२।।
द्वात्रिंशच्छतचापानि विषयो रसनाक्षजः ।
धनुषां द्विशते षट् पञ्चाशदग्ररसादिवित् ।।१५३।।
घ्राणाख्यविषयश्चापशतद्वयप्रमाणकः ।
विषयश्चक्षुरक्षोत्थो दूरार्थदर्शको भवेत् ।।१५४।।

चतुःपञ्चाशदग्रं कोनत्रिंशच्छतयोजनः ।
असंज्ञिपञ्चखानां च विषयः स्पर्शनप्रजः ।।१५५।।
चापानां हि चतुःषष्टिः शतानि रसनाक्षजः ।
विषयो धनुषां द्वादशाग्रपञ्चशतानि च ।।१५६।।
विषयो घ्राणखोत्पन्नो धनुः शतचतुः प्रमः ।
चक्षुरिन्द्रियसंजात विषयो रूपिदर्शकः ।।१५७।।
योजनानां किलाष्टाग्रं कोनषष्टिशतप्रमः ।
श्रोत्राक्ष विषयश्चापाष्टसहस्रप्रमाणकः ।।१५८।।
संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च स्पर्शाक्षस्याखिलोत्तमः ।
रसनाक्षस्य हि घ्राणेन्द्रियस्य विषयो भुवि ।।१५९।।
प्रत्येकं वर्तते स्वस्वार्थयोजननवप्रमः ।
सहस्राः सप्तचत्वारिंशत्त्रिषष्ट्यधिके शते ।।१६०।।
द्वे महायोजनानां चैकक्रोशो धनुषां तथा ।
दण्डपञ्चदशाग्राणि द्वादशैव शतानि च ।।१६१।।
हस्तैको यवयुग्मांशाग्रेद्वेऽङ्गुलेऽखिलोत्तमाः ।
इत्यस्ति संज्ञिनां चक्षुर्विषयो दूरदर्शकः ।।१६२।।
श्रोत्रस्य विषयो ज्येष्टो योजनद्वादशप्रमः ।
पञ्चैते विषयोत्कृष्टा ज्ञेया महर्षिचक्रिणाम् ।।१६३।।

अर्थः—आगम में पृथिवीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्श का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ४०० धनुष कहा है ।। १४८ ।। द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्श का विषय क्षेत्र ८०० धनुष है ।।१४९।। और इन्हीं द्वीन्द्रिय जीवों के रसनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ६४ धनुष प्रमाण है। त्रीन्द्रिय के स्पर्शनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र १६०० धनुष, रसनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र १२८ धनुष और घ्राणेन्द्रिय का विषय क्षेत्र १०० धनुष प्रमाण है। चतुरिन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र ३२०० धनुष, रसनेन्द्रिय का विषयक्षेत्र २५६ धनुष, घ्राणेन्द्रिय का विषयक्षेत्र २०० धनुष और चक्षु-रिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र २९५४ योजन प्रमाण होता है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का स्पर्शनेन्द्रिय का विषयक्षेत्र ६४०० धनुष, रसनेन्द्रिय का ५१२ धनुष, घ्राणेन्द्रिय का ४०० धनुष, चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र ५९०८ योजन और श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ८००० धनुष प्रमाण होता है। ।।१५०-१५८।। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र ९ योजन, रसनेन्द्रिय का ९

योजन, घ्राणेन्द्रिय का ६ योजन, चक्षुरिन्द्रिय का विषय क्षेत्र ४७२६३ योजन १ कोस, १२१५ धनुष, १३ हाथ २ अंगुल और ½ यव प्रमाण है, तथा श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र १२ योजन प्रमाण है, चक्षुरिन्द्रिय आदि का यह उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ऋद्धिवान् मुनिराजों एवं चक्रवर्तियों के ही होता है ।।१५९–१६३।।

अब एकेन्द्रियादि जीवों की संख्या का प्रमाण कहते हैं :—

अथैकाक्षादिजीवानां प्रमाणं पृथगुच्यते ।
वनस्पतौ निकोताङ्गिनोऽनन्ताः प्रोदिता जिनैः ।।१६४।।
पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजोमयाङ्गिनः ।
वायुकाया इमे सर्वे प्रत्येकं गदिता जिनैः ।।१६५।।
असंख्यलोकमात्राश्चासंख्यलोकस्य सन्त्यपि ।
यावन्तोऽप्रप्रदेशास्तावन्मात्राः सूक्ष्मकायिकाः ।।१६६।।
पुनस्ते पृथिवीकायाद्याश्चतुर्विध बादराः ।
पृथग् ह्यसंख्यमात्रा अयं विशेषोऽस्ति चागमे ।।१६७।।
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियास्तुर्येन्द्रियाः पञ्चेन्द्रिया मताः ।
प्रत्येकं चाप्यसंख्याताः श्रेण्यः परमागमे ।।१६८।।
प्रतराङ्गुलसंज्ञस्यासंख्येयभाग सम्मिताः ।
अथ वक्ष्ये गुणस्थानैः संख्यास्त्वादिजाङ्गिनाम् ।।१६९।।

अर्थ:—अब एकेन्द्रिय आदि जीवों का पृथक् पृथक् प्रमाण कहते हैं। वनस्पतिकायिक जीवों में जिनेन्द्र भगवान् ने निगोद जीवों को अनन्तानन्त कहा है ।।१६४।। जिनेन्द्र देव के द्वारा बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक, बादर अग्निकायिक और बादर वायुकायिक जीव असंख्यातलोक मात्र अर्थात् असंख्यातासंख्यात कहे गये हैं, और असंख्यातलोक के प्रदेशों का जितना प्रमाण है पृथक् पृथक् उतने ही प्रमाण सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, सूक्ष्मजलकायिक, सूक्ष्मअग्निकायिक तथा सूक्ष्म वायुकायिक जीव कहे गये हैं ।।१६५–१६६।। पुनः बादर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीव पृथक् पृथक् असंख्यात-असंख्यात ही हैं, आगम में यह विशेष है ।।१६७।। परमागम में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों का पृथक् पृथक् प्रमाण असंख्यात श्रेणी कहा गया है। अर्थात् द्वीन्द्रिय जीव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, त्रीन्द्रिय जीव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, इत्यादि (परन्तु पूर्व पूर्व द्वीन्द्रियादिक की अपेक्षा उत्तरोत्तर त्रीन्द्रियादिक का प्रमाण क्रम से हीन हीन है और इसका प्रतिभागहार आवलि का असंख्यातवां भाग है)। असंख्यात श्रेणी का प्रमाण प्रतरांगुल का असंख्यातवां

भाग माना गया है। अब मैं गुणस्थानों के माध्यम से नरकादि गतियों में उत्पन्न जीवों की संख्या कहूँगा ॥१६८–१६९॥

अब प्रत्येक गतियों के गुणस्थानों में जीवों का प्रमाण कहा जाता है :—

नरकगतौ प्रथमपृथ्व्यां मिथ्यादृष्टयः नारका–असंख्याताः श्रेणयः घनाङ्गुलस्य किञ्चिदून द्वितीयवर्गमूल मात्राः, द्वितीयादिषु सप्तमान्तेषु श्वभ्रेषु मिथ्यादृष्टयो नारकाः श्रेण्यसंख्येय भागमात्राः, सर्वासु नरकभूमिषु सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयत नारकाः पल्योपमासंख्यातभागप्रमाः। तिर्यग्गतौ मिथ्यादृष्टयः जीवाः अनन्ताः। सासादन सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयता देशसंयतजीवाः पल्योपमा संख्येयभाग-मात्राः। मनुष्यगतौ मनुष्याः मिथ्यादृष्टयः श्रेण्यसंख्येयभाग प्रमाणाः, स चासंख्येयभागः असंख्याताः योजनकोटिकोट्यः।

सासादनगुणस्थानवर्तिनः द्विपञ्चाशत्कोटिप्रमाः स्युः। तृतीयगुणस्थान वर्तिनः सम्यग्मिथ्या-दृष्टयः चतुरधिकैकशतकोटिमात्राः। अविरतगुणस्थानस्थः अविरतसम्यग्दृष्टयः सप्तशतकोटी सम्मिताः। देशविरतगुणस्थानाश्रिताः। संयतासंयताः त्रयोदशकोटी मात्राः उत्कर्षेण सन्ति। प्रमत्तगुणस्थानस्थाः प्रमत्तसंयताः पंचकोटित्रिनवति लक्षाष्टनवतिसहस्रद्विशतषट्प्रमाणा उत्कृष्टेन सन्ति। अप्रमत्तगुणस्थानका अप्रमत्तसंयताद्विकोटिषणवतिलक्षनवनवति सहस्रैकशतत्रिसंख्यानाः भवंति। अपूर्वकरणगुणस्थानस्थिता उपशमिकाः नवनवत्यधिकद्विशतप्रमाः स्युः। क्षपकश्रेण्याश्रिताः क्षपकाः अष्टानवत्य धिकपञ्चशतप्रमा-णाश्च। अनिवृत्तिगुणस्थानवर्तिनः उपशमिकाः नवनवत्यग्रद्विशतप्रमाः स्युः। क्षपकाः अष्टानवत्यधिक-पञ्चशतसम्मिताश्च। सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानस्थिता उपशमश्रेण्यारोहिता उपशमिका मुनयः नवनवत्य-धिकद्विशतमानाः भवन्ति। क्षपकश्रेण्यारोहिताः क्षपकाः यतयः अष्टानवत्यधिकपञ्चशतसंख्यकाश्च। उप-शांतकषाय गुणस्थान स्था उपशमिकाः नवनवतियुतद्विशतप्रमाःस्युः। क्षीणकषायगुणस्थानवर्तिनःक्षपकाः अष्टानवतियुक्तपञ्चशतसम्मिताश्च। सयोगगुणस्थानाश्रिताः सयोगिजिनाः अष्टलक्षाष्टानवति सहस्रपञ्च-शत द्विप्रमाणाः भवेयुः। अयोगगुणस्थानस्थिताः अयोगिजिनाः अष्टानवतियुतपञ्चशत प्रमाः उत्कृष्टेन स्युः। एते सर्वे पिण्डीकृताः प्रमत्ताद्ययोगिगुणस्थानपर्यंत वर्तिनस्तपोधनाः न्यूननवकोटिप्रमाः उत्कृष्टेन सार्धद्वीपद्वये चतुर्थकाले भवन्ति। देवगतौ मिथ्यादृष्टयो ज्योतिष्कव्यन्तरादेवाः असंख्याताः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। भवनवासिनः मिथ्यादृष्टयोऽमराः असंख्याता श्रेणयः घनाङ्गुलप्रथमवर्ग-मूलप्रमाणाः स्युः। सौधर्मैशानवासिनो नाकिनः मिथ्यादृष्टयः असंख्याताः श्रेणयः घनाङ्गुलतृतीयवर्ग-मूलप्रमिताः। सनत्कुमारादि कल्पकल्पातीत वासिनो मिथ्यादृष्टयोऽमराः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः असं-ख्यातयोजनकोटीप्रदेशमात्रा स्युः। ज्योतिष्कव्यन्तराः भवनवासिनः सौधर्मैशाननाकिनः। सनत्कुमा-रादिकल्पकल्पातीतवासिनः सासादन सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरताः प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणाः सन्ति।

अर्थः—नरकगतिगत प्रथमनरक में मिथ्यादृष्टि नारकी जीव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, जो घनांगुल के कुछ कम द्वितीय वर्गमूल प्रमाण है। द्वितीय पृथिवी से सप्तम पृथिवी पर्यन्त के छह नरकों

में मिथ्यादृष्टि जीव श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। सातों नरक भूमियों में सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीवों का पृथक् पृथक् प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। तिर्यंचगति में मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और देशसंयत जीव पृथक् पृथक् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। मनुष्यगति में मिथ्यादृष्टि मनुष्य श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, और वह श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग असंख्यात कोडा-कोडी योजन प्रमाण है। सासादन गुणस्थानवर्ती जीव ५२ करोड़ प्रमाण हैं। तृतीय गुणस्थानवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि मनुष्य १०४ करोड़ प्रमाण, चतुर्थगुणस्थान में अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य ७०० करोड़ प्रमाण, पंचम गुणस्थान में देशसंयत मनुष्य उत्कृष्टतः १३ करोड़ प्रमाण हैं। प्रमत्तगुणस्थान में प्रमत्त-संयत मुनिराज उत्कृष्टतः ५९३९८२०६ हैं। अप्रमत्त गुणस्थान में अप्रमत्तसंयत मुनिराज २९६९९१०३ हैं। अपूर्वकरणगुणस्थान में उपशम श्रेणीगत योगी २९९ हैं और क्षपक श्रेणीगत क्षपक जीव ५९८ हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में उपशम श्रेणिगत जीव २९९ और क्षपक श्रेणिगत ५९८ हैं। सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान में उपशम श्रेणि आरोहित मुनिराज २९९ हैं और क्षपकश्रेणिगत मुनिराज ५९८ हैं। उपशान्तकषाय गुणस्थान स्थित मुनिराजों का प्रमाण २९९ है तथा क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती योगियों का प्रमाण ५९८ है। सयोगगुणस्थान में सयोगिजिनों की सर्वोत्कृष्ट संख्या प्रमाण ८९८५०२ है। अयोगगुणस्थान स्थित अयोगिजिनों का प्रमाण उत्कृष्टतः ५९८ होता है। चतुर्थकाल में अढ़ाई द्वीप स्थित छठवें गुणस्थान से १४ वें गुणस्थान पर्यन्त के सर्व योगिराजों का योग करने पर सर्व तपो-धनों का उत्कृष्ट प्रमाण ८९९९९९९७ अर्थात् तीन कम नौ करोड़ प्राप्त होता है।

देवगति में ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों का प्रमाण असंख्यात श्रेणी स्वरूप प्रतर के असं-ख्यातवें भाग प्रमाण और भवनवासी मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात श्रेणी स्वरूप अर्थात् घनांगुल के प्रथम वर्गमूल प्रमाण श्रेणी हैं। सौधर्मैशान स्वर्गों में मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात श्रेणी स्वरूप अर्थात् घनांगुल के तृतीय वर्गमूल प्रमाण श्रेणियाँ हैं। सानत्कुमारादि कल्पों में और कल्पातीत स्वर्गों में मिथ्यादृष्टि देव श्रेणी के असंख्यातवें भाग अर्थात् असंख्यात योजन करोड़ क्षेत्र के जितने प्रदेश हैं उतनी संख्या प्रमाण हैं। ज्योतिष्कों, व्यन्तरवासी देवों, सौधर्मैशान स्वर्गों, सानत्कुमारादि कल्पों और कल्पातीत विमानों में सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि देवों का प्रत्येक स्थानों में पृथक् पृथक् प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र है॥

अब जीवों के प्रमाण का अल्पबहुत्व कहते हैं :—

चतुर्गतिषु संसारे मध्ये स्युः सकलाङ्गिनाम्।
अत्यल्पा मानवाः श्रेण्यसंख्येयभागमात्रकाः॥१७०॥

मनुष्येभ्योऽप्यसंख्यातगुणानरकयोनिषु ।
नारकाः स्युरसंख्याताः श्रेणयो दुःखविह्वलाः ॥१७१॥
नारकेभ्योऽप्यसंख्यातगुणादेवाश्चतुर्विधाः ।
भवन्ति प्रतरासंख्येयभागसम्मिताः शुभाः ॥१७२॥
देवेभ्यः सिद्धनाथाः स्युरनन्तगुणमानकाः ।
सिद्धेभ्योऽखिलतिर्यञ्चः [illegible]नन्तगुणकाः ॥१७३॥

अर्थः—इस चतुर्गति संसार में पंचेन्द्रिय जीवों में मनुष्य सबसे स्तोक हैं, इनका प्रमाण श्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र है ॥ १७० ॥ नरक भूमियों में दुःख से विह्वल नारकी जीव मनुष्यों से असंख्यातगुणे हैं, जो असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं ॥१७१॥ नारकियों से असंख्यातगुणे चतुर्निकाय के देव हैं, जो प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं ॥ १७२ ॥ देवों से अनन्तगुणे सिद्ध भगवान हैं, और सिद्धों से अनन्तगुणे तिर्यंच जीव हैं ॥१७३॥

अब नरकगति अपेक्षा अल्पबहुत्व कहते हैं :—

सप्तमे नरके सन्ति सर्वस्तोकाश्च नारकाः ।
तेभ्योऽपि नारकेभ्यः स्युरुपर्युपरिवर्तिषु ॥१७४॥
षट्पृथिवी नरकेष्वत्र नारकाः सुखदूरगाः ।
असंख्यातगुणाः प्रत्येकं दुःखाम्बुधिमध्यगाः ॥१७५॥

अर्थः—सप्तम नरक में नारकी जीव सबसे स्तोक हैं। सप्तम नरक के नारकियों से ऊपर ऊपर की छहों नरक पृथिवियों में दुःख रूपी समुद्र के मध्य डूबे हुए अत्यन्त दुःखी नारकी जीव असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे अधिक अधिक हैं। अर्थात् सप्तम नरक के नारकियों से छठवें नरक के नारकी असंख्यातगुणे, छठवें से पाँचवें में असंख्यातगुणे इत्यादि ॥१७४-१७५॥

अमीषां सप्तनरकपृथ्वीषु व्यासेन पृथक् पृथक् संख्यानिगद्यते :—

सप्तम्यां पृथिव्यां सर्वस्तोकाः नारकाः। श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणाः श्रेणिद्वितीयवर्गमूलेन खण्डितश्रेणिमात्राः तेभ्यः सप्तमपृथिवीनारकेभ्यः। षष्ठ्यां पृथ्व्यां नारकाः असंख्यातगुणाः, श्रेणितृतीयवर्गमूलेनापहृत्य श्रेणि मात्राः स्युः, षष्ठपृथ्वी नारकेभ्यः। पञ्चम्यां पृथ्व्यां नारकाः असंख्येयगुणाः, श्रेणि षष्ठ वर्गमूलापहृतस्य श्रेणिमात्राश्च पञ्चमपृथ्वीनारकेभ्यः। चतुर्थ्यां पृथ्व्यां नारकाः असंख्यातगुणाः, श्रेण्यष्टमवर्गमूलापहृत श्रेणिसम्मिताः चतुर्थपृथिवी नारकेभ्यः। तृतीयायां पृथिव्यां नारकाः असंख्येयगुणाः, श्रेणि दशमवर्गमूलापहृत श्रेणि लब्धमात्राः, तृतीयपृथिवी नारकेभ्यः। द्वितीयायां पृथ्व्यां नारकाः

असंख्यातगुणाः श्रेणिद्वादशवर्गमूलखण्डित श्रेण्येकभाग परिमिताः स्युः द्वितीय पृथिवी नारकेभ्यः प्रथमायां पृथिव्यां नारका असंख्यातगुणाः, घनाङ्गुलवर्गमूलमात्राः श्रेणयो भवन्ति ।

अर्थः—सप्तम पृथ्वी में नारकी जीव सबसे कम अर्थात् श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। (सात राजू की श्रेणी होती है) श्रेणी के दूसरे वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त होता है, उतने प्रमाण सप्तम नरक के नारकी जीवों की संख्या है। सप्तम पृथ्वी से छठवीं पृथ्वी में नारकी जीव असंख्यात गुणे हैं। श्रेणी के तृतीय वर्गमूल से श्रेणी को अपहृत (भाजित) करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने प्रमाण नारकी जीव छठवीं पृथ्वी में हैं। छठवीं पृथ्वी से पाँचवीं पृथ्वी के नारकी जीव असंख्यातगुणे हैं। श्रेणी के छठवें वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने प्रमाण पाँचवें नरक के नारकी जीवों की संख्या है। पाँचवीं पृथ्वी से चतुर्थ पृथ्वी में नारकी जीव असंख्यातगुणे हैं। श्रेणी के अष्टम वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जितना लब्ध प्राप्त होता है, उतने ही प्रमाण चतुर्थ पृथ्वी के नारकी जीवों का है। चतुर्थ पृथ्वी से तृतीय पृथ्वी के नारकी जीव असंख्यात गुणे हैं। श्रेणी के दशवें वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतनी संख्या प्रमाण जीव तृतीय पृथ्वी में हैं। तृतीय पृथ्वी से द्वितीय पृथ्वी के नारकी जीव असंख्यात गुणे हैं। श्रेणी के बारहवें वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उतने प्रमाण जीव द्वितीय पृथ्वी में हैं, वे श्रेणी के एक भाग प्रमाण प्राप्त होते हैं। द्वितीय पृथ्वी से प्रथम पृथ्वी के नारकी जीव असंख्यात गुणे हैं, वे संख्या में घनांगुल के वर्गमूल प्रमाण श्रेणियों के बराबर हैं, अर्थात् श्रेणी को घनांगुल के वर्गमूल से गुणित करने पर जो संख्या प्राप्त हो तत्प्रमाण (प्रथम पृथ्वी में नारकी) हैं।

अब तिर्यंचगति की अपेक्षा अल्पबहुत्व कहते हैं :—

पञ्चेन्द्रिया हि तिर्यञ्चः सर्वस्तोका महीतले ।
भवन्ति प्रतरासंख्यातभाग प्रमितास्ततः ॥१७६॥

पञ्चाक्षेभ्यश्चतुर्याक्षाः स्युर्विशेषाधिका भुवि ।
स्वकीयराश्यसंख्यातभागमात्रेण दुःखिनः ॥१७७॥

तुर्याक्षेभ्यस्तथा द्वीन्द्रियाः विशेषाधिका मताः ।
विशेषाः स्वस्वराशेश्चासंख्यातभागमात्रकाः ॥१७८॥

द्वीन्द्रियेभ्यस्तथा त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः स्मृताः ।
विशेषः स्वस्वराशेरसंख्येयभागमात्रकाः ॥१७९॥

त्रीन्द्रियेभ्यस्तथैकाक्षा अनन्तगुणसम्मिताः ।
अथ वक्ष्ये नृणां संख्याल्पबहुत्वं यथागमम् ॥१८०॥

अर्थः—तिर्यंच राशि की अपेक्षा संसार में पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव सर्व स्तोक अर्थात् प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों से अत्यन्त दुःख से युक्त चतुरिन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं। अर्थात् पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की राशि के असंख्यातवें भाग प्रमाण अधिक हैं। चतुरिन्द्रिय जीवों से द्वीन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं। वह विशेष का प्रमाण अपनी अपनी राशि अर्थात् चतुरिन्द्रिय राशि का असंख्यातवाँ भाग है। द्वीन्द्रिय जीव राशि से त्रीन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं। विशेष का प्रमाण अपनी अपनी राशि अर्थात् द्वीन्द्रिय जीव राशि का असंख्यातवाँ भाग मात्र है। त्रीन्द्रिय जीव राशि के प्रमाण से एकेन्द्रिय जीव राशि अनन्तगुणी अधिक है। अब मैं आगम के अनुसार मनुष्यों की संख्या का अल्प-बहुत्व कहूँगा ॥१७६–१८०॥

अब मनुष्य गति में स्थित मनुष्यों का अल्पबहुत्व कहते हैं :—

भवन्ति नृगतौ सर्वस्तोकाः संख्यातमानवाः ।
अन्तर्द्वीपेषु विश्वेषु पिण्डितास्तेभ्य एव च ॥१८१॥
अन्तर्द्वीपमनुष्येभ्यः संख्यातगुणसम्मिताः ।
दशसूत्कृष्टसद्भोग भूमिषु प्रवरा नराः ॥१८२॥
तेभ्यो मर्त्याश्च संख्यातगुणाधिका जिनैः स्मृताः ।
हरिरम्यक वर्षेषु द्विपञ्चसु सुभोगिनः ॥१८३॥
तेभ्य आर्याश्च संख्यातगुणा दशसु सन्ति वै ।
सु हैमवतहैरण्यवतान्त भोगभूमिषु ॥१८४॥
तेभ्योऽपि भरतैरावतेषु द्विपञ्चसु स्फुटम् ।
कर्मभूमिषु संख्यातगुणा नराः शुभाशुभाः ॥१८५॥
तेभ्यः पञ्चविदेहेषु संख्यातगुणमानवाः ।
तेभ्यः सम्मूर्च्छनोत्पन्ना असंख्यातगुणा नराः ॥१८६॥
भवन्ति श्रेण्यसंख्यातैकभागमात्रका अपि ।
स च श्रेणेरसंख्यातभाग आख्यात आगमे ॥१८७॥
असंख्ययोजनैः कोटीकोटिप्रदेशमात्रकाः ।
एते स्युर्लब्ध्यपर्याप्ता मर्त्याः सम्मूर्छनोद्भवाः ॥१८८॥

नाभौस्तनान्तरे योनौ कक्षायां च निसर्गतः ।
सूक्ष्मा नरा इमे स्त्रीणां जायन्ते दृष्ट्यगोचराः ।।१८६।।

शेषा ये गर्भजा मर्त्याः पर्याप्तास्ते न चेतराः ।
अथ देवगतौ वक्ष्येऽल्पबहुत्वं जिनागमात् ।।१९०।।

अर्थः—मनुष्यगति में लवणोदधि और कालोदधि समुद्रों में स्थित ६६ अन्तर्द्वीपों के मनुष्यों का प्रमाण एकत्रित करने पर भी वे सर्व स्तोक हैं। अन्तर्द्वीपों के मनुष्यों से पंचमेरु सम्बन्धी दश उत्कृष्ट भोगभूमियों के मनुष्य संख्यातगुणे हैं ।।१८१–१८२।। उत्कृष्ट भोगभूमियों के मनुष्यों से पंचमेरु सम्बन्धी हरि-रम्यक नामक दश मध्यम भोगभूमियों के मनुष्य संख्यातगुणे हैं ।।१८३।। मध्यम भोगभूमियों से हैमवत-हैरण्यवत नामक १० जघन्य भोगभूमियों के मनुष्य संख्यातगुणे हैं, और जघन्य भोगभूमियों के प्रमाण से पांच भरत, पांच ऐरावत नामक दश कर्मभूमियों में शुभ अशुभ कर्मों से युक्त मनुष्य संख्यातगुणे हैं ।।१८४–१८५।। कर्मभूमिज मनुष्यों के प्रमाण से पंचविदेह क्षेत्रों के मनुष्य संख्यातगुणे हैं और विदेहस्थ मनुष्यों के प्रमाण से सम्मूर्च्छन मनुष्यों का प्रमाण असंख्यात गुणा है ।।१८६।। जो श्रेणी के असंख्यात भागों में से एक भाग मात्र हैं। आगम में उस श्रेणी के असंख्यातवें भाग का प्रमाण असंख्यात कोटाकोटी योजन क्षेत्र के जितने प्रदेश होते हैं, उतने प्रमाण कहा है अतः सम्मूर्च्छन जन्म वाले लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का भी यही प्रमाण है ।। १८७–१८८ ।। दृष्टि अगोचर ये सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य कर्मभूमिज स्त्रियों की नाभि, योनि, स्तन और कांख में स्वभावतः उत्पन्न होते हैं ।।१८६।। इन अपर्याप्तक मनुष्यों से अवशेष गर्भज मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं, अपर्याप्तक नहीं। अब आगमानुसार देवगति में अल्पबहुत्व कहते हैं ।।१९०।।

अब देवगति अपेक्षा अल्पबहुत्व कहते हैं :—

विमानवासिनः स्तोकादेवा देव्यो भवन्ति च ।
तेभ्योऽसंख्यगुणाः सन्ति दशधा भावनामराः ।।१९१।।

तेभ्योऽसंख्यगुणा देवा व्यन्तरा अष्टधा मताः ।
तेभ्यः पञ्चविधा ज्योतिष्काः संख्यातगुणाः स्मृताः ।।१९२।।

अर्थः—देवगति में विमानवासी देव देवियों का प्रमाण सर्व स्तोक है। विमानवासी देवों के प्रमाण से दश प्रकार के भवनवासी देवों का प्रमाण असंख्यातगुणा है। भवनवासी देवों से आठ प्रकार के व्यन्तर देवों का प्रमाण असंख्यातगुणा है और व्यन्तर देवों से पांच प्रकार के ज्योतिषी देवों का प्रमाण संख्यातगुणा है ।।१९१–१९२।।

पुनर्देवानां प्रत्येकमल्पबहुत्वमुच्यते :—

सर्वार्थसिद्धौ स्तोका अहमिन्द्रमरा: स्यु: । तेभ्यो विजयवैजयन्तजयन्तापराजितानवानुत्तरेषु अहमिन्द्रा: असंख्यातगुणा: पल्योपमासंख्यातभागप्रमिताश्च । तेभ्यो नवग्रैवेयकानतप्राणतारणाच्युतेषु देवा: असंख्यातगुणाः पल्योपमासंख्यातभागसम्मिता: । तेभ्य: शतारसहस्रार कल्पयोर्नाकिन: असंख्यातगुणा:, श्रेणिचतुर्थवर्गमूलखण्डित श्रेण्येकभाग प्रमा: तेभ्य: शुक्रमहाशुक्रयोर्देवा असंख्यातगुणा:, श्रेणि पञ्चमवर्गमूलखण्डित श्रेण्येकभागसम्मिता: । तेभ्य: लान्तवकापिष्ठयोर्गीर्वाणा असंख्यातगुणा:, श्रेणि-सप्तमवर्गमूलखण्डित श्रेण्येकभागप्रमिता: । तेभ्यो ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोरमरा: असंख्यातगुणा:, श्रेणिनवम-वर्गमूलखण्डित श्रेण्येकभागमात्रा: । तेभ्य: सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवा: असंख्यातगुणा:, श्रेण्येकादशम-वर्गमूलखण्डित श्रेण्येकभागमात्रा: । तेभ्य: सौधर्मैशानयो: गीर्वाणा: असंख्याता: । एते सर्वे सौधर्मादि सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तविमानवासिनोऽमरा: असंख्यातश्रेणि मात्रा: घनाङ्गुलतृतीयवर्गमूल मात्रा: साधिका: श्रेण्य: । तेभ्य: असंख्यातगुणा: दशविधा भवनवासिन: असंख्यातश्रेण्य: घनाङ्गुलप्रथम-वर्गमूलमात्रा: श्रेण्य: । तेभ्य: असंख्यातगुणा:, अष्टप्रकारा: व्यन्तरामरा: प्रतरासंख्यातभागमात्रा: संख्यातप्रतराङ्गुलै: श्रेणीभागे हृते यल्लब्धं तावन्मात्रा: श्रेण्यो भवन्ति । तेभ्य: पञ्चविधा ज्योतिष्का: संख्यातप्रमा: प्रतरासंख्यातभागमात्रा: पूर्वोक्त संख्यातगुणहीनसंख्येयप्रतराङ्गुलै: श्रेणीभागे हृते तावन्-मात्रा: श्रेण्यो भवन्ति ।

अब देवों का भिन्न भिन्न अल्पबहुत्व कहते हैं :—

देवगति गत सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र देव सबसे स्तोक हैं। इनसे विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित में तथा नवोत्तर विमानों में स्थित सर्व अहमिन्द देव असंख्यातगुणे अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। इनसे नवग्रैवेयक, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गों के देव संख्यातगुणे अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। इनसे शतार-सहस्रार स्वर्ग के देव असंख्यातगुणे अर्थात् श्रेणी के चतुर्थ वर्गमूल का श्रेणी में भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसके एक भाग प्रमाण हैं। इनसे शुक्र-महाशुक्र कल्प के देव असंख्यातगुणे अर्थात् श्रेणी के पंचम वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भाग प्रमाण हैं। इनसे लान्तव-कापिष्ठ कल्प के देव असंख्यातगुणे अर्थात् श्रेणी के सप्तम वर्गमूल से खण्डित श्रेणी के एक भाग प्रमाण हैं। इनसे ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर कल्प के देव श्रेणी के नवम वर्गमूल से खण्डित श्रेणी के एक भाग प्रमाण हैं। इनसे सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के देव असंख्यातगुणे अर्थात् श्रेणी के ग्यारहवें वर्गमूल से खण्डित श्रेणी के एक भाग प्रमाण हैं। इनसे सौधर्मैशान कल्प के देवों का प्रमाण असंख्यातगुणा है। सौधर्म स्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त के सर्व विमानवासी देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं अर्थात् घनांगुलके तृतीय वर्गमूल से कुछ अधिक प्रमाण श्रेणियाँ हैं। इनसे असंख्यात गुणे दशप्रकार के भवनवासी देव हैं, जो असंख्यात श्रेणी प्रमाण अर्थात् घनांगुल

के प्रथम वर्गमूल का जितना प्रमाण है, उतनी श्रेणियों के प्रमाण हैं। इनसे असंख्यातगुणे आठ प्रकार के व्यन्तरदेव हैं, वे जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण अर्थात् संख्यात प्रतरांगुलों से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतनी श्रेणियों प्रमाण हैं। इनसे संख्यातगुणे पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव हैं। वे ज्योतिष देव जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। अर्थात् पूर्वोक्त संख्यात-प्रतरांगुलों से संख्यातगुणे हीन प्रतरांगुलों द्वारा श्रेणी को खण्डित करने पर जो प्रमाण आवे उतनी श्रेणियाँ हैं।

अब जीवों की पर्याप्ति और प्राणों का कथन करते हैं :—

आहारोऽथ शरीरं चेन्द्रियानप्राणसंज्ञकौ।
भाषा मन इमाः षट्स्युः पर्याप्तयोऽत्र संज्ञिनाम् ॥१९३॥
असंज्ञिविकलाक्षाणां स्युस्ताः पञ्च मनो विना।
एकाक्षाणां चतस्रश्च पर्याप्तयो वचो विना ॥१९४॥
पञ्चेन्द्रियाह्वयाः प्राणा मनोवाक्कायजास्त्रयः।
आनप्राणस्तथायुश्चामी प्राणा दश संज्ञिनाम् ॥१९५॥
असंज्ञिनां नवप्राणास्ते भवन्ति मनो विना।
चतुरिन्द्रियजीवानामष्टौ श्रोत्रं विनापरे ॥१९६॥
त्रीन्द्रियाणां च ते प्राणाः सप्त चक्षुर्विना स्मृताः।
द्वीन्द्रियाणां च षट् प्राणाः सन्ति घ्राणेन्द्रियं विना ॥१९७॥
पृथिव्यादि वनस्पत्यन्तपञ्चस्थावरात्मनाम्।
एकाक्षाणां चतुःप्राणा रसनाक्ष वचोऽतिगाः ॥१९८॥
पञ्चेन्द्रियाह्वयाः प्राणा आयुः शरीरमित्यमी।
सप्तप्राणा अपर्याप्तसंज्ञि पञ्चाक्षजन्मिनाम् ॥१९९॥
पञ्चाक्षायुः शरीराख्याः प्राणाः सप्तभवन्ति च।
असंज्ञिनामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियात्तदेहिनाम् ॥२००॥
चत्वारइन्द्रियः प्राणा आयुः काय इमे मताः।
प्राणाः षट् भुव्यपर्याप्तचतुरिन्द्रिय जन्मिनाम् ॥२०१॥
स्पर्शाक्षरसनघ्राणाक्षायुः काया अपीत्यमी।
प्राणाः पञ्चह्यपर्याप्तत्रीन्द्रियासुमतां स्मृताः ॥२०२॥

स्पर्शजिह्वाक्षकायायुः प्राणाश्चत्वार एव हि ।
आगमे कीर्तिता द्वीन्द्रियापर्याप्ताङ्गिनां जिनैः ।।२०३।।
स्पर्शेन्द्रियशरीरायुः प्राणास्त्रयो मता जिनैः ।
अपर्याप्तपृथिव्यादिपञ्चस्थावर जन्मिनाम् ।।२०४।।

अर्थः—(गृहीत आहार वर्गणा को खल-रस आदि रूप परिणमाने की जीव की शक्ति के पूर्ण होने को पर्याप्ति कहते हैं ।) आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इस प्रकार पर्याप्ति के छह भेद हैं । संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के छहों पर्याप्तियाँ होतीं हैं ।।१९३।। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के और विकलेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों के मन पर्याप्ति के बिना पाँच तथा एकेन्द्रिय जीवों के मन और वचन के बिना चार पर्याप्तियाँ होतीं हैं ।।१९४।।

प्राण :—(जिनके सद्भाव में जीव में जीवितपने का और वियोग होने पर मरणपने का व्यवहार हो उन्हें प्राण कहते हैं) । पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण) प्राण, मनोबल, वचनबल और कायबल के भेद से तीन बल प्राण, एक श्वासोच्छ्वास और एक आयु इस प्रकार दश प्राण होते हैं ।।१९५।। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मनोबल को छोड़ कर शेष नव प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रिय जीवों के श्रोत्रेन्द्रिय को छोड़ कर आठ प्राण, त्रीन्द्रिय जीवों के चक्षु को छोड़कर सात प्राण और द्वीन्द्रिय जीवों के घ्राणेन्द्रिय को छोड़ कर शेष छह प्राण होते हैं ।।१९६-१९७।। पृथिवी कायिक से लेकर वनस्पति कायिक पर्यन्त पाँचों स्थावर जीवों के रसनेन्द्रिय और वचनबल को छोड़कर शेष चार प्राण होते हैं ।।१९८।। संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के पाँच इन्द्रियाँ, कायबल और आयु इस प्रकार सात प्राण होते हैं ।।१९९।। असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के पांच इन्द्रियाँ, कायबल और आयु ये ही सात प्राण होते हैं ।।२००।। अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय जीवों के चार इन्द्रियाँ, आयु और काय बल ये छह प्राण होते हैं ।। २०१ ।। अपर्याप्तक त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ, आयु और कायबल ये पांच प्राण होते हैं ।। २०२ ।। जिनेन्द्रों के द्वारा आगम में अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, आयु और कायबल ये चार प्राण कहे गये हैं ।।२०३।। जिनेन्द्र के द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल और आयु ये तीन प्राण अपर्याप्तक पृथिवी आदि पांच स्थावर जीवों के कहे गये हैं ।।२०४।।

अब जीवों की गति–आगति का प्रतिपादन करते हैं :—

ये पृथ्वीकायिकाप्कायिका वनस्पतिदेहिनः ।
द्वित्रितुर्याक्षपञ्चाक्षा लब्ध्यपर्याप्तकाश्च ये ।।२०५।।
पृथ्व्यादिकवनस्पत्यन्ताः सूक्ष्माः निखिलाश्च ये ।
जीवाः पर्याप्तकापर्याप्तास्तेजोवायुकायिकाः ।।२०६।।

सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्ताः सकलाश्च ये ।
असंज्ञिनश्च सर्वेषां तेषां मध्ये विधेर्वशात् ॥२०७॥
उत्पद्यन्ते व्रतातीतास्तिर्यञ्चो मानवाः अघात् ।
तस्मिन्नेव भवे मृत्वा स्वार्तध्यानकुलेश्यया ॥२०८॥
पृथ्वीकायास्तथाप्कायिका वनस्पतिकायिकाः ।
सूक्ष्मबादरपर्याप्तपर्याप्ताविकलेन्द्रियाः ॥२०९॥
एते कर्मलघुत्वेन जायन्ते तद्भवे मृताः ।
नृतिर्यग्भवयोर्मध्ये काललब्ध्या न संशयः ॥२१०॥
सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनलकायिकाः ।
सूक्ष्मबादरपर्याप्तपर्याप्तवायुकायिकाः ॥२११॥
न लभ्यन्ते मनुष्यत्वं मृत्वा तस्मिन् भवे क्वचित् ।
किन्त्वेते केवलं तिर्यग्योनिं यान्ति कुकर्मभिः ॥२१२॥
प्रत्येकाख्य वनपत्यङ्गिषु पृथ्व्यम्बुयोनिषु ।
बादरेषु च पर्याप्तेषु जायन्ते विधेर्वशात् ॥२१३॥
आर्तध्यानेन दुर्मृत्युं प्राप्य संक्लिष्टमानसाः ।
तिर्यञ्चो मानवा देवास्तस्मिन्भवे व्रतातिगाः ॥२१४॥
नृगतौ भोगभूम्यादि वर्जितायां सुरेषु च ।
भावनव्यन्तर ज्योतिष्कजेषु नरकादिमे ॥२१५॥
कर्मभूमिजतिर्यग्योनिषु सर्वासु तद्भवे ।
तिर्यञ्चोऽसंज्ञिपर्याप्ता उत्पद्यन्ते स्वकर्मणा ॥२१६॥
तिर्यञ्चो मानवा भोगभूजास्तद्भोगजास्तथा ।
यान्ति देवालयं सर्वे नूनं मन्दकषायिणः ॥२१७॥

अर्थः—पृथिवीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में पर्याप्त एवं अपर्याप्तक सूक्ष्मकाय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक जीवों में, समस्त अग्निकायिक, वायुकायिक जीवों में तथा सम्पूर्ण असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक जीवों में पापकर्म के वशीभूत होते हुए व्रत रहित तिर्यंच और मनुष्य उत्पन्न होते हैं तथा आर्तध्यान एवं कुलेश्याओं से युक्त सूक्ष्म-बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक पृथिवी कायिक, जल-कायिक, वनस्पतिकायिक जीव एवं पर्याप्तक-अपर्याप्तक विकलेन्द्रिय जीव इन पर्यायों से मर कर कर्मों

के कुछ मंदोदय से एवं काललब्धि से मनुष्यों तथा तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं ।।२०५-२१०।। सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक अग्निकायिक जीव तथा सूक्ष्म-बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक वायु कायिक जीव इन भवों से मरकर कभी भी मनुष्य पर्याय प्राप्त नहीं करते, दुष्कर्मों के कारण मात्र तिर्यंच योनियों में ही उत्पन्न होते हैं।२११-२१२। संक्लेश परिणामों से युक्त तथा व्रतरहित तिर्यंच, मनुष्य और देव आर्त ध्यान एवं कर्मोदय के वश से दुर्मृत्यु को प्राप्त होकर बादर पर्याप्तक पृथिवीकायिक, जलकायिक और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों में उत्पन्न होते हैं ।।२१३-२१४।। अपने कर्मों के वशीभूत होते हुए असंज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच मरकर भोगभूमिज मनुष्यों को छोड़ कर मनुष्यगति में, भवनवासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिष्क रूप देवगति में, प्रथम नरक में तथा कर्मभूमिज तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते हैं ।।२१५-२१६।। भोगभूमिज तिर्यंच और मनुष्य नियम से देवों में ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से मन्दकषायी होते हैं ।।२१७।।

अब धर्म प्राप्ति के लिये जीव रक्षा का उपदेश देते हैं :—

इति विविध सुभेदैर्जीवयोनीर्विदित्वा
गतिकुलवपुरायुः स्थानसंख्याद्यनेकैः ।

स्वपरहित वृषाप्त्यै प्रोदिता ज्ञानदृष्ट्या,
सुचरणशिवकामाः स्वात्मवत्पालयन्तु ।।२१८।।

अर्थ —इस प्रकार उत्तम चारित्र के साथ साथ मोक्ष की इच्छा करने वाले सज्जन पुरुषों को स्वपर हितकारी धर्म की प्राप्ति के लिए जीवों की गति, कुल, शरीर, आयु संस्थान और संख्या आदि के द्वारा नाना प्रकार के भेदों को ज्ञान चक्षु से भलीप्रकार जानकर अपनी आत्मा के सदृश ही जीवों की रक्षा करना चाहिए ।।२१८।।

अधिकारान्त मङ्गल :—

यैर्जीवादिपदार्थधर्मसकलाः सम्यक् प्रणीता जिनै-
र्ये तत्पालनतो गताः शिवगतिं ये सूरयः प्रत्यहम् ।

तद्रक्षां भुवने वदन्ति सुविदो जीवादिरक्षाय ये,
तन्निष्ठा मुनयोऽखिला मम च ते दद्युः स्तुताः स्वान्गुणान् ।।२१९।।

इतिश्री सिद्धांतसारदीपकमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरच्यते जीवजातिकुलकायायुः संख्याल्पबहुत्वादि वर्णनोनामैकादशोऽधिकारः ।।

अर्थ:— जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा सम्यक् प्रकार से कहे हुये जीवादि पदार्थों एवं सम्पूर्ण धर्मों का पालन करके जो जीव मोक्ष गये हैं, जो आचार्य आदि जीव रक्षा के लिए जीव रक्षा का उपदेश देते हैं और जो ज्ञानवान् समस्त मुनिजन उस उपदेश की परम श्रद्धा करते हैं, वे सब पूज्य पंचपरमेष्ठी मुझे अपने अपने गुण देवें। अर्थात् उनके गुण मुझे प्राप्त हों ॥२१६॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसारदीपक
नाम महाग्रन्थ में जीवों की कुल-काय-आयु-
संख्या एवं अल्पबहुत्व आदिका
वर्णन करने वाला
ग्यारहवाँ अधिकार समाप्त ॥

द्वादशोऽधिकार:

मङ्गलाचरण :—

सद्वासप्ततिलक्षांश्च सप्तकोटिजिनालयान् ।
भावनामरवन्द्याचर्यान् वन्दे तत्प्रतिमाः स्तुवे ॥१॥

अर्थः—भवनवासी देवों के द्वारा वन्दनीय और पूजनीय सात करोड़ बहत्तर लाख जिनालयों को मैं वन्दना करता हूँ, तथा उनमें स्थित प्रतिमाओं की स्तुति करता हूँ ॥१॥

प्रतिज्ञा सूत्र कहते हैं :—

अथ वक्ष्ये समासेन भावनादिपुरस्सरान् ।
देवांश्चतुर्विधान् नृणां सद्धर्मफलव्यक्तये ॥२॥

अर्थः—प्राप्त किया है समीचीन धर्म का फल जिन्होंने ऐसे मनुष्यों के लिये भवनवासी आदि हैं, आगे जिनके ऐसे चार प्रकार के देवों का संक्षेप से वर्णन करूँगा ॥२॥

अब देवों के मूल चार भेद और उन चारों के अवस्थान का स्थान कहते हैं :—

भावना व्यन्तरा ज्योतिष्काः कल्पवासिनोऽमराः ।
इमे चतुर्विधाः प्रोक्ताः प्राप्तधर्मफला जिनैः ॥३॥

भावनव्यन्तराणां चाधोलोके भवनानि वै ।
मध्यलोके गृहाः सन्ति यावत्सुदर्शनाचलम् ॥४॥

दशोनाष्टशतान्यूर्ध्वं गत्वा चित्रामहीतलात् ।
योजनानां विमानानि ज्योतिष्काणां भवन्ति च ॥५॥

चित्राभूमितलात्क्षेत्रं सौधर्मस्वर्गसंश्रितम् ।
तदाश्रयात्मतास्तेऽपि स्वर्गलोकाश्रिताः सुराः ॥६॥

अथवा देवलोक[1]त्वादूर्ध्वलोकाश्रिताः स्मृताः ।
यथास्थानस्थितान् वक्ष्ये क्रमात् तान् सह नाकिभिः ॥७॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान ने धर्म का फल प्राप्त करने वाले देव चार प्रकार के कहे हैं—१ भवन वासी, २ व्यन्तरवासी, ३ ज्योतिषी और ४ कल्पवासी (विमानवासी) ॥३॥ भवनवासी और व्यंतरों के भवन अधोलोक में हैं किन्तु व्यन्तरों के गृह-आवास मध्यलोक में मेरु पर्वत के अग्रभाग पर्यन्त भी हैं।

विशेषार्थः—त्रिलोकसार में व्यन्तरों के निवास तीन प्रकार के कहे हैं-१ भवनपुर, २ आवास और ३ भवन। द्वीप समुद्रों में जो स्थान हैं उन्हें भवनपुर कहते हैं। तालाब, पर्वत आदि पर जो निवास हैं उन्हें आवास कहते हैं और चित्रा पृथिवी के नीचे जो स्थित हैं उन्हें भवन कहते हैं ॥४॥ ज्योतिषी देवों के विमान चित्रा पृथिवी के (ऊपरी) तल से ७९० योजन की ऊँचाई से लेकर ऊपर (नौ सौ योजन) तक हैं ॥५॥ चित्रा पृथिवी के तल से सौधर्म आश्रित क्षेत्र है, उसके आश्रय से रहने वाले देव भी स्वर्ग लोक आश्रित जानना चाहिए। अथवा चित्रा पृथिवी तल पर देव रहते हैं इसलिए इसको ऊर्ध्वलोक आश्रित कहा गया है। देवों के स्थान कहां पर स्थित हैं उसका और उनके साथ देवों का यथा क्रम से वर्णन करूँगा ॥६-७॥

अब भवनवासी देवों के स्थान विशेष का वर्णन करते हैं :—

चित्राभूमिं विहायाधः खरांशे भवनेशिनाम् ।
नागादीनां नवानां स्युर्महान्ति भवनानि च ॥८॥
ततोऽसुरकुमाराणां स्फुरद्रत्नमयान्यपि ।
भवनान्येव विद्यन्ते पङ्कभागे द्वितीयके ॥९॥
चित्राभूमेरधो भागेऽल्पर्द्धियुक्त सुधाशिनाम् ।
योजनद्विसहस्रान्तं भवन्ति शाश्वता गृहाः ॥१०॥
योजनानां द्विचत्वारिंशत्सहस्रान्तभूतले ।
महर्द्धियुतदेवानां विद्यन्ते प्रवरा गृहाः ॥११॥
लक्षयोजनपर्यन्तं चित्राभूमेरधस्तले ।
मध्यमर्द्धियुतानां स्युर्देवानां विपुलालयाः ॥१२॥

अर्थः—चित्रा भूमि को छोड़ कर (चित्रा के) नीचे खर भाग में नागकुमार आदि नव प्रकार के भवनवासी देवों के महान वैभवशाली (विमान) भवन हैं, और असुरकुमारजाति वाले भवनवासी देवों के रत्नमयी भवन दूसरे पङ्कभाग में हैं ॥८-९॥ चित्रा पृथ्वी के अधोभाग से दो हजार योजन नीचे

१. इमे देवा सन्ति तेन ऊर्ध्वाश्रिता भवन्तु।

तक अल्पऋद्धि धारक भवनवासी देवों के शाश्वत भवन हैं ॥१०॥ भूतल में बयालीस हजार तक महा-ऋद्धि धारक भवनवासी देवों के उत्तम भवन हैं, और चित्रा भूमि से नीचे एक लाख योजन तक मध्यम-ऋद्धि धारक विमानवासी देवों के विपुल भवन हैं ॥११-१२॥

अब भवनवासी देवों का प्रमाण दर्शाते हैं :—

घनाङ्गुलस्य यन्मूलं प्रथमं श्रेणिसंगुणम् ।
तत्समा जातिभेदेन दशधा भावनामराः ॥१३॥

अर्थः—घनांगुल के प्रथमवर्ग मूल को जगच्छ्रेणी से गुणित करने पर जो प्रमाण प्राप्त होता है, उतने ही दश प्रकार की जाति भेद से युक्त भवनवासी देवों का प्रमाण है ॥१३॥

अब भवनवासियों के दश जातियों के नाम और उनकी कुमार संज्ञा की सार्थकता का दिग्दर्शन करते हैं :—

असुरानागदेवाः सुपर्णाद्वीपास्तथाब्धयः ।
विद्युतः स्तनिताख्या दिक्कुमारा अग्निसंज्ञकाः ॥१४॥
वाताभिधा इमे देवा दशभेदाः स्वजातितः ।
नाना सम्पद्युताः प्रोक्ता भावना आगमे जिनैः ॥१५॥
कुमारा इव सर्वत्र क्रीडन्त्येते ततो मताः ।
असुरादिकुमाराश्च सर्वे सार्थकनामकाः ॥१६॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान ने आगम में अनेक प्रकार की सम्पत्ति से युक्त भवनवासी देवों के असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, विद्युतकुमार, स्तनितकुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार नामक दश भेद कहे हैं ॥१४-१५॥ ये सभी देव कुमारों के सदृश सर्वत्र क्रीड़ा करते हैं, इसलिये इनके असुर कुमार आदि दसों कुलों के अन्त में कुमार शब्द सार्थक नाम-वाची है ॥१६॥

अब दसों कुलों में अवस्थित असुरकुमारादि देवों के वर्ण और चिह्न कहते हैं :—

असुराः कृष्णसद्वर्णा नागाब्धयश्च पाण्डुराः ।
स्तनिता दिक्कुमाराः स्युः सुपर्णाः काञ्चनप्रभाः ॥१७॥
विद्युद् द्वीपाग्नयो नीलवर्णा अत्यन्तसुन्दराः ।
अरुणा मरुतोऽत्रेति वर्णभेदान्विता इमे ॥१८॥

मणिर्नागस्ततो दीप्तो गरुडो गजसत्तमः ।
मकरः स्वस्तिकं वज्रं सिंहश्च कलशस्ततः ॥१९॥
तुरगोऽमूनि चिह्नानि राजन्ते मुकुटे क्रमात् ।
दशभेदानि दीप्राणि तेषां भावनात्मनाम् ॥२०॥

अर्थः—सभी असुरकुमार देव कृष्ण वर्ण के, नागकुमार और उदधिकुमार पाण्डु वर्ण के स्तनित कुमार, दिक्कुमार और सुपर्ण कुमार, काञ्चन वर्ण के, विद्युत्कुमार द्वीपकुमार एवं अग्निकुमार ये सभी देव अत्यन्त सुन्दर नीलवर्ण के हैं और वायुकुमार के देव लालवर्ण के होते हैं इनमें इस प्रकार वर्ण भेद हैं ॥१७–१८॥ दसों कुलों में उत्पन्न असुरकुमार आदि भवनवासी देवों के मुकुटों में क्रम से चूड़ामणि, नाग, गरुड़, उत्तम हाथी, मगर, स्वस्तिक, वज्र, सिंह, कलश और अश्व ये देदीप्यमान दश चिह्न सुशोभित होते हैं ॥१९–२०॥

अब भवनवासी देवों के भवनों की पृथक् पृथक् संख्या कहते हैं :—

असुराणां चतुःषष्टि लक्षाणि भवनानि च ।
नागानां चतुरग्राशीतिलक्षप्रमिता गृहाः ॥२१॥
द्वासप्ततिश्च लक्षाणि सुपर्णानां गृहास्ततः ।
द्वीपानामुदधीनां च विद्युतां स्तनितात्मनाम् ॥२२॥
दिगाख्यानां तथाग्नीनां प्रत्येकं भवनानि च ।
स्युः षट्सप्तति लक्षाणि वातानां गृहसत्तमाः ॥२३॥
स्युः षण्णवति लक्षाण्यमी सर्वे पिण्डिता गृहाः ।
द्वासप्ततिश्च लक्षाणि सप्तकोटियुतानि च ॥२४॥

अर्थः—असुरकुमार देवों के चौंसठ लाख भवन हैं। नागकुमार देवों के चौरासी लाख, सुपर्ण-कुमार के बहत्तर लाख, द्वीपकुमार के ७६ लाख, उदधिकुमार के ७६ लाख, विद्युत्कुमार के ७६ लाख, स्तनितकुमार के ७६ लाख, दिक्कुमार के ७६ लाख, अग्निकुमार के ७६ लाख और वायुकुमार के ९६ लाख भवन हैं ॥२१–२३॥ इन दस कुलों के सर्व भवनों का एकत्रित योग (६४ ला० + ८४ ला० + ७२ ला० + (७६ ला० × ६) + ९६ =) ७७२००००० अर्थात् सात करोड़ बहत्तर लाख है ॥२४॥

अब दश कुल सम्बन्धी बीस इन्द्रों के नाम, उनका दिशागत अवस्थान और प्रतीन्द्रों की संख्या कहते हैं :—

प्रथमश्चमरेन्द्राख्यो वैरोचनो द्वितीयकः ।
भूतानन्दस्तृतीयेन्द्रो धरणानन्दसंज्ञकः ॥२५॥

वेणुश्च वेणुधारी हि पूर्णो वशिष्ठनामकः ।
इन्द्रो जलप्रभाभिख्यो जलकान्त्यभिधानकः ॥२६॥
हरिषेणो हरिकान्तोऽग्निशिखी चाग्निवाहनः ।
इन्द्रोऽमितगतिर्नाम्ना तथेन्द्रोऽमितवाहनः ॥२७॥
घोषाख्येन्द्रो महाघोषो वेलाञ्जनः प्रभञ्जनः ।
एतेऽखिलामराभ्यर्च्या दिव्यालङ्कारभूषिताः ॥२८॥
असुरादिकुलानां च क्रमेण द्वि द्वि संख्यया ।
भवन्ति विंशतिश्चेन्द्राः स्त्रीमहर्द्धिसुरान्विताः ॥२९॥
दक्षिणायां दिशि स्वामी चमरेन्द्रो वसेन्महान् ।
उत्तरादिग्विभागे च वैरोचनोऽमरैः समम् ॥३०॥
एवं शेषौ पती द्वौ द्वौ दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः ।
इन्द्रौ च भवतः छत्रसिंहासनाद्यलङ्कृतौ ॥३१॥
दशानामसुरादीनां द्वौ द्वौ चेन्द्रौ प्रतिस्फुटम् ।
स्यातां द्वौ द्वौ प्रतीन्द्रौ च दिव्यसम्पत्सुरावृतौ ॥३२॥
सर्वे पिण्डीकृता ज्ञेयाः प्रतीन्द्रा विंशतिप्रमाः ।
दिव्यरूपधरा दिव्याणिमाद्यष्टर्द्धिमण्डिताः ॥३३॥

अर्थः—चमर-वैरोचन; भूतानन्द-धरणानन्द; वेणु-वेणुधारी; पूर्ण-वशिष्ठ; जलप्रभ-जलकान्त; हरिषेण-हरिकान्त; अग्निशिखी-अग्निवाहन; अमितगति-अमितवाहन; घोष-महाघोष; वेलंजन और प्रभंजन ये क्रम से असुरकुमारादि दश कुलों के दो दो इन्द्र हैं। ये बीसों इन्द्र समस्त भवनवासी देवों से सम्मानित, दिव्य अलंकारों से विभूषित, अनेक देवियों और महाऋद्धिधारी देवों से समन्वित रहते हैं ॥२५-२९॥ इनमें चमरेन्द्र दक्षिण दिशा का स्वामी होने से दक्षिण में रहता है और वैरोचन उत्तर दिशा का स्वामी होने से अनेक देवों के साथ उत्तर में निवास करता है ॥३०॥ इसी प्रकार छत्र, सिंहासन आदि से अलंकृत शेष नव कुलों के दो दो इन्द्र क्रमशः दक्षिण और उत्तर दिशा में निवास करते हैं ॥३१॥ जिस प्रकार असुरकुमार आदि दश कुलों के दो दो इन्द्र होते हैं, उसी प्रकार दिव्य वैभव और अनेक देवों से परिवेष्ठित प्रत्येक कुल के दो दो प्रतीन्द्र होते हैं ॥३२॥ दिव्य रूप को धारण करने वाले और अणिमा आदि आठ दिव्य ऋद्धियों से मण्डित इन सर्व प्रतीन्द्रों की एकत्रित संख्या भी बीस ही है, ऐसा जानना चाहिए ॥३३॥

अब दक्षिणेन्द्रों और उत्तरेन्द्रों के भवनों की भिन्न भिन्न संख्या कह कर उन भवनों का विशेष व्याख्यान करते हैं :—

प्रागुक्त भवनानां चासुरादिजाति भागिनाम् ।
मध्ये स्युश्चमरेन्द्रस्य रत्नोच्चभवनान्यपि ॥३४॥
चतुस्त्रिंशच्चलक्षाणि भूतानन्दस्य सद्गृहाः ।
सन्ति लक्षाश्चतुश्चत्वारिंशद्वेणोर्गृहाः परे ॥३५॥
अष्टात्रिंशच्च लक्षाणि पूर्णाख्यस्य सुरेशिनः ।
जलप्रभाख्यशक्रस्य हरिषेणामरेशिनः ॥३६॥
ततोऽग्निशिखिनश्चामितगतेस्त्रिदशेशिनः ।
घोषेन्द्रस्य पृथग्भूताः प्रत्येकं सन्ति सद्गृहाः ॥३७॥
चत्वारिंशच्च लक्षाणि वेलाञ्जनस्य सन्ति च ।
पञ्चाशल्लक्षसंख्यानि महान्ति भवनानि च ॥३८॥
वैरोचनस्य धामानि त्रिंशल्लक्षाणि सन्ति च ।
धरणानन्दनाम्नश्चत्वारिंशल्लक्षसद्गृहाः ॥३९॥
स्युर्वेणुदारिणो लक्षचतुस्त्रिंशत्प्रमा गृहाः ।
वशिष्ठाह्वयशक्रस्य जलकान्ति सुरेशिनः ॥४०॥
हरिकान्तामरेन्द्रस्याग्निवाहनामरेशिनः ।
तथैव ह्यमिताद्यन्तवाहनत्रिदशेशिनः ॥४१॥
महाघोषस्य विद्यन्ते प्रत्येकं भवनानि च ।
षट्त्रिंशल्लक्षसंख्यानि प्रभञ्जनामरेशिनः ॥४२॥
भवनानि च षट्चत्वारिंशल्लक्षाणि सन्ति वै ।
इत्युक्तसंख्ययुक्तानि नानारत्नमयानि च ॥४३॥
एकैकजिनचैत्यालयालङ्कृतोन्नतान्यपि ।
दिव्यैश्चैत्यद्रुमैर्मानस्तम्भैः कूटध्वजोत्करैः ॥४४॥
भूषितानि भृतानि स्त्रीवृन्दसंन्यामरादिभिः ।
गीतनर्तनवाद्यादि जिनार्चोत्सवकोटिभिः ॥४५॥
रम्याणि विस्फुरच्छुद्धमणिभित्तिमयान्यपि ।
दिव्यामोदप्रपूर्णानि सर्वाक्षसुखदानि वै ॥४६॥

इत्युक्तवर्णनैरन्यैरागमोक्तसुवर्णनैः ।
राजन्ते भवनान्युच्चैर्दिव्यसम्पत्समुच्चयैः ।।४७।।
सर्वाणि च समस्तानां दक्षिणाशामरेशिनाम् ।
दशानां चोत्तरेन्द्राणां भोग्यानि पुण्यपाकतः ।।४८।।

अर्थः—पूर्व में असुरकुमार आदि दश कुलों के आश्रित भवनों की जो संख्या कही है, उन्हीं के मध्य में इन्द्रों के भवन अवस्थित हैं। रत्नों से निर्मित चमरेन्द्र के उच्च भवनों की संख्या ३४ लाख है। भूतानन्द के भवनों की संख्या ४४ लाख, वेणु के ३८ लाख, पूर्ण के ४० लाख, जलप्रभ इन्द्र के ४० लाख, हरिषेण के ४० लाख, अग्निशिखी के ४० लाख, अमितगति के ४० लाख और घोष नामक इन्द्र के भी ४० लाख भवन हैं, तथा वेलाञ्जन के उत्तम भवन ५० लाख हैं ।।३४–३८।। उत्तरेन्द्रों में वैरोचन के भवनों की संख्या ३० लाख, धरणानन्द के ४० लाख, वेणुधारी के ३४ लाख, वशिष्ठ इन्द्र के ३६ लाख, जलकान्त के ३६ लाख, हरिकान्त के ३६ लाख, अग्निवाहन के ३६ लाख, अमितवाहन के ३६ लाख, महाघोष इन्द्र के ३६ लाख और प्रभंजन इन्द्र के ४६ लाख भवन हैं। इस प्रकार उपर्युक्त (७७२ लाख) संख्या से युक्त ये सभी भवन रत्नमय हैं ।।३९–४३।। ये प्रत्येक भवन उन्नत चैत्यालयों से अलंकृत हैं, दिव्य चैत्यवृक्षों, मानस्तम्भों, कूटों और ध्वजा समूहों से विभूषित हैं, देवांगनाओं के समूहों से एवं देवों की सैन्य समूहों से भरे रहते हैं, गीत, नृत्य एवं वाद्य आदि से और जिन पूजन के करोड़ों उत्सवों से रम्य हैं, देदीप्यमान उत्तम मणियों की भित्तियों से निर्मित हैं, दिव्य आमोदों से परिपूर्ण हैं और पाँचों इन्द्रिय के सम्पूर्ण सुखों को देने वाले हैं ।।४४–४६।। इस प्रकार उपर्युक्त वर्णनों से, आगमोक्त एवं अन्य वर्णनों से तथा अति विशाल दिव्य सम्पत्ति समूहों से वे दक्षिणदिशागत सम्पूर्ण भवन अत्यन्त शोभायमान होते हैं ।।४७।। यह सब वर्णन दक्षिण दिशागत समस्त (१०) इन्द्रों का है, उत्तर दिशागत दसों इन्द्रों के भी पूर्व पुण्य के फल से सर्व भोग्य पदार्थ इसी प्रकार जानना चाहिए ।।४८।।

अब उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भवनों का प्रमाण तथा जिनेन्द्र प्रतिमा युक्त दस प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन करते हैं :—

जम्बूद्वीपप्रमव्यासा जघन्या सद्गृहा मताः ।
संख्ययोजनविस्ताराः केचिच्च मध्यमाः शुभाः ।।४९।।
असंख्ययोजनव्यासा उत्कृष्टा भवनोत्कराः ।
क्रमेणैतेऽसुरादीनां दशधा चैत्यपादपाः ।।५०।।
अश्वत्थः सप्तपर्णाख्यः शाश्वतः शाल्मली द्रुमः ।
जम्बूश्च वेतसोवृक्षोऽथप्रियङ्गुः पलाशकः ।।५१।।

शिरीषाख्यः कदम्बश्च राजद्रुम इमे शुभाः ।
रत्नपीठाश्रिता रत्नमया रत्नांशुदीपिताः ।।५२।।
असुरादिदशानां दशविधा चैत्यपादपाः ।
रत्नोपकरणोपेता दीप्ता भवन्ति शाश्वताः ।।५३।।
मूलेऽमीषां चतुर्दिक्षुप्रत्येकं सुरपूजिताः ।
पञ्च पञ्च प्रमाः सन्ति जिनेन्द्रप्रतिमाः पराः ।।५४।।

अर्थ:—भवनवासियों के जघन्य भवनों का व्यास जम्बूद्वीप प्रमाण अर्थात् एक लाख योजन है। मध्यम भवनों का व्यास संख्यात योजन और उत्कृष्ट भवनों का विस्तार असंख्यात योजन प्रमाण है। असुरकुमार आदि दस कुलों के क्रम से अश्वत्थ-पीपल, सप्तपर्ण, शाल्मलि-सेमल, जम्बू-जामुन, वेतस-बेंत का वृक्ष, प्रियंगु, पलाश-ढाक, शिरीष-सिरस, कदम्ब और राजद्रुम-कृतमाल ये दश चैत्यवृक्ष हैं। रत्नपीठ पर स्थित, रत्नमय, रत्नकिरणों से देदीप्यमान, प्रकाशमान रत्न के उपकरणों से युक्त, अत्यन्त रमणीक और शाश्वत ये दस प्रकार के चैत्यवृक्ष असुरकुमार आदि दस कुलों में से क्रमशः प्रत्येक के एक एक हैं ।।४९-५३।। इन प्रत्येक चैत्यवृक्षों के मूल में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में देव समूहों से पूज्य परमोत्कृष्ट पांच पांच जिनेन्द्र प्रतिमाएँ हैं ।।५४।।

अब मानस्तम्भों का वर्णन करते हैं :—

पञ्चपञ्चप्रमाणाः स्युर्मानस्तम्भा महोन्नताः ।
रत्नपीठाश्रिता हेमघण्टाध्वजादि शोभिताः ।।५५।।
तीर्थेशप्रतिमासारैः शिरोभागविराजिताः ।
मणिदीप्ताश्च सर्वेषां भवनानां दिशं प्रति ।।५६।।

अर्थ:—सम्पूर्ण भवनों (चैत्यवृक्षों) की प्रत्येक दिशा में तीर्थंकरों की सर्वोत्कृष्ट प्रतिमाओं से जिनके शिरोभाग विभूषित हैं ऐसे देदीप्यमान मणियों से निर्मित, स्वर्णमय घण्टाओं एवं ध्वजाओं से सुशोभित, रत्नपीठ पर स्थित महा उन्नत पांच पांच मानस्तम्भ हैं ।।५५-५६।।

अब इन्द्रादिक के भेद कहते हैं :—

प्रतीन्द्रो लोकपालाश्च त्रायस्त्रिंशसुरास्ततः ।
सामान्यकाह्वया अङ्गरक्षाश्च परिषत्सुराः ।।५७।।
सप्तानीकामरा यं प्रकीर्णका आभियोगिकाः ।
किल्विषिका इति प्रोक्ता दशभेदाः परिच्छदाः ।।५८।।

अर्थः—प्रत्येक कुलों में एक एक इन्द्र के परिवार में प्रतीन्द्र, लोकपाल, त्रायस्त्रिंश, सामानिक, अंगरक्षक, तीन प्रकार के परिषद, अनीक देव, प्रकीर्णक देव आभियोग्य और किल्विषिक ये दस दस भेद होते हैं ॥५७–५८॥

अब इन्द्रादिक पदवियों के दृष्टांत कहते हैं :—

एकैकस्यापि शक्रस्य पृथग्भूताः स्वपुण्यजाः ।
इन्द्राः सर्वेऽमरैः सेव्या राजतुल्या महर्द्धिकाः ॥५९॥
युवराजसमा विश्वे प्रतीन्द्राः सुरसेविताः ।
स्वप्रधानसमा लोकपाला देवाः प्रकीर्तिताः ॥६०॥
पुत्रादिसमसस्नेहास्त्रायस्त्रिंशसुरा मताः ।
मान्यपात्रसमानाः स्युः सामानिकाः सुनिर्जराः ॥६१॥
अङ्गरक्षसमा अङ्गरक्षा इन्द्रान्तर्वर्तिनः ।
अन्तर्मध्यान्तभेदेन त्रिविधाः परिषत्सुराः ॥६२॥
सेनातुल्या अनीकाः प्रकीर्णका नागरोपमाः ।
भृत्यवाहनसादृश्या आभियोगिक निर्जराः ॥६३॥
स्वपापपुण्यभोक्तारः किल्विषिका इवान्त्यजाः ।
इत्यमी कार्यकर्तार इन्द्राणां च पृथग्विधाः ॥६४॥

अर्थः—अपने अपने पुण्य कर्मोदय से एक एक इन्द्र के पृथक् पृथक् प्रतीन्द्र आदि दस दस प्रकार के देव होते हैं। इनमें सर्व देवों से सेव्यमान महाऋद्धि का धारक इन्द्र राजा सदृश होता है। सर्व प्रतीन्द्र युवराज सदृश, सर्व लोकपाल मन्त्री सदृश, सर्व त्रायस्त्रिंश देव स्नेह के भाजन स्वरूप पुत्र आदि के सदृश, सर्व सामानिक देव मान्यपात्र अर्थात् सम्माननीय व्यक्तियों सदृश, इन्द्र के समीप रहने वाले अंगरक्षक देव राजाओं के अंगरक्षक सदृश, तीनों प्रकार के पारिषद् देव, राजा की अभ्यन्तर, मध्य और बाह्य सभा के सदृश, अनीक जाति के देव सेना सदृश, प्रकीर्णक देव नागरिक-प्रजा सदृश, आभियोग्य देव दास एवं सवारी सदृश और किल्विषिक जाति के देव चाण्डालों आदि के सदृश होते हैं। अपने अपने पाप और पुण्य के फलों को भोगते हुये ये सभी देव इन्द्र का पृथक् पृथक् कार्य करते हैं ॥५९–६४॥

अब इन्द्रादिक पांच प्रकार के देवों में विभूति आदि की समानता-असमानता दर्शाते हुये चारों लोकपालों का अवस्थान कहते हैं :—

इन्द्रतुल्यः प्रतीन्द्रः स्यात्त्रायस्त्रिंश सुरास्तथा ।
लोकपालाश्च सामान्यका इमे त्रिविधामराः ॥६५॥

विभूत्येन्द्र समानाः स्युः किञ्चिदूनातपत्रकाः ।
सोमः पूर्वदिशः स्वामी दक्षिणाशापतिर्यमः ॥६६॥

वरुणः पश्चिमाशास्यः कुबेर उत्तराधिपः ।
चत्वारोऽमी हि दिग्नाथा जिनाङ्घ्रिनम्रमौलयः ॥६७॥

अर्थः—त्रायस्त्रिंश देव, लोकपाल और सामानिक ये तीन प्रकार के देव विभूति (आयु, परिवार, ऋद्धि और विक्रिया) आदि में इन्द्र के सदृश ही होते हैं। केवल इनके छत्र नहीं होता, किन्तु प्रतीन्द्र इन्द्र तुल्य ही होते हैं। जिनेन्द्र प्रभु के चरणों में नम्र हैं मुकुट जिनके ऐसे चारों लोकपालों में से सोम पूर्वदिशा के, यम दक्षिण के, वरुण पश्चिम के और कुबेर उत्तर दिशा के स्वामी हैं ॥६५–६७॥

अब प्रत्येक इन्द्रों के त्रायस्त्रिंश सामानिक और अंगरक्षक देवों की संख्या कहते हैं :—

सर्वेन्द्राणां त्रयस्त्रिंशत् त्रायस्त्रिंशसुराः पृथक् ।
सामानिकाश्चतुःषष्टिसहस्राश्चमरस्य च ॥६८॥

सन्ति वैरोचनेन्द्रस्य सहस्राः षष्टिसम्मिताः ।
षट्पञ्चाशत्सहस्राणि भूतानन्दस्य सन्ति ते ॥६९॥

शेषसप्तदशानां धरणानन्दादिकात्मनाम् ।
प्रत्येकं सन्ति सामानिकाः पञ्चाशत्सहस्रकाः ॥७०॥

चमरेन्द्रस्य पार्श्वस्था विद्यन्ते तनुरक्षकाः ।
षट्पञ्चाशत्सहस्राग्रलक्षद्वय प्रमाणकाः ॥७१॥

भवन्त्येवाङ्गरक्षाश्च वैरोचनसुरेशिनः ।
चत्वारिंशत्सहस्राग्रद्विलक्षसंख्यसम्मिताः ॥७२॥

भूतानन्दसुरेन्द्रस्य भवन्ति चाङ्गरक्षकाः ।
चतुर्विंश सहस्राधिकलक्षद्वयसंख्यकाः ॥७३॥

धरणानन्दमुख्यानां शेषसप्तदशात्मनाम् ।
प्रत्येकमङ्गरक्षाः स्युर्द्विलक्षप्रमिताः पृथक् ॥७४॥

अर्थ.—सभी इन्द्रों के त्रायस्त्रिंश देव पृथक् पृथक् तेतीस ही होते हैं। चमरेन्द्र की सभा में सामानिक देवों की संख्या ६४००० है। वैरोचन के ६००००, भूतानन्द के ५६००० और धरणानन्द आदि अवशेष सत्रह इन्द्रों में से प्रत्येक इन्द्र के सामानिक देवों की संख्या ५०, ५० हजार प्रमाण है। ।।६८–७०।। चमरेन्द्र के अङ्गरक्षक देवों का प्रमाण दो लाख ५६ हजार, वैरोचन के दो लाख ४० हजार, भूतानन्द के दो लाख २४ हजार और धरणानन्द आदि सत्रह इन्द्रों के पृथक् पृथक् दो, दो लाख तनुरक्षक देव होते हैं ।।७१–७४।।

अब पारिषद देवों की संख्या कहते हैं :—

चमराख्यसुरेशस्य चान्तःपरिषदि स्फुटम् ।
भवन्ति परिषद्देवा अष्टाविंशसहस्रकाः ।।७५।।
मध्यपरिषदि प्रोक्ता स्त्रिंशत्सहस्रनिर्जराः ।
बाह्य परिषदिद्वात्रिंशत्सहस्रामरा मताः ।।७६।।
वैरोचनस्य चान्तः परिषदि प्रोदिताः सुराः ।
षड्विंशति सहस्राणि शक्राङ्घ्रिनम्रमस्तकाः ।।७७।।
मध्यपरिषदिख्यातास्तेऽष्टाविंशसहस्रकाः ।
बाह्य परिषदि प्रोक्तास्त्रिंशत्सहस्र निर्जराः ।।७८।।
भूतानन्दस्य चान्तः परिषदि श्रीजिनोदिताः ।
आद्यन्त परिषद्देवाः षट्सहस्रप्रमाणकाः ।।७९।।
सुरा अष्टसहस्राः स्युर्मध्यपरिषदिस्थिताः ।
सहस्रदशगीर्वाणा बाह्यपरिषदिस्थिताः ।।८०।।
शेषाणां धरणानन्दादि सप्तदशभागिनाम् ।
चतुःसहस्रदेवाः पृथगन्तः परिषत्स्थिताः ।।८१।।
षट्सहस्रप्रमा देवा मध्यपरिषदि स्मृताः ।
अष्टौ सहस्रगीर्वाणा बाह्यपरिषदि श्रिताः ।।८२।।
अन्तः परिषदो देव समित्याख्योऽस्ति नायकः ।
मध्यापरिषदः स्वामी चन्द्रदेवोऽमरावृतः ।।८३।।
बाह्या परिषदो मुख्यो यदुनामामरोत्तमः ।
इत्युक्ता परिषत्संख्या शक्राणामागमे जिनैः ।।८४।।

अर्थः—चमरेन्द्र की अन्तः परिषद् में पारिषद् देवों की संख्या २८ हजार, मध्य परिषद् में ३० हजार और बाह्य परिषद् में ३२ हजार है ॥७५–७६॥ वैरोचन के अन्तः परिषद् के देव २६ हजार, मध्य परिषद् के इन्द्र के चरणों में नतमस्तक होने वाले पारिषद देव २८ हजार और बाह्य परिषद् के देव ३० हजार कहे गये हैं ॥७७–७८॥ भूतानन्द के अन्तः परिषद् के देव जिनेन्द्र भगवान् ने छह हजार मध्य परिषद् के पारिषद् देव आठ हजार और बाह्य परिषद् के दश हजार देव कहे हैं ॥७९–८०॥ धरणानन्द आदि सत्रह इन्द्रों के पृथक् पृथक् अन्तः परिषद् के देव चार, चार हजार, मध्य परिषद् के छह, छह हजार और बाह्य परिषद के पारिषद देव आठ-आठ हजार हैं ॥८१–८२॥ भगवान् जिनेन्द्र के द्वारा आगम में अन्तः परिषद् के अधिनायक देव का नाम समित्, मध्यपरिषद् के अधिप देव का नाम चन्द्र और बाह्य परिषद् के अधिनायक देव का नाम यदु कहा है। आगम में प्रत्येक इन्द्रों के पारिषद देवों की संख्या भी पूर्वोक्त प्रकार ही कही गई है ॥८३–८४॥

अब अनीक देवों के भेद और चमरेन्द्र के महिषों की संख्या कहते हैं :—

महिषाः प्रवरा अश्वा रथा गजाः पदातयः ।
गन्धर्वा वरनर्तक्य इमे सप्तविधा मताः ॥८५॥

अनीकाः पुण्यजाः सप्त सप्तकक्षान्विताः पृथक् ।
प्रत्येकं प्रीतिदाः प्रीता असुरेन्द्रस्य सर्वदा ॥८६॥

नावश्च गरुडा हस्तिनो महामकरास्तथा ।
उष्ट्राश्च खड्गिनः सिंहाः शिविका तुरगा इमे ॥८७॥

नवभेदा अनीकाः प्रत्येकं सुरेन्द्रपुण्यजाः ।
सुरविक्रियजाः सप्त सप्तकक्षाङ्किताः शुभाः ॥८८॥

मुख्या आद्याश्च नागादीनां नवानां सुधाशिनाम् ।
अनुक्रमेण शेषाणां शक्रप्रीतिकराः पराः ॥८९॥

शेषा ये चासुरेन्द्रस्य प्रागुक्तास्तुरगादयः ।
षडनीकास्त एव स्युर्नागादीनां यथाक्रमम् ॥९०॥

चमरस्यादिमेऽनीके चतुःषष्टिसहस्रकाः ।
महिषाः सन्ति चोत्तुङ्गा दीप्ताङ्गाः सुरमण्डिताः ॥९१॥

तेभ्यः शेषेषु सर्वेषु महिषानीकषट्स्वपि ।
प्रत्येकं महिषाः सन्ति द्विगुणद्विगुणप्रमाः ॥९२॥

अर्थ:—असुरेन्द्र के पूर्व पुण्य के फल से उत्पन्न होने वालीं, प्रीति उत्पन्न कराने वालीं और पृथक् पृथक् सात-सात कक्षाओं से युक्त महिष, श्रेष्ठ अश्व, रथ, गज, पदाति, गन्धर्व और नर्तकी ये सात अनीक-सेनाएँ (देव) होतीं हैं ।।८५-८६।। अवशेष नागकुमार आदि नव भवनवासी इन्द्रों के पुण्य फल स्वरूप, देवों की विक्रिया से उत्पन्न, इन्द्रों को प्रीति उत्पन्न कराने वालीं और सात-सात कक्षाओं से युक्त अनीक (सेनाएँ) होतीं हैं। इन अनीकों में प्रत्येक इन्द्र के अनुक्रम से नाव, गरुड़, गज, महामत्स्य, ऊँट, खड्गी (गेंडा) सिंह, शिविका और घोड़ा ये प्रमुख होतीं हैं, शेष छह अनीकें पूर्व में जैसे असुरेंद्र के क्रमशः घोड़ा, रथ, हाथी आदि कहे हैं उसी प्रकार नागकुमार आदि नव इन्द्रों के भी यथा क्रम से जानना चाहिए। यथा—

१. असुरकुमार—महिष, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।
२. नागकुमार—नाव, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।
३. सुपर्णकुमार— गरुड़, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।
४. द्वीपकुमार—हाथी, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।
५. उदधिकुमार—मगर, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।
६. विद्युत्कुमार—ऊँट, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।
७. स्तनितकुमार—खड्गी, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।
८. दिक्कुमार—सिंह, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।
९. अग्निकुमार—शिविका, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।
१०. वायुकुमार—अश्व, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी ।।८५-९०।।

(असुरकुमार के) चमरेन्द्र के प्रथम अनीक में देदीप्यमान शरीर वाले, देवताओं से मण्डित और ऊँचे ऊँचे ६४ हजार महिष हैं। इन्हीं चमरेन्द्र की शेष छह कक्षों में से प्रत्येक कक्ष में महिषों की संख्या का प्रमाण दूना दूना होता गया है ।।९१-९२।।

एषां सप्तमहिषानीकेषु प्रत्येकं महिषाणां संख्या प्रोच्यते :—

चमरेन्द्रस्य प्रथमे अनीके महिषाश्चतुःषष्टि सहस्राणि। द्वितीये चैकलक्षाष्टाविंशतिसहस्राणि। तृतीये द्विलक्षषट्पञ्चाशत्सहस्राणि। चतुर्थे पञ्चलक्षद्वादशसहस्राणि। पञ्चमे दशलक्ष चतुर्विंशतिसहस्राणि। षष्ठे विंशतिलक्षाष्ट चत्वारिंशत्सहस्राणि। सप्तमे अनीके महिषाश्चत्वारिंशल्लक्षषण्णवति सहस्राणि। सर्वे अमी सप्तानीकानां पिण्डीकृताः महिषाः एकाशीतिलक्षाष्टाविंशतिसहस्राणि भवन्ति।

अर्थः—अब सात कक्षों में से प्रत्येक कक्ष के महिषों की पृथक् पृथक् संख्या कहते हैं :—

चमरेन्द्र की प्रथम कक्ष में ६४ हजार महिष हैं। द्वितीय कक्ष में एक लाख २८ हजार तृतीय कक्ष में दो लाख ५६ हजार, चतुर्थ कक्ष में ५ लाख १२ हजार, पञ्चम कक्ष में १० लाख २४ हजार,

षष्ठ कक्ष में २० लाख ४८ हजार और सप्तम कक्ष में महिषों की संख्या ४० लाख ९६ हजार है। इस प्रकार चमरेन्द्र के सातों अनीकों (कक्षाओं) के महिषों का एकत्रित योग ८१ लाख २८ हजार (८१२८०००) होता है ॥

अब चमरेन्द्र के अनीकों की सम्पूर्ण संख्या और वैरोचन के महिषों की संख्या कहते हैं :—

इत्येवं महिषानीक समानास्तुरगादयः ।
प्रोक्ता गणनयाशेषाः षडनीका पृथक् पृथक् ॥९३॥
पञ्चकोट्योऽष्टषष्टिश्च लक्षाः षण्णवतिस्तथा ।
सहस्रा इति संख्याङ्कैः प्रोदिता गणना जिनैः ॥९४॥
पिण्डिता चमरेन्द्रस्य सिद्धान्ते निखिला सताम् ।
महिषाश्वादि सप्तानामनीकानां शुभाप्तये ॥९५॥
वैरोचनस्य चानीके प्रथमे महिषा मताः ।
षष्टिसहस्रसंख्याश्च तेभ्योऽनीकेषु षट्स्वपि ॥९६॥
शेषेषु महिषाः प्रोक्ता द्विगुणाद्विगुणाः पृथक् ।
पूर्ववत्पुनरेतेषां संख्या व्यासेन चोच्यते ॥९७॥

अर्थः—इसप्रकार चमरेन्द्र की सातों कक्षाओं के महिषों की जितनी संख्या कही गई है, उतनी ही संख्या अश्व आदि अवशेष छह अनीकों की पृथक् पृथक् कही गई है ॥ ९३ ॥ जिनेन्द्र भगवान ने आगम में सज्जनों को शुभ (कल्याण) की प्राप्ति के लिये चमरेन्द्र की महिष, अश्व आदि सातों अनीकों की एकत्रित संख्या का योग पाँच करोड़ ६८ लाख ९६ हजार (५६८९६०००) कहा है ॥९४–९५॥ वैरोचन की प्रथम अनीक में महिषों की संख्या ६० हजार है। इनके शेष छह कक्षों में महिषों की पृथक् पृथक् संख्या दुगनी दुगनी है, जो पृथक् पृथक् कही जाती है ॥९६–९७॥

अब वैरोचन की प्रत्येक कक्षाओं की भिन्न भिन्न संख्या कहते हैं :—

वैरोचनेन्द्रस्य प्रथमे अनीके महिषाः षष्टिसहस्राणि। द्वितीये चैकलक्षविंशतिसहस्राणि। तृतीये द्विलक्षचत्वारिंशत्सहस्राणि। चतुर्थे चतुर्लक्षाशीतिसहस्राणि। पञ्चमे नवलक्षषष्टिसहस्राणि। षष्ठे एकोनविंशतिलक्षविंशति सहस्राणि। सप्तमे अनीके महिषाः अष्टत्रिंशल्लक्ष चत्वारिंशत्सहस्राणि। सर्वे एकत्रीकृताः सप्तानीकानां महिषाः षट्सप्तति लक्षविंशति सहस्राणि भवेयुः।

अर्थः—वैरोचनेन्द्र की प्रथम अनीक में ६० हजार महिष, द्वितीय में एक लाख २० हजार, तृतीय में दो लाख ४० हजार, चतुर्थ में ४ लाख ८० हजार, पंचम में ९ लाख ६० हजार, षष्ठ में १९

लाख २० हजार और सप्तम अनीक में ३८ लाख ४० हजार महिष हैं। इन सातों अनीकों के एकत्रित महिषों का योग ७६ लाख २० हजार (७६२००००) है।

इत्थंभूता बुधैर्ज्ञेया समाना गणनाखिला ।
संख्या च शेषषण्णां हयश्वाद्यनीकात्मनां पृथक् ॥९८॥
पञ्चकोट्यस्त्रयस्त्रिंशल्लक्षास्तथा सहस्रकाः ।
चत्वारिंशदिति ज्ञेया संख्या पिण्डीकृताखिला ॥९९॥
सप्तानां महिषादीनां सैन्यानां श्रीजिनागमे ।
पुण्योदयेन जातानां वैरोचनामरेशिनः ॥१००॥
भूतानन्दस्य नावः स्युरनीके प्रथमेऽपराः ।
षट्पञ्चाशत्सहस्राणि ताभ्यः क्रमेण पूर्ववत् ॥१०१॥
द्विगुणा द्विगुणा नावः शेषानीकेषु षट्स्वपि ।
सुखबोधाय चैतेषां पृथक् संख्या निगद्यते ॥१०२॥

अर्थः—इस प्रकार विद्वानों के द्वारा शेष अश्व आदि छह अनीकों की पृथक् पृथक् संख्या महिषों की संख्या के सदृश ही जानना चाहिये ॥९८॥ जिनागम में वैरोचन इन्द्र के पुण्योदय से उत्पन्न होने वाले महिष आदि सातों अनीकों का एकत्रित प्रमाण पाँच करोड़ तेतीस लाख चालीस हजार (५३३४००००) जानना चाहिए ॥९९–१००॥ भूतानन्द इन्द्र के प्रथम अनीक में ५६००० नाव हैं, इसके बाद अवशेष छह कक्षों में क्रम से यह संख्या दूनी दूनी होती गई है। सुख पूर्वक ज्ञान कराने के लिये यह संख्या पृथक् पृथक् कहते हैं ॥१०१–१०२॥

अब भूतानन्द की सातों अनीकों में नाव की संख्या पृथक् पृथक् कहते हैं :—

भूतानन्देन्द्रस्य प्रथमानीके नावः षट्पञ्चाशत्सहस्राणि। द्वितीयानीके चैकलक्षद्वादशसहस्राणि। तृतीये द्विलक्षचतुर्विंशतिसहस्राणि। चतुर्थे चतुर्लक्षाष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि। पञ्चमे अष्टलक्षषण्णवतिसहस्राणि। षष्ठे सप्तदशलक्षद्विनवतिसहस्राणि। सप्तमे सैन्ये नावः पञ्चत्रिंशल्लक्षचतुरशीतिसहस्राणि एताः सप्तानीकानां सर्वा नाव एकत्रीकृताः एकसप्ततिलक्षद्वादशसहस्राणि भवन्ति।

अर्थः—भूतानंद की प्रथम कक्ष अनीक की प्रथम कक्ष में ५६ हजार नाव हैं, द्वितीय में एक लाख बारह हजार, तृतीय में दो लाख २४ हजार, चतुर्थ में ४ लाख ४८ हजार, पंचम में ८ लाख ९६ हजार, षष्ठ में १७ लाख ९२ हजार और सप्तम अनीक में ३५ लाख ८४ हजार नाव हैं। इन सातों कक्षों की सर्व नावों का एकत्रित योग ७१ लाख १२ हजार (७११२०००) है।

अब भूतानन्द की शेष अनीकों की एवं धरणानन्द की प्रथम अनीक की संख्या कहते हैं :—

षण्णामश्वादिसैन्यानां शेषाणां नौसमा मता ।
संख्या पृथक् पृथग् भूता नर्तक्यन्ता न संशयः ॥१०३॥
चतस्रः कोटयो लक्षाः सप्ताग्रनवतिप्रमाः ।
सहस्राश्चतुरग्राशीतिश्चैषां पिण्डिताखिला ॥१०४॥
सतां संख्या मता सप्तसैन्यानां श्रीजिनेशिना ।
पूर्वपुण्योदयोत्थानां भूतानन्दसुरेशिनः ॥१०५॥
शेषसप्तदशानां धरणानन्दादिकात्मनाम् ।
अनीके प्रथमे नौप्रमुखानि वाहनानि च ॥१०६॥
प्रागुक्तानि पृथक् पञ्चाशत्सहस्राणि सन्ति वै ।
तेभ्यः संख्यान्यसैन्यानां द्विगुणा द्विगुणा पृथक् ॥१०७॥

अर्थः—भूतानन्द इन्द्र की अश्व से लेकर नर्तकी पर्यन्त की शेष छह अनीकों का पृथक् पृथक् प्रमाण नाव के प्रमाण सदृश ही है, इसमें संशय नहीं ॥ १०३ ॥ जिनेन्द्र भगवान् ने भूतानन्द इन्द्र के पूर्व पुण्योदय से उत्पन्न सातों अनीकों की एकत्रित संख्या चार करोड़ संतान्नवे लाख चौरासी हजार (४९७८४०००) प्रमाण कही है ॥१०४-१०५॥ धरणानन्द आदि अवशेष सत्रह इन्द्रों के पूर्व कही गई नौ पृथक् पृथक् प्रमुख अनीकों की प्रथम कक्ष में वाहनों की संख्या पचास हजार प्रमाण है, इनसे आगे आगे अवशेष छह कक्षों में दूनी दूनी कही गई है ॥१०६-१०७॥

अमीषां विस्तरेण बालावबोधाय व्याख्यानं क्रियते :—

धरणानन्दादि शेष सप्तदशेन्द्राणां नौगरुडादिप्रागुक्तवाहनानि क्रमात्-प्रथमे अनीके पञ्चाशत्-सहस्राणि । द्वितीये चैकोलक्षः । तृतीये द्वौ लक्षौ । चतुर्थे चत्वारो लक्षाः । पञ्चमे अष्टौ लक्षाः । षष्ठे षोडशलक्षाः । सप्तमे द्वात्रिंशल्लक्षाणि नौ गरुडादि वाहनानि सैन्ये भवन्ति । इमानि सर्वाणि नौ प्रमुखवाहनानि सप्तानीकानां पिण्डीकृतानि प्रतिशक्रं त्रिषष्ठिलक्षपञ्चाशत्सहस्राणि भवेयुः ।

अब इनका पृथक् पृथक् प्रमाण कहते हैं :—

अर्थः—धरणानन्द आदि अवशेष सत्रह इन्द्रों के पूर्व कहे हुये नाव, गरुड़ आदि वाहन क्रम से प्रथम अनीक के प्रथम कक्ष में ५० हजार, द्वितीय में एक लाख, तृतीय में दो लाख, चतुर्थ में ४ लाख, पंचम में ८ लाख, षष्ठ में १६ लाख और सप्तम में नाव एवं गरुड आदि वाहनों की संख्या ३२ लाख

प्रमाण है। इस प्रकार एक एक इन्द्र के पास नाव हैं प्रमुख जिनमें ऐसे सातों वाहनों का एकत्रित प्रमाण त्रेसठ लाख पचास हजार (६३५००००) है।

अब प्रत्येक इन्द्र की अनीकों का एकत्रित योग और उनके महत्तर आदि कहते हैं:—

षड्शेषाश्वादिकानीकानां संख्यागणना समा ।
आद्यानीकेन विज्ञेया विशेषान्तरवर्जिता ॥१०८॥
चतुःकोटयश्चतुश्चत्वारिंशल्लक्षाः सहस्रकाः ।
पञ्चाशच्चेति विज्ञेया संख्या गणितकोविदैः ॥१०९॥
सर्वैकत्रीकृता सप्तानीकानां संख्या इति ।
सप्त सप्त पृथक् कक्षायुक्तानां प्रवरागमे ॥११०॥
षण्णां क्रमाद्यनीकानां स्वामी महत्तरोऽमरः ।
नर्तकीनामनीकेऽन्त्ये देवीमहत्तरी प्रभुः ॥१११॥
देवाः प्रकीर्णका आभियोग्याः किल्विषिकाः पृथक् ।
स्वल्पसम्पत्सुखोपेताः संख्यातीताः स्मृता जिनैः ॥११२॥

अर्थः—अश्व आदि छह अनीकों की संख्या का प्रमाण प्रथम अनीक प्रमाण ही जानना चाहिए, इसमें कोई अन्तर नहीं है ॥ १०८ ॥ जिनागम में गणितज्ञ पुरुषों के द्वारा सात सात कक्षाओं से युक्त सातों अनीकों का पृथक् पृथक् एकत्रित योग चार करोड़ चवालीस लाख पचास हजार (४४४५००००) कहा गया है, यह प्रमाण एक एक इन्द्र का अलग अलग है ॥ १०९-११० ॥ क्रम से छह अनीकों के स्वामी महिष, घोड़ा, रथ, गज, पयादे और गन्धर्व महत्तर देव हैं, तथा नृत्यकी नामक सप्तम अनीक की स्वामी महत्तरी (प्रधान) देवी होती है ॥ १११ ॥ प्रत्येक इन्द्र के पास अल्प सम्पत्ति और अल्प सुख से युक्त प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्विषिक जाति के पृथक् पृथक् असंख्यात असंख्यात देव होते हैं, ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है ॥११२॥

अब असुरकुमारादि देवों की देवांगनाओं, वल्लभिकाओं और विक्रिया देवांगनाओं का प्रमाण कहते हैं :—

असुराणां च षट्पञ्चाशत्सहस्राणि योषितः ।
देव्यो वल्लभिकाः सन्ति सहस्रषोडशप्रमाः ॥११३॥
दिव्याः पञ्चमहादेव्यः पञ्चेन्द्रियसुखप्रदाः ।
नागानां च स्त्रियः पञ्चाशत्सहस्रप्रमास्तथा ॥११४॥

प्रोता वल्लभिकादेव्यः सहस्रदशसम्मिताः ।
दिव्यरूपा महादेव्यः पञ्चशर्मादिखानयः ॥११५॥
सुपर्णानां चतुश्चत्वारिंशत्सहस्रदेवताः ।
देव्यो वल्लभिका रम्याश्चतुःसहस्रसम्मिताः ॥११६॥
सन्ति पञ्च महादेव्यो रूपादिरसखानयः ।
शेष द्वीपादिसप्तानामिन्द्रादीनां सुराङ्गनाः ॥११७॥
स्युर्द्वात्रिंशत्सहस्राणि प्रत्येकं चारुमूर्तयः ।
तथा वल्लभिका देव्यो द्विसहस्रप्रमाः प्रियाः ॥११८॥
रम्याः पञ्चमहादेव्यो मनोनयनवल्लभाः ।
असुरादि त्रयाणामेकैका देवी निजेच्छया ॥११९॥
विक्रियद्धर्या सहस्राष्टदिव्यरूपाणि योषिताम् ।
विकरोति विनामूलशरीरं च पृथक् पृथक् ॥१२०॥
शेषद्वीपादि सप्तानामेकैका देवता क्षणात् ।
प्रत्येकं षट्सहस्राणि स्त्रीरूपाणि सृजेत्स्वयम् ॥१२१॥

अर्थः—असुरकुमारों के ५६००० देवांगनाएँ, १६००० वल्लभिकाएँ और पांचों इन्द्रियों को सुख प्रदान करने वालीं पांच महादेवियाँ होतीं हैं। नागकुमारों के ५०००० देवांगनाएँ, १०००० वल्लभिकाएँ और पंचेन्द्रियों के सुख की खान स्वरूप, दिव्यरूप धारण करने वालीं पांच महादेवियाँ हैं ॥११३-११५॥ सुपर्णकुमार देवों के ४०००० देवांगनाएँ, अत्यन्त रम्य ४००० वल्लभिकाएँ और रूप एवं रस की खान स्वरूप पाँच महादेवियाँ हैं। द्वीपकुमार आदि शेष सात इन्द्रों में से प्रत्येक इन्द्र की देवियाँ ३२०००, सुन्दर आकृति से युक्त वल्लभिकाएँ २००० और मन एवं नेत्रों को प्रिय लगने वालीं अत्यन्त रम्य महादेवियाँ पाँच होतीं हैं। असुरकुमार, नागकुमार और सुपर्णकुमार इन्द्रों की एक एक देवी अपनी इच्छा से मूल शरीर को छोड़ कर पृथक् पृथक् दिव्य रूप को धारण करने वाली आठ-आठ हजार देवांगना रूप विक्रिया करतीं हैं। शेष द्वीपकुमार आदि सात इन्द्रों की एक एक देवी अपनी इच्छा से मूल शरीर को छोड़कर पृथक् पृथक् छह छह हजार विक्रिया रूप का सृजन करतीं हैं ॥११६-१२१॥

अब चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के पारिषद, अंगरक्षक और अनीक आदि देवांगनाओं का प्रमाण कहते हैं :—

चमरेन्द्रस्य चान्तःपरिषत्स्थित सुधाभुजः ।
एकैकस्य पृथक् सन्ति देव्यः सार्धशतद्वयम् ॥१२२॥

द्वितीया परिषद्देवस्य स्त्रियो द्विशतप्रमाः ।
तृतीया परिषद् गीर्वाणस्य सार्धशतस्त्रियः ॥१२३॥
वैरोचनस्य चान्तः परिषत्स्थितामृताशिनः ।
एकैकस्य पृथग्भूता देव्यस्त्रिशतसम्मिताः ॥१२४॥
द्वितीया परिषत्स्थस्य सार्धद्विशतयोषितः ।
तृतीया परिषत्स्थस्य शतद्वयसुराङ्गनाः ॥१२५॥
नागेन्द्रस्यादिमायां परिषद्यवस्थितस्य च ।
एकैक निर्जरस्य प्रत्येकं देव्यः शतद्वयम् ॥१२६॥
मध्यमायां सुरैकस्य षष्ठ्यग्रशतयोषितः ।
अन्तिमायां च ताश्चत्वारिंशदग्रशतस्त्रियः ॥१२७॥
सुपर्णस्यादिमायां परिषद्यप्यमरस्य च ।
एकैकस्याङ्गनाः प्रत्येकं षष्ठ्यग्रशतप्रमाः ॥१२८॥
मध्यमायां च चत्वारिंशद्युक्तशतयोषितः ।
अन्तिमायां सुरैकस्य विंशत्यग्रशतस्त्रियः ॥१२९॥
शेषद्वीपादिसप्तानामन्तः परिषदि स्फुटं ।
देवैकैकस्य चत्वारिंशत्संयुक्तशताङ्गनाः ॥१३०॥
मध्यमापरिषत्स्थस्य विंशत्यग्रशताङ्गनाः ।
अन्तिमा परिषद्देवैकस्य सन्ति शतस्त्रियः ॥१३१॥
सेनामहत्तराणां चाङ्गरक्षाणां सुराङ्गनाः ।
प्रत्येकं शतसंख्याः स्युः स्वपुण्यपरिपाकजाः ॥१३२॥
सैन्यकानां च पञ्चाशत्स्त्रियः प्रत्येकमञ्जसा ।
सर्वनिकृष्टदेवानां स्युर्द्वात्रिंशत्सुराङ्गनाः ॥१३३॥

अर्थः—चमरेन्द्र की अन्तः परिषद् में जितने देव हैं, उनमें एक एक देव की पृथक् पृथक् डेढ़, डेढ़ सौ (१५०) देवियाँ हैं ॥१२२॥ द्वितीय परिषद् के देवों के दो, दो सौ (२००) और तृतीय परिषद् के देवों के साढ़े तीन, साढ़े तीन (३५०) सौ देवियाँ हैं ॥ १२३ ॥ वैरोचन इन्द्र की अन्तः परिषद् में जितने देव हैं, उनमें एक एक देव के पृथक् पृथक् तीन, तीन सौ (३००) देवियाँ हैं ॥१२४॥ द्वितीय परिषदस्थ देवों में प्रत्येक के पास ढ़ाई, ढ़ाई सौ (२५०) देवियाँ हैं और तृतीय परिषद् के

पारिषदों के पास दो, दो सौ देवियाँ हैं ॥१२५॥ नागेन्द्र की प्रथम परिषदस्थ पारिषद देवों में एक एक देव के अलग-अलग दो-दो सौ (२००) देवियाँ हैं। मध्यम परिषदस्थ देवों के पृथक् पृथक् एक सौ साठ, एक सौ साठ और अन्तिम परिषदस्थ पारिषदों के एक सौ चालीस (१४०) देवियाँ हैं ॥१२६-१२७॥ सुपर्ण इन्द्र की प्रथम सभा के देवों में एक एक के पृथक् पृथक् एक सौ साठ, एक सौ साठ देवियाँ हैं। मध्यम परिषद् के देवों की एक सौ चालीस, एक सौ चालीस और अन्तिम परिषदस्थ पारिषदों की पृथक् पृथक् एक सौ बीस, एक सौ बीस देवियाँ हैं ।१२८-१२९। अवशेष द्वीपकुमार आदि सातों प्रकार के इन्द्रों की अन्तः परिषदस्थ देवों में प्रत्येक देव के एक सौ चालीस (१४०) देवियाँ हैं ॥१३०॥ मध्यम परिषदस्थ पारिषदों में प्रत्येक देव की एक सौ बीस, एक सौ बीस देवांगनाएँ हैं, तथा अन्तिम परिषदस्थ पारिषदों में प्रत्येक देव की सौ, सौ (१००) देवांगनाएँ हैं ॥ १३१ ॥ अनीक देवों के प्रत्येक सेना अधिनायकों (महत्तरों) में प्रत्येक सेनापति के और प्रत्येक अंगरक्षक के अपने अपने पूर्व पुण्य के फल से उत्पन्न होने वाली सौ सौ देवांगनाएँ हैं ॥१३२॥ प्रत्येक अनीक देवों के पचास, पचास और हीन से हीन देवों के बत्तीस बत्तीस देवांगनाएँ होती हैं ॥१३३॥

अब असुरेन्द्र आदि दसों इन्द्रों की आयु का कथन करते हैं :—

असुराणां भवेदायुरुत्कृष्टं सागरोपमम् ।
दशवर्षसहस्राणि जघन्यायुर्न संशयः ॥१३४॥
नागानां परमायुः स्यात्पल्योपम त्रयप्रमम् ।
गरुडानां भवत्यायुः सार्धपल्यद्वयं परम् ॥१३५॥
द्वीपानामायुरुत्कृष्टं पल्यद्वयमखण्डितम् ।
शेषाब्ध्यादिकषण्णां स्यात्सार्धं पल्यैकजीवितम् ॥१३६॥

अर्थः—असुरकुमारों की उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम और जघन्यायु दश हजार वर्ष प्रमाण है। नागकुमारों की तीन पल्योपम और गरुड़कुमारों की उत्कृष्ट आयु २½ पल्योपम प्रमाण है। द्वीपकुमारों की उत्कृष्ट आयु दो पल्योपम तथा शेष छह उदधिकुमारादिकों की उत्कृष्ट आयु डेढ़ (१½) पल्योपम प्रमाण है (जघन्य आयु दश हजार वर्ष है) ॥१३४-१३६॥

अब इन्द्रादिकों की और उत्तरेन्द्रों की आयु आदि का निरूपण करते हैं :—

इन्द्राणां च प्रतीन्द्राणां लोकपालामृताशिनाम् ।
त्रायस्त्रिंशसुराणां च सामानिकसुधाभुजाम् ॥१३७॥
उत्कृष्टायुरिदं ख्यातं तेषां मध्ये सुधाभुजाम् ।
उत्तरेन्द्रस्य सिद्धान्ते तदायुः साधिकं मतम् ॥१३८॥

पूज्याः सर्वं प्रतीन्द्राश्च लोकपालामरास्तथा ।
त्रायस्त्रिंशसुराः सामानिका एते समानकाः ॥१३९॥
महान्तः स्वस्वशक्रेणायुः सम्पदृद्धिशर्मभिः ।
विक्रियाज्ञानदेवाद्यैः किंचिदूनातपत्रकाः ॥१४०॥

अर्थः—इन्द्रों की, प्रतीन्द्रों की, लोकपाल देवों की, त्रायस्त्रिंश देवों की और सामानिक देवों की उत्कृष्ट आयु समान होती है। इनमें उत्तरेन्द्रों की आयु सिद्धान्त में (दक्षिणेन्द्रों से) कुछ अधिक कही गई है ॥१३७–१३८॥ अन्य देवों द्वारा पूज्य समस्त प्रतीन्द्र तथा लोकपाल देव, त्रायस्त्रिंश देव और सामानिक देवों के छत्र इन्द्र के छत्र से कुछ छोटे होते हैं शेष आयु सम्पत्ति, ऋद्धि, सुख, विक्रिया शक्ति, ज्ञान और देवों के समूह आदि में ये सब अपने अपने इन्द्र के सदृश ही होते हैं ॥१३९–१४०॥

अब चमरेन्द्र आदि इन्द्रों की देवांगनाओं की आयु का प्रतिपादन करते हैं :—

चमरेन्द्रस्य देवीनां सार्धपल्यद्विजीवितम् ।
वैरोचनस्य च स्त्रीणामायुः पल्यत्रयं महत् ॥१४१॥
नागेन्द्रस्याङ्गनानां हि पल्याष्टमांशजीवितम् ।
सुपर्णस्यामरस्त्रीणां त्रिकोटिपूर्वजीवितम् ॥१४२॥
द्वीपादिशेषसप्तानां पत्नीनामायुरुत्तमम् ।
अपमृत्युविनिःक्रान्तं त्रिकोटिवर्षसम्मितम् ॥१४३॥

अर्थः—चमरेन्द्र की देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु अढ़ाई (२½) पल्य, वैरोचन की देवियों की तीन पल्य, नागकुमारेन्द्र की देवांगनाओं की पल्य के ८ वें भाग, सुपर्णकुमारेन्द्र की देवियों की आयु तीन पूर्व कोटि और अपघात मृत्यु से रहित द्वीपकुमार आदि शेष सात इन्द्रों की देवियों की उत्कृष्ट आयु तीन करोड़ (३००००००) वर्ष की होती है ॥१४०–१४३॥

अब चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के अंगरक्षकों, सेना महत्तरों और अनीक देवों की आयु कहते हैं :—

चमरस्याङ्गरक्षाणां सेनामहत्तरात्मनाम् ।
आयुः पल्यं तथा सैन्यकानां पल्यार्धजीवितम् ॥१४४॥
तथा वैरोचनस्याङ्गरक्षकाणां स्वजीवितम् ।
सेनामहत्तराणां हि स्वायुः पल्यं च साधिकम् ॥१४५॥

सैन्यकानां च पल्यार्धं साधिकं जीवितं मतम् ।
नागेन्द्रस्याङ्गरक्षाणां सेनामहत्तरात्मनाम् ॥१४६॥
पूर्वकोटिप्रमाणायुः सैन्यकानामखण्डितम् ।
वर्षकोटिप्रमं चायुस्ततोऽपि गरुडस्य वै ॥१४७॥
अङ्गरक्षकसेनानांमहत्तराणां च जीवितम् ।
कोटिवर्षप्रमं सैन्यकानां लक्षाब्दजीवितम् ॥१४८॥
शेषद्वीपादिसप्तानामङ्गरक्षामृताशिनाम् ।
सेनामहत्तराणां चायुर्लक्षवर्षमानकम् ॥१४९॥
अनीकाह्वयदेवानामायुः खण्डविवर्जितम् ।
वर्षाणां प्रवरं पञ्चाशत्सहस्रप्रमाणकम् ॥१५०॥

अर्थः—चमरेन्द्र के अङ्गरक्षकों और सेनामहत्तरों की आयु एक पल्य प्रमाण तथा अनीक (सेना) देवों की आयु अर्ध पल्य प्रमाण है ॥१४४॥ वैरोचन इन्द्र के अंगरक्षकों और सेना महत्तरों की आयु एक पल्य से कुछ अधिक तथा अनीक देवों की आयु अर्ध पल्य से कुछ अधिक है। नागकुमार इन्द्र के अंगरक्षकों और सेनामहत्तरों की आयु एक कोटि पूर्व की और अनीक देवों की कोटि वर्ष प्रमाण आयु है। गरुड़कुमार इन्द्रों के अंगरक्षकों और सेनामहत्तरों को आयु कोटि वर्ष प्रमाण तथा सैन्यकों की एक लाख वर्ष प्रमाण है ॥१४५-१४८॥ शेष द्वीपकुमार आदि सात इन्द्रों के अंगरक्षक देवों और सेना महत्तरों की उत्कृष्ट आयु एक लाख वर्ष प्रमाण तथा अनीक देवों की अपघात रहित उत्कृष्ट आयु पचास हजार (५००००) वर्ष प्रमाण है ॥१४९-१५०॥

अब चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के पारिषद देवों की आयु का निरूपण करते हैं :—

चमरस्य सुराणामाद्यायां परिषदि स्फुटम् ।
सार्धपल्यद्वयं चायुर्द्वितीयायां सुधाभुजाम् ॥१५१॥
पल्यद्वयं तृतीयायां तत्सार्धपल्यसम्मितम् ।
वैरोचनस्य देवानामाद्यायां परिषद्यपि ॥१५२॥
त्रिपल्यायुर्द्वितीयायां सार्धद्विपल्यजीवितम् ।
तृतीयायां सुराणां चायुर्द्विपल्योपमं मतम् ॥१५३॥
नागस्य निर्जराणां प्रथमायां परिषद्यपि ।
आयुः पल्याष्टमो भागो द्वितीयायां सुरात्मनाम् ॥१५४॥

पल्यषोडश भागानामेकोभागोऽस्ति जीवितम् ।
तृतीयापरिषत्स्थानां गीर्वाणानामखण्डितम् ।।१५५।।
द्वात्रिंशद्विहृतांशानां पल्यस्यैकांशजीवितम् ।
वैनतेयस्य चाद्यायां परिषद्भूतांशिनाम् ।।१५६।।
त्रिकोटिपूर्वमानायुर्द्वितीयायां च जीवितम् ।
द्विकोटिपूर्वमन्त्यायां कोटिपूर्वायुरिष्यते ।।१५७।।
द्वीपादिशेषसप्तानां देवानां परिषद्यपि ।
प्रथमायां भवेदायुस्त्रिकोटिवर्षसम्मितम् ।।१५८।।
द्वितीयायां सुराणां च द्विकोटिवर्षजीवितम् ।
तृतीयापरिषत्स्थानां कोटिवर्षायुरुत्तमम् ।।१५९।।

अर्थः—चमरेन्द्र की प्रथम परिषदस्थ पारिषदों की उत्कृष्ट आयु ढाई (२½) पल्य, द्वितीय परिषद् के पारिषदों की आयु दो पल्य की और तृतीय परिषद् के पारिषदों की आयु डेढ़ (१½) पल्य की होती है। वैरोचन इन्द्र की प्रथम परिषद् के पारिषदों की आयु तीन पल्य, द्वितीय परिषद् के पारिषदों की ढाई पल्य और तृतीय परिषद् के पारिषदों की आयु दो पल्य प्रमाण है ।।१५१-१५३।। नागकुमार इन्द्र की प्रथम परिषद् के पारिषदों की आयु पल्य के आठवें भाग, द्वितीय परिषद के पारिषदों की आयु पल्य के सोलहवें भाग और तृतीय सभा के देवों की आयु पल्य के बत्तीसवें भाग प्रमाण होती है। गरुणकुमार इन्द्र की प्रथम सभा के देवों की आयु तीन पूर्व कोटि की, द्वितीय सभा के देवों की दो पूर्व कोटि की और तृतीय सभा के देवों की एक पूर्व कोटि की आयु होती है ।। १५४-१५७ ।। द्वीपकुमार आदि शेष सात इन्द्रों की प्रथम परिषद् के पारिषदों की आयु तीन करोड़ (३००००००००) वर्ष, द्वितीय परिषद् के पारिषदों की दो करोड़ (२०००००००) वर्ष और तृतीय परिषद् के पारिषदों की उत्कृष्ट आयु एक करोड़ (१००००००००) वर्ष प्रमाण होती है ।।१५८-१५९।।

अब असुरकुमार आदि इन्द्रों के शरीर की ऊँचाई, उच्छ्वास एवं आहार के क्रम का निरूपण करते हैं :—

असुराणां तनूत्सेधश्चापानि पञ्चविंशतिः ।
नागादिनवशेषाणां दशचापोच्चविग्रहः ।।१६०।।
असुराणां हृदाहारो गते वर्षसहस्रके ।
उच्छ्वासः स्याद् गते पक्षे नागानां गरुडात्समास् ।।१६१।।

द्वीपानां मानसाहारः सार्धद्वादशभिर्दिनैः ।
उच्छ्वासोऽपि मुहूर्तैश्च सार्धद्वादशसंख्यकैः ॥१६२॥

अब्धीनां विद्युदाख्यानां स्तनितानां सुधाभुजाम् ।
भवेच्च मानसाहारो गतैर्द्वादशभिर्दिनैः ॥१६३॥

दिव्यामोदमयोच्छ्वासो मुहूर्तैर्द्वादशप्रमैः ।
दिक्कुमारसुराणां चाग्नीनां वातामृताशिनाम् ॥१६४॥

मानसाहार एवास्ति सार्धसप्तदिनैर्गतैः ।
स्यादुच्छ्वासो मुहूर्तैश्च सार्धसप्तप्रमैर्गतैः ॥१६५॥

अर्थः—असुरकुमार इन्द्र के शरीर का उत्सेध पच्चीस धनुष प्रमाण और शेष नागकुमार आदि नव इन्द्रों के शरीर का उत्सेध दस, दस धनुष प्रमाण है ॥ १६० ॥ असुरकुमार देव एक हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर मनसा आहार करते हैं, और एक पक्ष व्यतीत हो जाने पर श्वासोच्छ्वास लेते हैं। नागकुमार, गरुड़कुमार और द्वीपकुमार १२½ दिनों में मानसिक आहार करते हैं और १२½ मुहूर्त में उच्छ्वास लेते हैं ॥१६०-१६२॥ उदधिकुमार, विद्युत्कुमार और स्तनितकुमार देव १२ दिन व्यतीत होने पर आहार ग्रहण करते हैं और १२ मुहूर्त व्यतीत होने पर दिव्य एवं सुगन्धमय उच्छ्वास लेते हैं। दिक्कुमार अग्निकुमार और वायुकुमार देव ७½ दिन व्यतीत हो जाने पर आहार ग्रहण करते हैं और ७½ मुहूर्त व्यतीत हो जाने पर श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं ॥१६३-१६५॥

अब भवनवासी देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र कहते हैं :—

असुराणामुत्कृष्टं चावधिज्ञानं भवोद्भवम् ।
योजनानामसंख्यातकोटयो भवान्तराविवित् ॥१६६॥

नागादिनवशेषाणां चासंख्यातसहस्रकाः ।
योजनानि जघन्यं तत्सर्वेषां पञ्चविंशतिः ॥१६७॥

बहुः स्तोक इतिख्यातोऽवधिश्च दिक्चतुष्टये ।
श्वभ्रभूत्रयपर्यन्तमधोभागेऽवधिर्भवेत् ॥१६८॥

मेरोः शिखरपर्यन्तमूर्ध्वलोकेऽवधिर्मतः ।
भावनामरसर्वेषां लक्षयोजनसम्मितः ॥१६९॥

अर्थः—असुरकुमार देवों का अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात करोड़ योजन है। ये अपने भवान्तरों को भी जानते हैं ॥ १६६ ॥ अवशेष नागकुमार आदि नव इन्द्रों का उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात

हजार योजन है। सभी इन्द्रों का जघन्य अवधिक्षेत्र २५ योजन प्रमाण है ।।१६७।। चारों दिशाओं में यह अवधि क्षेत्र अति अल्प कहा गया है, वैसे सभी भवनवासी देव अपने अवधिज्ञान से नीचे तीसरे नरक पर्यंत और ऊपर एक लाख योजनों से सम्मित मेरु पर्वत के शिखर पर्यंत जानते हैं ।।१६८-१६९।।

अब चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के परस्पर स्पर्धा स्थानों का कथन करते हैं :—

सौधर्मेन्द्रेण चित्ते चमरेन्द्रःकुरुते वृथा ।
सहाकिञ्चित्करामीर्ष्यां क्षेत्रसद्भाववर्तनात् ।।१७०।।
तथैशानसुरेन्द्रेण सहेर्ष्यां निःफलां मुधा ।
हृदि वैरोचनेन्द्रोऽपि करोति पापकारिणीम् ।।१७१।।

अर्थः—क्षेत्रगत निमित्त कारण से चमरेन्द्र अपने चित्त में सौधर्मेन्द्र से वृथा ही कुछ ईर्ष्या करता है ।।१७०।। इसी प्रकार वैरोचन भी अपने हृदय में ऐशानेन्द्र से पापोत्पादक और निष्फल ईर्ष्या करता है ।।१७१।।

अब इस सिद्धान्तसार रूप श्रुत को पढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं :—

इत्येवं करणानुयोगकथकं सर्वज्ञवाग्युद्भवम्,
धर्मध्याननिबन्धनं शुभनिधि व्यावर्णनोत्थं परम्,
श्रीमद्भावनसंज्ञकामृतभुजां सिद्धान्तसारं श्रुतम् ।
धर्मध्यानशुभाप्तये मुनिविदो यत्नात् पठन्त्वन्वहम् ।।१७२।।

अर्थः—इस प्रकार जो करणानुयोग को कहने वाला है, सर्वज्ञ की वाणी से निःसृत है, धर्मध्यान का हेतु है, शुभ का खजाना है तथा जिसमें भवनवासी देवों का महान् वर्णन है ऐसे इस सिद्धान्तसार ग्रन्थ का मुनिजन धर्मध्यान रूपी शुभ परिणामों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नपूर्वक निरन्तर अध्ययन करें ।।१७२।।

अधिकारान्त मङ्गल :—

ये तीर्थेशजिनालया मणिमया नागामरैः पूजिताः
स्तुत्या भक्तिभरेण पुण्यनिधयो मेरोरधो भूतले,
या दिव्या जिनमूर्तयोऽति सुभगाश्चैत्यद्रुमेषु स्थिता-
स्तास्तानित्यसुखाप्तयेऽहमनिशं वन्दे स्तुवे भक्तितः ।।१७३।।

इतिश्री सिद्धांतसारदीपकमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते दशविधभवनवासिदेव वर्णनोनामद्वादशोऽधिकारः ।।

अर्थः—मेरु पर्वत के नीचे पृथ्वीतल पर नागकुमार आदि के द्वारा पूजित और भक्ति के भार से स्तुत्य जो जिनेन्द्र भगवान् के मणिमय जिनालय हैं, तथा जो चैत्य वृक्षों पर स्थित पुण्य की निधि स्वरूप, दिव्य और अति सुभग जिन प्रतिमाएँ स्थित हैं उन समस्त प्रतिमाओं की मैं सुख प्राप्ति के लिये भक्ति भाव से अहर्निश वन्दना करता हूँ और स्तुति करता हूँ ॥१७३॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसारदीपक
नाम महाग्रन्थ में दश प्रकार के भवनवासी देवों
का वर्णन करने वाला
बारहवाँ अधिकार समाप्त ॥

त्रयोदशोऽधिकारः

मङ्गलाचरण एवं प्रतिज्ञा :—

असंख्यव्यन्तरावासस्थितान् सर्वान् जिनालयान् ।
व्यन्तरामरवन्द्यार्च्यान् प्रतिमाभिः सह स्तुवे ॥१॥
अथ पञ्चगुरुन्नत्वा विश्वकल्याणसिद्धिदान् ।
करिष्ये वर्णनं सिद्धयै ह्यष्टधाव्यन्तरात्मनाम् ॥२॥

अर्थः—व्यन्तर देवों से वन्दनीय और पूजनीय व्यन्तर देवों के असंख्यात आवासों में स्थित प्रतिमाओं सहित सम्पूर्ण जिनालयों का मैं स्तवन करता हूँ ॥१॥ इसके बाद विश्व का कल्याण करने वाले और सिद्धि प्रदान करने वाले पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करके अब मैं आत्म सिद्धि के लिये आठ प्रकार के व्यन्तर देवों का वर्णन करूंगा ॥२॥

व्यन्तर देवों के आठ भेद :—

आदिमाः किन्नराद्देवाः किम्पुरुषा महोरगाः ।
गन्धर्वाख्यास्ततो यक्षा राक्षसा भूतनिर्जराः ॥३॥
पिशाचाश्च ह्यमी ज्ञेया अष्टधा व्यन्तरामराः ।
अमीषां वर्णभेदादीन् पृथग्वक्ष्येऽधुनाचिदे ॥४॥

अर्थः—किन्नरदेव, किम्पुरुषदेव, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ प्रकार के व्यन्तर देव हैं। अब ज्ञान प्राप्ति के लिये इनके शरीर का वर्ण और इनके भेद अलग अलग कहता हूँ ॥३-४॥

अब व्यन्तर देवों के शरीर का वर्ण कहते हैं :—

प्रियङ्गुफलभाः किन्नराश्च किम्पुरुषाः सिताः ।
महोरगा हि कृष्णाङ्गा गन्धर्वयक्षराक्षसाः ॥५॥
हेमप्रभास्त्रयो भूताः कृष्णवर्णाः पिशाचकाः ।
बहुलप्रभसद्गात्रा अमीषां भेद उच्यते ॥६॥

अर्थ।—किन्नर देवों के शरीर का वर्ण प्रियंगुफल सदृश नील वर्ण, किम्पुरुषों का धवल वर्ण, महोरगों का कृष्ण वर्ण, गन्धर्व, यक्ष और राक्षसों का स्वर्ण सदृश वर्ण, भूतों का कृष्ण वर्ण और पिशाच जाति के देवों का पंक सदृश वर्ण होता है। अब इन आठों देवों के भिन्न भिन्न भेद कहते हैं ॥५-६॥

अब व्यन्तर देवों के मुख्य आठ कुलों के अवान्तर भेद कहते हैं :—

किन्नरा दशभेदा हि किम्पुरुषा द्विपञ्चधा।
महोरगाश्च तावन्तो गन्धर्वाः स्युर्दशात्मकाः ॥७॥
प्रोक्ता द्वादशधा यक्षाः सप्तप्रकारराक्षसाः।
भूताः सप्तविधाश्च द्विसप्तभेदाः पिशाचकाः ॥८॥

अर्थः—किन्नर देवों के दश भेद, किम्पुरुषों के दश भेद, महोरगों के दश भेद गन्धर्वों के दश भेद, यक्षों के बारह, राक्षसों के सात, भूतों के सात और पिशाचों के चौदह भेद होते हैं ॥७-८॥

अब किन्नर और किम्पुरुष कुलों के अवान्तर भेदों के नाम कहते हैं :—

आदिमाः किन्नरादेवाः किम्पुरुषास्ततोऽमराः।
हृदयङ्गमगीर्वाणाः स्वरूपाः पालकामराः ॥९॥
किन्नरकिन्नराः किन्नरनिन्द्याभिधनिर्जराः।
ततः किन्नरमान्याः किन्नरादिरम्यसंज्ञकाः ॥१०॥
किन्नरोत्तमसंज्ञाश्चैते किन्नरा द्विपञ्चधाः।
आद्याः सत्पुरुषा देवा महापुरुषसंज्ञकाः ॥११॥
देवाः पुरुषनामानः पुरुषोत्तमनिर्जराः।
पुरुषप्रभगीर्वाणास्तथातिपुरुषामराः ॥१२॥
मरुतो मरुदेवाख्या मरुत्प्रभाभिधानकाः।
यशोमन्त इमे किम्पुरुषा दशविधा मताः ॥१३॥

अर्थः—प्रथम किन्नर नाम के व्यन्तर देवों में किन्नर और किम्पुरुष ये दो इन्द्र, हृदयङ्गम और स्वरूप ये प्रतीन्द्र हैं, शेष पालक किन्नरकिन्नर, किन्नरनिन्द्य, किन्नरमान्य, किन्नररम्य और किन्नरोत्तम ये दश प्रकार के किन्नर देव हैं। सत्पुरुष (इन्द्र), महापुरुष (इन्द्र), पुरुषनाम (प्रतीन्द्र), पुरुषोत्तम (प्रतीन्द्र), पुरुषप्रभ, अतिपुरुष, मरुत, मरुदेव, मरुत्प्रभ और यशोमन्त नाम के दश प्रकार के किम्पुरुष व्यन्तर देव होते हैं ॥९-१३॥

अब महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच व्यन्तर देवों के अवान्तर नाम आदि कहते हैं :—

अतिकाया महाकाया भुजगाभिधनिर्जराः ।
ततो भुजगशाल्याख्याः स्कन्धशाल्यभिधानकाः ॥१४॥
मनोहराश्च अशिनाख्या महासुराह्वयामराः ।
गम्भीराः प्रियदर्शाख्या दशधेते महोरगाः ॥१५॥
आद्यो गीतरतिर्नाम्ना गीतकीर्तिसमाह्वयः ।
हाहाख्यकोऽथ हूहूसंज्ञो नारदश्च तुम्बुरः ॥१६॥
कन्दवो वासवाभिख्यो महास्वरोऽथ धंवतः ।
गन्धर्वकुलनामानि दशधेमानि सन्ति च ॥१७॥
आदिमो मणिभद्रस्तु पूर्णभद्राह्वयस्ततः ।
शैलभद्रो मनोभद्रो भद्रकाख्यः सुभद्रकः ॥१८॥
सर्वभद्रो मनुष्योऽथ धनपालः स्वरूपकः ।
यक्षोत्तमो मनोहारी यक्षा द्वादशधा ह्यमी ॥१९॥
आद्यो भीमो महाभीमो विघ्नहारि समाह्वयः ।
उदको राक्षसाभिख्यो महाराक्षसनामकः ॥२०॥
ब्रह्मराक्षसनामामी सप्तधा राक्षसा मताः ।
स्वरूपः प्रतिरूपाख्यो भूतोत्तमाभिधोमरः ॥२१॥
प्रतिभूतो महाभूतस्ततः प्रच्छन्नसंज्ञकः ।
आकाशभूत इत्येते सप्तधा भूतजातयः ॥२२॥
कालाख्योऽथ महाकालः कूष्माण्डो राक्षसोऽमरः ।
यक्षः सम्मोहकाभिख्य स्तारकश्चाशुचिः शुचिः ॥२३॥
सतालो देहनामाथ महादेहाभिधानकः ।
पूर्णः प्रवचनाख्योऽमी पिशाचाश्च द्विसप्तधा ॥२४॥

अर्थः—अतिकाय (इन्द्र), महाकाय (इन्द्र), भुजगा (प्रतीन्द्र), भुजगशाल्य (प्रतीन्द्र), स्कंधशाल्य, मनोहर, अशनि, महासुर, गम्भीर और प्रियदर्शी ये दस प्रकार के महोरग व्यन्तर देव हैं ॥१४-१५॥ गीतरति (इन्द्र), गीतकीर्ति (इन्द्र), हा हा (प्रतीन्द्र), हू हू (प्रतीन्द्र), नारद, तुम्बुर, कन्दव, वासव, महास्वर और धंवत ये दस प्रकार के गन्धर्व कुल के व्यन्तर देव हैं ॥१६-१७॥ मणिभद्र (इन्द्र),

पूर्णभद्र (इन्द्र), शैलभद्र (प्रतीन्द्र), मनोभद्र (प्रतीन्द्र), भद्रक, सुभद्रक, सर्वभद्र, मनुष्य, धनपाल, स्वरूपक, यक्षोत्तम और मनोहारी ये बारह प्रकार के यक्ष कुल के व्यन्तर देव हैं ।। १८–१९ ।। भीम (इन्द्र), महाभीम (इन्द्र), विघ्नहारी (प्रतीन्द्र), उदक्ष (प्रतीन्द्र), राक्षस, महाराक्षस और ब्रह्म-राक्षस ये सात प्रकार के राक्षस व्यन्तर देव हैं। स्वरूप (इन्द्र), प्रतिरूप (इन्द्र), भूतोत्तम (प्रतीन्द्र), प्रतिभूत (प्रतीन्द्र), महाभूत, प्रच्छन्न और आकाशभूत ये सात प्रकार के भूत जाति के व्यन्तर देव हैं ।।२०–२२।। काल (इन्द्र), महाकाल (इन्द्र), कूष्माण्ड (प्रतीन्द्र), राक्षस (प्रतीन्द्र), यक्ष, सम्मोहक, तारक, अशुचि, शुचि, सताल, देह, महादेह, पूर्ण और प्रवचन ये चौदह प्रकार के पिशाच जाति के व्यन्तर देव हैं ।।२३–२४।।

अब प्रत्येक कुलों के इन्द्रों के नाम, प्रतीन्द्रों की संख्या और दो दो वल्लभिकाओं के नाम कहते हैं :—

आद्यौ द्वौ द्वाविमाविन्द्रौ पूज्यावेकं कुलं प्रति ।
पृथग्भूतौ प्रतीन्द्रौ च द्वौ द्वौ देवार्चितौ परौ ।।२५।।
आद्येन्द्रः किन्नरो नाम्ना किम्पुरुषो द्वितीयकः ।
ततः सत्पुरुषेन्द्रोऽथ महापुरुषदेवराट् ।।२६।।
अतिकायो महाकायः शक्रो गीतरतिस्ततः ।
गीतकीर्ति समाख्यो माणिभद्रः पूर्णभद्रकः ।।२७।।
भीम इन्द्रो महाभीमः स्वरूपः प्रतिरूपकः ।
कालेन्द्रोऽथ महाकाल इमे षोडश वासवाः ।।२८।।
षोडशैव प्रतीन्द्राः स्युः षोडशानां सुरेशिनाम् ।
द्वे द्वे तथा सहस्रे स्युर्देव्यः प्रत्येकमूर्जिताः ।।२९।।
किन्नरस्या वंतसाख्या देवी केतुमती भवेत् ।
शची किम्पुरुषस्यास्ति रतिसेना रतिप्रिया ।।३०।।
स्यातां सत्पुरुषेन्द्रस्य रोहिणी नवमीस्त्रियौ ।
ह्रिता पुष्पवत्यौ स्तो महापुरुषनायिके ।।३१।।
अतिकायस्य चेन्द्राणी भोगा भोगवती भवेत् ।
महाकायस्य देवी चानिन्दिता पुष्पगन्धिनी ।।३२।।
शची गीतरतीन्द्रस्य स्वरसेना सरस्वती ।
नन्दिनी प्रियदर्शा स्याद् गीतकीर्तेश्च वल्लभा ।।३३।।

मणिभद्रस्य देवी स्यात्कुन्दाख्या बहुरूपिणी ।
पूर्णभद्रस्य सद्देवी तारका चोत्तमा भवेत् ॥३४॥
भीमस्य वसुमित्रास्ति सुपद्मा प्राणवल्लभा ।
रत्नप्रभा सुवर्णाभा महाभीमस्य चाङ्गना ॥३५॥
स्वरूपस्य महादेवी स्वरूपा बहुरूपिणी ।
प्रतिरूपस्य चेन्द्राणी सुसीमास्ति शुभानना ॥३६॥
कालस्य कमलादेवी भवेच्च कमलप्रभा ।
महाकालस्य देवी स्यादुत्पला च सुदर्शना ॥३७॥
एते द्वे द्वे महादेव्यौ रूपसौभाग्यभूषिते ।
प्रत्येकं वासवानां स्तो द्वात्रिंशत्ताश्च पिण्डिताः ॥३८॥

अर्थः—एक एक कुल में अन्य देवों से पूज्य दो दो इन्द्र होते हैं और प्रत्येक कुल में देवों से पूजित दो दो प्रतीन्द्र होते हैं ॥२४॥ प्रथम कुल में किन्नर और किम्पुरुष दो इन्द्र हैं । द्वितीय किम्पुरुषों के कुल में सत्पुरुष और महापुरुष ये दो इन्द्र हैं ॥२५-२६॥ इसके आगे तृतीय आदि कुलों में अतिकाय, महाकाय, गीतरथ, गीतकीर्ति, मणिभद्र, पूर्णभद्र, भीम, महाभीम, स्वरूप, प्रतिरूपक, काल और महाकाल ये सोलह इन्द्र होते हैं । सोलहों इन्द्रों के सोलह ही प्रतीन्द्र होते हैं । इन सभी इन्द्रों और प्रतीन्द्रों में से प्रत्येक के भिन्न भिन्न दो-दो हजार देवांगनाएँ होतीं हैं ॥२७-२९॥ किन्नर इन्द्र के अवतन्स और केतुमती दो शची हैं । किम्पुरुष के रतिसेना और रतिप्रिया ये दो शची हैं ॥३०॥ सत्पुरुष के रोहणी और नवमी तथा महापुरुष के हरित और पुष्पवती ये शची हैं ॥३१॥ अतिकाय इन्द्र के भोगा और भोगवती तथा महाकाय इन्द्र के अनिन्दिता और पुष्पगन्धिनी ये दो दो इन्द्राणियाँ हैं ॥३२॥ गीतरति इन्द्र के स्वरसेना और सरस्वती तथा गीतकीर्ति के नन्दिनी और प्रियदर्शा नाम की दो दो इन्द्राणियाँ हैं ॥ ३३ ॥ मणिभद्र देव के कुन्दा और बहुरूपिणी एवं पूर्णभद्र के तारका और उत्तमा ये दो दो वल्लभिकाएँ हैं ॥३४॥ भीम इन्द्र के वसुमित्रा तथा सुपद्मा और महाभीम के रत्नप्रभा एवं सुवर्णाभा ये दो दो इन्द्राणियाँ हैं ॥३५॥ स्वरूप इन्द्र के स्वरूपा, बहुरूपिणी तथा प्रतिरूप के सुसीमा और शुभानना ये दो दो इन्द्राणियाँ हैं ॥ ३६ ॥ काल इन्द्र के कमलादेवी, कमलप्रभा तथा महाकाल इन्द्र के उत्पला और सुदर्शना ये दो दो महादेवियाँ हैं ॥३७॥ इस प्रकार रूप एवं सौभाग्य से विभूषित दो, दो महा इन्द्राणियां प्रत्येक इन्द्रों के भिन्न भिन्न हैं । इस प्रकार सोलह इन्द्रों के बत्तीस इन्द्राणियां हैं ॥३८॥

अब व्यन्तर देवों के निवास का एवं उनके पुरों (नगरों) आदि का वर्णन करते हैं :—

रत्नप्रभाक्षितेः सन्ति खरभागे महागृहाः ।
चतुर्दशसहस्राणि भूतानामविनश्वराः ॥३९॥
रत्नप्रभावनेः पङ्कभागे रत्नमयाः शुभाः ।
आवासा राक्षसानां स्युः सहस्रषोडशप्रमाः ॥४०॥
शेषव्यन्तरदेवानां मध्यलोकेऽचलादिषु ।
सर्वतः सन्ति चावासाश्चैत्यालयविराजिताः ॥४१॥
अञ्जनो वज्रधातुश्च द्वीपः सुवर्णनामकः ।
द्वीपो मनःशिलाभिख्यो द्वीपो वज्रसमाह्वयः ॥४२॥
रजतो हिङ्गुलद्वीपो हरितालाभिधानकः ।
अष्टद्वीपेषु चैतेषु समभागे समावनौ ॥४३॥
अष्टानां व्यन्तरेन्द्राणां प्रत्येकं शाश्वतानि च ।
जम्बूद्वीपसमानानि पञ्चपञ्चपुराण्यपि ॥४४॥
पूर्वादिदिक्षु विद्यन्ते मानस्तम्भजिनालयैः ।
चैत्यवृक्षैश्च युक्तानि स्वस्वेन्द्रनामभिः स्फुटम् ॥४५॥
अमीषां मध्यभागस्थं स्वेन्द्रनामयुतं पुरम् ।
प्रभं चावर्तकं कान्तं मध्यमं चेति दिक्ष्वपि ॥४६॥

अर्थः—रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग में भूतनामक व्यन्तर देवों के शाश्वत चौदह हजार महागृह हैं ॥३९॥ रत्नप्रभा पृथिवी के पंक भाग में राक्षस कुल व्यन्तरों के रत्नमयी और अत्यन्त रमणीक सोलह हजार प्रमाण आवास हैं ॥४०॥ शेष व्यन्तर देवों के चैत्यालयों से विभूषित आवास तिर्यग्लोक के पर्वतों पर सर्वत्र हैं ॥४१॥ अंजन, वज्रधातु, सुवर्ण, द्वीप, मनः शिल द्वीप, वज्र द्वीप, रजत द्वीप, हिंगुल द्वीप और हरिताल द्वीप, इन आठ द्वीपों में चित्रा भूमि पर समभाग में अर्थात् भूमि के नीचे या पर्वतों के ऊपर नहीं जम्बूद्वीप सदृश समतल भूमि पर आठ प्रकार के व्यन्तर देवों में से प्रत्येक इन्द्र के जम्बूद्वीप सदृश प्रमाण वाले पांच-पांच नगर हैं ॥ ४२–४४ ॥ ये नगर मानस्तम्भों, जिनालयों और चैत्यवृक्षों से युक्त तथा अपने अपने इन्द्रों के नाम से संयुक्त पूर्वादि चारों दिशाओं में हैं। इन नगरों में से अपने अपने इन्द्रों के नाम से युक्त पुर नाम का नगर मध्य में स्थित है, अवशेष किन्नरप्रभ, किन्नरावर्त, किन्नरकान्त और किन्नरमध्य ये चारों नगर क्रमशः पूर्व आदि चारों दिशाओं में अवस्थित हैं ॥४५–४६॥

एतेषां पृथग्नामानि प्रोच्यंते :—

एषां पुराणां मध्यस्थपुरस्य किन्नरपुराख्यं नाम स्यात् । पूर्वभागस्थितपुरस्य किन्नरप्रभाह्वयं नामास्ति । दक्षिणदिग् भागस्थपुरस्य किन्नरावर्तपुराभिधं नाम स्यात् । पश्चिमाशास्थपुरस्य किन्नरकान्तपुरसंज्ञं नामास्ति । उत्तरादिग् स्थितपुरस्य किन्नर मध्यमाह्वयं नाम भवेत् । तथा अन्येषां सप्त द्वीपस्य सर्वपुराणां अनया रीत्या स्व स्वेन्द्रनामपूर्वाणि प्रभावर्तकान्त मध्यमान्तानि नामानि भवन्ति ।

अब इन नगरों के पृथक् पृथक् नाम कहते हैं :—

अर्थः—अंजन द्वीप के मध्य स्थित नगर का नाम किन्नरपुर है । पूर्व दिशा स्थित नगर का नाम किन्नरप्रभ है । दक्षिणदिग् स्थित नगर का नाम किन्नरावर्त है । पश्चिम दिश् स्थित नगर का नाम किन्नरकान्त है और उत्तर दिश् स्थित नगर का नाम किन्नरमध्य है । इसी प्रकार सातों द्वीपों में अपने अपने इन्द्रों के नाम हैं पूर्व में जिनके ऐसे पुर, प्रभ, आवर्त, कान्त और मध्य नाम के नगर इसी रीति से पूर्वादि दिशाओं में अवस्थित हैं ।

अब प्राकार, द्वार, प्रासाद, सभामण्डप एवं चैत्यवृक्षों आदि का प्रमाण पूर्वक वर्णन करते हैं :—

प्राकारा नगरेषु स्युः शाश्वताः प्रोन्नताः शुभाः ।
द्विक्रोशाधिकसप्तत्रिंशद्योजनैश्च विस्तृताः ॥४७॥
मूले क्रोशद्वयाग्रद्वादशसंख्यैश्च योजनैः ।
सार्धद्वियोजन व्यामा मूर्ध्नि द्वारादिभूषिताः ॥४८॥
द्वाराणामुदयोऽमीषां सार्धद्विषड्योजनः ।
विस्तारः क्रोशसंयुक्तकत्रिंशद्योजनप्रमः ॥४९॥
द्वाराणां मस्तकेऽमीषां प्रासादामणिसङ्कुलाः ।
विद्यन्ते प्रोन्नता रम्याः पञ्चसप्ततियोजनैः ॥५०॥
विस्तृताः क्रोशसंयुक्तकत्रिंशद्योजनैः शुभाः ।
तेषां मध्ये सुधर्माख्यो राजते मणिमण्डपः ॥५१॥
योजनानां नवोत्तुङ्गः सार्धद्वादशयोजनैः ।
आयतो विस्तृतः क्रोशाधिकषड्भिश्च योजनैः ॥५२॥
तस्य द्वाराणि रम्याणि द्वियोजनोन्नतानि च ।
योजनव्यासयुक्तानि मण्डपस्य भवन्त्यपि ॥५३॥
इत्येवं वर्णना ज्ञेया सर्वेन्द्राणां पुरेषु च ।
नगराणां चतुर्दिक्षु चत्वारश्चैत्यपादपाः ॥५४॥

रत्नपीठाश्रिता मूले चतुर्दिक्षु विराजिताः ।
भौमेन्द्र पूजिताभिः स्युर्जिनेन्द्रदिव्यमूर्तिभिः ॥५५॥
मानस्तम्भाश्च चत्वारो मणिपीठत्रिकोर्ध्वगाः ।
शालत्रय युताः सन्ति सिद्धबिम्बाढ्यशेखराः ॥५६॥

अर्थः—उन प्रत्येक नगरों में ३७ योजन २ कोस ऊँचे, मूल में १२½ योजन चौड़े, ऊपर २½ योजन चौड़े, शाश्वत, शुभ और द्वारों आदि से विभूषित प्राकार हैं ॥४७–४८॥ इन प्राकारों में स्थित द्वारों में से प्रत्येक द्वार की ऊँचाई ६२½ योजन तथा चौड़ाई ३१¼ योजन प्रमाण है ॥४९॥ इन द्वारों के ऊपर ७५ योजन ऊँचे और ३१¼ योजन चौड़े मणिमय प्रासाद हैं। जिनके मध्य में सुधर्मा नाम के मणिमय मण्डप सुशोभित होते हैं ॥ ५०–५१ ॥ जो ९ योजन ऊँचे, १२½ योजन चौड़े और ६¼ योजन चौड़े हैं ॥५२॥ उस सभा मण्डप के द्वार अत्यन्त रमणीक, दो योजन ऊँचे और एक योजन चौड़े हैं। ॥५३॥ इसी प्रकार का वर्णन सर्व इन्द्रों (दक्षिणेन्द्रों और उत्तरेन्द्रों) के नगरों में जानना चाहिए। नगरों की चारों दिशाओं में (एक एक) चार चैत्य वृक्ष हैं। जिनके मूल में चारों दिशाओं में रत्नपीठ के आश्रित, व्यन्तर देवों से पूजित जिनेन्द्र भगवान के दिव्य मूर्तियाँ हैं ॥ ५४–५५ ॥ इन्हीं चारों वृक्षों के सामने तीन तीन मणिमय पीठ के ऊपर, तीन कोट से युक्त चार मानस्तम्भ हैं, जिनके शिखर सिद्ध भगवान के बिम्बों से युक्त हैं ॥५६॥

अब पिशाचादि व्यन्तर देवों के चैत्य वृक्षों के भिन्न भिन्न नाम, उनमें स्थित प्रतिबिम्ब एवं मानस्तम्भों का वर्णन करते हैं :—

अशोकश्चम्पको नागस्तुम्बुरुश्च वटद्रुमः ।
बदरी तुलसी वृक्षः कदम्बोऽष्टाङ्घ्रिपा इमे ॥५७॥
मणिपीठाग्रभागस्थाः पृथ्वीसारमयोन्नताः ।
भवनेषु क्रमात्सन्ति ह्यष्टानां व्यन्तरात्मनाम् ॥५८॥
तेषां मूले चतुर्दिक्षु पल्यङ्कः प्रतिमाः पृथक् ।
चतुस्तोरणसंयुक्ता दीप्ता दिव्या जिनेशिनाम् ॥५९॥
मानस्तम्भोऽस्ति चैकैकः एकैकां प्रतिमां प्रति ।
मुक्तास्रग्मणिघण्टाढ्यस्त्रिपीठशालभूषितः ॥६०॥

अर्थः—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच इन आठों व्यन्तर देवों के क्रम से अशोक, चम्पक, नाग (केसर), तुम्बरु, वट, बदरी, तुलसी और कदम्ब नाम वाले चैत्यवृक्ष होते हैं। ये ऊँचे ऊँचे वृक्ष पृथ्वी के सारमय (पृथ्वीकायिक) और मणिपीठ के अग्रभाग पर

स्थित होते हैं। इन वृक्षों के मूल में चारों दिशाओं में जिनेन्द्र भगवान की चार चार तोरण द्वारों से युक्त, देदीप्यमान और दिव्य पृथक् पृथक् चार प्रतिमाएँ हैं। तथा एक एक प्रतिमा के प्रति मुक्तादामों एवं मणिमय घण्टाओं से युक्त, मणिमय तीन तीन पीठ और प्राकार से युक्त एक एक मानस्तम्भ है ॥५७-५८॥

अब नगरों की चारों दिशाओं में स्थित वनों एवं विदिशाओं में स्थित नगरों का कथन करते हैं :—

> **पुराणां च चतुर्दिक्षु त्यक्त्वा द्वे च सहस्रके ।**
> **योजनानां हि चत्वारि वनानि शाश्वतान्यपि ॥६१॥**
> **लक्षयोजनदीर्घाणि लक्षार्धविस्तृतानि वै ।**
> **अशोकसप्तपर्णाम्र-चम्पकाढ्यानि सन्ति च ॥६२॥**
> **मध्येऽमीषां हि चत्वारो राजन्ते चैत्यपादपाः ।**
> **अशोक-सप्तपर्णाम्र-चम्पकाख्या जिनार्चनैः ॥६३॥**
> **विदिक्षु नगराणि स्युर्गणिकानां पुराणि च ।**
> **सहस्रचतुरशीतियोजनैर्विस्तृतानि वै ॥६४॥**
> **वृत्ताकाराणि नित्यानि प्राकारादियुतान्यपि ।**
> **पुराणि शेष भौमानामनेकद्वीपवार्धिषु ॥६५॥**

अर्थ:—नगरों की चारों दिशाओं में दो-दो हजार योजन छोड़कर अशोक, सप्तपर्ण, आम्र और चम्पक नाम के चार चार शाश्वत वन हैं, जो एक एक लाख योजन लम्बे तथा पचास-पचास हजार योजन चौड़े हैं। इन वनों के मध्य में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं से युक्त अशोक, सप्तपर्ण आम्र और चम्पक नाम के चार-चार चैत्य वृक्ष शोभायमान होते हैं ॥६१-६३॥ नगरों की चारों विदिशाओं में गणिकाओं के वलयाकार, शाश्वत और प्राकार आदि से युक्त नगर हैं, जो ८४००० योजन लम्बे और ८४००० योजन ही चौड़े हैं। शेष व्यन्तर देवों के नगर अनेक द्वीपों एवं अनेक समुद्रों में हैं ॥६४-६५॥

अब किन्नर आदि सोलह इन्द्रों की ३२ गणिका महत्तरों के नाम कहते हैं :—

> **इन्द्रं प्रति स्त्विमे स्तो महत्तरिके सुराङ्गने ।**
> **गणिकासंज्ञिके द्वे द्वे पृथक् पल्यैकजीविते ॥६६॥**
> **माधुरी मधुरालापा देवी च मधुरस्वरा ।**
> **पुरुषाविप्रियाख्या पृथुका सोमाह्वया ततः ॥६७॥**

प्रदर्शनी हि भोगाख्या भोगावती भुजङ्गिनी ।
नागप्रिया सुतोषाथ घोषाख्या विमलप्रिया ।।६८।।
सुस्वरानिन्दितादेवी देवी भद्रा सुभद्रका ।
मालिनी पद्ममालाख्या सर्वश्री सर्वसैनिका ।।६९।।
रुद्राथ रुद्रदर्शाख्या भूतकान्ता समाह्वया ।
भूतभूतप्रिया देवी दत्ता महाभुजङ्गिनी ।।७०।।
अम्बिकाथ करालाख्या सुरसेना सुदर्शना ।
इन्द्राणां स्युरिमा देव्यो द्वात्रिंशद्भिर्भपिण्डिताः ।।७१।।

अर्थः—सोलह इन्द्रों में से प्रत्येक की गणिका नाम की दो दो प्रधान देवांगनाएँ हैं, इनमें से प्रत्येक की आयु एक-एक पल्य प्रमाण है ।।६६।। माधुरी, मधुरालाप, मधुरस्वरा, पुरुषप्रिया, पृथुका, सोमा, प्रदर्शनी, भोगा, भोगवती, भुजङ्गिनी, नागप्रिया, सुतोषा, घोषा, विमलप्रिया, सुस्वरा, अनिंदिता, भद्रा, सुभद्रका, मालिनी, पद्ममाला, सर्वश्री, सर्वसैनिका, रुद्रा, रुद्रदर्शा, भूतकान्ता, भूतप्रिया, दत्ता, महाभुजङ्गिनी, अम्बिका, कराला, सुरसेना और सुदर्शना ये ३२ गणिका महत्तरिकाएँ व्यन्तरवासी इन्द्रों की हैं।।६७–७१।।

अब व्यन्तर देवों के तीन प्रकार के निवास स्थानों का अवस्थान सूचित कर उनके नगरों एवं कूटों का प्रमाण कहते हैं :—

अष्टानां व्यन्तराणां स्युः पुराणि भवनानि च ।
आवासा इति विज्ञेयास्त्रिविधाः स्थानकाः शुभाः ।।७२।।
मध्यलोकस्थद्वीपाब्धिमहीषु स्यु पुराणि च ।
खरांशे पङ्कभागे चाधोलोके भवनान्यपि ।।७३।।
आवासाः सन्ति चैतेषामूर्ध्वलोके क्षयोज्झिताः ।
पर्वताग्रेषु कूटेषु वृक्षाग्रेषु ह्रदादिषु ।।७४।।
वृत्तोत्कृष्टपुराणां स्याद् व्यासो लक्षैकयोजनः ।
जघन्यनगराणां किलैकयोजनविस्तरः ।।७५।।
उत्कृष्टभवनानां हि सकलोत्कृष्टविस्तरः ।
योजनद्विशताग्रस्यसहस्रद्वादशप्रमः ।।७६।।
जघन्यभवनानां स्याद् विस्तरोऽतिजघन्यकः ।
योजनानामधोलोके पञ्चविंशतिमानकः ।।७७।।

विष्कम्भो निखिलोत्कृष्टावासानां श्रीजिनागमे ।
योजनानां जिनैः प्रोक्तः सहस्रद्वादशप्रमः ॥७८॥
आवासानां जघन्यानां व्यासः क्रोशत्रयं भवेत् ।
उत्कृष्टभवनादीनां मध्ये कूटोऽस्ति भास्वरः ॥७९॥
योजनत्रिशतव्यासः शतैकयोजनोन्नतः ।
जघन्यभवनादीनां मध्ये कूटो जघन्यकः ॥८०॥
एकगव्यूतिविस्तारो हेमरत्नमयोऽक्षयः ।
क्रोशैकस्य त्रिभागानामेकभागसमुन्नतः ॥८१॥

अर्थः—आठों प्रकार के व्यन्तर देवों के रहने के हुए स्थान पुर, भवन और आवास के भेद से तीन प्रकार के जानना चाहिए ॥७२॥ मध्यलोक में (सम) पृथ्वी पर स्थित द्वीप समुद्रों में व्यन्तर देवों के जो निवास स्थान हैं उन्हें पुर कहते हैं। अधोलोक में खर और पङ्क भाग में जो स्थान हैं उन्हें भवन कहते हैं, तथा ऊर्ध्वलोक में अर्थात् पृथ्वीतल से ऊपरी भागों में पर्वतों के अग्रभागों पर, कूटों पर, वृक्षों के अग्रभागों पर, और पर्वतस्थ सरोवरों आदि में जो स्थान हैं उन्हें आवास कहते हैं। ये तीनों प्रकार के निवास स्थान हानि-क्षय से रहित अर्थात् शाश्वत हैं ॥ ७३-७४ ॥ उत्कृष्टपुर वृत्ताकार और एक लाख योजन विस्तार वाले हैं तथा जघन्य पुर एक योजन विस्तार वाले हैं ॥७५॥ समस्त उत्कृष्ट भवनों का उत्कृष्ट विस्तार १२२०० योजन प्रमाण है ॥७६॥ अधोलोक स्थित जघन्य भवनों का जघन्य विस्तार २५ योजन प्रमाण है ।७७। जिनागम में जिनेन्द्र भगवान के द्वारा सम्पूर्ण उत्कृष्ट आवासों का विष्कम्भ १२००० योजन कहा गया है, तथा जघन्य आवासों का व्यास तीन कोस कहा गया है। उत्कृष्ट भवन आदि के मध्य में देदीप्यमान कूट हैं, जो ३०० योजन चौड़े और १०० योजन ऊँचे हैं। जघन्य भवनों आदि के मध्य में जघन्य कूट हैं, जो स्वर्ण और रत्नमय हैं, शाश्वत हैं तथा एक कोस चौड़े और $\frac{1}{3}$ कोस ऊँचे हैं ॥७८-८१॥

अब कूटों का अवशेष वर्णन करते हुए व्यन्तर देवों के निवास (आवासों आदि का) स्थानों का विभाग दर्शाते हैं :—

अमीषां सर्वकूटानां मध्यभागे च मूर्धनि ।
स्फुरद्रत्नमयस्तुङ्ग एकैकः श्रीजिनालयः ॥८२॥
ज्येष्ठानां भवनादीनामुत्कृष्टा वेदिका मता ।
प्रतोलीतोरणाद्याढ्या क्रोशद्वयोच्छ्रितोर्जिता ॥८३॥
लघूनां भवनादीनां लघ्वी सद्वेदिका भवेत् ।
पञ्चविंशतिचापोच्चा गोपुरादिविभूषिता ॥८४॥

केषाञ्चिद् भौमदेवानामावासाः सन्ति केवलम् ।
केषाञ्चिद् भवनैः सार्धमावासाः स्युः शुभाशुभाः ॥८५॥
पुराणि भवनान्युच्चावासा एते त्रयः शुभाः ।
भवन्ति वसतिस्थानाः केषाञ्चित्पुण्यपाकतः ॥८६॥
तथेतित्रिविधस्थानानि स्युर्भवनवासिनाम् ।
नवानामसुराणां च केवलं भवनान्यपि ॥८७॥

अर्थः—इन उत्कृष्ट एवं जघन्य सर्व कूटों के ऊपर मध्य भाग में देदीप्यमान रत्नमय एक एक उत्तुङ्ग जिनालय हैं ॥८२॥ उत्कृष्ट भवनों आदि की उत्कृष्ट वेदियाँ प्रतोली तथा तोरणों आदि से युक्त दो कोस ऊँची हैं, तथा जघन्य भवनों आदि की जघन्य वेदियाँ गोपुर आदि से विभूषित और २५ धनुष ऊँची हैं ॥८३-८४॥ पूर्व पुण्योदय से किन्हीं किन्हीं व्यन्तर देवों के मात्र आवास ही हैं, किन्हीं के आवास और भवन दोनों हैं ॥८५॥ तथा किन्हीं किन्हीं व्यन्तर देवों के आवास, भवन और पुर ये तीनों प्रकार के अत्यन्त शुभ निवास स्थान होते हैं ॥ ८६ ॥ भवनवासी देवों में असुरकुमारों के मात्र भवन होते हैं, अन्य शेष भवनवासियों के तीनों प्रकार के निवास स्थान होते हैं ॥८७॥

अब व्यन्तरेन्द्रों के परिवार देवों का विवेचन करते हैं :—

प्रतिशक्रं भवेदेकैकः प्रतीन्द्रोऽमरावृतः ।
प्रत्येकं किन्नरादीनां सर्वेन्द्राणां भवन्ति च ॥८८॥
चत्वार्येव सहस्राणि देवाः सामानिकाह्वयाः ।
अङ्गरक्षामराः सन्ति सहस्रषोडशप्रमाः ॥८९॥
आदिमापरिषत्स्थाः स्युर्देवा अष्टशतानि च ।
मध्यमापरिषद्देवाः सहस्रप्रमिता मताः ॥९०॥
अन्तिमापरिषत्स्थामरा द्वादशशतप्रमाः ।
गजा अश्वा रथास्तुङ्गा वृषभाश्च पदातयः ॥९१॥
गन्धर्वाः सुरनर्तक्यः सप्तानीकान्यमूनि च ।
प्रत्येकं सर्वयुक्तानि कक्षाभिः सप्तसप्तभिः ॥९२॥
गजानां प्रथमेऽनीकेऽष्टाविंशति सहस्रकाः ।
गजाश्च द्वितीये षट्पञ्चाशत्सहस्रहस्तिनः ॥९३॥
इत्येवं च तृतीयाद्यनीकेषु द्विगुणोत्तराः ।
सप्तमानीकपर्यन्तं विद्यन्ते हस्तिनः क्रमात् ॥९४॥

सप्तानीकगजाः सर्वे सन्ति पिण्डीकृता बुधैः ।
पञ्चत्रिंशच्चलक्षाणि षट्पञ्चाशत्सहस्रकाः ॥९५॥
इत्थं गणनया ज्ञेया ह्यश्वसंख्यागजप्रमा ।
तथा रथाद्यनीकानि गजसंख्यासमानि च ॥९६॥
द्वे कोट्यौ चाष्टचत्वारिंशल्लक्षाणि सहस्रकाः ।
द्व्यधिका नवतिश्चेति संख्यासर्वाजिनैर्मता ॥९७॥
पिण्डीकृताऽप्यनीकानां सप्तानां श्रीजिनागमे ।
सप्तसप्तप्रकाराणां गजादीनां सुरेशिनाम् ॥९८॥
प्रकीर्णकाह्वया देवा आभियोगिकसंज्ञकाः ।
किल्विषिकास्त्रयोऽमी ते ह्यसंख्याता भवन्ति च ॥९९॥
त्रायस्त्रिंशाः सुरा लोकपालाः सन्ति न जातुचित् ।
ततोऽस्ति व्यन्तरेन्द्राणां परिवारोऽखिलोऽष्टधा ॥१००॥

अर्थः—किन्नर, किंपुरुष आदि प्रत्येक इन्द्र के परिवार में देवों से वेष्ठित एक एक प्रतीन्द्र देव होते हैं। सामानिक देव चार (४०००) हजार और अंगरक्षक देव १६००० हजार होते हैं ॥८८-८९॥ अभ्यन्तर परिषद् के देव ८०० मध्यम परिषद् के १००० और बाह्य परिषद् के देव १२०० होते हैं। प्रत्येक इन्द्र के हाथी, घोड़ा, उत्तुङ्ग रथ, वृषभ, पदाति, गन्धर्व और नर्तकी ये सात अनीक सात सात कक्षाओं से युक्त होतीं हैं ॥९०-९२॥ सातों अनीकों में से हाथियों की अनीक की प्रथम कक्ष में २८००० हाथी, द्वितीय में ५६००० हाथी होते हैं। इस प्रकार तृतीय कक्ष से सप्तम कक्ष पर्यन्त क्रम से दूने दूने संख्या प्रमाण हाथी होते हैं ॥ ९३-९४ ॥ गणधर देवों के द्वारा सातों कक्षों के हाथियों का एकत्रित योग ३५५६००० कहा गया है ॥९५॥ इसी प्रकार सातों कक्षों के घोड़ों की संख्या तथा रथ आदि शेष पाँचों की संख्या गजों की संख्या के प्रमाण ही जानना चाहिए ।९६। जिनेंद्र भगवान के द्वारा सात सात कक्षाओं से युक्त सातों अनीकों की सम्पूर्ण संख्या का योग (३५५६०००×७)=२४८९२००० कहा गया है ॥९७॥ जिनागम में सात सात कक्षाओं से युक्त गज आदि सातों अनीकों के देवों का एकत्रित २४८९२००० योग प्रत्येक व्यन्तरेन्द्रों के पृथक् पृथक् कहा गया है ॥९८॥ प्रत्येक इन्द्र के परिवार में प्रकीर्णक, आभियोगिक और किल्विषिक नामक तीनों प्रकार के देव असंख्याते होते हैं। व्यन्तरेन्द्रों के परिवार में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देव कभी नहीं होते, इसलिये इन सभी इन्द्रों का परिवार प्रतीन्द्र, सामानिक, अंगरक्षक, पारिषद्, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोगिक और किल्विष के भेद से आठ प्रकार का होता है ॥९९-१००॥

अब नित्योपपादादि वानव्यन्तर देवों का निवास क्षेत्र कहते हैं :—

एकं हस्तान्तरं त्यक्त्वा ह्याद्यचित्रामहीतले ।
नित्योत्पादक नामानो वसन्ति व्यन्तरामराः ॥१०१॥
ततो दशसहस्राणि हस्तानां च विहाय च ।
सन्ति दिग्वासिनस्त्यक्त्वा स्मादोर्दशसहस्रकान् ॥१०२॥
वसन्त्यन्तरवासाख्याः पुनर्दशसहस्रकान् ।
करांस्त्यक्त्वा च कूष्माण्डास्तिष्ठन्त्यतो विमुच्य च ॥१०३॥
हस्तविंशसहस्राणि वसन्त्युत्पन्न निर्जराः ।
ततो विंशसहस्राणि कराणां प्रविहाय च ॥१०४॥
सन्त्यनुत्पन्नगीर्वाणास्तस्माद् विंशसहस्रकान् ।
करान् मुक्त्वा वसन्त्येव प्रमाणकाभिधाः सुराः ॥१०५॥
ततो विंशसहस्राणि हस्तानां परिमुच्य च ।
तिष्ठन्ति गन्धगीर्वाणास्तस्माद् विंशसहस्रकान् ॥१०६॥
हस्तांस्त्यक्त्वा महागन्धाः पुनर्विमुच्य विंशति ।
सहस्राणि कराणां स्युर्भुजगाख्या विहाय च ॥१०७॥
पुनर्विंशसहस्राणि हस्तानां निवसन्ति च ।
प्रीतिङ्कुरास्ततस्त्यक्त्वा करविंशसहस्रकान् ॥१०८॥
आकाशोत्पन्ननामानो देवा वसन्ति भूतले ।
एते द्वादशधा देवा विज्ञेया वानव्यन्तराः ॥१०९॥

अर्थः—चित्रा पृथ्वी के ऊपर एक हाथ का अन्तराल छोड़ कर नित्योत्पादक नाम के व्यन्तर देव रहते हैं ॥ १०१ ॥ इनसे १०००० हाथ छोड़ कर दिग्वासी देव, इनसे १०००० हाथ छोड़ कर अन्तरवासी नाम के देव रहते हैं। इनसे १०००० हाथ छोड़कर कूष्माण्ड देव रहते हैं। इनसे २०००० हाथ छोड़ कर उत्पन्न देव तथा इनसे २०००० हाथ छोड़ कर अनुत्पन्न देव रहते हैं। इनसे २०००० हाथ छोड़ कर प्रमाणक देव, इनसे २०००० हाथ छोड़ कर गन्ध देव, इनसे २० हजार हाथ छोड़ कर महागन्ध नाम के देव, इनसे २० हजार हाथ छोड़ कर भुजग नामक देव, इनसे २० हजार हाथ छोड़-कर प्रीतिङ्कर और इनसे २० हजार हाथ छोड़ कर आकाशोत्पन्न नाम के देव निवास करते हैं। इस प्रकार भूतल पर इन बारह प्रकार के व्यन्तर देवों का निवास जानना चाहिए ॥१०२-१०९॥

निर्यो्ऽपावकदेवानामखण्डायुर्जिनैर्मतम् ।
दशवर्षसहस्राणि दिग्वासिनां च जीवितम् ॥११०॥

विंशत्यब्दसहस्राण्यन्तरवासिसुधाभुजाम् ।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि कुष्माण्डानां च जीवितम् ॥१११॥

चत्वारिंशत्सहस्राब्दमुत्पन्नाख्यामृताशिनाम् ।
परमायुर्भवेत् पञ्चाशत्सहस्राब्दमानकम् ॥११२॥

अनुत्पन्नात्मनां षष्टिसहस्रवर्षजीवितम् ।
प्रमाणकात्मनां सप्ततिसहस्राब्दसंस्थितिः ॥११३॥

गन्धाख्यानां तथाशीतिसहस्रवर्षजीवितम् ।
महागन्धाख्यदेवानां स्मृते चायुर्मतं जिनैः ॥११४॥

वर्षाणां चतुरशीतिसहस्रप्रमाणकम् ।
भुजगानां भवेदायुः पल्यैकस्याष्टमांशकः ॥११५॥

प्रीतिङ्कुरात्मनां पल्यस्य चतुर्थांशजीवितम् ।
आकाशोत्पन्नदेवानामायुः पल्यार्धसम्मितम् ॥११६॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा निर्योत्पादक देवों की अखण्ड आयु दश हजार वर्ष दिग्वासियों की २० हजार वर्ष, अन्तरवासी देवों की ३० हजार वर्ष, कुष्माण्ड देवों की ४० हजार वर्ष, उत्पन्न देवों की ५० हजार वर्ष, अनुत्पन्न देवों की ६० हजार वर्ष, प्रमाणक देवों की ७० हजार वर्ष, गन्ध देवों की ८० हजार वर्ष और महागन्ध देवों की उत्कृष्ट आयु ८४ हजार वर्ष कही गई है, तथा जिनागम में भुजग देवों की आयु पल्य का ८ वां भाग, प्रीतिङ्कुर देवों की पल्य का चौथाई भाग और आकाशोत्पन्न देवों की आयु अर्ध पल्य प्रमाण कही गई है ॥११०–११६॥

अब व्यन्तर देवों की जघन्योत्कृष्ट आयु, अवगाहना, आहार, श्वासोच्छ्वास और अवधिज्ञान के विषय का प्रमाण कहते हैं :—

उत्कृष्टं व्यन्तराणां स्यादायुः पल्योपमं क्रमात् ।
दशवर्षसहस्राणि सर्वजघन्यजीवितम् ॥११७॥

दशचापोन्नतः कायः समस्त व्यन्तरात्मनाम् ।
मानसाहार एवास्ति सार्धपञ्चदिनैर्गतैः ॥११८॥

सार्धपञ्चमुहूर्तैर्निःक्रान्तैरुच्छ्वास एव च ।
व्यन्तराणामसंख्यातयोजनान्यवधिर्मतः ॥११९॥

उत्कृष्टोहि जघन्यश्च पञ्चविंशतियोजनः ।
ऊर्ध्वाधोऽपि कियन्मात्रो भवप्रत्ययसम्भवः ॥१२०॥

अर्थः—व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य प्रमाण और जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण होती है ॥११७॥ समस्त व्यन्तर देवों के शरीर की ऊँचाई दश धनुष प्रमाण है। ५½ दिन व्यतीत हो जाने के बाद व्यन्तर देव मनसा आहार करते हैं और ५½ मुहूर्त व्यतीत हो जाने के बाद श्वासोच्छ्वास लेते हैं। व्यन्तर देवों का उत्कृष्ट अवधि क्षेत्र असंख्यात योजन प्रमाण और जघन्य अवधिक्षेत्र २५ योजन प्रमाण है। ये ऊर्ध्व और अधः कुछ भवों को भी यथा सम्भव जानते हैं ॥११८-१२०॥

अब आचार्य करणानुयोग पढ़ने की प्रेरणा देते हैं :—

एतद् व्यन्तरजातिभेदविभवस्थित्यादिसंसूचकम् ।
धर्मध्याननिबन्धनं ह्यघहरं चार्हन्मुखाब्जोद्भवम् ॥
सिद्धान्तं करणानुयोगममलं चित्ताक्षवन्त्यङ्कुशम् ।
सद्ध्यानाय सुयोगिनः सुविधिना नित्यं पठन्त्वादरात् ॥१२१॥

अर्थः—इस प्रकार व्यन्तर देवों के जाति, भेद, वैभव और स्थिति आदि को संसूचन करने वाला, धर्मध्यान का हेतु, पापनाशक, अर्हन्त भगवान् के मुख रूपी कमल से उत्पन्न तथा मन और इन्द्रिय रूपी हाथी को वश करने के लिये अंकुश के सदृश इस सिद्धान्तसार रूप निर्मल करणानुयोग को उत्तम ध्यान की सिद्धि के लिये उत्तम योगीजन विधिविधान से आदर (विनय) पूर्वक नित्य ही पढ़ो ॥१२१॥

अधिकारान्त मङ्गल :—

ये श्रीमद्भवनेषु विश्वनगरेष्वावास सर्वेषु चा-
धो मध्योर्ध्वसुभूमिसर्वगिरिषु श्रीमज्जिनेन्द्रालयाः ।
तत्रस्था जिनमूर्तयोऽतिसुभगाश्चैत्यद्रुमादिस्थिता
या स्तास्ताः शिवशर्म्मभूतिजननीर्वन्दे स्तुवे मुक्तये ॥१२२॥

इतिश्री सिद्धांतसारदीपकमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते व्यन्तरदेवस्थिति-भेदभूपादिवर्णनोनामत्रयोदशमोऽधिकारः ॥

अर्थः—समस्त भवनों, नगरों एवं आवासों में, अधो, मध्य और ऊर्ध्व लोकों में, सर्व सुदर्शन मेरु आदि पर्वतों पर तथा अत्यन्त शोभा युक्त चैत्य आदि वृक्षों पर स्थित वैभव युक्त जितने जिन मन्दिर हैं, उन मन्दिरों में स्थित कल्याण और सुख को उत्पन्न करने के लिये माता के सदृश जो जिन प्रतिमाएँ हैं, उन सबका मैं मुक्ति प्राप्ति के लिये स्तवन करता हूँ, वन्दना करता हूँ ॥१२२॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसार दीपक
नाम महाग्रन्थ में आठ प्रकार के भेद वाले व्यन्तर देवों की
स्थिति आदि का प्ररूपण करने वाला
तेरहवाँ अधिकार समाप्त ॥

चतुर्दशोऽधिकारः

मङ्गलाचरण :—

ज्योतिर्देवविमानस्थासंख्यातश्रीजिनालयान् ।
जिनबिम्बान्वितान् वन्दे स्तुवे नित्यान् शिवाय च ॥१॥

अर्थः—ज्योतिर्देवों के विमानों में स्थित जो असंख्यात जिनालय हैं, उन जिनालयों में स्थित जिन प्रतिमाओं के समूह को मैं मोक्ष प्राप्ति के हेतु नित्य ही वन्दना करता हूँ और उनका स्तव करता हूँ ॥१॥

अब ज्योतिषी देवों के भेदों का प्ररूपण करते हैं :—

चन्द्राः सूर्या ग्रहा नक्षत्राणि प्रकीर्णतारकाः ।
एते पञ्चविधाः प्रोक्ता ज्योतिष्कदेवतागणाः ॥२॥

अर्थः—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारा, इस प्रकार ज्योतिषदेवों के समूह पाँच प्रकार के कहे गये हैं ॥२॥

अब तारा आदि ज्योतिर्देवों के स्थान का निर्देश करते हैं :—

दशोनाष्टशतान्यस्माद्योजनानि महीतलात् ।
त्यक्त्वा सन्ति विमानानि तारकाणां नभोंगणे ॥३॥

ततोप्यूर्ध्वनभो मुक्त्वा दशयोजनसम्मितम् ।
आदित्यानां विमानानि विद्यन्ते शाश्वतान्यपि ॥४॥

अशीतियोजनान्यूर्ध्वं पुनस्त्यक्त्वा भवन्ति से ।
चन्द्राणां सद्विमानान्यतो योजनचतुष्टयम् ॥५॥

मुक्त्वा नक्षत्रदेवानां विमानानि च सन्त्यनु ।
त्यक्त्वा योजनचत्वारि बुधानां स्युर्विमानकाः ॥६॥

मुक्त्वातोयोजनत्रीणि शुक्राणां स्युर्विमानकाः ।
त्यक्त्वाथ योजनत्रीणि बृहस्पतिविमानकाः ॥७॥
मुक्त्वानु योजनत्रीणि मङ्गलानां विमानकाः ।
त्यक्त्वातो योजनत्रीणि शनैश्चरविमानकाः ॥८॥
ज्योतिः पटलबाहुल्यमित्थं दशोत्तरं शतम् ।
योजनानां भवेत्सर्वं विमानव्याप्तखाङ्गणे ॥९॥
चित्रामहीतलाद्योजनानां नवशतान्तरे ।
सर्वज्योतिष्कदेवानां विद्यन्ते हि विमानकाः ॥१०॥

अर्थः—चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर जाकर आकाश में ताराओं के विमान हैं ॥३॥ नभ में तारागणों से दश योजन ऊपर सूर्य के [illegible] विमान हैं, इनसे ८० योजन ऊपर आकाश में चन्द्र विमान हैं । चन्द्र से चार योजन ऊपर नक्षत्र विमान, इससे चार योजन ऊपर बुध विमान, इससे ३ योजन ऊपर शुक्र विमान, इससे तीन योजन ऊपर गुरु विमान, इससे तीन योजन ऊपर मंगल विमान और मंगल से तीन योजन ऊपर शनि का विमान है ॥ ४–८ ॥ इस प्रकार ज्योतिर्पटल के सर्व विमान आकाश में पिण्ड रूप से ११० योजन क्षेत्र को व्याप्त करके रहते हैं ॥९॥ समस्त ज्योतिषी देव चित्रा पृथ्वी के तल से (७९० योजन की ऊँचाई से प्रारम्भ कर) ९०० योजन (७९०+११०=९००) की ऊँचाई तक स्थित हैं ॥१०॥

चित्रा पृथ्वी से ज्योतिर्बिम्बों की ऊँचाई की तालिका :—

क्रम	ज्योतिर्बिम्बों के नाम	पृथ्वी से योजनों में ऊँचाई	मीलों में ऊँचाई
१	तारागण	चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर	३१६०००० मील ऊपर
२	सूर्य	७९०+१०=८०० „ „	३२००००० „ „
३	चन्द्र	८००+८०=८८० „ „	३५२०००० „ „
४	नक्षत्र	८८०+४ =८८४ „ „	३५३६००० „ „
५	बुध	८८४+४ =८८८ „ „	३५५२००० „ „
६	शुक्र	८८८+३ =८९१ „ „	३५६४००० „ „
७	गुरु	८९१+ ३=८९४ „ „	३५७६००० „ „
८	मंगल	८९४+ ३=८९७ „ „	३५८८००० „ „
९	शनि	८९७+ ३=९०० „ „	३६००००० „ „

अब ज्योतिर्विमानों का स्वरूप कहते हैं :—

उत्तानगोलकार्धेन समानाकृतयः शुभाः ।
वृत्ताकाराविमानाः स्युः श्वेतरत्नमयोन्नताः ॥११॥
मध्येऽमीषां पुराणि स्युर्भूषितानि जिनालयैः ।
देवीदेवभृतानि श्रीसौधानीकाङ्कितानि च ॥१२॥

अर्थः—ऊर्ध्वमुख अर्ध गोल (गेंद) के आकार सदृश शुभ आकृति वाले सर्व ज्योतिर्विमान गोलाकार, श्वेतरत्नमय और उन्नत हैं ॥ ११ ॥ इन विमानों के मध्य में जिनालयों से विभूषित, देव देवियों से भरी हुई और लक्ष्मी युक्त प्रासादों से अलंकृत रमणीक नगरियाँ हैं ॥१२॥

सूर्य, चन्द्र विमानों की आकृतियों का चित्रण :—

अब सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिर्विमानों के व्यास का प्रमाण कहते हैं :—

कृतैकषष्टिभागानां योजनस्य विमानकम् ।
निशाकरस्य षट् पञ्चाशद्भागविस्तरं भवेत् ॥१३॥
त्रयः क्रोशाश्चतुश्चत्वारिंशदग्रशतानि च ।
त्रयोदशैव चापानामिति किञ्चित्तथाधिकम् ॥१४॥
व्यासं चन्द्रविमानस्य प्रोक्तं जैनागमे जिनैः ।
कृतैकषष्टिभागानां योजनस्य विमानकम् ॥१५॥
स्यात्सूर्यस्याष्ट चत्वारिंशद्भागविस्तरान्वितम् ।
विमानं शुक्रदेवस्य क्रोशैकविस्तृतं भवेत् ॥१६॥
बृहस्पतिविमानं स्यात् पादोनक्रोशविस्तरम् ।
मङ्गलस्य बुधस्यैव शनैश्चरस्य कोविदैः ॥१७॥
प्रत्येकं सुविमानस्य मतार्धक्रोशविस्तृतिः ।
तारकाणां विमानाश्च केचित्सर्वजघन्यकाः ॥१८॥

कोशैकस्य चतुर्भागविस्तरा मध्यमा क्रमात् ।
कोशार्द्ध विस्तृताः केचित् पादोनक्रोशविस्तराः ॥१६॥
केचिच्च सकलोत्कृष्टाः क्रोशव्यासविमानकाः ।
इति ताराविमानानां त्रिधाविष्कम्भ उच्यते ॥२०॥
नक्षत्राणां विमानाः स्युः सर्वे क्रोशैकविस्तृताः ।
सर्व ज्योतिर्विमानानां व्यासार्धं स्थूलता भवेत् ॥२१॥

अर्थः—चन्द्र विमान का विस्तार एक योजन के ६१ भागों में से ५६ भाग प्रमाण अर्थात् $\frac{56}{61}$ योजन प्रमाण है ॥१३॥ जिनागम में जिनेन्द्र भगवान् द्वारा चन्द्र विमान का व्यास तीन कोस और १३४४ धनुष से कुछ ($\frac{13}{61}$ धनुष) अधिक कहा गया है। सूर्य के विमान का विस्तार एक योजन के ६१ भागों में से ४८ भाग अर्थात् $\frac{48}{61}$ योजन प्रमाण और शुक्रदेव के विमान का विस्तार एक कोस प्रमाण है ॥ १४–१६ ॥ बृहस्पति देव के विमान का विस्तार पौन कोश तथा मङ्गल, बुध और शनि देवों के विमानों का विस्तार विद्वानों के द्वारा अर्ध अर्ध कोस प्रमाण कहा गया है। तारागणों के कुछ विमान जघन्य हैं, जिनका विस्तार एक कोश का चतुर्थ भाग अर्थात् $\frac{1}{4}$ कोश है, मध्यम विमानों में किन्हीं का प्रमाण अर्ध ($\frac{1}{2}$) कोश और किन्हीं का पौन कोश ($\frac{3}{4}$) है। उत्कृष्ट विमानों का प्रमाण एक कोश है, इस प्रकार तारागणों के विमानों का विष्कम्भ तीन प्रकार का कहा गया है। सर्व नक्षत्रों के विमानों का व्यास एक एक कोश है। सर्व ज्योतिर्विमानों की मोटाई अपने अपने विस्तार के अर्धभाग प्रमाण है ॥१७–२१॥

अमीषां विस्तरेण व्याख्यानं प्रोच्यते :—

चन्द्रविमानस्य स्थौल्यं योजनस्यैक षष्टिभागानां अष्टाविंशतिभागप्रमाणं स्यात्। सूर्यविमानस्य योजनैकषष्टिभागानां चतुर्विंशतिभागप्रमबाहुल्यं भवेत्। शुक्रविमानस्य क्रोशार्धं स्थूलतास्ति। बृहस्पति-विमानस्य क्रोशाष्टभागानां त्रिभागसम्मितं बाहुल्यं स्यात्। मङ्गलबुधशनैश्चरविमानानां प्रत्येकं क्रोश-चतुर्थांशस्थूलता भवेत्। तारकविमानानां जघन्यं स्थौल्यं क्रोशस्याष्टमो भागः स्यात्। मध्यमं च क्रोश-चतुर्थांशः क्रोशाष्टभागानां त्रिभागप्रमं स्यात्। उत्कृष्टं क्रोशार्धं च। नक्षत्रविमानानां स्थौल्यं क्रोशार्धं भवति।

अब ज्योतिर्विमानों के बाहल्य (मोटाई) का व्याख्यान विस्तार से करते हैं :—

चन्द्र विमान की मोटाई $\frac{28}{61}$ योजन, सूर्य विमान की $\frac{24}{61}$ योजन, शुक्र विमान की $\frac{1}{2}$ कोश, गुरु के विमान की $\frac{3}{8}$ कोश तथा मंगल, बुध और शनि के विमानों की मोटाई पृथक् पृथक् पाव ($\frac{1}{4}$) कोश प्रमाण है। तारागणों के जघन्य विमानों की मोटाई $\frac{1}{8}$ कोश, मध्यम विमानों में से किन्हीं

की मोटाई १/४ कोश और किन्हीं की ३/८ कोश, उत्कृष्ट विमानों की मोटाई और नक्षत्रों के विमानों की मोटाई अर्ध-अर्ध कोश प्रमाण है ॥

सर्व ज्योतिर्विमानों का एकत्रित व्यास एवं बाहल्य निम्न प्रकार है :—

क्रम	ज्योतिर्बिम्बों के नाम	व्यास (विस्तार) योजनों में	मीलों में	बाहल्य (मोटाई) योजनों में	मीलों में
१	चन्द्र विमान	५६/६१ योजन	३६७२ ८/६१ मील	२८/६१ योजन	१८३६ ४/६१ मील
२	सूर्य विमान	४८/६१ योजन	३१४७ ३३/६१ मील	२४/६१ योजन	१५७३ ४७/६१ मील
३	शुक्र विमान	१ कोश	१००० मील	१/२ कोश	५०० मील
४	गुरु विमान	३/४ कोश	७५० मील	३/८ कोश	३७५ मील
५	बुध विमान	१/२ कोश	५०० मील	१/४ कोश	२५० मील
६	मंगल विमान	१/२ कोश	५०० मील	१/४ कोश	२५० मील
७	शनि विमान	१/२ कोश	५०० मील	१/४ कोश	२५० मील
८	तारागणों का जघ०	१/४ कोश	२५० मील	१/८ कोश	१२५ मील
९	,, ,, मध्यम	१/२ कोश व ३/४ कोश	५०० व ७५० मी०	१/४ व ३/८ कोश	२५० व ३७५ मी०
१०	,, ,, उत्कृष्ट	१ कोश	१००० मील	१/२ कोश	५०० मील
११	नक्षत्र विमान	१ कोश	१००० मील		
१२	राहु विमान				
१३	केतु विमान				

अब सूर्य चन्द्र आदि ग्रहों की किरणों का प्रमाण एवं उनका स्वरूप कहते हैं :—

सूर्यस्य सूर्यकान्ताश्मविमानस्य महान्ति च ।
द्वादशैव सहस्राणि सन्त्युष्णकिरणान्यपि ॥२२॥
चन्द्रस्य चन्द्रकान्ताश्मविमानस्य भवन्त्यपि ।
द्विषट्सहस्रसंख्यानि सच्छीतकिरणानि च ॥२३॥

स्युः शुक्रस्य विमानस्य पञ्चविंशशतांशवः ।
अन्ये ज्योतिष्कदेवानां विमाना मन्दरोचिषः ।।२४।।

अर्थः—सूर्य का विमान सूर्य कान्त मणि से निर्मित है। सूर्य की १२००० किरणें हैं जो उष्ण हैं ।।२२।। चन्द्रमा का विमान चन्द्रकान्त पत्थर (मणि) से निर्मित है। इसकी भी किरणें १२००० ही हैं किन्तु वे शीतल हैं ।।२३।। शुक्र के विमान की २५०० किरणें हैं। (जो प्रकाश से उज्ज्वल हैं) शेष अन्य ज्योतिष्क देवों के विमानों की किरणें मन्द प्रकाशवाली हैं ।।२४।।

अब तारागणों का तिर्यग् अन्तर चन्द्र-सूर्य के ग्रहण का कारण एवं चन्द्रकलाओं में हानि वृद्धि का कारण कहते हैं :—

तारकाणां जघन्यं स्यात्तिर्यगन्तरमेव च ।
क्रोशस्य सप्तमो भागः पञ्चाशद्योजनप्रमम् ।।२५।।
मध्यमं सकलोत्कृष्टं सहस्रयोजनप्रमम् ।
निशाकरविमानस्य किञ्चिदूनैकयोजनम् ।।२६।।
अन्तरं प्रविधायाधो भागे राहुविमानकम् ।
गच्छद्गतैश्च षण्मासैः पर्वान्ते चन्द्रमण्डलम् ।।२७।।
आच्छादयति चेत्येवं स्यात्तं तद्ग्रहणं भुवि ।
तथा सूर्यविमानस्य किञ्चिद्धीनैकयोजनम् ।।२८।।
कृत्वान्तरमधोभागे कृष्णं केतुविमानकम् ।
व्रजन्निःक्रान्तषण्मासैः पर्वान्ते भानुमण्डलम् ।।२९।।
आच्छादयति चात्रैतत्सूर्यग्रहणमुच्यते ।
राहुश्यामविमानस्य ध्वजोपरि विहाय खे ।।३०।।
चतुरङ्गुष्ठविमानान्तरं स्याच्चन्द्रविमानकम् ।
अरिष्टस्य विमानस्य केतूपरि विमुच्य खे ।।३१।।
चतुरङ्गुष्ठमात्रान्तरं स्याद् भानुविमानकम् ।
चन्द्रमण्डलपूर्णस्य कृष्णपक्षे दिनं प्रति ।।३२।।
कृतषोडशभागानामेकैकांशः प्रहीयते ।
प्रतिपद्दिनमारभ्याधःस्थराहुगतेर्वशात् ।।३३।।
तथा चन्द्रविमानस्य शुक्लपक्षे दिनं प्रति ।
वर्धते भागएकैकः पूर्णमास्यन्तमञ्जसा ।।३४।।

अर्थः—एक तारा से दूसरी तारा का तिर्यग् जघन्य अन्तर एक कोश का सातवाँ भाग अर्थात् ⅐ कोश (१४२⁶⁄₇ मील) है। तिर्यग् मध्यम अन्तर ५० योजन (दो लाख मील) और उत्कृष्ट अन्तर १०० योजन (४ लाख मील है।) कुछ कम एक योजन व्यास वाला राहु का विमान चन्द्र विमान के अधोभाग में कुछ अन्तराल से गमन करता हुआ प्रत्येक छह मास बाद पर्व (पूर्णिमा) के अन्त में चन्द्र के विमान को आच्छादित कर लेता है। लोक में यही आच्छादन क्रिया चन्द्र ग्रहण के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार कुछ कम एक योजन व्यास वाला कृष्णवर्ण केतु का विमान सूर्य विमान के अधोभाग में कुछ अन्तराल से गमन करता हुआ प्रत्येक छह मास बाद पर्व (अमावस्या) के अन्त में सूर्य के विमान को आच्छादित कर लेता है, लोक में इसी को सूर्य ग्रहण कहते हैं। श्यामवर्ण राहु विमान की ध्वजा दण्ड से चार प्रमाणांगुल ऊपर आकाश में चन्द्र विमान अवस्थित है, इसी प्रकार श्यामवर्ण केतु विमान की ध्वजा दण्ड से चार प्रमाणांगुल ऊपर आकाश में सूर्य विमान अवस्थित है। चन्द्र विमान के नीचे स्थित अंजन वर्ण राहु के गमन विशेष के वश से कृष्णपक्ष में प्रतिपदा से प्रारम्भ कर अमावस्या पर्यन्त चन्द्र की सोलह कलाओं में से एक एक अंश प्रतिदिन घटता जाता है। अर्थात् कृष्ण रूप होता जाता है। उसी प्रकार शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा से प्रारम्भ कर पूर्णिमा पर्यन्त एक एक अंश प्रतिदिन वृद्धिगत होता जाता है। अर्थात् शुक्लरूप होता जाता है ॥२५–३४॥

अब अन्य प्रकार से चन्द्र कलाओं की हानि वृद्धि का कथन करते हैं :—

शुक्लपक्षे सदा राहुः स्वयं मन्दगतिर्भवेत् ।
चन्द्रस्यैव निसर्गेण शीघ्रा गतिश्च सत्यपि ॥३५॥

कृष्णपक्षे सदा राहोर्मता शीघ्र गतिर्बुधैः ।
स्वभावेन च चन्द्रस्य मन्दागतिर्दिनं प्रति ॥३६॥

एवं गतिवशाच्चन्द्र कलानां प्रत्यहं भवेत् ।
षोडशानां कलंकका हानिर्वृद्धिद्विपक्षयोः ॥३७॥

अर्थः—शुक्लपक्ष में राहु की गति हमेशा स्वभाव से ही मन्द होती जाती है और स्वभावतः ही चन्द्र की गति तेज होती जाती है। इसी प्रकार कृष्णपक्ष में प्रतिदिन राहु की स्वभावतः शीघ्र गति हो जाती है और चन्द्र की मन्दगति होती जाती है, ऐसा विद्वज्जनों के द्वारा कहा गया है ॥३५–३६॥ इस प्रकार गति विशेष के वश से दोनों पक्षों में प्रतिदिन चन्द्र की सोलह कलाओं में हानि-वृद्धि होती है ॥३७॥

अब चन्द्रादिक ज्योतिषी देवों के विमान वाहक देवों के आकार और संख्या का विवेचन करते हैं :—

सिंहरूपधरा देवाः चतुःसहस्रसम्मिताः ।
लगित्वा पूर्वदिग्भागे नयन्तीन्दुविमानकम् ॥३८॥
गजवेषधरास्तुङ्गास्तावन्तो वाहनामराः ।
तद्दक्षिणदिशि स्थित्वा व्योम्नि तच्चालयन्ति च ॥३९॥

सुरा वृषभरूपेण चतुःसहस्रमानकाः ।
पश्चिमाशां समाश्रित्य नयन्ति चन्द्रमण्डलम् ॥४०॥

दिव्याश्वविक्रिया पश्चाश्चतुः सहस्रनिर्जराः ।
लगित्वोत्तरदिग्भागे सविमाना व्रजन्ति खे ॥४१॥

एवं सूर्यविमानेऽपि सिंहादिवेषधारिणः ।
सन्ति वाहनगीर्वाणाः सहस्रषोडशप्रमाः ॥४२॥

तथाशेषग्रहाणां स्युर्विमानवाहकाः सुराः ।
प्रत्येकं च चतुर्दिक्षु लग्ना द्विद्विसहस्रकाः ॥४३॥

पिण्डीकृता इमे सर्वे ज्ञेया वाहननिर्जराः ।
एकैकस्य ग्रहस्यापि पृथक् चाष्टसहस्रकाः ॥४४॥

सहस्रसम्मिताः सिंहास्तावन्तो गजसत्तमाः ।
सहस्रवृषभास्तावन्तोऽश्वाश्चवाहनामराः ॥४५॥

एते पिण्डीकृताः सर्वे चतुःसहस्रमानकः ।
नक्षत्राणां विमानेषु चतुर्दिक्षु पृथक् पृथक् ॥४६॥

तारकाणां विमानेषु सिंहाः पञ्चशतप्रमाः ।
तावन्तो दन्तिनः पञ्चशतानि वृषभामराः ॥४७॥

तावन्तोऽश्वा इमे सर्वेऽल्पपुण्या वाहनामराः ।
सिंहादिविक्रियापन्ना ज्ञेया विमानवाहकाः ॥४८॥

अर्थः—पूर्व दिशा में सिंह के आकार को धारण करने वाले ४००० देव चन्द्र विमान में लग कर उसे चलाते हैं ॥३८॥ उन्नत गज आकार को धारण करने वाले वाहन जाति के ४००० देव दक्षिण दिशा में स्थित होकर चन्द्र विमान को आकाश में चलाते हैं ॥ ३९ ॥ पश्चिम दिशा में वृषभ आकार को धारण करने वाले ४००० देव चन्द्र विमान में जुत कर उसे चलाते हैं, तथा उत्तर दिशा में विक्रिया युक्त ४००० देव दिव्य अश्व के रूप को धारण और उसमें जुत कर विमान को चलाते हैं।

॥४०–४१॥ इसी प्रकार सिंह, हाथी, वृषभ और अश्व रूप को धारण करने वाले १६००० वाहन जाति के देव सूर्य विमान में भी होते हैं ॥४२॥ इसी प्रकार अवशेष शुक्र, गुरु, बुध, शनि और मंगल के विमानों में प्रत्येक विमानों की चारों दिशाओं में दो-दो हजार वाहन जाति के देव जुतते हैं ॥४३॥ इन सबका योग करने पर प्रत्येक ग्रह के पृथक् पृथक् वाहन जाति के देव आठ-आठ हजार हैं॥ ४४ ॥ वाहन जाति के १००० सिंह रूप धारी देव, १००० गज रूप धारी, १००० वृषभ रूप धारी और १००० अश्व रूप धारी देव प्रत्येक नक्षत्र विमानों की चारों दिशाओं में पृथक् पृथक् होते हैं, और इनका योग करने पर एक एक नक्षत्र विमान के सर्व देव चार चार हजार होते हैं ॥४५-४६॥ तारागणों के प्रत्येक विमानों की चारों दिशाओं में क्रमशः ५०० सिंह, ५०० हाथी, ५०० बैल और ५०० घोड़े होते हैं, इन प्रत्येक विमानों के देवों का एकत्रित प्रमाण दो-दो हजार होता है। सिंहादिक की विक्रिया युक्त, विमान वाहक इन वाहन जाति के देवों को अल्प पुण्याधिकारी जानना चाहिए ॥४७–४८॥

अब मनुष्य लोक में स्थित चन्द्र-सूर्यों की संख्या का निरूपण करते हैं :—

जम्बूद्वीपे पृथक् स्यातां द्वौ चन्द्रौ द्वौ दिवाकरौ ।
लवणोदे च चतुश्चन्द्राश्चत्वारो भानवो मताः ॥४९॥
स्युर्द्वीपे धातकीखण्डे चन्द्राद्वादशसंख्यकाः ।
तावन्तो भानवः कालोदधौ चन्द्रमसः स्मृताः ॥५०॥
द्विचत्वारिंशदादित्यास्तावन्तः पुष्करार्धके ।
द्विसप्ततिप्रमाश्चन्द्रास्तावन्तः स्युर्दिवाकराः ॥५१॥
इमे पिण्डीकृताः सर्वे द्वात्रिंशदधिकं शतम् ।
चन्द्राः सूर्याश्च तावन्तो नृक्षेत्रे सकले मताः ॥५२॥

अर्थः—जम्बूद्वीप में पृथक् पृथक् दो चन्द्र और दो सूर्य हैं। लवणोदधि में चार चन्द्र एवं चार सूर्य हैं ॥४९॥ धातकी खण्ड में १२ चन्द्र तथा १२ ही सूर्य हैं। कालोदधि में ४२ चन्द्र और ४२ ही सूर्य हैं, इसी प्रकार पुष्करार्धवर द्वीप में ७२ चन्द्र एवं ७२ सूर्य हैं ॥५०-५१॥ इन सबका एकत्रित योग करने पर सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र में (२+४+१२+४२+७२=) १३२ सूर्य और १३२ ही चन्द्रमा हैं। ॥५२) ॥ जैसेः—

(विवरण अगले पृष्ठ पर देखें।)

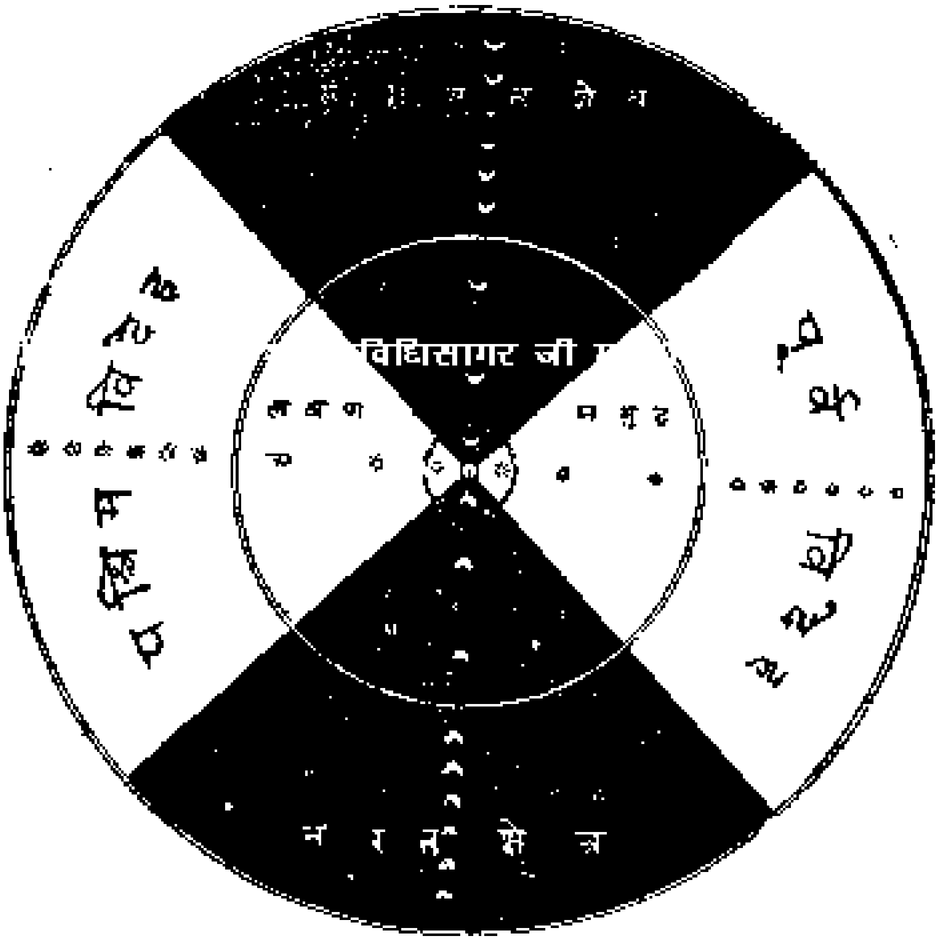

(चित्रण में जिस प्रकार जम्बूद्वीप लवण समुद्र और धातकी खण्ड के चन्द्र सूर्य दर्शाये गये हैं उसी प्रकार कालोदक एवं पुष्करार्ध क्षेत्र में भी जानना चाहिए।

अब एक चन्द्र के परिवार का निरूपण करते हैं :—

चन्द्रेन्द्रस्य भवेत्सूर्यः प्रतीन्द्रो मिलिता ग्रहाः।
अष्टाशीतिश्च नक्षत्राण्यष्टाविंशतिरेव च ॥५३॥
षट्षष्टिश्च सहस्राणि तथा नवशतान्यपि।
पञ्चसप्ततिसंख्यानाः कोटीकोट्यो हि तारकाः ॥५४॥

अर्थ:—चन्द्रमा इन्द्र है। इसके परिवार में सूर्य प्रतीन्द्र (एक), ग्रह ८८, अभिजित् सहित अश्विनी आदि नक्षत्र २८ एवं छयासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोड़ाकोड़ी अर्थात् ६६९७५०००००० - ०००००००० तारागण हैं ॥५३-५४॥

अब जम्बूद्वीपस्थ भरतादि क्षेत्रों और कुलाचलों की ताराओं का विभाजन दर्शाते हैं :—

तेभ्यो हिमवदाद्यद्रिवर्षेषु द्विगुणोत्तराः ।
भवन्ति तारका यावद्विदेहक्षेत्रमुत्तमम् ।।५६।।
विदेहक्षेत्रतोऽर्धार्धास्तारकाः सन्त्यनुक्रमात् ।
ऐरावतान्तमेवाद्रि नीलाद्य रम्यकादिषु ।।५७।।

(जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र से विदेह क्षेत्र पर्यन्त की शलाकाएँ क्रमशः दुगुनी-दुगुनी होती गई हैं और विदेह से आगे क्रमशः दुगुण हीन होती गई हैं, तथा इन सर्व शलाकाओं का कुल योग (१+२+४+८+१६+३२+६४+३२+१६+८+४+२+१) =१९० है, इसलिए श्लोक में १९० का भाग देने को कहा गया है ।)

अर्थः—छयासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारागणों के प्रमाण को १९० से भाग देने पर जो एक भाग प्राप्त हो उतनी ताराएँ भरतक्षेत्र के ऊपर हैं, उनसे हिमवन् आदि कुलाचलों एवं विदेह पर्यंत के क्षेत्रों पर तारागणों का प्रमाण क्रमशः दुगुना दुगुना होता गया है, तथा विदेह क्षेत्र से, ऐरावत है अन्त में जिसके ऐसे रम्यक आदि क्षेत्रों पर और नील आदि कुलाचलों के ऊपर इन तारागणों का प्रमाण क्रमशः अर्ध अर्ध हीन होता गया है ।।५५-५७।।

तारकाणां विवरणं क्रियते :—

भरतक्षेत्रस्योपरि ताराः सप्तशतपञ्चोत्तर कोटीकोट्यः भवन्ति । हिमवतः उपरिदशाधिक चतुर्दशशतकोटीकोटयश्च हैमवतवर्षस्योपरि ताराः विंशत्यग्राष्टाविंशतिकोटीकोटयः । महाहिमवतः उपरि पञ्चसहस्रषट्शतचत्वारिंशत्कोटीकोटयश्च । हरिवर्षस्योपरितारा एकादशसहस्रद्विशताशीति कोटीकोट्यः निषधस्योपरि तारा द्वाविंशतिसहस्र पंचशतषष्टिकोटीकोट्यः । विदेहक्षेत्रस्योपरि ताराः पञ्चचत्वारिंशत्सहस्रैक शतविंशति कोटीकोट्यः भवेयुः । नीलस्योपरि तारा द्वाविंशतिसहस्रपञ्चशतषष्टिकोटीकोट्यः । रम्यकस्योपरि तारा एकादशसहस्रद्विशताशीतिकोटीकोट्यः सन्ति । रुक्मिणः उपरिताराः पञ्चसहस्रषट्शतश्चत्वारिंशत्कोटीकोट्यः सन्ति । हैरण्यवतस्योपरि द्विसहस्राष्टशतविंशति कोटीकोटयश्च । शिखरिणः उपरि एकसहस्रचतुःशतदशोत्तरकोटीकोटयश्च ।ऐरावतस्योपरि ताराः पञ्चोत्तरसप्तशतकोटीकोट्यः सन्ति । एवं पिण्डीकृताः जम्बूद्वीपे सर्वे तारकाः एकलक्षत्रयस्त्रिंशत्सहस्रनवशतपञ्चाशत्कोटीकोट्यो भवन्ति ।

(उपर्युक्त गद्य का अर्थ तालिका में अगले पृष्ठ पर दिया गया है ।)

गद्य का सम्पूर्ण अर्थ निम्नांकित तालिका में निहित है :—

क्रम	क्षेत्र और पर्वतों के नाम	तारागणों का प्रमाण	क्रम	क्षेत्र और पर्वतों के नाम	तारागणों का प्रमाण
१	भरतक्षेत्र के ऊपर	७०५ कोड़ाकोड़ी	८	नील पर्वत के ऊपर	२२५६० कोड़ाकोड़ी
२	हिमवन् पर्वत के ऊपर	१४१० " "	९	रम्यक क्षेत्र के ऊपर	११२८० " "
३	हैमवत क्षेत्र के ऊपर	२८२० " "	१०	रुक्मि पर्वत के ऊपर	५६४० " "
४	महाहिमवन् पर्वत के ऊपर	५६४० " "	११	हैरण्यवत क्षेत्र के ऊपर	२८२० " "
५	हरिक्षेत्र के ऊपर	११२८० " "	१२	शिखरी पर्वत के ऊपर	१४१० " "
६	निषध पर्वत के ऊपर	२२५६० " "	१३	ऐरावत क्षेत्र के ऊपर	७०५ " "
७	विदेह क्षेत्र के ऊपर	४५१२० " "			
	योग—	८९५३५		योग—	४४४१५

कुल योग :—जम्बूद्वीप में कुल तारागण ८९५३५+४४४१५=१३३९५० हैं।

अब अढ़ाईद्वीपस्थ प्रत्येक द्वीप के ज्योतिर्विमानों की पृथक् पृथक् संख्या दर्शाते हैं :—

सार्धद्वीपद्वयोश्चाब्ध्योर्द्वयोर्ज्योतिष्कनिर्जराः ।
प्रागुक्तक्रमवृद्धया प्रवर्धन्ते निखिला अपि ॥५८॥

अर्थः—अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों में समस्त ज्योतिष्क देव पूर्वोक्त क्रम वृद्धि से ही वृद्धिङ्गत होते हैं :—

अमीषां विस्तरः निगद्यते :—

जम्बूद्वीपे द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यौ, ग्रहा षट्सप्तत्यग्रशतं । नक्षत्राणि षट्पञ्चाशत्, ताराः एकलक्षत्रयस्त्रिंशत्सहस्र नवशतपञ्चाशत्कोटीकोटयः । लवणसमुद्रे चन्द्राश्चत्वारः । सूर्याश्चत्वारः ग्रहाः द्विपञ्चाशदग्रत्रिशतानि । नक्षत्राणि द्वादशाधिकशतं । ताराः द्विलक्षसप्तषष्टिसहस्रनवशतकोटीकोटयः। धातकीखण्डद्वीपे द्वादशनिशाकराः । द्वादशादित्याः । दशशतषट्पञ्चाषा ग्रहाः । त्रिशतषड्त्रिंशन्नक्षत्राणि । अष्टलक्षत्रिसहस्र सप्तशतकोटीकोटयः तारकाः स्युः । कालोदधौ चन्द्रमसः द्विचत्वारिंशद्दिवाकरा द्विचत्वारिंशत् । ग्रहाः त्रिसहस्रषट्शत षण्णवतिश्च । नक्षत्राणि एकादशशतषट्सप्ततिसंख्यानि । ताराः

अष्टाविंशतिलक्षद्वादशसहस्र नवशतपञ्चाशत्कोटीकोट्यः । पुष्करार्धद्वीपे चन्द्राः द्वासप्ततिः । भानवः द्वासप्ततिः । ग्रहाः षट्सहस्रत्रिशतषड्त्रिंशत् । नक्षत्राणि षोडशाग्रविंशतिशतानि । ताराः अष्टचत्वारिंशल्लक्ष द्वाविंशतिसहस्रद्विशतकोटीकोट्यः सन्ति ।

अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों के ऊपर निवास करने वाले समस्त ज्योतिष्क देवों का प्रमाण भिन्न भिन्न दर्शाते हैं :—

नोट:—उपर्युक्त गद्य का अर्थ निम्नांकित तालिका में अवधारित किया गया है।

क्रम	द्वीप एवं समुद्रों के नाम	चन्द्र	सूर्य	ग्रह	नक्षत्र	तारागण
१	जम्बूद्वीप	२	२	१७६	५६	१३३९५० कोड़ाकोड़ी
२	लवणसमुद्र	४	४	३५२	११२	२६७९०० ,, ,,
३	धातकीखण्डद्वीप	१२	१२	१०५६	३३६	८०३७०० ,, ,,
४	कालोदधि समुद्र	४२	४२	३६९६	११७६	२८१२९५० ,, ,,
५	पुष्करार्ध द्वीप	७२	७२	६३३६	२०१६	४८२२२०० ,, ,,
	योग	१३२	१३२	११६१६	३६९६	८८४०७०० कोड़ाकोड़ी

अब चन्द्रमा के अवशेष परिवार देवों के नाम, नृलोक में ज्योतिर्देवों का गमन क्रम और मानुषोत्तर के आगे ज्योतिर्देवों की अवस्थिति कहते हैं :—

विधोः शेषपरिवारसुराः सामान्यकादयः ।
अष्टभेदा हि पूर्वोक्ताः प्रतीन्द्रप्रमुखाः सदा ॥५६॥
त्रायस्त्रिंशसुरैर्लोकपालैर्विना भवन्ति च ।
सार्धद्वीपद्वये पङ्क्त्या ज्योतिर्देवा भ्रमन्त्यमी ॥६०॥
मानुषोत्तरतो बाह्ये तिष्ठन्ति ज्योतिषां गणाः ।
ये संक्रमवर्जितास्तेषामचलत्वं भवेत्सदा ॥६१॥

अर्थः—पूर्वोक्त दश भेदों में से त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देवों के बिना, प्रतीन्द्र है प्रमुख जिनमें ऐसे सामानिक आदि आठ भेद वाले देव चन्द्र के अवशेष परिवार में होते हैं। अर्थात् ज्योतिष्क देवों

का इन्द्र चन्द्रमा है, इसके परिवार में प्रतीन्द्र, सामानिक, तनुरक्षक, पारिषद्, अनीक, प्रकीर्णक आभि-योग्य और किल्विषिक आदि के भेद होते हैं। अढ़ाई द्वीप में ज्योतिर्देवों का गमन पंक्ति पूर्वक होता है ॥५६-६०॥ मानुषोत्तर पर्वत के आगे असंख्यात ज्योतिष्क देवों के समूह हैं, जो निरन्तर अचल ही रहते हैं, अर्थात् कभी गमन नहीं करते ॥६१॥

अब मनुष्यलोक की ध्रुव ताराओं का प्रमाण कहते हैं :—

जम्बूद्वीपे च षट्त्रिंशत्प्रमाणास्तारका ध्रुवाः ।
लवणाब्धौ तथैकोन चत्वारिंशद्युतं शतम् ॥६२॥

तारकाः धातकीखण्डे सहस्रं दशसंयुतम् ।
कालोदेचैक चत्वारिंशत्सहस्रास्तथा शतम् ॥६३॥

विंशत्यग्रं ध्रुवाः सन्ति तारकाः पुष्करार्धके ।
त्रिपञ्चाशत् सहस्राणि त्रिंशदग्रं शतद्वयम् ॥६४॥

ध्रुवाः स्युस्तारका एवां चलनं जातु नास्त्यपि ।
तिर्यग्लोके समस्ताश्च ध्रुवाज्योतिष्कनिर्जराः ॥६५॥

अर्थः—जम्बूद्वीप में ३६ ध्रुव ताराएँ हैं। लवण समुद्र में १३९ धातकी खण्ड में १०१०, कालोदधि के ऊपर ४११२० और पुष्करार्ध के ऊपर ५३२३० ध्रुवताराएँ हैं ॥६२-६४॥ इसप्रकार अढ़ाई द्वीप में (३६ + १३९ + १०१० + ४११२० + ५३२३० =) ९५५३५ ध्रुवताराएँ हैं, ये कभी भी चलायमान नहीं होतीं। अर्थात् गमन नहीं करतीं। तिर्यग्लोक में अर्थात् अढ़ाई द्वीप से बाहर के सभी ज्योतिर्देव ध्रुव हैं। अर्थात् कभी गमन नहीं करते ॥६५॥

अब मेरु से ज्योतिष्क देवों की दूरी का प्रमाण, उनके गमन का क्रम और एक सूर्य से दूसरे सूर्य का एवं सूर्य से वेदी के अन्तर का प्रमाण कहते हैं :—

एकः विंशाधिकैकादश शतैर्योजनैश्च खे ।
तिर्यग्मेरुं विहायैते परिभ्रमन्ति सर्वतः ॥६६॥

सर्वज्योतिष्कवृन्दार्धाः स्वस्वद्वीपाम्बुधि श्रिताः ।
ज्योतिष्का मर्त्यलोकस्यैकस्मिन् भागे चलन्ति च ॥६७॥

अन्ये ज्योतिर्गणार्धा ज्योतिष्कामराभ्रमन्त्यपि ।
खे स्वस्वसद्विमानस्था भागेऽन्यस्मिन्निरन्तरम् ॥६८॥

लवणाद्याः स्वविष्कम्भाः सूर्यार्धमण्डलोनिताः ।
स्वसूर्यार्धेन संभक्तास्तदन्तरं द्विसूर्ययोः ॥६९॥
सूर्यान्तरं यदेवात्र तस्यार्धमन्तरं हि तत् ।
वेदिकासन्नमार्गस्य दिवाकरस्य जायते ॥७०॥

अर्थः—सर्व ज्योतिर्गण सुदर्शन मेरु को तिर्यग् रूप से ११२१ योजन (४४८४००० मील) छोड़ कर प्रदक्षिणा रूप से मेरु के चारों ओर आकाश में परिभ्रमण करते हैं ॥ ६६ ॥ मनुष्यक्षेत्रस्थ द्वीप समुद्रों में से अपने अपने द्वीप समुद्रों के ऊपर ज्योतिष्क देवों के जो देव समूह अवस्थित हैं, उनका अर्ध अर्ध भाग अपने अपने द्वीप समुद्र के एक भाग में और अन्य दूसरा अर्ध भाग दूसरे एक भाग में संचार (गमन) करता है ॥६७-६८॥ लवण समुद्र एवं धातकी खण्ड आदि स्थानों में जितने जितने सूर्य हैं, उनके अर्ध अर्ध सूर्य बिम्बों के विष्कम्भ को लवण समुद्रादि के स्व स्व विष्कम्भों में से घटाकर अवशेष में स्वकीय सूर्यों के अर्धभाग का भाग देने पर एक सूर्य से दूसरे सूर्य का अन्तर प्राप्त होता है, तथा वेदी से निकटवर्ती सूर्य का अन्तर उपर्युक्त अन्तर का अर्ध प्रमाण होता है । अर्थात् लवण समुद्र में चार सूर्य हैं, इनके अर्ध (२) सूर्यों के विष्कम्भ का प्रमाण ($\frac{४८}{६१}$ × २ =) $\frac{९६}{६१}$ योजन हुआ, इसे लवण समुद्र के २००००० योजन में से घटाने पर ($\frac{२०००००}{१}$ — $\frac{९६}{६१}$) = $\frac{१२१९९९०४}{६१}$ योजन अवशेष बचता है। इसमें लवण समुद्र के सूर्यों (४) के अर्ध भाग (२) का भाग देने पर ($\frac{१२१९९९०४}{६१ \times २}$) ९९९९९ $\frac{१३}{६१}$ योजन लब्ध प्राप्त होता है । यही एक सूर्य से दूसरे सूर्य के अन्तर का प्रमाण है, और वेदी से निकटवर्ती सूर्य का अन्तर उपर्युक्त अन्तर का अर्ध (४९९९९ $\frac{३७}{६१}$ योजन) प्रमाण है । अर्थात् लवण समुद्र की अभ्यंतर वेदी से प्रथम सूर्य ४९९९९ $\frac{३७}{६१}$ योजन (१९९९९८४२६ $\frac{१४}{६१}$ मील) दूर रहता है । इस सूर्य से दूसरा सूर्य ९९९९९ $\frac{१३}{६१}$ यो० (३९९९९६८५२ $\frac{२८}{६१}$ मील) दूर है, और इस सूर्य से लवण समुद्र की बाह्य वेदी ४९९९९ $\frac{३७}{६१}$ यो० दूर है ॥६९–७०॥

अस्य व्यक्तं व्याख्यानं क्रियते :—

लवणाब्धौ सूर्ययोरन्तरं नवनवतिसहस्र नवशत नवनवतियोजनानि योजनस्यैक षष्ठिभागानां त्रयोदशभागाः । धातकीखण्डे सूर्ययोरन्तरं षट्षष्ठिसहस्रषट्शतपञ्चषष्ठि योजनानि योजनस्य त्र्यशीत्य-ग्रशतभागानां एकषष्ट्यधिकशतभागाः ॥ कालोदधौ सूर्ययोरन्तरं अष्टाविंशत्सहस्र चतुर्णवति योजनानि, योजनस्यैकाशीति युत द्वादशशतभागानां अष्टसप्तत्यग्रपञ्चशतभागाः । पुष्करार्धे सूर्ययोरन्तरं द्वाविंशति-सहस्रद्विशतैकविंशतियोजनानि । योजनस्य षण्णवत्यग्रेक त्रिशतिशत भागानां षट्पञ्चाशदधिकनव-शतभागाः ।

अथ इन अन्तरालों का स्पष्ट व्याख्यान करते हैं :—

लवण समुद्र में एक सूर्य से दूसरे सूर्य के अन्तर का प्रमाण ९९९९९ $\frac{१३}{६१}$ योजन है। धातकी-खण्ड में एक सूर्य से दूसरे सूर्य का अन्तर ६६६६५ $\frac{१६१}{१८३}$ योजन है। कालोदधि समुद्र में सूर्य से सूर्य का अन्तर ३८०९४ $\frac{५७८}{१२८१}$ योजन है, और पुष्करार्ध द्वीप में सूर्य से सूर्य का अन्तराल २२२२१ $\frac{४७८}{१०९८}$ या $\frac{२३९}{५४९}$ योजन प्रमाण है।

अब मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य भाग में सूर्य चन्द्र आदि ग्रहों के अवस्थान का निरधारण करते हैं :—

मानुषोत्तरतो बाह्य भागे लक्षार्धयोजनान् ।
मुक्त्वा ज्योतिष्कदेवानां प्रथमं वलयं भवेत् ।।७१।।
वलयेऽस्मिश्चतुश्चत्वारिंशदग्रशत प्रमाः ।
स्युश्चन्द्रास्तत्समाः सूर्याः सर्वे ग्रहादयः क्रमात् ।।७२।।
ततो हि योजनानां च लक्षे लक्षे गते सति ।
ज्योतिषां पुष्करार्धे च वलयं स्यात्पृथक् पृथक् ।।७३।।
किन्तु चन्द्राश्च चत्वारो वलये वलये क्रमात् ।
वर्धन्ते मानषो यावद्वलयं सप्तमं भवेत् ।।७४।।
पिण्डीकृतानि सर्वाणि सन्त्यष्टौ वलयान्यपि ।
मानुषोत्तरशैलाद्वे बाह्यस्थ पुष्करार्धके ।।७५।।
ततो योजनलक्षार्धं प्रविश्य पुष्कराम्बुधौ ।
तद्वेदीमूलतस्तेषां प्रथमं वलयं भवेत् ।।७६।।
वलयेऽस्मिन् भवन्त्यष्टाशीत्यग्रद्विशतप्रमाः ।
चन्द्रास्तावन्त आदित्याः समभागे व्यवस्थिताः ।।७७।।
ततोऽत्र योजनानां च लक्षे लक्षे गते क्रमात् ।
पूर्वक्षेत्रे समावेष्ट्यास्त्येकैकं वलयं पृथक् ।।७८।।
अत्रापि पूर्ववच्चन्द्राश्चत्वारो मानवस्तथा ।
वर्धन्तेऽमीग्रहाद्यैश्च वलयं वलयं प्रति ।।७९।।
अनेन विधिना सन्त्यसंख्यद्वीपाब्धिषु स्फुटम् ।
असंख्यवलयान्येव चन्द्रादिज्योतिषां क्रमात् ।।८०।।

योजनानां तथैकैकलक्षान्तराण्वितान्यपि ।
मध्यलोकान्तपर्यन्तं चान्तिमाब्ध्यन्तमञ्जसा ॥८१॥

एषु द्वीपसमुद्रासंख्येषु तारेशा भास्वतस्तथा ।
वर्धन्तेऽन्योऽन्य चत्वारएकैकं वलयं प्रति ॥८२॥

अग्रस्था भास्कराः पुष्यनक्षत्रेषु प्रतिष्ठिताः ।
सर्वे चन्द्राश्च तिष्ठन्त्यभिजित्सुसंख्य वर्जिताः ॥८३॥

स्वकीयस्य स्वकीयस्य स्वस्वेन्दुभानुसंख्यकैः ।
वलयस्य विभक्तस्य यदन्तरं परस्परम् ॥८४॥

तदेवान्तरमेव स्याच्चन्द्राच्चन्द्रमसः पृथक् ।
सूर्यात्सूर्यस्य चान्यस्मात्सर्वत्रैषान्तरस्थितिः ॥८५॥

अर्थः—मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य भाग में पर्वत से पचास हजार योजन आगे जाकर सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिष्क देवों का प्रथम वलय है ॥७१॥ इस प्रथम वलय में १४४ चन्द्र एवं १४४ सूर्य हैं, अन्य ग्रहों की अवस्थिति भी इसी क्रम से जानना चाहिए ॥७२॥ इस प्रथम वलय से एक एक लाख योजन क्रम से आगे जाते हुए पुष्करार्ध द्वीप में ज्योतिष्क देवों का पृथक् पृथक् एक एक वलय है, तथा प्रत्येक वलय में क्रम से चार चार चन्द्र और चार चार सूर्यों की अपने अपने परिवार देवों के साथ जब तक सातवाँ वलय प्राप्त नहीं होता, तब तक अभिवृद्धि होती रहती है। इस प्रकार मानुषोत्तर के बाह्य भाग से पुष्करार्ध पर्यन्त के सर्व वलयों का एकत्रित योग आठ है ॥७३-७५॥ इसके आगे पुष्करार्ध द्वीप की अन्तिम वेदी से प्रारम्भ कर पुष्करवर समुद्र में पचास हजार योजन भीतर जाकर ९ वाँ वलय है ॥७६॥ इस ९ वें वलय में २८८ चन्द्र और २८८ सूर्य समान भाग में अवस्थित हैं ॥७७॥ यहाँ से क्रमशः एक एक लाख योजन आगे आगे पुष्करार्ध द्वीप को समावेष्टित करते हुये पृथक् पृथक् एक एक वलय है ॥७८॥ यहाँ भी पूर्व के ही सदृश अपने अपने ग्रह आदि परिवार देवों के साथ प्रत्येक वलय में चार चार चन्द्र और चार चार सूर्यों की वृद्धि होती है ॥ ७९ ॥ इसी विधि से असंख्यातद्वीप समुद्रों में क्रमशः चन्द्र आदि ज्योतिष्क देवों के असंख्यात वलय हैं ॥८०॥ ये वलय मध्यलोक के अन्त में अवस्थित स्वयम्भूरमरण समुद्र पर्यन्त हैं, तथा इन सभी में एक एक लाख योजन का अन्तर है ॥८१॥ इन असंख्यात द्वीप समुद्रों में अवस्थित असंख्यात वलयों में से प्रत्येक वलय में अपने अपने परिवार सहित चार-चार चन्द्रों और चार-चार सूर्यों की अभिवृद्धि होती है (किन्तु इस वृद्धि का सम्बन्ध अपने अपने द्वीप समुद्र पर्यन्त ही होता है, अन्य द्वीप समुद्रों से नहीं। अन्य द्वीप समुद्रों के प्रथम वलय में तो इनकी संख्या पूर्व द्वीप समुद्र के प्रथम वलय से नियमतः दुगुणी हो जाती है। जैसे:-बाह्य पुष्करार्ध द्वीप में कुल आठ वलय हैं। प्रथम वलय में १४४ चन्द्र हैं, इसके आगे प्रत्येक वलय में चार चार की

वृद्धि होते हुए १४८, १५२, १५६, १६०, १६४, १६८ और ८ वें वलय में १७२ चन्द्रों की प्राप्ति हुई, किन्तु पुष्करवर समुद्र में अवस्थित प्रथम वलय में चन्द्रों की संख्या २८८ है, जो पुष्करार्ध द्वीप स्थित प्रथम वलय से दूनी है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।) ॥८२॥ इन असंख्यात वलय में अवस्थित असंख्यात सूर्य स्व स्व परिवार सम्बन्धी पुष्य नक्षत्रों पर अवस्थित हैं और असंख्यात चन्द्र अभिजित् नक्षत्रों पर अवस्थित हैं ॥ ८३ ॥ अपने अपने वलय (की परिधि के प्रमाण) को स्व स्व वलय स्थित सूर्य चन्द्रों की संख्या से भाजित करने पर जो अन्तर प्राप्त होता है वही अन्तर अपने वलय में एक चन्द्र से दूसरे चन्द्र का और एक सूर्य से दूसरे सूर्य का होता है [यथा— मानुषोत्तर पर्वत का सूची व्यास (½ + २ + ४ + ८ + ८ = २२½ × २ =) ४५ लाख योजन है, इसमें बाह्य पुष्करार्ध के दोनों ओर का पचास-पचास हजार मिला देने से बाह्य पुष्करार्ध के प्रथम वलय के सूची व्यास का प्रमाण (४५ + १) = ४६ लाख योजन और इसकी सूक्ष्म परिधि का प्रमाण १४५४६४७७ योजन हुआ, इसमें प्रथम वलय में अवस्थित १४४ चन्द्रों का भाग देने पर एक चन्द्र से दूसरे चन्द्र का अन्तर प्रमाण (१४५४६४७७ ÷ १४४) = १०१०१७ $\frac{२९}{१४४}$ योजन प्राप्त हुआ। इसी प्रकार सर्वत्र ज्ञातव्य है] अन्य सर्वत्र भी परस्पर का अन्तर निकालने की यही प्रक्रिया है अर्थात् अन्तर की अवस्थिति इसी प्रकार है ॥८४-८५॥

अत्र व्यासेन वलयेषु परिधिश्चन्द्रान्तरादीनां व्याख्यानं क्रियते :—

मानुषोत्तराद्रेः पुष्करार्धस्य प्रथमे वलये परिधिः एका कोटी पञ्चचत्वारिंशल्लक्षषट्चत्वारिंशत्-सहस्रचतुःशतसप्तसप्ततियोजनानि। चतुश्चत्वारिंशादधिकशतचन्द्राः तावन्त आदित्याः स्युः। द्वयोश्चन्द्रयोः सूर्ययोश्चान्तरं एकलक्षैकसहस्रसप्तदशयोजनानि, योजनस्य चतुश्चत्वारिंशदग्रशतभागानां एकोनत्रिंशद्-भागाश्च। द्वितीये वलये परिधिः एका कोट्यर्धकपञ्चाशल्लक्षाष्टसप्ततिसहस्रनवशतद्वात्रिंशद्योजनानि। अष्टचत्वारिंशदधिकशतनिशाकराः। तावन्तो दिवाकराश्च। चन्द्रयोः सूर्ययोश्चान्तरं एकलक्षद्वि-सहस्रपञ्चशतषष्टि योजनानि योजनस्य सप्तत्रिंशद्भागानां त्रयोभागाः। तृतीये वलये परिधिः एका-कोट्यष्टपञ्चाशल्लक्षैकादशसहस्रत्रिशताष्टाशीति योजनानि। द्विपञ्चाशदधिकशतेन्दवः स्युः। तावन्तो दिनकराश्च। चन्द्रयोः सूर्ययोर्द्वयोश्चान्तरं एकलक्षचतुःसहस्रद्वाविंशतियोजनानि। योजनस्याष्टादशभागानां एकादशभागाः। चतुर्थे वलये परिधिः एककोटीचतुःषष्टि लक्षत्रिचत्वारिंशत्सहस्राष्टशतत्रिचत्वारिंश-द्योजनानि। षट्पञ्चाशदग्रशतचन्द्रमसः। तत्प्रमा आदित्याश्चचन्द्रयोः सूर्ययोर्द्वयोरन्तरं एकलक्षपञ्च-सहस्र चतुःशतनवयोजनानि क्रोशैकश्च। अनया गणनयापरेष्वसंख्य वलयेषु चन्द्रयोः सूर्ययोरन्तर-मानेतव्यं॥

अब व्यास के द्वारा वलय में परिधि व चन्द्रमा का अन्तर आदि कहते हैं :—

मानुषोत्तर पर्वत से आगे बाह्य पुष्करार्ध द्वीप के प्रथम वलय की परिधि का प्रमाण १४५४६-४७७ योजन है। उस वलय में चन्द्रों की संख्या १४४ और सूर्यों की संख्या भी १४४ है। एक चन्द्र से दूसरे चन्द्र का और एक सूर्य से दूसरे सूर्य का अन्तर १०१०१७$\frac{२९}{१४४}$ योजन है। दूसरे वलय की परिधि का प्रमाण १५१७८९३२ योजन है। चन्द्र संख्या १४८ और सूर्य संख्या १४८ है। एक चन्द्र से दूसरे चन्द्र का अन्तर १०२५६०$\frac{३}{३७}$ योजन है। तीसरे वलय की परिधि का प्रमाण १५८११३८८ योजन है। चन्द्र १५२ और सूर्य १५२ हैं। एक चन्द्र से दूसरे चन्द्र का अन्तर १०४०२२ योजन और एक सूर्य से दूसरे सूर्य का अंतर १०४०२२ योजन है। चतुर्थ वलय की परिधि का प्रमाण १६४४३८४३ योजन है। इस वलय में चन्द्र संख्या १५६ और सूर्य संख्या १५६ है। एक चन्द्र से दूसरे चन्द्र का अन्तर १०-५४०६ योजन एवं एक सूर्य से दूसरे सूर्य का अन्तर १०५४०६ योजन एक कोस प्रमाण है। इसी प्रकार की गणना से आगे के असंख्यात वलयों में अवस्थित एक एक चन्द्र से दूसरे चन्द्रों के एवं एक एक सूर्य से दूसरे सूर्यों के अन्तर का प्रमाण निकाल लेना चाहिए।

अब प्रत्येक द्वीप समुद्रों में वलयों का प्रमाण पृथक् पृथक् कहते हैं :—

पुष्करद्वीपशेषार्धेऽष्टौ सन्ति वलयानि च ।
पुष्कराब्धौ क्रमेणैव द्वात्रिंशद् वलयान्यपि ।।८६।।

वलया वारुणीद्वीपे चतुःषष्टिप्रमाणकाः ।
वरुणाब्धौ तथाष्टाविंशत्यग्रशतसंख्यकाः ।।८७।।

इत्येवं द्वीपसर्वेषु चासंख्येऽब्धिषु क्रमात् ।
द्विगुणा द्विगुणा ज्ञेया वलयासंख्यवर्जिताः ।।८८।।

अर्थः—बाह्य पुष्करार्धद्वीप में ८ वलय हैं। पुष्करवर समुद्र में ३२, वारुणीवर द्वीप में ६४ और वारुणीवर समुद्र में १२८ वलय हैं। इसी प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्रों में असंख्यात वलय हैं, जिनका प्रमाण क्रमशः दुगुणा दुगुणा जानना चाहिए ।।८६–८८।।

अब सूर्य चन्द्र के चार क्षेत्रों का प्रमाण, उनका विभाग एवं उनकी वीथियों का प्रमाण कहते हैं :—

प्रचारक्षेत्रमेवैकं सूर्यस्य योजनानि च ।
सूर्यस्य बिम्बयुक्तं दशाग्रपञ्चशतान्यपि ।।८९।।

प्रचारक्षेत्रमिन्दोश्च चन्द्रबिम्बयुतं भुवि ।
योजनानां जिनोक्तं दशाग्रपञ्चशतप्रमम् ।।९०।।

तन्मध्ये योजनानां चाशीत्यग्रशतसम्मितम् ।
इन्दोर्भानोस्तथा चारक्षेत्रं द्वीपादिमे पृथक् ॥९१॥
तथाब्धौ योजनानां स्यात्त्रिंशदग्रशतत्रयम् ।
दिवाकरस्य चन्द्रस्य चारक्षेत्रं किलादिमे ॥९२॥
सूर्यचन्द्राविमौ चाद्यद्वीपाब्ध्योर्भ्रमतोऽन्वहम् ।
नरक्षेत्रे भ्रमन्त्यन्ये स्वस्वद्वीपाब्धिगोचराः ॥९३॥
शतं चतुरशीत्यग्रं मार्गाः सूर्यस्य सन्ति च ।
चारक्षेत्रेऽखिला इन्दोर्मार्गाः पञ्चदशप्रमाः ॥९४॥
एषां मध्ये व्रजेदेकं मार्गं दिनं दिनं प्रति ।
दिननाथस्तथा चन्द्रः क्रमेणैषां सदागतिः ॥९५॥

अर्थः—(सूर्य-चन्द्र के गमन करने की क्षेत्र गली को चार क्षेत्र कहते हैं। दो चन्द्रों और दो सूर्यों के प्रति एक एक चार क्षेत्र होते हैं।) सूर्य बिम्ब के विस्तार ($\frac{४८}{६१}$) प्रमाण से अधिक ५१० योजन अर्थात् ५१०$\frac{४८}{६१}$ योजन (२०४३१४७$\frac{३३}{६१}$ मील) विस्तार वाला एक चारक्षेत्र सूर्य का है ॥८९॥ तथा जिनेन्द्र द्वारा चन्द्र बिम्ब के विस्तार ($\frac{५६}{६१}$ यो०) से अधिक ५१० योजन अर्थात् ५१०$\frac{५६}{६१}$ योजन (२०४३६७२$\frac{८}{६१}$ मील) विस्तार वाला एक चारक्षेत्र चन्द्र का है॥ ९० ॥ चन्द्र-सूर्यों के अपने अपने चारक्षेत्रों के विस्तार में से जम्बूद्वीप में इनके चार क्षेत्र का प्रमाण मात्र १८० योजन (७२०००० मील) है। अवशेष ३३० योजन प्रमाण वाला चार क्षेत्र लवणसमुद्र में है। अर्थात् जम्बूद्वीपस्थ चन्द्र-सूर्य जम्बूद्वीप के भीतर १८० योजन में ही विचरते हैं। शेष ३३० योजन लवण समुद्र में विचरण करते हैं ॥९१-९२॥ इस प्रकार मनुष्यक्षेत्र में जम्बूद्वीप सम्बन्धी चन्द्र सूर्य जम्बूद्वीप और लवण समुद्र इन दोनों में भ्रमण करते हैं, किन्तु अवशेष धातकीखण्ड को आदि कर पुष्करार्ध पर्यन्त द्वीप समुद्र सम्बन्धी चन्द्र सूर्यों का भ्रमण अपने अपने द्वीप समुद्रों में ही होता है, उसके बाहर नहीं। अर्थात् वहाँ के चन्द्र सूर्यों के चारक्षेत्र अपने अपने द्वीप समुद्रों में ही हैं ॥९३॥ अपने अपने प्रमाण वाले चारक्षेत्रों में चन्द्र की १५ गलियाँ तथा सूर्य की १८४ गलियाँ हैं ॥९४॥ इन अपनी अपनी गलियों के मध्य अनुक्रम से निरन्तर गमन करते हुए प्रतिदिन दो-दो सूर्य और दो-दो चन्द्र संचार करते हैं। अर्थात् आमने सामने रहते हुए दो सूर्य प्रतिदिन एक गली को पूर्ण कर लेते हैं ॥९५॥

अधुना बालावबोधाय संस्कृतभाषयाविस्तरस्य किञ्चिद्विवरणं विधीयते :—

तेषां मार्गाणां मध्ये जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे श्रावणकृष्णपक्षादिदिने कर्कटसंक्रान्ति दिवसे दक्षिणायन प्रारम्भे निषधकुलपर्वतस्योपरिप्रथममार्गेरविः प्रथमोदयं करोति। तदादित्यविमानध्वजस्तम्भाग्र-

स्थितां स्फुरद्रत्नमयीं महतीं जिनेश्वरप्रतिमां वीक्ष्य प्रत्यक्षेणायोध्या नगरस्थचक्री निर्मलसम्यक्त्वानुरागेण जिनभक्त्या च पुष्पाञ्जलिमुत्क्षिप्य नुतिपूर्वकमर्घं ददाति। अभिजित्नक्षत्रचन्द्रयोः संयोगे श्रावणे मासि कृष्णपक्षस्य प्रतिपद्दिने युगस्यादिः स्यात्। आगमोक्त दिनानयन विधिना वर्षस्य षट्षष्ट्यधिकत्रिशतदिवसाः भवन्ति तस्य दिनसमूहार्धस्य यदा जम्बूद्वीपाभ्यन्तराद्दक्षिणेन बहिर्भागेषु भास्करो गच्छति तदा तस्य दक्षिणायन संज्ञा। यदा पुनर्लवणसमुद्रात्सकाशादुत्तरेणाभ्यन्तरमार्गेषु भानुरायाति तदास्योत्तरायण संज्ञेति तत्र यदा जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे प्रथममार्गे परिधौ कर्कट संक्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारम्भे दिनकरस्तिष्ठति तथा चतुर्नवतिसहस्र पञ्चशतपञ्चविंशतियोजनप्रमाणः उत्कर्षेणादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातप विस्तारः प्रसर्पति। शतयोजनप्रम ऊर्ध्वातपश्च। अधस्तापोऽष्टादश शतप्रमाणो जायते। अष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति। द्वादशमुहूर्तः रात्रिश्च ततः क्रमेणातपहानौ सत्यां मुहूर्तद्वयस्यैक षष्टि भागकृतस्यैको भागो दिवस मध्ये दिनं दिनं प्रति हीयते। यावल्लवणाब्धौ अवसानमार्गे माघमासे मकरसंक्रान्तौ उत्तरायणदिने षोडशाधिक त्रिषष्टिसहस्र योजनप्रमो जघन्येन सूर्यविमानस्यातपो विस्तरति। द्वादशमुहूर्तो दिवसो भवेत्। अष्टादशमुहूर्ता रात्रिश्च।

अब मन्द बुद्धि जनों को ज्ञान कराने के लिये सूर्य का कुछ विवरण करते हैं :—

उन १८४ गलियों में से जम्बूद्वीप की अभ्यन्तर (प्रथम) वीथि (मार्ग) में प्रवेश करते हुए श्रावण मास, कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को कर्क संक्रान्ति के दिन दक्षिणायण के प्रारम्भ में निषध कुलाचल पर्वत के तट से (१४६२१ $\frac{३४८}{३६५}$ योजन) ऊपर आने पर सूर्य प्रथम मार्ग में प्रथम उदय करता है। (अर्थात् पंचवर्षीय युग की समाप्ति के बाद दूसरे युग के प्रारम्भिक सूर्य उदय को प्रथम उदय कहते हैं।) उस समय सूर्यविमानस्थ ध्वजस्तम्भ के अग्रभाग पर स्थित देदीप्यमान रत्नमयी जिनेन्द्र भगवान् की महान प्रतिमा को प्रत्यक्ष देख कर अयोध्या (नगरस्थ अपने ८४ खण्ड के महल के ऊपर) स्थित प्रथम चक्रवर्ती क्षायिक सम्यक्त्व के अनुराग से तथा जिनेन्द्र भक्ति से पुष्पाञ्जलि देकर नमस्कार पूर्वक (भगवान को) अर्घ चढ़ाता है। अभिजित् नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का संयोग होने पर श्रावण मास, कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन पंचवर्षीय युग का प्रारम्भ होता है। आगम (त्रिलोकसार गाथा ४०८-४०९) में कही हुई दिनानयन विधि के अनुसार एक वर्ष में ३६६ दिन होते हैं। एक अनयन में इस दिन समूह का अर्धभाग अर्थात् १८३ दिन होते हैं। जम्बूद्वीप की अभ्यंतर वीथी से प्रारम्भ कर जब सूर्य दक्षिण की ओर बाह्य मार्गों में गमन करता है, तब उसकी दक्षिणायन संज्ञा है और जब सूर्य लवणसमुद्र से उत्तर की ओर अभ्यंतर की ओर आता है तब उसकी उत्तरायण संज्ञा है, इस प्रकार जब सूर्य जम्बूद्वीप के भीतर प्रथम मार्ग की परिधि में कर्क संक्रान्ति के दिन दक्षिणायन का प्रारम्भ करता हुआ ठहरता है, तब उत्कृष्ट रूप से सूर्य, बिमान के आगे (पूर्व में) और पीछे (पश्चिम में) ताप क्षेत्र ९४५२५ योजन (३७८१००००० मील) पर्यन्त फैलाता है। (तथा उत्तर में ४९८२० योजन और दक्षिण में ३३५-

१२ योजन तक फैलाता है) इसीप्रकार ऊपर की ओर आतप का विस्तार १०० योजन (४००००० मील) पर्यन्त है (क्योंकि सूर्य बिम्ब से ऊपर १०० योजन पर्यन्त ही ज्योतिर्लोक है और नीचे की ओर आतप का प्रमाण १८०० योजन (७२००००० मील) पर्यन्त है [क्योंकि सूर्य बिम्ब से चित्रा पृथ्वी ८०० योजन (३२००००० मील) नीचे है और १००० योजन चित्रा की जड़ है, अतः योग (१०००+८००)=१८०० योजन होता है ।] उस समय अर्थात् दक्षिणायन के प्रारम्भ में १८ मुहूर्त (१४ घं० २४ मिनिट) का दिन और १२ मुहूर्त (९ घं० ३६ मि०) की रात्रि होती है। प्रथम वीथी से जब सूर्य आगे बढ़ता है तब क्रम से आतप के प्रमाण में हानि होती जाती है और इसीलिये प्रत्येक दिन $\frac{२}{६१}$ मुहूर्त (१$\frac{३५}{६१}$ मि०) की हानि होने लगती है। अर्थात् युग के प्रारम्भ में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन सूर्य प्रथम वीथी में था, उस दिन १८ मुहूर्त का दिन और १२ मुहूर्त की रात्रि थी, किन्तु दोज के दिन जब सूर्य दूसरी गली में पहुँचा तब $\frac{२}{६१}$ मुहूर्त कम हो गये और दोज को (१८—$\frac{२}{६१}$=) १७$\frac{५९}{६१}$ मुहूर्त का दिन होगा। इसी प्रकार आतप की हानि के साथ साथ $\frac{२}{६१}$ मुहूर्त हानि होते हुए जब सूर्य लवणसमुद्र की अन्तिम वीथी में पहुँच कर माघ मास में मकर संक्रान्ति के दिन उत्तरायण का प्रारम्भ करता है, तब जघन्य से सूर्य के आतप का विस्तार ६३०१६ योजन होता है और उस दिन १२ मुहूर्त का दिन तथा १८ मुहूर्त की रात्रि होती है। (यहीं से प्रतिदिन $\frac{२}{६१}$ मुहूर्त की वृद्धि प्रारम्भ हो जायगी)।

अब रवि शशि के गमन प्रकार को दृष्टान्त द्वारा कह कर एक वीथी से दूसरी वीथी के अन्तर प्रमाण आदि के जानने का साधन बतलाते हैं :—

आदिमार्गाश्रितौ मन्दौ बहिः शीघ्रौ च निर्गमे ।
तौ मार्गान् समकालेन सर्वान् साधयतः क्रमात् ॥९६॥
आदिमार्गे गजाकारा गतिर्मध्याध्वनि स्मृताः ।
अश्ववद्गतिरन्ताध्वनि सिंहाभा गतिस्तयोः ॥९७॥
सूर्यचन्द्रमसोश्चान्यद्वीथी वीथ्यन्तरादिकम् ।
लोकानुयोगसिद्धान्ते ज्ञेयं परिधिलक्षणम् ॥९८॥

अर्थः—सूर्य एवं चन्द्र प्रथम (अभ्यन्तर) वीथी में मन्द गति से गमन करते हैं, किन्तु वे जैसे जैसे बाहर (द्वितीयादि गलियों में) की ओर बढ़ते जाते हैं वैसे ही उनकी गति क्रमशः तेज होती जाती है। वे दोनों समकाल (६० मुहूर्त) में ही हीनाधिक प्रमाण वाली सर्व गलियों को पूरा कर लेते हैं। प्रथम आदि गलियों में उन दोनों की चाल हाथी सदृश, मध्यम वीथी में अश्व सदृश और अन्तिम वीथी में सिंह के सदृश है ॥९६–९७॥ चन्द्र और सूर्यों की वीथियों का पारस्परिक अन्तर तथा इनकी

परिधियों का प्रमाण आदि करणानुयोग (त्रिलोकसार गा० ३७७-३७८-३८५-३८६-३८७ आदि) से ज्ञात कर लेना चाहिये ॥९८॥

अब २८ नक्षत्रों के नामों का दिग्दर्शन कराते हैं :—

कृत्तिकारोहणीनाम ततो मृगशिरस्तथा ।
आर्द्रा पुनर्वसुर्नाम्ना पुष्याश्लेषा मघाह्वयाः ॥९९॥
पूर्वादि फाल्गुनी चोत्तरफाल्गुनी समाह्वयम् ।
हस्ता चित्रा तथा स्वाति विशाखाभिधमेव च ॥१००॥
अनुराधाख्यकं ज्येष्ठा नक्षत्रं मूलसंज्ञकम् ।
पूर्वाषाढाभिधं चोत्तराषाढाख्योऽभिजित्ततः ॥१०१॥
श्रवणाख्यं धनिष्ठा शतभिषा नामकं ततः ।
पूर्वाभाद्रपदाख्यं चोत्तरभाद्रपदाख्यकम् ॥१०२॥
रेवतीसंज्ञनक्षत्रमश्विनी भरणीति च ।
अष्टाविंशति नामानि नक्षत्राणामनुक्रमात् ॥१०३॥

अर्थः—१ कृत्तिका, २ रोहणी, ३ मृगशीर्षा, ४ आर्द्रा, ५ पुनर्वसु, ६ पुष्य, ७ आश्लेषा, ८ मघा, ९ पूर्वाफाल्गुनी, १० उत्तराफाल्गुनी, ११ हस्त, १२ चित्रा, १३ स्वाति, १४ विशाखा, १५ अनुराधा, १६ ज्येष्ठा, १७ मूल, १८ पूर्वाषाढा, १९ उत्तराषाढा, २० अभिजित्, २१ श्रवण, २२ धनिष्ठा, २३ शतभिषा, २४ पूर्वाभाद्रपद, २५ उत्तराभाद्रपद, २६ रेवती, २७ अश्विनी और २८ भरणी नाम वाले ये २८ नक्षत्र अनुक्रम से हैं ॥९९–१०३॥

अब प्रत्येक नक्षत्र के ताराओं की संख्या और कृत्तिका आदि नक्षत्रों की परिवार ताराओं का प्रमाण प्राप्त करने की विधि कहते हैं :—

ताराः षट्पञ्चतिस्रस्तु ह्येकाषट्तिस्र ईरिताः ।
षट्चतस्रोऽपि कथ्यन्ते द्वे द्वे पञ्च ततः परम् ॥१०४॥
एकैकाथ चतस्रोपि षट्तिस्रो नवतारकाः ।
चतस्रस्तु चतस्रोपि तिस्रस्तिस्रस्तु पञ्च च ॥१०५॥
शतकमेकादशाग्रे च द्वे द्वे द्वात्रिंशदीरिताः ।
पञ्च तिस्रोप्यमूस्तारासंख्यभानां क्रमाद्विदुः ॥१०६॥

एकादशसहस्राणि स्वस्वताराहतानि च ।
स्मृतं परिजनस्यैवं संख्यानं कृत्तिकादिषु ॥१०७॥

अर्थः—कृत्तिका आदि २८ नक्षत्रों के ताराओं की संख्या क्रमशः छह, पाँच, तीन, एक, छह, तीन, छह, चार, दो, दो, पाँच, एक, एक, चार, छह, तीन, नौ, चार, चार, तीन, तीन, पाँच, एक सौ ग्यारह, दो, दो, बत्तीस, पाँच और तीन है ॥१०४–१०६॥ एक हजार एक सौ ग्यारह को अपने अपने ताराओं के प्रमाण से गुणित करने पर कृत्तिका आदि नक्षत्रों के परिवार ताराओं का प्रमाण प्राप्त हो जाता है ॥१०७॥

विशेषार्थः—११११ को अपने अपने ताराओं के प्रमाण से गुणा करने पर परिवार ताराओं का प्रमाण प्राप्त होता है। जैसे :—

नक्षत्र	परिवार ताराओं की संख्या	नक्षत्र	परिवार ताराओं की संख्या	नक्षत्र	परिवार ताराओं की संख्या	नक्षत्र	परिवार ताराओं की संख्या
कृ०	११११ × ६ = ६६६६	मघा	११११ × ४ = ४४४४	अनु०	११११ × ६ = ६६६६	धनि०	११११ × ५ = ५५५५
रो०	११११ × ५ = ५५५५	पूर्वा फा०	११११ × २ = २२२२	ज्येष्ठा	११११ × ३ = ३३३३	शत०	११११ × १११ १२३३२१
मृग०	११११ × ३ = ३३३३	उ.फा०	११११ × २ = २२२२	मूल	११११ × ९ = ९९९९	पू.भा.	११११ × २ = २२२२
आर्द्रा	११११ × १ = ११११	हस्त	११११ × ५ = ५५५५	पू.षा	११११ × ४ = ४४४४	उ.भा.	११११ × २ = २२२२
पुन०	११११ × ६ = ६६६६	चित्रा	११११ × १ = ११११	उ षा	११११ × ४ = ४४४४	रेवती	११११ × ३२ = ३५५५२
पुष्य	११११ × ३ = ३३३३	स्वाति	११११ × १ = ११११	अभि.	११११ × ३ = ३३३३	अश्वि.	११११ × ५ = ५५५५
आ०	११११ × ६ = ६६६६	विशा.	११११ × ४ = ४४४४	श्रव.	११११ × ३ = ३३३३	भरणी	११११ × ३ = ३३३३

नोट :—इस प्रकार प्रत्येक नक्षत्र सम्बन्धी ताराओं का प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

अब जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट नक्षत्रों के नाम एवं संख्या कहते हैं :—

पुनर्वसुविशाखारोहिणीचोत्तरफाल्गुनी ।
उत्तराषाढसंज्ञं चोत्तरभाद्रपदाह्वयम् ॥१०८॥
एतानि षड् जघन्यानि नक्षत्राणि भवन्त्यपि ।
आश्लेषा भरणी चार्द्रा स्वातिर्ज्येष्ठाभिधानकम् ॥१०९॥
ततः शतभिषैतानि षड्समानि सन्ति च ।
शेष षोडशनक्षत्राणि मध्यमानि निश्चितम् ॥११०॥

अर्थः—पुनर्वसु, विशाखा, रोहिणी, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपद ये ६ नक्षत्र जघन्य संज्ञक हैं। आश्लेषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, ज्येष्ठा और शतभिषक् नाम वाले ये छह नक्षत्र उत्कृष्ट संज्ञक हैं, तथा शेष अश्वनी, कृतिका, मृगशीर्षा, पुष्य, मघा, हस्त, चित्रा, अनुराधा, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वभाद्रपद, मूल, श्रवण, धनिष्ठा और रेवती नाम वाले ये पन्द्रह नक्षत्र मध्यम संज्ञक हैं ॥१०८–११०॥

अब कृतिका आदि ताराओं के आकार विशेष कहते हैं :—

व्यजनं शकटाकारं मृगशीर्षा हि दीपिका ।
तोरणाभं सितच्छत्रं वल्मीकसन्निभं तथा ॥१११॥
रेखा गोमूत्रजा हारो युगहस्तोऽम्बुजं ततः ।
द्वीपस्तर्वरिणिकाहारो वीणाशृङ्ग हि वृश्चिकः ॥११२॥
भग्नवापीनिभं सिंहो गजकुम्भस्थलोपमः ।
मृदङ्गाभं पतत्पक्षी सेनेभ-गात्रसञ्चयः ॥११३॥
नौः पाषाणस्तथा चुल्ली चेत्याकारा इमे क्रमात् ।
प्रोदिताः कृत्तिकादीनां नक्षत्राणां जिनेश्वरैः ॥११४॥

अर्थः—कृतिका आदि नक्षत्रों की ताराएँ क्रमशः बीजना सदृश, गाड़ी की उद्धिका सदृश, मृग के शिर सदृश, दीपक, तोरण, छत्र वल्मीक (बांबी) गोमूत्र, हार, युग, हाथ, उत्पल (नील कमल), दीप, धौंकनी, वरहार, वीणाशृङ्ग, वृश्चिक (बिच्छू), नष्टवापी, सिंह, कुम्भ, गज कुम्भ, मुरज (मृदङ्ग), गिरते हुए पक्षी, सेना, हाथी के पूर्व शरीर, हाथी के उत्तर शरीर, नाव, पत्थर और चूल्हे के सदृश आकार वाली होती है ॥१११–११४॥

विशेषतः [illegible] नक्षत्रों के ताराओं की संख्या और उनके आकार निम्न प्रकार हैं :—

क्रमांक	नक्षत्र	ताराओं की संख्या	ताराओं के आकार	क्रमांक	नक्षत्र	ताराओं की संख्या	ताराओं के आकार
१	कृत्तिका	६ तारा	बीजना सदृश	१५	अनुराधा	[illegible]	वर (उत्कृष्ट) हार सदृश
२	रोहिणी	[illegible]	गाड़ी की [illegible]	१६	ज्येष्ठा	[illegible]	वीणा [illegible] सदृश
३	मृगशीर्षा	[illegible]	मृग के शिर सदृश	१७	मूल	[illegible]	वृश्चिक (बिच्छू) सदृश
४	आर्द्रा	[illegible]	[illegible]	१८	पूर्वाषाढ़ा	[illegible]	[illegible]
५	पुनर्वसु	[illegible]	तोरण [illegible]	१९	उत्तराषाढ़ा	[illegible]	[illegible] कुम्भ ,,
६	पुष्य	[illegible]	[illegible]	२०	अभिजित्	[illegible]	[illegible] कुम्भ ,,
७	आश्लेषा	[illegible]	वल्मीक (बाँबी) [illegible]	२१	श्रवण	[illegible]	[illegible] (मृदङ्ग) सदृश
८	मघा	[illegible]	नूपुर-रेखा सदृश	२२	धनिष्ठा	[illegible]	[illegible] ,,
९	पूर्वा फाल्गुनी	[illegible]	[illegible]	२३	शतभिषा	[illegible]	[illegible]
१०	उत्तरा	[illegible]	[illegible] ,,	२४	पूर्वाभाद्र	२	[illegible] के [illegible] शरीर [illegible]
११	हस्त	[illegible]	[illegible] ,,	२५	उत्तराभाद्र	[illegible]	[illegible]
१२	चित्रा	१ ,,	उत्पल (नील कमल	२६	रेवती	३२	नाव ,,
१३	स्वाति	१ ,,	दीप सदृश	२७	अश्विनी	[illegible]	पत्थर ,,
१४	विशाखा	४ ,,	पटेरा या धौंकनी	२८	भरणी	३	चूल्हे के ,,

अब ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का कथन करते हैं :—

लक्षवर्षाधिकं पल्यमायुश्चन्द्रस्य कीर्तितम् ।
सहस्रवर्षसंयुक्तं पल्यं सूर्यस्य जीवितम् ॥११५॥
शुक्रस्यायुश्च पल्यैकं शतवर्षाधिकं मतम् ।
बृहस्पतेश्च पल्यैकमखण्डं जीवितम् भवेत् ॥११६॥
मङ्गलस्य बुधस्यापि शनैश्चरस्य जीवितम् ।
स्यात्प्रत्येकं च पल्यार्धं तारकाणां तथोत्तमम् ॥११७॥
आयुः पल्यचतुर्थांशः सर्वजघन्यमेव तत् ।
पल्यैकस्याष्टमोभागः सर्वनीचामृताशिनाम् ॥११८॥

अर्थः—चन्द्रमा की उत्कृष्ट आयु एक पल्य और एक लाख वर्ष, सूर्य की एक पल्य और एक हजार वर्ष, शुक्र की एक पल्य और १०० वर्ष तथा बृहस्पति की उत्कृष्ट आयु एक पल्य प्रमाण है। ॥११५-११६॥ मङ्गल, बुध और शनिश्चर में प्रत्येक की उत्कृष्ट आयु अर्ध-अर्ध पल्य प्रमाण है। तारागणों की उत्कृष्ट आयु पाव (¼) पल्य है। सूर्यादि ग्रहों की जघन्य आयु पाव (¼) पल्य प्रमाण है। सर्व नीच देवों की आयु पल्य के आठवें भाग अर्थात् ⅛ पल्य प्रमाण होती है ॥११७-११८॥

अब सूर्यचन्द्र की पट्टदेवियों एवं परिवार देविय की संख्या कह कर देवियों की आयु का प्रमाण बतलाते हैं :—

चन्द्रप्रभा सुसीमाख्या प्रभावत्यर्चिमालिनी ।
चन्द्रस्येमाश्चतस्रः स्युर्महादेव्यो मनःप्रियाः ॥११९॥
देवी इन्द्रप्रभा सूर्यप्रभाधनकराह्वया ।
तथार्चिमालिनी भानोश्चतस्रो वल्लभा इमाः ॥१२०॥
आसामष्टमहादेवीनां प्रत्येकं पृथक् पृथक् ।
देव्यो द्वि द्वि सहस्राणि स्युः परिवारसंज्ञिकाः ॥१२१॥
स्वकीयानां स्वकीयानां देवानामायुरस्ति यत् ।
तस्यार्धं स्वस्वदेवीनां ज्योतिष्काणां च जीवितम् ॥१२२॥

अर्थः—चन्द्रप्रभा, सुसीमा, प्रभावती और अर्चिमालनी ये चारों मन को प्रिय लगने वाली चन्द्रमा की महादेवियां हैं ॥११९॥ इन्द्रप्रभा, सूर्यप्रभा, घनकरा (प्रभङ्करा) और अर्चिमालनी ये चार महादेवियाँ सूर्य की हैं ॥ १२० ॥ इन आठों महादेवियों में से प्रत्येक महादेवी की पृथक् पृथक् दो दो

हजार परिवार देवियाँ हैं ॥१२१॥ पाँचों ज्योतिष देवों के समुदाय में अपने अपने देवों की आयु का जो प्रमाण है, उनकी देवियों की आयु का प्रमाण उनसे (अपने अपने देवों से) आधा-आधा है ॥१२२॥

अब ज्योतिष्क देवों के अवधिक्षेत्र और भवनत्रिक देवों के गमन क्षेत्र का कथन करते हैं:—

संख्यातीतसहस्राणि योजनानां परोऽवधिः ।
ज्योतिष्काणां जघन्यश्च तिर्यक् संख्यातयोजनः ॥१२३॥
किंचन्मात्रोऽवधिस्तेषामधोलोकेऽपि जायते ।
भावना व्यन्तरा ज्योतिष्का गच्छन्ति स्वयं क्वचित् ॥१२४॥
तृतीयक्षितिपर्यन्तमधोलोके स्वकार्यतः ।
सौधर्मैशानकल्पान्तमूर्ध्वलोके निजेच्छया ॥१२५॥
तेऽपि सर्वे सुरैर्नीता भावनाद्यास्त्रयोऽमराः ।
षोडशस्वर्गपर्यन्तं प्रीत्या यान्ति सुखाप्तये ॥१२६॥

अर्थः—ज्योतिष्क देवों का उत्कृष्ट अवधि क्षेत्र असंख्यात योजन प्रमाण है। तिर्यग् रूप से जघन्य क्षेत्र संख्यात योजन प्रमाण है और इन देवों का अधोलोक में भी कुछ मात्रा तक अवधि क्षेत्र है। भवनवासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिषी देव अपने कार्य वशात् अधोलोक में तीसरी पृथ्वी पर्यन्त जाते हैं। ऊर्ध्वलोक में स्व इच्छा से तो सौधर्म-ऐशान स्वर्ग तक ही जाते हैं, किन्तु सुख प्राप्ति के लिए मित्र आदि अन्य महर्द्धिक देवों द्वारा प्रीति पूर्वक सोलह स्वर्ग पर्यन्त ले जाये जाते हैं ॥१२३–१२६॥

अब ज्योतिष्क देवों के शरीर का उत्सेध, निःकृष्ट देवों की देवांगनाओं का प्रमाण और भवनत्रय में जन्म लेने वाले जीवों के आचरण का विवेचन करते हैं:—

सप्तचापतनूत्सेधः सर्वज्योतिःसुधाभुजाम् ।
सर्वनिकृष्टदेवानां स्युर्द्वात्रिंशत्प्रमाङ्गनाः ॥१२७॥
उन्मार्गचारिणो येऽत्र विराधितसुदर्शनाः ।
अकामनिर्जरायुक्ता बाला बालतपोऽन्विताः ॥१२८॥
शिथिलाधर्मचारित्रे मिथ्यासंयमधारिणः ।
पञ्चाग्निसाधने निष्ठाः सनिदानाश्च तापसाः ॥१२९॥
अज्ञानक्लेशिनः शैवलिङ्गिनो ये नरादयः ।
भावनादि त्रयाणां ते यान्ति नीचगतिं स्वयम् ॥१३०॥

ये नीचदेव संशक्ता नीचा नीचगुरुं श्रिताः ।
नीचधर्मरता नीचपाखण्डिभाक्तिकाः शठाः ।।१३१।।

नीचसंयमकुर्वेषा नीचशास्त्रतपोन्विताः ।
तेऽहो सर्वत्र नीचाः स्युर्देवत्वेऽन्यत्र वा सदा ।।१३२।।

मत्वेति जैनसन्मार्गं स्वर्मोक्षदं सुखार्थिभिः ।
विमुच्य श्रेयसे जातु न ग्राह्यं दुःपथं खलम् ।।१३३।।

अर्थः—सर्व ज्योतिष्क देवों (सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु, नक्षत्र और तारागणों) के शरीर की ऊंचाई सात धनुष प्रमाण है। सर्व निःकृष्ट अर्थात् पुण्य हीन देवों में से प्रत्येक के ३२-३२ ही देवांगनाएँ होतीं हैं ।।१२७।। जो जीव यहाँ उन्मार्ग का आचरण करते हैं, सम्यग्दर्शन के विराधक हैं, अकाम निर्जरा से युक्त हैं, अज्ञानी हैं, बाल अर्थात् अज्ञान तप को तपने वाले हैं, धर्माचरण में शिथिल हैं, खोटे संयम के धारी हैं, पञ्चाग्नि आदि तपों में श्रद्धा रखते हैं, निदान सहित तप तपते हैं, अज्ञान तप से शरीर को कष्ट देते हैं तथा शिवलिंग आदि के उपासक हैं वे मनुष्य आदि मर कर भवनत्रय में जन्म लेते हैं एवं अन्य भी तीन नीच गतियों में जन्म लेते हैं ।।१२८-१३०।। जो कुदेवों में संशक्त हैं, खोटे गुरुओं का आश्रय ग्रहण करते हैं, खोटे धर्मों में संलग्न रहते हैं, नीच और पाखण्डी गुरुओं के भक्त हैं, मूर्ख हैं, खोटे संयम को धारण कर नाना प्रकार के खोटे वेष बनाते हैं, खोटे शास्त्र और खोटे तप से युक्त हैं, खेद है कि वे सब नीच देवों (भवनत्रिक आदि) में उत्पन्न होते हैं, तथा अन्यत्र भी नीच गतियों में ही निरन्तर उत्पन्न होते हैं ।। १३१-१३२ ।। ऐसा मान कर सुखार्थी जीवों को स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करने वाले जैन धर्म स्वरूप समीचीन मार्ग को छोड़ कर दुःख देने वाले खोटे मार्ग का आश्रय कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए ।।१३३।।

करणानुयोग शास्त्रों के अध्ययन की प्रेरणाः—

एतत्पुण्यनिधानकं जिनमुखोद्भूतं सुधर्माकरम्,
धर्मध्यान निबन्धनं ह्यघहरं लोकानुयोगश्रुतम् ।
ज्योतिष्कामरभूतिवर्णनकरं भव्यात्मनां बोधकम्
सारं ज्ञानशिवार्थिनोप्यनुदिनं सिद्धयै पठन्त्वादरात् ।।१३४।।

अर्थः—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के मुखारविन्द से उद्भूत, पुण्य का निधान, समीचीन धर्म का आकर, धर्मध्यान का निबन्धक, पाप का नाशक, भव्य जीवों को बोध देने वाले, सारभूत और ज्योतिष्क देवों की विभूति आदि के वर्णन से युक्त इस करणानुयोग शास्त्र को केवल ज्ञान एवं मोक्ष के

अर्थी भव्यजन आत्म सिद्धि के लिये प्रतिदिन आदर पूर्वक पढ़ें। अर्थात् प्रतिदिन इसका स्वाध्याय करना चाहिये ॥१३४॥

अधिकारान्त मङ्गलाचरण :—

ज्योतिर्भावन भौमनाकभवनेष्वेव त्रिलोके च ये ।
श्रीमच्चैत्यगृहा नृदेवमहिता नित्येतराः पुण्यदाः ।
श्रीतीर्थेश्वर मूर्तयोऽति सुभगा याः श्री जिनाद्याश्च ये ।
तान् सर्वान् परमेष्ठिनः सुविधिना वन्देऽर्चयेऽर्चाश्च ताः ॥१३५॥

इति श्रीसिद्धांतसारदीपकमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते ज्योतिर्लोक-वर्णनो नाम चतुर्दशोऽधिकारः ॥

अर्थः—भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों के भवनों में तथा तीन लोक में मनुष्य और देवों द्वारा पूजित, पुण्य प्रदान करने वाले अकृत्रिम और कृत्रिम जिन चैत्यालयों को, अत्यन्त सुभग तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की तथा साक्षात् जिनेन्द्र देव आदि पंच परमेष्ठियों को और उन सब प्रतिमाओं की मैं विधि पूर्वक पूजन करता हूँ, वन्दना करता हूँ और अर्चना करता हूँ ॥१३५॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसार दीपक
नाम महाग्रन्थ में ज्योतिर्लोक का प्ररूपण करने वाला
चौदहवाँ अधिकार समाप्त ॥

पञ्चदशोऽधिकारः

मङ्गलाचरण :—

त्रिसहस्रोनपञ्चाशीति लक्षश्रीजिनालयान् ।
त्रयोविंशतिसंयुक्तान् वन्दे कल्पामरस्तुतान् ॥१॥

अर्थः—मनुष्यों और देवों से पूजित कल्पवासी के चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस जिनालयों को मैं (सकलकीर्त्याचार्य) नमस्कार करता हूँ ॥१॥

प्रतिज्ञा :—

अथोर्ध्वलोकभागस्थान् स्वर्गग्रैवेयकादिकान् ।
इन्द्रादिनाकिनां भूतिस्थितिसुखादिकं ब्रुवे ॥२॥

अर्थः—अब ऊर्ध्वलोक में स्थित सौधर्मादि स्वर्ग और ग्रैवेयक आदि की स्थिति आदि को तथा इन्द्रादिक देवों की विभूति एवं ऋद्धि-प्राप्ति को कहता हूँ ॥२॥

अब सोलह स्वर्गों के नाम और उनका अवस्थान कहते हैं :—

सौधर्मेशानकल्पौ द्वौ दक्षिणोत्तरयोः स्थितौ ।
सनत्कुमारमाहेन्द्रौ ब्रह्मब्रह्मोत्तराह्वयौ ॥३॥
स्वर्गौ लान्तवकापिष्ठौ दक्षिणोत्तरदिक्स्थितौ ।
द्वौ च शुक्रमहाशुक्रौ युग्मरूपव्यवस्थितौ ॥४॥
द्वौ शतारसहस्रारावानतप्राणताभिधौ ।
आरणाच्युतनामानौ चैते स्वर्गाश्च षोडश ॥५॥

अर्थः—सौधर्म और ऐशान कल्प, क्रमशः दक्षिण और उत्तर में अवस्थित हैं, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर तथा लान्तव और कापिष्ठ ये स्वर्ग भी दक्षिण-उत्तर दिशाओं के आश्रित अवस्थित हैं। शुक्र और महाशुक्र ये युग्म रूप अवस्थित हैं ॥ ३-४ ॥ शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत तथा आरण और अच्युत ये भी एक के बाद एक युग्म रूप से अवस्थित हैं, इस प्रकार ये सोलह स्वर्ग ऊर्ध्वलोक में अवस्थित हैं ॥५॥

अब इन्द्रों का प्रमाण दर्शाते हैं :—

चतुर्णामाद्यनाकानां चत्वारो वासवा पृथक् ।
चतुः स्वर्गमध्ययुग्मानां चत्वारः स्वर्गनायकाः ॥६॥
चतुस्तदग्रनाकानामिन्द्राश्चत्वार ऊर्जिताः ।
इतीन्द्रसंख्यया कल्पाः कथ्यन्ते द्वादशागमे ॥७॥

अर्थ:—आदि के चार स्वर्गों के पृथक् पृथक् चार इन्द्र हैं। अर्थात् सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गों में से प्रत्येक में एक एक इन्द्र है। मध्य के चार युगलों (आठ स्वर्गों) के चार इन्द्र हैं। अर्थात् ब्रह्म, लान्तव, महाशुक्र और सहस्रार स्वर्गों में से प्रत्येक में एक एक इन्द्र है। ब्रह्मोत्तर, कापिष्ट, शुक्र और शतार स्वर्गों में इन्द्र नहीं हैं। शेष ऊपर के आनत, प्राणत, आरण और अच्युत में से प्रत्येक में एक एक इन्द्र है। इस प्रकार आगम में बारह इन्द्र और बारह ही कल्प कहे गये हैं।६-७।

अब इन्द्रों के नाम और उनकी दक्षिणेन्द्र संज्ञा आदि का विवेचन करते हैं:—

सौधर्मेन्द्राह्वयः शक्रः सनत्कुमारदेवराट् ।
ब्रह्मेन्द्रो लान्तवेन्द्रश्चानतेन्द्र आरणाधिपः ॥८॥
षडेते दक्षिणेन्द्राः स्युर्नूनमेकावतारिणः ।
पूर्वार्जितमहापुण्यजिनभक्तिभराङ्किताः ॥९॥
ईशानेन्द्रो हि माहेन्द्रः शुक्रेन्द्रः शुक्रनाकभाक् ।
शतारेन्द्रस्ततः प्राणतेन्द्रोऽच्युतेन्द्र उत्तमः ॥१०॥
एते षडुत्तरेन्द्राः स्युर्जिनपूजापरायणाः ।
सम्यग्दर्शनसंशुद्धाः सर्वामरनतक्रमाः ॥११॥

अर्थ:—सौधर्म, सनत्कुमार, ब्रह्म, लान्तव, आनत और आरण नाम के ये छह इन्द्र दक्षिणेन्द्र हैं। ये छहों एक भवावतारी, पूर्वोपार्जित महापुण्य से युक्त और जिनेन्द्र भगवान की अपूर्व भक्ति के रस से सहित होते हैं ॥८-९॥ सर्व देवों से नमस्कृत, सम्यग्दर्शन से शुद्ध और जिनेन्द्र की पूजा में तल्लीन रहने वाले ईशान, माहेन्द्र, शुक्र स्वर्ग का शुक्र, शतार प्राणत और अच्युत नाम के ये छह इन्द्र उत्तरेन्द्र हैं ॥१०-११॥

अब कल्प-कल्पातीत विमानों का और सिद्ध शिला का अवस्थान बतलाते हैं :–

उपर्युपरि सन्त्येते स्वर्गाः षोडशसम्मिताः ।
दक्षिणोत्तरदिग्भागस्था युग्मरूपिणः शुभाः ॥१२॥

स्वर्गाणामुपरि स्युश्चाद्याधोग्रं वेयकास्त्रयः ।
तेषामुपरिसन्त्येव मध्यग्रं वेयकास्त्रयः ॥१३॥
एषामुपरि तिष्ठन्ति चोर्ध्वग्रं वेयकास्त्रयः ।
अमीषामुपरि स्याच्च नवानुदिशनामकम् ॥१४॥
तस्य सन्ति चतुर्दिक्षु चत्वारश्च विमानकाः ।
विदिक्षु तेऽपितावन्तो मध्ये ह्येकं विमानकम् ॥१५॥
तस्योपरि च पञ्चानुत्तराख्यं पटलं भवेत् ।
तच्चतुर्दिक्षु चत्वारि विमानानि भवन्ति वै ॥१६॥
मध्ये सर्वार्थसिद्धयाख्यं स्याद्विमानं च्युतोपमम् ।
ततो मुक्तिशिलादिव्या गत्वा द्वादशयोजनान् ॥१७॥

अर्थः—दक्षिण और उत्तर दिशाओं में षोडश स्वर्ग युग्म रूप से ऊपर ऊपर अवस्थित हैं, अर्थात् एक युगल के ऊपर दूसरा, दूसरे के ऊपर तीसरा इत्यादि ॥१२॥ सोलह स्वर्गों के ऊपर तीन अधोग्रैवेयकों की (एक के ऊपर एक) अवस्थिति है । इनके ऊपर तीन मध्यम ग्रैवेयक और उनके ऊपर तीन ऊर्ध्वग्रं वेयक स्थित हैं । इन ग्रं वेयकों के ऊपर चार दिशाओं में चार, चार विदिशाओं में चार और एक मध्य में इस प्रकार नव अनुदिशों की अवस्थिति है ॥१३-१५॥ नव अनुदिशों के ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं, जो चार दिशाओं में चार हैं और मध्य में उपमा रहित सर्वार्थसिद्धि नामक विमान अवस्थित है । सर्वार्थ सिद्धि विमान से बारह योजन ऊपर जाकर दिव्य रूप वाली सिद्धशिला अवस्थित है ॥१६-१७॥

अब मेरु तल से कल्प और कल्पातीत विमानों के अवस्थान का प्रमाण कहते हैं:—

मेरोस्तलाच्च सार्धैका रज्जुपर्यन्तमादिमौ ।
स्यातां स्वर्गौ ततोऽन्यौ द्वौ सार्धरज्ज्वन्तमञ्जसा ॥१८॥
अर्धार्धरज्जुपर्यन्तं शेषषट्स्वर्गयुग्मकाः ।
प्रत्येकं स्युः पृथग्भूतास्ततो ग्रं वेयकात्रयः ॥१९॥
सर्वार्थसिद्धिमोक्षान्ता एक रज्ज्वन्तमाश्रिताः ।
इत्यूर्ध्व लोककल्पाद्याः स्युः सप्तरज्जुमध्यगाः ॥२०॥

अर्थः—मेरुतल से डेढ़ राजू में सौधर्मेशान स्वर्ग है, इसके ऊपर डेढ़ राजू में सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग हैं, इसके ऊपर ऊपर प्रत्येक अर्ध अर्ध राजू की ऊँचाई में क्रम से अन्य छह युगल अवस्थित

हैं। इस प्रकार छह राजू में सोलह स्वर्ग स्थित हैं। इनके ऊपर एक राजू में नौ ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पाँच अनुत्तर और सिद्ध शिला अवस्थित है। इस प्रकार मेरु तल से ऊर्ध्वलोक के सात राजू क्षेत्र में स्वर्गादिक हैं ॥१८-२०॥ यथा—

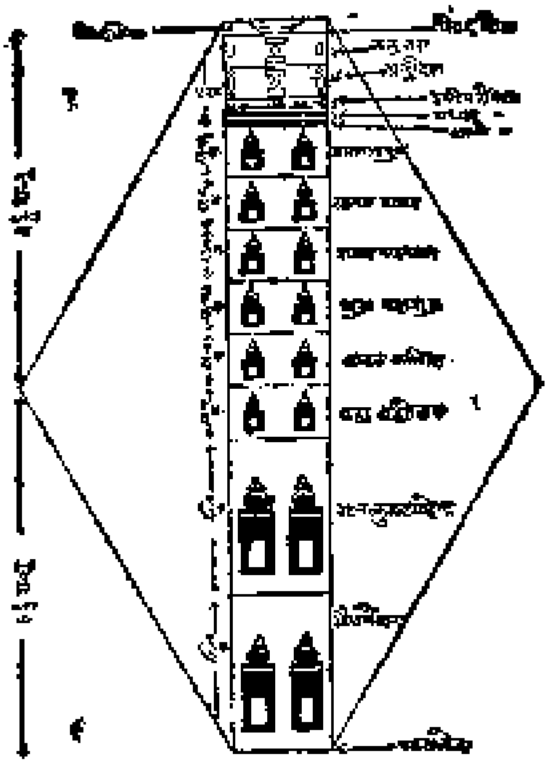

अब पटलों का प्रमाण कहते हैं:—

आद्ये स्वर्युगले चैक त्रिंशत्स्युः पटलान्यपि ।
द्वितीये तानि सप्तैव चत्वारि तृतीये ततः ॥२१॥
चतुर्थे युगले द्वे स्तः पटले पञ्चमे भवेत् ।
पटलैकं युगे षष्ठे ह्येकं सत्पटलं मतम् ॥२२॥
सप्तमे युगले त्रीण्यष्टमे त्रिपटलान्यपि ।
त्रीण्येव पटलानि स्युरधोग्रैवेयकत्रये ॥२३॥
सन्ति त्रिपटलान्येव मध्यग्रैवेयकत्रये ।
ततस्त्रिपटलानि स्युरूर्ध्वग्रैवेयकत्रिके ॥२४॥
नवानुदिशसञ्ज्ञं स्यात्पटलैकं ततः परम् ।
पञ्चानुत्तरनामैकं पटलं चेति तान्यपि ॥२५॥
पिण्डीकृतानि सर्वाणि त्रिषष्टि पटलानि वै ।
स्युरुपर्युपरिस्थानि कल्पकल्पातिगानि च ॥२६॥

अर्थ—सौधर्म नामक प्रथम युगल में ३१ पटल हैं। दूसरे सानत्कुमार युगल में सात, तीसरे ब्रह्म युगल में चार, चौथे लान्तव युगल में दो, पाँचवें शुक्र युगल में एक, छठवें शतार युगल में एक, सातवें आनत युगल में तीन, आठवें आरण युगल में तीन, अधोग्रैवेयक में तीन, मध्यम ग्रैवेयक में तीन, ऊर्ध्व ग्रैवेयक में तीन, नव अनुदिशों में एक और पाँच अनुत्तरों में एक पटल है। इस प्रकार सौधर्म स्वर्ग से ऊपर ऊपर कल्प और कल्पातीत सर्व स्वर्गों के पटलों की संख्या एकत्रित करने पर (३१+७+४+२+१+१+३+३+३+३+३+१+१=) ६३ होती है। अर्थात् कुल ६३ पटल हैं ॥२१-२६॥

अब सौधर्मादि स्वर्गों के विमानों का प्रमाण कहते हैं:—

सौधर्मे स्युर्विमानानि लक्षा द्वात्रिंशदेव च ।
ऐशाने सद्विमाना लक्षा अष्टाविंशति प्रमाः ॥२७॥

सनत्कुमारकल्पे द्वादशलक्षविमानकाः ।
विमानाः सन्ति माहेन्द्रे चाष्टलक्षप्रमाणकाः ॥२८॥

ब्रह्मकल्पे द्विलक्षेमा षण्णवत्या सहस्रकैः ।
ब्रह्मोत्तरे च ते लक्षैकं सहस्रचतुर्युतम् ॥२९॥

लान्तवे सद्विमानानि द्विचत्वारिंशता समम् ।
पञ्चविंशति संख्यानि सहस्राणि भवन्ति च ॥३०॥

कापिष्टे स्युर्विमानानि ह्यष्टपञ्चाशता सह ।
नवसंख्यशतैर्युक्ताश्चतुर्विंशसहस्रकाः ॥३१॥

शुक्रेविंशतियुक्तानि सहस्राणि तु विंशतिः ।
विमानानि महाशुक्रेऽशीत्यानवशतैर्युताः ॥३२॥

एकोनविंशसंख्यानसहस्राः स्युः शतारके ।
एकोनविंशसंयुक्तत्रिसहस्रा विमानकाः ॥३३॥

सहस्रारे तथैकोनविंशोनत्रिसहस्रकाः ।
आनतप्राणताभिख्यकल्पद्वयोर्विमानकाः ॥३४॥

चतुःशतानि चत्वारिंशद् युतान्यारणाच्युते ।
विमानाः षष्टि संयुक्त शतद्वयप्रमाणकाः ॥३५॥

ततः सन्ति विमानानि ह्यधोग्रैवेयकत्रिके ।
एकादशोत्तरं चैक शतं ततो विमानकाः ॥३६॥

शतैकं सप्तसंयुक्तं मध्यग्रैवेयकत्रिके ।
एकानवतिसंख्याना ऊर्ध्वग्रैवेयकत्रिके ॥३७॥

ततो नवविमानानि नवानुदिशसंज्ञके ।
पञ्चदिव्यविमानानि पञ्चानुत्तर नामके ॥३८॥

अर्थः—उपर्युक्त १२ श्लोकों का समस्त अर्थ निम्नाङ्कित तालिका में निहित है ।

क्रमांक	स्वर्गों के नाम	विमानों की संख्या	क्रमांक	स्वर्गों के नाम	विमानों की संख्या
१	सौधर्म	३२ लाख (३२०००००)	११	शतार	३०१९ } (६ हजार)
२	ऐशान	२८ लाख (२८०००००)	१२	सहस्रार	२९८१ }
३	सानत्कुमार	१२ लाख (१२०००००)	१३	आनत प्राणत	४४० } (७००)
४	माहेन्द्र	८ लाख (८०००००)	१४	आरण अच्युत	२६० }
५	ब्रह्म	२९६००० } (४ लाख)	१५	३ अधस्तन ग्रैवेयक	१११
६	ब्रह्मोत्तर	१०४००० }	१६	३ मध्यम ,,	१०७
७	लान्तव	२५०४२ } (५० हजार)	१७	३ उपरिम ,,	९१
८	कापिष्ठ	२४९५८ }	१८	अनुदिश	९
९	शुक्र	२००२० } (४० हजार)	१९	अनुत्तर	५
१०	महाशुक्र	१९९८० }		योगफल—	८४९७०२३ है ।

अब सोलह स्वर्गों के इन्द्रक विमानों के नाम कहते हैं:—

आद्यस्वर्गयुगे चाद्यमृज्वाख्यं विमलाभिधम् ।
चन्द्रं वल्गु च वीराख्यमरुणं नन्दनाह्वयम् ॥३९॥

नलिनं काञ्चनं रोहिच्चञ्चाख्यं मरुदाख्यकम् ।
ऋद्धिशं ह्यथवैडूर्यं ततो रुचकनामकम् ॥४०॥

रुचिराभिधमङ्काख्यं स्फाटिकं तपनीयकम् ।
मेघमभ्रं तु हारिद्रं पद्माभिधानकं ततः ॥४१॥
लोहिताख्यं ततो वज्रं नन्द्यावर्तं प्रभाकरम् ।
पिष्टकं च गजाभासं मित्राख्यं प्रभसंज्ञकम् ॥४२॥
इत्युक्तशुभनामान एकत्रिंशत्प्रमेन्द्रकाः ।
मध्यस्थाः पटलानां स्युः सौधर्मैशान कल्पयोः ॥४३॥
अञ्जनं वनमालाख्यं नागं च गरुडाह्वयम् ।
लाङ्गलं बलभद्राख्यं चक्रं सप्तेन्द्रका अमी ॥४४॥
सनत्कुमार माहेन्द्र कल्पयोः श्रेणिमध्यगाः ।
अरिष्टं देवसौमाख्यं ब्रह्मब्रह्मोत्तराख्यकम् ॥४५॥
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे सन्ति चत्वार इन्द्रका इमे ।
ब्रह्मादिहृदयाभिख्यं लान्तवं चेन्द्रकाविमौ ॥४६॥
द्वौ स्तो लान्तवकापिष्टे शुक्राख्यंकोऽस्ति चेन्द्रकः ।
शुक्रद्वये शताराख्येन्द्रकः शतारकद्वये ॥४७॥
आनतं प्राणतं पुष्पमिमे स्युरिन्द्रकास्त्रयः ।
उपर्युपरिभागेष्वानतप्राणतयोर्द्वयोः ॥४८॥
सातकं चारणाभिख्यमच्युताख्यमिमे त्रयः ।
इन्द्रकाः क्रमतः सन्त्यारणाच्युतद्विकल्पयोः ॥४९॥

अर्थः—सौधर्मैशान नामक प्रथम युगल में १ ऋतु, २ विमल, ३ चन्द्र, ४ वल्गु, ५ वीर, ६ अरुण, ७ नन्दन, ८ नलिन, ९ काञ्चन, १० रोहित, ११ चञ्च, १२ मरुत्, १३ ऋद्धीश, १४ वैडूर्य १५ रुचक, १६ रुचिर, १७ अङ्क, १८ स्फटिक, १९ तपनीय, २० मेघ, २१ अभ्र, २२ हारिद्र, २३ पद्म, २४ लोहित, २५ वज्र, २६ नन्द्यावर्त, २७ प्रभाकर, २८ पृष्ठक, २९ गज, ३० मित्र और ३१ प्रभ ये शुभ नाम वाले ३१ इन्द्रक विमान पटलों के मध्य में अवस्थित हैं ॥३९-४२॥ १ अञ्जन, २ वनमाल, ३ नाग, ४ गरुड़, ५ लाङ्गल, ६ बलभद्र और ७ चक्र ये सात इन्द्रक विमान सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में स्थित श्रेणीबद्ध विमानों के मध्य में अवस्थित हैं। अरिष्ट, देवसौम, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर नाम के ये चार इन्द्रक ब्रह्म युगल में, ब्रह्महृदय और लान्तव ये दो इन्द्रक लान्तवकापिष्ट युगल में, शुक्र नामक इन्द्रक शुक्र-महाशुक्र युगल में, शतार नामक इन्द्रक शतार-सहस्रार युगल में आनत, प्राणत और

पुष्पक ये तीन इन्द्रक आनत प्राणत स्वर्गों के उपरिम भागों में तथा शातक, आरण और अच्युत ये तीन इन्द्रक आरण-अच्युत इन दो कल्पों में अवस्थित हैं ।।४३-४६।।

सुदर्शनममोघाख्यं सुप्रबुद्धं यशोधरम् ।
सुभद्रं सुविशालं तु सुमनस्काभिधानकम् ।।५०।।

सौमनस्काह्वयं प्रीतिङ्करमेते नवेन्द्रकाः ।
नवग्रैवेयकेष्वेव सन्त्युपर्युपरि क्रमात् ।।५१।।

प्राच्यामर्चिविमानं दक्षिणदिश्यर्चिमालिनी ।
वैरोचनमपाच्यां चोत्तराशायां प्रभासकम् ।।५२।।

आग्नेयदिशि सौमाख्यं नैऋत्यां सौम्यरूपकम् ।
वायव्यामङ्कनामैशानकोणे स्फाटिकाभिधम् ।।५३।।

एषां मध्येऽस्ति चादित्यमालिन्याख्य विमानकम् ।
विमानानि नवैतानि स्युर्नवानुदिशाभिधे ।।५४।।

विजयं पूर्वदिग्भागे वैजयन्तं च दक्षिणे ।
जयन्तं पश्चिमाशायामुत्तरेऽस्त्यपराजितम् ।।५५।।

अमीषां मध्यभागे स्यात्सर्वार्थसिद्धिनामकम् ।
एते पञ्चविमानाः स्युः पञ्चानुत्तरसंज्ञके ।।५६।।

अर्थः—नवग्रैवेयकों में क्रमशः ऊपर ऊपर सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध, यशोधर, सुभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस और प्रीतिङ्कर नाम के ये नव इन्द्रक विमान हैं ।।५०-५१।। नव अनुदिशों की पूर्व दिशा में अर्चि विमान, दक्षिण में अर्चिमालिनी, पश्चिम में वैरोचन, उत्तर में प्रभास, आग्नेय दिशा में सौम, नैऋत्य में सौम्य रूप, वायव्य में अङ्क और ईशान कोण में स्फटिक नामक विमान हैं, इन आठों विमानों के मध्य में आदित्य मालिनी नामक इन्द्रक विमान है। इस प्रकार नवअनुदिशों में नव विमान हैं ।।५२-५४।। पञ्चानुत्तर की पूर्व दिशा में विजय, दक्षिण में वैजयन्त, पश्चिम में जयन्त और उत्तर दिशा में अपराजित नामक विमान हैं। इन सबके मध्य में सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान है। इस प्रकार पञ्चानुत्तर में पांच विमान हैं ।।५५-५६।।

अब ऋतु इन्द्रक की अवस्थिति एवं इन्द्रों के स्वामित्व की सीमा का विवेचन करते हैं:—

सुदर्शनमहामेरोश्चूलिकोर्ध्वनभस्तले ।
रोममात्रान्तरं मुक्त्वा तिष्ठेदृत्वाख्य इन्द्रक: ।।५७।।

स्वस्वान्त्यपटलेष्वन्त्य स्वस्वेन्द्रकस्य यच्च यत् ।
ध्वजाग्रं तत्र तत्र स्थितेन्द्रस्य स्वामिता भवेत् ।।५८।।

अर्थ:—सुदर्शन मेरु की चूलिका के ऊपर आकाश में बाल के अग्रभाग प्रमाण अन्तर छोड़कर ऋतु नाम का प्रथम इन्द्रक विमान है ।।५७।। अपने अपने अन्तिम पटल के अन्तिम इन्द्रक के ध्वजा-दण्ड पर्यन्त वहाँ स्थित अपने अपने इन्द्रों का स्वामित्व है। जैसे—सौधर्म इन्द्र का स्वामित्व प्रभा नामक अन्तिम इन्द्रक के ध्वजदण्ड पर्यन्त है। इसी प्रकार आगे भी जानना ।।५८।।

अब इन्द्रक विमानों का प्रमाण कहते हैं:—

नरक्षेत्रप्रमाणं स्यादृत्वाख्यं प्रथमेन्द्रकम् ।
सर्वार्थसिद्धिनामान्त्यं जम्बूद्वीपसमानकम् ।।५९।।

शेषाणामिन्द्रकाणां स्यादेकोनेन्द्रकसंख्यया ।
विभक्तैर्योजनै: शेषै: क्रमह्रासो हि विस्तर: ।।६०।।

अर्थ:—प्रथम ऋतु इन्द्रक विमान का विस्तार मनुष्य क्षेत्र (ढाई द्वीप) के बराबर और सर्वार्थसिद्धि नामक अन्तिम इन्द्रक का प्रमाण जम्बूद्वीप के बराबर है। उन दोनों के प्रमाण को परस्पर घटा कर शेष में एक कम इन्द्रक प्रमाण का भाग देने पर हानि-वृद्धि चय का प्रमाण प्राप्त होता है। जैसे:—ऋतु नामक प्रथम इन्द्रक का प्रमाण ४५००००० योजन और सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक का प्रमाण १००००० योजन है। इन दोनों को परस्पर में घटा कर एक कम इन्द्रक का भाग देने से ($\frac{४५०००००-१०००००}{६३-१}$ =) ७०९६७ $\frac{१३}{३१}$ योजन हानि चय का प्रमाण है ।।५९-६०।।

६३ इन्द्रक विमानों के विस्तार का प्रमाण निम्न प्रकार है:—

क्रमांक	इन्द्रकों के नाम	विमानों का विस्तार	क्रमांक	इन्द्रकों के नाम	इन्द्रक विमानों का विस्तार	क्रमांक	इन्द्रकों के नाम	इन्द्रक विमानों का विस्तार
१	ऋतु	४५००००० यो	२२	हारिद्र	३००९६७७ १३/३१ यो०	४३	ब्रह्महृदय	१५१९३५४ २६/३१ यो०
२	चन्द्र	४४२९०३२ ८/३१ ,,	२३	पद्म	२९३८७०९ २१/३१ ,,	४४	लान्तव	१४४८३८७ ३/३१ ,,
३	विमल	४३५८०६४ १६/३१ ,,	२४	लोहित	२८६७७४१ २९/३१ ,,	४५	शुक्र	१३७७४१९ ११/३१ ,,
४	वल्गु	४२८७०९६ २४/३१ ,,	२५	वज्र	२७९६७७४ ६/३१ ,,	४६	शतार	१३०६४५१ १९/३१ ,,
५	वीर	४२१६१२९ १/३१ ,,	२६	नन्द्या०	२७२५८०६ १४/३१ ,,	४७	आनत	१२३५४८३ २७/३१ ,,
६	अरुण	४१४५१६१ ९/३१ ,,	२७	प्रभाकर	२६५४८३८ २२/३१ ,,	४८	प्राणत	११६४५१६ ४/३१ ,,
७	नन्दन	४०७४१९३ १७/३१ ,,	२८	पृष्ठक	२५८३८७० ३०/३१ ,,	४९	पुष्पक	१०९३५४८ १२/३१ ,,
८	नलिन	४००३२२५ २५/३१ ,,	२९	गज	२५१२९०३ ७/३१ ,,	५०	शातक	१०२२५८० २०/३१ ,,
९	काञ्चन	३९३२२५८ २/३१ ,,	३०	मित्र	२४४१९३५ १५/३१ ,,	५१	आरण	९५१६१२ २८/३१ ,,
१०	रोहित	३८६१२९० १०/३१ ,,	३१	प्रभा	२३७०९६७ २३/३१ ,,	५२	अच्युत	८८०६४५ ५/३१ ,,
११	चञ्च	३७९०३२२ १८/३१ ,,	३२	अञ्जन	२३००००० ,,	५३	सुदर्शन	८०९६७७ १३/३१ ,,
१२	मरुत्	३७१९३५४ २६/३१ ,,	३३	वनमाल	२२२९०३२ ८/३१ ,,	५४	अमोघ	७३८७०९ २१/३१ ,,
१३	ऋद्धीश	३६४८३८७ ३/३१ ,,	३४	नाग	२१५८०६४ १६/३१ ,,	५५	सुप्रबुद्ध	६६७७४१ २९/३१ ,,
१४	वैडूर्य	३५७७४१९ ११/३१ ,,	३५	गरुड़	२०८७०९६ २४/३१ ,,	५६	यशोधर	५९६७७४ ६/३१ ,,
१५	रुचक	३५०६४५१ १९/३१ ,,	३६	लाङ्गल	२०१६१२९ १/३१ ,,	५७	सुभद्र	५२५८०६ १४/३१ ,,
१६	रुचिर	३४३५४८३ २७/३१ ,,	३७	बलभद्र	१९४५१६१ ९/३१ ,,	५८	सुविशाल	४५४८३८ २२/३१ ,,
१७	अंक	३३६४५१६ ४/३१ ,,	३८	चक्र	१८७४१९३ १७/३१ ,,	५९	सुमनस्	३८३८७० ३०/३१ ,,
१८	स्फटिक	३२९३५४८ १२/३१ ,,	३९	अरिष्ट	१८०३२२५ २५/३१ ,,	६०	सौमनस्	३१२९०३ ७/३१ ,,
१९	तपनीय	३२२२५८० २०/३१ ,,	४०	सुरस	१७३२२५८ २/३१ ,,	६१	प्रीतिंकर	२४१९३५ १५/३१ ,,
२०	मेघ	३१५१६१२ २८/३१ ,,	४१	ब्रह्म	१६६१२९० १०/३१ ,,	६२	आदित्य	१७०९६७ २३/३१ ,,
२१	अभ्र	३०८०६४५ ५/३१ ,,	४२	ब्रह्मोत्तर	१५९०३२२ १८/३१ ,,	६३	सर्वार्थसिद्धि	१००००० योजन

अब श्रेणीबद्ध विमानों के अवस्थान का स्वरूप कहते हैं:—

आद्येन्द्रकस्य विद्यन्ते चतुर्दिक्षु विमानकाः ।
श्रेणीबद्धा द्विषष्टिस्तु महान्तोऽनुक्रमात् पृथक् ॥६१॥

आद्येन्द्रकाच्चतुर्दिक्षु सर्वोर्ध्वपटलेष्वपि ।
श्रेणीबद्धाः प्रहीयन्ते चतुश्चतुःप्रमाः क्रमात् ॥६२॥

यावच्चानुदिशाभिख्यं पटलं दिक्चतुष्टये ।
श्रेणीबद्धा हि तिष्ठन्ति प्रान्त्याश्चत्वारइन्द्रकाः ॥६३॥

अर्थः—प्रथम ऋतु इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में अनुक्रम से पृथक् पृथक् बासठ-बासठ श्रेणीबद्ध विमान अवस्थित हैं। इसके ऊपर द्वितीयादि पटलों के इन्द्रकों की चारों दिशाओं में क्रम से प्रथम इन्द्रक के श्रेणीबद्धों के प्रमाण से चार-चार श्रेणीबद्ध तब तक हीन हीन होते जाते हैं, जब तक अन्तिम पटल की प्राप्ति नहीं हो जाती। इसीलिये अनुदिश (और अनुत्तर) इन्द्रक की चारों दिशाओं में (प्रत्येक दिशा में एक एक) चार ही श्रेणीबद्ध विमान हैं ॥६१-६३॥

प्रत्येक स्वर्ग के श्रेणीबद्ध विमानों का प्रमाण निम्न प्रकार है:—

$\frac{३१-१}{२} \times ३ = ४५$; $(१८६-४५) \times ३१ = ४३७१$ सौधर्म स्वर्ग के श्रेणी० का प्रमाण है।

$\frac{३१-१}{२} \times १ = १५$; $(६२-१५) \times ३१ = १४५७$ ऐशान स्वर्ग के श्रेणी० का प्रमाण है।

$\frac{७-१}{२} \times ३ = ९$; $(९३-९) \times ७ = ५८८$ सानत्कुमार स्वर्ग के श्रेणीबद्धों का प्रमाण है।

$\frac{७-१}{२} \times १ = ३$; $(३१-३) \times ७ = १९६$ माहेन्द्र „ „ „ „ „ „

$\frac{४-१}{२} \times ४ = ६$; $(९६-६) \times ४ = ३६०$ ब्रह्मब्रह्मोत्तर „ „ „ „ „ „

$\frac{२-१}{२} \times ४ = २$; $(८०-२) \times २ = १५६$ लान्तव कापिष्ठ „ „ „ „ „

$\frac{१-१}{२} \times ४ = ०$; $(७२-०) \times १ = ७२$ शुक्रमहाशुक्र „ „ „ „ „

$\frac{१-१}{२} \times ४ = ०$; $(६८-०) \times १ = ६८$ शतार सह० „ „ „ „ „

$\frac{६-१}{२} \times ४ = १०$; $(६४-१०) \times ६ = ३२४$ आनतादि ४ „ „ „ „ „

$^{3}\overline{\text{३}}^{1}$ × ४ = ४; (४०—४) × ३ = १०८	अधोग्रैवेयक	,,	,,	,,	,,	,,	
$^{3}\overline{\text{३}}^{1}$ × ४ = ४; (२८—४) × ३ = ७२	मध्य	,,	,,	,,	,,	,,	,,
$^{3}\overline{\text{३}}^{1}$ × ४ = ४; (१६—४) × ३ = ३६	उपरिम	,,	,,	,,	,,	,,	,,
$^{1}\overline{\text{३}}^{1}$ × ४ = ०; (४—०) × १ = ४	अनुदिशों	,,	,,	,,	,,	,,	

अब प्रकीर्णक विमानों का स्वरूप और अवस्थान कहते हैं:—

श्रेणीबद्धान्तरेषु स्युश्चतुर्विदिक्षु सर्वतः ।
इन्द्रकाः श्रेणिसम्बन्धक्रमहीना इतोऽमुतः ।।६४।।

प्रकीर्णक विमानाश्च पुष्पप्रकीर्णका इव ।
पञ्चानुत्तरसंज्ञे तथाधोग्रैवेयकत्रये ।।६५।।

प्रकीर्णक विमानानि न सन्त्यन्येषु सन्ति च ।
एकोनषष्टिसंख्येषु पटलेषु प्रकीर्णकाः ।।६६।।

अर्थः— अहो ! श्रेणीबद्ध के अन्तरालों की चारों विदिशाओं में सब ओर इन्द्रक और श्रेणीबद्ध के सदृश क्रम से रहित पुष्पों के सदृश यत्र तत्र स्थित विमानों को प्रकीर्णक विमान कहते हैं। पाँच अनुत्तर (के एक पटल) में और अधोग्रैवेयक (के सुदर्शन, अमोघ और सुप्रबुद्ध इन तीन पटलों में प्रकीर्णक विमान नहीं होते । शेष [६३—(३+१)]=५६ पटलों में प्रकीर्णक विमान होते हैं ।।६४-६६।।

पुनरमीषां इन्द्रकश्रेणीबद्ध प्रकीर्णक विमानानां पृथक् पृथक् संख्या निगद्यते:—

संख्यासंख्यविष्कम्भाश्च सौधर्मेन्द्रका एकत्रिंशत् । श्रेणीबद्धाः एक सप्तत्यग्रत्रिचत्वारिंशच्छतानि । प्रकीर्णकाः एकत्रिंशल्लक्ष पञ्चनवतिसहस्र पञ्चशताष्टानवति प्रमाः स्युः । ऐशानस्वर्गे इन्द्रकाः शून्यं । श्रेणीबद्धाः सप्तपञ्चाशदधिक चतुर्दशशतानि । प्रकीर्णकाः सप्तविंशतिलक्षाष्टानवतिसहस्रपञ्चशतत्रिचत्वारिंशत् प्रमाणाः सन्ति । सनत्कुमारे इन्द्रकाः सप्त । श्रेणीबद्धाः अष्टाशीत्यग्रपञ्चशतानि । प्रकीर्णकाः एकादशलक्षनवनवति सहस्रचतुःशतपञ्चसंख्याः भवन्ति । माहेन्द्रे इन्द्रकाः शून्यं (नास्ति) । श्रेणीबद्धाः षण्णवत्यग्रशतप्रमाश्च । प्रकीर्णकाः सप्तलक्षनवनवति सहस्राष्टशतचतुःप्रमाणाः सन्ति । ब्रह्मस्वर्गे इन्द्रकाश्चत्वारः श्रेणीबद्धाः सप्तत्यग्रे द्वे शते । प्रकीर्णकाः द्विलक्षपञ्चनवति सहस्रसप्तशत षड्विंशतिसंख्याः स्युः ब्रह्मोत्तरे श्रेणीबद्धाः नवतिरेव । प्रकीर्णकाः एकलक्ष-

त्रिसहस्रनवशतदश प्रमिताः भवेयुः । लान्तवे इन्द्रको द्वौ । श्रेणीबद्धाः सप्तदशाग्रं शतं । प्रकीर्णकाः चतुर्विंशति सहस्रनवशत त्रयोविंशति संख्याःस्युः । कापिष्टे श्रेणीबद्धाः एकोनचत्वारिंशत् । प्रकीर्णकाः चतुर्विंशति सहस्रनवशतैकोनविंशति प्रमाः सन्ति । शुक्रे इन्द्रक एकोऽस्ति । श्रेणीबद्धाः चतुःपञ्चाशत् प्रकीर्णकाः एकोनविंशतिसहस्रनवशतपञ्चषष्टि संख्याः सन्ति । महाशुक्रे श्रेणीबद्धा अष्टादश । प्रकीर्णकाः एकोनविंशतिसहस्रनवशतद्विषष्टि प्रमाणाः स्युः । शतारस्वर्गे इन्द्रकः एकः । श्रेणीबद्धाः एकपञ्चाशत् । प्रकीर्णकाः द्विसहस्रनवशतषट्षष्टिप्रमिताः भवन्ति । सहस्रारे श्रेणीबद्धाः सप्तदश । प्रकीर्णकाः द्विसहस्र-नवशतपञ्चषष्टिसम्मिताः स्युः । आनतप्राणतयोः इन्द्रकाः त्रयः । श्रेणीबद्धाः अशीत्यधिकशतं । प्रकीर्णकाः सप्तपञ्चाशदग्रे द्वे शते । आरणाच्युतयोः इन्द्रकास्त्रयः । श्रेणीबद्धाः चतुश्चत्वारिंशद्युतं शतं । प्रकीर्णकाः त्रयोदशाग्रशतं । अधोग्रैवेयकत्रिषु इन्द्रकास्त्रयः । श्रेणीबद्धाः अष्टोत्तर शतं । प्रकीर्णकाः शून्यं । मध्यग्रैवेयकत्रिषु इन्द्रकास्त्रयः । श्रेणीबद्धाः द्वासप्ततिः । प्रकीर्णकाः द्वात्रिंशत् । ऊर्ध्वग्रैवेयकत्रिषु इन्द्रकास्त्रयः । श्रेणीबद्धाः षट्त्रिंशत् । प्रकीर्णकाः द्विपञ्चाशत् । नवानुदिशे एकेन्द्रकः । श्रेणीबद्धाश्चत्वारः । प्रकीर्णकाश्चत्वारः । पञ्चानुत्तरेन्द्रक एकः । श्रेणीबद्धाश्चत्वारः ।

अर्थः—प्रत्येक स्वर्ग के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानों की पृथक् पृथक् संख्या कहते हैं ।

(अङ्क तालिका अगले पृष्ठ पर देखें)

उपर्युक्त संस्कृत गद्य का सम्पूर्ण अर्थ निम्नाङ्कित तालिका में निहित है।

क्रमांक	स्वर्गों के नाम	विमानों की संख्या	इन्द्रक सं०	श्रेणीबद्धों की सं०	प्रकीर्णकों की सं०
१	सौधर्म	३२०००००० —	३१ +	४३७१ =	३१९५५९८
२	ऐशान	२८००००० —	० +	१४५७ =	२७९८५४३
३	सानत्कुमार	१२००००० —	७ +	५८८ =	११९९४०५
४	माहेन्द्र	८००००० —	० +	१९६ =	७९९८०४
५	ब्रह्म	२९६००० —	४ +	२७० =	२९५७२६
६	ब्रह्मोत्तर	१०४००० —	० +	९० =	१०३९१०
७	लांतव	२५०४२ —	२ +	११७ =	२४९२३
८	कापिष्ट	२४९५८ —	० +	३९ =	२४९१९
९	शुक्र	२००२० —	१ +	५४ =	१९९६५
१०	महाशुक्र	१९९८० —	० +	१८ =	१९९६२
११	शतार	३०१९ —	१ +	५१ =	२९६६
१२	सहस्रार	२९८१ —	० +	१७ =	२९६५
१३	आनत–प्राणत	४४० —	३ +	१८० =	२५७
१४	आरण–अच्युत	२६० —	३ +	१४४ =	११३
१५	अधोग्रैवेयक	१११ —	३ +	१०८ =	०
१६	मध्यग्रैवेयक	१०७ —	३ +	७२ =	३२
१७	ऊर्ध्वग्रैवेयक	९१ —	३ +	३६ =	५२
१८	अनुदिश	९ —	१ +	४ =	४
१९	अनुत्तर	५ —	१ +	४ =	०

अब इन्द्रक श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानों के प्रमाण का कथन करते हैं:—

संख्ययोजनविस्तारा इन्द्रकाः सकला मताः ।
श्रेणीबद्धा ह्यसंख्यातकोटीयोजन विस्तराः ॥६७॥
केचित्प्रकीर्णकासंख्य कोटीयोजन विस्तृताः ।
केचिदसंख्यकोटीनां योजनैर्विस्तरान्विताः ॥६८॥
अच्युतान्तस्थ सर्वेषां विमानानां हि पञ्चमः ।
भागः संख्येय कोटिप्रमाणयोजनविस्तृतः ॥६९॥
ततः शेषा हि चत्वारो भागाः सर्वेषु सन्ति च ।
विमानानामसंख्यातकोटीयोजनविस्तराः ॥७०॥
संख्यातयोजनव्यासा अधोग्रैवेयक त्रये ।
सन्तीन्द्रक विमानास्त्रयः श्रेणीमध्यभागगाः ॥७१॥
अष्टादशविमानाः स्युर्मध्यग्रैवेयक त्रिके ।
संख्ययोजनविष्कम्भाः प्रकीर्णकेन्द्रकोभयोः ॥७२॥
संख्येययोजनव्यासाः ऊर्ध्वग्रैवेयक त्रये ।
स्युः सप्तदशसंख्याना विमानारत्नशालिनः ॥७३॥
नवानुदिशसंज्ञे च पञ्चानुत्तरनामनि ।
संख्ययोजनविस्तार एकैक इन्द्रकः पृथक् ॥७४॥
एतेभ्यो ये परे सन्ति श्रेणीबद्ध प्रकीर्णकाः ।
ते सर्वे स्युरसंख्यातकोटीयोजन विस्तृताः ॥७५॥

अर्थ:—समस्त इन्द्रक विमान संख्यात योजन विस्तार वाले और श्रेणीबद्ध विमान असंख्यात योजन कोटि विस्तार वाले हैं ॥६७॥ प्रकीर्णक विमानों में से कुछ प्रकीर्णक संख्यात करोड़ योजन विस्तार वाले और कुछ प्रकीर्णक असंख्यात कोटि योजन विस्तार वाले हैं ॥६८॥ सौधर्म स्वर्ग से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त के कल्पों में अपनी अपनी विमान राशि के पाँचवें भाग प्रमाण विमान संख्यात करोड़ योजन विस्तार वाले हैं, इनसे अवशेष विमान असंख्यात करोड़ योजन विस्तार वाले हैं। अथवा अपनी अपनी राशि के ⅘ वें भाग प्रमाण विमान असंख्यात करोड़ योजन विस्तार वाले हैं। जैसे—सौधर्म कल्प की कुल विमान राशि ३२०००००—६४०००० संख्यात योजन व्यास वाले=

२५६०००० असंख्यात यो० व्यास वाले हैं । अथवा (३२०००००×४)/५ = २५६०००० विमान असंख्यात यो० व्यास वाले हैं ॥७०॥ तीनों अधोग्रैवेयकों में श्रेणीबद्ध विमानों के मध्य अवस्थित रहने वाले तीन इन्द्रक विमान संख्यात योजन विस्तार वाले हैं ॥७१॥ तीनों मध्यम ग्रैवेयकों में इन्द्रक और प्रकीर्णक दोनों मिला कर १८ विमान संख्यात योजन विस्तार वाले हैं ॥७२॥ तीनों ऊर्ध्व ग्रैवेयकों में रत्नमई १७ विमान संख्यात योजन विस्तार वाले हैं ॥७३॥ नव अनुदिशों और पञ्चानुत्तरों में जो एक-एक इन्द्रक हैं, वे ही संख्यात योजन विस्तार वाले हैं ॥७४॥ संख्यात योजन व्यास वाले प्रकीर्णकों से रहित अन्य प्रकीर्णक और सर्व श्रेणीबद्ध विमान असंख्यात कोटि योजन विस्तार वाले हैं ॥७५॥

अब इसी अर्थ को विशेष रूप से पृथक् पृथक् दर्शाते हैं:—

सौधर्मे विमाना षड्लक्षचत्वारिंशत् सहस्रा: संख्येय योजनविस्तारा: । पञ्चविंशतिलक्षषष्टिसहस्रा: असंख्येय कोटीयोजनव्यासाश्च । ईशानकल्पे विमाना: पञ्चलक्षषष्टिसहस्राः संख्यात योजनविष्कम्भा: । द्वाविंशतिलक्षचत्वारिंशत्सहस्रा: असंख्यात कोटियोजनविष्कम्भा: । सनत्कुमारे विमाना: द्विलक्षचत्वारिंशत्सहस्रा: संख्यात योजन विस्तृता: । नवलक्षषष्टिसहस्रा: असंख्यातयोजनकोटिविस्तृताश्च । माहेन्द्रे विमाना: एकलक्षषष्टिसहस्रा: संख्यातयोजनविस्तारा: । षड्लक्षचत्वारिंशत्सहस्रा: असंख्यातकोटियोजनविस्तारा: । ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्विमाना: अशीतिसहस्रा: संख्ययोजनव्यासा: । त्रिलक्षविंशतिसहस्रा: असंख्यकोटीयोजनव्यासा: । लान्तवकापिष्टयोर्दशसहस्रविमाना: संख्यातयोजनविष्कम्भा: । चत्वारिंशत्सहस्रविमाना: असंख्यातकोटियोजनविष्कम्भा: । शुक्रमहाशुक्रयो: अष्टसहस्रविमाना: संख्येययोजनविस्तारा: । द्वात्रिंशत्सहस्रविमाना: असंख्येयकोटीयोजनविस्तारा: । शतारसहस्रारयो: द्वादशशतविमाना: संख्ययोजनव्यासा: । अष्टचत्वारिंशच्छतविमाना: असंख्ययोजनकोटिव्यासा: । आनतप्राणतयो: अष्टाशीतिविमाना: संख्यातयोजनविष्कम्भा: । त्रिशतद्विपञ्चाशद्विमाना: असंख्यातकोटीयोजनविष्कम्भा: । आरणाच्युतयो: द्विपञ्चाशद्विमाना: संख्यातयोजनव्यासा: । अष्टाग्रद्विशतविमाना: असंख्यकोटीयोजनव्यासा: । अधोग्रैवेयकत्रिके विमानास्त्रय: संख्येययोजनविस्तारा: । अष्टोत्तरशतं असंख्येययोजनकोटिविस्तारा: । मध्यग्रैवेयकत्रये अष्टादश विमाना: संख्यातयोजनविस्तारा: नवाशीति विमाना: असंख्यातयोजनकोटिविस्तारा: । ऊर्ध्वग्रैवेयकत्रिके सप्तदशविमाना: संख्ययोजनविष्कम्भा: । चतु:सप्ततिविमाना: असंख्यकोटीयोजनविष्कम्भा: । नवानुदिशपटले विमानैक: संख्ययोजनविस्तार: । अष्टौविमाना: असंख्ययोजनकोटीविस्तारा: । पञ्चानुत्तरे एको विमान: संख्यातयोजनविष्कम्भ: । चत्वारो विमाना: असंख्यातकोटियोजनविष्कम्भा: ।

उपर्युक्त गद्य का सम्पूर्ण अर्थ निम्नलिखित तालिका में निहित है:—

स्थान संख्या	क्रमांक	स्वर्ग पटल	इन्द्रक + संख्यात० वाले प्रकीर्णक = संख्यात कोटि योजन वाले विमानों का कुल प्रमाण	श्रेणीबद्ध + असंख्यात० वाले प्रकीर्णक = असंख्यात कोटि योजन वाले विमानों का कुल प्रमाण
१	१	सौधर्म	३१ + ६३१९६९ = ६४००००	४३७१ + २५५५६२९ = २५६००००
	२	ऐशान	५६०००० प्रकीर्णक	(१४५७ + २२३८५४३) = २२४००००
२	३	सानत्कुमार	७ + २३९९९३ = २४००००	(५८८ + ९५९४१२) = ९६००००
	४	माहेन्द्र	१६०००० प्रकीर्णक	(१९६ + ६३९८०४) = ६४००००
३	५	ब्रह्म ब्रह्मोत्तर	४ + ७९९९६ = ८००००	(३६० + ३१९६४०) = ३२००००
४	६	लान्तव कापिष्ठ	२ + ९९९८ = १००००	(१५६ + ३९८४४) = ४००००
५	७	शुक्र महाशुक्र	१ + ७९९९ = ८०००	(७२ + ३१९२८) = ३२०००
६	८	शतार-सह०	१ + ११९९ = १२००	(६८ + ४७३२) = ४८००
७	९	आनतादि २	३ + ८५ = ८८	(१८० + १७२) = ३५२
	१०	आरण-अच्युत	१ + ५१ = ५२	(१४४ + ६४) = २०८
८	११	तीनों अधोग्रैवे०	३ + ० = ३	(१०८ + ०) = १०८
९	१२	तीनों मध्य ,,	३ + १५ = १८	(७२ + १७) = ८९
१०	१३	तीनों उपरि ,,	३ + १४ = १७	(३६ + ३८) = ७४
११	१४	नव अनुदिश	१ + ० = १	(४ + ४) = ८
	१५	पंच अनुत्तर	१ + ० = १	(४ + ०) = ४

अब विमानों के आधार–स्थान का निरूपण करते हैं:—

सौधर्मैशानयोः षष्टिलक्षसंख्याविमानकाः ।
जलाधारेण तिष्ठन्ति शाश्वता नभसि स्वयम् ॥७६॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्विमाना दिवौकसाम् ।
सन्ति–विंशतिलक्षाः खे वाताधारेण केवलम् ॥७७॥
ब्रह्मादिकसहस्रारान्ताष्टानां स्युर्विमानकाः ।
षण्णवतिसहस्राग्र चतुर्लक्षप्रमाणकाः ॥७८॥
जलवातद्वयाधारेणैव व्योम्नि मनोहराः ।
शेषानतादिकल्पानां चतुर्णां च विमानकाः ॥७९॥
ग्रैवेयकादिपञ्चानुत्तरान्तानां भवन्ति खे ।
निराधारास्त्रयो विंशाग्रसहस्रप्रमाः स्वयम् ॥८०॥

अर्थ:—सौधर्मैशान कल्प के (३२ लाख+२८ लाख)=६० लाख विमान आकाश में स्वयमेव जल के आधार अवस्थित हैं ॥७६॥ सानत्कुमार–माहेन्द्र स्वर्गस्थ देवों के (१२ लाख+८ लाख) =२० लाख विमान आकाश में मात्र वायु के आधार अवस्थित हैं ॥७७॥ ब्रह्म स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त अर्थात् आठ स्वर्गों के अति मनोज्ञ (४००००० + ५०००० + ४०००० + ६०००) =४९६००० विमान आकाश में जल-वायु (उभयाधार) के आधार अवस्थित हैं । शेष आनतादि चार कल्पों के, नवग्रैवेयकों के नव अनुदिशों के और पाँच अनुत्तर विमानों के (७०० + १११ + १०७ + ९१ + ९ + ५)=१०२३ विमान निराधार हैं। अर्थात् शुद्ध आकाश के आधार ही अवस्थित हैं ॥७८–८०॥

अब स्वर्गस्थ विमानों के वर्ण का विवेचन करते हैं:—

कृष्णनीलास्तथा रक्ताः पीताः शुक्ला इति द्वयोः ।
सौधर्मैशानयोः पञ्चवर्णा विमानतद्गृहाः ॥८१॥
नीला रक्तास्तथा पीताः शुक्ला इमे विमानकाः ।
सनत्कुमारमाहेन्द्रयोश्चतुर्वर्णभूषिताः ॥८२॥
रक्ता पीताः सिता एते त्रिवर्णाश्च विमानकाः ।
ब्रह्मादिकचतुर्णांस्युर्दिव्याः प्रासादपङ्क्तयः ॥८३॥

शुक्रादीनां चतुर्णां स्युः पीताः शुक्ला विमानकाः।
शेषानतादि कल्पेषु सर्वग्रैवेयकादिषु ॥८४॥

केवलं शुक्ल वर्णा विमानप्रासादपङ्क्तयः।
स्फुरद् रत्नांशु संघातैरुद्योतितदिशाम्बराः ॥८५॥

अर्थः—सौधर्मैशान इन दो स्वर्गों के विमान एवं उनमें स्थित गृह काले, नीले, लाल, पीले और श्वेत अर्थात् पञ्च वर्ण वाले हैं ॥८१॥ सनत्कुमार माहेन्द्र कल्प के विमान कृष्ण के बिना चार वर्ण के अर्थात् नीले, लाल, पीले और श्वेत वर्ण के हैं ॥८२॥ ब्रह्मब्रह्मोत्तर-लांतव और कापिष्ट स्वर्ग के विमान एवं दिव्य प्रासाद पंक्तियाँ लाल, पीले और श्वेत इस प्रकार तीन वर्ण वाले हैं ॥८३॥ शुक्र-महाशुक्र, शतार और सहस्रार इन चार स्वर्गों के विमान पीत और शुक्ल वर्ण के हैं। इसके आगे शेष आनत आदि कल्पों में, सर्व ग्रैवेयकों में, नव अनुदिशों में और पाँच अनुत्तरों में देदीप्यमान रत्नों की किरणों के समूह से नभमण्डलस्थ दिशाओं को प्रकाशित करने वाली विमान एवं प्रासाद पंक्तियाँ मात्र शुक्ल वर्ण की हैं ॥८३–८५॥

अब प्रथम इन्द्रक के एक दिशा सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानों का अवस्थान कहते हैं:—

सर्व श्रेणिविमानार्धं स्वयम्भूरमणोपरि।
द्वीपाब्धीनां ततोऽन्येषामर्धार्धमुपरिस्थितम् ॥८६॥

अर्थः—सर्व श्रेणीबद्ध (ऋतु इन्द्रक की एक दिशा गत ६२ श्रेणीबद्ध) विमानों का अर्ध भाग (३१) स्वयम्भूरमण समुद्र के ऊपर अवस्थित है। तथा शेष अर्ध (३१) भाग का अर्ध अर्ध भाग स्वयम्भूरमण समुद्र से अर्वाचीन द्वीप समुद्रों के ऊपर अवस्थित है ॥८६॥

अस्यविस्तारमाहः—

एकत्रिंशच्छ्रेणीबद्धविमानानि स्वयम्भूरमणाम्बुधेरुपरि तिष्ठन्ति। षोडशविमानानि स्वयम्भूद्वीपस्योपरि सन्ति। अष्टौविमानास्ततोऽभ्यन्तरस्थवारिधेरुपरिभवन्ति। चत्वारो विमानास्तदन्तः स्थित द्वीपस्योपरि स्युः। द्वे विमाने तदभ्यन्तरभागस्थाम्बुधेरुपरि तिष्ठतः। विमानैकमसंख्यद्वीपवार्धीनामुपरि तिष्ठति। ऋजुविमानं नरक्षेत्रस्योपरि तिष्ठेत्।

अर्थः—ऋतु इन्द्रक विमान की एक दिशा में ६२ श्रेणीबद्ध विमान हैं, इनके आधे (३१) श्रेणीबद्ध विमान स्वयम्भूरमण समुद्र के उपरिम भाग में अवस्थित हैं। १६ श्रेणीबद्ध विमान

स्वयम्भूरमण द्वीप के ऊपर स्थित हैं। ८ श्रेणीबद्ध स्वयम्भूरमणद्वीप के अभ्यन्तर भाग में स्थित अहीन्द्रवर समुद्र के ऊपर अवस्थित हैं। ४ श्रेणीबद्ध उस समुद्र के अभ्यन्तर भाग में स्थित अहीन्द्रवर द्वीप के ऊपर हैं। दो श्रेणीबद्ध अहीन्द्रवर द्वीप के अभ्यन्तर भाग में स्थित देववर समुद्र के ऊपर हैं, और अवशेष एक श्रेणीबद्ध विमान [देववर द्वीप से लेकर बाह्यपुष्करार्ध द्वीप पर्यन्त] असंख्यात द्वीप-समुद्रों के ऊपर अवस्थित है, तथा प्रथम ऋतु इन्द्रक विमान मनुष्य क्षेत्र अर्थात् जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि समुद्र और मानुषोत्तर के पूर्व अर्ध पुष्कर वर द्वीप के ऊपर अवस्थित है यथा—

स्वयं० समुद्र के ऊपर	स्वयं० द्वीप के ऊपर	अहीन्द्रवर समुद्र के ऊपर	अहीन्द्रवर द्वीप के ऊपर	देववर समुद्र के ऊपर	असंख्यात द्वीप+समुद्र	नर क्षेत्र-अढ़ाई द्वीप के ऊ०
३१ श्रेणीबद्ध	१६ श्रेणीबद्ध	८ श्रेणीबद्ध	४ श्रेणीबद्ध	दो श्रेणीबद्ध	१ श्रेणीबद्ध	ऋतु इन्द्रक

अब दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक विमानों का विभाग दर्शाते हैं:—

स्वामी च दक्षिणाशायाः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोः ।
श्रेणीबद्ध विमानेषु ह्याग्निनैऋत्यकोणयोः ॥८७॥
प्रकीर्णकविमानेषु सौधर्मेन्द्रो महान् भवेत् ।
सर्वेषु पटलेष्वेवं सौधर्मैशानकल्पयोः ॥८८॥
पतिरस्युत्तरश्रेण्या वायव्यैशानयोर्दिशोः ।
श्रेणीबद्धप्रकीर्णेषु चैशानेन्द्रोऽमरावृतः ॥८९॥
इत्येवं स्याद्विमानानां स्वामित्वं च पृथक् पृथक् ।
सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पनायकयोर्द्वयोः ॥९०॥
ब्रह्मेन्द्राद्याश्चत्वारश्चतुर्युग्मेषु नायकाः ।
चतुःश्रेणिविदिक्षु सर्वविमानानां भवन्ति च ॥९१॥

आनतेन्द्रादयः शेषाश्चतुः कल्पेषु नायकाः ।
श्रेणिश्रेणिविदिग् द्वि द्वि विमानानां च पूर्ववत् ॥९२॥

अर्थः—सौधर्मैशान कल्प के सर्व पटलों सर्व इन्द्रक (३१), पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशा, आग्नेय एवं वायव्य विदिशा सम्बन्धी सर्व (४३७१) श्रेणीबद्ध विमानों एवं सर्व प्रकीर्णक विमानों में सौधर्मेन्द्र का ही स्वामित्व है। अर्थात् इनमें सौधर्म इन्द्र की आज्ञा का प्रवर्तन होता है ॥८७-८८॥ उत्तर दिशा सम्बन्धी और वायव्य एवं ईशान कोण सम्बन्धी श्रेणीबद्धों एवं प्रकीर्णक विमानों में ईशान इन्द्र का स्वामित्व है ॥८९॥ इसी प्रकार सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्पस्थ विमानों में सनत्कुमार माहेन्द्र इन्द्रों का पृथक् पृथक् स्वामित्व है ॥९०॥ ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार इन चार युगल सम्बन्धी इन्द्रक, चारों दिशा विदिशा सम्बन्धी श्रेणीबद्धों और प्रकीर्णक विमानों के स्वामी ब्रह्म, लान्तव, शुक्र और शतार नाम के चार इन्द्र हैं ॥९१॥ आनत आदि दो कल्पों में पूर्व, दक्षिण और पश्चिम इन तीन दिशाओं के आग्नेय और वायव्य इन दो विदिशाओं के श्रेणीबद्धों एवं प्रकीर्णक विमानों का स्वामी प्राणत इन्द्र है, तथा उत्तर दिशागत, वायव्य ईशान कोण गत श्रेणीबद्धों एवं सर्व प्रकीर्णक विमानों का स्वामी आनत नाम का इन्द्र है। अर्थात् स्वामित्व की जो व्यवस्था प्रथम युगल में है, उसी प्रकार यहाँ जानना चाहिए ॥९२॥

अब इन्द्र स्थित श्रेणीबद्ध विमानों का कथन करते हैं:—

वसतश्चादिकल्पेशावन्तिमे पटले निजे ।
अष्टादशे विमाने हि दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः ॥९३॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रौ तिष्ठतः पटलेऽन्तिमे ।
विमाने षोडशे श्रेण्योर्दक्षिणोत्तर भागयोः ॥९४॥
ब्रह्मेन्द्रो दक्षिणाशायां चरमे पटले वसेत् ।
मुदा चतुर्दशे दिव्ये श्रेणीबद्ध विमानके ॥९५॥
तिष्ठेद्दक्षिणदिग्भागे द्वितीये पटलेऽनिशम् ।
लान्तवेन्द्रो विमाने द्वादशमे स्त्रीसुरावृतः ॥९६॥
शुक्रेन्द्रो दशमे रम्ये विमाने वसति स्वयम् ।
दक्षिणश्रेणिभागस्थ पटलस्यामरैः समम् ॥९७॥
शतारेन्द्रो वसेत्सार्धं देव्याद्यैः पटले निजे ।
दक्षिणश्रेणि सम्बन्ध विमाने प्रवरेऽष्टमे ॥९८॥

आनतेन्द्रादयः शेषाश्चत्वारः पटलेन्तिमे ।
दक्षिणोत्तरदिक् श्रेण्योः सन्ति षष्ठे विमानके ॥९९॥
अच्युतस्वर्गपर्यन्तमिन्द्राः सन्ति पृथक् पृथक् ।
अहमिन्द्रस्ततोऽप्यूर्ध्वं सर्वग्रैवेयकादिषु ॥१००॥

अर्थः—प्रथम युगल के प्रभ नामक अन्तिम पटल की दक्षिण दिशा में स्थित १८ वें श्रेणीबद्ध विमान में सौधर्म इन्द्र रहता है, और इसी पटल की उत्तर दिशा गत १८ वें श्रेणीबद्ध विमान में ईशान इन्द्र निवास करता है ॥९३॥ द्वितीय युगल के चक्र नामक अन्तिम पटल की दक्षिण दिशा गत १६ वें श्रेणीबद्ध में सनत्कुमार इन्द्र और इसी पटल की उत्तर दिशा गत १६ वें श्रेणीबद्ध में माहेन्द्र इन्द्र निवास करता है ॥९४॥ तृतीय युगल के ब्रह्मोत्तर नामक अन्तिम पटल की दक्षिण दिशा गत १४ वें श्रेणीबद्ध विमान में ब्रह्मोत्तर नाम इन्द्र का अवस्थान है ॥९५॥ चतुर्थ युगल के लान्तव नामक द्वितीय (अन्तिम) पटल की दक्षिण दिशागत १२ वें श्रेणीबद्ध विमान में लान्तव इन्द्र अपनी देवांगनाओं और अन्य देवों से वेष्ठित लान्तव इन्द्र निरन्तर निवास करता है ॥९६॥ पंचम युगल के शुक्र नामक पटल की दक्षिणदिशागत १० वें श्रेणीबद्ध विमान में अन्य देव गणों के साथ शुक्र इन्द्र निवास करता है ॥९७॥ षष्ठ युगल के शतार पटल की दक्षिण दिशागत ८ वें श्रेणीबद्ध विमान में अनेक देव देवियों के साथ शतार इन्द्र निवास करता है ॥९८॥ सप्तम और अष्टम युगल के आनत पटल की दक्षिण दिशागत ६ वें श्रेणीबद्ध में आनत इन्द्र और उत्तर दिशागत ६ वें श्रेणीबद्ध में प्राणत इन्द्र रहता है, तथा आरण पटल की दक्षिण दिशागत ६ वें श्रेणीबद्ध में आरण इन्द्र और इसी पटल की उत्तर दिशागत ६ वें श्रेणीबद्ध विमान में अच्युत इन्द्र निवास करता है ॥९९॥ अच्युत स्वर्ग पर्यन्त ही पृथक् पृथक् इन्द्र हैं। इन कल्पों के ऊपर ग्रैवेयक आदि सर्व विमानों में सभी अहमिन्द्र हैं ॥१००॥

अब सौधर्मादि देवों के मुकुट चिन्हों का निरूपण करते हैं:—

अधुना मौलिचिह्नानि प्रवक्ष्यामि पृथक् पृथक् ।
सौधर्ममुख्यकल्पस्थेन्द्रादिसर्वसुधाभुजाम् ॥१०१॥
सौधर्मे मुकुटे चिन्हं वराहोऽस्ति दिवौकसाम् ।
ऐशाने मकरो मौलि चिन्हं च विस्फुरत्प्रभम् ॥१०२॥
सनत्कुमारनाके स्यान्महिषो मौलिलाञ्छनम् ।
माहेन्द्रेऽस्ति शक्रादीनां मत्स्यचिन्हं च शेखरे ॥१०३॥

ब्रह्मस्वर्गेऽमरेशादीनां कच्छपोऽस्ति लाञ्छनम् ।
ब्रह्मोत्तरे भवेच्चिन्हं मुकुटे दर्दुरो महान् ॥१०४॥
लान्तवे तुरगश्चिन्हं कापिष्टे च गजः शुभः ।
शुक्रेऽस्ति चन्द्रमा नागो महाशुक्रेऽस्ति लाञ्छनम् ॥१०५॥
शतारे लाञ्छनं खड्गी स्यादिन्द्राद्यमृताशिनाम् ।
सहस्रारे भवेच्छागो मौलि चिन्हं दिवौकसाम् ॥१०६॥
आनतप्राणतस्वर्गयोश्चिन्हं वृषभोस्ति च ।
आरणाच्युतयोश्चिन्हं कल्पवृक्षः सुधाभुजाम् ॥१०७॥
अहमिन्द्रसमस्तानां मौलि चिन्हानि जातु न ।
वक्ष्येऽथात्रामरेशानां वाहनानि पृथक् पृथक् ॥१०८॥

अर्थः—अब मैं (आचार्य) सौधर्मादि कल्पस्थित सर्व देवों के मुकुट स्थित चिन्हों को पृथक् पृथक् कहूँगा ॥१०१ । सौधर्म स्वर्गस्थ देवों के मुकुटों में वराह का चिन्ह तथा ऐशान स्वर्गस्थ देवों के मुकुटों में मगर का चिन्ह है ॥१०२॥ सनत्कुमार स्वर्ग के देवों के मुकुटों में महिष का चिन्ह और माहेन्द्र स्वर्ग स्थित इन्द्रादि देवों के मुकुटों में मत्स्य का लाञ्छन है ॥१०३॥ ब्रह्म स्वर्ग स्थित देवों के मुकुटों में कछुए (कच्छप) का तथा ब्रह्मोत्तर स्वर्ग स्थित देवों के मुकुटों में मेंढक का चिन्ह है ॥१०४॥ लान्तव स्वर्ग स्थित देवों के घोड़े का, कापिष्ट स्वर्ग में हाथी का, शुक्र स्वर्ग में चन्द्रमा का और महाशुक्र स्थित देवों के मुकुटों का चिन्ह सर्प है ॥१०५॥ शतार स्वर्ग स्थित इन्द्रादि सर्व देवों के मुकुटों में खड्गी का और सहस्रार स्वर्ग स्थित देवों के मुकुटों में बकरी का चिन्ह है ॥१०६॥ आनत-प्राणत स्वर्ग स्थित देवों के मुकुटों में बैल का तथा आरण-अच्युत स्वर्ग स्थित देवों के मुकुटों में कल्पवृक्ष का चिन्ह है ॥१०७॥ कल्पातीत स्वर्गों में स्थित सर्व अहमिन्द्रों के मुकुटों में कोई भी चिन्ह नहीं हैं । अब मैं (आचार्य) सौधर्म आदि इन्द्रों के वाहनों का कथन करूंगा ॥१०८॥

अब इन्द्रों के वाहनों का निरूपण करते हैं:—

सौधर्मे देवराजस्य गजेन्द्रो वाहनं महत् ।
ईशाने तुरगः स्यात्सनत्कुमारे मृगाधिपः ॥१०९॥
माहेन्द्रे वृषभो ब्रह्मस्वर्गे सारसवाहनम् ।
ब्रह्मोत्तरे पिकः प्रोक्तो लान्तवे हंसवाहनम् ॥११०॥

काापिष्टे कोक एवास्ति शुक्रे गरुडवाहनम् ।
महाशुक्रे च देवानां मकरो वाहनं भवेत् ॥१११॥
शतारे च मयूरः स्यात्सहस्रारेऽम्बुजं भवेत् ।
आनतादिचतुष्केषु विमानं पुष्पकाह्वयम् ॥११२॥

अर्थः—सौधर्म स्वर्ग में इन्द्र का वाहन गजेन्द्र है, ईशान स्वर्ग में घोड़ा, सनत्कुमार स्वर्ग में सिंह, माहेन्द्र में बैल, ब्रह्म स्वर्ग में सारस, ब्रह्मोत्तर में कोयल, लान्तव में हंस, कापिष्ट में चक्रवाल, शुक्र में गरुड़, महाशुक्र में मगर, शतार में मयूर, सहस्रार में कमल और आनतादि चार स्वर्गों में कल्पवृक्ष का वाहन है ॥१०९-११२॥

अब दक्षिणेन्द्र-उत्तरेन्द्र के प्रमुख विमानों की चारों दिशाओं में स्थित विमानों के नामों का निरूपण करते हैं:—

स्वस्वेन्द्रविमानस्य स्वस्वकल्पाह्वयस्य च ।
स्युश्चत्वारि विमानानि पूर्वादि दिक् चतुष्टये ॥११३॥
आद्यं वैडूर्य साराख्यं रौप्यसाराभिधं ततः ।
अशोकसारसंज्ञं च मिश्रसारमिमान्यपि ॥११४॥
पूर्वाद्यासु चतुर्दिक्षु चत्वारः स्युर्विमानकाः ।
सर्वेषां दक्षिणेन्द्राणां विमानानामनुक्रमात् ॥११५॥
रुचकं मन्दराभिख्यमशोकं सप्तपर्णकम् ।
चत्वारोऽमी विमानाः स्युः प्राच्यादि दिक् चतुष्टये ॥११६॥
ईशानेन्द्रादि सर्वोत्तरेन्द्राणां क्रमतः परे ।
विमानानामयं ज्ञेयः क्रमोऽच्युतान्तमञ्जसा ॥११७॥

अर्थः—अपने अपने कल्प का नाम ही अपने अपने इन्द्र स्थित विमान का नाम है। इन्द्र स्थित विमान की पूर्व-दक्षिण आदि चारों दिशाओं में क्रम से वैडूर्य सार, रौप्य सार (रजत), अशोक सार और मिश्र सार (मृषत्कसार) नाम वाले चार विमान अवस्थित हैं ॥११३-११४॥ सर्व दक्षिणेन्द्रों के विमानों की पूर्वादि चारों दिशाओं में अनुक्रम से उपर्युक्त नाम वाले चार चार विमान हैं ॥११५॥ ईशान इन्द्र आदि सर्व उत्तरेन्द्रों के विमानों की पूर्वादि चारों दिशाओं में अनुक्रम से रुचक,

मन्दर, अशोक और सप्तपर्ण नाम के चार चार विमान हैं। दक्षिणेन्द्रों-उत्तरेन्द्रों के विमानों की यह व्यवस्था क्रमशः अच्युत कल्प पर्यन्त जानना चाहिए ॥११६-११७॥

अब विमानों के तल बाहुल्य (मोटाई) का निरूपण करते हैं:—

षट् युग्मशेषकल्पेषु ग्रैवेयकत्रिक त्रिषु ।
शेषेषु च विमानानां तलबाहुल्यमुच्यते ॥११८॥
योजनान्येकविंशाग्रशतान्येकादशक्रमात् ।
ततो नवनवत्या हीनान्युपर्युपरिस्फुटम् ॥११९॥

अर्थः—सौधर्मादि छह कल्पों में, अवशेष आनतादि चार कल्पों में, अधो आदि तीन-तीन ग्रैवेयकों में तथा अन्य शेष अनुदिशों आदि में स्थित विमानों का तल बाहुल्य कहते हैं ॥११८॥ सौधर्म स्वर्ग स्थित विमानों का तल बाहुल्य ११२१ योजन प्रमाण है, इसके बाद ऊपर-ऊपर क्रमशः ९९, ९९ योजन हीन होता गया है ॥११९॥

अस्य विशेषव्याख्यानमाह:—

सौधर्मैशानयोर्विमानानां तलबाहुल्यं योजनानामेकविंशत्यधिकैकादशशतानि । सनत्कुमार-माहेन्द्रयोश्च द्वाविंशाग्रदशशतानि । ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोस्त्रयो विंशाग्रनवशतानि । लान्तवकापिष्टयोश्चतु-र्विंशत्यधिकाष्टयोजनशतानि । शुक्रमहाशुक्रयोः पञ्चविंशत्यग्रसप्तशतानि । शतारसहस्रारयोः षड्-विंशतियुतषट्शतानि । आनतप्राणतारणाच्युतानां विमानानामधस्तलबाहुल्यं सप्तविंशत्यग्रपञ्चशत-योजनानि । अधोग्रैवेयक त्रिषु विमानानां तलपिण्डबाहुल्यं योजनानामष्टाविंशत्यधिकचतुः शतानि । मध्यग्रैवेयक त्रिषु एकोनत्रिंशदधिकत्रिशतानि च । ऊर्ध्वग्रैवेयक त्रिषु त्रिंशदग्रे द्वे शते । नवानुदिश-पञ्चानुत्तरयोर्विमानानां तलस्थूलता एक त्रिंशदग्रशतयोजनानि ।

अर्थः—उसी बाहुल्य का विशेष कथन करते हैं:—सौधर्मैशान स्वर्ग स्थित विमानों के तल भागों की मोटाई ११२१ योजन, सानत्कुमार-माहेन्द्र स्थित विमानों के तल की मोटाई १०२२ योजन ब्रह्मब्रह्मोत्तर की ९२३ योजन, लान्तव-कापिष्ट की ८२४ योजन, शुक्र-महाशुक्र की ७२५ योजन, शतार-सहस्रार की ६२६ योजन, आनत-प्राणत-आरण और अच्युत स्वर्गों की ५२७ योजन, तीन अधोग्रैवेयक स्थित विमानों की तल मोटाई ४२८ योजन, तीन मध्य ग्रैवेयकों की ३२९ योजन, तीन ऊर्ध्वग्रैवेयकों के विमानों की तल मोटाई २३० योजन तथा नव अनुदिशों एवं पञ्चोत्तर स्वर्ग स्थित विमानों के तल भागों की मोटाई १३१ योजन प्रमाण है ।

अब सौधर्मादि इन्द्रों के नगरों के विस्तार का कथन करते हैं:—

सौधर्मादि चतुःस्वर्गे चतुर्युग्मेष्वतोऽग्रतः ।
शेषेषु चतुरस्राणां पुराणां वच्मि विस्तरम् ॥१२०॥
अशीतिश्चतुरग्रा स्यात्सहस्राणामथोनता ।
चत्वार्यष्टौ सहस्राणि योजनानामनुक्रमात् ॥१२१॥
द्वे सहस्रे ततोऽप्यूने शेषेषु च दशोनता ।
अमीषां सुखबोधाय व्याख्यानं पुनरुच्यते ॥१२२॥

अर्थः—सौधर्मादि चार स्वर्गों में, इनसे आगे के चार युगलों में और इसके आगे शेष आनतादि स्वर्गों में स्थित इन्द्रों के समचतुरस्र नगरों का विस्तार कहता हूँ ॥१२०॥ सौधर्मादि कल्पों में नगरों का विस्तार क्रमशः ८४ हजार योजन, चार हीन अर्थात् ८० हजार योजन, आठ हजार योजन हीन अर्थात् ७२ हजार योजन, दो हजार हीन अर्थात् ७० हजार योजन, शेष चार स्वर्गों में दश-दश हजार हीन अर्थात् ६० हजार योजन, ५० हजार योजन, ४० हजार योजन और ३० हजार योजन है। शेष स्वर्गों में नगरों का विस्तार २०-२० हजार योजन प्रमाण है। सुगमता पूर्वक समझने के लिए अब इसी विषय का व्याख्यान पुनः किया जाता है ॥१२०-१२२॥

सौधर्मे नगराणां समचतुरस्राणां विष्कम्भः योजनानां चतुरशीति सहस्राणि । ऐशाने चाशीतिसहस्राणि । सनत्कुमारे द्वासप्ततिसहस्राणि । माहेन्द्रे सप्तति सहस्राणि । ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोः पुराणां विस्तारः योजनानां षष्टिसहस्राणि । लान्तवकापिष्ठयोश्च पञ्चाशत्सहस्राणि । शुक्रमहाशुक्रयोश्चत्वारिंशत्सहस्राणि । शतारसहस्रारयोस्त्रिंशत्सहस्राणि । आनतप्राणतारणाच्युतेषु समचतुरस्रपुराणां व्यासः विंशति सहस्र योजनानि ।

अर्थः—सौधर्म स्वर्ग स्थित चतुरस्र नगरों का विष्कम्भ ८४ हजार योजन, ऐशान स्वर्ग में ८० हजार योजन, सनत्कुमार स्वर्ग में ७२ हजार योजन और माहेन्द्र स्वर्ग में ७० हजार योजन है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल में स्थित नगरों का विस्तार ६० हजार योजन, लान्तव-कापिष्ठ युगल में ५० हजार योजन, शुक्र-महाशुक्र युगल में ४० हजार योजन और शतार-सहस्रार युगल में ३० हजार योजन है। आनत-प्राणत-आरण और अच्युत स्वर्गों के चतुरस्र नगरों का व्यास २०-२० हजार योजन है।

अब उक्त नगरों के प्राकारों की ऊँचाई का प्रमाण कहते हैं:—

त्रिशतान्याद्ययुग्मे तत्प्राकाराणां समुच्छ्रयः ।
योजनानां त्रियुग्मेषु पञ्चाशत् पृथगूनता ।।१२३।।
तत्त्रिंशद्धीनानि योजनानि च पञ्चमे ।
षष्ठे युग्मे च शेषेषु हीनानि विंशतिः पृथक् ।।१२४।।

अर्थः—प्रथम युगल में प्राकारों की ऊँचाई ३०० योजन है, आगे के तीन युगलों में पृथक्-पृथक् ५०-५० योजन हीन है, पांचवें युगल में ३० योजन हीन, छठवें युगल में और शेष (आनतादि स्वर्गों में पृथक् पृथक् २०-२० योजन हीन है ।।१२३-१२४।।

अब इसी ऊँचाई को विस्तार पूर्वक कहते हैं:—

अस्य विस्तरमाहः—

सौधर्मैशानयो: नगरस्थ प्राकाराणामुत्सेध: त्रिशतयोजनानि । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः सार्धद्विशतयोजनानि । ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्योजनानां द्वे शते । लान्तवकापिष्ठयोश्च सार्धशतं । शुक्रमहाशुक्रयो: विंशाग्रं शतं । शतारसहस्रारयो: प्राकारोदय: शतयोजनानि । आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु नगराणां प्राकारोत्सेध: अशीतियोजनानि ।

अर्थ:—सौधर्मैशान कल्प में स्थित नगरों के प्राकारों की ऊँचाई ३०० योजन, सानत्कुमार माहेन्द्र कल्प स्थित प्राकारों की २५० योजन, ब्रह्मब्रह्मोत्तर में २०० योजन, लान्तव-कापिष्ट में १५० योजन, शुक्र-महाशुक्र में १२० योजन, शतार-सहस्रार के प्राकारों की १०० योजन और आनत-प्राणत-आरण और अच्युत स्वर्गों में स्थित नगरों के प्राकारों की ऊँचाई ८०-८० योजन प्रमाण है।

अब उन्हीं प्राकारों के गाध (नींव) और व्यास का प्रमाण कहते हैं:—

षट्सु युग्मेषु शेषेषु सप्तस्थानेष्वितिक्रमात् ।
प्राकाराणां पृथग्व्यासोऽवगाहश्चाभिधीयते ।।१२५।।
योजनानां च पञ्चाशत्ततोऽर्धार्धं पृथक् त्रिषु ।
ततः क्रमेण चत्वारि त्रीणि सार्धं द्वि योजने ।।१२६।।

चतुस्त्रिद्वयसंगुण्यं शतषष्ट्यधिकं शतम् ।
विंशत्या त्रिषु तद्धीन गोपुराणां समुन्नतिः ।।१२७।।
योजनानां शतं व्यासस्ततो दशोनता पृथक् ।
विंशोनं पञ्चमे स्थाने दशोनं च पृथक् द्वये ।।१२८।।

अर्थः—छह युगलों के छह स्थान और अवशेष आनतादि स्वर्गों का एक स्थान इस प्रकार ७ स्थानों में उपर्युक्त प्राकारों के पृथक् पृथक् व्यास और अवगाह का प्रमाण कहते हैं ।।१२५।। प्रथम युगल में प्राकारों की नींव और व्यास का प्रमाण ५० योजन प्रमाण है, उसके आगे तीन स्थानों में क्रमशः इसका आधा आधा है । पाँचवें स्थान का ४ योजन, छठवें स्थान का ३ योजन और सातवें स्थान का प्रमाण २½ योजन है ।।१२६।। सातों स्थानों के प्राकारों की चारों दिशाओं में उनकी ऊँचाई का प्रमाण क्रमशः ४०० योजन, ३०० योजन, २०० योजन, १६० योजन, १४० योजन, १२० योजन और १०० योजन है ।।१२७।। इन्हीं सातों स्थानों के गोपुरों का विस्तार क्रमशः १०० योजन, ९० योजन, ८० योजन, ७० योजन, ५० योजन, ४० योजन और ३० योजन प्रमाण है ।।१२८।।

अमीषां विशेषव्याख्यानमाहः—

सौधर्मैशानयोः प्राकाराणां विष्कम्भोवगाहश्च पञ्चाशद्योजनानि । प्राकारस्थ गोपुराणामुत्सेधश्चतुःशतयोजनानि विष्कम्भः शतयोजनानि । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः प्राकाराणां व्यासोऽवगाहश्चपञ्चविंशतियोजनानि । तद्गोपुराणामुदयः त्रिशतयोजनानि । विस्तारः नवतियोजनानि । ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोः प्राकाराणां विस्तृतिः अवगाहश्च सार्धद्वादशयोजनानि । तत्प्रतोलीनां उत्सेधः द्विशतयोजनानि । विस्तृतिरशीतियोजनानि । लान्तवकापिष्टयोः प्राकाराणां विस्तारावगाहौ क्रोशाग्रषट्योजनानि । तद्गोपुराणामुदयः षष्ट्यग्रशतयोजनानि । विस्तारः सप्ततियोजनानि । शुक्रमहाशुक्रयोः प्राकाराणां व्यासोऽवगाहत्वं च चत्वारियोजनानि । तद्गोपुराणामुच्छ्रायः चत्वारिंशदधिकशतयोजनानि । व्यासः पञ्चाशद्योजनानि । शतारसहस्रारयोः प्राकाराणां विष्कम्भावगाहौ त्रीणियोजनानि । तद्गोपुराणामुदयः विंशत्यग्रशतयोजनानि । विष्कम्भः चत्वारिंशद्योजनानि । आनतप्राणतारणाच्युतेषु प्राकाराणां विस्तारः गाहत्वं च सार्धयोजन द्वे प्राकारस्थप्रतोलीनामुत्सेधः शतयोजनानि । व्यासः त्रिंशद्योजनानि ।

अर्थः—अब इसी को विशेषता से कहते हैं—

उपर्युक्त गद्य का अर्थ निम्नाङ्कित तालिका में निहित है। प्राकारों एवं गोपुरों का प्रमाण योजनों और मीलों में दर्शाया गया है।

क्रमांक	सात स्थान	प्राकारों (कोट) का विवरण						गोपुर द्वारों का प्रमाणादि			
		ऊँचाई		बाहुल्य		गाध (नींव) की गहराई		उत्सेध		व्यास	
		योजनों में	मीलों में	योजनों में	मीलों में	योजनों में	मीलों में	योजनों में	मीलों में	योजनों में	मीलों में
१	सौधर्मैशान	३०० यो०	२४००	५०	४००	५०	४००	४००	३२००	१००	८००
२	सा०, मा०	२५० ,,	२०००	२५	२००	२५	२००	३००	२४००	९०	७२०
३	ब्रह्म-ब्रह्मो०	२०० ,,	१६००	१२½	१००	१२½	१००	२००	१६००	८०	६४०
४	ला०, का०	१५० ,,	१२००	६¼	५०	६¼	५०	१६०	१२८०	७०	५६०
५	शुक्र-म०	१२० ,,	९६०	४	३२	४	३२	१४०	११२०	५०	४००
६	शतार-सह०	१०० ,,	८००	३	२४	३	२४	१२०	९६०	४०	३२०
७	आनतादि	८० ,,	६४०	२½	२०	२½	२०	१००	८००	३०	२४०

अब सौधर्मादि बारह स्थानों में गृहों की ऊँचाई, लम्बाई एवं चौड़ाई का प्रतिपादन करते हैं:—

षट्सु युग्मेषु शेषेषु ग्रैवेयकत्रिक त्रिषु।
नवानुदिशिपञ्चानुत्तरे पृथग्गृहोदयः ॥१२९॥
योजनां शतान्येव षट् ततः शतपञ्चकम्।
शतार्धं तदग्रं शेषाणामन्ते पञ्चविंशतिः ॥१३०॥
हर्म्याणामुदयस्यास्यायामोऽस्ति पञ्चमांशकः।
विष्कम्भो दशमो भागः सर्वत्रैवं व्यवस्थितिः ॥१३१॥

अर्थः—सौधर्मादि छह युगलों में अवशेष आनतादि स्वर्गों में, अधो, मध्य एवं उपरिम इन नव अनुदिशों में एवं पंचानुत्तरों में अर्थात् (६+१+३+१+१=) १२ स्थानों में गृहों की पृथक्

पृथक् ऊँचाई कहते हैं ।।१२९।। प्रथम युगल में गृहों की ऊँचाई ६०० योजन और दूसरे युगल में ५०० योजन है । इसके आगे ११ वें स्थान तक ५०–५० कम होते हुये क्रमशः ४५०, ४००, ३५०, ३००, २५०, २००, १५०, १०० और ५० योजन है । अन्तिम स्थान के गृहों की ऊँचाई २५ योजन है ।।१३०।। प्रत्येक स्थानों के गृहों की लम्बाई अपनी अपनी ऊँचाई का पाँचवाँ ($\frac{६००}{५}$ = १२०) भाग है और प्रत्येक स्थानों के गृहों की चौड़ाई अपनी अपनी ऊँचाई का १० वाँ ($\frac{६००}{१०}$ = ६०) भाग प्रमाण है ।।१३१।। जैसे:—लम्बाई क्रमशः १२० योजन, १००, ९०, ८०, ७०, ६०, ५०, ४०, ३०, २०, १०, और ५ योजन प्रमाण है । इसी प्रकार चौड़ाई क्रमशः ६०, ५०, ४५, ४०, ३५, ३०, २५, २०, १५, १०, ५, और २$\frac{१}{२}$ योजन प्रमाण है ।

एतेषां उत्सेधायामविष्कम्भाः पृथक् पृथक् व्यासेन प्रोच्यन्ते:—

सौधर्मेशानयोः प्रासादानामुत्सेधः षट्शतयोजनानि । आयामः विंशत्यग्र शतयोजनानि, विष्कम्भः षष्टियोजनानि । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः गृहाणामुदयः पञ्चशतयोजनानि, दीर्घता शतयोजनानि, व्यासः पञ्चाशद्योजनानि । ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोः सौधानामुन्नतिः सार्धचतुःशतयोजनानि, आयामः नवति योजनानि, विस्तृतिः पञ्चचत्वारिंशद्योजनानि । लान्तवकापिष्ठयोः प्रासादानामुत्सेधः चतुःशतयोजनानि, आयामः अशीतियोजनानि, विस्तारः चत्वारिंशद्योजनानि । शुक्रमहाशुक्रयोः गृहाणामुन्नतिः सार्धत्रिशतयोजनानि, दीर्घता सप्तति योजनानि, विष्कम्भः पञ्चत्रिंशद्योजनानि । शतारसहस्रारयोः प्रासादानामुदयः त्रिशतयोजनानि, आयामः षष्टि योजनानि, व्यासः त्रिंशद्योजनानि आनतप्राणतारणाच्युतेषु हर्म्याणामुत्सेधः सार्धद्विशतयोजनानि, आयामः पञ्चाशद्योजनानि, विस्तारः पञ्चविंशतियोजनानि । अधोग्रैवेयक त्रिषु प्रासादानामुदयः द्विशतयोजनानि, दीर्घता चत्वारिंशत्योजनानि, विष्कम्भः विंशति योजनानि । मध्यग्रैवेयक त्रिषु गृहाणामुत्सेधः सार्धशतयोजनानि, दीर्घता त्रिंशद्योजनानि, व्यासः पञ्चदशयोजनानि । ऊर्ध्वग्रैवेयकत्रिषु सौधानामुच्छ्रयः शतयोजनानि, आयामः विंशतियोजनानि, विस्तारः दशयोजनानि । नवानुदिशे प्रासादानामुत्सेधः पञ्चाशद्योजनानि, आयामः दशयोजनानि, व्यासः पञ्चयोजनानि पञ्चानुत्तरे प्रासादानामुत्सेधः पञ्चविंशतियोजनानि । आयामः पञ्चयोजनानि, व्यासः सार्धे द्वे योजने ।

(तालिका अगले पेज पर देखें)

गद्य का अर्थः—

क्रमांक	स्थान	देवों के गृहों का					
		उत्सेध		लम्बाई		चौड़ाई	
		योजनों में	मीलों में	योजनों में	मीलों में	योजनों में	मीलों में
१	सौधर्मेशान	६००	४८००	१२०	९६०	६०	४८०
२	सानत्कु०—माहेन्द्र	५००	४०००	१००	८००	५०	४००
३	ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर	४५०	३६००	९०	७२०	४५	३६०
४	लान्तव–कापिष्ठ	४००	३२००	८०	६४०	४०	३२०
५	शुक्र–महाशुक्र	३५०	२८००	७०	५६०	३५	२८०
६	शतार–सहस्रार	३००	२४००	६०	४८०	३०	२४०
७	आनतादि चार	२५०	२०००	५०	४००	२५	२००
८	अधो ग्रैवेयक	२००	१६००	४०	३२०	२०	१६०
९	मध्य ,,	१५०	१२००	३०	२४०	१५	१२०
१०	उपरिम ,,	१००	८००	२०	१६०	१०	८०
११	अनुदिश	५०	४००	१०	८०	५	४०
१२	अनुत्तर	२५	२००	५	४०	२½	२०

अब इन्द्र के नगर सम्बन्धी प्राकारों की संख्या और उनके पारस्परिक अन्तर का प्रमाण कहते हैं:—

इन्द्रक्रीडानिवासस्य प्राकारात्प्रथमाद्बहिः ।
आविशालसमव्यासोत्सेधाश्चत्वार ऊर्जिताः ॥१३२॥
महान्तोऽन्ये च विद्यन्ते प्राकारा अन्तरान्तरे ।
प्राकारस्यादिमस्यैव योजनानां किलान्तरम् ॥१३३॥

त्रयोदशैव लक्षाणि द्वितीयस्यास्य चान्तरम् ।
त्रिषष्टिरेव लक्षाणि तृतीयस्य तथान्तरम् ॥१३४॥
चतुःषष्टिस्तु लक्षाणि तुर्यशालस्य चान्तरम् ।
लक्षाणि योजनानां चतुरशीतिप्रमाणि वै ॥१३५॥

अर्थः—इन्द्र के क्रीड़ा निवास (अर्थात् नगर) के प्रथम प्राकार से बाहर समुन्नत (व्यास के समान उन्नत) एवं महान् एक दूसरे के अन्तराल से, चार प्राकार और हैं। जिनका व्यास एवं उत्सेध प्रथम प्राकार के सदृश है। प्रथम कोट (प्राकार) से दूसरे कोट का अन्तर १३ लाख योजन (१०४००००० मील) है। दूसरे कोट से तीसरे कोट का अन्तर ६३ लाख योजन (५०४००००० मील) है। तीसरे कोट से चौथे कोट का अन्तर ६४ लाख योजन (५१२००००० मील) है, और चौथे कोट से पांचवें कोट का अन्तराल ८४ लाख योजन (६७२००००० मील) प्रमाण है ॥१३२–१३५॥

अब कोटों के अन्तरालों में स्थित देवों के भेद कहते हैं:—

आद्यप्राकारभूमध्ये सैन्यनाथा वसन्ति च ।
शालान्तरे द्वितीयस्याङ्गरक्षकसुधाभुजः ॥१३६॥
तृतीयशालभूभागे निर्जराः परिषत्स्थिताः ।
अन्तरे तुर्यशालस्य सामानिका वसन्ति च ॥१३७॥

अर्थः—प्रथम कोट के मध्य में सेनापति और दूसरे कोट के मध्य में अङ्गरक्षक देव रहते हैं ॥१३६॥ तीसरे कोट के मध्य में परिषद् देव तथा चौथे कोट के अन्तराल में सामानिक देव निवास करते हैं ॥१३६–१३७॥

अब सामानिक, तनुरक्षक और अनीक देवों का प्रमाण कहते हैं:—

चतुर्णामाद्य नाकानामशीतिश्चतुरुत्तरा ।
सहस्राणामशीतिश्च द्विसप्ततिस्तुसप्ततिः ॥१३८॥
चतुर्णामूर्ध्वयुग्मानां सहस्राण्ययुतं विना ।
शेषाणां स्युः सहस्राविंशतिः सामान्यकामराः ॥१३९॥
तेभ्यश्चतुर्गुणाः सन्ति ह्यङ्गरक्षकनाकिनः ।
वृषभाद्याः पृथक् सप्तसप्तानीकाः क्रमादिमे ॥१४०॥

वृषभाः प्रवरा अश्वा रथा गजाः पदातयः ।
गन्धर्वा देवनर्तक्यः सप्तानीका अमी पृथक् ॥१४१॥
सप्तानामादिमं सैन्यं स्वस्वसामानिकैः समम् ।
स्युः शेषाः षड्वरानीका द्विगुणा द्विगुणाः पृथक् ॥१४२॥

अर्थः—आदि चार अर्थात् सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गों में सामानिक देवों का प्रमाण क्रमशः ८४०००, ८००००, ७२००० और ७०००० है ॥१३८॥ इनके ऊपर के चार युगलों में दश–दश हजार हीन हैं। अर्थात् तृतीय युगल में ६००००, चतुर्थ युगल में ५००००, पंचम युगल में ४०००० और षष्ठ युगल में ३०००० सामानिक देव हैं, तथा शेष आनतादि चार कल्पों के एक स्थान २०००० सामानिक देव हैं ॥१३९॥ प्रत्येक स्थान में अङ्गरक्षक देवों का प्रमाण सामानिक देवों के प्रमाण से चतुर्गुणा है। जैसे—सौधर्म स्वर्ग में ८४०००×४=३३६००० अङ्गरक्षक, ऐशान में ८००००×४=३२०००० अङ्गरक्षक इत्यादि। प्रथम आदि स्वर्गों में वृषभ को आदि लेकर क्रमशः पृथक् पृथक् सात–सात अनीक सेनाएँ होती हैं ॥१४०॥ श्रेष्ठ एवं अनुपम वृषभ, अश्व, रथ, हाथी, पदाति, गन्धर्व और नर्तकी, ये पृथक् पृथक् सात अनीक सेनाएँ नव स्थानों में होती हैं ॥१४१॥ इन सातों सेनाओं में से जो वृषभ नाम की सात प्रकार की आद्य सेना है, उसमें वृषभों का प्रमाण अपने अपने सामानिक देवों के प्रमाण सदृश है तथा अवशेष छह अनीकों में वृषभों का प्रमाण पृथक् पृथक् क्रमशः दूना–दूना होता गया है ॥१४२॥

अब दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र के अनीक नायकों के नाम कहते हैं:—

दामाख्यो हरिदामाख्यो मातलिनामकस्ततः ।
ऐरावताह्वयो वायुनामारिष्टयशोभिधः ॥१४३॥
नीलाञ्जनामरी चैते सप्तसैन्यमहत्तराः ।
षण्णां स्युर्दक्षिणेन्द्राणां सप्तसैन्याग्रिमाः पृथक् ॥१४४॥
महादामाभिधः स्वेच्छगामी च रथमन्थनः ।
पुष्पदन्तो महावीर्यो गीतप्रीतिर्महामतिः ॥१४५॥
इमे महत्तराः सप्त सन्ति स्वसैनिकाग्रिमाः ।
क्रमेण सप्त सैन्यानामुत्तरेन्द्राखिलात्मनाम् ॥१४६॥

अर्थ:— छह दक्षिणेन्द्रों के सात अनीक सेनाओं के आगे आगे चलने वाले पृथक् पृथक् दाम, हरिदाम, मातलि, ऐरावत, वायु, अरिष्टयशा और नीलाञ्जना नाम छह दक्षिणेन्द्रों के ये सात सात

प्रधान हैं ।।१४३-१४४।। इसी प्रकार छह उत्तरेन्द्र अपनी अपनी सेनाओं के आगे आगे चलने वाले क्रमशः महादाम, स्वेच्छगामी (अमितगति), रथमन्थन, पुष्प दन्त, महावीर्य, गीतप्रीति और महापति नाम के ये सात-सात प्रधान छहों उत्तरेन्द्रों के पृथक् पृथक् हैं ।।१४५-१४६।।

अब नवों स्थानों में तीनों परिषदों का पृथक् पृथक् प्रमाण कहते हैं:—

क्रमात् परिषदा संख्येयं द्वादश चतुर्दश ।
षोडशैव सहस्राणि नवानां प्रथमे पदे ।।१४७।।
ततो द्वि द्वि सहस्रोनं यावत् षष्ठं पदं ततः ।
अर्धार्धक्रमतो हीनं स्याद्यावन्नवमं पदम् ।।१४८।।

अर्थ:—सौधर्म स्वर्ग आदि के नव स्थानों में से प्रथम स्थान में अभ्यन्तर परिषद् में देवों की संख्या १२०००, मध्य परिषद् में १४००० और बाह्य परिषद् में १६००० है ।।१४७।। इसके आगे छह पदों तक इस प्रमाण में क्रमश: दो-दो हजार की हानि होती गई है, तथा इसके आगे नवम पद पर्यन्त यह संख्या क्रमश: अर्ध-अर्ध प्रमाण हीन होती गई है ।।१४८।।

अथामीषां सुखबोधाय विशेषव्याख्यानमाह:—

सौधर्मेन्द्रस्य सामान्यकामरा: चतुरशीतिसहस्राणि । अङ्गरक्षा: त्रिलक्षषड्त्रिंशत्सहस्राणि । वृषभानां प्रथमे अनीके वृषभाश्चतुरशीति सहस्राणि । द्वितीये च एकलक्षाष्टषष्टिसहस्राणि । तृतीये त्रिलक्षषट्त्रिंशत्सहस्राणि । चतुर्थे षड्लक्षद्वासप्ततिसहस्राणि पञ्चमे त्रयोदशलक्ष चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि षष्ठे षड्विंशतिलक्षाष्टाशीति सहस्राणि । सप्तमे अनीके वृषभा त्रिपञ्चाशल्लक्षषट्सप्ततिसहस्राणि । सप्तानीकस्था: पिण्डीकृता: सर्वे वृषभा: एकाकोटीषड्लक्षाष्टषष्टिसहस्राणि भवन्ति । शेषा: अश्वाद्या: सप्त सप्तभेदा: । षडनीका: वृषभानीक समाना: विज्ञेया: । अमीषां वृषभादि सप्तानीकानां एकत्रीकृता: समस्तवृषभादि नर्तकयन्ता: सप्तकोटिषट्चत्वारिंशल्लक्षषट् सप्ततिसहस्राणि स्यु: । आदिपरिषदि देवा द्वादशसहस्राणि । मध्यपरिषदि, सुरा: चतुर्दशसहस्राणि । बाह्यपरिषदिगीर्वाणा: षोडशसहस्राणि ।। ऐशानेन्द्रस्य सामान्यका: अशीतिसहस्राणि । अङ्गरक्षा: त्रिलक्षविंशतिसहस्राणि । वृषभाणां प्रथमानीके वृषभा: अशीतिसहस्राणि तत: पूर्ववत् शेषषडनीकेषु द्विगुणा द्विगुणा वृषभा: विज्ञेया: । सप्तानीकानां सर्वे पिण्डीकृता: वृषभा: एकाकोट्येकलक्षषष्टि सहस्राणि । शेषा: अश्वादय: षट्वृषभगणनासमाना: स्यु: । एते सर्वे सप्तानीकानां पिण्डीकृता: वृषभादय: नर्तकयन्ता: सप्तकोट्येकादशलक्षविंशतिसहस्राणि भवेयु: । आदिपरिषदि देवा: दशसहस्राणि । मध्यपरिषदि द्वादशसहस्राणि ।

बाह्य परिषदि सुराः चतुर्दशसहस्राणि ॥ सनत्कुमारेन्द्रस्य सामानिकाः द्विसप्ततिसहस्राणि अङ्गरक्षाः द्विलक्षाष्टाशीतिसहस्राणि । प्रथमे वृषभानीके वृषभाः द्वासप्ततिसहस्राणि ततः शेषषट्सैन्येषु द्विगुणा द्विगुणा वृषभाः सन्ति । सप्तानीकस्थाः सर्वे पिण्डीकृताः वृषभाः एकनवतिलक्षचतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्ति । शेषाः अश्वादयः षट् वृषभसमाः मन्तव्याः । अमी सप्तानीकानां पिण्डीकृताः सर्वे वृषभादयः षट्कोटि चत्वारिंशल्लक्षाष्टसहस्राणि भवन्ति । आदि परिषदिगीर्वाणाः अष्टसहस्राणि । मध्यपरिषदि देवाः दशसहस्राणि । बाह्यपरिषदि त्रिदशाः द्वादशसहस्राणि ॥ माहेन्द्रस्य सामानिकाः सप्ततिसहस्राणि । अङ्गरक्षाः द्विलक्षाशीतिसहस्राणि । प्रथमे वृषभानीके वृषभाः सप्ततिसहस्राणि । ततो द्विगुण द्विगुण वृद्धया सप्तानीकानां विश्वे पिण्डीकृताः वृषभाः अष्टाशीतिलक्षनवतिसहस्राणि भवन्ति । अश्वादयः प्रत्येकं तावन्त एव विज्ञेयाः । सप्तानीकानां सर्वे पिण्डीकृताः वृषभादयः षट्कोटिद्वाविंशति-लक्षत्रिंशत्सहस्राणि विद्यन्ते । आदिपरिषदि निर्जराः षट्सहस्राणि, मध्यपरिषदि, देवाः अष्टसहस्राणि, बाह्यपरिषदि सुराः दशसहस्राणि ॥ ब्रह्मेन्द्रस्य सामानिकाः षष्टिसहस्राणि, अङ्गरक्षा द्विलक्षचत्वारिंशत्सहस्राणि । आद्ये वृषभानीके वृषभाः षष्टिसहस्राणि । ततो द्विगुण द्विगुण वर्द्धिताः सर्वे सप्तानीकस्थाः पिण्डीकृताः वृषभाः षट्सप्ततिलक्षविंशति सहस्राणि स्युः । अश्वादयः शेषाः पृथग्भूता वृषभतुल्याज्ञातव्याः । सप्तानीकानामेकत्रीकृताः सर्वे वृषभादयः पञ्चकोटि त्रयस्त्रिंशल्लक्षचत्वारिंशत्सहस्राणि । आदिपरिषदिदेवाः चत्वारि सहस्राणि । मध्यपरिषदिगीर्वाणाः षट्सहस्राणि, बाह्यपरिषदि सुरा अष्टसहस्राणि ।। लान्तवेन्द्रस्य सामानिकाः पञ्चाशत्सहस्राणि । अङ्गरक्षाः द्वे लक्षे । वृषभाणां प्रथमानीके वृषभाः पञ्चाशत्सहस्राणि, ततो द्विगुण द्विगुण वृद्धया वर्धिताः वृषभाः एकत्रीकृताः त्रिषष्टिलक्षपञ्चाशत्सहस्राणि स्युः । अश्वादयोऽपि समस्तास्तत्समा विज्ञयाः । सप्तानीकानां सर्वे पिण्डीकृताः वृषभादयः चतुःकोटिचतुश्चत्वारिंशल्लक्षपञ्चाशत् सहस्राणि भवन्ति । आदि परिषदि देवाः द्वे सहस्रे, मध्यपरिषदि सुराः चत्वारिंशत्सहस्राणि, बाह्यपरिषदिगीर्वाणाः षट्सहस्राणि ।। शुक्रेन्द्रस्य सामानिकाः चत्वारिंशत्सहस्राणि । अङ्गरक्षाः एकलक्षषष्टिसहस्राणि । वृषभाणां प्रथमानीके वृषभाः चत्वारिंशत्सहस्राणि । ततो द्विगुण द्विगुण वृद्धया क्रमेण वर्धिताः । सप्तानीक-वृषभाः पिण्डिताः पञ्चाशल्लक्षाशीति सहस्राणि भवेयुः । तावन्तः पृथक् पृथक् अश्वादयो (वृषभादयः इति पाठः) ज्ञातव्याः । सर्वे सप्तानीकानां पिण्डीकृताः वृषभादयः त्रिकोटिपञ्चपञ्चाशल्लक्षषष्टि-सहस्राणि भवन्ति । आदि परिषदिदेवाः सहस्रं मध्यपरिषदि सुराः द्वे सहस्रे, बाह्यपरिषदिगीर्वाणाः चत्वारि सहस्राणि ।। शतारेन्द्रस्य सामानिकास्त्रिंशत् सहस्राणि अङ्गरक्षाः एकलक्षविंशतिसहस्राणि । वृषभाणां प्रथमानीके वृषभाः त्रिंशत्सहस्राणि । ततो द्विगुण द्विगुण वृद्धिक्रमेण वर्द्धमानाः । विश्वे वृषभाः अष्टत्रिंशल्लक्षदशसहस्राणि भवन्ति । अश्वादयः षट्संख्यया वृषभसमानाः ज्ञातव्याः । सप्तानीकानां विश्वे वृषभादयः पिण्डीकृताः द्विकोटिषट्षष्टिलक्षसप्तति सहस्राणि भवन्ति । आदि परिषदिदेवाः पञ्चशतानि । मध्यपरिषदिसुराः सहस्रैकं च । बाह्यपरिषदि अमराः द्वे सहस्रे ॥

आनतप्राणतारणाच्युतेन्द्राणां प्रत्येकं सामानिकाः विंशतिसहस्राणि । अङ्गरक्षा अशीतिसहस्राणि। वृषभाणां प्रथमे अनीके वृषभाः विंशतिसहस्राणि । द्वितीये चत्वारिंशत्सहस्राणि । इत्यादि द्विगुण द्विगुण वृद्धया वर्धिताः विश्वे सप्तानीकस्थाः वृषभाः एकत्रीकृताः पञ्चविंशतिलक्षचत्वारिंशत्सहस्राणि । शेषाः अश्वादयः (वृषभादयः अपि पाठः) षडनीकाः पृथक् भूताः वृषभसमानाः वेदितव्याः। वृषभादिसप्तानीकानां सर्वे पिण्डीकृताः वृषभादिनर्तक्यन्ताः एकाकोटिसप्तसप्ततिलक्षाशीतिसहस्राणि, आदिपरिषद्देवाः सार्धद्विशते । मध्यपरिषदि त्रिदशाः पञ्चशतानि, बाह्यपरिषदि अमराः सहस्रं कं ।

अर्थः—सौधर्म आदि नव स्थानों के सामानिक देव, अंग रक्षक, अनीक और अभ्यन्तर आदि परिषदों के देवों का प्रमाण विस्तार रूप से कहते हैं:—सौधर्म स्वर्ग में सामानिक देवों का प्रमाण ८४०००, अंगरक्षकों का तीन लाख छत्तीस हज़ार (३३६०००), वृषभों की प्रथम अनीक में बैलों का प्रमाण ८४०००, दूसरी कक्ष में १६८०००, तीसरी कक्ष में ३३६०००, चतुर्थ कक्ष में ६७२०००, पांचवीं कक्ष में १३४४०००, छठवीं कक्ष में २६८८००० और सातवीं कक्ष में ५३७६००० बैलों का प्रमाण है। इन सातों कक्षाओं के समस्त बैलों को एकत्रित करने से १०६६८००० प्रमाण (मात्र बैलों का) होता है। शेष अश्व, गज आदि अनीकों के भी सात-सात भेद हैं, जिनकी अनीकों का प्रमाण वृषभ अनीकों के सदृश ही जानना चाहिये। इन वृषभ आदि सातो अनीकों में वृषभ से लेकर नर्तकी पर्यन्त का सर्व प्रमाण एकत्रित करने पर ७४६७६००० होता है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना चाहिये। उपर्युक्त सम्पूर्ण गद्य का अर्थ निम्नलिखित तालिका में निहित किया गया है। अन्तर केवल इतना है विस्तार भय से तालिका में सातों कक्षाओं का पृथक् पृथक् प्रमाण नहीं दिया गया, प्रत्येक स्थान की केवल प्रथम कक्ष का प्रमाण दिया गया है। इसी प्रमाण को दूना, दूना करके अन्य कक्षाओं का प्रमाण प्राप्त कर लेना चाहिए।

(तालिका अगले पेज पर देखें)

नव स्थानों में—सामानिक—तनुरक्षक—सातों अनीक—एवं तीनों परिषदों—का प्रमाण

क्रमांक	नव स्थान	सामानिक देवों का प्रमाण	तनुरक्षक देवों का प्रमाण	अनीक सैनाओं का प्रमाण			परिषदों का प्रमाण		
				वृषभों की प्रथम कक्ष में	एक अनीक की सम्पूर्ण संख्या	सातों अनीकों की सम्पूर्ण संख्या	अभ्यन्तर परिषद्	मध्य परि०	बाह्य परि०
					(प्रथम कक्ष की संख्या से १२७ गुणी है।)				
१	सौधर्म	८४०००	३३६०००[तीन ला. ३६ ह.]	८४०००	१०६६८०००	७४६७६०००	१२०००	१४०००	१६०००
२	ईशान	८००००	३२००००[३ ला. २० ह.]	८००००	१०१६००००	७११२००००	१००००	१२०००	१४०००
३	सानत्कुमार	७२०००	२८८०००[२ ला. ८८ ह.]	७२०००	९१४४०००	६४००८०००	८०००	१००००	१२०००
४	माहेन्द्र	७००००	२८००००[२ ला. ८० ह.]	७००००	८८९००००	६२२३००००	६०००	८०००	१००००
५	ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर	६००००	२४००००[२ ला. ४० ह.]	६००००	७६२००००	५३३४००००	४०००	६०००	८०००
६	लान्तव–कापिष्ट	५००००	२००००० [दो लाख]	५००००	६३५००००	४४४५००००	२०००	४०००	६०००
७	शुक्र–महाशुक्र	४००००	१६००००[१ ला. ६० ह.]	४००००	५०८००००	३५५६००००	१०००	२०००	४०००
८	शतार–सहस्रार	३००००	१२००००[१ ला. २० ह.]	३००००	३८१००००	२६६७००००	५००	१०००	२०००
९	आनतादि चार	२००००	८०००० [८० हजार]	२००००	२५४००००	१७७८००००	२५०	५००	१०००

अब वनों का नाम, प्रमाण, चैत्यवृक्षों के स्वरूप एवं उनमें स्थित जिन बिम्बों का अवस्थान कहते हैं:—

ततः इन्द्रपुराद्बाह्ये चतुर्दिक्षु विमुच्य च ।
लक्षार्धं योजनानां स्युश्चत्वारिंशद्वनान्यपि ॥१४९॥
अशोकं सप्तपर्णाख्यं चम्पकाह्वयमाम्रकम् ।
इति नामाङ्कितान्येव शाश्वतानि वनान्यपि ॥१५०॥
योजनानां सहस्रेणायतानि विस्तृतानि च ।
सहस्रार्धेन रम्याणि भवन्ति सफलानि वै ॥१५१॥
अमीषां मध्यभागेषु चत्वारश्चैत्यपादपाः ।
जम्बूद्रुमसमानाः स्युरशोकाद्या मनोहराः ॥१५२॥
एषां मूले चतुर्दिक्षु जिनेन्द्रप्रतिमाः शुभाः ।
देवार्च्या बद्धपर्यङ्काः सन्ति भास्वरमूर्तयः ॥१५३॥
एषु वनेषु सर्वेषु सन्त्यावासा मनोहराः ।
वाहनादिक देवानां योषिद्वृन्दसमाश्रिताः ॥१५४॥

अर्थः—इन्द्रों के नगरों से बाहर पूर्वादि चारों दिशाओं में पचास-पचास हजार योजन छोड़ कर अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र नाम के शाश्वत चार वन हैं ॥१४९-१५०॥ उत्तम फलों से युक्त इन प्रत्येक रमणीक वनों की लम्बाई एक हजार योजन और चौड़ाई पांच सौ योजन प्रमाण है ॥१५१॥ इन चारों वनों के मध्य भाग में जम्बू वृक्ष सदृश प्रमाण वाले, अत्यन्त मनोहर अशोक आदि चार चैत्य वृक्ष हैं ॥१५२॥ इन चारों वृक्षों में से प्रत्येक वृक्ष के मूल में चारों दिशाओं में, देव समूहों से पूज्य, पद्मासन एवं देदीप्यमान शरीर की कान्ति से युक्त जिनेन्द्र भगवान् की एक-एक प्रतिमाएँ हैं ॥१५३॥ इन चारों वनों में देवाङ्गनाओं के समूह से युक्त वाहन आदि जाति के देवों के मनोहारी आवास हैं ॥१५४॥

अब लोकपालों के नगरों का स्वरूप एवं प्रमाण कह कर लोकपालों के नामों का उल्लेख करते हैं:—

ततो मुक्त्वा चतुर्दिक्षु बहूनि योजनानि च ।
चतुर्णां लोकपालानां प्रासादाः सन्ति शाश्वताः ॥१५५॥

पञ्चविंशसहस्राग्रलक्षयोजन विस्तृताः ।
इन्द्रस्याथ यमस्यैव वरुणाख्यकुबेरयोः ।।१५६।।

अर्थः—चारों दिशाओं में उन वन खण्डों को बहुत दूर छोड़ कर अर्थात् वनों से बहुत योजन आगे जाकर इन्द्र (सोम), यम, वरुण और कुबेर इन चारों लोकपालों के शाश्वत प्रासाद हैं, जिनका विस्तार १२५०००० (साढ़े बारह लाख) योजन प्रमाण है ।।१५५–१५६।।

अब गणिका महत्तरियों के नाम एवं उनके आवासों के प्रमाण आदि कहते हैं:—

आग्नेयादिविदिक्षुस्युरावासाः काञ्चनोद्भवाः ।
गणिकामहत्तरीणां विस्तारायामसंयुताः ।।१५७।।

लक्षैकं योजनैर्दीप्रा देवीनिकर संश्रिताः ।
कामाख्या प्रथमादेवी कामिनी पद्मगन्धिनी ।।१५८।।

अलम्बुषेति नामान्यासां चतुर्मुख्य योषिताम् ।
एष एव क्रमोज्ञेयः सर्वेन्द्राणां पुरादिषु ।।१५९।।

अर्थः—जहाँ लोकपाल देवों के नगर हैं, वहीं आग्नेय आदि चारों विदिशाओं में गणिका महत्तरियों के स्वर्णमय आवास (नगर) हैं, जो एक-एक लाख योजन लम्बे, एक-एक लाख योजन चौड़े, देदीप्यमान एवं देवियों के समूहों से युक्त हैं । इन चारों चारों विदिशाओं में स्थित चार प्रधान गणिका महत्तरियों के नाम कामा, कामिनी, पद्मगन्धिनी एवं अलम्बुषा है । सर्व इन्द्रों के नगरों आदि का क्रम इसी प्रकार जानना चाहिए ।।१५७–१५९।।

इन्द्र नगर के चारों ओर स्थित पाँच प्राकारों, अशोक आदि चार वनों, सोम आदि चार लोकपालों एवं गणिका महत्तरियों के नगरों की अवस्थिति का चित्रण निम्न प्रकार है:—

(चित्र अगले पेज पर देखें)

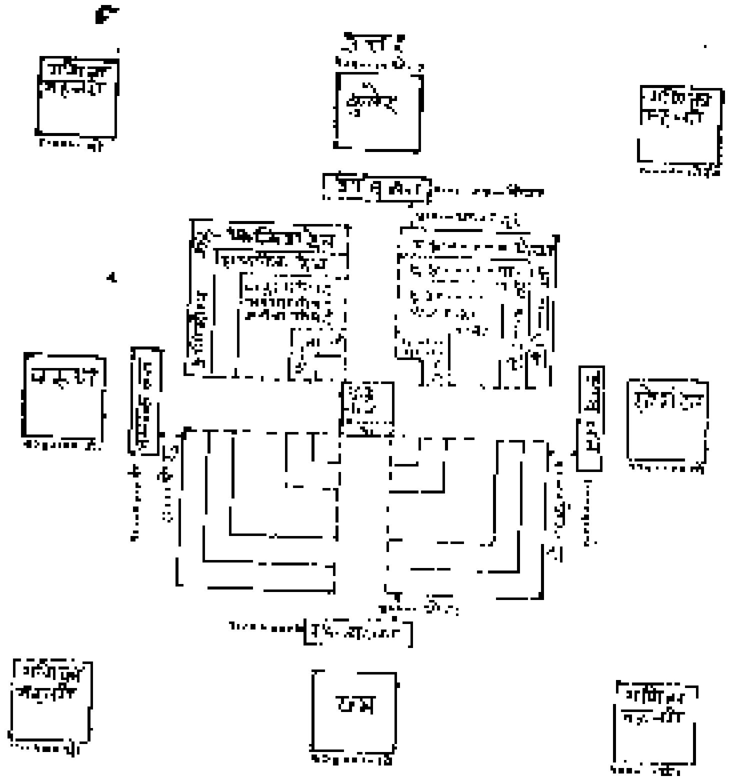

अब प्रत्येक स्थानों के इन्द्रों की वल्लभाओं का प्रमाण एवं उनके प्रासादों की ऊँचाई आदि का प्रमाण कहते हैं:—

षड् युग्मेष्वानताद्येषु सप्तस्थानेष्विति क्रमात् ।
एकैकस्य सुरेन्द्रस्य देवी संख्योच्यते पृथक् ॥१६०॥
स्युर्द्वात्रिंशत्सहस्राणि ततोऽष्टौ द्वे सहस्रके ।
सहस्रार्धं तदर्धार्धं त्रिषष्टि वल्लभास्त्रियः ॥१६१॥
विद्यन्ते पूर्वदिग्भागे देवेन्द्रस्तम्भसद्मनः ।
वल्लभानां मनोज्ञाः सत्प्रासादा मणिमूर्तयः ॥१६२॥
तत्प्रासादोदयः पूर्वो योजनैः शतपञ्चभिः ।
तद्धीनश्च शतार्धेन व्यासायामौ हि पूर्ववत् ॥१६३॥

अर्थ:—सौधर्मादि छह एवं आनतादि का एक, इस प्रकार सातों स्थानों में स्थित एक एक इन्द्र की वल्लभादेवाङ्गनाओं का पृथक् पृथक् प्रमाण क्रमशः कहते हैं ॥१६०॥ प्रत्येक स्थान की संख्या क्रमशः ३२०००, ८०००, २०००, ५००, २५०, १२५ और ६३ है ॥१६१॥ प्रत्येक इन्द्रों के स्तम्भ मन्दिरों (प्रासादों) की पूर्व दिशा में वल्लभदेवांगनाओं के अति मनोज्ञ मणिमय प्रासाद हैं

॥१६२॥ इनमें प्रथम स्थान के प्रासाद की ऊँचाई ५०० योजन है, इसके आगे क्रमशः पचास-पचास योजन हीन होती गई है। इन प्रासादों का व्यास और आयाम भी पूर्ववत् जानना चाहिए ॥१६३॥

अब प्रत्येक इन्द्रों की वल्लभाओं के और उनके प्रासादों की ऊँचाई आदि के प्रमाणों का पृथक् पृथक् व्याख्यान करते हैं:—

आसां विशेषव्याख्यानमुच्यते:—

सौधर्मैशानेन्द्रयोः प्रत्येकं वल्लभा देव्यः द्वात्रिंशत्सहस्राणि । वल्लभानां प्रासादानामुदयः पञ्चशतयोजनानि । आयामः शतयोजनानि । विष्कम्भः पञ्चाशत् योजनानि । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पृथग् वल्लभाङ्गनाः अष्टसहस्राणि । तत्प्रासादानामुत्सेधः सार्धचतुःशतयोजनानि, दीर्घता नवतियोजनानि, व्यासः पञ्चचत्वारिंशद्योजनानि । ब्रह्मेन्द्रस्य वल्लभा देव्यः द्वे सहस्रे तासां भवनानामुन्नतिः चतुःशतयोजनानि, आयामः अशीतियोजनानि, विस्तारः चत्वारिंशद्योजनानि । लान्तवेन्द्रस्य वल्लभाङ्गनाः पञ्चशतानि, आसां प्रासादानामुदयः सार्धत्रिशतयोजनानि । आयामः सप्तति योजनानि । विस्तारः पञ्चत्रिंशद्योजनानि । शुक्रेन्द्रस्य वल्लभा योषितः सार्धे द्वे शते । तत्प्रासादानामुच्छ्रयः त्रिशतयोजनानि, दीर्घता षष्टियोजनानि, विस्तृतिस्त्रिंशद्योजनानि । शतारेन्द्रस्य वल्लभाङ्गनाः पञ्चविंशत्यग्रं शतं, तासां भवनानामुत्सेधः सार्धद्विशतयोजनानि । आयामः पञ्चाशद्योजनानि, विष्कम्भः पञ्चविंशतियोजनानि । आनतप्राणतारणाच्युतेन्द्राणां प्रत्येकं वल्लभा देव्यः त्रिषष्टिरेव वल्लभा प्रासादानामुदयः योजनानां द्वे शते । आयामः चत्वारिंशद्योजनानि, विस्तारः विंशतियोजनानि ।

अर्थः—उपर्युक्त गद्य का सम्पूर्ण अर्थ निम्नलिखित तालिका में निहित है । विशेष इतना है कि प्रत्येक स्थानों में जो प्रमाण दर्शाया जा रहा है, वह प्रमाण सौधर्मादि प्रत्येक इन्द्रों का पृथक् पृथक् समझना चाहिए ।

(तालिका अगले पेज पर देखें)

क्रमांक	इन्द्र	वल्लभाओं का प्रमाण	देवांगनाओं के गृहों का					
			उत्सेध		लम्बाई		चौड़ाई	
			योजनों में	मीलों में	योजनों में	मीलों में	योजनों में	मीलों में
१	सौधर्मैशानेन्द्र	३२०००	५००	४०००	१००	८००	५०	४००
२	सानत्कु०–माहेन्द्र	८०००	४५०	३६००	९०	७२०	४५	३६०
३	ब्रह्मेन्द्र	२०००	४००	३२००	८०	६४०	४०	३२०
४	लांतवेन्द्र	५००	३५०	२८००	७०	५६०	३५	२८०
५	शुक्रेन्द्र	२५०	३००	२४००	६०	४८०	३०	२४०
६	शतारेन्द्र	१२५	२५०	२०००	५०	४००	२५	२००
७	आनतादि ४ इन्द्रों की	६३	२००	१६००	४०	३२०	२०	१६०

अब प्रत्येक इन्द्र की आठ-आठ महादेवांगनाओं के नाम कह कर उनकी विक्रिया-गत देवांगनाओं का और परिवार देवांगनाओं का प्रमाण दिखाते हैं:—

सप्तस्थानेषु सर्वेषामिन्द्राणां दिव्यमूर्तयः ।
प्रत्येकं स्युर्महादेव्योऽष्टौ विश्वाक्षसुखप्रदाः ।।१६४।।

शची पद्मा शिवा श्यामा कालिंदी सुलसार्जुना ।
भानेति दक्षिणेन्द्राणां देवीनामानि सर्वतः ।।१६५।।

श्रीमती संज्ञिका रामा सुसीमा विजयावती ।
जयसेना सुषेणाख्या सुमित्राच वसुन्धरा ।।१६६।।

सर्वत्रैवोत्तरेन्द्राणां देवीनामान्यमून्यपि ।
एकैका च महादेवी विक्रियर्धि प्रभावतः ।।१६७।।

विना मूलशरीरं चाद्ये युग्मे विकरोत्यपि ।
स्वसमानि सहस्राणि विक्रियाङ्गानि षोडश ।।१६८।।

तेभ्य ऊर्ध्वेषु षट्स्थानेष्वेकैकाधासयाङ्गना ।
द्विगुण द्विगुणान्याशु कुर्याद् रूपाणि योषिताम् ॥१६६॥
एकैकस्या महादेव्याः परिवारवरस्त्रियः ।
स्युः षोडशसहस्राणि प्रोता प्रथम युग्मके ॥१७०॥
ततः स्थानेषु शेषेषु परिवारसुराङ्गनाः ।
अर्धार्धाः स्युः क्रमादेकैक शच्या विनयाङ्किताः ॥१७१॥

अर्थः—सातों स्थानों में प्रत्येक इन्द्रों के दिव्य मूर्ति को धारण करने वाली एवं समस्त इन्द्रियों को सुख प्रदान करने वाली आठ-आठ महा देवियाँ हैं ॥१६४॥ समस्त दक्षिणेन्द्रों की आठ-आठ महादेवियों के नाम शची, पद्मा, शिवा, श्यामा, कालिन्दी, सुलसा, अर्जुना और भान हैं ॥१६५॥ तथा सर्व उत्तरेन्द्रों की महादेवियों के नाम श्रीमती, रामा, सुसीमा, विजयावती, जयसेना, सुषेणा, सुमित्रा और वसुन्धरा हैं। प्रथम युगल में पृथक् पृथक् एक एक महादेवी विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से मूल शरीर के बिना अपने समान सोलह सोलह हजार विक्रिया शरीर को धारण करने वाली हैं ॥१६६-१६८॥ प्रथम युगल से ऊपर छह स्थानों में प्रत्येक इन्द्र की एक एक महादेवी दूनी दूनी विक्रिया धारण करती हैं ॥१६९॥ प्रथम युगल में एक एक महादेवी की सोलह-सोलह हजार परिवार देवियाँ हैं। तथा शेष छह स्थानों में क्रम से एक एक महादेवी की विनय से युक्त परिवार देवांगनाओं का प्रमाण क्रमशः अर्ध-अर्ध होता गया है ॥१७०-१७१॥

आसां विस्तारमाह:—

सौधर्मैशानेन्द्राष्टमहादेवीनां पृथग्विक्रियाङ्गानि षोडश सहस्राणि । परिवारदेव्यः षोडशसहस्राणि । सनत्कुमारमाहेन्द्रमहादेवीनां विक्रियाशरीराणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि । परिवारदेव्योऽष्टसहस्राणि । ब्रह्मेन्द्राष्टमहादेवीनां प्रत्येकं विक्रियारूपाणि चतुःषष्टिसहस्राणि परिवारदेव्यः चतुःसहस्राणि। लान्तवेन्द्रमहादेवीनां विक्रियाशरीराणि एकलक्षाष्टाविंशतिसहस्राणि । परिवारदेव्यः द्वे सहस्रे । शुक्रेन्द्रस्य शचीनां विक्रियाङ्गानि द्विलक्ष षट् पञ्चाशत्सहस्राणि, परिवारदेव्यः सहस्रैकं । शतारेन्द्राणीनां विक्रिया स्त्रीरूपाणि पञ्चलक्षद्वादशसहस्राणि, परिवारसुराङ्गनाः पञ्चशतानि । आनतप्राणतारणाच्युतेन्द्रैकैकमहादेवीनां विक्रियादेवीशरीराणि पृथग्भूतानि स्वशरीरसमानानि दशलक्षचतुर्विंशतिसहस्राणि, परिवारदेव्यः सार्धे द्वे शते ।

अर्थः—प्रत्येक स्थानों में स्थित विक्रिया धारी एवं परिवार देवांगनाओं का पृथक् पृथक् प्रमाण कहते हैं:—

उपर्युक्त गद्य का सम्पूर्ण अर्थ निम्नाङ्कित तालिका में निहित है। विशेष इतना है कि एक एक महादेवियों की परिवार आदि देवांगनाओं का एकत्रित प्रमाण भी दर्शा दिया है।

क्रमांक	इन्द्र	अग्रदेवियों का प्रमाण	वैक्रियिक शरीर		परिवार देवांगनाएँ	
			एक महा देवी का	आठों महा देवी का	एक महा-देवी की	आठों महा देवा-गनाओं की
१	सौधर्मैशानेन्द्र	८,८	मूल शरीर रहित १६०००	१२८०००	१६०००	१२८०००
२	सा०—मा०	८,८	,, ,, ,, ३२०००	२५६०००	८०००	६४०००
३	ब्रह्मेन्द्र	८	,, ,, ,, ६४०००	५१२०००	४०००	३२०००
४	लान्तवेन्द्र	८	,, ,, ,, १२८०००	१०२४०००	२०००	१६०००
५	शुक्रेन्द्र	८	,, ,, ,, २५६०००	२०४८०००	१०००	८०००
६	शतारेन्द्र	८	,, ,, ,, ५१२०००	४०९६०००	५००	४०००
७	आनतादि ४ इन्द्र	८	,, ,, ,, १०२४०००	८१९२०००	२५०	२०००

अब समस्त महादेवियों के प्रासादों की ऊँचाई आदि का प्रमाण कहते हैं:—

महादेवीसमस्तप्रासादानामुदयोऽधिकः ।
विंशत्यायोजनानां स्याद्वल्लभाभवनोदयात् ॥१७२॥
प्रासादानां तथायामः स्वोत्सेधात् पञ्चमांशकः ।
पूर्ववद्दशमो भागो विष्कम्भः सर्वतो भवेत् ॥१७३॥

अर्थ:—समस्त महादेवियों के प्रासादों की ऊँचाई वल्लभा देवांगनाओं के प्रासादों की ऊँचाई से बीस-बीस योजन अधिक है, आयाम अपनी अपनी ऊँचाई का पाँचवाँ भाग और विष्कम्भ पूर्व के सदृश अपनी अपनी ऊँचाई के दशवें भाग प्रमाण है ॥१७२-१७३॥

(तालिका अगले पेज पर देखें)

विशेष विवरण—

स्थान	प्रासादों की ऊँचाई	लम्बाई	चौड़ाई
१	५२० योजन	१०४ योजन	५२ योजन
२	४७० ,,	९८ ,,	४७ ,,
३	४२० ,,	८४ ,,	४२ ,,
४	३७० ,,	७४ ,,	३७ ,,
५	३२० ,,	६४ ,,	३२ ,,
६	२७० ,,	५४ ,,	२७ ,,
७	२२० ,,	४४ ,,	२२ ,,

अब इन्द्र के आस्थान मण्डप का अवस्थान एवं प्रमाण कहते हैं:—

मध्येऽमरावतीसंज्ञे पुरस्यैशानतद्दिशि ।
इन्द्रस्तम्भगृहस्यास्ति सभास्थानसुमण्डपः ।।१७४।।
सुधर्मसंज्ञकस्तुङ्गः पञ्चसप्ततियोजनैः ।
शतैकयोजनायामः पञ्चाशद्विस्तरान्वितः ।।१७५।।

अर्थः—अमरावती नामक नगर के मध्य में इन्द्रस्तम्भ प्रासाद की ईशान दिशा में सभा स्थान नामक सुन्दर मण्डप है, जिसका नाम सुधर्म सभा है। इस सुधर्म सभा की ऊँचाई ७५ योजन (६०० मील), लम्बाई १०० योजन (८०० मील) और चौड़ाई ५० योजन (४०० मील) प्रमाण है ।।१७४-१७५।।

अब आस्थान मण्डप के द्वार, उनका प्रमाण एवं इन्द्र के सिंहासन का अवस्थान कहते हैं:—

पूर्वोत्तरदिशोर्दक्षिणाशायां तस्य सन्ति च ।
द्व्यष्टयोजनतुङ्गानि विस्तृतान्यष्टयोजनैः ।।१७६।।

रत्नद्वाराणि देव्योघैर्दुर्गमाणि सुरोत्करैः ।
तन्मध्ये स्वर्गनाथस्य दिव्यं स्याद्धरिविष्टरम् ।।१७७।।

अर्थः—आस्थान मण्डप की पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशा में १६ योजन ऊँचे और ८ योजन चौडाई के प्रमाण को लिए हुए, एक एक दरवाजा है । ये द्वार रत्नों से निर्मित और देव देवियों के समूह से अलङ्घनीय है । मण्डप के मध्य भाग में इन्द्र का एक दिव्य सिंहासन है ।।१७६-१७७।।

अब महादेवियों के, लोकपालों के और अन्य देवों के सिंहासनों का अवस्थान कहते हैं:—

तस्य सिंहासनस्यात्र तिष्ठन्ति सन्मुखानि च ।
अष्टानां तन्महादेवीनां महान्त्यासनान्यपि ।।१७८।।

पूर्वादिदिक्षु तिष्ठन्ति लोकपालासनानि च ।
अन्येषां देवसङ्घानां यथार्हमासनान्यपि ।।१७९।।

अर्थः—उस सिंहासन के सम्मुख (आगे) अष्ट महादेवांगनाओं के महान आसन अवस्थित हैं ।।१७८।। महादेवियों के आसनों से बाहर पूर्वादि दिशाओं में चारों लोकपालों के आसन हैं, तथा दक्षिण आदि दिशाओं में अन्य देवों के योग्य आसन हैं । अर्थात् इन्द्र के सिंहासन की आग्नेय, दक्षिण और नैऋत्य में अभ्यन्तर आदि परिषदों के, नैऋत्य में त्रायस्त्रिंश देवों के, पश्चिम में सेना नायकों के, वायव्य एवं ईशान में सामानिक देवों के तथा पूर्वादि चारों दिशाओं में अङ्गरक्षक देवों के आसन हैं ।।१७९।। इनका विवरण निम्न प्रकार है—

(चित्र अगले पेज पर देखें)

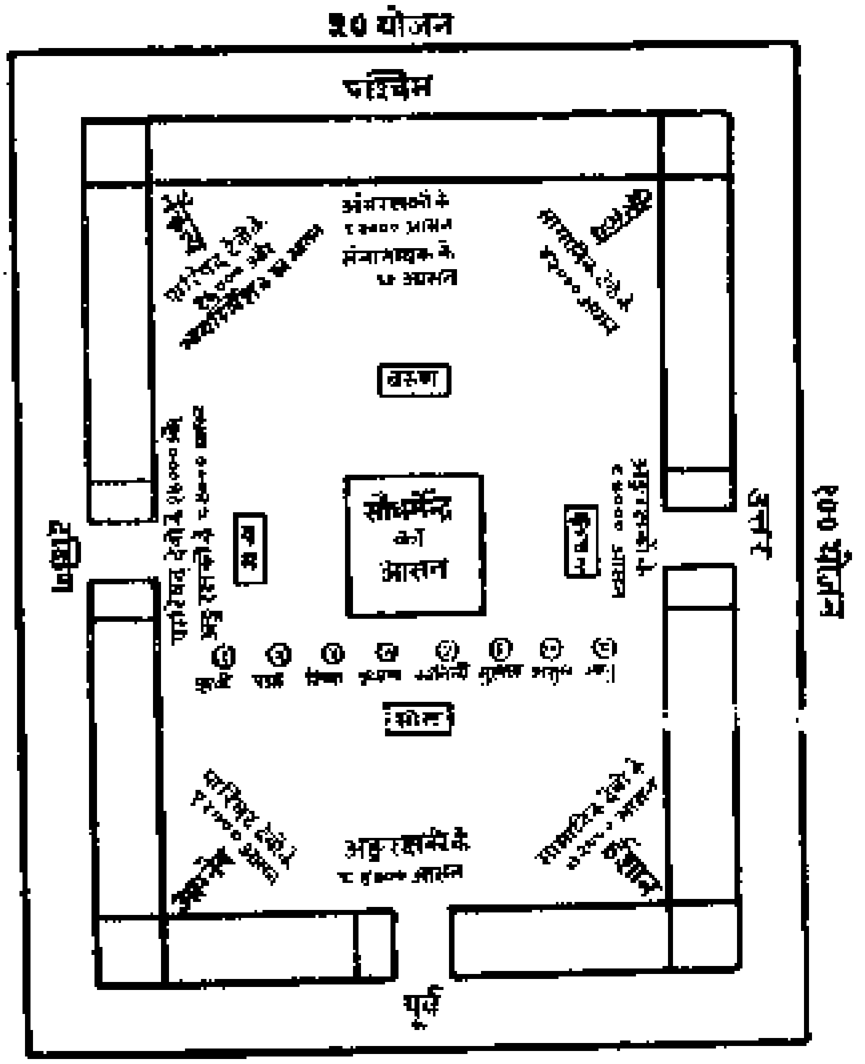

अब आस्थान मण्डप के अग्र स्थित मानस्तम्भ का स्वरूप प्रमाण एवं उस पर स्थित करण्डों का अवस्थान आदि कहते हैं:--

तस्याग्रे रत्नपीठस्थो मानस्तम्भोऽस्ति मानहृत् ।
षट्त्रिंशद्योजनोत्तुङ्गो योजनव्यास ऊर्जितः ॥१८०॥

वज्रकायः स्फुरत्कान्तिर्महाध्वजविभूषितः ।
मस्तके जिनबिम्बाढ्यः स्वांशूद्द्योतित दिग्मुखः ॥१८१॥

क्रोशैकक्रमविस्तीर्ण कोटिद्वादशराजितः ।
अधोभागे विहायास्य क्रोशोन योजनानि षट् ॥१८२॥

ऊर्ध्वभागे परित्यज्य क्रोशाग्रयोजनानि षट् ।
तिष्ठन्ति मणिमञ्जूषा रत्नरज्जु विलम्बिताः ॥१८३॥

क्रोशायाम युताः क्रोशचतुर्थभागविस्तृताः ।
सुभूषणा जिनेन्द्राणां विद्यन्ते तासु सञ्चिताः ॥१८४॥

भरतैरावतोत्पन्नानां सुरत्नमयाः परे ।
निरौपम्याः करण्डस्थाः सौधर्मैशानकल्पयोः ॥१८५॥

पूर्वापरविदेहोत्थार्हतां विभूषणा इति ।
सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः सन्ति रत्नशालिनः ॥१८६॥

अर्थः—उस सभामण्डप के आगे रत्नमयी पीठ पर मान को हरण करने वाला, ३६ योजन (२८८ मील) ऊँचा, एक योजन (८ मील) चौड़ा, वज्रमयी देदीप्यमान कान्ति वाली महाध्वजा से विभूषित, शिखर (मस्तक) पर जिन बिम्बों से युक्त एवं अपनी किरणों से दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाला एक मानस्तम्भ है ॥१८०–१८१॥ इसमें क्रमशः एक एक कोश विस्तार वालीं सूर्य सदृश प्रकाशमान बारह धाराएँ हैं। इन ३६ योजन ऊँचाई वाले मानस्तम्भों के अधोभाग में पौने छह योजन और उपरिम भाग में सवा छह योजन छोड़ कर शेष मध्य भाग में रत्नमयी रस्सियों के सहारे लटकते हुए मणिमय करण्ड (पिटारे) हैं ॥१८२–१८३॥ इन पिटारों की लम्बाई एक कोश एवं चौड़ाई पाव कोश प्रमाण है। इन करण्डों में जिनेन्द्रदेवों (तीर्थंकरों) के पहिनने योग्य अनेक प्रकार के आभरण आदि संचित रहते हैं ॥१८४॥ भरत क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरों के उत्तम रत्नमयी एवं उपमा रहित आभूषण सौधर्म स्वर्गस्थ मानस्तम्भ पर, ऐरावत क्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरों के, ऐशान स्वर्गस्थ मानस्तम्भों पर, पूर्व विदेह क्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरों के सानत्कुमार स्वर्गस्थ मानस्तम्भ पर एवं पश्चिम विदेह क्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरों के रत्नमयी आभूषण माहेन्द्र स्वर्गस्थ मानस्तम्भों पर स्थित मञ्जूषाओं में अवस्थित रहते हैं ॥१८५–१८६॥ जिसका चित्रण निम्न प्रकार है।

(चित्र अगले पेज पर देखें)

त्रिलोकसार से उद्धृत

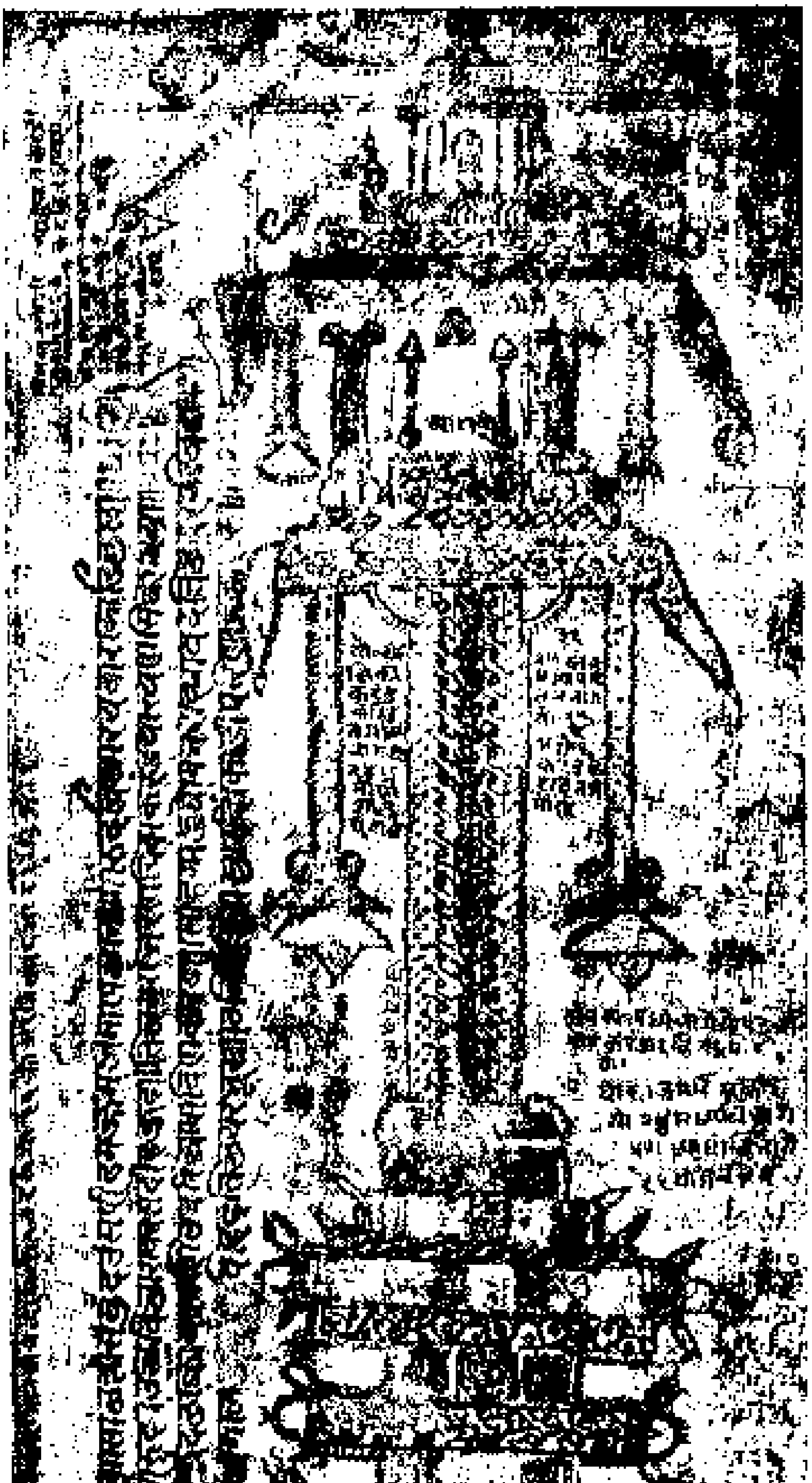

अब इन्द्रों की उत्पत्ति गृह का अवस्थान एवं प्रमाण आदि कहते हैं:--

तस्य पार्श्वेऽस्ति शक्राणामुपपादगृहमूर्जितम् ।
अष्टयोजनविस्तारायामोन्नति युतं परम् ।।१८७।।
तस्मिन्गृहान्तरे रत्नशिलायुग्मं च विद्यते ।
शिलासम्पुटयोर्गर्भे रत्नशय्यातिकोमला ।।१८८।।
कृतपुण्यस्य शक्रस्य तस्यां जन्मसुखाब्धिगम् ।
सुखेन जायतेऽङ्गं सम्पूर्णमन्तर्मुहूर्ततः ।।१८९।।

अर्थः—मानस्तम्भ के पार्श्वभाग में ८ योजन चौड़ा, ८ योजन लम्बा, ८ योजन ऊँचा एवं श्रेष्ठ इन्द्र का उपपाद गृह है ।।१८७।। उस उपपाद गृह के भीतर रत्नों की दो शिलायें हैं, तथा उन शिलाओं के मध्य में अत्यन्त कोमल रत्न शय्याएँ हैं। उन शय्याओं पर पूर्व भव में किया है पुण्य जिन्होंने ऐसे इन्द्रों की उत्पत्ति सुख पूर्वक होती है, तथा उनका सुख समुद्र सदृश सम्पूर्ण शरीर अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण हो जाता है ।।१८८-१८९।।

अब कल्पवासी देवांगनाओं के उत्पत्ति स्थान कहते हैं:--

षड्लक्षसद्विमानानि सौधर्मे सन्ति केवलम् ।
स्वर्गदेवीसमुत्पादस्थानानि शाश्वतानि च ।।१९०।।
ईशाने स्युश्चतुर्लक्ष विमानाः सुरयोषिताम् ।
लभन्ते केवलं येषु जन्म देव्यो न चामराः ।।१९१।।
एभ्य स्ताः स्वस्वसम्बंधिनोर्देवीश्च समुद्भवाः ।
सनत्कुमारकल्पाद्यच्युतान्तवासिनोऽमराः ।।१९२।।
स्वस्वास्थानं नयन्त्याशु विज्ञायावधिना निजाः ।
शेष कल्पेषु देवीनामुत्पादो नास्तिजातुचित् ।।१९३।।
सौधर्मैशानयोः शेषा ये विमाना हि तेषु च ।
प्राप्नुवन्ति निजं जन्म देवा देव्यः शुभोदयात् ।।१९४।।

अर्थः—सौधर्म स्वर्ग में उत्तम और शाश्वत छह लाख विमान शुद्ध हैं, जिनमें (अच्युत स्वर्ग पर्यन्त के दक्षिण कल्पों की) मात्र देवांगनाओं की उत्पत्ति होती है, तथा ईशान स्वर्ग में चार लाख

विमान शुद्ध हैं, जिनमें (उत्तर कल्पों की) मात्र देवांगनाओं का जन्म होता है, इन (दश लाख) विमानों में देवों की उत्पत्ति नहीं होती ॥१९०-१९१॥ उत्पत्ति के तुरन्त बाद ही सनत्कुमार कल्प से अच्युत कल्प पर्यन्त के देव अपनी अपनी नियोगिनी देवांगनाओं को अवधिज्ञान से जान कर अपने अपने स्थानों पर ले जाते हैं। सौधर्मैशान स्वर्गों को छोड़ कर शेष स्वर्गों में देवांगनाओं की उत्पत्ति कदापि नहीं है ॥१९२-१९३॥ सौधर्म स्वर्गस्थ अवशेष (३२ लाख—६ लाख=२६ लाख) विमानों में तथा ऐशान स्वर्गस्थ अवशेष (२८ लाख—४ लाख=२४ लाख) विमानों में शुभ कर्मोदय से युक्त देव एवं देवांगनाओं–दोनों की उत्पत्ति होती है ॥१९४॥

अब कल्पवासी देवों के प्रवीचार का कथन करते हैं:—

सौधर्मैशानयोर्ज्योतिष्कभौमभावनेषु च ।
सुखं कायप्रवीचारं देवा देव्यो भजन्ति च ॥१९५॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रवासिदेवस्त्रियां भवेत् ।
सुखं स्पर्शप्रवीचारमालिङ्गनादिजं महत् ॥१९६॥
स्याद्ब्रह्मादिचतुःस्वर्गस्थ देवसुरयोषिताम् ।
सुखं रूपप्रवीचारं रूपादिदर्शनोद्भवम् ॥१९७॥
ततः शुक्रादिकल्पेषु चतुर्षु सुरयोषिताम् ।
सुखं शब्दप्रवीचारं भवेद् गीतस्वरादिजम् ॥१९८॥
आनतादिचतुःस्वर्गवासिदेवी दिवौकसाम् ।
सुखं मनःप्रवीचारं स्याद्देवी स्मरणोद्भवम् ॥१९९॥
अहमिन्द्राः परे विश्वे प्रवीचार सुखातिगाः ।
कामदाहोज्झिताः सन्ति महाशर्माब्धिमध्यगाः ॥२००॥

अर्थः—[काम सेवन को प्रवीचार कहते हैं] सौधर्मैशान कल्पों, ज्योतिष्कों, भवनवासियों और व्यन्तरवासियों में देव एवं देवांगनाएँ काय (शरीर) प्रवीचार पूर्वक सुख भोगते हैं। अर्थात् देव अपनी देवांगनाओं के साथ मनुष्यों के सदृश काम सेवन करते हैं किन्तु उनके वीर्य स्खलन नहीं होता क्योंकि उनका शरीर सात धातुओं से रहित है ॥१९५॥ सानत्कुमार माहेन्द्र कल्पों के देव अपनी देवांगनाओं के आलिंगन आदि से उत्पन्न होने वाले स्पर्शप्रवीचार रूप सुख का अनुभव करते हैं ॥१९६॥ ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर और लांतव-कापिष्ठ कल्पों के देव अपनी देवांगनाओं के रूपादिक के अवलोकन से उत्पन्न होने वाले रूप प्रवीचार रूप सुख का अनुभव करते हैं ॥१९७॥ शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार

स्वर्गों के देव अपनी देवांगनाओं के गीत एवं स्वर आदि के सुनने से उत्पन्न होने वाला शब्द प्रवीचार रूप सुख भोगते हैं ।।१९८।। तथा आनतादि चार कल्पों के देव देवियों के स्मरण मात्र से उत्पन्न होने वाले मन: प्रवीचार रूप सुख का अनुभव करते हैं ।।१९९।। इसके आगे नवग्रैवेयकों से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त के सभी देव अहमिन्द्र हैं। ये प्रवीचार (काम वासना) से रहित, कामदाह से रहित एवं अप्रवीचार जन्य महासुखसमुद्र के मध्य अवगाहन करते हैं ।।२००।।

अब वैमानिक देवों के अवधिज्ञान का विषय क्षेत्र एवं विक्रिया शक्ति के प्रमाण का कथन करते हैं:--

सौधर्मैशानकल्पस्था देवाः पश्यन्ति चावधेः ।
प्रथमक्षितिपर्यन्तान् रूपिद्रव्यांश्चराचरान् ।।२०१।।
सनत्कुमारमाहेन्द्रवासिनोऽवधिना स्वयम् ।
लोकयन्ति द्वितीया क्ष्मा पर्यन्तवस्तुसञ्चयान् ।।२०२।।
ब्रह्माख्यादिचतुःस्वर्गस्थाः प्रपश्यन्ति निर्जराः ।
तृतीयभूमिपर्यन्तस्थितद्रव्याणि चावधेः ।।२०३।।
शुक्रादिक चतुःस्वर्गवासिनोऽवधिनेत्रतः ।
चतुर्थी क्षिति सीमान्ताल्लोकन्ते द्रव्यसञ्चयान् ।।२०४।।
आनतादिचतुःकल्प वासिनः स्वावधेर्बलात् ।
पञ्चमीक्ष्मान्तगान् रूपिद्रव्यान् पश्यन्ति चाखिलान् ।।२०५।।
नवग्रैवेयकस्थाहमिन्द्रा आलोकयन्ति च ।
पदार्थान् रूपिणः षष्ठीधरान्तस्थान् निजावधेः ।।२०६।।
नवानुदिशपञ्चानुत्तरवास्यहमिन्द्रकाः ।
रूपिद्रव्यान् प्रपश्यन्ति सप्तमी क्ष्मान्तमञ्जसा ।।२०७।।
लोकनाडीगतान् विश्वान् रूपिद्रव्यांश्चराचरान् ।
लोकन्तेऽवधिनेत्रेण पञ्चानुत्तरवासिनः ।।२०८।।
सौधर्मंमुख्य पञ्चानुत्तरवासि सुधाभुजाम् ।
प्रथमापृथिवीमुख्यलोकनाड्यन्तमध्यगाः ।।२०९।।
अवधिज्ञानतुल्यास्तिविक्रियर्द्धिरनेकधा ।
सप्तमी क्षितिपर्यन्तगमनागमन क्षमा ।।२१०।।
मतिश्रुतावधिज्ञानानि सद्दृष्टिदिवौकसाम् ।
सम्यग्भवन्ति रूप्यर्थप्रत्यक्षज्ञायकान्यपि ।।२११।।

मिथ्यादृष्टिकुदेवानां विपरीतानि तानि च ।
कुज्ञानानि प्रजायन्ते विपरीतार्थ वेदनात् ॥२१२॥

अर्थः—सौधर्मैशान कल्प स्थित देव अपने अवधि ज्ञान से नरक की प्रथम पृथ्वी पर्यन्त के रूपी द्रव्यों को चराचर देखते हैं ॥२०१॥ सनत्कुमार-माहेन्द्रकल्प स्थित देव अपने अवधि नेत्र से दूसरी वंशा पृथ्वी पर्यन्त के समस्त रूपी द्रव्यों को जानते हैं ॥२०२॥ ब्रह्मादि चार स्वर्गस्थ देव तीसरी मेघा पृथ्वी पर्यन्त के रूपी द्रव्यों को अवधि द्वारा जानते हैं ॥२०३॥ शुक्रादि चार स्वर्गस्थ देव अपने अवधि नेत्र से चौथी अञ्जना पृथ्वी पर्यन्त के सकल रूपी द्रव्यों को जानते हैं ॥२०४॥ आनतादि चार स्वर्गस्थ देव अपने अवधिज्ञान के बल से पांचवीं अरिष्टा पृथ्वी पर्यन्त के समस्त रूपी द्रव्यों को देखते हैं ॥२०५॥ नवग्रैवेयक स्वर्गों में स्थित देव छठवीं मघवी पृथ्वी पर्यन्त के सकल रूपी द्रव्यों को अपने अवधिज्ञान से जानते हैं ॥२०६॥ नव अनुदिश एवं पांच अनुत्तर अर्थात् चौदह विमानों में स्थित अहमिन्द्र सातवीं माघवी पृथ्वी पर्यन्त के रूपी द्रव्यों को जानते हैं ॥२०७॥ और पांच अनुत्तर विमानवासी देव अपने अवधि नेत्र से लोकनाड़ी पर्यन्त के सर्व रूपी द्रव्यों को अपने अवधि नेत्र से चराचर देखते हैं ॥२०८॥ सौधर्म स्वर्ग से लेकर पांच अनुत्तर पर्यन्त के देव क्रमशः नरक की प्रथम पृथ्वी से लोकनाड़ी के भीतर सप्तम पृथ्वी पर्यन्त अवधिज्ञान के सदृश ही अनेक प्रकार की विक्रिया करने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं, तथा इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी पर्यन्त गमनागमन की शक्ति से भी संयुक्त होते हैं ॥२०९–२१०॥ स्वर्गों में सम्यग्दृष्टि देवों के मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान समीचीन होते हैं, जिससे ये रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं ॥२११॥ किन्तु मिथ्यादृष्टि देवों के ये तीनों ज्ञान मिथ्या होते हैं, क्योंकि वे (कारणादि विपर्यास के कारण) पदार्थों (तत्वों) को विपरीत जानते हैं अतः उनका ज्ञान कुज्ञान कहलाता है ॥२१२॥

अब वैमानिक देवों के जन्ममरण के अन्तर का निरूपण करते हैं:—

सौधर्मैशानयोः प्रोक्तमुत्पत्तौ मरणेऽन्तरम् ।
उत्कृष्टेन च देवानां दिनानि सप्त नान्यथा ॥२१३॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रवासिनां कर्मपाकतः ।
सम्भवे मरणेख्यातं पक्षैकमन्तरं परम् ॥२१४॥
अन्तरं ब्रह्मनाकादि चतुःस्वर्ग निवासिनाम् ।
उत्पत्तौ च्यवने स्याच्च महन्मासैकमेवहि ॥२१५॥
अन्तरं मरणोत्पत्तौ भवेच्च नाकिनां विधेः ।
मासौ द्वौ परमं शुक्रादिकस्वर्ग चतुष्टये ॥२१६॥

आनतादि चतुःस्वर्गवासिनामुत्तमान्तरम् ।
चतुर्मासावधिर्ज्ञेयं मरणे सम्भवे तथा ।।२१७।।
नवग्रैवेयकाद्येषु मरणे च समुद्भवे ।
सर्वेषामहमिन्द्राणां मासषट्कं परान्तरम् ।।२१८।।

अर्थः—[उत्कृष्टता से जितने काल तक किसी भी जीव का जन्म न हो उसे जन्मान्तर और मरण न हो उसे मरणान्तर कहते हैं] सौधर्मेशान इन कल्पों में यदि कोई भी जीव जन्म न ले तो अधिक से अधिक सात दिन पर्यन्त न ले । इसी प्रकार मरण न करे तो सात दिन पर्यन्त न करे, इसलिये वहाँ देवों के जन्म-मरण का अन्तर सात दिन कहा गया है ।।२१३।। सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्पवासी देवों के कर्म उदयानुसार जन्म-मरण का उत्कृष्ट अन्तर एक पक्ष है ।।२१४।। ब्रह्म आदि चार स्वर्गों के देवों के जन्म-मरण का उत्कृष्ट अन्तर एक माह है ।।२१५।। शुक्र आदि चार स्वर्गों के देवों के जन्म-मरण का उत्कृष्ट अन्तर दो मास है ।।२१६।। आनतादि चार स्वर्गों में निवास करने वाले देवों के जन्म मरण का उत्कृष्ट अन्तर चार माह का जानना चाहिये ।।२१७।। नवग्रैवेयक आदि उपरिम सर्व विमानों में उत्पन्न होने वाले सर्व अहमिन्द्रों का उत्कृष्ट जन्मान्तर एवं मरणान्तर छह माह का है ।।२१८।।

अब इन्द्रादिकों के जन्म-मरण का उत्कृष्ट अन्तर कहते हैं:—

इन्द्रस्य च महादेव्या लोकपालस्य दुस्सहः ।
जायते विरहो मासषट्कं हि च्यवने महान् ।।२१९।।
त्रायस्त्रिंशसुराणां च सामानिकसुधाशिनाम् ।
अङ्गरक्षकदेवानां च्यवने सति दुस्सहम् ।।२२०।।
परिषत्त्रयदेवानां वियोगोद्भवमन्तरे ।
मानसं जायते दुःखं चतुर्मासान्तमुत्तमम् ।।२२१।।

अर्थः—इन्द्र, इन्द्र की महादेवी और लोकपाल इनका दुस्सह उत्कृष्ट विरहकाल छह माह प्रमाण है । अर्थात् इनका मरण होने पर कोई अन्य जीव उस स्थान पर अधिक से अधिक छह माह तक जन्म नहीं लेगा ।।२१९।। त्रायस्त्रिंश, सामानिक, अङ्ग रक्षक और पारिषद देवों का मरण होने के बाद उनके दुस्सह वियोग से उत्पन्न होने वाला मानसिक दुःख उत्कृष्ट रूप से चार माह पर्यन्त होता है । अर्थात् इनका उत्कृष्ट विरह काल चार माह है ।।२२०-२२१।।

अब देव विशेषों के अन्तिम उत्पत्ति स्थानों का प्रतिपादन करते हैं:—

ईशानान्तं प्रजायन्ते कन्दर्पाः कुत्सिताः सुराः ।
लान्तवस्वर्गपर्यन्तं नीचाः किल्विषिकामराः ॥२२२॥

अच्युतान्तेषु कल्पेषूत्पद्यन्ते वाहनामराः ।
आभियोगिकसंज्ञाश्च स्वपापपुण्यपाकतः ॥२२३॥

अर्थः—(कान्दर्प परिणामी मनुष्य) अपने अपने पाप एवं पुण्योदय से कुत्सित परिणामी कन्दर्प जाति के देवों में ईशान कल्प पर्यन्त, (केल्विषिक परिणामी मनुष्य) नीच परिणामी किल्विष जाति के देवों में लान्तव कल्प पर्यन्त और (अभियोग्य भावना से युक्त मनुष्य) आभियोगिक है नाम जिनका ऐसे वाहन जाति के देवों में अच्युत कल्प पर्यन्त उत्पन्न होते हैं, इससे ऊपर नहीं (इनकी उत्पत्ति क्षेत्र सम्बन्धी जघन्यायु होती है) ॥२२२–२२३॥

अब प्रथमादि युगलों में स्थित देवों की स्थिति विशेष कहते हैं:—

आयुः पल्यं जघन्यं स्यादुत्कृष्टं सागरार्धकम् ।
सौधर्मस्यादिमेऽन्ते पटले सार्धौ द्विसागरौ ॥२२४॥

सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः सार्धसप्तसागराः ।
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे चायुर्महत्सार्धदशाब्धयः ॥२२५॥

आयुर्लान्तवकापिष्टे सार्धद्विसप्तवार्धयः ।
तथा शुक्रमहाशुक्रयोः सार्धषोडशाब्धयः ॥२२६॥

शतारादिद्वये चायुः सार्धाष्टादशसागराः ।
आनतप्राणतस्वर्गे प्रोत्कृष्टं विंशवार्धयः ॥२२७॥

आरणाच्युतयोर्देवानां तद् द्वाविंशसागराः ।
ततः सागर एकैक आदिग्रैवेयकादिषु ॥२२८॥

वर्धते चाहमिन्द्राणां यावद् ग्रैवेयकान्तिमे ।
आयुस्तिष्ठति वार्धीनामेकत्रिंशन्मितं परम् ॥२२९॥

नवानुदिशदेवानामायुर्द्वात्रिंशदब्धयः ।
पञ्चानुत्तरदेवानां त्रयस्त्रिंशच्च सागराः ॥२३०॥

इत्युत्कृष्टं पृथक् प्रोक्तमायुश्च नाकिनां क्रमात् ।
अधःस्थे पटले ज्येष्ठं यत्तदूर्ध्वजघन्यकम् ।।२३१।।

अर्थः—सौधर्मैशान कल्प के प्रथम पटल में जघन्य आयु एक पल्य और उत्कृष्ट आयु अर्ध-सागर प्रमाण तथा अन्तिम पटल में उत्कृष्ट आयु २½ सागर प्रमाण है ।।२२४।। सनत्कुमार-माहेन्द्र की उत्कृष्ट आयु ७½ सागर तथा ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर की १०½ सागर प्रमाण है ।।२२५।। लान्तव-कापिष्ठ कल्पों की १४½ सागर एवं शुक्र-महाशुक्र युगल की उत्कृष्ट आयु १६½ सागर प्रमाण है ।।२२६।। शतार-सहस्रार की १८½ सागर और आनत-प्राणत युगल की उत्कृष्ट आयु २० सागर प्रमाण है ।।२२७।। आरण-अच्युत स्वर्गों की उत्कृष्ट आयु २२ सागर प्रमाण है । इसके आगे अधस्तादि नवग्रैवेयकों में स्थित अहमिन्द्रों की आयु में क्रमशः एक-एक सागर की वृद्धि (२३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० सागर) होते हुये अन्तिम ग्रैवेयक की उत्कृष्ट आयु ३१ सागर प्रमाण है ।।२२८–२२९।। नव अनुदिश स्थित देवों की आयु ३२ सागर, तथा पंच अनुत्तरों में स्थित देवों की उत्कृष्ट आयु ३३ सागर प्रमाण है ।।२३०।। इस प्रकार देवों की पृथक् पृथक् उत्कृष्ट आयु क्रमशः कही गई है । नीचे नीचे के पटलों (कल्पों) की जो उत्कृष्ट आयु होती है, ऊपर ऊपर के पटलों की वही जघन्य आयु कही जाती है ।।२३१।। (नोट—१२ वें स्वर्ग तक की आयु में जो आधा आधा सागर अधिक कहा है, वह घाता-युष्क की अपेक्षा कहा है ।

अब प्रत्येक पटलों में स्थित देवों की आयु पृथक् पृथक् कहते हैंः—

पुनर्विस्तरेण पटलं पटलं प्रति देवानां पृथगायुरुच्यतेः—

सौधर्मैशानयोः प्रथमे पटले देवानां जघन्यायुः पल्योपमं, उत्कृष्टं अर्धसागरः द्वितीये चोत्कृष्ट-मायुः सागरत्रिंशद् भागानां सप्तदशभागाः । तृतीये त्रिंशद् भागानां एकोनविंशतिभागाश्च । चतुर्थे आयुस्त्रिंशद् भागानां एकविंशतिभागाः । पञ्चमे चायुः त्रिंशद् भागानां त्रयोविंशतिभागाः । षष्ठे त्रिंशद् भागानां पञ्चविंशति भागाश्च सप्तमे त्रिंशद्भागानां सप्तविंशतिभागाः । अष्टमे सागरत्रिंशद्-भागानां एकोनत्रिंशद् भागाः । नवमे चायुः सागरैकः, सागरस्य त्रिंशद्भागानामेकोभागः । दशमे सागरैकः सागरत्रिंशद् भागानां त्रयो भागाः । एकादशमे आयुः सागरैकः सागरत्रिंशद्भागानां पञ्च-भागाः । द्वादशमे सागरैकः सागरत्रिंशद् भागानां सप्तभागाश्च त्रयोदशमे सागरैकः सागरत्रिंशद् भागानां नवभागाः । चतुर्दशमे सागरैकः सागर त्रिंशद्भागानां एकादशभागाः । पञ्चदशे आयुः सागरैकः सागर त्रिंशद्भागानां त्रयोदशभागाः । षोडशे सागरैकः सागरत्रिंशद्भागानां पञ्चदश-भागाः । सप्तदशे सागरैकः सागरत्रिंशद्भागानां सप्तदशभागाः । अष्टादशे सागरैकः सागरत्रिंशद्भागानां एकोनविंशतिभागाः । एकोनविंशे सागरैकः सागरत्रिंशद्भागानां एकविंशति भागाः । विंशे सागरैकः सागरत्रिंशद् भागानां त्रयोविंशतिभागाः । एकविंशे सागरैकः सागरत्रिंशद् भागानां पञ्चविंशतिभागाः ।

द्वाविंशे सागरैकः सागरत्रिंशद् भागानां सप्तविंशति भागाः। त्रयोविंशे सागरैकः सागरत्रिंशद्भागानां एकोनत्रिंशद्भागाः। चतुर्विंशे आयुः सागरौ द्वौ सागरत्रिंशद्भागानामेको भागः। पञ्चविंशे द्वौ सागरौ सागरत्रिंशद्भागानां त्रयोभागाः। षड्विंशे द्वौ सागरौ सागरत्रिंशद्भागानां पञ्चभागाः। सप्तविंशे द्वौ सागरौ सागरत्रिंशद् भागानां सप्तभागाश्च। अष्टाविंशे द्वौ सागरौ सागरत्रिंशद्भागानां नवभागाश्च। एकोनत्रिंशत्पटले द्वौ सागरौ सागरत्रिंशद्भागानां एकादशभागाः। त्रिंशत्संख्यके द्वौ सागरौ सागरत्रिंशद्भागानां त्रयोदशभागाः। अन्तिमे पटले देवानामुत्कृष्टमायुश्च सार्धौ द्वौ सागरौ। सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः नाकिनामादिमे पटले आयुरुत्कृष्टं त्रयोऽब्धयः,अब्धि चतुर्दशभागानां त्रयोभागाः। द्वितीये चायुः सागरास्त्रयः सागरचतुर्दशभागानां त्रयोदशभागाः। तृतीये आयुश्चत्वारः सागराः सागरचतुर्दशभागानां नवभागाः। चतुर्थे पञ्चसागराः सागरचतुर्दशभागानां पञ्चभागाः। पञ्चमे षट् सागराः सागर चतुर्दशभागानामेको भागः। षष्ठे षट्सागराः सागरचतुर्दशभागानां एकादशभागाः। सप्तमे पटले देवानां परमायुः सार्धसप्तसागराः। ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोः प्रथमे पटले देवानामुत्कृष्टमायुः सपादा अष्टौ सागराः। द्वितीये चायुर्नवसागराः। तृतीये पादोन दशसागराः। चतुर्थे पटले नाकिनामुत्कृष्टा-स्थितिः सार्धदशसागरोपमानि। लान्तव-कापिष्टयोरमराणामुत्कृष्टमायुः प्रथमे पटले सार्धद्वादशाब्धयः। द्वितीये चायुः सार्धचतुर्दशसागरोपमानि। शुक्रमहाशुक्रयोः पटलैकस्मिन् नाकिनां परमायुः सार्धषोडश-सागरोपमाणि। शतारसहस्रारयोरेकस्मिन् पटले देवानां ज्येष्ठमायुः सार्धाष्टादशसागरोपमाणि। आनतप्राणतयोः प्रथमे पटले देवानां परास्थितिरेकोन विंशतिवार्धयः। द्वितीये च सार्धैकोनविंशति-सागराः। तृतीये नाकिनां परमायुः विंशतिसागरोपमानि। आरणाच्युतयोरुत्कृष्टमायुः स्वर्गिणां प्रथमे पटले सागराः विंशतिः सागरत्रिभागीकृतस्य द्वौ भागौ। द्वितीये चायुरेकविंशतिसागराः सागरस्य तृतीयो भागः। तृतीये पटले देवानां परास्थितिः द्वाविंशतिसागरोपमाणि। ततः अधः प्रथम-ग्रैवेयके अहमिन्द्राणां परमायुस्त्रयो विंशतिवार्धयः अधो द्वितीयग्रैवेयके चायुश्चतुर्विंशतिसागराः। अधस्तृतीयग्रैवेयके परास्थितिः पञ्चविंशति जलधयः। मध्यप्रथमग्रैवेयके चायुः षड्विंशतिवार्धयः। मध्य द्वितीयग्रैवेयके चायुः सप्तविंशतिसागराः, मध्यतृतीयग्रैवेयके परास्थितिरष्टाविंशतिसागरोप-माणि। ऊर्ध्वप्रथमग्रैवेयके परमायुरेकोनत्रिंशद्वार्धयः। ऊर्ध्वद्वितीयग्रैवेयके चायुस्त्रिंशत्सागराः। ऊर्ध्वतृतीयग्रैवेयके अहमिन्द्राणां परा स्थितिः एकत्रिंशत्सागरोपमाणि। नवानुदिशे अहमिन्द्राणां परमायुर्द्वात्रिंशत्सागरोपमाणि। पञ्चानुत्तरे अहमिन्द्राणां परास्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अधःस्थ पटले यदुत्कृष्टायुः तदूर्ध्वपटले सर्वत्र देवानां जघन्यं ज्ञातव्यं।

अर्थः—उपर्युक्त संस्कृत गद्य में प्रत्येक कल्पों के प्रत्येक पटलों की उत्कृष्ट आयु का पृथक् पृथक् दिग्दर्शन कराया गया है, जिसका सम्पूर्ण अर्थ निम्नाङ्कित तालिका में निहित है—

(तालिका अगले पेज पर देखें)

एकत्रित चित्रदर्शन:—

क्रमांक	पटल नाम	उत्कृष्टायु	क्रमांक	पटल नाम	उत्कृष्टायु	क्रमांक	पटल नाम	उत्कृष्टायु
१	ऋतु	$\frac{१}{२}$ सा० + $\frac{१}{३०}$ =	२१	अभ्र	$१\frac{२५}{३०}$	३	ब्रह्म	$९\frac{३}{४}$ सा
२	विमल	$\frac{१७}{३०}$,,	२२	हरित	$१\frac{२७}{३०}$	४	ब्रह्मोत्तर	$१०\frac{१}{२}$ सा. + २ =
३	चन्द्र	$\frac{१९}{३०}$,,	२३	पद्म	$१\frac{२९}{३०}$	१	ब्रह्म हृदय	$१२\frac{१}{२}$ सा.
४	वल्गु	$\frac{२१}{३०}$,,	२४	लोहित	$२\frac{१}{३०}$	२	लान्तव	$१४\frac{१}{२}$,, + २ =
५	वीर	$\frac{२३}{३०}$,,	२५	वज्र	$२\frac{३}{३०}$	१	शुक्र	$१६\frac{१}{२}$,, + २ =
६	अरुण	$\frac{२५}{३०}$,,	२६	नन्द्या०	$२\frac{५}{३०}$	१	शतार	$१८\frac{१}{२}$,, + $\frac{१}{२}$ =
७	नन्दन	$\frac{२७}{३०}$,,	२७	प्रभङ्कर	$२\frac{७}{३०}$	१	आनत	१९ सा.
८	नलिन	$\frac{२९}{३०}$,,	२८	पृष्टक	$२\frac{९}{३०}$	२	प्राणत	$१९\frac{१}{२}$,,
९	कांचन	$१\frac{१}{३०}$,,	२९	गज	$२\frac{११}{३०}$	३	पुष्पक	२० ,, + $\frac{१}{३}$ =
१०	रोहित	$१\frac{३}{३०}$,,	३०	मित्र	$२\frac{१३}{३०}$	१	शातक	$२०\frac{१}{३}$,,
११	चञ्चत्	$१\frac{५}{३०}$,,	३१	प्रभ	$२\frac{१५}{३०}$ या $२\frac{१}{२}$ सा. + $\frac{१०}{१४}$ =	२	आरण	$२१\frac{१}{३}$,,
१२	मरुत्	$१\frac{७}{३०}$,,	१	अञ्जन	$३\frac{३}{१४}$	३	अच्युत	२२ सा.
१३	ऋद्धीश	$१\frac{९}{३०}$,,	२	वनमाल	$३\frac{१३}{१४}$	१	सुदर्शन	२३ ,,
१४	वैडूर्य	$१\frac{११}{३०}$,,	३	नाग	$४\frac{९}{१४}$	२	अमोघ	२४ ,,
१५	रुचक	$१\frac{१३}{३०}$,,	४	गरुड़	$५\frac{५}{१४}$	३	सुप्रबुद्ध	२५ ,,
१६	रुचिर	$१\frac{१५}{३०}$,,	५	लाङ्गल	$६\frac{१}{१४}$	१	यशोधर	२६ ,,
१७	अङ्क	$१\frac{१७}{३०}$,,	६	बलभद्र	$६\frac{११}{१४}$	२	सुभद्र	२७ ,,
						३	सुविशाल	२८ ,,
१८	स्फटिक	$१\frac{१९}{३०}$,,	७	चक्र	$७\frac{१}{२}$ सा + $\frac{३}{४}$ =	१	सुमनस	२९ ,,
१९	तपनीय	$१\frac{२१}{३०}$,,	१	अरिष्ट	$८\frac{१}{४}$	२	सौमनस	३० ,,
२०	मेघ	$१\frac{२३}{३०}$,,	२	सुरस	९ सा०	३	प्रीतिकर	३१ ,,

अवशेष अर्थः—नव अनुदिशों में स्थित अहमिन्द्रों की उत्कृष्ट आयु ३२ सागर प्रमाण एवं पांच अनुत्तरों में स्थित अहमिन्द्रों की उत्कृष्ट आयु ३३ सागर प्रमाण होती है।

सौधर्मेशान कल्प के प्रथम पटल में स्थित देवों की जघन्यायु एक पल्योपम प्रमाण होती है। इसके आगे नीचे नीचे के पटलों की जो उत्कृष्ट आयु होती है, वही ऊर्ध्व-ऊर्ध्व पटलों में स्थित देवों की जघन्यायु जानना चाहिए।

अब देवों में आयु की हानि एवं वृद्धि के कारण तथा उसके प्रमाण का दिग्दर्शन कराते हैं:—

ससम्यक्त्वस्य देवस्य सागरार्धं हि वर्धते।
आयुर्यावत्सहस्रारं मिथ्यात्वारिविघातनात् ॥२३२॥

मिथ्यात्वागत देवस्य सम्यक्त्वरत्नघातनात्।
हीयते सागरार्धायुरिति स्थितिश्च नाकिनाम् ॥२३३॥

ज्योतिर्भावनभौमेषु सम्यक्त्वाप्राप्तितोऽङ्गिनः।
किञ्चिद् व्रततपः पुण्यादुत्पद्यन्ते भवाध्वगाः ॥२३४॥

सम्यक्त्वप्राप्तिधर्मेण स्वायुर्भवनवासिनाम्।
सागरार्धं प्रवर्धेत मिथ्यात्वशत्रुघातनात् ॥२३५॥

ज्योतिष्कव्यन्तराणां चायुः पल्यार्धं प्रवर्धते।
मिथ्यात्वारिविनाशेन सम्यक्त्वमणिलाभतः ॥२३६॥

सर्वत्र विश्वदेवानां मिथ्यात्वदुर्विषोज्झनात्।
सम्यक्त्वामृत पानेन स्वायुः सम्वर्धतेतराम् ॥२३७॥

पल्यैकस्याप्यसंख्यातभागप्रममिति स्फुटम्।
स्थितिं वदन्ति देवानामागमे स्थितिवेदिनः ॥२३८॥

अर्थः—सौधर्म स्वर्ग से सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त मिथ्यात्व रूपी शत्रु का नाश करने वाले सम्यग्दृष्टि देवों की आयु में अर्ध सागर की वृद्धि होती है ॥२३२॥ तथा सम्यक्त्व रूपी रत्न का नाश होने से मिथ्यात्व को प्राप्त हुए देवों की आयु में से यह अर्ध सागर हीन हो जाती है ॥२३३॥ जिन मनुष्यों को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई, वे किञ्चित् व्रत एवं तप आदि से उपार्जित पुण्योदय से ज्योतिषी, भवनवासी एवं व्यन्तर वासी देवों में उत्पन्न होते हैं, और पुनः संसाररूपी मार्ग में भ्रमण

करते हैं ।।२३४।। मिथ्यात्व रूपी शत्रु के नाश से तथा सम्यक्त्व प्राप्ति रूप धर्म से भवनवासी देवों की अपनी अपनी आयु में अर्ध सागर की वृद्धि होती है, तथा मिथ्यात्व रूपी शत्रु के विनाश एवं सम्यक्त्व मणि के लाभ से ज्योतिष्क तथा व्यन्तर वासी देवों की आयु में अर्ध पल्य की वृद्धि होती है ।।२३५-२३६।। स्थिति आदि को जानने वाले गणधरादि देवों ने आगम में मिथ्यात्व रूपी विष को छोड़ने और सम्यक्त्व रूपी अमृत के पान से युक्त सर्वत्र अर्थात् बारहवें स्वर्ग पर्यन्त समस्त देवों की अपनी अपनी (घात) आयु में पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण (जघन्य) वृद्धि कही है ।।२३७-२३८।।

अब कल्पवासी देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण कहते हैं:—

सौधर्मे च जघन्यायुः पादाग्रपल्यसंख्यकम् ।
देवीनामायुरुत्कृष्टं पञ्चपल्योपमानि च ।।२३९।।
ईशाने सप्तपल्यानि ज्येष्ठायुर्देवयोषिताम् ।
सनत्कुमारकल्पे च नवपल्योपमान्यपि ।।२४०।।
माहेन्द्रे योषितामायुः पल्यैकादशसम्मितम् ।
ब्रह्मकल्पे परायुश्च पल्योपमास्त्रयोदश ।।२४१।।
ब्रह्मोत्तरे स्थितिः स्त्रीणां पल्यपञ्चदशप्रमा ।
लान्तवे च परायुष्कं पल्यं सप्तदशप्रमम् ।।२४२।।
कापिष्टे जीवितं पल्योपमान्येकोनविंशतिः ।
शुक्रे स्त्रीणां परायुश्च पल्यानि ह्येकविंशतिः ।।२४३।।
महाशुक्रे स्थितिः पल्यत्रयोविंशतिसम्मिता ।
शतारे योषितामायुः पल्यानि पञ्चविंशतिः ।।२४४।।
सहस्रारे स्थितिः स्त्रीणां पल्यानि सप्तविंशतिः ।
आनते जीवितं पल्यचतुस्त्रिंशत्प्रमं भवेद् ।।२४५।।
प्राणते जीवितं पल्यैकचत्वारिंशदुत्तमम् ।
आरणे योषितां पल्याष्टचत्वारिंशदूर्जितम् ।।२४६।।
अच्युते पञ्चपञ्चाशत्पल्यान्यायुश्च योषिताम् ।
पुनरात्रां ब्रुवेऽप्यायुरन्यशास्त्रोक्तमञ्जसा ।।२४७।।

अर्थः—सौधर्म स्वर्ग में स्थित देवियों की जघन्य आयु १¼ पल्य एवं उत्कृष्ट आयु पाँच पल्य प्रमाण होती है ।।२३९।। ईशान स्वर्गस्थ देवियों की आयु सात पल्य एवं सनत्कुमार कल्प स्थित

देवियों की उत्कृष्ट आयु नव पल्य होती है ॥२४०॥ माहेन्द्र स्वर्गस्थ देवियों की आयु ग्यारह पल्य तथा ब्रह्मकल्प स्थित देवियों की उत्कृष्ट आयु तेरह पल्य प्रमाण होती है ॥२४१॥ ब्रह्मोत्तर स्वर्ग स्थित देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु पन्द्रह पल्य प्रमाण होती है तथा लान्तव स्वर्गस्थ देवांगनाओं की आयु सत्रह पल्य होती है ॥२४२॥ कापिष्ठ कल्प स्थित देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु उन्नीस पल्य एवं शुक्र कल्प में इक्कीस पल्य प्रमाण होती है ॥२४३॥ महाशुक्र स्थित की तेईस पल्य तथा शतार कल्प स्थित देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु पच्चीस पल्य प्रमाण होती है ॥२४४॥ सहस्रार कल्प में स्थित देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु २७ पल्य, तथा आनत कल्प स्थित देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु ३४ पल्य प्रमाण है ॥२४५॥ प्राणत कल्प स्थित देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु ४१ पल्य, तथा आरण स्वर्ग स्थित देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु ४८ पल्य प्रमाण है ॥२४६॥ और अच्युत कल्प स्थित देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु ५५ पल्य प्रमाण होती है।

वैमानिक देवांगनाओं की जघन्य-उत्कृष्ट आयु का चार्टः—

कल्प	सौधर्म	ऐशान	सा.	मा.	ब्रह्म	ब्रह्मो.	ला.	का.	शु.	म.	श.	स.	आ.	प्रा.	आ.	अ०
जघन्यायु	सवा पल्य	१½ पल्य	७	९	११	१३	१५	१७	१९	२१	२३	२५	२७	३४	४१	४८ पल्य
उत्कृष्टायु	५ पल्य	७ पल्य	९	११	१३	१५	१७	१९	२१	२३	२५	२७	३४	४१	४८	५५ पल्य

इन वैमानिक देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु, अन्य शास्त्रों के अनुसार पुनः कहते हैं ॥२४७॥

अब देवांगनाओं की अन्य शास्त्रोक्त उत्कृष्ट आयु का प्रमाण कहते हैं:—

सौधर्मैशानयोश्चायुर्देवीनां पल्यपञ्चकम् ।
द्वितीये युगले चायुः पल्यसप्तदशप्रमम् ॥२४८॥

स्थितिर्युग्मे तृतीये च पल्यानि पञ्चविंशतिः ।
चतुर्थे योषितां पल्याः पञ्चत्रिंशच्च जीवितम् ॥२४९॥

पञ्चमे जीवितं चत्वारिंशत्पल्यानि योषिताम् ।
षष्ठे पल्योपमाः पञ्चचत्वारिंशत् स्थितिः परा ॥२५०॥

सप्तमे युगले स्त्रीणां पञ्चाशत्पल्यजीवितम् ।
अष्टमे पञ्चपञ्चाशत्पल्यायुर्देवयोषिताम् ॥२५१॥

ग्राह्य एकोपदेशो मध्येऽनोयस्युपदेशयोः ।
प्रमाणीकृत्य तीर्थेशवचः छद्मस्थयोगिभिः ॥२५२॥

अर्थः—सौधर्मेशान नामक प्रथम युगल में देवियों की उत्कृष्ट आयु पांच पल्य, एवं द्वितीय युगल में सात पल्य प्रमाण होती है ॥२४८॥ तृतीय युगल में २५ पल्य, तथा चतुर्थ युगल में देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु ३५ पल्य प्रमाण होती है ॥२४९॥ पंचम युगल में ४० पल्य और षष्ठ युगल में देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु ४५ पल्य प्रमाण होती है ॥२५०॥ सप्तम युगल में देवांगनाओं की आयु ५० पल्य एवं अष्टम युगल में देवियों की उत्कृष्ट आयु ५५ पल्य प्रमाण होती है ॥२५१॥ तीर्थंकर देव के वचनों को प्रमाण करके छद्मस्थ योगिराजों के द्वारा उपर्युक्त दोनों उपदेशों में से एक उपदेश ही ग्रहण करना चाहिये ॥२५२॥

अब देवों के शरीर का उत्सेध कहते हैं:—

सौधर्मेशानयोर्देवदेहः सप्तकरोन्नतः ।
सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानां च षट्करः ॥२५३॥

स्याद् ब्रह्मादि चतुःस्वर्गे कायः पञ्चकरोच्छ्रितः ।
शुक्रादिकचतुर्नाके देवाङ्गोच्चः चतुःकरैः ॥२५४॥

आनतप्राणते देवाङ्गः सार्धत्रिकरोदयः ।
आरणाच्युतयोः कायो देवानां त्रिकरोन्नतः ॥२५५॥

सार्धद्विकरदेहोच्चोऽस्त्यधोग्रैवेयकत्रिषु ।
देवानां द्विकराङ्गोच्चो मध्यग्रैवेयकत्रिषु ॥२५६॥

सार्धैकहस्तदेहोच्च ऊर्ध्वग्रैवेयकत्रिषु ।
नवानुदिशसंज्ञेऽङ्गं सपादेक करोन्नतम् ॥२५७॥

पञ्चानुत्तरसंज्ञेऽहमिन्द्राणां विस्फुरत्प्रभः ।
एकहस्तोन्नतो दिव्यः कायोवैक्रियिको भवेत् ॥२५८॥

अर्थः—सौधर्मेशान कल्प स्थित देवों के शरीर की ऊँचाई सात (७) हस्त प्रमाण एवं सानत्कुमार-माहेन्द्र में ६ हस्त प्रमाण है ॥२५३॥ ब्रह्मादि चार स्वर्गों में ऊँचाई ५ हस्त एवं शुक्रादि

चार स्वर्गों में देवों के शरीर की ऊँचाई ४ हस्त प्रमाण होती है ।।२५४।। आनत-प्राणत कल्प में शरीर का उत्सेध ३½ हस्त प्रमाण तथा आरण-अच्युत स्वर्ग में देवों के शरीर का उत्सेध ३ हस्त प्रमाण है ।।२५५।। तीनों अधो ग्रैवेयकों में उत्सेध २½ हस्त तथा तीनों मध्य ग्रैवेयकों में देवों के शरीर का उत्सेध २ हस्त प्रमाण है ।।२५६।। तीनों ऊर्ध्व ग्रैवेयकों में देह का उत्सेध १½ हस्त एवं नव अनुदिशों में काय उत्सेध १½ हस्त प्रमाण है ।।२५७।। पंच अनुत्तरों में अहमिन्द्रों के तेजोमय, दिव्य वैक्रियक शरीर का उत्सेध एक हस्त प्रमाण होता है ।।२५८।।

अब वैमानिक देवों के आहार एवं उच्छ्वास के समय का निर्धारण करते हैं:--

सौधर्मादियुगे देवानां द्विसहस्रवत्सरैः ।
गतैराहारउच्छ्वासो भवेत्पक्षद्वये गते ।।२५९।।

द्वितीये युगले सप्तसहस्राब्दैर्विनिर्गतैः ।
देवानां मानसाहार उच्छ्वासः पक्षसप्तके ।।२६०।।

तृतीयेऽब्दसहस्राणां नाकिनां दशभिर्गतैः ।
सुधाहारोऽस्ति चोच्छ्वासो मनाक् पक्षदशातिगैः ।।२६१।।

चतुर्थे युगले वर्षचतुर्दशसहस्रकैः ।
गतैराहार उच्छ्वासो द्विसप्तपक्षनिर्गमैः ।।२६२।।

पञ्चमे वत्सराणां गतैः षोडशसहस्रकैः ।
सुधाहारो वरोच्छ्वासः पक्षैः षोडशभिर्गतैः ।।२६३।।

षष्ठेऽतिगैश्च वर्षाणामष्टादशसहस्रकैः ।
मानसाहार उच्छ्वासः पक्षैरष्टादशैर्गतैः ।।२६४।।

सप्तमे युगले वर्षैर्गतैर्विंशसहस्रकैः ।
सुधाहारो लघूच्छ्वासो विंशपक्षैर्विनिर्गतैः ।।२६५।।

अष्टमे नाकिनां चाहारो द्वाविंशसहस्रकैः ।
वर्षैर्गतैः शुभोच्छ्वासः पक्षद्वाविंशनिर्गमैः ।।२६६।।

आद्ये ग्रैवेयकेऽतीतैस्त्रयोविंशसहस्रकैः ।
वर्षैराहार उच्छ्वासः पक्षोनवर्षनिर्गमे ।।२६७।।

द्वितीये चाहमिन्द्राणां चतुर्विंशसहस्रकैः ।
अब्दैराहार उच्छ्वासो गतैः[illegible]र्जिनागमे ॥२६८॥

तृतीये स्यात् सुधाहारः पञ्चविंशसहस्रकैः ।
गतैर्वर्षैः शुभोच्छ्वासः पक्षाग्रवत्सरे गते ॥२६९॥

चतुर्थे मानसाहारोऽब्दषड्विंशसहस्रकैः ।
गतैःसुगन्धिरुच्छ्वासः पक्षैः षड्विंशतिप्रमैः ॥२७०॥

पञ्चमे वत्सराणां च सप्तविंशसहस्रकैः ।
गतैराहार उच्छ्वासस्त्रिपक्षाग्रे जिनागमे ॥२७१॥

षष्ठे ग्रैवेयकेऽष्टाविंशाब्दसहस्रनिर्गतैः ।
दिव्याहारो [illegible]च्छ्वासो मासैश्चतुर्दशप्रमैः ॥२७२॥

सप्तमेऽमृतनाहार एकोनत्रिंशदब्दकैः ।
सहस्राणां शुभोच्छ्वासो मासैः सार्धचतुर्दशैः ॥२७३॥

अष्टमेऽस्ति सुधाहारस्त्रिंशद्वर्षसहस्रकैः ।
गतैश्च वर उच्छ्वासस्त्रिंशत्पक्षातिगैर्मनाक् ॥२७४॥

ग्रैवेयकेऽन्तिमे चाहारो ह्येकत्रिंशदब्दकैः ।
सहस्राणां सदुच्छ्वासस्तावत्पक्षैश्च निर्गतैः ॥२७५॥

नवानुदिशदेवानां स्याद्द्वात्रिंशत् सहस्रकैः ।
वर्षैराहार उच्छ्वासो गतैर्मासैश्च षोडशैः ॥२७६॥

पञ्चानुत्तरदेवानां त्रयस्त्रिंशत्सहस्रकैः ।
वर्षैश्चाहार उच्छ्वासो मासानां सार्धषोडशैः ॥२७७॥

अर्थः—सौधर्मैशान नामक प्रथम युगल में देवों का आहार २००० वर्ष बाद एवं उच्छ्वास दो पक्ष बाद होता है ॥२५९॥ द्वितीय युगल में देवों का मानसिक आहार ७००० वर्ष बाद तथा उच्छ्वास सप्त पक्ष बाद होता है ॥२६०॥ तृतीय युगल में देवों का अमृतमय आहार १०००० वर्ष बाद और उच्छ्वास दस पक्ष बाद होता है ॥२६१॥ चतुर्थ युगल में आहार १४००० वर्ष बाद तथा उच्छ्वास १४ पक्ष बाद होता है ॥२६२॥ पंचम युगल में देवों का सुधामय आहार १६००० वर्ष बाद और

उच्छ्वास १६ पक्ष बाद होता है ॥२६३॥ षष्ठ युगल में मानसिक आहार १८००० वर्ष बाद एवं उच्छ्वास १८ पक्ष (९ माह) बाद होता है ॥२६४॥ सप्तम युगल में देवों का आहार २०००० वर्ष बाद एवं लघु उच्छ्वास २० पक्ष (१० माह) बाद होता है ॥२६५॥ अष्टम युगल में देवों का आहार २२००० वर्ष बाद एवं उच्छ्वास २२ पक्ष एवं (११ माह) बाद होता है ॥२६६॥ प्रथम ग्रैवेयक स्थित अहमिन्द्रों के मानसिक आहार २३००० वर्ष बाद एवं उच्छ्वास ११½ माह बाद होता है ॥२६७॥ द्वितीय ग्रैवेयक में आहार २४००० वर्ष बाद तथा उच्छ्वास एक वर्ष बाद होता है ॥२६८॥ तृतीय ग्रैवेयक में देवों का आहार २५००० वर्ष बाद एवं उच्छ्वास एक वर्ष, १ पक्ष बाद होता है ॥२६९॥ चतुर्थ ग्रैवेयक में अहमिन्द्रों का आहार २६००० वर्ष बाद और सुगन्धित उच्छ्वास एक वर्ष १ माह बाद होता है ॥२७०॥ पंचम ग्रैवेयक में अहमिन्द्रों का आहार २७००० वर्ष बाद एवं उच्छ्वास एक वर्ष १½ माह बाद होता है ॥२७१॥ षष्ठ ग्रैवेयक में आहार २८००० वर्ष बाद तथा उच्छ्वास एक वर्ष दो माह बाद होता है ॥२७२॥ सप्तम ग्रैवेयक में अमृतमय आहार २९००० वर्ष बाद एवं उच्छ्वास एक वर्ष २½ माह बाद होता है ॥२७३॥ अष्टम ग्रैवेयक में अमृताहार ३०००० वर्ष बाद और किंचित् उच्छ्वास एक वर्ष ३ माह (१¼ वर्ष) बाद होता है ॥२७४॥ अन्तिम नवम ग्रैवेयक में सुधाहार ३१००० वर्ष बाद एवं उच्छ्वास ३१ पक्ष अर्थात् एक वर्ष ३½ माह बाद होता है ॥२७५॥ नव अनुदिशों में अहमिन्द्रों का आहार ३२००० वर्ष बाद और उच्छ्वास एक वर्ष ४ माह बाद होता है ॥२७६॥ तथा पञ्च अनुत्तरवासी अहमिन्द्रों का आहार ३३००० वर्ष बाद एवं उच्छ्वास ३३ पक्ष—एक वर्ष ४½ माह बाद होता है ॥२७७॥

अब लौकान्तिक देवों के अवस्थान का स्थान एवं उनकी संख्या का प्रतिपादन करते हैं:—

वसन्ति ब्रह्मलोकान्ते ये लौकान्तिकनाकिनः ।
तेषां नामानि दिक् संख्या वक्ष्ये संक्षेपतः क्रमात् ॥२७८॥

सारस्वतास्तथादित्या वह्न्योऽरुणसंज्ञकाः ।
ईशानादि विदिक्स्थ प्रकीर्णेषु वसन्त्यमी ॥२७९॥

प्राच्यादौ गर्दतोयाश्च वसन्ति तुषिताह्वयाः ।
अव्याबाधास्ततोऽरिष्टाः श्रेणीबद्धेष्वनुक्रमात् ॥२८०॥

द्विर्द्वयोः सप्तयुक्सप्तशतानि तु सहस्रकाः ।
ततो द्वयोर्द्वयोर्वृद्धि द्वौ सहस्रौ द्वयाधिकौ ॥२८१॥

अर्थः—ब्रह्मलोक के अन्त में जो लौकान्तिक देव निवास करते हैं उनके नाम, अवस्थान की दिशाएँ एवं उनकी संख्या का प्रमाण मैं (आचार्य) संक्षेप से किन्तु क्रमशः कहूँगा ॥२७८॥ सारस्वत, आदित्य, वह्नि और अरुण नाम के लौकान्तिक देव क्रमशः ईशान, आग्नेय, नैऋत्य एवं वायव्य विदिशाओं में स्थित प्रकीर्णक विमानों में रहते हैं ॥२७९॥ तथा गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध एवं अरिष्ट नाम के लौकान्तिक देव क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा गत श्रेणीबद्ध विमानों में रहते हैं ॥२८०॥ इनमें से सारस्वत देवों का प्रमाण ७०७, आदित्य लौकान्तिकों का ७०७, वह्नि देवों का ७००७ तथा अरुण लौकान्तिक देवों का प्रमाण ७००७ है। इसके आगे क्रमशः दो-दो हजार दो की वृद्धि होती गई है। यथा गर्दतोय लौकान्तिकों का प्रमाण ९००९, तुषितों का ९००९, अव्याबाध देवों का ११०११ एवं अरिष्ट नामक लौकान्तिक देवों का प्रमाण ११०११ है ॥२८१॥

अब सारस्वतादि दो दो कुलों के अन्तरालों में स्थित लौकान्तिक देवों के कुलों के नाम एवं उनकी संख्या के प्रमाण का दिग्दर्शन कराते हैं:—

अग्निसूर्येन्दु सत्याभादेवाः श्रेयस्कराभिधाः ।
क्षेमङ्करा वशिष्ठाख्या देवाः कामधराख्यकाः ॥२८२॥

निर्वाणरजसो नाम्ना दिगन्तरक्षितोऽमराः ।
आत्मरक्षकनामानः सर्वरक्षाश्च वायवः ॥२८३॥

वसवोऽश्वाह्वया विश्वाः षोडशैते सुराः क्रमात् ।
द्वौ द्वौ सारस्वतादीनां तिष्ठन्त्यन्तराष्टसु ॥२८४॥

संख्यामीषां पृथक् सप्ताधिक सप्तसहस्रकाः ।
ततो ह्यग्रे सहस्रे द्वे प्रवर्धते क्रमात् पृथक् ॥२८५॥

चतुर्लक्षास्तथा सप्तसहस्राश्च शताष्टकम् ।
विंशतिर्मिलिता एते सर्वे लौकान्तिकामताः ॥२८६॥

अर्थः—अग्न्याभ, सूर्याभ, चन्द्राभ, सत्याभ, श्रेयस्कर, क्षेमङ्कर, वशिष्ठ, कामधर, निर्वाण रजस्, दिगन्तरक्षक, आत्मरक्षक, सर्वरक्षक, मरुत्, वसव, अश्व एवं विश्व नाम के ये सोलह प्रकार के लौकान्तिक देव क्रमशः सारस्वतादि दो दो देवों के अन्तरालों में रहते हैं ॥२८२-२८४॥ इनमें से अग्न्याभ देवों की संख्या ७००७ प्रमाण है। इसके आगे पृथक् पृथक् क्रमशः २००२ की वृद्धि होती गई है। इस प्रकार सब लौकान्तिकों की एकत्रित संख्या ४०७८२० प्रमाण मानी गई है ॥२८५-२८६॥

अब लौकान्तिक देवों के विशेष स्वरूप का एवं उनकी आयु का प्रतिपादन करते हैं:—

नाधिका न च हीनास्ते स्वात्मध्यानपरायणाः ।
विरक्ताः कामभोगेषु निसर्गब्रह्मचारिणः ॥२८७॥

चतुर्दशमहापूर्वसमुद्रपारगा विदः ।
सम्बोधनविधातारो दीक्षा कल्याणकेऽर्हताम् ॥२८८॥

देवर्षयः स्तुता वन्द्याः पूज्याश्चेन्द्रादिनाकिभिः ।
एकावतारिणोऽत्यन्त स्वल्पमोहाः शुभाशयाः ॥२८९॥

विरागा जिनदीक्षादानेऽति प्रमोदकारिणः ।
केवलं ब्रह्मकल्पान्ते सन्ति लौकान्तिकामराः ॥२९०॥

अत्यन्त स्त्रीविरक्ता ये तपस्यन्ति विरागिणः ।
मुनयः प्राग् भवे ते स्युर्लौकान्तिकाः स्त्रियोऽतिगाः ॥२९१॥

सारस्वतादि सप्तानां देवर्षीणां परा स्थितिः ।
अखण्डाः सागरा अष्टौ संसाराब्ध्यन्तगामिनाम् ॥२९२॥

आयुश्चारिष्टदेवानां नवैव सागरोपमाः ।
पुनरेषां ब्रुवे किञ्चित् सुखबोधाय वर्णनम् ॥२९३॥

अर्थ:—ये सभी लौकान्तिक देव परस्पर में ऋद्धि आदि से हीनाधिक नहीं होते, ये आत्मध्यान परायण, काम एवं भोगों से विरक्त तथा निसर्गतः ब्रह्मचारी होते हैं ॥२८७॥ चतुर्दशमहापूर्व रूपी समुद्र के पारगामी, विद्वान एवं दीक्षा कल्याणक के समय अर्हन्तों को सम्बोधन करने वाले होते हैं ॥२८८॥ इन्द्रादि समस्त देवों द्वारा पूजनीय, वन्दनीय एवं स्तुत्य ये सर्व देवर्षि संज्ञा वाले देव एकभवावतारी, अत्यन्त अल्पमोह युक्त एवं शुभ भावनाओं से युक्त होते हैं ॥२८९॥ राग से रहित जिनेन्द्र भगवान की दीक्षा के समय अत्यन्त प्रमोद को धारण करने वाले ये लौकान्तिक देव ब्रह्मकल्प के अन्त में निवास करते हैं ॥२९०॥ पूर्वभव में जो मुनि स्त्री जन्य राग से अत्यन्त विरक्त होते हैं, तथा राग रहित अत्यन्त उग्र तप करते हैं, वे स्वर्ग में आकर स्त्रियों के राग से रहित लौकान्तिक देव होते हैं ॥२९१॥ संसार रूपी समुद्र के अन्त को प्राप्त होने वाले सारस्वतादि सात देवर्षियों की उत्कृष्ट अखण्ड आयु आठ सागर प्रमाण होती है ॥२९२॥ अरिष्ट नामक लौकान्तिक देवों की उत्कृष्ट आयु

६ सागर प्रमाण होती है। अब इनके भेद प्रभेदों के प्रमाण का सुख पूर्वक बोध कराने के लिए उसी प्रमाण को पुन: कहते हैं ।।२६३।।

अब प्रत्येक कुलों का पृथक् पृथक् प्रमाण कहते हैं:—

सप्ताधिकसप्तशतप्रमा: सारस्वतदेवा: ब्रह्मकल्पान्तस्यैशानदिक्स्थ प्रकीर्णकेषु वसन्ति। सप्ताग्रसप्तशतसंख्या आदित्याश्चाग्निदिशास्थ प्रकीर्णक विमानेषु तिष्ठन्ति। सप्ताग्रसप्तसहस्रमिता वह्नयः नैऋत्यदिक्स्थित प्रकीर्णेषु वसन्ति। सप्ताग्र सप्तसहस्र प्रमा: अरुणा: वायुकोणस्थ प्रकीर्णकेषु भवन्ति। नवाग्रनवसहस्रा: गर्दतोया: पूर्वदिक् श्रेणीबद्धेषु वसन्ति। नवाधिक नवसहस्रमानास्तुषितामराः दक्षिणाशास्थ श्रेणीबद्ध विमानेषु तिष्ठन्ति एकादशाग्रैकादशसहस्रा: अव्याबाधा: पश्चिमदिक् श्रेणीबद्धेषु सन्ति। एकादशयुतैकादशसहस्रमिता अरिष्टा उत्तराशाश्रेणीबद्धेषु निवसन्ति। सप्ताग्रसप्तसहस्रा अग्न्याभा, नवाग्रनव सहस्राश्च सूर्याभा: सारस्वतगर्दतोययोरन्तरे तिष्ठन्ति। एकादशाग्रैकादश सहस्राश्चन्द्राभा:, त्रयोदशाग्रत्रयोदशसहस्रा सत्याभाश्च गर्दतोयादित्ययोरन्तरे वसन्ति पञ्चदशाधिकपञ्चदशसहस्रा: श्रेयस्करा:, सप्तदशाग्रसप्तदशसहस्रा: क्षेमङ्कराश्चादित्यतुषितयोरन्तरे सन्ति। एकोनविंशत्यग्रैकोनविंशतिसहस्रा: वृषिष्ठा:, एकविंशत्यधिकैकविंशतिसहस्रा: कामधराश्च तुषितवह्न्योरन्तरे स्यु:। त्रयोविंशत्यग्रत्रयोविंशतिसहस्रा: निर्माणरजस:, पञ्चविंशत्यग्रपञ्चविंशतिसहस्रा: दिगन्तरक्षित: वह्न्यव्याबाधयोरन्तरे च वसन्ति। सप्तविंशत्यग्रसप्तविंशतिसहस्रा आत्मरक्षका:, एकोनत्रिंशदग्रैकोनत्रिंशत्सहस्रा: सर्वरक्षकाश्चाव्याबाधारुणयोरन्तरेतिष्ठन्ति। एकत्रिंशदग्रैकत्रिंशत्सहस्रा: मरुत:, त्रयस्त्रिंशदधिक त्रयस्त्रिंशत्सहस्रा: वसवश्चारुणारिष्टयोरन्तरे सन्ति। पञ्चत्रिंशदग्रपञ्चत्रिंशत्सहस्रा: अश्वा मरा:, सप्तत्रिंशदग्रसप्तत्रिंशत्सहस्रा: विश्वाख्याश्चारिष्ट सारस्वतयोरन्तरे निवसन्ति। एते सर्वे एकत्रीकृता: लौकान्तिकामरा: चतुर्लक्षसप्तसहस्राष्टशतविंशतिप्रमा: भवन्ति।

अर्थ:—सारस्वत नामक लौकान्तिक देवों का प्रमाण ७०७ है ये ब्रह्मलोक के अन्त में ईशान दिशास्थित प्रकीर्णक विमानों में रहते हैं। ७०७ है प्रमाण जिनका ऐसे आदित्य देव आग्नेय दिशागत प्रकीर्णक विमानों में रहते हैं। वह्नि देवों का प्रमाण ७००७ है, ये नैऋत्य दिशागत प्रकीर्णकों में रहते हैं। अरुण देवों का प्रमाण भी ७००७ है, ये वायव्य कोण स्थित प्रकीर्णकों में रहते हैं। पूर्व दिशागत श्रेणीबद्धों में निवास करने वाले गर्दतोय देवों का प्रमाण ९००९ है। दक्षिण दिशागत श्रेणीबद्धों में निवास करने वाले तुषित देवों का प्रमाण ९००९ है। पश्चिम दिशागत श्रेणीबद्धों में निवास करने वाले अव्याबाध देवों का प्रमाण ११०११ है। उत्तर दिशागत श्रेणीबद्ध विमानों में निवास करने वाले अरिष्ट देवों का प्रमाण ११०११ है। ७००७ अग्न्याभ देव और ९००९ सूर्याभदेव, सारस्वत एवं गर्दतोय इन दोनों के मध्य में रहते हैं। ११०११ चन्द्राभ तथा १३०१३ सत्याभ देव,

गर्दतोय एवं आदित्य इन दोनों के मध्य में रहते हैं। १५०१५ श्रेयस्कर तथा १७०१७ क्षेमङ्कर देव, आदित्य एवं तुषित इन दोनों के मध्य में रहते हैं। १९०१९ वशिष्ठ तथा २१०२१ कामधर देव, तुषित एवं वह्नि इन दोनों के मध्य में रहते हैं। २३०२३ निर्वाणरजस् तथा २५०२५ दिगन्तरक्षित देव, वह्नि एवं अव्याबाध देवों के मध्य में निवास करते हैं। २७०२७ आत्मरक्षक और २९०२९ सर्वरक्षक देव, अव्याबाध एवं अरुण इन दोनों के मध्य में निवास करते हैं। ३१०३१ मरुद् तथा ३३०३३ वसव देव, अरुण और अरिष्ट के मध्य में रहते हैं। ३५०३५ अश्व देव एवं ३७०३७ विश्व देव अरिष्ट और सारस्वत इन दोनों के मध्य में रहते हैं। इन सब लौकान्तिक देवों का एकत्रित प्रमाण ४०७८२० होता है।

अब किस किस संहनन वाले जीव कहाँ तक उत्पन्न होते हैं? इसका दिग्दर्शन कराते हैं:—

सौधर्मादिष्टनाकेषु षट्संहननसंयुताः।
यान्ति शुक्रादिकल्पेषु चतुर्षु चान्तिमं विना ॥२९४॥
पञ्चसंहनना आनताद्येष्वन्य चतुर्षु च।
चतुः संहनना जीवा गच्छन्ति पुण्यपाकतः ॥२९५॥
नवग्रैवेयकेषु त्र्युत्तमसंहननान्विताः।
जायन्ते मुनयो दक्षा नवानुदिशनामनि २९६॥
अन्त्य द्विसंहननाढ्या यान्ति रत्नत्रयाजिताः।
पञ्चानुत्तरसंज्ञे चादिसंहननभूषिताः ॥२९७॥

अर्थः—सौधर्मादि आठ कल्पों में छहों संहनन वाले जीव उत्पन्न होते हैं। शुक्रादि चार कल्पों में अन्तिम (असम्प्राप्तसृपाटिका) संहनन को छोड़ कर पाँच संहनन वाले जीव तथा आनतादि चार कल्पों में असम्प्राप्त और कीलक संहनन को छोड़ कर शेष चार संहनन वाले जीव पुण्योदय से उत्पन्न होते हैं ॥२९४–२९५॥ नवग्रैवेयकों में तीन उत्तम संहननधारी मुनिराज, नव अनुदिशों में आदि के दो संहननों से युक्त रत्नत्रयधारी मुनिराज एवं पांच अनुत्तरों में मात्र वज्रवृषभनाराच संहनन वाले मुनिराज उत्पन्न होते हैं और इसी संहनन से मोक्ष भी जाते हैं ॥२९६–२९७॥

अब वैमानिक देवों की लेश्या का विभाग दर्शाते हैं:—

तेजोलेश्या जघन्यास्ति भावनादित्रयेषु च।
सौधर्मैशानयोर्नित्यं तेजोलेश्या हि मध्यमा ॥२९८॥

सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानां शुभाशये ।
तेजोलेश्याखिलोत्कृष्टा पद्मांशोऽतिजघन्यकः ॥२९९॥

ब्रह्मादिषट् सुदेवानां पद्मलेश्यास्ति मध्यमा ।
शतारादिद्वये पद्मोत्कृष्टा शुक्ला जघन्यवाक् ॥३००॥

आनतादिचतुःकल्प नवग्रैवेयकेषु च ।
देवानामहमिन्द्राणां शुक्ललेश्यास्ति मध्यमा ॥३०१॥

नवानुदिशसंज्ञे च पञ्चानुत्तरनामके ।
शुक्ललेश्यामहोत्कृष्टाहमिन्द्राणां भवेत्सदा ॥३०२॥

अर्थः—भवनवासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिषी देवों में जघन्य पीत लेश्या होती है । एवं सौधर्मेशान कल्प में मध्यम पीत लेश्या होती है ॥२९८॥ सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्पों (के अधस्तन बहुभाग) में उत्कृष्ट पीत लेश्या एवं (उपरिम एक भाग में) अति जघन्य पद्म लेश्या के अंश होते हैं ॥२९९॥ ब्रह्मादि छह कल्पों में देवों के मध्यम पद्म लेश्या होती है, एवं शतार-सहस्रार कल्पों के देवों में पद्म लेश्या उत्कृष्ट तथा उपरिम एक भाग में जघन्य शुक्ल लेश्या होती है ॥३००॥ आनतादि चार कल्पों में स्थित देवों में तथा नवग्रैवेयकवासी अहमिन्द्रों में मध्यम शुक्ल लेश्या होती है ॥३०१॥ नव अनुदिश तथा पंच अनुत्तरवासी अहमिन्द्रों के निरन्तर उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या होती है ॥३०२॥

अब वैमानिक देवों के संस्थान एवं शरीर की विशेषता दर्शाते हैं:—

संस्थानं प्रथमं दिव्यं दिव्याकारं जगत्प्रियम् ।
वपुर्वैक्रियिकं रम्यं सप्तधातुमलोज्झितम् ॥३०३॥

सुगन्धीकृतदिग्भागं शुभस्निग्धाणु निर्मितम् ।
निरौपम्यं च देवानां निसर्गेणास्ति सुन्दरम् ॥३०४॥

अर्थः—वैमानिक देवों के जगत् प्रिय एवं दिव्य समचतुरस्र नामक प्रथम संस्थान होता है। इनका वैक्रियक शरीर होता है, जो दिव्याकार वाला, अत्यन्त रमणीक, सप्त धातु रहित तथा मल से रहित होता है ॥३०३॥ देवों का शरीर स्वभावतः अति सुन्दर, उपमा रहित तथा दशों दिशाओं को सुगन्धित कर देने वाले सौरभ युक्त, शुभ एवं स्निग्ध परमाणुओं से निर्मित तथा उपमा रहित होता है ॥३०४॥

अब देवों की ऋद्धि आदि का तथा स्वर्गस्थ कल्पवृक्षों आदि का वर्णन करते हैं:-

अणिमादिगुणा अष्टौ विक्रियर्धिभवाः सदा ।
विश्वकार्यकराः सन्ति नाकिनां स्वर्गभूमिषु ॥३०५॥
गावः कामदुघाः सर्वे कल्पवृक्षाश्च पादपाः ।
स्वभावेन च रत्नानि चिन्तामणय एव हि ॥३०६॥

अर्थः—स्वर्गों में देवों का समस्त कार्य करने वाली विक्रिया ऋद्धि से उत्पन्न अणिमा आदि आठ ऋद्धियां हैं ॥३०५॥ तथा वहाँ स्वभावतः कामधेनु गायें हैं, वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, और रत्न-चिन्तामणि रत्न हैं ॥३०६॥

अब वैमानिक देवों का विशेष स्वरूप एवं उनके सुख का कथन करते हैं:—

नेत्रस्पन्दो न जात्वेषां न स्वेदो न मलादि च ।
नखकेशादिकं नैव न वार्धक्यं न रोगिता ॥३०७॥
निशादिनविभागो न विद्यते त्रिदशास्पदे ।
केवलं रत्नरश्म्योघैरुद्योतो वर्ततेतराम् ॥३०८॥
वर्षादिदुःखकृत्कालो नाश्नर्तुसंक्रमः ।
नानिष्टसंगमोऽमीषां नाल्पमृत्युर्न दीनता ॥३०९॥
किन्तु शर्मप्रदोऽस्त्येकः साम्यकालः सुधाभुजाम् ।
सम्पदो विविधा बह्व्यः सुखं वाचामगोचरम् ॥३१०॥

अर्थ:—स्वर्गों में देवों के नेत्रों का परिस्पन्दन नहीं होता । उनके न पसीना आता है, न मल मूत्र आदि होता है, न नख केश आदि बढ़ते हैं, न वृद्धापन आता है और न किसी प्रकार के रोग होते हैं ॥३०७॥ स्वर्गों में रात्रि दिन का विभाग नहीं है, वहाँ निरन्तर केवल रत्न की किरणों के समूहों का उद्योत होता रहता है ॥३०८॥ वहाँ पर वर्षा, आतप आदि दुःख के कारण भूत काल एवं ऋतु आदि का परिवर्तन नहीं होता । वहाँ न अनिष्ट वस्तुओं का संयोग होता है, न अल्पमृत्यु होती है और न दीनता है ॥३०९॥ किन्तु देवों के निरन्तर सुख प्रदान करने वाले काल का एक सदृश वर्तन होता है । वहाँ पर विविध प्रकार की विपुल सम्पदाएँ हैं, एवं वहाँ का सुख वचन अगोचर है ॥३१०॥

अब उत्पन्न होने के बाद देवगण क्या क्या विचार करते हैं, इसका प्रतिपादन करते हैं:—

तत्रोपपाददेशान्तर्मणिशय्यातले मृदौ ।
प्रागर्जितमहापुण्याल्लभन्ते जन्म वासवाः ॥३११॥

ततोऽन्तर्मुहूर्तेन प्राप्य सम्पूर्णयौवनम् ।
दिव्यमुत्थाय शय्यायाः सुप्तोत्थिता इवाशु ते ॥३१२॥

विलोक्य तन्महाभूतीः प्रणतामरमण्डलीः ।
साश्चर्यमानसाश्चित्ते चिन्तयन्तीति चात्मगम् ॥३१३॥

अहो ! केऽमी महादेशाः सुखसम्पत् कुलालयाः ।
के वयं केन पुण्येनानीता वात्र सुरास्पदे ॥३१४॥

विनीता के इमे देवा देव्य एता जगत्प्रियाः ।
कस्येमाः सम्पदः सारा विमानान्तर्गताः पराः ॥३१५॥

इत्यादि चिन्तमानानां तेषां साश्चर्यचेतसाम् ।
आगत्य सचिवा नत्वा पादाब्जान् ज्ञानचक्षुषः ॥३१६॥

पूर्वापर सुसम्बन्धं निगदन्ति मनोगतम् ।
तत्पूर्वार्जित पुण्यं च स्वर्लोकस्थितिमञ्जसा ॥३१७॥

अर्थः—वहाँ पर इन्द्र आदि देव पूर्वोर्जित महा पुण्योदय से उपपाद स्थानों में मणिमय कोमल उपपाद शय्या पर जन्म लेते हैं ॥३११॥ तथा जन्म लेने के अन्तर्मुहूर्त बाद ही पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त कर वे उस दिव्य शय्या पर से ऐसे उठते हैं जैसे मानों सो कर ही उठे हों ॥३१२॥ शय्या से उठते ही नम्रीभूत होती हुई देव मण्डली को और वहाँ की महाविभूति को देखकर मन में आश्चर्यान्वित होते हुये वे अपने मन में ऐसा चिन्तन करते हैं कि अहो ! सुख सम्पत्ति से युक्त यह कौनसा देश है ? मैं कौन हूँ, तथा किस पुण्योदय से मैं यहाँ स्वर्ग लोक में उत्पन्न हुआ हूँ । अर्थात् यहाँ लाया गया हूँ ॥३१३-३१४॥ नम्रीभूत होने वाले, जगत्प्रिय ये सब देव देवियाँ कौन हैं, एवं विमान स्थित यह समस्त विपुल तथा उत्कृष्ट सम्पत्ति किसको है ? ॥३१५॥ इत्यादि अनेक प्रकार का चिन्तन करने वाले और आश्चर्य युक्त चित्त वाले उन नवीन देवों के मनोगत भावों को अपने अवधिनेत्र से जान कर वहाँ स्थित प्रधान-मन्त्री आदि देव उनके समीप आकर तथा उनके चरणकमलों को नमस्कार

करके पूर्वोपार्जित पुण्य से स्वर्ग लोक में उत्पन्न होने की स्थिति एवं अन्य पूर्वापर सम्बन्ध आदि कह कर उन नवीन देवों के मनोगत सन्देह को दूर करते हैं ॥३१६-३१७॥

अब उत्पन्न होने वाले इन्द्रादि देव पूर्व भव में किये हुए धार्मिक अनुष्ठान आदि का और धर्म के फल का जो चिन्तन करते हैं, उसे कहते हैं:--

ततः तत्क्षणसञ्जाताखिलावधिबलेन तेऽखिलम् ।
ज्ञात्वा प्राग्जन्मधर्मस्य फलं चेति वदन्त्यपि ॥३१८॥

अहो ! पूर्वभवेऽस्माभिः कृतं घोरं महत्तपः ।
हता पञ्चाक्षचौराश्च स्मरवैरी निपातितः ॥३१९॥

मनो ध्यानेन संरुद्धं प्रमादा निर्जिता हृदि ।
कषायविषवृक्षाश्च छिन्नाः क्षमायुधेन च ॥३२०॥

जगत्सारा महादीक्षा पालिता जिनपुङ्गवाः ।
आराधिता जगन्नाथास्तद्वाक्ये निश्चयं कृतम् ॥३२१॥

सर्वं यत्नेन सद्धर्मो जिनोक्तो विश्वशर्मदः ।
अहिंसा लक्षणः सारैः क्षमादिलक्षणैर्युतः ॥३२२॥

इत्याद्यैः परमाचारैः सद्धर्मो यः पुराजितः ।
तेनोद्धृत्याप्यधःपालाद्वयं संस्थापिता इह ॥३२३॥

अतो धर्माद्विना नान्योऽत्रामुत्र सुहितं करः ।
किन्तु सद्धर्म एकोऽहो ! स्वर्गमुक्तिसुखप्रदः ॥३२४॥

नरकाद् धर्म उद्धृत्य नयेद्धर्मिणो दिवम् ।
सहगामी सतां धर्मो धर्मोऽचिन्त्यविभूतिदः ॥३२५॥

धर्मः कल्पद्रुमो विश्वसंकल्पितसुखप्रदः ।
धर्मश्चिन्तामणिश्चिन्तितार्थदो विश्वतर्पकः ॥३२६॥

धर्मो निधिर्जगत्सारो धर्मः कामदुघा नृणाम् ।
धर्मोऽसमगुणग्रामो धर्मः सर्वार्थसिद्धिदः ॥३२७॥

ईदृशोऽहो ! महान् धर्मो येन भुक्तेन चार्ज्यते ।
तत्रात्र सुलभं जातु स्वर्गिणां सुखभोगिनाम् ॥३२८॥

किन्तु स्वर्गे तपो वान्यो व्रतांशो नास्ति जातुचित् ।
केवलं दर्शनं स्याच्च पूजाभक्तिर्जिनेशिनाम् ॥३२९॥

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धास्तु श्रेयसे नो जगद्धिता ।
धर्ममूलार्हतां पूजाभक्तिस्तुतिः परा रुचिः ॥३३०॥

विचिन्त्येति ततः शक्रा ज्ञातधर्मफलोदयाः ।
धर्मसिद्ध्यै समुद्युक्ता व्रजन्ति स्नानवापिकाम् ॥३३१॥

अर्थः—अन्य देवों के द्वारा सम्बोधित किये जाने के क्षण (समय) ही उन्हें अवधि ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जिससे वे अपने समस्त पूर्व जन्म को जान कर धर्म का फल विचार करते हुये, इस प्रकार कहते हैं कि—अहो ! हमने पूर्व भव में महान एवं घोर तप किया । पंचेन्द्रिय रूपी चोरों को मारा है, तथा काम रूपी शत्रु को परास्त किया है ॥३१८-३१९॥ शुभ ध्यान के अवलम्बन से मन को हृदय में रोक कर प्रमाद को जर्जरित किया है । एवं क्षमा रूपी आयुध से कषाय रूपी विष वृक्ष को छिन्न किया है ॥३२०॥ जगत् में सारभूत महादीक्षा का यत्न पूर्वक पालन किया है, जिनेन्द्र भगवानों की आराधना की है और तीन लोक में सर्व श्रेष्ठ तीर्थंकरों के वचनों का श्रद्धान किया है ॥३२१॥ अहिंसा है लक्षण जिसका, जो सम्पूर्ण सुखों को देने वाला है ऐसे जिनेन्द्र द्वारा कथित समीचीन धर्म का मैंने पूर्ण प्रयत्न से उत्तम क्षमादि सारभूत लक्षणों द्वारा धारण किया है ॥३२२॥ इत्यादि प्रकार से परमोत्कृष्ट चारित्र आदि के द्वारा पूर्व भव में मैंने जो धर्म उपार्जन किया था, उसने मुझे दुर्गति के पतन से रोक कर इस देव लोक में स्थापित कर दिया है ॥३२३॥ इस लोक और परलोक में धर्म के बिना उत्तम हितकारी अन्य और कोई नहीं है । अहो ! एक समीचीन धर्म ही स्वर्ग एवं मोक्ष के सुखों को देने वाला है ॥३२४॥ विधर्मियों को भी यह धर्म नरक से निकाल कर स्वर्ग ले जाता है । सज्जनों के लिए धर्म ही सहयोगी है । धर्म अचिन्त्य विभूति देने वाला है ॥३२५॥ सम्पूर्ण वाञ्छित सुखों को प्रदान करने के लिए धर्म कल्पवृक्ष है, तथा सम्पूर्ण चिन्तित पदार्थों को प्रदान करने से धर्म ही चिन्तामणि रत्न है ॥३२६॥ जगत् में सारभूत निधि धर्म ही है । मनुष्यों के लिए धर्म ही कामधेनु है, धर्म ही अतुलगुणों का समूह है तथा सर्व अर्थों की सिद्धि प्रदान करने वाला एक धर्म ही है ॥३२७॥ अहो ! मनुष्य लोक में जिस उत्तम चारित्र से यह महान् धर्म उपार्जित किया था वह चारित्र सुख भोगने वाले इन स्वर्ग वासियों को कभी सुलभ नहीं है ॥३२८॥ किन्तु स्वर्गों में कदाचिद् भी तप व व्रतों का अंश नहीं है, यहां तो केवल सम्यग्दर्शन और जिनेन्द्र देवों की पूजा भक्ति मात्र है ॥३२९॥ इसलिए स्वर्गों में कल्याण का हेतु जगत् की हितकारक एक तत्त्वार्थ की श्रद्धा एवं धर्म का मूल अर्हन्तों की पूजा, भक्ति तथा स्तुति ही है ॥३३०॥ इस प्रकार चिन्तन करके

एवं इन्द्र आदि पदों को धर्म का फल जान कर धर्म सिद्धि के लिये उद्यत होते हुए स्नानवापिका की ओर स्नान हेतु जाते हैं ।।३३१।।

अब इन्द्रादि देवों के द्वारा की जाने वाली जिनेन्द्र पूजन का व्याख्यान करते हैं:—

तस्यां स्नात्वामरैः सार्धमुत्तमं श्रीजिनालयम् ।
स्फुरन्मणिमयं यान्ति धर्मरागरसोत्कटाः ।।३३२।।
तत्र नत्वोत्तमाङ्गेनार्हन्मूर्तीर्धर्मसत्खनीः ।
अर्चयन्ति महाभूत्या महाभक्त्या महोत्सवैः ।।३३३।।
मणिभृङ्गारनालान्तर्निर्गताच्छजलोत्करैः ।
दिव्यामोदनभोव्याप्तैर्जगत्सारैर्विलेपनैः ।।३३४।।
पुण्याङ्कुरसमैर्दीर्घैर्मुक्ताफलमयाक्षतैः ।
कल्पवृक्षोद्भवैः दिव्यैर्नानाकुसुमदामभिः ।।३३५।।
सुधापिण्डसुनैवेद्यै रत्नपात्रार्पितैः शुभैः ।
मणिदीपैर्हतध्वान्तैः सुगन्धिधूपसञ्चयैः ।।३३६।।
कल्पद्रुमफलैः सारैर्महापुण्यफलप्रदैः ।
दिव्यैश्चूर्णैश्च सद्गीतैर्नर्तनैः पुष्पवर्षणैः ।।३३७।।
ततः प्रस्तुत्य तीर्थेशान् सार्थैस्सद्गुणसूरिभिः ।
अर्जयित्वा परं पुण्यं ते गत्वा पूजयन्ति च ।।३३८।।
वनस्थचैत्यवृक्षेषु जिनेन्द्रप्रतिमाः पराः ।
स्नपयन्ति स्तुवन्त्येव प्रणमन्ति वृषाप्तये ।।३३९।।

अर्थ:—वापिकाओं में स्नान करके, धर्मराग रूपी उत्कट रस से भरे हुए वे इन्द्रादि देव अन्य देव समूहों के साथ देदीप्यमान मणिमय उत्तम जिनालयों में जाते हैं ।।३३२।। वहाँ जाकर धर्म की खान स्वरूप अर्हन्त प्रतिमाओं को उत्तमाङ्ग (सिर) से नमस्कार करके महाविभूति और अपूर्व भक्ति से महामहोत्सवों के द्वारा पूजा करते हैं ।।३३३।। मणिमय भृङ्गार की नाल के मुख से निकलते हुये स्वच्छ जल समूह से, अपनी सुवास से आकाश को व्याप्त करने वाले, तथा जगत् के सार स्वरूप दिव्य चन्दन के विलेपन से, पुण्य के अङ्कुर सदृश और दीर्घ मुक्ता फल सदृश उत्तम अक्षतों से, कल्प-वृक्षों से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के फूलों की मालाओं से, रत्नपात्रों में रखे हुए, कल्पवृक्षों से

उत्पन्न और अत्यन्त शुभ नैवेद्य से, अन्धकार को नष्ट करने वाले मणिमय दीपों से, सुगन्धित धूप समूह से, महापुण्य फल प्रदान करने वाले कल्पवृक्षों के सारभूत उत्तम फलों से, दिव्य चूर्ण से, उत्तम गीत, उत्तम नृत्य और पुष्पवृष्टि आदि से जिनेन्द्र देव की पूजा भक्ति करते हैं ।।३३४-३३७।। इसके बाद वे इन्द्र, देव समूहों के साथ तीर्थंकरों की स्तुति, पूजन द्वारा उत्कृष्ट पुण्य उपार्जन करके वहाँ से जाते हैं और वनों के मध्य चैत्यवृक्षों में स्थित उत्कृष्ट जिनेन्द्र प्रतिमाओं का धर्म प्राप्ति के लिये अभिषेक करते हैं, पूजन करते हैं, स्तुति करते हैं और नमस्कार करते हैं ।।३३८-३३९।।

अब मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि की पूजन के अभिप्राय का अन्तर दर्शा कर सम्यक्त्व प्राप्ति का हेतु कहते हैं:—

तत्रोत्पन्नाः सुरा दृष्टिहीनाद्यैः प्रबोधिताः ।
जिनागारे जिनेन्द्रार्चां कुर्वन्ति शुभकांक्षिणः ।।३४०।।
सम्यग्दृष्टयमरा भक्त्या जिनेन्द्रगुणरञ्जिताः ।
अर्चयन्ति जिनार्चादीन् कर्मक्षयाय केवलम् ।।३४१।।
निर्दर्शनाः सुराश्चित्ते मत्वा स्वकुलदेवताः ।
जिनमूर्तीर्विमानस्थाः पूजयन्ति शुभाप्तये ।।३४२।।
तत्रोत्पन्नामरांश्चान्ये बोधयन्ति सुदृष्टयः ।
धर्मोपदेशतत्त्वादि भावनैर्दर्शनाप्तये ।।३४३।।
केचित्तद् बोधनाच्छीघ्रं काललब्ध्या शुभाशयाः ।
गृह्णन्ति त्रिजगत्सारं सम्यक्त्वं भक्तिपूर्वकम् ।।३४४।।

अर्थ:—स्वर्गों में उत्पन्न होने वाले मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों द्वारा समझाये जाने पर पुण्य की वाञ्छा से जिन मन्दिरों में जाकर जिनेन्द्र भगवान की पूजन करते हैं ।।३४०।। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि देव वहाँ उत्पन्न होते हैं वे जिनेन्द्र भगवान् के गुणों में रञ्जायमान होते हुए कर्म क्षय के लिए भक्ति पूर्वक जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं ।।३४१।। मिथ्या दृष्टि देव अपने विमानों में स्थित जिनप्रतिमाओं को अपने मन में उन्हें कुलदेवता मान कर पुण्य की प्राप्ति के लिये पूजते हैं ।।३४२।। वहाँ उत्पन्न होने वाले मिथ्यादृष्टि देवों को अन्य सम्यग्दृष्टि देव सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु तत्त्व आदि के प्रतिपादन रूप धर्मोपदेश देते हैं, उनमें से कितने ही देव देशना प्राप्त करते ही काललब्धि से प्रेरित होकर शुद्ध चित्त होते हुए, त्रैलोक्य में सारभूत सम्यक्त्व को भक्ति पूर्वक शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं ।।३४३-३४४।।

अब अकृत्रिम-कृत्रिम जिन बिम्बों के पूजन-अर्चन का वर्णन करते हैं:—

नन्दीश्वरमहाद्वीपे नियमेन सुराधिपाः ।
वर्षमध्ये त्रिवारं च दिनाष्टावधिभूजितम् ॥३४५॥
महामहं प्रकुर्वन्ति भूत्या स्नानार्चनादिभिः ।
जिनालयेषु सर्वेषु प्रतिमारोपिताहंताम् ॥३४६॥
मेर्वादिविश्वशैलस्थाऽर्हन्मूर्तीस्तेऽर्चयन्ति च ।
गत्वा विमानमारुह्य चापराः कृत्रिमेतराः ॥३४७॥
पञ्चकल्याणकालेषु महापूजां जिनेशिनाम् ।
विभूत्या परया गत्वा भक्त्या कुर्वन्ति नाकिनः ॥३४८॥
स्थानस्था अहमिन्द्राश्च कल्याणपञ्चकेऽनिशम् ।
भक्त्याहंतः शिवप्राप्त्यै प्रणमन्ति स्तुवन्ति च ॥३४९॥
गणेशादीन् मुनीन् सर्वान् नमन्ति शिरसा सदा ।
निर्वाणक्षेत्रपूजादीन् भजन्तीन्द्राश्च सामराः ॥३५०॥
जिनेन्द्र श्री मुखोत्पन्नां वाणीं शृण्वन्ति ते सदा ।
तत्त्वगर्भां सुधर्माय परिवारविराजिताः ॥३५१॥

अर्थ:—सर्व देव समूहों से युक्त होकर इन्द्र नियम से वर्ष में तीन बार (आसाढ़, कार्तिक, फाल्गुन) नन्दीश्वर द्वीप जाते हैं और वहाँ के सर्व जिनालयों में स्थित अर्हन्त प्रतिमाओं की महाविभूति अष्ट-अष्ट दिन पर्यन्त अभिषेक आदि क्रियाओं के साथ साथ महामह पूजा करते हैं ॥३४५-३४६॥ अपने अपने विमानों पर आरोहण कर इन्द्र आदि देव मेरु आदि सर्व पर्वतों पर जाते हैं और वहां स्थित अकृत्रिम तथा कृत्रिम सर्व प्रतिमाओं की पूजा करते हैं ॥३४७॥ सर्व देव पञ्चकल्याणकों के समय जाते हैं, और वहाँ पर जाकर विपुल विभूति के साथ भक्ति से जिनेन्द्र देवों की पूजा करते हैं ॥३४८॥ पञ्चकल्याणकों के समय सर्व अहमिन्द्र अपने स्थानों पर स्थित रह कर ही कल्याण प्राप्ति के लिये अर्हन्त भगवान को भक्ति से प्रणाम करते हैं और अहर्निश उनकी स्तुति करते हैं ॥३४९॥ सर्व देवों के साथ इन्द्र, सर्व गणधरों को और मुनीश्वरों को निरन्तर सिर झुका कर नमस्कार करते हैं तथा निर्वाण आदि क्षेत्रों की पूजा करते हैं ॥३५०॥ इन्द्र सपरिवार समोशरण में जाकर उत्तम धर्म धारण हेतु श्री जिनेन्द्र भगवान के मुख से उत्पन्न तत्त्व और अर्थ से भरी हुई वाणी को निरन्तर सुनते हैं ॥३५१॥

अब उन इन्द्रादि देवों के इन्द्रिय जन्य सुखों का वर्णन करते हैं:—

इत्यादिविविधाचारैः शुभैः पुण्यं परं समम् ।
देवैः शक्राश्च देवीभिरर्जयन्ति सुखाकरम् ।।३५२।।
तत्पुण्यजनितान् भोगान् निरौपम्यान्निरन्तरम् ।
भुञ्जन्ति सहदेवीभिः समस्तेन्द्रियतृप्तिदान् ।।३५३।।
व्रजन्ति स्वेच्छया देवा असंख्यद्वीपवार्धिषु ।
सद् विमानं समारुह्य क्रीडाकामसुखाप्तये ।।३५४।।
देवोद्यानेषु सौधेषु नदीक्रीडाचलेषु च ।
स्वेच्छया स्वस्वदेवीभिः क्रीडां कुर्वन्ति नाकिनः ।।३५५।।
शृण्वन्ति मधुरं गीतं पश्यन्ति नर्तनं महत् ।
सुशृङ्गारं विलासं चाप्सरसां ते रसावहम् ।।३५६।।
इति नाना विनोदाद्यैः परमाह्लादकारणम् ।
प्रतिक्षणं परं सौख्यं लभन्ते नाकिनोऽनिशम् ।।३५७।।
दीर्घकालं निराबाधं यत्सुखं स्वर्गिणां भवेत् ।
केवलं तच्च तेषां स्यान्नान्येषां हि च्युतोपमम् ।।३५८।।

अर्थः—इस प्रकार स्वर्ग स्थित इन्द्र अनेक देव और देवियों के साथ अनेक प्रकार के शुभ आचरणों द्वारा सुख की खान स्वरूप उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करते हैं ।।३५२।। उस पुण्य फल से उत्पन्न समस्त इन्द्रियों को तृप्त करने वाले अनुपम भोगों को देवियों के साथ साथ निरन्तर भोगते हैं ।।३५३।। सभी देव अपनी इच्छा से उत्तम विमानों में आरूढ़ होकर काम क्रीड़ा रूप सुख प्राप्ति के लिए असंख्यात द्वीप समुद्रों में जाते हैं ।।३५४।। स्वर्ग स्थित देव अपनी अपनी देवांगनाओं के साथ स्वइच्छानुसार उद्यानों में, महलों में, नदियों में एवं कुलाचलों पर क्रीड़ा करते हैं ।।३५५।। एवं वे देव कभी अप्सराओं के मधुर गीत सुनते हैं, कभी सुन्दर नृत्य देखते हैं, और काम रस को उत्पन्न करने वालीं नाना प्रकार के शृङ्गार एवं विलास पूर्ण क्रियाएँ करते हैं ।।३५६।। इस प्रकार देव परम आल्हाद उत्पन्न करने वालीं नाना प्रकार की विनोद पूर्ण क्रियाओं द्वारा प्रतिक्षण निरन्तर परम सुखों को भोगते हैं ।।३५७।। दीर्घ काल तक निराबाध और अनुपम, जो सुख स्वर्गवासी देवों को प्राप्त होता है, वह सुख मात्र उन्हीं देवों को ही है, वैसा सुख अन्य किसी को भी प्राप्त नहीं है ।।३५८।।

अब उत्तम मनुष्य किन किन क्रियाओं के द्वारा स्वर्ग आदि सुखों को प्राप्त करते हैं, उसका वर्णन किया जाता है:—

ये तपश्चरणोद्युक्ता रत्नत्रयधनेश्वराः ।
व्रतशीलमहाभूषाः सदाचाराः शुभाशयाः ।।३५९।।
जिनधर्मरता नित्यं जिनधर्मप्रभावकाः ।
जिनधर्मकरा ये च जिनधर्मोपदेशकाः ।।३६०।।
जिनाङ्घ्रिपूजका येऽत्र जिनभक्ता विवेकिनः ।
जिनवाणीसमासक्ता जिनसद्गुणरञ्जिताः ।।३६१।।
धर्मिणां वत्सला दक्षा धर्मवात्सल्यकारिणः ।
धर्मे साहाय्यकर्तारोऽन्येषां धर्मे च प्रेरकाः ।।३६२।।
धर्मकार्योद्यता ये च पापकार्ये पराङ्मुखाः ।
सच्छीलाः शुभध्याना जितेन्द्रिया जिताशयाः ।।३६३।।
निर्मदा निरहङ्कारा बुधा मन्दकषायिणः ।
निर्लोभाः शुभलेश्याढ्या विचारचतुराश्च ये ।।३६४।।
धर्मशुक्लशुभध्यान परा दुर्ध्यान दूरगाः ।
अग्रगा धर्मकार्ये च ये सर्वत्र हितोद्यताः ।।३६५।।
इत्याद्यन्यैः शुभाचारैर्भूषिता ये नरोत्तमाः ।
ते सर्वे धर्मपाकेन प्राणान्मुक्त्वा समाधिना ।।३६६।।
सौधर्मभुख्यसर्वार्थसिद्धिपर्यन्तमञ्जसा ।
व्रजन्ति स्वतपो योग्यं लभन्ते चेन्द्रसत्पदम् ।।३६७।।

अर्थ:—जो निरन्तर दुद्धर तप तपते हैं, रत्नत्रय धन के स्वामी हैं, व्रत एवं शील से विभूषित हैं, सदाचारी हैं, जिनके चित्त शुभाशय से युक्त हैं, निरन्तर जिनधर्म में रत रहते हैं, जिनधर्म की प्रभावना करने वाले हैं, जिन धर्म का उद्योत करने वाले हैं और जो जिन धर्म के उपदेशक हैं ।।३५९-३६०।। जो यहाँ जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों की पूजा करते हैं, जिन भक्त हैं, विवेकी हैं, जिन-वाणी में जिनका चित्त आसक्त रहता है, जिनका मन जिनेन्द्र के गुणों में रञ्जायमान रहता है, जो धर्मात्माओं से अत्यन्त प्रीति रखते हैं, धर्म कार्यों में दक्ष हैं, धर्म एवं धर्मात्माओं में वात्सल्य भाव

रखते हैं, धर्म कार्यों में निरन्तर सहायता करते रहते हैं और अन्य जीवों को भी धर्म कार्यों की प्रेरणा देते रहते हैं ।।३६१-३६२।। जो मनुष्य निरन्तर धर्मकार्य में उद्यत रहते हैं और पाप कार्यों से पराङ्मुख हैं, संसार से भयभीत, शुभ ध्यानों में तत्पर, जितेन्द्रिय, विषय कषायों को जीतने वाले, गर्व रहित, अहंकार रहित, ज्ञानी, मन्दकषायी, निर्लोभी, शुभलेश्याओं से युक्त और सद् विचारों में चतुर होते हैं ।।३६३-३६४।। धर्म शुक्ल रूप उत्कृष्ट शुभ ध्यानों में तत्पर, खोटे ध्यानों से दूर रहते हैं, धर्म कार्यों में अग्रसर एवं सर्वत्र सर्व जीवों के हित में उद्यत रहते हैं । इत्यादि प्रकार से तथा और भी अन्य शुभाचारों से जो मनुष्य विभूषित हैं, वे सब नरोत्तम समाधिपूर्वक प्राणों को छोड़कर धर्म के फल से सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थ सिद्धि पर्यन्त जाते हैं तथा अपने अपने तप की योग्यता के बल से इन्द्रादि के उत्कृष्ट पदों को प्राप्त करते हैं ।।३६५-३६७।।

अब कौन कौन से जीव किन किन स्वर्गों तक उत्पन्न होते हैं, इसका विवेचन करते हैं:—

भोगभूमिभवा आर्याः सम्यक्त्वधारिणो हि ये ।
सौधर्मैशानकल्पौ ते यान्ति दृष्टिवृषोदयात् ।।३६८।।

भोगभूमिसमुत्पन्ना ये दृष्टिविकला नराः ।
भावनादित्रये तेऽतः व्रजन्ति भोगकांक्षिणः ।।३६९।।

अज्ञानकष्टपाकेन भद्रा गच्छन्ति तापसाः ।
आज्योतिर्लोक पर्यन्तं न स्वर्गं स्वल्पपुण्यतः ।।३७०।।

ये परिव्राजकास्तेऽत्र स्वोत्कृष्टाचरणेन च ।
यान्ति ब्रह्मोत्तरं स्वर्गं यावद् भौमादिपूर्वकम् ।।३७१।।

भद्रा आजीवका दीर्घायुषः कुवेषधारिणः ।
उत्कृष्टेन सहस्रारपर्यन्तं यान्ति तद् व्रतैः ।।३७२।।

इतः परं भवेज्जातु गमनं नान्यलिङ्गिनाम् ।
श्रावका आर्यिका नार्यस्तिर्यञ्चो व्रतभूषिताः ।।३७३।।

उत्कृष्टेन च गच्छन्ति स्वोत्कृष्टाचरणोद्यताः ।
अच्युतस्वर्गपर्यन्तमुत्कृष्टश्रावकव्रतैः ।।३७४।।

उत्कृष्टेन तपोवृत्तैरभव्या द्रव्यलिङ्गिनः ।
चिरायुषो व्रजन्त्यूर्ध्वं यावद्ग्रैवेयकान्तिमम् ।।३७५।।

ततः परं प्रगच्छन्ति स्वोत्कृष्टसत्तपोयमैः ।
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तं मुनयो भावलिङ्गिनः ॥३७६॥

अर्थः—भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि आर्य मरण कर सम्यग्दर्शन एवं धर्म के प्रसाद से सौधर्मैशान कल्प पर्यन्त उत्पन्न होते हैं ॥३६८॥ तथा भोगभूमि में उत्पन्न एवं भोगों की आकांक्षा रखने वाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य, भवनवासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होते हैं ॥३६९॥ अज्ञान से अनेक प्रकार के कष्ट जिसमें हैं ऐसा तप तपने वाले भद्र तापसी मरण कर भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं। अल्प पुण्य के कारण स्वर्ग नहीं जाते ॥३७०॥ जो परिव्राजक हैं, वे अपने उत्कृष्ट तपश्चरण द्वारा भवनत्रिक से ब्रह्मोत्तर स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं ॥३७१॥ भद्र, दीर्घायु और कुवेषधारी आजीवक नाम के तापसी काय क्लेश आदि तपों के द्वारा उत्कृष्ट से सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त जाते हैं ॥३७२॥ सहस्रार स्वर्ग से ऊपर कुलिंगवेषधारी जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। अपने अपने उत्कृष्ट चारित्र में उद्यम करने वाले श्रावक, आर्यिकाएँ व्रती स्त्रियाँ और व्रत से विभूषित तिर्यञ्च उत्कृष्ट श्रावक व्रतों के द्वारा उत्कृष्टतः सोलह स्वर्ग पर्यन्त जाते हैं ॥३७३–३७४॥ दीर्घायु द्रव्यलिङ्गी मुनि और अभव्य जीव उत्कृष्ट रीति से पालन किये हुए तप और व्रताचरण के द्वारा नवग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं ॥३७५॥ सर्वोत्कृष्ट व्रत और तपश्चरण के द्वारा भावलिङ्गी मुनिराज सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जाते हैं ॥३७६॥

अब स्वर्गों से च्युत होने वाले देवों को प्राप्त गति का निर्धारण करते हैं:—

सौधर्मेन्द्रस्य हृष्टप्राप्ता महादेव्यो दिवश्च्युताः ।
सर्वे च दक्षिणेन्द्रा हि चत्वारो लोकपालकाः ॥३७७॥

सर्वे लौकान्तिका दिव्ये सर्वार्थसिद्धिजामराः ।
निर्वाणं ह्यता यान्ति संप्राप्य नृभवं शुभम् ॥३७८॥

नवानुत्तरजा देवाः पञ्चानुत्तरवासिनः ।
ततश्च्युत्वा न जायन्ते वासुदेवा न तद्द्विषः ॥३७९॥

तिर्यञ्चो मानवाः सर्वे भावनादि त्रिजामराः ।
शलाकापुरुषा जातु न भवन्त्यमरार्चिताः ॥३८०॥

विजयादिविमानेभ्योऽहमिन्द्रा एत्य भूतलम् ।
मर्त्यजन्मद्वयं प्राप्य ध्रुवं गच्छन्ति निर्वृतिम् ॥३८१॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन को धारण करने वाली सौधर्म इन्द्र की महादेवी, सर्व दक्षिणेन्द्र, चारों लोकपाल, सर्व लौकान्तिक देव और सर्वार्थसिद्धि के सर्व देव स्वर्ग पर्याय से च्युत होकर उत्तम मनुष्य भव प्राप्त करते हैं और फिर उत्कृष्ट तप से विभूषित होते हुए नियम पूर्वक उसी भव से मोक्ष जाते हैं।।३७७-३७८।। (सर्वार्थसिद्धि को छोड़ कर) पञ्चपंचोत्तर और नव अनुदिश वासी देव स्वर्ग से च्युत होकर नारायण एवं प्रतिनारायण नहीं होते ।।३७९।। सर्व मनुष्य, सर्व तिर्यञ्च और सर्व भवनत्रिकवासी देव अपनी अपनी पर्यायों से मरण कर देवों द्वारा पूजित शलाका पुरुषों में कभी भी उत्पन्न नहीं होते ।।३८०।। विजयादि विमानों से च्युत होकर भूतल पर आये हुए अहमिन्द्र मनुष्य के दो भव लेकर नियम से मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ।।३८१।।

अब स्वर्ग स्थित मिथ्यादृष्टि देवों के मरण चिह्न, उससे होने वाला आर्त्तध्यान और उस आर्त्तध्यान के फल का निरूपण करते हैं:—

यदावतिष्ठतेऽल्पायुः शेषं षण्मासगोचरम् ।
देवानां च तदा स्वाङ्गकान्तिर्गच्छति मन्दताम् ।।३८२।।
उरःस्थपुष्पसन्माला म्लानतां यान्ति दुर्विधेः ।
मणयो भूषणानां हि तेजसा मन्दतां तथा ।।३८३।।
एतानि मृत्युचिह्नानि वीक्ष्य कुदृष्टि निर्जराः ।
इति शोकं प्रकुर्वन्तीष्टवियोगार्तमानसाः ।।३८४।।
हा ! ईदृशीर्जगत्सारा विमुच्य स्वर्गसम्पदः ।
नोऽवतारोऽशुभे निन्द्ये स्त्रीदुर्गर्भे भविष्यति ।।३८५।।
अधोमुखेन तत्राहो ! गर्भे विष्टाकृमाकुले ।
दुस्सहा वेदना स्माभिः सोढव्या सुचिरं कथम् ।।३८६।।
इत्यार्तध्यानपापेन दिवश्च्युत्वा कुदृष्टयः ।
भावनाद्वित्रयस्थाश्च सौधर्मैशानवासिनः ।।३८७।।
भवन्ति बादराः पर्याप्ताः पृथ्व्यप्कायिका भुवि ।
तथा वनस्पतिप्रत्येककायिकाः सुखातिगाः ।।३८८।।
आसहस्रारकल्पस्थाः केचित्प्रच्युत्य नाकतः ।
आर्त्तध्यानेन जायन्ते दुःखिनः कर्मभूमिषु ।।३८९।।

पञ्चेन्द्रियाश्च पर्याप्तास्तिर्यञ्चो वा नरोऽपरे ।
ततः परं दिवश्च्युत्वानतकल्पादिवासिनः ॥३६०॥
कर्मभूमौ मनुष्यत्वं लभन्ते केवलं शुभम् ।
तिर्यक्त्वं जातु नामीषां तीव्रार्त्ताद्यभावतः ॥३६१॥

अर्थः—जब सर्व देवों की छह मास पर्यन्त की अल्पायु अवशेष रह जाती है, तब उनके शरीर की कान्ति मन्द हो जाती है। दुर्विपाक से गले में स्थित उत्तम पुष्पों की माला म्लान हो जाती है और मणिमय आभूषणों का तेज मन्द हो जाता है ॥३८२-३८३॥ इस प्रकार के मृत्यु चिह्न देख कर मिथ्यादृष्टि देव अपने मन में इष्ट वियोग आर्त्तध्यान रूप इस प्रकार का शोक करते हैं कि—हाय ! संसार की सारभूत स्वर्ग की इस प्रकार की सम्पत्ति छोड़ कर अब हमारा अवतरण स्त्री के अशुभ, निन्द्यनीय और कुत्सित गर्भ में होगा ? ॥३८४-३८५॥ अहो ! विष्ठा और कृमि आदि से व्याप्त उस गर्भ में दीर्घ काल तक अधोमुख पड़े रहने की वह दुस्सह वेदना हमारे द्वारा कैसे सहन की जायगी ? ॥३८६॥ इस प्रकार के आर्त्तध्यान रूप पाप से भवनत्रिक और सौधर्मैशान कल्प में स्थित मिथ्यादृष्टि देव स्वर्ग से च्युत होकर तिर्यग्लोक में दुःखों से युक्त बादर, पर्याप्त, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, और प्रत्येक वनस्पति कायिक जीवों में जन्म लेते हैं (जहां गर्भ का दुःख नहीं होता) ॥३८७-३८८॥ सहस्रार कल्प पर्यन्त के मिथ्यादृष्टि देव स्वर्ग से च्युत होकर आर्त्तध्यान के कारण पन्द्रह कर्मभूमियों में, दुःखों से युक्त पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक तिर्यञ्च एवं मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। आनत आदि चार कल्पों के एवं नवग्रैवेयकों के मिथ्यादृष्टि देव स्वर्ग से च्युत होकर कर्मभूमियों में उत्तम मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। इन स्वर्गों में तीव्र आर्त्तध्यान का अभाव है, अतः यहां के मिथ्यादृष्टि देव तिर्यञ्च योनि में कभी भी उत्पन्न नहीं होते ॥३८९-३९१॥

अब मरण चिह्नों को देख कर सम्यग्दृष्टि देव क्या चिन्तन करते हैं, और उसका उन्हें क्या फल मिलता है ? इसे कहते हैं:—

मृत्युचिन्हानि वीक्ष्यान्ते सम्यग्दृष्टिसुरोत्तमाः ।
दक्षाः कालुष्यनाशायेमं विचारं प्रकुर्वते ॥३९२॥
शक्राणामपि चात्राहो न मनाग्नियमं व्रतम् ।
न तपो न च सद्ध्यानं न शिवं शाश्वतं सुखम् ॥३९३॥
किन्तु मर्त्यभवेनृणां तपोरत्नत्रयादयः ।
व्रतशीलानि सर्वाणि जायन्ते च शिवादिकाः ॥३९४॥

अतोऽद्याद्भुतपुण्येन नृभवं प्राप्य सत्कुलम् ।
साधनीयं किलास्माभिर्मोक्षोऽनन्तसुखाकरः ॥३९५॥

इत्थं विचार्य सद्देवा विधाय विविधार्चनाम् ।
अर्हतां मरणान्ते च चित्तं कृत्वाति निश्चलम् ॥३९६॥

ध्यायन्तः कुड्मलीकृत्य स्वकरौ परमेष्ठिनाम् ।
नमस्कारान् परान् पञ्चेहामुत्र स्वेष्टसिद्धिदान् ॥३९७॥

तिष्ठन्ति पुण्यसत्क्षेत्रे तदामीषां वपूंषि च ।
अभ्राणीव विलीयन्ते सहसा स्वायुषि क्षये ॥३९८॥

ततस्ते दृग्विशुद्धयाप्ता देवास्तत्पुण्यपाकतः ।
तीर्थेशविभवं केचिल्लभन्ते विश्ववन्दितम् ॥३९९॥

केचिच्चक्रिपदं चान्ये बल-कामादिसत्पदम् ।
नृभवे सुकुलं केचिद्धनाढ्यं धर्मकारणम् ॥४००॥

अर्थः—हिताहित के विचार में दक्ष सम्यग्दृष्टि उत्तम देव मानसिक कलुषता को दूर करने के लिए इस प्रकार विचार करते हैं कि—अहो ! यहाँ स्वर्गों में इन्द्रों के भी न किञ्चित यम, नियम हैं और न तप है और न दान आदि हैं, और तप आदि के बिना मोक्ष रूप शाश्वत सुख की प्राप्ति हो नहीं सकती, किन्तु मनुष्य भव में मनुष्यों को मोक्ष के साधन भूत तप, रत्नत्रय, व्रत एवं शील आदि सभी प्राप्त हो जाते हैं, अतः आज अद्भुत पुण्यपरिपाक से हम लोगों को मनुष्य भव और उत्तम कुल की प्राप्ति हो रही है, उसे प्राप्त कर हम लोग अनन्त सुख की खान स्वरूप मोक्ष का साधन करेंगे ॥३९२–३९५॥ इस प्रकार के विचार कर उत्तम देव नाना प्रकार से अर्हन्त देव की पूजन करके मरण के अन्तिम समय में अपने चित्त को अत्यन्त निश्चल करते हुए अपने दोनों हाथ जोड़ कर पंच परमेष्ठियों का ध्यान करते हैं तथा इस लोक और परलोक में आत्म सिद्धि देने वाला नमस्कार करते हैं ॥३९६–३९७॥ मरण वेला में किसी पुण्य रूप उत्तम क्षेत्र में जाकर बैठ जाते हैं, वहाँ आयु क्षय होते ही उन देवों का शरीर मेघों के सदृश शीघ्र ही विलीन हो जाता है ॥३९८॥ शुद्ध सम्यक्त्व को धारण करने वाले वे उत्तम देव वहाँ से चय कर कोई तो पुण्य प्रभाव से विश्ववन्दनीय तीर्थंकर के वैभव को प्राप्त करते हैं, कोई चक्रवर्ती पद को कोई बलदेव पद और कोई कामदेव आदि के उत्तम पद प्राप्त करते हैं, एवं कोई कोई देव मनुष्य भव तथा उत्तम कुल में धर्म के कारणभूत अति धनाढ्य होते हैं ॥३९९–४००॥

अब धर्म के फल का प्रतिपादन करते हुए आचार्य व्रत तप आदि धारण करने को प्रेरणा देते हैं:--

इत्थं धर्मविपाकतश्च विबुधाः स्वर्गेषु नानाविधं ।
सत्सौख्यं चिरकालमक्षजमहो ! भुञ्जंति बाधातिगम् ।
ज्ञात्वेतीह बुधाः प्रयत्नमनसा सारैस्तपः सद्व्रतै-
र्धर्मैकं चरतानिशं किमपरैर्व्यर्थैश्चवाग्डम्बरैः ॥४०१॥

अर्थः—अहो ! इस प्रकार विवेकी जीव धर्म के फल से स्वर्गों में चिरकाल तक नाना प्रकार के बाधा रहित इन्द्रिय जन्य उत्तम सुख भोगते हैं। ऐसा जान कर विद्वानों को, मनुष्य भव में सार भूत उत्तम तप और उत्तम व्रतों के द्वारा निरन्तर मनोयोग पूर्वक एक धर्म के आचरण में ही प्रयत्न करना चाहिये, व्यर्थ के अन्य वचन आडम्बरों से क्या ? ॥४०१॥

धर्म की महिमा:--

धर्मः स्वर्गगृहाङ्गणः सुखनिधिर्धर्मः शिवश्रीप्रदो ।
धर्मःस्वेष्टसमीहितार्थजनको धर्मोगुणाब्धिर्महान् ॥
धर्मो धर्मविधायिनां द्विसुगतो नाना सुभोगप्रद-
स्तत्किं यन्न ददाति किं तु कुरुते स्वस्यांस्त्रिलोकीपतीन् ॥४०२॥

अर्थः—धर्म से स्वर्ग लोक गृह का आंगन हो जाता है, धर्म सुख की निधि और मोक्ष लक्ष्मी को देने वाला है, धर्म अपने इष्ट एवं चिन्तित पदार्थों का जनक है धर्म गुणों का सागर है, धर्म धारण करने वाले जीवों को धर्म उत्तम भोग प्रदायी स्वर्ग और मनुष्य गति देता है, धर्म केवल इतना ही नहीं देता किन्तु अष्ट कर्मों को नष्ट करके धर्म त्रैलोक्य पति पद अर्थात् मोक्ष पद को भी दे देता है ॥४०२॥

अधिकारान्त मङ्गलाचरण:--

धर्मं येऽत्र सृजन्ति तीर्थपतयो धर्माच्छिवं ये गताः ।
धर्मं ये गणिनो दिशन्ति मुनयस्तिष्ठन्ति धर्माप्तये ॥
ये स्वर्गादिजगत्सुचैत्यनिलया धर्मस्य सद्धेतवः
तीर्थेशप्रतिमादयः प्रतिदिनं वन्देऽखिलांस्तान् स्तुवे ॥४०३॥

॥ इति श्री सिद्धान्तसार दीपक महाग्रन्थे भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचिते
स्वर्गाद्यूर्ध्वलोक वर्णनोनाम पञ्चदशाधिकारः ॥

अर्थः—जो तीर्थंकर देव यहाँ धर्म के सृजन करने वाले थे, वे धर्म से ही मोक्ष गये हैं। उन सबको, धर्म में स्थित आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं को, स्वर्ग आदि में स्थित धर्म के साधनभूत उत्तम जिनमन्दिरों को और लोक में जितनी भी तीर्थंकर आदि की प्रतिमाएँ हैं, उन सबको मैं प्रतिदिन नमस्कार करता हूँ और उन सबकी स्तुति करता हूँ ॥४०३॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसार दीपक
नाम महाग्रन्थ में ऊर्ध्वलोक का प्ररूपण करने वाला
पन्द्रहवाँ अधिकार समाप्त ॥

षोडशोऽधिकारः

मङ्गलाचरण:—

अथ सिद्धप्रजानत्वा त्रिजगन्मूर्द्ध्निसंस्थितम् ।
सिद्धक्षेत्रं प्रवक्ष्यामि सतां वन्द्यं तदाप्तये ॥१॥

अर्थ:—अब सिद्धों के समूह को नमस्कार कर तीनों लोकों के मस्तक पर स्थित तथा सज्जनों के वन्दनीक सिद्ध क्षेत्र का कथन उसकी प्राप्ति के हेतु करूँगा ॥१॥

अब अष्टम पृथिवी की अवस्थिति और उसका प्रमाण कहते हैं:—

सर्वार्थसिद्धितो गत्वाप्यूर्ध्वंद्वादशयोजनैः ।
त्रैलोक्यमस्तके तिष्ठेत् महती वसुधाऽष्टमी ॥२॥
दक्षिणोत्तरदीर्घाङ्गा सप्तरज्जुभिर्ऊर्जिता ।
पूर्वापरेण रज्ज्वेकव्यासा स्थूलाष्टयोजनैः ॥३॥

अर्थ:—सर्वार्थसिद्धि से बारह योजन (४८००० मील) ऊपर जाकर त्रैलोक्य के मस्तक पर ईषत्प्राग्भार नामकी श्रेष्ठ अष्टमी पृथ्वी अवस्थित है ॥२॥ उस अष्टम पृथिवी की दक्षिणोत्तर लम्बाई सात राजू प्रमाण, पूर्व पश्चिम चौड़ाई एक राजू एवं मोटाई आठ योजन प्रमाण है ॥३॥

अब सिद्ध शिला की अवस्थिति, आकार एवं उसका प्रमाण आदि कहते हैं:—

तन्मध्ये रजतच्छाया दिव्या मोक्षशिला शुभा ।
उत्तानगोलकार्धेन समाना दीप्तिशालिनी ॥४॥
नृक्षेत्रसमविस्तीर्णा छत्राकारा विमात्यलम् ।
मध्येऽष्टयोजनस्थूला कृशान्ते क्रमहानितः ॥५॥

अर्थ:—ईषत्-प्राग्भार पृथ्वी के ठीक मध्य में रजतमय, दिव्य, सुन्दर, देदीप्यमान और ऊँचे रखे हुए अर्ध गोले के सदृश मोक्षशिला है। यह अत्यन्त प्रभायुक्त छत्राकार और मनुष्य लोक के सदृश

(४५ लाख योजन) विस्तार वाली है। इस शिला की मध्य की मोटाई आठ योजन है आगे अन्त पर्यन्त क्रमशः हीन होती गई है ।।४-५।।

अब सिद्ध भगवान् का स्वरूप कहते हैं:—

तस्यां सिद्धा जगद्वन्द्यास्तनुवातान्तमस्तकाः ।
अनन्तसुखसंलीना नित्याष्टगुणभूषिताः ।।६।।
कायोत्सर्गममाः केचित् पर्यङ्कासन सन्निभाः ।
केचिच्च विविधाकारा अमूर्ता ज्ञानदेहिनः ।।७।।
गतसिक्थकमूषायां आकाशाकारधारिणः ।
प्राक्कायायामविस्तार त्रिभागोनप्रदेशकाः ।।८।।
लोकोत्तमाः शरण्याश्च मङ्गलविश्वकारकाः ।
अनन्तकालमात्मात्मस्तिष्ठन्त्यन्तातिगाः सदा ।।९।।
इमे सिद्धा मया ध्येया वन्द्या विश्वमुनीश्वरैः ।
स्तुताश्च मम कुर्वन्तु स्वगतिं स्वगुणैः समम् ।।१०।।

अर्थः—तनुवातवलय के अन्त में हैं मस्तक जिनके ऐसे त्रिजगद्वन्दनीय, अनन्त सुख में निमग्न और नित्य ही अष्ट गुणों से विभूषित सिद्ध परमेष्ठी उस सिद्ध शिला से ऊपर अवस्थित हैं ।।६।। ज्ञान ही है शरीर जिनका ऐसे वे अमूर्तिक सिद्ध कोई कायोत्सर्ग से और कोई पद्मासन से नाना प्रकार के आकारों से अवस्थित हैं ।।७।। पुरुषाकार मोम रहित सांचे में जिस प्रकार आकाश पुरुषाकार को धारण करके रहता है, उसी प्रकार पूर्व शरीर के आयाम एवं विस्तार में से एक त्रिभाग कम पुरुषाकार प्रदेशों से युक्त, लोकोत्तम स्वरूप, शरण स्वरूप और समस्त विश्व को मंगल स्वरूप सिद्ध भगवान् अन्तरहित अनन्तकाल पर्यन्त अपनी आत्मा में ही रहते हैं ।।८-९।। इस प्रकार के सिद्ध भगवान् विश्व के समस्त अरहंतों और मुनीश्वरों के द्वारा वन्द्य तथा स्तुत्य हैं, मैं भी उनका ध्यान करता हूँ, वे मुझे अपने गुणों के सदृश अपनी सिद्ध गति प्रदान करें ।।१०।।

अब सिद्धों के सुखों का वर्णन करते हैं—

इन्द्राहमिन्द्रदेवानां चक्रवर्त्यादिभूभुजाम् ।
भोगभूमिभवार्याणां सर्वेषां व्योमगामिनाम् ।।११।।

भूतं भावि सुखं सर्वं वर्तमानं जगत्त्रये ।
यदेकत्रीकृतं स्याच्च विषयोत्थत्रिकालजम् ॥१२॥

तस्मादक्षसुखात्कृत्स्नादनन्तगुणितं सुखम् ।
एकेन समयेनैव सिद्धा भुञ्जन्ति शाश्वतम् ॥१३॥

स्वात्मोपादानसञ्जातं वृद्धिह्रासोज्झितं परम् ।
परद्रव्य निरपेक्षं समस्तोत्कृष्टमञ्जसा ॥१४॥

निराबाधं निरौपम्यं दुःखदूरं सुखोद्भवम् ।
प्रत्यक्षमतुलं सारं विश्वशर्मप्रसंस्थितम् ॥१५॥

अर्थः—तीनों लोकों में चतुर्निकाय के सर्व देवों, इन्द्रों, अहमिन्द्रों, पदवीधारी चक्रवर्ती आदि सर्व राजाओं, भोगभूमिज युगलों और सर्व विद्याधरों के भूत, भविष्यत, वर्तमान के सर्व सुख को एकत्र कर लेने पर भी त्रिकालज विषयों से उत्पन्न होने वाले इस इन्द्रिय जन्य समस्त सुखों से (विभिन्न जाति का) अनन्तानन्त गुणा शाश्वत एवं अतीन्द्रिय सुख सिद्ध परमेष्ठी एक समय में भोगते हैं ॥११-१३॥ लोक के अग्र भाग में स्थित सिद्ध परमेष्ठी अपनी आत्मा के उपादान से उत्पन्न, वृद्धिह्रास से रहित, पर द्रव्यों से निरपेक्ष, सर्व सुखों में सर्वोत्कृष्ट, बाधा रहित, उपमा रहित, दुःख रहित, अतीन्द्रिय, अनुपम सुख से उत्पन्न और समस्त सुखों में जो सारभूत है, ऐसे सुख का उपभोग निरन्तर करते हैं ॥१४-१५॥

अब अधोलोक जन्य प्रत्येक भूमियों का भिन्न भिन्न घन फल कहते हैं:—

अथ पूर्वोक्तलोकस्य घनाकारेण रज्जुभिः ।
अधोमध्योर्ध्वभागेषु पृथक् संख्या निगद्यते ॥१६॥

रत्नप्रभामहीभागे रज्जवो दशसम्मिताः ।
शर्कराश्वभ्रभूदेशे रज्जवः षोडशप्रमाः ॥१७॥

वालुका भूतलेद्वाविंशति संख्याश्च रज्जवः ।
पङ्कप्रभावनिक्षेत्रे ह्यष्टाविंशति रज्जवः ॥१८॥

धूमप्रभाखिलो रज्जवः चतुस्त्रिंशदञ्जसा ।
तमःप्रभाखिलेक्षेत्रे चत्वारिंशच्च रज्जवः ॥१९॥

महातमः प्रभान्ते षड्चत्वारिंशच्च रज्जवः ।
इत्यधोलोकरज्जूनां षण्णवत्यधिकं शतम् ॥२०॥

अर्थः—अब सिद्धों के सुखों का वर्णन करने के बाद पूर्व में जो लोक का ३४३ घन राजू क्षेत्र-फल कहा गया था, उसी को अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक इन तीन भागों में विभाजित करके अधोलोक सम्बन्धी प्रत्येक पृथ्वी के घनफल की पृथक् पृथक् संख्या कहते हैं ॥१६॥ रत्नप्रभा पृथिवी (उपरिम प्रथम भाग) का घन फल १० घन राजू प्रमाण है । शर्करा पृथ्वी (द्वितीय भाग) का १६ घन राजू प्रमाण, बालुका प्रभा (तृतीय भाग) का २२ घन राजू, पङ्क प्रभा (चतुर्थ भाग) का २८ घन राजू, धूम प्रभा (पंचम भाग) का ३४ घन राजू, तमः प्रभा (षष्ठ भाग) का ४० घन राजू और महातमः प्रभा पृथ्वी (सप्तम भाग) का घन फल ४६ घन राजू प्रमाण है । इस प्रकार अधोलोक का सर्व घन फल (१०+१६+२२+२८+३४+४०+४६=) १९६ घन राजू प्रमाण है॥१६-२०॥

विशेष:—किसी भी क्षेत्र की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई या मोटाई का परस्पर में गुणा करने से उस क्षेत्र का घनफल प्राप्त होता है । अथवा—मुख और भूमि को जोड़कर उसका आधा करके मोटाई एवं ऊँचाई से गुणा करने पर घनफल प्राप्त होता है । यथा:—प्रथम पृथ्वी (उपरिम भाग) का पूर्व-पश्चिम व्यास $\frac{13}{7}$ राजू है, जो भूमि स्वरूप हुआ । मुख १ राजू है, $\frac{7}{7}+\frac{13}{7}=\frac{20}{7}\times\frac{1}{2}=\frac{10}{7}\times\frac{7}{1}\times\frac{1}{1}=$ १० घन राजू । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए ।

अब प्रत्येक स्वर्गों का भिन्न भिन्न घनफल कहते हैं:—

सौधर्मयुगले रज्जवः सार्धैकोनविंशतिः ।
द्वितीयेयुगले सार्धसप्तत्रिंशच्च रज्जवः ॥२१॥
ब्रह्माद्विद्वययुग्मे च अर्धास्त्रिंशच्च रज्जवः ।
शुक्राद्वियुगले सन्ति सार्धद्विसप्तरज्जवः ॥२२॥
शतारयुगलेसार्धद्वादशप्रमरज्जवः ।
आनतप्राणते सार्धदशरज्जव एव हि ॥२३॥
आरणाच्युतमूक्षेत्रे सार्धाष्ट रज्जवो मताः ।
ग्रैवेयकादिलोकान्ते ह्येकादशैव रज्जवः ॥२४॥
इति त्रिविधलोकस्य घनाकारेण पिण्डिताः ।
रज्जवः स्युस्त्रिचत्वारिंशदग्रत्रिशतप्रमाः ॥२५॥

अर्थः—सौधर्म युगल का घनफल १९½ घन राजू प्रमाण है। दूसरे युगल का ३७½ घनराजू, ब्रह्मादि दो युगलों का घनफल ३३-३३ घन राजू, शुक्र-महाशुक्र युगल का १४½ घन राजू, शतार युगल का १२½ घन राजू, आनत-प्राणत स्वर्ग का १०½ राजू, आरण-अच्युत युगल का ८½ घन राजू तथा ग्रैवेयकों से लेकर लोक के अन्त पर्यन्त का घनफल ११ घन राजू प्रमाण है। इस प्रकार ऊर्ध्व लोक का सर्व घनफल (१९½+३७½+३३+१४½+१२½+१०½+८½+११=) १४७ घन राजू प्रमाण है, और तीनों लोकों का एकत्र घन फल (१९६+१४७) = ३४३ घन राजू प्रमाण है ॥२१-२५॥

विशेषः—ऊर्ध्व और अधोलोक के घनफल में ही मध्यलोक गर्भित है। यह लोक का ३४३ घनराजू घनफल वातवलयों सहित है।

अब लोक और लोकोत्तर मानों का वर्णन करते हैं:—

अथ मानं प्रवक्ष्यामि नानाभेदं जिनागमात् ।
व्यासोत्सेधादिसंख्यार्थं त्रिधालोकस्य सर्वतः ॥२६॥
मानं लौकिकलोकोत्तर भेदाभ्यां मतं द्विधा ।
लोकशास्त्रानुसारेण लौकिकं विविधं भवेत् ॥२७॥
एको दश शतं तस्मात्सहस्रमयुतं ततः ।
लक्ष तथा प्रयुक्तं च कोटिर्दशगुणाः क्रमात् ॥२८॥
इत्यङ्को वर्धते युक्त्योत्तरोत्तरादिसंख्यया ।
तथा प्रस्थतुलादीनि मानानि विविधानि च ॥२९॥
कीर्तितानि बुधैर्लोके व्यवहारप्रसिद्धये ।
अन्यलोकोत्तरं मानं चतुर्भेदमिति ब्रुवे ॥३०॥
आदिमं द्रव्यमानं च द्वितीयं क्षेत्रमानकम् ।
तृतीयं कालमानं स्याच्चतुर्थं भावमानकम् ॥३१॥

अर्थः—अब मैं जिनागम से तीन प्रकार के लोक का व्यास, उत्सेध एवं आयाम आदि की संख्या का निरूपण करने के हेतु नाना प्रकार के मान को कहूँगा ॥२६॥ लौकिक और लोकोत्तर के भेद से मान दो प्रकार का है। लोकशास्त्र के अनुसार (लोक व्यवहार में) लौकिक मान अनेक प्रकार का होता है ॥२७॥ यह लौकिक मानक्रम से एक, दश, सौ, हजार, दश हजार, लाख, दस लाख करोड़ और दस करोड़ आदि अंकों के भेद से उत्तरोत्तर संख्या रूप से वृद्धिगत होता जाता है। तथा लोकव्यवहार की सिद्धि के लिए विद्वानों द्वारा प्रस्थ एवं तुला आदि नाना प्रकार के मान कहे गये हैं,

एवं अन्य अर्थात् लौकोत्तर मान चार प्रकार का कहा गया है ॥२८-३०॥ चार प्रकार के लोकोत्तर मानों में प्रथम द्रव्यमान, द्वितीय क्षेत्रमान, तृतीय कालमान और चतुर्थ भावमान है ॥३१॥

अब द्रव्यमान के भेद प्रभेदों को कहते हैं:—

संख्योपमादि भेदाभ्यां द्रव्यमानं द्विधास्मृतम् ।
संख्यामानं त्रिधाख्यातं उपमामानमष्टधा ॥३२॥
तत्संख्यातमसंख्यातमनन्तं च भवेत् त्रिधा ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदैः संख्यातकं त्रिधा ॥३३॥
परीतासंख्यनामाद्यं युक्तासंख्यं द्वितीयकम् ।
असंख्यासंख्यकं चेत्यसंख्यातं त्रिविधं मतम् ॥३४॥
जघन्यमध्यमोत्कृष्टप्रकारैस्तत्पृथग्विधम् ।
प्रत्येकं त्रिविधं स्यादसंख्यातं नवधेत्यपि ॥३५॥
परीतानन्तनामाद्य युक्तानन्ताह्वयं ततः ।
अनन्तानन्तसंज्ञं चेत्यनन्तं त्रिविधं भवेत् ॥३६॥
प्रत्येकं त्रिविधं तच्च जघन्यं मध्यमाभिधम् ।
उत्कृष्टमित्यनंतस्य स्युर्भेदा नवपिण्डिताः ॥३७॥
एते पिण्डीकृता सर्वे भेदाः स्युरेकविंशतिः ।
संख्यासंख्यात्मकानन्तानां नामभिः पृथग्विधः ॥३८॥

अर्थ:—संख्या और उपमा के भेद से द्रव्यमान दो प्रकार का कहा गया है । इसमें संख्या मान तीन प्रकार का और उपमा मान अष्ट प्रकार का है ॥३२॥ संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद से संख्या मान तीन प्रकार का है । तथा संख्यात भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है ॥३३॥ परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात के भेद से असंख्यात तीन प्रकार का है ॥३४॥ इनमें जघन्य परीतासंख्यात, मध्यम परीतासंख्यात, उत्कृष्ट परीतासंख्यात, जघन्ययुक्तासंख्यात, मध्यम युक्तासंख्यात, उत्कृष्ट युक्तासंख्यात, जघन्य असंख्यातासंख्यात, मध्यम असंख्यातासंख्यात और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात के भेद से असंख्यात नौ प्रकार का है ॥३५॥ परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त के भेद से अनन्त तीन प्रकार का है ॥३६॥ तथा इन तीनों के भी भिन्न भिन्न जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन तीन प्रकार होते हैं, इन सबको मिला देने से अनन्तानन्त के भी नौ भेद होते हैं ॥३७॥ संख्यात, असंख्यात और अनन्त इन तीनों के पृथक् पृथक् सर्व भेदों को जोड़ देने से संख्या प्रमाण के सर्व भेद (३+९+९)=२१ होते हैं ॥३८॥

अब इसी संख्या प्रमाण का सविस्तार वर्णन करते हैं:—

अमीषां सुखबोधाय संस्कृतभाषया पृथक् व्याख्यानं क्रियते:—

अनवस्था-शलाका-प्रतिशलाका महाशलाका नामानि लक्षयोजनवृत्त विस्ताराणि सहस्र-योजनावगाहानि चत्वारि कुण्डानि कारयेत् । ततः कश्चिद्देवो दानवो वा वृत्तसर्षपैरनवस्थाकुण्डं प्रपूरयेत् । तदनन्तरं कुण्डसर्षपान् तान् गृहीत्वा स एकं सर्षपं शलाकाकुण्डे प्रक्षिप्य शेषान् सर्षपान् एकैक रूपेण द्वीपसागरेषु प्रक्षिपेत् । एवं कृते यस्मिन् द्वीपे समुद्रे वा अन्तिमः सर्षपोनिक्षिप्तः तावन्मात्रं सूच्यात्मकं अनवस्थाकुण्डं कृत्वा सर्षपैः प्रपूर्य ताम् सर्षपानादाय पूर्ववदेकं सर्षपं शलाकाकुण्डे निक्षिप्य शेषान् सर्षपान् द्वीपवार्धिषु निक्षिपेत् । पुनः यस्मिन् द्वीपे वार्धौ वान्त्यः सर्षपो भवति तत्रैव तावन्मात्रं कुण्डं विधाय सर्षपपूर्णं कृत्वा प्राग्वदेकं शलाकाकुण्डे क्षिप्त्वा शेषान् गृहीत्वा तान् सर्षपान् एकैक रूपेण द्वीपसागरेषु क्षिपेत् । अनेन विधिना अनवस्थाकुण्डं वारं वारं तावद्विवर्धयेत् यावत् शलाकाकुण्डं सर्षपैः पूर्णं भवति । पुनस्तदन्तिमं द्वीपवार्धिस्थं अनवस्था कुण्डं सर्षपपूर्णं कृत्वा पूर्ववत्तान् सर्षपानादायैकं सर्षपं प्रतिशलाकाकुण्डे प्रक्षिप्य शेषांस्तान् एकैक रूपेण क्रमेण द्वीपवार्द्धिषु क्षिपेत् । अनेन विधिना मुहुर्मुहुरनवस्था कुण्डं तावद्वर्धयेत् यावत् प्रतिशलाकाकुण्डं सर्षपैः पूर्णं स्यात् । ततः पूर्ववत् तदन्तिमं वर्धमानमऽनवस्थाकुण्डं सर्षपैः पूरयेत् । पुनस्तान् सर्षपान् गृहीत्वा एकं सर्षपं महाशलाकाकुण्डे क्षिप्त्वा शेषान् सर्षपान् एकैक रूपेण द्वीपाम्बुधिषु क्षिपेत् । एवमनवस्थाकुण्डं तावद्वर्धयेत् यावन्महाशलाका कुण्डं सर्षपैः पूर्णतां याति । एवं कुण्डत्रये पूर्णे सति प्रवर्द्धिते द्वीपसागरस्थे अनवस्था कुण्डे यावन्तः सर्षपाः सन्ति तावन्मात्रं जघन्यपरीतासंख्यातं कथ्यते । जघन्यपरीता संख्यातादेकस्मिन् सर्षपेऽपनीते सर्वोत्कृष्टं संख्यातं जायते । यद् रूपद्वयं तज्जघन्य संख्यातं । जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमं संख्यातं नानाभेदं स्यात् । तानि जघन्यपरीतासंख्यातरूपाणि अन्य जघन्यपरीतासंख्यातरूपैर्गुणितानि कृत्वा यावत्प्रमाणानि रूपाणि तावन्मात्रं जघन्ययुक्तासंख्यात-मुत्पद्यते । जघन्ययुक्तासंख्यातादेकरूपेऽपनीते परीतासंख्यातमुत्कृष्टं भवति । जघन्यपरीतासंख्यातोत्कृष्ट-परीतासंख्यातयोर्मध्ये मध्यमपरीतासंख्यातं नानाप्रकारं स्यात् । तज्जघन्ययुक्तासंख्यातं अपरेण युक्तासंख्यातजघन्येन गुणित्वा तत्र यावन्मात्राणि रूपाणि तावन्मात्रं जघन्यासंख्यातासंख्यातं स्यात् । जघन्यासंख्यातासंख्यातादेकस्मिन् रूपेऽपनीते उत्कृष्टयुक्तासंख्यातं जायते । जघन्योत्कृष्टयोर्युक्तासंख्या-तयोर्मध्ये मध्यमयुक्तासंख्यातं बहुभेदभिन्नं भवति ।

तज्जघन्यासंख्यातासंख्यातं त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं च कृत्वा धर्माधर्मैकजीवलोकाकाश-प्रदेश प्रत्येकशरीर-बादर-प्रतिष्ठितवनस्पति कायिकेषु संयुक्तं कृत्वा पुनरपि त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं विधाय स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानानुभागाध्यवसानोत्कृष्ट योगाविभागप्रतिच्छेदोत्सर्पिण्यव-

सर्पिणी समयान्वितं कृत्वा जघन्यपरीतानन्तं भवति । जघन्यपरीतानन्तादेकरूपेऽपनीते असंख्याता- संख्यातमुत्कृष्टं जायते । तयोर्जघन्योत्कृष्टासंख्यातासंख्यातयोर्मध्ये मध्यमासंख्यातासंख्यातं नानाभेदं स्यात् । जघन्यपरीतानन्तरूपाणि जघन्य परीतानन्तरूपमात्राणि परस्परं प्रगुण्य यत्प्रमाणं भवति तज्जघन्यं युक्तानन्तं स्यात् । जघन्ययुक्तानन्ताद् रूपैकस्मिन्नपनीते उत्कृष्टपरीतानन्तं जायते । जघन्यो- त्कृष्टयोः परीतानन्तयोर्मध्ये मध्यमपरीतानन्तं नाना प्रकारं स्यात् । तज्जघन्ययुक्तानन्तं अपरेण जघन्ययुक्तानन्तेन गुणितं जघन्यानन्तानन्त भवति । जघन्यानन्तानन्तादेकरूपेऽपनीते उत्कृष्टयुक्तानन्त- मुत्पद्यते । जघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तयोर्मध्ये मध्यमं युक्तानन्तं बहुभेदमस्ति । जघन्यानन्तानन्तं त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं च विधाय सिद्ध-निकोतजीव-वनस्पतिकायिक-काल-पुद्गलद्रव्याणि सर्वलोकाकाश- प्रदेशान् तन्मध्ये प्रक्षिप्य पुनरपि त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं च धर्मास्तिकाया गुरुलघुगुणान् प्रक्षिप्य पुनः त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं च विधाय केवलज्ञानकेवलदर्शने प्रक्षिप्ते सति उत्कृष्टानन्तानन्तं भवति । जघन्योत्कृष्टयोरनन्तानन्तयोर्मध्ये मध्यमानन्तानन्तं विचित्रभेदं स्यात् । यत्र भव्यानां संख्या स्यात् । यत्र यत्रानन्तप्रमाणं प्रोच्यते तत्र तत्राजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तं ग्राह्यं । यत्राभव्यानां संख्या कथ्यते तत्र जघन्ययुक्तानन्तं ज्ञातव्यं । यत्रावलिका दयः समयाः प्रोच्यन्ते तत्र जघन्ययुक्तासंख्यातं स्यात् । संख्यातं श्रुतज्ञानस्य विषयं भवति । असंख्यातं अवधिज्ञानस्य प्रत्यक्षं स्यात् । अनन्तं केवल- ज्ञानस्य युगपत्सकलप्रत्यक्षं सदास्ति ।

अब संख्या प्रमाण का सुख से बोध कराने हेतु पृथक् पृथक् व्याख्यान करते हैं:—

एक लाख योजन व्यास और एक हजार योजन उत्सेध वाले अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका नाम के चार कुण्डों का स्थापन करना चाहिये । यथा—

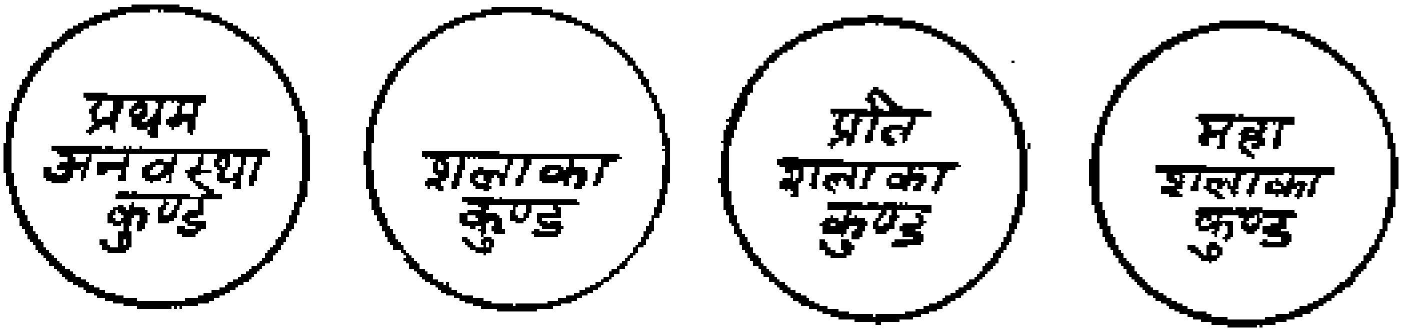

इसके बाद कोई देव अथवा असुर इन्हें गोल सरसों से भरे । उसके बाद उस कुण्ड के सरसों को ग्रहण कर वह एक सरसों शलाका कुण्ड में डाल कर शेष सरसों को एक एक द्वीप समुद्र में डालता जावे, जिस द्वीप या समुद्र में अन्तिम सरसों डाली जाय, उतने प्रमाण का एक दूसरा अनवस्था कुण्ड तैयार करके उसे पुनः सरसों से भरे और उन सरसों को ग्रहण कर पूर्ववत् एक सरसों शलाका कुण्ड में डाल कर शेष सरसों को आगे आगे के द्वीप समुद्रों में एक एक कर डाले, और जिस द्वीप या

समुद्र में अन्तिम सरसों पड़े, उतने मात्र सूची व्यास और एक हजार योजन उत्सेध वाला पुनः एक अनवस्था कुण्ड बना कर उसे सरसों से भरे. और पूर्ववत् एक सरसों शलाका कुण्ड में डाल कर शेष सरसों को एक एक कर आगे के एक एक द्वीप समुद्रों में डालता जावे। इसी प्रकार की विधि से बार बार अनवस्था कुण्डों की वृद्धि तब तक करता जावे, जब तक कि एक लाख योजन व्यास और एक हजार योजन उत्सेध वाला शलाका कुण्ड, सरसों से पूर्ण न भर चुके। शलाका कुण्ड भरते समय जिस द्वीप या समुद्र में अन्तिम सरसों डाली जाय, उतने क्षेत्र प्रमाण पुनः अनवस्था कुण्ड बना कर उसे सरसों से भरे और फिर उन सरसों को लेकर एक दाना प्रति शलाका कुण्ड में डाल कर शेष को आगे के एक एक द्वीप समुद्र में डाले। इस प्रकार पुनः पुनः अनवस्था कुण्ड को तब तक बढ़ाता जावे जब तक कि प्रति शलाका कुण्ड सरसों से पूर्ण न भर जाय। इसके बाद वृद्धिगत अन्तिम अनवस्था कुण्ड को सरसों से भरे और उन सरसों को लेकर एक दाना महा शलाका कुण्ड में डाल कर शेष सरसों को एक एक द्वीप समुद्र में डाले। इस प्रकार अनवस्था कुण्ड तब तक बढ़ावे जब तक कि महाशलाका कुण्ड सरसों से पूर्ण न भर जावे। इसी क्रम से तीनों कुण्ड भर जाने पर बढ़ते हुए जिस द्वीप या सागर पर्यन्त जो अन्तिम अनवस्था कुण्ड बना कर सरसों भरी गई है, वह सरसों जितने संख्या प्रमाण है, उतनी ही संख्या जघन्यपरीतासंख्यात की कही गई है। जघन्यपरीतासंख्यात के प्रमाण में से एक सरसों निकाल लेने पर जो प्रमाण बचता है वही उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण है, तथा दो की संख्या जघन्य संख्यात है। इन जघन्य और उत्कृष्ट संख्यात के मध्य में मध्यम संख्यात नाना भेद वाला है। उस जघन्य परीतासंख्यात के प्रमाण को जघन्यपरीतासंख्यात बार जघन्य परीतासंख्यात के ही प्रमाण से गुणित करने पर जो लब्ध प्राप्त होता है उतने प्रमाण संख्या को जघन्ययुक्तासंख्यात कहते हैं। जघन्ययुक्तासंख्यात के प्रमाण में से एक अंक कम कर देने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात होता है। जघन्यपरीतासंख्यात और उत्कृष्ट परीतासंख्यात के मध्य में मध्यम परीतासंख्यात नाना प्रकार का होता है। जघन्ययुक्तासंख्यात को एक अन्य जघन्ययुक्तासंख्यात से गुणित करने पर जितना प्रमाण प्राप्त होता है, उतना ही प्रमाण जघन्य असंख्यातासंख्यात का होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यात के प्रमाण में से एक अंक कम करने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। जघन्य और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात के मध्य में मध्यमयुक्तासंख्यात अनेक भेदों वाला होता है।

जघन्य असंख्यातासंख्यात को तीन बार वर्गित संवर्गित करके अर्थात् शलाकात्रय की परिसमाप्ति होने पर (इसकी प्रक्रिया त्रिलोकसार गाथा नं० ३८, ३९, ४० की टीका में देखना चाहिए) जो मध्यम असंख्यातासंख्यात स्वरूप राशि उत्पन्न हो उसको (१) धर्म द्रव्य (२) अधर्म द्रव्य (३) एक जीव द्रव्य (४) लोकाकाश के प्रदेश (५) अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर वनस्पति और (६) बादर प्रतिष्ठित वनस्पति जीवों के प्रमाण से मिलाकर पुनः पूर्वोक्त रीत्या तीन बार वर्गित-

संवर्गित करने पर मध्यम असंख्यातासंख्यात रूप जो महाराशि उत्पन्न हो उसमें (१) स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थान (जो कल्पकाल के समयों से असंख्यातगुणे हैं) (२) अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान (३) योग के उत्कृष्ट अविभाग-प्रतिच्छेद और (४) उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी स्वरूप कल्प काल के समयों का प्रमाण मिलाने पर (पुनः पूर्वोक्त रीत्या तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर) जो राशि उत्पन्न हो वह जघन्य परीतानन्त का प्रमाण है। जघन्य परीतानन्त के प्रमाण में से एक अंक निकाल लेने पर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात का प्रमाण होता है। जघन्य परीतानन्त के प्रमाण को जघन्य परीतानन्त बार जघन्य परीतानन्त के प्रमाण से गुणित करने पर जो लब्ध उत्पन्न होता है, वह जघन्ययुक्तानन्त का प्रमाण है। जघन्य युक्तानन्त के प्रमाण में से एक अङ्क कम कर देने पर उत्कृष्ट परीतानन्त का प्रमाण होता है। जघन्य परीतानन्त और उत्कृष्ट परीतानन्त के मध्य में मध्यम परीतानन्त अनेकानेक प्रकार वाला है। जघन्ययुक्तानन्त के प्रमाण को एक अन्य जघन्य युक्तानन्त के प्रमाण से गुणित कर देने पर जघन्य अनन्तानन्त होता है जघन्य अनन्तानन्त के प्रमाण में से एक अंक निकाल लेने पर उत्कृष्ट युक्तानन्त का प्रमाण उत्पन्न होता है। जघन्य और उत्कृष्ट युक्तानन्त के मध्य में मध्यम युक्तानन्त अनेकानेक भेद वाला होता है। जघन्य अनन्तानन्त रूप महाराशि को तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर जो राशि उत्पन्न हो उसमें (१) सिद्ध राशि (२) निगोद राशि (३) वनस्पतिकायिक राशि (४) सम्पूर्ण काल के समयों स्वरूप काल राशि (५) पुद्गलद्रव्य रूप सम्पूर्ण अणुओं की राशि और सम्पूर्ण अलोकाकाश के प्रदेशों का क्षेपण करने पर जो प्रमाण प्राप्त हो उसे पुनः तीन बार [1]वर्गित-संवर्गित करना चाहिए। इस प्रक्रिया से जो महाराशि उत्पन्न हो उसमें धर्म द्रव्य (और अधर्म द्रव्य) के अगुरुलघु गुण के अविभागी–प्रतिच्छेदों को मिला कर पुनः

---

१. जिस राशि को वर्गित-संवर्गित करना हो उसे शलाका, विरलन और देय रूप से तीन जगह स्थापित कर लेना चाहिये। पश्चात् विरलन राशि का एक एक अंक विरलन कर, उस प्रत्येक अंक पर देय राशि रख कर परस्पर गुणा करके शलाका राशि में से एक घटा देना चाहिए। परस्पर के गुणन से उत्पन्न हुई राशि का पुनः विरलन कर और उसी राशि का देय देकर परस्पर गुणा करने के बाद शलाका राशि में से दूसरी बार एक अंक और घटा देना चाहिए। इसी प्रकार पुनः पुनः विरलन, देय, गुणन और ऋण रूप क्रिया तब तक करना चाहिए जब तक कि शलाका राशि समाप्त न हो जाय (यह एक बार वर्गित संवर्गित हुआ)। इतनी प्रक्रिया बाद जो महाराशि उत्पन्न हो उसे पूर्वोक्त प्रकार विरलन, देय और शलाका रूप से तीन जगह स्थापित कर, विरलन राशि का विरलन कर उस पर देय राशि देय रूप रख कर परस्पर में गुणा कर शलाका राशि में से एक अंक घटा देना चाहिए। यह प्रक्रिया पुनः पुनः तब तक करना चाहिए जब तक शलाका राशि समाप्त न हो जाय (यह दूसरी बार वर्गित संवर्गित हुआ)। इस द्वितीय शलाका राशि के समाप्त होने पर जो महाराशि उत्पन्न हो उसकी पुनः पुनः उपर्युक्त प्रक्रिया तब तक करना चाहिए, जब तक कि एक एक अंक घटाते हुए महाराशि रूप शलाका राशि की परिसमाप्ति न हो जाय (यह तृतीय बार वर्गित-संवर्गित हुआ)।

तीन बार वर्गित-संवर्गित करना चाहिए। इस बार की प्रक्रिया से जो विशद् महाराशि उत्पन्न हो [उसे केवलज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों में से घटा देना चाहिए, तथा जो अवशेष रहे, उस शेष को उसी उत्पन्न हुई विशद् महाराशि में मिला देने से केवलज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेद प्रमाण उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है] उसे केवलज्ञान और केवलदर्शन के अविभागी प्रतिच्छेदों में मिला देने पर उत्कृष्ट अनन्तानन्त का प्रमाण होता है। [किन्तु यह प्रमाण केवलज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों से वृद्धिगत (बढ़ जाने) हो जाने के कारण उत्कृष्ट अनन्तानन्त के प्रमाण को पार कर जायगा, जो आगम विरुद्ध होगा] जघन्य अनन्तानंत और उत्कृष्ट अनन्तानन्त के मध्य में मध्यम अनन्तानन्त होता है, जो अनन्तों प्रकार का है। भव्यों की संख्या इसी मध्यम अनन्तानन्त प्रमाण है। जहाँ जहाँ अनन्त का प्रमाण कहा जाता है, वहाँ वहाँ अजघन्य एवं अनुत्कृष्ट अनन्तानन्त ही ग्राह्य है। जहाँ अभव्यों की संख्या कही गई है वहाँ जघन्य युक्तानन्त जानना चाहिए। अर्थात् अभव्य राशि जघन्य युक्तानन्त प्रमाण है। जहाँ आवली आदि के समय कहे गये हैं, वहाँ जघन्य युक्तासंख्यात जानना चाहिए।

संख्यात का विषय (प्रमाण) श्रुतज्ञान गम्य है, असंख्यात का विषय अवधिज्ञान गम्य है और अनन्त (युक्तानन्त आदि) का विषय सकल प्रत्यक्ष स्वरूप केवलज्ञान का विषय है। अर्थात् मात्र केवलज्ञान गम्य है।

अब उपमा मान के आठ भेदों के नाम कहते हैं:—

पल्योऽथ सागरः सूच्यङ्गुलं च प्रतराङ्गुलम्।
घनाङ्गुलं जगच्छ्रेणिर्लोकप्रतर एव हि ॥३६॥
लोकोऽमी चोपमामानभेदा अष्टौ मताः श्रुते।
अमीषां विस्तराख्यानं सुखबोधाय कथ्यते ॥४०॥

अर्थः—पल्य, सागर, सूच्यङ्गुल, प्रतराङ्गुल, घनाङ्गुल, जगच्छ्रेणी जगत्प्रतर और लोक उपमा मान के ये आठ भेद आगम में कहे गये हैं। सुख पूर्वक बोध प्राप्त करने के लिए अब इन आठों का विस्तार से वर्णन करते हैं ॥३६–४०॥

अब व्यवहार पल्य और उसके रोमों की संख्या कहते हैं:—

सर्वत्र योजनव्यासो योजनैकावगाहकः।
समवृत्तो महान् कूपः क्रियते पल्य सिद्धये ॥४१॥

समाहोरात्रजातानां मेषबालकजन्मिनाम् ।
रोमखण्डैरखण्डैस्तं पूरयेत्सूक्ष्मखण्डितैः ॥४२॥

एकैकं रोमखण्डं तद्वर्षाणां च शते शते ।
गते सति ततः कूपाद्भिः सार्यते विचक्षणैः ॥४३॥

यदा स जायते रिक्तः कालेन महता तदा ।
तत्कालस्य प्रमाणं यत्स पल्यो व्यावहारिकः ॥४४॥

चतुरेकत्रिचत्वारः पञ्चद्विषट्त्रिशून्यकाः ।
त्रिशून्याष्टद्विशून्यं त्र्येकसप्तसप्त सप्तकाः ॥४५॥

चतुर्नवाङ्कपञ्चैक द्वयाङ्कैक नवद्वयाः ।
सप्तविंशतिरेतेऽङ्काः शून्यान्यष्टादशास्फुटम् ॥४६॥

अमीभिः पञ्चचत्वारिंशदङ्कैः श्रीजिनाधिपैः ।
तद् व्यवहारपल्यस्य रोमाणां गणनोदिता ॥४७॥

अर्थः—पल्य की सिद्धि के लिए एक योजन (चार प्रमाण कोस) चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल गड्ढा खोदना चाहिए ॥४१॥ तथा उसे (उत्तम भोगभूमि में) सात दिन रात के भेड़-बच्चों के रोमों को ग्रहण कर जिसका दूसरा खण्ड न हो सके ऐसे अखण्ड और सूक्ष्म रोम खण्डों के द्वारा उस गड्ढे को भरे तथा प्रत्येक सौ वर्ष व्यतीत होने पर एक-एक रोम खण्ड निकाले इस प्रकार सौ सौ वर्ष में एक-एक रोम निकालते हुए जितने काल में वह गड्ढा खाली हो जाय उतने काल (के समयों की संख्या) को विद्वानों ने व्यवहार पल्य कहा है ॥४२–४४॥ ४१३४५२६३०३०८२०३ १७७७४९५१२१९२०००००००००००००००००० इस प्रकार २७ अंकों को १८ शून्यों से युक्त करने पर ४५ अङ्क प्रमाण व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कही गई है अर्थात् प्रत्येक सौ वर्ष बाद एक एक रोम के निकाले जाने पर जितने काल में समस्त रोम समाप्त हों, उतने काल के समय ही व्यवहार पल्य के समयों की संख्या है ॥४६–४७॥

अब उद्धार पल्य और द्वीप समुद्रों का प्रमाण कहते हैं:—

असंख्यकोटिवर्षाणां समयैर्गुणिताश्च ते ।
रोमांशावर्धिताः सर्वे भवन्ति संख्यवर्जिताः ॥४८॥

वर्षैकैकशतेनैव रोमराशेः पृथक् क्रमात् ।
एकैकं ह्रियते रोमं तदन्तं यावदञ्जसा ।।४९।।

एवं कृते भवेद्यावत्कालः केवलिगोचरः ।
तावत्कालप्रमाणं यदुद्धारपल्य एव सः ।।५०।।

गतासूद्धारपल्यानां द्विपञ्चकोटिकोटिषु ।
द्वीपाब्धिसंख्य हेतुश्च जायेतोद्धारसागरः ।।५१।।

अर्थः—व्यवहार पल्य के वे रोमांश असंख्यात कोटि वर्षों के समयों द्वारा गुणित होकर वृद्धि को प्राप्त हुये असंख्यात हो जाते हैं अर्थात् उन रोमांशों को असंख्यात कोटि वर्षों के समयों से गुणा करने पर जो प्रमाण प्राप्त होता है, वह असंख्यात होता है ।।४८।। उस असंख्यात रोमों की राशि में से क्रम से प्रत्येक सौ वर्ष बाद एक एक रोम निकालने पर जितना काल होता है, केवलि गोचर उतना ही काल उद्धार पल्य के काल का प्रमाण है ।।४९-५०।। इसी प्रकार के २५ कोटाकोटी उद्धार पल्यों अर्थात् २½ उद्धार सागरों के जितने समय हैं, उतनी ही द्वीप समुद्रों की संख्या है । द्वीप समुद्रों की संख्या बतलाने के लिए उद्धार पल्य का कथन किया गया है ।।५१।।

अब आधार (अद्धा) पल्य एवं आधार सागर का प्रमाण कहते हैं:—

उद्धारपल्यएवासौ शताब्दसमयैः पुनः ।
गुणितो जायते विद्भिराधारपल्य उत्तमः ।।५२।।

दशास्वाधारपल्यानां गतासु कोटिकोटिषु ।
जायते सकलोत्कृष्ट आधारसागरोपमः ।।५३।।

कालायुः कर्मणां यत्र वर्ण्यन्ते स्थितयो बुधैः ।
तत्रैतौ पल्यवार्धोस्त आधाराधारनामको ।।६४।

अर्थः—एक उद्धार पल्य के सम्पूर्ण रोमों को १०० (असंख्यात) वर्षों के समयों से गुणित करने पर जो संख्या प्राप्त हो वही संख्या विद्वज्जनों ने उत्कृष्ट आधार (अद्धा) पल्य की कही है ।।५२।। १० कोटाकोटी आधार पल्यों का एक उत्कृष्ट आधार (अद्धा) सागर होता है ।।५३।। विद्वानों के द्वारा उत्सर्पिणी आदि कालों का प्रमाण, आयु एवं कर्मों की स्थिति का प्रमाण इन्हीं आधार पल्य तथा आधार सागर से किया गया है ।।५४।।

अब सूच्यङ्गुल से लेकर लोक पर्यन्त का प्रमाण या लक्षण कहते हैं:—

सूच्यङ्गुलमुच्यते:—

आधारपल्योपममार्धार्धेन तावत्प्रकर्तव्यं यावद् रोमैकं तिष्ठेत् । तत्र यावन्त्यर्धच्छेदनानि आधारपल्योपमस्य तावन्मात्राधारपल्यानि परस्परगुणितानि यत्प्रमाणं भवति तावन्मात्रा आकाश-प्रदेशाः ऊर्ध्वमावल्याकारेण रचिताः, तेषां नभःप्रदेशानां यत्प्रमाणं तत्सूच्यङ्गुलं स्यात् । तत्सूच्यङ्गु-लमपरेण सूच्यङ्गुलेन गुणितं प्रतराङ्गुलं भवति । प्रतराङ्गुलं अपरेण सूच्यङ्गुलेन गुणितं घना-ङ्गुलं कथ्यते । पञ्चविंशतिकोटीकोटीनामुद्धार पल्यानां यावन्ति रूपाणि लक्षयोजनार्धच्छेदनानि च रूपाधिकानि । एकैकं द्विगुणीकृतानि अन्योन्याभ्यस्तानि यत्प्रमाणं सा रज्जुः । सप्तभिर्गुणिता रज्जू जगच्छ्रेणिरुच्यते । जगच्छ्रेणिरपरया जगच्छ्रेण्या गुणिता लोकप्रतरं स्यात् । लोकप्रतरं जगच्छ्रेण्या गुणितं लोकः कथ्यते ।

अर्थः—आधार पल्योपम के इस रीति से अर्ध अर्ध भाग करना चाहिए कि अन्त में मात्र एक रोम रहे । यहाँ आधार पल्य के जितने अर्धच्छेद प्राप्त हों उतनी संख्या बार आधार पल्यों का परस्पर में गुणा करने से जो लब्ध आवे, उतनी संख्या प्रमाण आकाश प्रदेशों की ऊर्ध्व पंक्ति के आकार रचना करना चाहिए । उन आकाश प्रदेशों की जितनी संख्या है, वही सूच्यंगुल का प्रमाण है । इस सूच्यङ्गुल को अन्य सूच्यङ्गुल से गुणित करने पर प्रतराङ्गुल होता है और प्रतराङ्गुल सूच्यंगुल से गुणित करने पर घनाङ्गुल की प्राप्ति होती है ।

२५ कोटाकोटी उद्धार पल्य के जितने समय हैं, उनमें एक लाख योजन के अर्धच्छेदों को जोड़ कर अन्य एक अङ्क और मिला देने से जो प्रमाण आवे उतनी बार दो दो रख कर उन दो दो को परस्पर में गुणित करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वही राजू का प्रमाण है ।

विशेषार्थ:—मध्यलोक पूर्व-पश्चिम एक राजू है । उस एक राजू में समस्त द्वीप समुद्र हैं, जिनका प्रमाण २५ कोटाकोटी उद्धार पल्य के समयों के बराबर है, किन्तु प्रत्येक द्वीप व समुद्र परस्पर में एक दूसरे से दुगुणे दुगुणे होते गये हैं, अतः द्वीप समुद्रों की जो संख्या है, वह एक राजू के अर्धच्छेदों से कम है, क्योंकि प्रारम्भ में एक लाख योजन व्यास वाला जम्बूद्वीप है, अतः इस एक लाख योजन के अर्धच्छेद द्वीप-समुद्रों की संख्या में जोड़ देना चाहिए । लवण समुद्र में दो अर्धच्छेद पड़ते हैं, इसलिए एक अङ्क और मिलाया गया है । इस प्रकार द्वीप-समुद्रों की संख्या (२५ कोटाकोटी उद्धार पल्य के समयों) में एक लाख योजन के अर्धच्छेद व एक अङ्क और मिलाने से एक राजू के अर्धच्छेद प्राप्त हो जाते हैं । जितने अर्धच्छेद हैं उतने दो दो के अङ्क रख कर परस्पर गुणा करने से राजू का प्रमाण प्राप्त हो जाता है ।

रज्जू को ७ से गुणित करने पर जगच्छ्रेणी होती है। जगच्छ्रेणी को अन्य जगच्छ्रेणी से गुणित करने पर जगत् प्रतर और जगत्प्रतर को जगच्छ्रेणी से गुणित करने पर लोक का प्रमाण होता है।

अब अणु का लक्षण कह कर अंगुल पर्यन्त मापों का प्रमाण कहते हैं:—

स प्रदेशोऽप्यमेयस्तु मूर्तोनिन्द्रियगोचरः।
स्पर्शादिगुणसंयुक्तः पुद्गलाणुरिहोच्यते ॥५५॥
उत्संज्ञासंज्ञकस्कन्धोऽनन्तानन्ताणुभिर्भवेत्।
संज्ञासंज्ञात्मकस्कन्धोऽष्टभिस्तैः कीर्तितो जिनैः ॥५६॥
स्कन्धैस्तैरष्टभिः प्रोक्तो व्यवहाराणुरागमे।
अष्टभिर्व्यवहाराणुभिस्त्रसरेणुरुच्यते ॥५७॥
रथरेणुरिहाख्यातोऽप्यष्टभिस्त्रसरेणुभिः।
रथरेण्वष्टभिः प्रोक्तो बालकः आर्यदेहिनाम् ॥५८॥
उत्कृष्टभोगभूजातानां तैरष्टशिरोरुहैः।
केशको मध्यमाभोगभूमिभवार्यजन्मिनाम् ॥५९॥
एतैर्बालाष्टभिः ख्यातो बालकः पिण्डितैर्बुधैः।
जघन्यभोगभूभागोत्पन्नार्याणां शिरोरुहैः ॥६०॥
तैरष्टभिश्च बालैकः कर्मभूमिजदेहिनाम्।
कर्मभूमिनृबालाष्टकैर्लिक्षैका निगद्यते ॥६१॥
लिक्षाष्टभिस्तुयूकैका यूकोष्टभिर्यवो मतः।
यवोदराष्टकः प्रोक्तं पर्वमानं गणाधिपैः ॥६२॥

अर्थ:—जो पुद्गल द्रव्य एक प्रदेशी हो, मूर्तिक हो, इन्द्रियों से अग्राह्य हो तथा स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त हो उसे पुद्गल अणु कहते हैं ॥५५॥ ऐसे अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं से एक उत्संज्ञासंज्ञक स्कन्ध उत्पन्न होता है। जिनेन्द्र भगवान ने आठ उत्संज्ञासंज्ञकों का एक संज्ञासंज्ञात्मक स्कन्ध कहा है ॥५६॥ आगम में आठ संज्ञासंज्ञात्मक स्कन्ध का एक व्यवहाराणु (त्रुटिरेणु) और आठ त्रुटिरेणुओं का एक त्रसरेणु कहा गया है ॥५७॥ आठ त्रसरेणुओं का एक रथरेणु, और आठ रथरेणुओं का उत्तम भोगभूमिज मनुष्यों का एक बाल होता है ॥५८॥ उत्कृष्ट भोगभूमिज

मनुष्यों के आठ बालों का मध्यम भोगभूमिज मनुष्यों का एक बाल होता है ॥५९॥ मध्यम भोगभूमिज आठ बालों का जघन्य भोगभूमिज मनुष्यों का एक बाल होता है ॥६०॥ जघन्य भोगभूमिज आठ बालों का कर्मभूमिज मनुष्यों का एक बाल होता है, कर्मभूमिज मनुष्यों के आठ बालों की एक लिक्षा होती है ॥६१॥ आठ लिक्षाओं की एक जूँ, आठ जूँ का एक यव और आठ यवों का एक अंगुल होता है, ऐसा गणधरादि देवों द्वारा कहा गया है ॥६२॥

अब अंगुलों के भेद और उनका प्रमाण दर्शाते हैं:—

उत्सेधाङ्गुलमेवाद्यं प्रमाणाङ्गुलसंज्ञकम् ।
आत्माङ्गुलमिति प्रोक्तमङ्गुलं त्रिविधं जिनैः ॥६३॥
प्रागुक्तमादिमं पञ्चशताभ्यस्तं मनीषिभिः ।
उत्सेधाङ्गुलमेवंतत्प्रमाणाङ्गुलमुच्यते ॥६४॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः षट्कालोत्पन्नजन्मिनाम् ।
वृद्धिह्रासशरीराणां बहुधात्माङ्गुलं भवेत् ॥६५॥

अर्थ:—आठ जौ (यव) से जो अंगुल उत्पन्न होता है उसके श्री जिनेन्द्र देव ने उत्सेधाङ्गुल, प्रमाणाङ्गुल और आत्माङ्गुल के भेद से तीन प्रकार कहे हैं ॥६३॥ ऊपर जो ८ जौ का एक अंगुल कहा गया है, वही उत्सेधांगुल या व्यवहारांगुल कहलाता है। उस उत्सेधांगुल में ५०० का गुणा करने से प्रमाणांगुल होता है, ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥६४॥ उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी सम्बन्धी छह कालों में ह्रस्व, दीर्घ अवगाहना को धारण कर जन्म लेने वाले मनुष्यों के अंगुल को आत्माङ्गुल कहते हैं ॥६५॥

अब किन अंगुलों से किन किन पदार्थों का माप किया जाता है, इसका व्याख्यान करते हैं:—

चतुर्गतिसमुद्भूतप्राणिनां वपुषां बुधैः ।
उत्सेधाद्या निरूप्यन्ते उत्सेधाङ्गुलमानकैः ॥६६॥
द्वीपाब्धिक्षेत्रदेशानां नदीद्रहादिभूभृताम् ।
अकृत्रिमजिनागारादीनां व्यासोदयादयः ॥६७॥
प्रमाणाङ्गुलमानैश्च कीर्तिताः श्रीगणाग्रगैः ।
ध्वजच्छत्ररथावासघटशय्यासनादिषु ॥६८॥

प्रमाणं देहिनां स्यात्समात्माङ्गुलैरलौकिकैः ।
चतुर्विंशाङ्गुलैरेको हस्तो जायेत जन्मिनाम् ॥६९॥

अर्थ—चारों गतियों में उत्पन्न होने वाले जीवों के शरीर का उत्सेध उत्सेधांगुल के द्वारा किया जाता है, ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥६६॥ द्वीप, समुद्र, क्षेत्र, देश, नदी, द्रह आदि, कुलाचल और अकृत्रिम जिन चैत्यालयों आदि का उत्सेध, आयाम एवं व्यास आदि प्रमाणांगुल से किया जाता है, ऐसा गणधर देवों के द्वारा कहा गया है। ध्वज, छत्र, रथ, प्राणियों के आवास, घट और शय्या आदि का प्रमाण आत्मांगुल से किया जाता है। मनुष्यों के २४ अंगुलों का एक हाथ होता है ॥६७-६९॥

अब क्षेत्रमान का ज्ञापन कराने के लिए माप का प्रमाण कहते हैं:—

चतुःकरैर्धनुः प्रोक्तं धनुषां द्विसहस्रकैः ।
क्रोश एक इहाम्नातश्चतुःक्रोशैश्च योजनम् ॥७०॥
तस्मात्साध्यं च पल्याद्यमुपमामानमञ्जसा ।
क्षेत्रमानमिति प्रोक्तं पूर्वशास्त्रानुसारतः ॥७१॥

अर्थ:—२४ अंगुलों का एक हाथ और चार हाथ का एक धनुष होता है। दो हजार धनुष का एक कोश और चार कोश का एक योजन होता है ॥७०॥ इन पल्य, सागर, सूच्यङ्गुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और लोक का साधन इन्हीं योजन आदि से होता है। इसप्रकार परम्परागत शास्त्रानुसार क्षेत्रमान का प्रमाण कहा गया है ॥७१॥

अब काल मान के प्रमाण का दिग्दर्शन कराते हैं:—

कालमानमतो वक्ष्ये यथाम्नातं जिनाधिपैः ।
लोकाकाशप्रदेशेषु कालाणवः पृथक् पृथक् ॥७२॥
तिष्ठन्त्येकैक रूपेणा संख्याता रत्नराशिवत् ।
वर्तनालक्ष णं येषां जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ॥७३॥
तं कालाणुं लघूल्लंघ्य पुद्गलाणुं प्रयात्यपि ।
यावत् कालप्रमाणेन स कालः समयाह्वयः ॥७४॥
असंख्यसमयैरेकावलिः प्रोक्ता जिनागमे ।
संख्यावलिभिरुच्छ्वासः स्तोक उच्छ्वास सप्तभिः ॥७५॥

सप्तस्तोकैर्लवैका सार्धाष्टत्रिंशत्प्रमाणकैः ।
लवानां घटिकैका च मुहूर्तो द्विघटीभवः ॥७६॥

क्षणैकोनो मुहूर्तः स्याद् भिन्नमुहूर्तनामकः ।
तस्मादावल्यसंख्येयभागो यावच्च हानितः ॥७७॥

तावदन्तर्मुहूर्तोऽत्र नानाभेदो निगद्यते ।
त्रिंशन्मुहूर्तकैः सद्भिरहोरात्रं मतं श्रुते ॥७८॥

त्रिंशद्दिनैर्भवेन्मासः षण्मासैरयनं स्मृतम् ।
द्वययनाभ्यां भवेद् वर्षं पञ्चवर्षैर्युगं मतम् ॥७९॥

अर्थः—जिनेन्द्रों के द्वारा जैसा कहा गया है, काल मान का वैसा ही वर्णन मैं करता हूँ। लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के सदृश एक एक काल द्रव्य के अणु पृथक् पृथक् स्थित हैं और वे असंख्यात हैं ॥७२॥ उन कालाणुओं अर्थात् काल द्रव्य का वर्तना लक्षण है, इसी के निमित्त से जीव और पुद्गल में परिणमन अर्थात् नई पुरानी आदि अवस्थाएँ होती हैं। पुद्गल का सबसे छोटा अणु उस कालाणु को जितने काल में उल्लंघन करता है, उतने काल प्रमाण को समय कहते हैं ॥७३-७४॥ जिनागम में ऐसे ही असंख्यात (जघन्ययुक्तासंख्यात) समयों की एक आवली कही गई है। संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास और सात उच्छ्वासों का एक स्तोक होता है ॥७५॥ सात स्तोकों का एक लव, ३८½ लवों की एक घड़ी और दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है ॥७६॥ एक क्षण (१८ निमेषों की एक काष्ठा, ३० काष्ठा की एक कला और ३० कला का एक क्षण होता है) कम मुहूर्त (१२ क्षणों का एक मुहूर्त) को भिन्न मुहूर्त कहते हैं। इससे कम अर्थात् आवली के असंख्यातवें भाग पर्यन्त अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। यह अन्तर्मुहूर्त अनेक भेदों वाला कहा गया है॥ आगम में ३० मुहूर्त का एक दिन कहा गया है। ३० दिनों का एक मास, ६ मासों का एक अयन, दो अयनों का एक वर्ष और ५ वर्षों का एक युग होता है ॥७७-७९॥

अब व्यवहार काल के भेदों में से पूर्वांग आदि के लक्षण कहते हैं:—

अथ पूर्वाङ्गपूर्वादीनां प्रमाणं निरूप्यते ।
स्यात् पूर्वाङ्गमेकमब्दानां लक्षैश्चतुरशीतिकैः ॥८०॥

पूर्वाङ्गं गुणितं पूर्वं लक्षैश्चतुरशीतिकैः ।
पूर्वं चतुरशीतिघ्नं पर्वाङ्गमुच्यते बुधैः ॥८१॥

लक्षैश्चतुरशीत्या तद् वर्गितं पर्वमिष्यते ।
पर्वं चतुरशीत्या नयुताङ्गं गुणितं भवेत् ॥८२॥
नयुतं ताडितं तत् स्याल्लक्षैश्चतुरशीतिकैः ।
हतं चतुरशीत्या तत् कुमुदाङ्गं निरूपितम् ॥८३॥
लक्षैश्चतुरशीत्या तद् गुणितं कुमुदं भवेत् ।
मतं चतुरशीत्या हि पद्माङ्गं तच्च ताडितम् ॥८४॥
लक्षैश्चतुरशीत्या तद्धतं पद्मं जिनागमे ।
तद्धतं नलिनाङ्गं स्यात्संख्यैश्चतुरशीतिकैः ॥८५॥
गुणितं नलिनं तत्स्याल्लक्षैश्चतुरशीतिकैः ।
हतं चतुरशीत्या तत्कमलाङ्गं स्मृतं बुधैः ॥८६॥
लक्षैश्चतुरशीत्या तद् वर्गितं कमलं भवेत् ।
हतं चतुरशीत्या तत् त्रुटिताङ्गं निगद्यते ॥८७॥
लक्षैश्चतुरशीत्यैतद् गुणितं त्रुटितं मतम् ।
हतं चतुरशीत्या तदटटाङ्गाभिधं भवेत् ॥८८॥
लक्षैश्चतुरशीत्या तद् गुणितं चाटटाख्यकम् ।
हतं चतुरशीत्यैत दममाङ्गाभिधं स्मृतम् ॥८९॥
अममं गुणितं तत् स्याल्लक्षैश्चतुरशीतिकैः ।
तस्याश्चतुरशीत्या गुणितं हाहाङ्गसंज्ञकम् ॥९०॥
लक्षैश्चतुरशीत्या तद् हतं हाहाख्यमुच्यते ।
भवेच्चतुरशीत्यां तद् हूहांगं गुणितं बुधैः ॥९१॥
लक्षैश्चतुरशीत्यां तद्धतं हूहू समाह्वयम् ।
भवेच्चतुरशीत्या वर्गितं विन्दुलताङ्ककम् ॥९२॥
हतं विन्दुलताख्यं तल्लक्षैश्चतुरशीतिकैः ।
हतं चतुरशीत्या तन्महालताङ्गमुच्यते ॥९३॥
लक्षैश्चतुरशीत्या तद्धतं महालताह्वयम् ।
लक्षैश्चतुरशीत्या तद्धतं शिरः प्रकम्पितम् ॥९४॥

शिरः प्रकम्पितं नूनं लक्षैश्चतुरशीतिकैः ।
गुणितं जायते चैव हस्तप्रहेलिकाभिधम् ॥९५॥

लक्षैश्चतुरशीत्या च हस्तप्रहेलिकाभिधम् ।
गुणितं श्रीजिनैः प्रोक्तामचलात्मकसंज्ञकम् ॥९६॥

पिण्डीकृता इमे सर्वेऽङ्का एकत्रिंशदञ्जसा ।
पदानां संख्यया प्रोक्ता अन्योन्यगुणनोद्भवा ॥९७॥

षट्षष्ट्यङ्का निखिलाः सन्ति शून्यानि नवतिः स्फुटम् ।
सर्वैकत्रीकृताः अङ्काः सार्धशतं च संख्यया ॥९८॥

अर्थः—अब पूर्वांग एवं पूर्व आदि का प्रमाण कहते हैं। चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है ॥८०॥ पूर्वांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक पूर्व (७०५६०००००००००० वर्ष) होता है। पूर्व में ८४ का गुणा करने से एक पर्वाङ्ग होता है ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥८१॥ पर्वाङ्ग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक पर्व और पर्व को ८४ से गुणित करने पर एक नयुताङ्ग होता है ॥८२॥ नयुताङ्ग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक नयुत और नयुत को ८४ से गुणित करने पर एक कुमुदाङ्ग कहा गया है ॥८३॥ कुमुदाङ्ग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक कुमुद और कुमुद को ८४ से गुणित करने पर एक पद्माङ्ग होता है ॥८४॥ पद्माङ्ग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक पद्म और पद्म को ८४ से गुणित करने पर एक नलिनाङ्ग होता है, ऐसा जिनागम में कहा है ॥८५॥ नलिनाङ्ग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक नलिन और नलिन को ८४ से गुणित करने पर एक कमलांग होता है, ऐसा विद्वानों के द्वारा कहा गया है ॥८६॥ कमलांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक कमल और कमल को ८४ से गुणित करने पर एक त्रुटितांग होता है ॥८७॥ त्रुटितांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक त्रुटित और त्रुटित को ८४ से गुणित करने पर अटटांग होता है ॥८८॥ अटटांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक अटट और अटट को ८४ से गुणित करने पर एक अममांग होता है ॥८९॥ अममांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक अमम और अमम को ८४ से गुणित करने पर एक हाहांग होता है ॥९०॥ विद्वानों ने कहा है कि हाहांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक हाहा और हाहा को ८४ से गुणित करने पर एक हूहांग होता है ॥९१॥ हूहांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक हूहू और हूहू को ८४ से गुणित करने पर एक विन्दुलतांग होता है ॥९२॥ विन्दुलतांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक विन्दुलता और विन्दुलता को ८४ से गुणित करने पर एक महालतांग होता है ॥९३॥ महालतांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक महालता और महालता को ८४ लाख से गुणित करने पर एक शिरः प्रकम्पित होता

शिरः प्रकम्पितं नूनं लक्षैश्चतुरशीतिकैः ।
श्रगितं जायते चैव हस्तप्रहेलिकाभिधम् ॥९५॥

लक्षैश्चतुरशीत्या च हस्तप्रहेलिकाभिधम् ।
गुणितं श्रीजिनैः प्रोक्तामचलात्मकसंज्ञकम् ॥९६॥

पिण्डीकृता इमे सर्वेऽङ्का एकत्रिशदञ्जसा ।
पदानां संख्यया प्रोक्ता अन्योन्यगुणनोद्भवा ॥९७॥

षट्पञ्चा निखिलाः सन्ति शून्यानि नवतिः स्फुटम् ।
सर्वैकत्रीकृताः अङ्काः सार्धशतं च संख्यया ॥९८॥

अर्थः—अब पूर्वांग एवं पूर्व आदि का प्रमाण कहते हैं। चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है ॥८०॥ पूर्वांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक पूर्व (७०५६०००००००००० वर्ष) होता है। पूर्व में ८४ का गुणा करने से एक पर्वाङ्ग होता है ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥८१॥ पर्वाङ्ग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक पर्व और पर्व को ८४ से गुणित करने पर एक नयुताङ्ग होता है ॥८२॥ नयुताङ्ग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक नयुत और नयुत को ८४ से गुणित करने पर एक कुमुदाङ्ग कहा गया है ॥८३॥ कुमुदाङ्ग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक कुमुद और कुमुद को ८४ से गुणित करने पर एक पद्माङ्ग होता है ॥८४॥ पद्माङ्ग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक पद्म और पद्म को ८४ से गुणित करने पर एक नलिनाङ्ग होता है, ऐसा जिनागम में कहा है ॥८५॥ नलिनाङ्ग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक नलिन और नलिन को ८४ से गुणित करने पर एक कमलांग होता है, ऐसा विद्वानों के द्वारा कहा गया है ॥८६॥ कमलांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक कमल और कमल को ८४ से गुणित करने पर एक त्रुटितांग होता है ॥८७॥ त्रुटितांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक त्रुटित और त्रुटित को ८४ से गुणित करने पर अटटांग होता है ॥८८॥ अटटांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक अटट और अटट को ८४ से गुणित करने पर एक अममांग होता है ॥८९॥ अममांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक अमम और अमम को ८४ से गुणित करने पर एक हाहांग होता है ॥९०॥ विद्वानों ने कहा है कि हाहांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक हाहा और हाहा को ८४ से गुणित करने पर एक हूहांग होता है ॥९१॥ हूहांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक हूहू और हूहू को ८४ से गुणित करने पर एक विन्दुलतांग होता है ॥९२॥ विन्दुलतांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक विन्दुलता और विन्दुलता को ८४ से गुणित करने पर एक महालतांग होता है ॥९३॥ महालतांग को ८४ लाख से गुणित करने पर एक महालता और महालता को ८४ लाख से गुणित करने पर एक शिरः प्रकम्पित होता

अस्मिन् सिद्धान्तसारे त्रिभुवनकथके ज्ञानगूढार्थ पूर्णे ।
यत् किञ्चित् सन्धिमात्राक्षरपदरहितं प्रोदितं स्वल्पबुद्धया ।
अज्ञानाच्च प्रमादादशुभविधिवशादागमे वा विरुद्धम् ।
तत् सर्वं शारदेऽम्बा विशदमुनिगणैः प्रार्थिता मे क्षमस्व ।।१०४।।

श्रुतसकलसुवेत्तारो हिता भव्य पुंसाम्
निहितनिखिलदोषालोभगर्वादि दूराः ।
विशदनिपुणबुद्धया सूरयः शोधयन्तु
श्रुतमिदमिहचाल्पज्ञानिना सूरिणोक्तम् ।।१०५।।

अर्थः—यह सिद्धान्तसार दीपक नाम का उत्कृष्ट ग्रन्थ जिनेन्द्र के मुख से उद्भूत है, स्वर्ग, नरक आदि के भेद से अनेक प्रकार के समस्त त्रैलोक्य को उद्योत करने में दीपक के समान है। त्रैलोक्य सार आदि अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों का आडोलन कर भक्ति से मुझ सकलकीर्ति मुनि द्वारा रचा गया है। अनेक गुण समूहों से यह ग्रन्थ सदा समृद्धिमान् हो ।।१०२।।

मैंने यह ग्रन्थ ख्याति-पूजा-लाभ की इच्छा से अथवा कवित्व आदि के अभिमान से नहीं लिखा, किन्तु यह ग्रन्थ आत्म विशुद्धि के लिए, स्व-पर हित के लिए एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए परमार्थ बुद्धि से लिखा है ।।१०३।। तीन लोक के कथन में और ज्ञान के गूढ़ अर्थों से परिपूर्ण इस सिद्धान्त-सार दीपक महाग्रन्थ में बुद्धि की स्वल्पता से, अज्ञान से, प्रमाद से अथवा अशुभ कर्म के उदय से यदि किंचित् भी अक्षर, मात्रा, सन्धि एवं पद आदि की हीनता हो अथवा आगम के विरुद्ध कुछ लिखा गया हो तो मैं प्रार्थना करता हूँ कि जिनवाणी माता और विशिष्ट ज्ञानी मुनिजन मुझे क्षमा प्रदान करें ।।१०४।। मुझ अल्प बुद्धि के द्वारा लिखे गये इस शास्त्र का सम्पूर्ण श्रुत के ज्ञाता, भव्य जीवों के हितकारी, समस्त दोषों से रहित लोभ एवं गर्व आदि से दूर रहने वाले तथा निर्मल (समीचीन) एवं निपुण बुद्धि से युक्त आचार्य शोधन करें ।।१०५।।

ग्रन्थ के प्रति आशीर्वचनः—

सिद्धान्तसारार्थनिरूपणाढ्यो सिद्धान्तसारार्थ भृतो हि सार्थः ।
सिद्धान्तसारादिकदीपकोऽयं ग्रन्थो धरित्र्यां जयतात् स्वसंघैः ।।१०६।।

अर्थः—जिनागम के सिद्धान्त के सारभूत अर्थ का निरूपण करने वाला, सिद्धान्त के सारभूत

अर्थ से भरा हुआ एवं सार्थक नाम को धारण करने वाला यह सिद्धान्तसार दीपक नामका ग्रन्थ अपने संघों द्वारा पृथिवी पर जयवन्त हो ॥१०६॥

इस ग्रन्थ के पठन से किन किन फलों की प्राप्ति होगी ? उसे कहते हैं:—

ये पठन्ति वरशास्त्रमिदं सद्बोधनाः सुमुनयो गुणरागात् ।
ज्ञाननेत्रमचिरादिह लब्ध्वा लोकयन्ति जगतां त्रितयं ते ॥१०७॥

तेन हस्ततलसंस्थित रेखावद् विलोक्य नरकादि समस्तम् ।
यान्ति भीतिमशुभाच्च चरन्ति सत्तपश्चरणमक्रमतः श्रियः ॥१०८॥

तेन वृत्तविशदा चरणेन प्राप्य नाकमसमं सुखखानिं ।
राज्यभूतिमनुभोगविरक्त्या सत्तपश्चरणतोऽवपुषः स्युः ॥१०९॥

अर्थः—जो समीचीन बुद्धि के धारक उत्तम मुनिराज गुणानुराग से इस ग्रन्थ को पढ़ते हैं, वे शीघ्र ही ज्ञान रूपी अनुपम नेत्र (केवलज्ञान) को प्राप्त कर तीन लोक स्वरूप समस्त जगत को देख लेते हैं ॥१०७॥ वे विद्वान् उस अनुपम ज्ञान से नरकादि समस्त दुःख मय पदार्थों को हस्ततल पर स्थित रेखा के सदृश देखकर समस्त अशुभादि क्रियाओं से भयभीत होते हैं, और समीचीन तपश्चरण आदि का आचरण करते हैं ॥१०८॥ तथा उस निर्दोष चारित्र के आचरण से सुख की खानि स्वरूप स्वर्गों के अनुपम सुखों को प्राप्तकर मनुष्य पर्याय में आकर राज्य विभूति का अनुभोग करके वैराग्य को प्राप्त होकर उत्तम तपश्चरण करते हुए सिद्ध पर्याय को प्राप्त करते हैं ॥१०९॥

शास्त्र श्रवण करने से क्या फल प्राप्त होता है ? उसे कहते हैं:—

शृण्वन्ति ये बुधजनाः परया विशुद्धया-
श्चैतच्छ्रुतं त्रिभुवनोरुगृहप्रदीपम् ।
ते श्वभ्रदुःखकलनादघभीतचित्ता
धर्मे तपःसुचरणे च परायणाः स्युः ॥११०॥

ते ज्ञानदृग्यमतपश्चरणादिधर्मै-
र्भुक्त्वा सुखं निरुपमं दिवि मर्त्यलोके ।
सम्प्राप्य रागविरतिं भवभोगकाये
सद्दीक्षया सुतपसा च भवन्ति सिद्धाः ॥१११॥

अर्थः—त्रैलोक्य को प्रकाशित करने के लिए प्रदीप के सदृश इस ग्रन्थ को जो विद्वज्जन मन, वचन और काय की विशुद्धि पूर्वक श्रवण करते हैं, वे नरकों के दुःखों को भलीभांति जान लेते हैं, इसलिए वे पापों से भयभीत चित्त होते हुए धर्म में, तप में और सम्यग्चारित्र में दत्तचित्त हो जाते हैं ।।११०।। तथा वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, यम, नियम और उत्तम तपश्चरण आदि धर्म के फल स्वरूप स्वर्ग एवं मध्यलोक के अनुपम सुखों को भोग कर संसार शरीर और भोगों से विरक्त होते हुए जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर उत्तम तप करके सिद्ध हो जाते हैं ।।१११।।

जो भव्य जन इस शास्त्र को लिखते हैं, उनके फल का दिग्दर्शन कराते हैं:—

येऽहो लिखन्ति निपुणा वरशास्त्रमेतत्
तद् वृद्धये च पठनाय तरन्ति तूर्णम् ।
ते ज्ञानवारिधिमनन्तगुणैकहेतु
सिद्धान्ततीर्थपरमोद्धरणात्सधर्मात् ।।११२।।

अर्थः—शास्त्र की वृद्धि के लिए तथा दूसरों को पढ़ने के लिए जो विद्वज्जन इस उत्तम शास्त्र को अपने हाथों से स्वयं लिखते हैं, वे सिद्धान्त रूप उत्कृष्ट तीर्थ के उद्धार स्वरूप पुण्य से अनन्त गुणों के कारण भूत ज्ञानसिन्धु को शीघ्र ही तर जाते हैं। अर्थात् पूर्ण ज्ञानी बन जाते हैं ।।११२।।

जो धनिक जन इस शास्त्र को लिखावेंगे, उनको प्राप्त होने वाले फल का दिग्दर्शन करते हैं:—

ये लेखयन्ति धनिनो धनतः किलेदम्
सारागमं भुवि सुवर्तन हेतवे ते ।
सज्ञानतीर्थविमलोद्धरणात्तपुण्याद-
त्राप्यमुत्र सकलं श्रुतमाश्रयन्ति ।।११३।।

अर्थः—पृथिवी पर आगम के सार को प्रकाशित करने के लिए जो श्रीमान् (धनवान्) अपने धन से इस शास्त्र को लिखवाते हैं, वे समीचीन और निर्मल ज्ञान रूपी तीर्थ के उद्धार स्वरूप पुण्य फल से इस लोक और परलोक में सकलश्रुतज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् श्रुतकेवली हो जाते हैं ।।११३।।

जो विद्वज्जन शास्त्र का अध्ययन कराते हैं, उनका फल दर्शाते हैं:—

ये पाठयन्ति सुविदो वरसंयतादीन्
विश्वार्थदीपकमिमं परमागमं ते ।
सज्ज्ञानदानजमहानघपुण्यपाकाज्
ज्ञातश्रुता जगति केवलिनो भवन्ति ॥११४॥

अर्थः—जो विद्वज्जन मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविका जनों को सम्पूर्ण अर्थ के प्रकाशन में दीपक सदृश इस शास्त्र का अध्ययन कराते हैं अर्थात् पढ़ाते हैं, वे उत्तम ज्ञान दान के फल से उत्पन्न अत्यन्त शुभ पुण्योदय से संसार में सर्व श्रुत के ज्ञाता होकर पश्चात् केवली हो जाते हैं ॥११४॥

इस महान् ग्रन्थ की रचना करके आचार्य श्री क्या चाहते हैं ? उसका दिग्दर्शन कराते हैं:—

एतज्जैनवरागमं सुरचितं लोकत्रयोद्दीपकम्
तद् रागेण मया सुशास्त्ररचना व्याजेनमोक्षाप्तये ।
हत्वाज्ञानतमो मदीयमखिलं सद्वर्तमानागमम्
सर्वं मेऽत्र ततोऽप्यमुत्र विधिना दद्याच्छ्रुतं केवलम् ॥११५॥

अस्मिन् ग्रन्थवरे त्रिकालविषये ये वर्णिताः श्रीजिना
ग्रन्थादौ च नुताः समस्त जिनपाः सिद्धाश्च ये साधवः ।
सतेऽर्वे कृपया ममाशुविमलं सम्पूर्णं रत्नत्रयम्
सर्वान् स्वांश्च गुणान् समाधिमरणं दद्युः स्वशत्रोर्जयम् ॥११६॥

अर्थः—यह त्रैलोक्य दीपक सदृश श्रेष्ठ जिनागम, जन कल्याण के राग से मेरे द्वारा शास्त्र की रचना के बहाने मोक्ष प्राप्ति के लिए रचा गया है, इसलिए विद्यमान यह सर्व समीचीन जिनागम मेरे सम्पूर्ण अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट कर विधिपूर्वक इस लोक में श्रुतज्ञान को और परलोक में केवलज्ञान देवें ॥११५॥ इस उत्तम ग्रन्थ में जिन जिनेन्द्रों ने तीन लोक का वर्णन किया है तथा ग्रन्थ के प्रारम्भ में जिन अर्हन्तों, सिद्धों एवं साधुओं को नमस्कार किया है, वे सब कृपा करके मुझे शीघ्र ही निर्मल एवं सम्पूर्ण रत्नत्रय, अपने अपने सर्व गुण, समाधिमरण और स्वशत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की शक्ति देवें ॥११६॥

अब आचार्य पुनः मंगल याचना करते हैं:—

तीर्थेशाः सिद्धनाथास्त्रिभुवनमहिताः साधवो विश्ववन्द्याः
सद्धर्मास्तत्प्रणेतार इह सुशरणाविश्वलोकोत्तमाश्च ।
दातारो भुक्तिमुक्ती दुरितचयहराः सर्व माङ्गल्यदा ये ।
ते मे वो वा प्रदद्युर्निजसकलगुणान् मङ्गलं पापहन्तीन् ॥११७॥

अर्थः—स्वर्ग-मोक्ष प्रदान करने वाले, दुष्कर्मों के समूह को हरण करने वाले तथा सर्व मंगलों को देने वाले, त्रैलोक्य पूज्य एवं विश्व वन्द्य अर्हन्त परमेष्ठी, सिद्ध परमेष्ठी, सर्व साधु परमेष्ठी एवं केवली प्रणीत सद्धर्म ही लोक में उत्तम मंगल हैं, उत्तमोत्तम हैं और परमोत्कृष्ट शरणभूत हैं, अतः ये सभी मुझे, आपको एवं सभी को पाप नाशक अपने अपने सभी गुण प्रदान करें ॥११७॥

अब आचार्य इस सिद्धान्त ग्रन्थ के वृद्धि की वाञ्छा करते हैं:—

एतत्सिद्धान्ततीर्थं जिनवरमुखजं धारितं श्रीगणेशै-
र्वन्द्यं मान्यं सदार्च्यं त्रिभुवनपतिभिर्दोषदूरं पवित्रम् ।
अज्ञानध्वान्तहन्तृ प्रवरमिह परं धर्ममूलं सुनेत्रम्
विश्वालोके च भव्यैरसमगुणगणैर्यातु वृद्धिं शिवाय ॥११८॥

अर्थः- यह सिद्धान्त रूपी तीर्थ भगवान् जिनेन्द्र के मुख से निर्झरित है, गणधर देवों द्वारा धारण किया गया है, देवेन्द्र, नागेन्द्र, खगेन्द्र और चक्रवर्ती आदि त्रैलोक्य के अधिपतियों द्वारा वन्दनीय, आदरणीय एवं सदा पूज्य है। दोषों से दूर, पवित्र, अज्ञान रूपी अन्धकार के नाश में प्रवीण, धर्म का मूल और उत्तम नेत्र है, अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए भव्यों के अनुपम गुण समूहों द्वारा यह सम्पूर्ण लोक में निरन्तर वृद्धिगत होता रहे ॥११८॥

ग्रन्थेऽस्मिन् पञ्चचत्वारिंशच्छतश्लोकपिण्डिताः ।
षोडशाधा बुधैर्ज्ञेयाः सिद्धान्तसारशालिनि ॥११९॥

॥ इति श्री सिद्धान्तसार दीपक महाग्रन्थे भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचिते
पल्यादिमानवर्णनो नाम षोडशोऽधिकारः ॥

॥ इति श्री सिद्धान्तसार दीपकनामाग्रन्थः समाप्तः ॥

ग्रन्थपर्यायग्रन्थसमेत ४५१६ ।। सम्वत् १७८६ वर्षे आषाढमासे कृष्णपक्षे तिथौ चतुर्दशी शनिवासरे ।। लिखितं मानमहात्मा चाटसु मध्ये ।। श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्द-कुन्दाचार्यान्वये भट्टारकजी श्री जगतकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री..............द्र कीर्तिजी आचार्यजी श्री कनककीर्तिजी तत् शिष्य पं० रायमल तत् शिष्य पं०..............दजी तत् शिष्य पं० वृन्दावनेन सुपठनार्थं लिखापितं ।। लिखितं..............ध्ये ।।

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयताम् ।।१।।
भग्नपृष्टि कटिग्रीवा वा बद्धमुष्टिरधोमुखम् ।
कष्टेन लिखितं ग्रन्थं यत्नेन परिपालयेत् ।।२।। श्री ।।

अर्थः—सिद्धान्त के सार से युक्त इस ग्रन्थ में सब मिला कर ४५१६ श्लोक हैं, ऐसा विद्वानों के द्वारा जानने योग्य है। अर्थात् जानना चाहिये ।।११६।।

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसार दीपक
नाम महाग्रन्थ में पल्य आदि उपमा प्रमाणों का प्ररूपण
करने वाला सोलहवाँ अधिकार समाप्त ।।